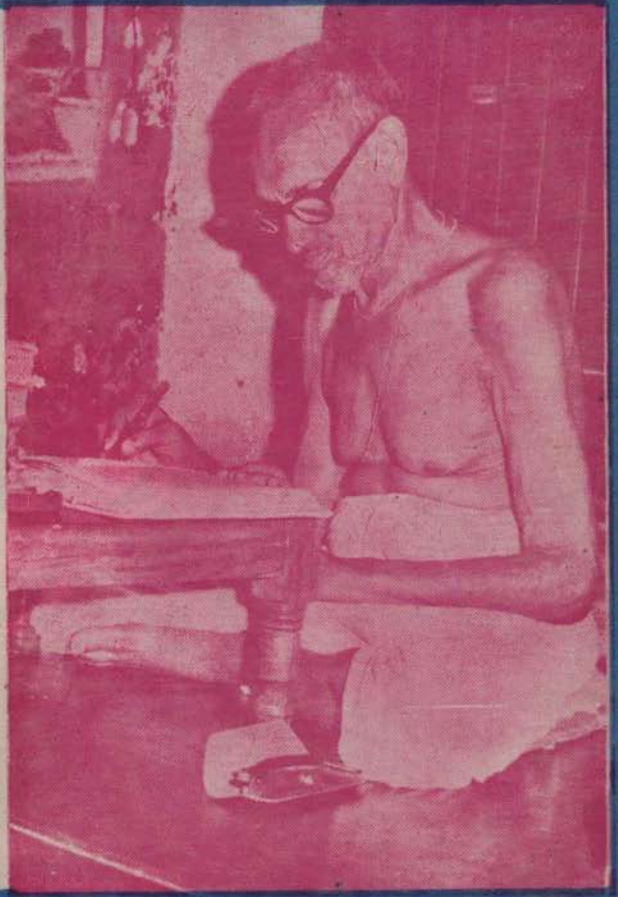


पं. रतनचन्द जैन मुरत्तार व्यक्तित्व और कृतित्व



सम्पादकः

पं. जवाहरलाल जैन सिद्धान्तशास्त्री. डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी

पं. रतनचन्द्र जैन पण्डितार

व्यक्तित्व और कृतित्व

१

पृष्ठ संख्या—२० + ६७२ = ६९०

[व्यक्तित्व]

- जीवनवृत्त
- छाया-छवियाँ
- आशीर्वचन
- श्रद्धांजलि
- संस्मरण

[कृतित्व]

शंका-समाधान

- प्रथमानुयोग
- करणानुयोग
- चरणानुयोग

२

पृष्ठ संख्या ४ + ६५६ = ६६०

- द्रव्यानुयोग
- अनेकान्त स्याद्वाद
- उपादान निमित्त
- कारण कार्य व्यवस्था
- नयनिक्षेप
- अर्थ एवं परिभाषा
- विविध
- पुण्य का विवेचन

१९०० से भी अधिक शंकाओं का

प्रमाण पृष्ठ समाधान

मूल्य : (१५०) एक ही मूल्य रूप

पं० रतनचन्द जैन सुखतार !

मान्यवर माननीय विद्वद्वर धर्मप्रेमी, न्याय नीतिवान आप गुण के अगार हैं,
धर्मरत्न कर्मठ कृपालु धीरवीर हैं, विचार के विशुद्ध दुनिया के आर-पार हैं ।
तत्त्वमर्मज्ञ हैं, शिरोमणि सिद्धान्त के हैं, मोह को निवार ज्ञान-गज पं सवार हैं,
सहारनपुर के 'रतन' को सराहें कैसे, हम पर आपके अपार उपकार हैं ॥

—दामोदरचन्द आयुर्वेद शास्त्री, १-७-७७



'शंका-समाधान' की शैली, पर तुमने अधिकार किया,
नय-निक्षेप-प्रमाण आदि से, प्रतिभा का श्रृंगार किया ।
आग्रहयुक्त वचन कहीं भी, कभी न कहते सुने गये,
समाधान सब शंकाओं के, मिलते रहते नये-नये ॥

—मूलचन्द शास्त्री, श्री महावीरजी



✽ श्रीवीतरागाय नमः ✽

पं. रतनचन्द जैन मुख्यावर व्यक्तित्व और कृतित्व

२



सम्पादक :

पं० जवाहरलाल जैन सिद्धान्तशास्त्री, भोण्डर
डॉ० चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर



प्रकाशक :

ब्र० लाङ्गमल जैन
प्राचार्यश्री शिवसागर वि० जैन ग्रन्थमाला
शान्तिवीरनगर, श्रीमहावीरजी (राजस्थान)

□ पं० रतनचन्द्र जैन मुहतार : व्यक्तित्व और कृतित्व

□ आशीर्वाचन :

- * (स्व.) आचार्यकल्पश्री श्रुतसागरजी महाराज
- * मुनिश्री वर्धमानसागरजी महाराज
- * आर्यिकाश्री विशुद्धमती माताजी

□ सम्पादक :

- * पं० जवाहरलाल जैन सिद्धान्तशास्त्री, भीण्डर
- * डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर

□ प्रकाशक :

- * व्र. लाङ्गल जैन
- आचार्यश्री शिवसागर दि. जैन ग्रंथमाला
- शान्तिवीरनगर, श्रीमहावीरजी (राज०) 322220

□ प्राप्तिस्थान :

- * १. प्रकाशक (उपर्युक्त)
- * २. पं० जवाहरलाल जैन
- साटडिया बाजार, गिरिवर पोला
- भीण्डर (राज०) 313603

□ संस्करण :

प्रथम : १००० प्रतियाँ

□ प्रकाशन वर्ष : १९८९

□ मूल्य : एक सौ पचास रुपये; १५०)
(दो जिल्दों का एक सैट)

□ मुद्रक : कमल प्रिंटर्स

मदनगंज—किशनगढ़ (राजस्थान)

दो शब्द

प्रस्तुत ग्रन्थ की काया आशा से अधिक स्थूल हो जाने के कारण इसे दो जिल्दों में बँवारना पड़ा है। श्रद्धेय पं० रतनचन्द्रजी जैन मुख्तार का व्यक्तित्व, छाया-छवियाँ और प्रथमानुयोग, करणानुयोग और चरणानुयोग से सम्बन्धित शंका-समाधान की विपुल सामग्री पहली जिल्द के ८७२ पृष्ठों में संकलित है, शेष इस दूसरी जिल्द में।

व्याख्यानयोग के विषयों से सम्बन्धित कुल ४०१ शंका-समाधान इस ग्रंथ के ३८४ पृष्ठों में मुद्रित हैं। जैन न्याय से सम्बद्ध अनेकान्त-स्याद्वाद, उपादान-निमित्त और कारण-कार्य व्यवस्था की कुल ४७ चुनी हुई शंकाएँ यहाँ समाधान सहित संकलित हैं। नयनिक्षेप, अर्थ-परिभाषा और विविध शीर्षक के अन्तर्गत कुल १७० शंकाएँ इस ग्रन्थ को विशेष गौरव प्रदान कर रही हैं। पूज्य पण्डितजी का एक बहुचर्चित ट्रैक्ट 'पुण्य का विवेचन' एतत्संबन्धी स्फुट शंका-समाधान सहित इस ग्रन्थ के ५६ पृष्ठों में (१४५७-१५१२) स्थान पा सका है। पण्डितजी का एक दूसरा ट्रैक्ट 'क्रमबद्धपर्याय और नियतिवाद' पृष्ठ १२०७ से १२५६ तक मुद्रित है।

इस प्रकार पण्डितजी की लेखनी से प्रसूत विशाल सामग्री में से चयन कर कुल ५७१ शंकाएँ और उनके सरल प्रामाणिक समाधान इस जिल्द में प्रस्तुत हैं। आशा है, तत्त्वजिज्ञासु अनेकान्ती स्वाध्यायी इनसे समुचित लाभ प्राप्त कर स्व-पर उपकार में तिरत होंगे; ज्ञान का फल भी यही है।

परिशिष्ट में संदर्भ ग्रन्थ सूची, शंकाकार सूची और अर्थसहयोगियों की नामावली दी गई है।

समाधानकर्ता (स्व.) पं० रतनचन्द्रजी मुख्तार की प्रतिभा और क्षमता का सविनय मादर पुण्य स्मरण।

शंकाकारों की स्पृहणीय जिज्ञासावृत्ति के फलस्वरूप ही इस ग्रन्थ की परिकल्पना सम्भव हुई है, अतः उन सभी का सविनय अभिनन्दन

सभी अर्थ-सहयोगियों का सादर आभार

प्रेरक (स्व.) आचार्यकल्पश्री श्रुतसागरजी महाराज, मुनिश्री वर्धमानसागरजी महाराज और आर्थिकाश्री विशुद्धमती माताजी के चरणों में शत-शत नमोस्तु।

भूलों के लिए क्षमायाचना सहित—

पौष वदी एकादशी

भगवान् पार्श्वनाथ जन्म-तप कल्याणक दिवस

३ जनवरी, १९८६

विनीत :

जवाहरलाल जैन सिद्धान्तशास्त्री
चेतनप्रकाश पाटनी

पं० रतनचन्द्र जैन मुख्तार : व्यक्तित्व और कृतित्व-२

अनुक्रम

क्र. सं.	विषय	कुल शंकाएँ	पृष्ठ
*	द्रव्यानुयोग	४०१	८७३-१२५६
१	द्रव्य (सामान्य)	७	८७३
२	जीव : उपयोग	२१	८७८
३	जीवतत्त्व : सम्यग्दर्शन	३७	८९४
४	जीवतत्त्व : सम्यग्ज्ञान	१८	९३५
५	जीवतत्त्व : विभाव में हेतु	३२	९४९
६	जीवतत्त्व : विविध	२८	९८२
७	पुद्गल : परमाणु	१९	१००४
८	पुद्गल : स्कन्ध	१५	१०१७
९	धर्म, अधर्म, आकाश, काल	१८	१०२५
१०	आस्रव तत्त्व	१५	१०४१
११	बन्ध तत्त्व	३१	१०५३
१२	संवर तत्त्व	५	११००
१३	निर्जरा तत्त्व	१८	११०४
१४	मोक्षतत्त्व	३२	१११८
१५	द्रव्य गुण, पर्याय गुण	३५	११५७
१६	पर्याय सामान्य	३३	११८२
१७	क्रमबद्धपर्याय : नियतिवाद	३७	१२०७
*	जैन न्याय	४७	१२५७-१३०४
१	अनेकान्त और स्याद्वाद	२५	१२५७
२	उपादान निमित्त	१०	१२८०
३	कारण-कार्य व्यवस्था	१२	१२८९
*	नय-निक्षेप	४८	१३०५
*	अर्थ एवं परिभाषा	५४	१३७०
*	विविध	६८	१३९०
*	पुष्प का विवेचन	१४५७
*	परिशिष्ट-१	: सन्दर्भ ग्रन्थ सूची	१५१३-१५१४
*	परिशिष्ट-२	: शंकाकार सूची	१५१५-१५२३
*	परिशिष्ट-३	: अर्थ-सहयोगी	१५२४-१५२५



द्रव्यानुयोग

द्रव्य (सामान्य)

‘तत्त्वार्थसूत्र’ में द्रव्यलक्षण विषयक दो सूत्र क्यों ?

शंका—‘सद्द्रव्य लक्षणम्’ और ‘गुणपर्ययवद् द्रव्यम्’ इस प्रकार दोनों का एक अर्थ होते हुए भी ‘तत्त्वार्थ-सूत्र’ में ये दो सूत्र क्यों कहे ?

समाधान—अन्य मतों में द्रव्य के विषय में भिन्न मान्यता है अतः उनमें कोई द्रव्य को सर्वथा क्षणिक मानते हैं और कोई द्रव्य को सर्वथा नित्य-कूटस्थ मानते हैं, इन दोनों के निराकरणार्थ ‘सद्द्रव्यलक्षणम् ।’ ‘उत्पाद-ध्ययद्गीव्ययुक्तं सत्’ ऐसा कहा है । तथा कोई द्रव्य से गुण और पर्यायों को सर्वथा भिन्न मानते हैं कोई सर्वथा अभिन्न मानते हैं उनके निराकरण के लिये ‘गुणपर्ययवद्द्रव्यम्’ सूत्र कहा है । कहा भी है—

“मतान्तरे हि द्रव्याद्यन्ये गुणाः परिकल्पिताः । न चोवं तेषां सिद्धिः । सर्वथा भेदेनानुपपत्तेः । अतः द्रव्यस्य परिष्कमनं परिवर्तनं पर्यायस्तद्भेवा एव गुणा नात्यन्तं भिन्नजातीया इति मतान्तरनिवृत्त्यर्थं विशेषणं क्रियमाणं सार्थ-कनिति ।” [सुखबोध तत्त्वार्थवृत्ति पृ० १३२]

इसका अभिप्राय यह है कि मतान्तर में द्रव्य से अन्य गुण कल्पित किये गये हैं, किन्तु उनकी कल्पना सिद्ध नहीं होती, क्योंकि गुणगुणी के अर्थात् द्रव्य-गुण के सर्वथा भेद की उत्पत्ति नहीं है । इसलिये द्रव्य का जो परिष्कमन अथवा परिवर्तन है वह पर्याय है । उसका भेद ही गुण है, क्योंकि गुण की भिन्न जाति नहीं है । इसप्रकार मतान्तर के निराकरण करने के लिये विशेष कथन सार्थक है ।

—जें. ग. 7-10-65/IX/ प्रेमचन्द

द्रव्यगतस्वभाव को ग्रन्थथा करने में केवली भी समर्थ नहीं

शंका—श्री अरहंत भगवान में क्या यह शक्ति है कि अजीव को जीव बना देवें और जीव को अजीव बना देवें ?

समाधान—अरहंत भगवान में यह शक्ति नहीं है कि जीव को अजीव बना देवें और अजीव को जीव बना देवें, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य नित्य और अवस्थित है ।

“नित्यावस्थितान्यरूपाणि” मोक्षशास्त्र ५/४ अर्थात्—द्रव्य नित्य और अवस्थित है ।

“येन भावेन उपलक्षितं द्रव्यं तस्य भावस्याव्ययो नित्यत्वमुच्यते ।” रा. वा. ५।४।२

अर्थात्—जो द्रव्य जिस लक्षण से युक्त है उस द्रव्य के उस लक्षण का कभी विनाश नहीं होता । इसको नित्य कहते हैं ।

“तद्भावेनाव्ययं तद्भावाव्ययं नित्यमिति निश्चीयते ।” सर्वार्थसिद्धि ५।३१

अर्थ—जिस वस्तु का जो भाव है उसरूप से व्युत्पन्न होना तद्भावाव्यय है अर्थात् नित्य है ऐसा निश्चित होता है ।

‘अवस्थित’ शब्द से यह बतलाया गया कि अनेक परिणामन होने पर भी धर्म, अधर्म, काल, आकाश और पुद्गल कभी चेतनरूप नहीं परिणमते और जी-द्रव्य कभी अचेतनरूप नहीं परिणमते । राजवातिक अध्याय ५ सूत्र ४ वार्तिक ४ ।

इसप्रकार जो द्रव्यगत स्वभाव है उसको अन्यथा करने में कोई भी समर्थ नहीं है ।

—जं. ग. 21-12-67/VII/ मुमुक्षु

द्रव्यों में एक प्रदेश स्वभाव

शंका—अखंडता होने के कारण जीव के एक प्रदेशी स्वभाव लिखा था । परन्तु इस अपेक्षा तो धर्म, अधर्म और आकाश के भी एक प्रदेश स्वभाव होना चाहिये क्योंकि वे भी तो अखंड द्रव्य हैं ?

समाधान—धर्म, अधर्म और आकाशद्रव्यों में भी एकप्रदेश स्वभाव है । कहा भी है—‘सैवकल्पनानिरपेक्षे-
जोतरेषां धर्माधर्माकाशजीवानां चाखण्डत्वादेकप्रदेशत्वम् ।’ भेद-कल्पना की निरपेक्षता से धर्म, अधर्म, आकाश और जीव द्रव्यों के भी अखंड होने के कारण एक प्रदेश स्वभाव है । आलाप-पद्धति ।

—जं. ग. 23-4-64/1X/ मदनलाल

सभी द्रव्य आकार सहित हैं

शंका—कालद्रव्य और आकाशद्रव्य आकारसहित है या आकाररहित है, क्योंकि मैंने एकस्थान पर पढ़ा कि द्रव्य में सामान्यगुण होने के कारण प्रदेशत्वगुण की अपेक्षा आकारसहित है । यदि यह सामान्यगुण की अपेक्षा आकारसहित है तो निरंश परमाणु को भी आकारसहित मानना पड़ेगा अथवा सिद्धों में भी आकार मानना पड़ेगा ?

समाधान—प्रत्येक द्रव्य आकारसहित हैं । कोई भी द्रव्य निराकार नहीं है । निराकार द्रव्य हो ही नहीं सकता ।

परमाणु का आकार गोल है । श्री जिनसेनाचार्य ने कहा है—

अणवः कार्यलिङ्गाः स्युः द्विस्पर्शाः परिमण्डलाः ।

एकवर्णरसा नित्याः स्युरनित्याश्च पर्ययैः ॥१४८॥ आदिपुराण पर्व २४

परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, इन्द्रियों से नहीं जाने जाते । घट-पट आदि परमाणुओं के कार्य हैं उन्हीं से उनका अनुमान किया जाता है । परमाणु में कोई भी दो अविरोध स्पर्श रहते हैं, एकवर्ण, एकगंध, एकरस, रहता है । वे परमाणु गोल और नित्य होते हैं तथा पर्याय की अपेक्षा अनित्य भी होते हैं ।

सिद्धों का भी पुरुषाकार है जो अन्तिम शरीर से कुछ कम है ।

णिकमा अट्टगुणा किञ्चूणा चरमवेहवो सिद्धा ।

लोयन्गठिवा णिच्चवा उप्पादवएहि संजुसा ॥१४॥

पुरिसायारो अप्पा सिद्धो क्षाएह लोयसिहरत्थो ॥१५॥ द्रव्यसंग्रह

कालाणु भी पुद्गलपरमाणु के आकाररूप है, क्योंकि दोनों आकाश के एक प्रदेश में स्थिर होकर रहते हैं अतः कालाणु भी गोल है। आकाशद्रव्य भी चौरस समघन आकार वाला है। कहा भी है—

व्योमामूर्तं स्थितं नित्यं चतुरस्रसभं घनम् ।

भाषावगाहहेतुष्व न्तान्तप्रदेशकम् ॥३।२४ आचारसार

अर्थ—आकाशद्रव्य अमूर्त है, क्रियारहित है, नित्य है, चतुरस्र-सम-घनाकार है, अनन्तप्रदेशी है, अवगाह का कारण है।

इसप्रकार पुद्गलपरमाणु, कालाणु, सिद्धजीव और आकाशद्रव्य के आकार का कथन आर्षग्रन्थों में पाया जाता है।

—जं. ग. 29-8-68/VI/ रोशनलाल

द्रव्य (१) एक द्रव्य का प्रभाव अन्य द्रव्य पर अवश्य पड़ता है।

(२) जिनसेन की वर्ण व्यवस्था सर्वांगम सम्मत है।

शंका—यह तो सर्वमाननीय है कि एक द्रव्य-गुण-पर्याय का दूसरे द्रव्य-गुण व पर्याय पर कोई प्रभाव या असर नहीं पड़ता, क्योंकि प्रत्येकद्रव्य तथा उसके गुण व पर्याय स्वतन्त्र हैं। एक के कारण दूसरे को लाभ या हानि नहीं पहुँचती। प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है उसको मुक्ति में पौद्गलिक शरीर बाधा उत्पन्न नहीं कर सकता। इसलिये शूद्रमुक्ति का निषेध नहीं किया जा सकता। महापुराण के कर्ता श्री जिनसेन स्वामी ने मनुस्मृति का अनुसरण करके जैनधर्म को तीन वर्ण का धर्म बना दिया है। इसीलिये श्री पं० कूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री को लिखना पड़ा कि आचार्य जिनसेन ने जैनधर्म की आध्यात्मिकता को गौण करके उसे तीन वर्ण का सामाजिक धर्म या कुलधर्म बनाने का भरपूर प्रयत्न किया है।

शूद्र-मुक्ति के मानने से दिगम्बर जैनधर्म में क्या बाधा आती है ?

समाधान—दिगम्बरेतर समाज में तो ऐसा माना गया है कि एक द्रव्य-गुण-पर्याय का किसी अपेक्षा से भी कोई प्रभाव या असर दूसरे द्रव्य, गुण-पर्यायपर नहीं पड़ता। इसलिये दिगम्बरेतर जैनसमाज में स्त्रीमुक्ति आदि मानी गई है। दिगम्बरजैनाचार्यों ने ऐसा स्वीकार नहीं किया है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य तथा टीकाकार श्री अमृत-चन्द्राचार्य ने स्पष्टरूप से एक-द्रव्य-गुण व पर्याय का दूसरे द्रव्य-गुण व पर्याय पर प्रभाव व असर स्वीकार किया है।

रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं ।

णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि ॥२५५॥ प्रबचनसार ।

अर्थ—जैसे जगत में तानाप्रकार की भूमियों के कारण बीज के फलकाल में फल की विपरीतता (विभिन्नता) देखी जाती है उसीप्रकार प्रशस्तभूतराग वस्तु भेद से विपरीततया (विभिन्नतया) फलता है।

टीका—यथैकेषामपि बीजानां भूमिविपरीत्यसिष्पत्तिवैपरीत्यं तथैकस्यपि प्रशस्तरागलक्षणस्य शुभोपयोगस्य पात्रवैपरीत्यात्फलवैपरीत्यं कारणविशेषात्कार्यविशेषस्यावश्यं भावित्वात् ।

अर्थ—जैसे एक ही प्रकार का बीज होने पर भी भूमि की विपरीतता से फल की विपरीतता होती है (अच्छी भूमि में उसी बीज का अच्छा फल उत्पन्न होता है और खराब भूमि में खराब हो जाता है या उत्पन्न ही नहीं होता ।) उसी प्रकार प्रशस्तरागसहित शुभोपयोग वही का वही होता है फिर भी पात्र की विपरीतता से फल की विपरीतता होती है, क्योंकि कारणभेद से कार्यभेद अवश्यभावी है ।

इस गाथा में श्री कुन्दकुन्दाचार्य तथा टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने यह स्पष्ट बतलाया है कि बीज के फल पर भूमि का प्रभाव व असर पड़ता है । फिर यह कहना कि 'दूसरे का असर नहीं पड़ता है' ठीक नहीं है ।

संसार में कुसंगति से बचने का उपदेश इसीलिये दिया जाता है कि संगति का प्रभाव पड़ता है । श्री कुन्द-कुन्दाचार्य ने इसी बात को निम्न गाथा में कहा है ।

तम्हासमं गुणादो समणो समणं गुणोहं व अहियं ।

अधिवसद्दु तम्हि णिच्चं इच्छवि जदि दुखपरिमोक्खं ॥२१०॥ प्रवचनसार

अर्थात्—लौकिक जनों की संगति से संयत भी असंयत होता है इसलिये यदि साधु दुःख से परिमुक्त होना चाहता है तो समान गुणवाले श्रमण के अथवा अधिक गुणवाले श्रमण के संग में सदा निवास करे ।

टीका—आत्मा परिणाम स्वभाववाला है इसलिये लौकिकसंगति से विकार अवश्य आजाता है और संयत भी असंयत हो जाता है, जिसप्रकार अग्नि की संगति से जल विकारी अर्थात् गर्म हो जाता है ; इसलिये दुःखों से मुक्ति चाहनेवाले श्रमण को समानगुणवाले श्रमण के साथ अथवा अधिक गुणवाले श्रमण के साथ निवास करना चाहिये, जिससे उसके गुणों की रक्षा अथवा गुणों में वृद्धि होती है । जैसे शीतल जल यदि शीतल घर के कोने में रखा हुआ है तो वह ज्यों का त्यों बना रहेगा । यदि वह जल अधिक शीतल स्थान पर या बरफ पर रखा हुआ है तो अधिक शीतल हो जायगा ।

जब दूसरे की संगति का प्रभाव आत्मा पर पड़ता है तो शरीर का प्रभाव आत्मा पर अवश्य पड़ेगा, क्योंकि शरीर व आत्मा का परस्पर बन्धनबद्ध से सम्बन्ध है । शारीरिक संहननादि शक्ति के अभाव में मोक्ष नहीं होता । इसी बात को श्री जयसेनाचार्य ने पंचास्तिकाय गाथा १७० व १७१ टीका में कहा गया है—

“संहननादिशक्त्यभावाच्छुद्धात्मस्वरूपे स्यात्तुमशक्तत्वाद्धर्तमान-भवे पुण्यबंध एव भवान्तरे तु परमात्मभावना-स्थिरत्वे सति नियमेन मोक्षो भवति ।”

अर्थ—संहननादि शक्ति के अभाव से शुद्धात्मस्वरूप में ठहरने में असमर्थ होने के वर्तमान भव में पुण्यबंध होता है, अन्य भव में परमात्मभावना स्थिर होने पर नियम से मोक्ष जाता है ।

मुनि दीक्षा के योग्य किसप्रकार का शरीर कुल वर्ण वय (अवस्था व आयु) होनी चाहिये । उसका कथन श्री १०८ कुन्दकुन्दादि आचार्य निम्नप्रकार कहते हैं—

वण्णेषु तीसु एक्को कल्लाणंगो तवोसहो वयसा ।

सुसुहो कुंछारहिदो लिंगगहरो हवदि जोगो ॥ [प्रवचनसार]

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनवर्णों में से कोई एक वर्णवाला हो, आरोग्य हो, तप की क्षमता रखनेवाला हो, न अतिवृद्ध वयवाला हो और न प्रति बाल वयवाला हो, अंतरंग और बहिरंग निर्विकार सुमुख हो, दुराचारादि अपवाद रहित हो, ऐसा गुण विशिष्ट पुरुष जिनदीक्षा ग्रहण करने के योग्य होता है ।

प्राज्ञेन ज्ञातलोकव्यवहृतिमतिना तेन मोहोऽजिज्ञप्तेन,
प्राग्विज्ञातः सुदेशो द्विजनृपति वणिग्वर्णवर्ण्योऽङ्घ्रिपूर्णः ।

भ्रूभृत्लोकाऽविरुद्धः स्वजनपरिजनोन्मोचितो वीतमोह-

श्चित्रापस्माररोगाद्यपगत इति च ज्ञातिसंकीर्त्तनार्थः ॥११॥ अत्राचारसार

अर्थात्—लोक व्यवहार को जाननेवाले मोहरहित और बुद्धिमान आचार्यों को जिनदीक्षा देने से पूर्व यह ज्ञात कर लेना चाहिये कि यह सुदेश का है । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनप्रकार के द्विजों में से किस एक वर्ण का है अर्थात् शूद्र तो नहीं है पूर्ण अंगी है, राज्य व लोक के विरुद्ध तो नहीं है, कुटुम्बी और परिवार के लोगों से दीक्षा की आज्ञा मांग ली है मोह नष्ट हो गया है, मृगी आदि का रोग तो नहीं है; क्योंकि ऐसा पुरुष ही दीक्षा के योग्य है, अन्य नहीं ।

वीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चत्वारश्च विधोचिताः ।

मनोवाक्काय धर्माय मताः सर्वेऽपिजन्तवः ॥७९॥ उपासकाध्ययन

अर्थात्—दीक्षा के योग्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीन वर्ण हैं ।

श्री मूलाराधना में भी इसप्रकार है ।

“कर्मभूमिषु च बर्बरचिलातकपारसीकापिदेशपरिहारेण अंगबंगमगधादिदेशेषु उत्पत्तिः । सर्वेऽपि देशे चांडालादिकुलपरिहारेण तपोयोग्ये कुलजातौ ।” पृ० ६५३ ।

अर्थात्—कर्म भूमि में बर्बर चिलात आदि देशों को छोड़कर अंग, बंग, मगधादि सुदेशों में उत्पन्न होना कठिन है । यदि सुदेश में भी उत्पन्न हो गया तो चांडाल आदि कुलों को छोड़कर तप के योग्य अर्थात् जिनदीक्षा के योग्य कुल में उत्पन्न होना दुर्लभ है ।

इसीप्रकार अन्य आचार्यों ने भी मात्र ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन कुलों में उत्पन्न हुए मनुष्य को जिन-दीक्षा के योग्य बतलाया है । क्या ये सभी आचार्य जैनसिद्धान्त के विरुद्ध मनुस्मृति के अनुसार कथन करने वाले माने जा सकते हैं । श्री कुन्वकुन्वादि महानाचार्यों के वाक्यों को भी यदि प्रमाण न मानकर अपने कपोलकल्पित इस सिद्धान्त ‘एक द्रव्य-गुण-पर्याय का दूसरे द्रव्य-गुण-पर्याय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता’, के बल पर दिगम्बरेन्तर समाज की तरह शूद्र-मुक्ति सिद्ध करना अपने आपको दुर्गति में ले जाना है ।

—जै. ग. 4-2-65/IX/ इन्द्रसेन

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य पर प्रभाव

शंका—क्या संहनन की कमी से चैराग्य में कमी हो जावे है ?

समाधान—‘संहनन’ नामकर्म का भेद है । जो छहप्रकार का है—१. वज्रवृषभनाराचसंहनन २. वज्र-नाराचसंहनन, ३. नाराचसंहनन, ४. अर्धनाराचसंहनन, ५. कीलितसंहनन, ६. असम्प्राप्तसृपाटिकासंहनन । जिसके उदय से अस्थि बन्धन में विशेषता होती है वह संहनन नामकर्म है, अतः पुद्गलविपाकी है । इसका फल शरीर में होता है । यद्यपि यह कर्म और शरीर दोनों पौद्गलिक हैं जीवद्रव्य से अन्य हैं तथापि इनकी विशेषता से जीव की गति में विशेषता हो जाती है । प्रथमसंहननवाला जीव ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है । प्रथम तीन संहननवाले जीव

ही उपशम श्रेणी चढ़ सकते हैं। अन्तिम तीन संहननवाले जीवों के सातवें गुणस्थान से आगे के गुणस्थान नहीं हो सकते। इसप्रकार जीव धीरे धीरे पुद्गल में प्रदेश भेद होते हुए भी एकद्रव्य का दूसरे द्रव्य पर प्रभाव पड़ता है, किन्तु एकद्रव्य कभी भी पलट कर दूसरे द्रव्यरूप नहीं हो जाता यही द्रव्य की स्वतंत्रता है।

—जै. ग. 25-4-63/1X/ अ. पन्नलाल जैन

द्रव्य-तत्व

जीव : उपयोग

दर्शनोपयोग से अभिप्राय

शंका—दर्शनोपयोग का अभिप्राय उदाहरणरूप में बताने की कृपा कीजिए।

समाधान—छद्मस्थों के (सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि, कोई भी हो) जब ज्ञान एक बाह्यपदार्थ का अन्वयन छोड़कर जबतक दूसरे पदार्थ का अन्वयन न करे तबतक उसका उपयोग अपनी आत्मा में रहता हुआ दूसरे बाह्यपदार्थ को जानने के लिए जो प्रयत्न करता है, वह दर्शन है।^१

—पृष्ठ 21-4-80/ ज. ला. जैन, भीण्डर

केवलदर्शन का स्वरूप व कार्य

शंका—अनन्त अतुष्टय में से ज्ञान, सुख एवं वीर्य तो समस्त में आते हैं, किन्तु दर्शन का क्या कार्य है? तथा केवलज्ञान और केवलदर्शन में क्या अन्तर रहता है?

समाधान—अन्तरंग उद्योत केवलदर्शन है और बहिरंग पदार्थों को विषय करनेवाला प्रकाश केवलज्ञान है, ऐसा स्वीकार कर लेना चाहिये। दोनों उपयोगों की एकसाथ प्रवृत्ति मानने में विरोध भी नहीं आता है, क्योंकि उपयोग की क्रमवृत्ति कर्म का कार्य है और कर्म का अभाव हो जाने से उपयोगों की क्रमवृत्ति का भी अभाव हो जाता है।

१. दि० 3-८-७७ को एक पत्रोत्तर में पूज्य मुखार साहब श्री जवाहरलालजी को लिखते हैं कि—
“मानाकि हम उत्तर की ओर स्थित पदार्थ को देख रहे थे। फिर दक्षिण की ओर स्थित पदार्थ को जानने की इच्छा हुई। तब वक्षु इन्द्रिय उत्तर में स्थित पदार्थ का ग्रहण छोड़ कर तथा दक्षिण की ओर स्थित पदार्थ के साथ पदार्थ का सन्निकर्ष प्रारम्भ करे, इसके बीच का जो काल है (यह काल सेंकण्ड या उसके भी अन्तरूप है), जिस काल में वक्षुइन्द्रिय द्वारा बाह्यपदार्थ के साथ सन्निकर्ष नहीं है, यह दर्शनोपयोग का काल है। इस दर्शनोपयोग के काल में वक्षुइन्द्रिय का कोई व्यापार नहीं है (वक्षुइन्द्रिय के द्वारा जानने का प्रयत्न मात्र है।”

—पृष्ठ ५० पा०

केवलज्ञान स्व और पर दोनों का प्रकाशक है इसलिये केवलदर्शन नहीं है, ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि केवलज्ञान स्वयं पर्याय है, इसलिये उसकी दूसरी पर्याय नहीं हो सकती है। यदि केवलज्ञान को स्व-प्रकाशक माना जायगा तो उसकी एक काल में स्व-प्रकाशकरूप और परप्रकाशकरूप दो पर्यायों माननी पड़ेंगी, किन्तु केवलज्ञान स्वयं पर-प्रकाशकरूप एक पर्याय है, अतः उसकी स्व-प्रकाशकरूप दूसरी पर्याय नहीं हो सकती है। केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों प्रकाश एक हैं ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि बाह्यपदार्थ को विषय करनेवाला साकार उपयोग और अन्तरंगपदार्थ को विषय करनेवाला अनाकार उपयोग, इन दोनों को एक मानने में विरोध आता है। विशेष के लिये जयधवल पु० १, धवल पु० १, ६, ७, १३ देखनी चाहिये।

—जं. ग. 31-10-63/IX/ ट. ला. जंन, मेरठ

ज्ञान व दर्शन की क्रमशः साकारता एवं निराकारता

शंका—क्या दर्शन निराकार है ? क्या पाँचों ही ज्ञान साकार हैं ?

समाधान—दर्शन अनाकार और ज्ञान साकार है। श्री बीरसेनाचार्य ने कहा भी है—

“प्रमाणदो पुधभूव कम्ममायारो तं जम्मि णत्थि सो उवजोगो अणायारोणाम, वंसणुवजोगो ति भणिवं होदि ।” जयधवल पु० १ पृ० ३३१

“अंतरंगविसयस्स उवजोगस्स अणायारत्तभुवगमादो । ण अंतरंग उवजोगो वि सायारो, कत्तारादो वड्वादो पुह कम्माणुवलंभादो ।” धवल पु० १३ पृ० २०७

“को वंसणोवजोगो णाम ? अंतरंगउवजोगो । कुदो ? आगारो णाम कम्मकत्तारभादो, तेण विणा जा उवलदी सो अणायारउवजोगो । अंतरंगउवजोगो वि कम्म-कत्तारभादो अत्थि ति णासंक्खिज्जं, तत्थ कत्तारादो वड्खलेत्तोहि फट्टकम्माभावादो ।” धवल पु० ११ पृ० ३३३

अर्थ—प्रमाण से पृथग्भूत कर्म को आकार कहते हैं अर्थात् प्रमाण में अपने से भिन्न बहिर्भूत जो विषय प्रतिभासमान होता है उसे आकार कहते हैं। वह आकार (बाह्यपदार्थ) जिस उपयोग में नहीं पाया जाता है वह उपयोग अनाकार अर्थात् दर्शनोपयोग है।

अंतरंग को विषय करने वाले उपयोग को अनाकार उपयोग स्वीकार किया गया है। अंतरंग उपयोग विषयाकार होता है, यह बात भी नहीं है, क्योंकि इसमें कर्ता द्रव्य (आत्मा) से पृथग्भूत कर्म (ज्ञेय) नहीं पाया जाता है।

अंतरंग उपयोग को दर्शनोपयोग कहते हैं, क्योंकि आकार का अर्थ कर्ता-कर्मभाव है। उसके बिना जो अर्थोपलब्धि होती है उसे अनाकार उपयोग कहा जाता है। अंतरंग उपयोग में कर्ता-कर्मभाव होता है, ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि उसमें द्रव्य व क्षेत्र की अपेक्षा कर्ता से भिन्न कर्म का अभाव है।

“आयारो कम्मकारयं, तेण आयारेण सह तट्टमाणं सायारं । विज्जुज्जोएण जं पुड्ववेसायारविसिट्ठ-सत्ता-गहणं तं ण णाणं तत्थ विसेसग्गहणाभावादो ति भणिदे, ण, तं वि णाणं चोव, णाणादो पुधभूदकम्मुवलंभादो । ण च तत्थ एयंतेण विसेसग्गहणाभादो, विसा-वेस-संठाण-वण्णाविविसिट्ठसत्तुवलंभादो ।” जयधवल १ पृ० ३३८

“कम्मकसारभावो अगारो, तेण आगारेण सह वट्टमाणो उवजोगो सागारो सि । सागारो णाणं ।”

धवल पु० १३ पृ० २०७

“सागारो णाणोवजोगो, तत्थ कम्म-कसारभावसंभवादो ।” धवल १ पृ० ३३४

अर्थ—कर्म कारक (ज्ञेय) आकार कहलाता है । उस आकार के साथ जो उपयोग पाया जाता है वह साकार उपयोग है । विजली के प्रकाश से पूर्व दिशा व देश के आकाररूप सत्ता ग्रहण होती है वह ज्ञानोपयोग नहीं है, क्योंकि उसमें विशेष पदार्थ का ग्रहण नहीं होता ऐसी आशंका ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ ज्ञान से पृथग्भूत कर्म (ज्ञेय) पाया जाता है, इसलिये वह भी ज्ञान है, वहाँ पर दिशा, देश, आकार और वरुण आदि विषयों से युक्त सत्ता का ग्रहण पाया जाता है ।

कर्म-कर्तृभाव का नाम आकार है, उस आकार के साथ जो उपयोग रहता है, उसका नाम साकार है । साकारोपयोग का नाम ज्ञान है ।

साकार अभिप्राय ज्ञानोपयोग का है, क्योंकि उसमें (पृथक्) कर्म (ज्ञेय) और कर्ता (ज्ञान) की सम्भावना है ।

—जै. ग. 28-1-71/VII/ टी. ला. मित्तल

दर्शन और ज्ञान का कार्य

शंका—‘सत्तावलोकनम् मात्रम् दर्शनं’; ‘दर्शनं स्वप्रकाशकमात्रम्’ । दर्शन आत्मावलोकन है, ज्ञान पर-प्रकाशक है अथवा स्वपर प्रकाशक है, ऐसा कथन आया है । तो यह सत्तावलोकन मात्र दर्शन हमारी समझ में संसारी (छप्पस्थ) जीवों के लिए है और आत्मावलोकन मात्र अर्हन्तादि व संसारी के लिए है, क्योंकि तीन लोक में चेतन-अचेतन जितने पदार्थ हैं उनकी त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायों के सामान्य-विशेष केवली के ज्ञान में प्रतिसमय झलकते हैं, सामान्य नहीं । तो क्या उनके ज्ञान में इतनी कमी है कि सामान्य को नहीं जान सकते और यदि सामान्य-विशेष सम्पूर्ण अवस्था झलक गई तो फिर केवलदर्शन का क्या बाकी रहता है ? जिस समय उनके ज्ञानमें सम्पूर्ण पदार्थ युगपत् झलकते हैं । उस समय उनका दर्शन आत्मावलोकन में लगा है, ऐसा मानने में क्या बाधा है ?

समाधान—ज्ञान का विषय वस्तु है जो सामान्य विशेषात्मक है । (परीक्षामुख अ० ४ सूत्र १) ‘ज्ञान मात्र विशेष को जानता है’ ऐसा कहा नहीं जा सकता, क्योंकि सामान्यरहित मात्र विशेष प्रवस्तु है । अतः सामान्य विशेषात्मक पर जो ग्रहण करने वाला ज्ञान है । सामान्य-विशेषात्मक स्व को ग्रहण करने वाला दर्शन है । इन्द्रिय-ज्ञान से पूर्व ही जो सामान्य स्वशक्ति का अनुभव है और जो इन्द्रियज्ञान की उत्पत्ति में निमित्तरूप है वह दर्शन है । विशेष के लिए देखिए—धवल पु० १ पृ० १४५, ३८०; पु० ६, पृ० ९, ३३; पु० १३ पृ० ३५४; पु० १५ पृ० ५-६; अथधवल पु० १ पृ० ३५९-६० ।

तर्क शास्त्रों में सत्तावलोकन को दर्शन कहा है, क्योंकि तर्क में मुख्यता से अन्य मतों का व्याख्यान है । इसलिए उसमें यदि कोई अन्य मतावलम्बी पूछे कि जैनसिद्धांत में जीव के दर्शन और ज्ञान जो दो गुण कहे हैं, वे कैसे घटित होते हैं, तब उसके उत्तर में अन्यमतियों को कहा जाय कि ‘जो आत्मा को ग्रहण करने वाला है’ वह दर्शन है तो वे अन्यमती इसको नहीं समझते । तब आचार्यों ने उनको प्रतीति कराने के लिये स्थूल व्याख्यान से

बाह्यविषय में जो सामान्य का ग्रहण है उसका नाम 'दर्शन' स्थापित किया। यह सफेद है—इत्यादि रूप से बाह्य विषय में जो विशेष का जानना है उसका नाम 'ज्ञान' स्थापित किया अतः दोष नहीं। सिद्धान्त में मुख्यता से निज समय का व्याख्यान है इसलिये सिद्धान्त में सूक्ष्म व्याख्यान करने पर आचार्यों ने 'जो आत्मा का ग्राहक है, उसे दर्शन कहा है' अतः इसमें भी दोष नहीं। (बृहद् ब्रह्म संह्य गायत्रा ४४ की संस्कृत टीका) तर्क शास्त्र में ज्ञान के मध्य दर्शन को अन्तर्गत करके ज्ञान को ही स्व-पर प्रकाशक कहा है।

—जं. ग. 16-11-61/VI/ एल. एम. जैन

(१) अघातिया कर्मों का क्षयोपशम नहीं होता

(२) छद्मस्थ के आवरणद्वय का क्षयोपशम अक्रमभावी है; उपयोग अक्रमभावी नहीं

शंका—छद्मस्थों के आठों कर्मों का उदय प्रतिसमय रहता है। जब आठों कर्मों का उदय प्रति समय रहता है तो आठों कर्मों का क्षयोपशम भी प्रतिसमय मानना पड़ेगा। जब आठों कर्मों का क्षयोपशम प्रतिसमय है तो दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग क्रम से क्यों माने गये हैं। युगपत् होने चाहिये ?

समाधान—दसवें गुणस्थान तक छद्मस्थ के आठों कर्मों का उदय निरंतर रहता है। उपशांतमोह-ग्यारहवें-गुणस्थान में और क्षीणमोह-बारहवें-गुणस्थान में वीतरागछद्मस्थ के सात कर्मों का उदय होता है मोहनीयकर्म का उदय नहीं रहता है।

आठ कर्मों में चार घातियाकर्म हैं और चार अघातियाकर्म हैं।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय ये चार घातिया कर्म हैं। तथा वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र ये चार अघातिया कर्म हैं। जो घातिया कर्म हैं उनमें सर्वघाति और देशघाति दो प्रकार के स्पष्टक होते हैं। सर्व-घातीस्पष्टकों का उदयाभावरूप क्षय और सदवस्थारूप उपशम तथा देशघाति स्पष्टकों का उदय होने से कर्मों का क्षयोपशम होता है। कर्मों के क्षयोपशम होने से जो आत्मा का भाव होता है वह क्षयोपशमिकभाव है। अघातिया-कर्मों में सर्वघाति और देशघाति स्पष्टक नहीं होते, अतः अघातिया कर्मों का क्षयोपशम भी नहीं होता है। मात्र चार घातियाकर्मों का क्षयोपशम होता है।

चार घातियाकर्मों में से ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातियाकर्मों का तो प्रत्येक जीव के सर्वदा क्षयोपशम रहता है। दर्शनमोहनीयकर्म का क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव के और चारित्रमोहनीयकर्म का क्षयोपशम संयमी के होता है। तीसरे सम्यग्मिथ्यात्व-मिश्रगुणस्थान में भी दर्शनमोहनीयकर्म का क्षयोपशम और संयमासंयम-पंचमगुणस्थान में चारित्रमोहनीयकर्म का क्षयोपशम होता है। किन्तु यहाँ पर मोहनीयकर्म की विवक्षा नहीं है, क्योंकि शंका मात्र दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग के सम्बन्ध में है।

यद्यपि प्रत्येक जीव के छद्मस्थ-अवस्था में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातियाकर्मों का सर्वदा क्षयोपशम रहने से क्षायोपशमिकज्ञान और क्षायोपशमिकदर्शन भी निरंतर रहते हैं, तथापि इन कर्मों के देशघाति स्पष्टकों का उदय होने के कारण ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग युगपत् नहीं होते, क्रम से होते हैं। केवली-जिन के सर्वघाति और देशघाति दोनोंप्रकार के स्पष्टकों का अत्यन्त क्षय (नाश) हो जाने से ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग युगपत् होते हैं। कहा भी है—

दंसणपुष्पं णाणं छत्रुमस्थानं ण दोष्णि उवन्नोगा ।

जुगधं, जह्पा केवलिणाहे जुगधं तु ते वो वि ॥४४॥ वृ. ड. सं.

अर्थ—छत्रस्थ जीवों के दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है, क्योंकि छत्रस्थों के ज्ञान और दर्शन ये दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते । केवली भगवान के ज्ञान और दर्शन ये दोनों ही उपयोग एक साथ होते हैं ।

—जै. ग. 7-10-65/IX/ श्रान्तिमाला

अर्हन्त-सिद्ध में भी उपयोग होता है

शंका—अर्हन्त और सिद्ध भगवान में उपयोग है या नहीं ? यदि है तो कौनसा उपयोग है ?

समाधान—‘उपयोग’ जीव का लक्षण है, यदि श्री अर्हन्त व सिद्ध भगवान में उपयोग न माना जाय तो उनके जीवत्व के अभाव का प्रसंग आ जायगा । कहा भी है—

“उपयोगो लक्षणम् । सद्विधोऽष्टधतुर्भवः ।” मोक्षशास्त्र २।८ व ९ ।

टीका—उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानश्चेत्तन्यानुविधायी परिणामउपयोगः । स उपयोगो द्विविधः ज्ञानोपयोगो दर्शनोपयोगश्चेति । ज्ञानोपयोगोऽष्टभेदः मतिज्ञानं, श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं, मनःपर्ययज्ञानं, केवलज्ञानं, श्रुताज्ञानं, मत्त्यज्ञानं, विभङ्गज्ञानं चेति । दर्शनोपयोगश्चतुर्विधः चक्षुदर्शनमवधुदर्शनमवधिदर्शनं केवलदर्शनं चेति ।

जीव का लक्षण उपयोग है । अंतरंग और बहिरंग निमित्त के वश से चेतन्यानुविधायी परिणाम उपयोग है । वह उपयोग दो प्रकार का है (१) ज्ञानोपयोग (२) दर्शनोपयोग । ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान, मत्त्यज्ञान, श्रुताज्ञान, विभंगज्ञान । दर्शनोपयोग चार प्रकार का है । चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन । श्री अर्हन्त और सिद्ध भगवान में केवल ज्ञानोपयोग और केवल दर्शनोपयोग ये दो उपयोग होते हैं । कहा भी है—

“सजोगिकेवलीणं अजोगिकेवलीणं भण्णमारो अत्थि केवलणाण, केवलदंसण, जुगधदुवजुत्ता वा होंति । सिद्धाणं ति भण्णमारो अत्थि केवलणाणिणो, केवलदंसण, साधार-अणागारेहि जुगधदुवजुत्ता वा होंति ।”

धवल पु० २ ओघालाप ।

सयोगकेवली, अयोगकेवली अर्थात् श्री अर्हन्त भगवान तथा सिद्ध भगवान का आलाप कहने पर इनके केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों उपयोग युगपत् होते हैं । अथवा उपयोग तीन प्रकार का है—शुभोपयोग, अशुभोपयोग, शुद्धोपयोग । श्री अर्हन्त व सिद्ध भगवान के कषाय का अभाव है, अतः उनके शुद्धोपयोग पाया जाता है । श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार राग्या १४ में [‘विगतरागो’ ‘समस्त रागादि बोध रहित्वाद्दीतरागः’] विगतराग अर्थात् समस्त रागादि बोध से रहित जीव के शुद्धोपयोग बतलाया है ।

—जै. ग./ 18-12-75/VIII/

लब्धि व उपयोग में अन्तर

शंका—लब्धि व उपयोग में क्या अन्तर है ?

समाधान—मतिज्ञान इन्द्रिय व मन की सहायता से उत्पन्न होता है । इन्द्रिय व मन की रचना ज्ञानावरण-कर्म के क्षयोपशमानुसार होती है जिसके मात्र एक स्पर्शन-इन्द्रियावरण का क्षयोपशम है उसके मात्र एक स्पर्शन-

इन्द्रिय की रचना होगी अन्य इन्द्रियों की रचना नहीं होगी । जिस जीव के स्पर्शन-इन्द्रियावरण और रसना-इन्द्रियावरण का क्षयोपशम है उस जीव के स्पर्शन और रसना दो इन्द्रियों की ही रचना होगी, अन्य इन्द्रियों की रचना नहीं होगी । इस क्षयोपशम को लब्धि कहते हैं ।

“यत्सन्निधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्ति प्रति व्याप्रियते स ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषो लब्धिरिति विज्ञायते ।”

रा. वा. २।१८ १

जिसके बल से आत्मा द्रव्यइन्द्रियों की रचना में प्रवृत्त हो ऐसे ज्ञानावरणकर्म के विशेष क्षयोपशम का नाम लब्धि है ।

ज्ञानावरण के क्षयोपशम रूप लब्धि तथा द्रव्य-इन्द्रिय व प्रकाश आदि निमित्तों से जो जानने रूप आत्मा का परिणाम विशेष होता है वह उपयोग है । कहा भी है—

“तन्निमित्तः परिणामविशेषउपयोगः ।” रा. वा. २।१८।२

ज्ञानावरणकर्म के उस विशिष्ट क्षयोपशम से ज्ञायमान जो आत्मा का परिणाम विशेष है उसका नाम उपयोग है ।

ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से ज्ञायमान जो आत्मा में जानने की शक्ति वह तो लब्धि है । उस लब्धि को प्रयोग में लाकर जो आत्मा का जानने रूप परिणाम वह उपयोग है । लब्धि कारण है, उपयोग कार्य है ।

—जै. म. ४-४-६४/VI/ रोश्वलाल

मन का कार्य

शंका—मन ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग में उपकारक है या नहीं ? यदि कहा जाय कि उसकी सहायता बिना इन्द्रियों की अपने विषयों में प्रवृत्ति नहीं होती तो क्या मन का इतना ही कार्य है कि इन्द्रियों की सहायता करता रहे ? क्या इससे अतिरिक्त मन का अन्य कुछ कार्य नहीं है ?

समाधान—जो संज्ञी जीव हैं उनके इन्द्रियों का व्यापार मनपूर्वक होता है । धवल पु० १ पृ० २८८ पर कहा भी है—

“समनस्कानां परक्षायोपशमिकं ज्ञानं तन्मनोयोगात्स्यादिति चेन्न इष्टत्वात्” किन्तु जो समनस्क जीव हैं उनके मन के बिना इन्द्रियों की प्रवृत्ति के द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति होती है । श्री धवल पु० १ पृ० २८७ पर कहा है—

“विकलेन्द्रिय जीवों के मन के बिना ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती है ? ऐसा नहीं है, क्योंकि मन से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है, यह कोई एकान्त नहीं है । यदि मन से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है, यह एकान्त मान लिया जाता है, तो सम्पूर्ण इन्द्रियों से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी । मनसे समुत्पन्नत्वरूप घर्म इन्द्रियों में रह भी तो नहीं सकता, क्योंकि दृष्ट, श्रुत, अनुभूत को विषय करने वाले मानस-ज्ञान का दूसरो जगह सद्भाव मानने में विरोध आता है । यदि मन को चक्षु आदि इन्द्रियों का सहकारी कारण माना जावे सो भी नहीं बनता, क्योंकि प्रयत्न सहित आत्मा के सहकार की अपेक्षा रखने वाली इन्द्रियों से इन्द्रियज्ञान की उत्पत्ति पाई जाती है ।”

सम्यक्मतिज्ञान और सम्यक्श्रुतज्ञान समनस्क जीवों के ही होता है अमनस्क जीवों के क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता । अतः मन का विषय सम्यक्श्रुतज्ञान है । कहा भी है—

“श्रुतमनिश्रियस्य” । [२।२१, तत्त्वार्थसूत्र]

अर्थ—मन का विषय श्रुतज्ञान के विषयभूत पदार्थ है ।

अमनस्क जीवों में मन के बिना भी कुश्रुतज्ञान की उत्पत्ति होने में कोई विरोध नहीं है । धवल पु० १ पु० ३६१ पर कहा भी है ।

“मनरहित जीवों के श्रुतज्ञान कंठे संभव है ? ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि मन के बिना वनस्पति-कायिकजीवों के हित में प्रवृत्ति और अहित से निवृत्ति देखी जाती है, इसलिये मनसहित जीवों के ही श्रुतज्ञान मानने में उनसे अनेकान्त दोष आता है ।”

—जै. ग. 8-8-68/VI/ रो. ला. मित्तल

ज्ञानोपयोग के अभाव में भी ज्ञानपर्याय का अस्तित्व

शंका—जिससमय संसारी जीवों के दर्शनोपयोग रहता है तब ज्ञानोपयोग नहीं होता तो उस विवक्षित समय में ज्ञानगुण की कौनसी पर्याय विद्यमान रहती है, क्योंकि यदि ज्ञानगुण है तो वह किसी न किसी पर्याय में रहना चाहिये ?

समाधान—छद्मस्थ जीवों के ज्ञानगुण की दो अवस्थाएँ होती हैं:—१. लब्धि २ उपयोग । ‘लब्धयुपयोगो भावेन्द्रियम् ।’ मो. शा. अ. २ सू. १८ । ज्ञानावरण के क्षयोपशम को लब्धि कहते हैं । लब्धि के निमित्त से होने वाले परिणाम को उपयोग कहते हैं (सर्वार्थसिद्धि) । अतः छद्मस्थ के जिससमय दर्शनोपयोग होता है उससमय ज्ञानलब्धिरूप रहता है, क्योंकि आवरण कर्मोदय के कारण दोनों उपयोग दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग एक साथ नहीं हो सकते, क्रम से होते हैं । कहा भी है—

“वंसणपुष्वं णाणं, छुदुमस्थाणं ण बुणिण उवओगा ।

जुगवं जह्या केवल्लिणाहे जुगवं तु ते दो वि ॥४४॥ (बृहद्ब्रह्मसंग्रह)

अर्थ—छद्मस्थों के दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है क्योंकि उनके दोनों उपयोग एकसाथ नहीं होते । किन्तु केवलज्ञानी के वे दोनों ही उपयोग एकसाथ होते हैं ।

—जै. ग. 26-9-63/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

ज्ञान स्वप्रकाशक नहीं है, परप्रकाशक है

शंका—ज्ञान स्व-प्रकाशक है या पर-प्रकाशक ? यदि पर-प्रकाशक है तो कैसे ?

समाधान—श्री धीरसेन स्वामी के अभिप्रायानुसार ज्ञान स्व-प्रकाशक नहीं है, किन्तु पर-प्रकाशक है और दर्शन स्व-प्रकाशक है । इसका स्पष्ट उल्लेख श्री धवल और जयधवल ग्रंथों में अनेक स्थलों पर पाया जाता है । उनमें से कुछ उद्धरण यहाँ पर दिये जाते हैं—

धवल पुस्तक १—‘अन्तर्मुख चित्रप्रकाश को दर्शन और बहिर्मुख चित्रप्रकाश को ज्ञान माना है अतः इन दोनों के एक होने में विरोध आता है ।’ [पृ० १४५]

यदि ऐसा कहा जाय कि अन्तरंग सामान्य और बहिरंग सामान्य को ग्रहण करने वाला दर्शन तथा अन्त-बाह्य-विशेष को ग्रहण करनेवाला ज्ञान है तो ऐसा मानने में दो आपत्तियाँ आती हैं । प्रथम तो छद्मस्थ के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के युगपत् होने का प्रसंग आजायगा, क्योंकि सामान्य-विशेषात्मक वस्तु का क्रम के बिना ही ग्रहण होता है । दूसरे यह कि सामान्य को छोड़कर केवल विशेष अर्थक्रिया करने में असमर्थ है, और जो अर्थ-क्रिया करने में असमर्थ होता है वह अवस्तरूप पड़ता है, अतएव उसका ग्रहण करनेवाला होने के कारण ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता तथा केवल विशेष का ग्रहण भी तो नहीं हो सकता है, क्योंकि सामान्यरहित अवस्तरूप केवल विशेष में कर्ता, कर्मरूप व्यवहार नहीं बन सकता है । इसप्रकार केवल विशेष को ग्रहण करनेवाले ज्ञान में प्रमाणता सिद्ध नहीं होने से, केवल सामान्य को ग्रहण करनेवाले दर्शन को प्रमाण नहीं मान सकते हैं । प्रमाण के अभाव में प्रमेय (पदार्थ) और प्रमाता (आत्मा) आदि सभी का अभाव मानना पड़ेगा, किन्तु उनका अभाव है नहीं, क्योंकि उनका सद्भाव दृष्टिगोचर होता है [पृ० १४६-१४७] ।

अतः सामान्य-विशेषात्मक बाह्यपदार्थ को ग्रहण करनेवाला ज्ञान है और सामान्य-विशेषात्मक आत्मरूप को ग्रहण करने वाला दर्शन है, यह सिद्ध हो जाता है ।

“जं सामण्णं गहणं तं वंसणं” इस परमाण्ववाक्य के साथ भी विरोध नहीं आता है, क्योंकि आत्मा संपूर्ण बाह्य पदार्थों में साधारणरूप से पाया जाता है, इसलिये उक्त परमाण्व वचन में सामान्य संज्ञा को प्राप्त आत्मा का ही सामान्यपद से ग्रहण किया गया है । [पृ० १४७]

अन्तरंग पदार्थ को विषय करने वाले उपयोग का प्रतिबन्धक दर्शनावरणकर्म है और बहिरंग पदार्थ को विषय करने वाले उपयोग का प्रतिबन्धक ज्ञानावरणकर्म है [पृ० ३८१] । इसीप्रकार धवल पु० ६, ७, ११, १३ में तथा जयधवल पु० १ में कथन है, वहाँ से देख लेना चाहिये ।

यह कथन सिद्धान्तग्रन्थ अनुसार है, किन्तु तर्क शास्त्र में, अन्यमत वालों को समझाने की मुख्यता होने से, ज्ञान को स्व-पर-प्रकाशक कहा गया है । जैसे परीक्षामुख के प्रथमसूत्र “स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं” में कहा है कि स्व और अपूर्वार्थ (पर) का निश्चय करना ज्ञान है और वही प्रमाण है ।

इसप्रकार भिन्न-भिन्न दृष्टियों से ज्ञान को पर-प्रकाशक तथा स्व-पर-प्रकाशक कहा है ।

—जं. ग. 5-8-65/IX/ ज्ञानिलाल

‘कर्मकृत भाव’ से अभिप्राय

शंका—धवल पु० १३ में आकार का लक्षण ‘कर्मकृत भाव’ कहा है, किन्तु केवली का ज्ञान कर्मकृत भाव नहीं है क्योंकि वहाँ पर तो ज्ञानावरण आदि चारों घातियाकर्मों का क्षय हो चुका है । आकार का यथार्थ लक्षण क्या है ? केवलज्ञान साकार है या नहीं ?

समाधान—श्री धवल पु० १३ पु० २०७ पर ज्ञान को साकारोपयोग और दर्शन को अकारोपयोग कहा है वहाँ पर आकार का लक्षण 'कर्म-कतार-भावो आगारो' कहा है अर्थात् 'कर्म-कृत भाव का नाम आकार है' । धवल पुस्तक ११ पु० ३३३ में श्री 'आगारोणाम कर्मकतारभावो ।' अर्थात् 'आकार का अर्थ कर्म-कर्तृत्वभाव है ।'

शंकाकार ने उपयुक्त वाक्यों में प्रयोग किये गये 'कर्म' शब्द का यथार्थ अर्थ नहीं समझा । यहाँ पर 'कर्म' का अर्थ ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म नहीं है, किन्तु प्रमाण (ज्ञान) से पृथक्भूत-पदार्थ जो ज्ञान का विषय होता है उस पदार्थ को कर्म कहा है । उस पदार्थ के द्वारा किया हुआ जो भाव (पदार्थ के निमित्त से उत्पन्न होने वाला ज्ञेयाकार) है, वह आकार है । उस आकार के साथ जो उपयोग पाया जाता है, वह साकारोपयोग अर्थात् ज्ञान है । कहा भी है—

“पमाणवो पुद्यभूदं कम्ममायारो” जयधवल पु० १ पु० ३३१ ।

“आयारो कम्मकारणं सद्यसत्थसत्थावो पुद्य काऊण बुद्धिगोचरमुवणीयं, तेण आयारेण सह वट्टमाणं सायारं । ज्ञानावोपुद्यभूदकम्मवल्भावो ।” जयधवल पु० १ पु० ३३८ ।

अर्थ—प्रमाण से पृथक्भूत कर्म को आकार कहते हैं, अर्थात् प्रमाण में अपने से भिन्न बहिर्भूत जो विषय प्रतिभासमान होता है, उसे आकार कहते हैं अथवा बुद्धि (ज्ञान) के विषयभाव को प्राप्त हुआ कर्मकारक आकार कहलाता है । वहाँ पर ज्ञान से पृथक्भूत कर्म पाया जाता है ।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान का परिणमन ज्ञेयाधीन है इसीलिये ज्ञान को साकारोपयोग कहा है । किन्तु ज्ञेयों का परिणमन ज्ञान के आधीन नहीं है । ज्ञेय पदार्थों का परिणमन अपने-अपने अन्तरंग और बहिरंग कारणों के आधीन है ।

दर्शनोपयोग का विषय बाह्य पदार्थ नहीं है इसीलिये दर्शन को अकारोपयोग कहा है ।

इस प्रकृत में 'कर्म' का अर्थ ज्ञान से पृथक्भूत बाह्यपदार्थ ग्रहण करना चाहिये, न कि ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म ।

—जें. ग. 5-8-65/IX/ श्रान्तिलाल

चक्षु आदि इन्द्रियों की अन्तरंग में प्रवृत्ति नहीं होती

शंका—धवल पु० ७ पु० १०१ पर समाधान नं० २ में भाषा में लिखा है कि यथार्थ में तो चक्षुइन्द्रिय की अन्तरंग में ही प्रवृत्ति होती है ।” क्या यह ठीक है ?

समाधान—उक्त अभिप्रायवाले शब्द प्राकृत टीका, अर्थात् धवला में नहीं है । अनुवादक ने अपनी ओर से लिख दिये हैं; क्योंकि हिन्दी भाषा-पंक्ति ५ में 'अन्तरंग' अर्थात् 'आत्मपदार्थ' किया है । सामान्य का अर्थ वहाँ आत्मपदार्थ किया गया है । संस्कृत में 'जीव' शब्द है । जीव या आत्म-पदार्थ इन्द्रिय का विषय नहीं है ।

—पलाघाट 3-8-77/ ज. ला. जैन, भीण्डर

उपयोग जीवों की समस्त इन्द्रियाँ युगपत् व्यापार नहीं कर सकतीं

शंका—समस्त इन्द्रियों की अपने-अपने विषयों में युगपत् प्रवृत्ति हो सकती है या नहीं ?

समाधान—इन्द्रियज्ञान छद्मस्थों के होता है । छद्मस्थों के ज्ञानावरणकर्म का उदय रहता है । मतिज्ञानावरणकर्म के देशघातिस्पर्धकों के उदय के कारण समस्त इन्द्रियों की अपने-अपने विषय में युगपत् प्रवृत्ति नहीं हो

सकती है। एक समय में एक इन्द्रिय के द्वारा उसके विषय का ज्ञान हो सकता है, किन्तु पलटन बहुत शीघ्र होती रहती है अतः ऐसा प्रतीत होता है कि इन्द्रियों की युगपत् प्रवृत्ति हो रही है। जैसे कौबे के आँसू की गोलक तो दो होती हैं, किन्तु पुतली एक होती है। पुतली इतनी तेजी से फिरती है, जिससे यह प्रतीत होता है कि कौबा दोनों आँसू से देख रहा है। प्रवचनसार गाथा ५६ व टीका।

—ज. ग. 28-1-71/VII/ रो. ला. मित्तल

निद्रावस्था में उभयविध उपयोग का अभाव सम्भव है

शंका—तत्त्वार्थसूत्र अ० २/ सूत्र ८ में उपयोगो लक्षणम् कहा है। लक्षण अतिव्याप्ति, अव्याप्ति व असम्भव बोधों से रहित होता है अतः जीव सुप्त, सूच्छित्त आदि अवस्था में भी ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग में से किसी एक उपयोग से युक्त होता है, यह निश्चय हुआ। यानी निद्रावस्था में भी ज्ञानोपयोग का नैरन्तर्य उपरोक्त सूत्र से सिद्ध होता है। परन्तु आचार्य धीरसेन स्वामी ने तो धवल पु० १ व पुस्तक १३ में निद्रा में ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग दोनों ही नहीं हों, यह भी सम्भव बतलाया है; तो क्या दोनों आचार्यों में मतभेद है ?

समाधान—लब्धुपयोगो भावेन्द्रियम्, उपयोगरूप न हो, लब्धिरूप चेतना (उपयोग) रहने में कोई बाधा नहीं।

—पृष्ठ 3-8-80/ ज. ला. जैन, भीण्डर

निद्राकाल में कथंचित् उपयोग रहता भी है, कथंचित् नहीं भी रहता

शंका—अभी मेरे ज्ञानोपयोग बरत रहा है और उसी समय मुझे निद्रा आ गई तो क्या वर्तता हुआ ज्ञानोपयोग नष्ट हो जाएगा ? यानी निद्रा आने के क्षण से पूर्व के क्षण तक जो ज्ञानोपयोग चल रहा था वह भी अनन्तर क्षण में निद्रा आ जाने से नष्ट हो जाएगा क्या ?

समाधान—निद्रा के विषय में दो मत हैं। एक मत तो धवल पु० १ सूत्र १३१ की टीका में पृ० ३८३ पर है और दूसरा मत धवल पु० १३ में है।

—पृष्ठ 8-7-80/ ज. ला. जैन, भीण्डर

लब्धपर्याप्तकों के भी उपयोग होता है

शंका—लब्धपर्याप्तक में ज्ञानोपयोग एवं दर्शनोपयोग कैसे सम्भव है ? क्योंकि वहाँ पर द्रव्य इन्द्रिय व द्रव्यमन है ही नहीं।

समाधान—इन्द्रियों से ही जीव को ज्ञान होता है, ऐसा एकान्त नियम नहीं है। कहा भी है—

“ण च इन्द्रिहृतो चैव जीवे णाणमुपज्जवि, अपज्जत्तकाले इन्द्रियाभावेण णाणाभावप्पसंगादो। ण च एवं, जीवदव्वाधिणाभावि णाणदंसणाभावे जीवदव्वरस वि धिणासप्पसंगादो।” [—जयधवल पु० १ पृ० ५१-५२]

इन्द्रियों से ही जीव में ज्ञान उत्पन्न होता है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर अपर्याप्त-काल में इन्द्रियों का अभाव होने से ज्ञान-दर्शन के अभाव का प्रसंग आता है। यदि कहा जाय कि प्रपर्याप्त अवस्था

में ज्ञानदर्शन का अभाव होता है तो हो जाओ सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यावत् जीव द्रव्य में रहने वाले और उसके अविनाभावी ज्ञान-दर्शन का अभाव मानने पर जीवद्रव्य के विनाश का प्रसंग प्राप्त होता है ।

—पद्माचार्य/ज. ला. जैन, भीण्डर

लब्धपर्याप्तक के उपयोग रहित अवस्था भी संभव है

शंका—क्या यह भी सम्भव है कि किसी लब्धपर्याप्तक को कभी दोनों में से कोई भी उपयोग न हो ?

समाधान—यह भी सम्भव है कि लब्धपर्याप्तक के किसी समय ज्ञानोपयोग या दर्शनोपयोग में से कोई भी न हो, मात्र क्षयोपशम (लब्धिरूप) हो ।

—पत्र 30-9-80/ ज. ला. जैन, भीण्डर

दर्शनोपयोग व सम्यग्दर्शन में भेद

शंका—पंचास्तिकाय गाथा ४० में दर्शनोपयोग को जीव से अपृथग्भूत कहा है । जब दर्शनोपयोग जीव से अपृथग्भूत है तो सम्यग्दर्शन भी जीव से अपृथग्भूत होगा । जब दर्शनोपयोग और सम्यग्दर्शन दोनों जीव से अपृथग्भूत हैं तब इन दोनों में एकत्व का प्रसंग क्यों नहीं आवेगा ?

समाधान—यद्यपि संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा से दर्शनोपयोग गुण तथा जीवद्रव्य गुणी में भेद है तथापि प्रदेश की अपेक्षा दर्शनोपयोग गुण और जीवद्रव्य गुणी में भेद नहीं है, क्योंकि जो प्रदेश गुणी के हैं उन्हीं प्रदेशों में गुण रहता है, गुण के पृथक् प्रदेश नहीं होते हैं । अतः दर्शनोपयोग को जीव से अपृथग्भूत कहा है । कहा भी है—

“गुणगुण्यादिसंज्ञादि—भेदाद् भेदस्वभावः ॥ ११२ ॥ गुणगुण्याङ्गोक्तस्वभावावभेद—स्वभावः ॥ ११३ ॥”

सम्यग्दर्शन भी जीव के श्रद्धागुण की पर्याय है अतः सम्यग्दर्शन भी जीवद्रव्य से प्रदेश की अपेक्षा अपृथग्भूत है, किन्तु संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन की अपेक्षा सम्यग्दर्शन व जीवद्रव्य में भेद है ।

प्रत्येक गुण का कार्य भिन्न-भिन्न है । दर्शनगुण का कार्य सामान्य अवलोकन है । जैसा कि कहा है—
“सामान्यग्राहि दर्शनम् ।” किन्तु सम्यग्दर्शन का कार्य तत्त्वार्थश्रद्धान है । जैसा कहा है—

“तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।”

“दर्शनोपयोग और सम्यग्दर्शन में लक्षण भेद होने से दोनों एक नहीं हो सकते हैं । किन्तु दोनों जीवप्रदेश के आश्रित होने से दोनों के प्रदेश अपृथग्भूत हैं ।”

—जं. ग. 15-6-72/VII/ रो. ला. मित्तल

ज्ञान का पर पदार्थों के साथ ज्ञेयज्ञायक तथा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है

बाह्य पदार्थों में उपयोग के जाने से ज्ञान का नाश नहीं होता

शंका—क्या उपयोग का बाह्य पदार्थों के साथ कोई संबंध नहीं है ? यदि उपयोग बाह्य पदार्थों में जाता है तो क्या उपयोग का मरण हो जाता है ?

समाधान—उपयोग का बाह्य पदार्थों के साथ ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध अथवा ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध है। श्रीमद् धेवसेनाचार्य ने कहा भी है—

“सम्बन्धोऽविनाभावः संश्लेषः सम्बन्धः, परिणाम परिणामि सम्बन्धः, अदाधर्मेय-सम्बन्धः, ज्ञानज्ञेय-सम्बन्धः, चारित्र्यार्थासम्बन्धश्चेत्यादि ।”

श्री धीरसेनाचार्य ने भी ‘ज्ञो ज्ञेयेक्यमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धके ।’ इन शब्दों द्वारा यह कहा है कि प्रतिबन्धक के नहीं रहने पर अर्थात् ज्ञानावरणकर्म के क्षय हो जाने पर ज्ञाता ज्ञेय के विषय में अज्ञ कैसे रह सकता है ? इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि बाह्य पदार्थों के साथ उपयोग का ज्ञान-ज्ञेयसम्बन्ध है। यदि ज्ञानज्ञेयसम्बन्ध न माना जाय तो ज्ञानावरणकर्म के हो जाने पर भी ज्ञानोपयोग सर्व पदार्थों को नहीं जान सकेगा इसप्रकार सर्वज्ञ के अभाव का प्रसंग आ जायगा।

उपयोग दो प्रकार का है—

(१) ज्ञानोपयोग (२) दर्शनोपयोग श्री पूज्यपाद आचार्य ने कहा भी है—

“स उपयोगो द्विविधः—
ज्ञानोपयोगो दर्शनोपयोगश्चेति ।”

इन दोनों उपयोगों का पृथक्-पृथक् कार्य श्री धीरसेनाचार्य ने निम्न प्रकार बतलाया है—

“स्वस्माद्भिन्नवस्तुपरिच्छेदकं ज्ञानम् स्वतोऽभिन्नवस्तुपरिच्छेदकं दर्शनम् ।”

अर्थात्—अपने से भिन्न वस्तु का परिच्छेदक ज्ञान है और अपने से अभिन्न वस्तु का परिच्छेदक दर्शन है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञानोपयोग का सम्बन्ध बाह्यपदार्थों से है।

यद्यपि केवलज्ञान में अनन्तानन्त-लोकालोक को जानने की सामर्थ्य है (यावांतलोकालोक स्वभावोऽनन्त तावन्तोऽनन्तानन्ता यद्यपि स्युः तानपि ज्ञानुमस्य सामर्थ्यमस्तीत्यपरिमितमाहात्म्यं तत् केवलज्ञानंवेदितव्यम्) तथापि ज्ञेयों के अभाव के कारण वह सामर्थ्य व्यक्त नहीं हो सकती।

शेषामावे बिल्ली जिम थक्कह णाणु बलेवि ।

मुक्कहं असु पय बिबियउ परम सह उ भरोवि ॥ १।४७ ॥ (परमात्मप्रकाश)

टीका—“यथा मण्डपाद्यभावे बहली व्यावृत्य तिष्ठति तथा ज्ञेयावलम्बनाभावे ज्ञानं व्यावृत्य तिष्ठति न च ज्ञातृत्वशक्त्यभावेनेत्यर्थः ।”

जैसे मण्डप के अभाव से बेल (लता) ठहर जाती है, अर्थात् जहाँ तक मंडप है, वहाँ तक तो बेल चढ़ती है और उससे आगे मण्डप का सहारा न मिलने से, सामर्थ्य होते हुए भी आगे नहीं चढ़ सकती उसी प्रकार मुक्त जीवों का केवलज्ञान भी जहाँ तक ज्ञेयपदार्थ हैं वहाँ तक परिच्छेदकरूप से फैल जाता है, किन्तु शक्ति होते हुए भी ज्ञेयों का अभाव होने के कारण आगे फैलने से रुक जाता है।

श्री स्वामिकार्तिकेय ने भी कहा है—“ज्ञेयेण बिणा कहेण णाणं ।” ज्ञेयों के बिना ज्ञान कैसे हो सकता है ? इसी बात को श्री कुम्भकुन्दाचार्य ने भी कहा है—

“जाणं खेयप्पमाणमुद्दिट्ठं ।

अर्थात्—ज्ञान ज्ञेयों के बराबर है ।

श्री वीरसेनाचार्य ने भी कहा है—

“आत्मार्यभ्यतिरिक्तसहायनिरपेक्षत्वाद्वा केवलमसहायम् ।”

अर्थात्—केवलज्ञान आत्मा और अर्थ (ज्ञेयों) से अतिरिक्त अन्य किसी इन्द्रियादिक सहायक की अपेक्षा नहीं रखता, इसलिये वह केवल असहाय है । इससे स्पष्ट है कि केवलज्ञान अर्थों (ज्ञेयों) की सहायता की अपेक्षा रखता है ।

इन आर्षवाक्यों से यह सिद्ध हो जाता है कि ज्ञान की शक्ति की व्यक्तता में परपदार्थ सहायक होते हैं । इसप्रकार ज्ञान का परपदार्थों के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी है ।

‘परपदार्थों को जानना’ ज्ञान का स्वभाव है, किन्तु एकांतवादी ऐसा मानता है कि परपदार्थों को जानने से (परपदार्थों में ज्ञानोपयोग जाने से) ज्ञान मलिन हो जाता है, अतः वह एकान्तवादी परपदार्थों में ज्ञान को नहीं जाने देता (परपदार्थों को जानने से ज्ञान को रोकता है ।) इसप्रकार वह एकान्तवादी ज्ञान-स्वभाव का नाश करता है । उस एकान्तवादी को समझाने के लिये आचार्य कहते हैं—

ज्ञेयाकारकलंकमेचकचिति प्रक्षालनं कल्पयन्तेकाकारचिकीर्षया स्फुटमपि ज्ञानं पशुनेच्छति । वैचित्र्येऽप्य-
विचित्रतामुपगतं ज्ञानं स्वतः क्षालितं पर्यायैस्तदमेकतां परिमृशन् पश्यत्यनेकांतवित् ॥२५१॥ एकान्तवादी पशु तो ज्ञान में ज्ञेयाकार (ज्ञेयों के जानने) को मूल समझ कर एकाकार (ज्ञान को पर पदार्थों के जानने से रहित करने) के लिये ज्ञेयाकार को धोकर ज्ञान का नाश करता है । अनेकान्तवादी ज्ञेयाकार से ज्ञान की विचित्रता होने पर भी ज्ञानाकार से ज्ञान को एकाकार मानता है अर्थात् अनेकान्तवादी परज्ञेयों के जानने से ज्ञान में मलिनता नहीं मानता, क्योंकि परपदार्थों का जानना ज्ञानका स्वभाव है ।

जो बाह्यपदार्थों में उपयोग के जाने से ज्ञान का नाश मानते हैं, उनको जीवद्रव्य का भी नाश मानना होगा, क्योंकि ज्ञानरूप लक्षण का नाश होने पर जीवद्रव्य लक्ष्य का भी नाश होना अवश्यम्भावी है ।

श्री वीरसेनाचार्य ने तो यहाँ तक कहा है कि किसी भी पदार्थ के आलम्बन से ध्यान हो सकता है—

“आलंबश्लेहि भरियो लोगो ज्ञाद्दुमणस्स खवगस्स ।

अं अं मणसा पेच्छेद्द तं तं आलंबणं होई ॥ (धवल पु० १३ पृ० ७०)

यह लोक ध्यान के आलम्बनों से भरा हुआ है । ध्यान में मन लगाने वाला क्षणिक मन से जिस-जिस वस्तु को देखता है वह-वह वस्तु ध्यान का आलम्बन होता है ।

—जं. ग. 19-12-74/ / राजमल जैन

“उपयोग बाहर निकले तो जम का दूत ही आया”

इत्यादि वाक्य आर्ष वाक्यों से प्रतिकूल हैं

शंका—क्या निम्न बातें आर्षवाक्यों से प्रतिकूल हैं—

(१) उपयोग अपने से बाहर निकले तो जम का दूत ही आया, बाहर में चाहे भगवान भी भले हो । उपयोग बाहर जावे उसमें अपना मरण हो रहा है । बाहर के पदार्थ से तो अपना कोई संबंध ही नहीं ।

(२) सुनने के भाव में सुनने वाले को नुकसान है और सुनाने के भाव में सुनाने वाले को नुकसान है । अपनी अपनी योग्यता के अनुसार दोनों को नुकसान है ।

(३) देव, गुरु, शास्त्र की ओर लक्ष्य जाता है उसमें नुकसान ही है, लाभ नहीं है यह बात पक्की हो जानी चाहिये ।

समाधान—ब्राह्म पदार्थों के साथ जीव-आत्मा का ज्ञेय-ज्ञायक, निमित्त-नैमित्तिक आधार-आधेय, श्रद्धेय-श्रद्धा इत्यादि सम्बन्ध हैं । श्री सभन्तभद्राचार्य ने कहा भी है—

श्रद्धानं परमार्थानाम्प्राप्तःसगमत्वोभूताम् ।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥४॥

परमार्थस्वरूप आप्त-आगम व तपस्वियों का जो, अष्टप्रंग सहित, तीनमूढ़ता रहित तथा मदविहीन, श्रद्धान है वह सम्यग्दर्शन है ।

श्री कुन्दकुम्भाचार्य ने भी इसी प्रकार कहा है—

अज्ञागमतकृष्णं सदृहणादो हृदई सम्मत्तं ।
ववगयभसेसवोसो सयलगुणप्पा हवे अत्ता ॥

आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान से सम्यग्दर्शन होता है । जिसके समस्त दोष नष्ट हो गये हैं तथा जो समस्त गुणों से तन्मय है ऐसा पुरुष आप्त कहलाता है ।

छह वक्त्र षषपयत्था पंचतथी सत्त तच्च णिदिद्धा ।
सदृहइ ताण रुवं सो सद्विद्धी मुणोयध्वो ॥१९॥ (दर्शनपाठुइ)

छहद्रव्य, नौपदार्थ, पांचमस्तिकाय और साततत्त्व जिनेन्द्र द्वारा कहे गये हैं । जो उनके स्वरूप का श्रद्धान करता है, वह सम्यग्दर्ष्टि है ।

सुत्तत्थं जिणभणियं जीवाजीवादिबहुविहं अत्थं ।
हेयाहेयं च तहा जो जाणइ सो हु सद्विद्धी ॥५॥ सूत्रपाठुइ

जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए सूत्र के अर्थ को, जीव-अजीव आदि बहुत प्रकारके पदार्थों को तथा हेय-उपादेय को जानता है वह वास्तव में सम्यग्दर्ष्टि है ।

इसी बात को भी अमृतचन्द्राचार्य भी कहते हैं ।

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सर्वैव कर्तव्यम् ।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशवि वित्तमात्मरूपं तत् ॥ पुरुषार्थं सिद्धुपाय

जीव-अजीव आदि तत्त्वार्थों का विपरीताभिनिवेशरहित श्रद्धान करना चाहिए, क्योंकि वह श्रद्धान आत्मा का गुणरूप सम्यग्दर्शन है ।

श्री बीरसेनाचार्य ने भी कहा है—

“तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं । अस्य यमनिकोच्यते, आप्तगमपदार्थस्तत्त्वार्थस्तेषु श्रद्धानमनुरक्तता सम्यग्दर्शनमिति लक्ष्यनिर्देशः ।”

तत्त्वार्थ का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। इसका अर्थ यह है कि आप्त, आगम और पदार्थ तत्त्वार्थ हैं। उनके विषय में श्रद्धान अर्थात् अनुरक्ति सम्यग्दर्शन है। यहाँ पर सम्यग्दर्शन लक्ष्य है। आप्त, आगम और पदार्थ का श्रद्धान लक्षण है।

श्री वसुनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य ने भी कहा है—

भक्तागमतच्चाणं जं सद्दृष्टं सुणिम्मलं होइ ।
संकाइदोस रहियं तं सम्भत्तं मुण्णोव्वं ॥
जीवाजीवासव-बंध-संवरो णिज्जरा तथा मोवखो ।
एयाइं सत्त तच्चाइं सद्दहंतस्स सम्भत्तं ॥
आज-कुल-जोणि-मग्गण-गुण जीबुवभोग-पाण-सण्णाहि ।
णाऊण जीवदव्वं सद्दहणं होइ कायव्वं ॥

आप्त, आगम और तत्त्वों का संकादि दोषरहित जो अति निर्मल श्रद्धान है वह सम्यग्दर्शन है। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं और इनका श्रद्धान सम्यक्त्व है। आयु, कुल, योनि, मार्गणास्थान, गुणस्थान, जीवसमास, उपयोग, प्राण और संज्ञा के द्वारा जीवद्रव्य को जानकर उसका श्रद्धान करना चाहिये।

श्री गुणवद्र आचार्य ने भी कहा है—

सर्वः प्रेप्सति सत्सुखाप्तिसच्चिरात् सा सर्वकर्मक्षयात् ।
सङ्घृत्तात् स च तच्च बोध नियतं सोऽप्यागमात् सा श्रुतेः ॥
सा चाप्तात् स च सर्वदोष रहितो रागादयस्तेऽप्यतः ।
तं युक्त्या सुविचार्यं सर्वसुखदं सन्तः श्रयन्तु धिये ॥ आत्मानुशासन

सर्वप्राणी अति-शीघ्र यथार्थ सुख प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं। वह सुख कर्मक्षय से मिलता है। कर्मों का क्षय सद्ब्रत से होता है। सद्ब्रत सम्यग्ज्ञान के द्वारा प्राप्त होते हैं। सम्यग्ज्ञान आगम से प्राप्त होता है। वह आगम भी द्वादशांगरूप श्रुत के सुनने से होता है। वह द्वादशांगश्रुत आप्त से आविर्भूत होता है। रागादि समस्त दोषों से रहित आप्त होता है। इसलिये सुख के मूल कारणभूत आप्त का युक्तिपूर्वक विचार करके सज्जन मनुष्य सम्पूर्णा सुख देने वाले उसी आप्त का आश्रय लेते हैं।

अनेकान्तात्मार्थप्रसवफल भारातिथिनते,
वचः पर्णाकीर्णोविपुल नयशास्त्रशतयुते ।
समुत्तुङ्गे सम्यक् प्रततमतिमूले प्रतिदिनं ।
श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम् ॥ आत्मानुशासन

श्रुतस्कन्धरूप वृक्ष अनेक धर्मतिक पदार्थरूप फूल एवं फलों के भार से अतिशय झुका हुआ है, वचनरूप पत्तों से व्याप्त है, विस्तृत नयोरूप सैंकड़ों शाखाओं से युक्त है, उन्नत है तथा समीचीन एवं विस्तृत मतिज्ञानरूप जड़ से स्थिर है उस श्रुतस्कन्धरूप वृक्ष के ऊपर बुद्धिमान को अपने मनरूपी बंदर को प्रतिदिन रमाना चाहिए।

शास्त्राग्नी मणिवद्भूव्यो विशुद्धो भाति निर्वृतः ।

शास्त्ररूप अग्नि में प्रविष्ट हुआ भव्यजीव मणि के समान विशुद्ध होकर मुक्ति को प्राप्त करता हुआ शोभायमान होता है। जिस प्रकार पद्मरागमणि को अग्नि में रखने पर वह मल से रहित होकर अतिशय निर्मल

हो जाता है और सदा वंसा ही रहता है, उसीप्रकार श्रुतग्रन्थ्यास करने पर भव्य जीव भी राग-द्वेषादि-मलसे रहित होकर विशुद्ध होता हुआ मुक्त हो जाता है और सदा उसी अवस्था में रहता है ।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी कहा है—

सुप्तं जिनोवविद्धं पोग्लदध्वप्पमेहिं वयसोहिं ।

त जाणणा हि णाण सुत्तस्स य जाणणा भणिया ॥३४॥ प्रवचनसार

जिन भगवान ने पौद्गलिक दिव्यध्वनि वचनों द्वारा द्रव्यश्रुत का उपदेश दिया है । उस द्रव्यश्रुत के ग्राधार से जो जानपदा है वह भाव श्रुतज्ञान है । इस गाथा में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने यह बतलाया है कि दिव्यध्वनि के द्वारा द्रव्यश्रुत की रचना हुई है और उस द्रव्यश्रुत के आधार से भावश्रुतज्ञान उत्पन्न होता है ।

“णिच्छित्ती आगमवो आगमचेट्टा तवो जेट्टा ।”

टीका—पदार्थनिश्चित्तरागमतो भवति । ततः कारणादेवमुक्तलक्षणगमपरमागमे च चेष्टा प्रवृत्तिः ज्येष्ठा प्रशस्त्येत्यर्थः ॥२३२॥ (प्रवचनसार जयसेनीय टीका)

आगम से पदार्थों का निश्चय होता है । इसलिये शास्त्राभ्यास में उद्यम करना श्रेष्ठ है ।

सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चित्तेहिं ।

जाणंति आगमेण हि पेच्छित्ता ते वि ते समणा ॥२३५॥ प्रवचनसार

नानाप्रकार गुण-पर्यायोंसहित सर्वपदार्थ आगम से सिद्ध हैं । आगम से शास्त्र के द्वारा उन सब पदार्थों को यथार्थ देखकर जो जानते हैं वे ही साधु हैं ।

इस गाथा में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने यह बतलाया है कि आगम अर्थात् शास्त्र के द्वारा सर्व पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है । इसीलिये, ‘आगमचक्रवृत्त साहू’ अर्थात् साधु सर्व पदार्थों को आगम के द्वारा जानता है, ऐसा कहा गया है ।

इन आर्षवाक्यों से यह सिद्ध हो जाता है कि वीतरागदेव, निर्ग्रन्थगुरु, दयामयी धर्म और स्याद्वादमयी जिनवाणी का यथार्थ ज्ञान व श्रद्धान सम्यग्दर्शन है । यदि देव, गुरु, शास्त्र में उपयोग नहीं जायगा तो उनका ज्ञान और श्रद्धान संभव नहीं है । देव, गुरु, शास्त्र के ज्ञानाभाव में सम्यग्दर्शन के अभाव का प्रसंग आता है । सम्यग्दर्शन के अभाव में मोक्षमार्ग का अभाव हो जायगा, क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य की एकता ही मोक्षमार्ग है ।

यदि यह कहा जाय कि देव, गुरु, शास्त्र में उपयोग जाने से रागोत्पत्ति की सम्भावना है, इसलिये देव, गुरु, शास्त्र में उपयोग नहीं जाना चाहिए; तो ऐसा कहना ठीक नहीं है । देव, गुरु, शास्त्र में यदि राग की उत्पत्ति भी हो जाय तो वह राग प्रशस्त है, क्योंकि उसका आश्रय वीतरागता से है । वह प्रशस्तराग मोक्ष मार्ग का बाधक न होकर साधक है । कहा भी है—

विधूततमसो रागस्तपः धूतनिबन्धनः ।

संध्याराग इवार्कस्य जन्तोरभ्युदयाय सः ॥१२३॥ [आत्मानुशासन]

तप व शास्त्र विषयक जो अनुराग है वह अज्ञानरूप अंधकार को नष्ट करने वाला है, इसलिये सूर्य की प्रभात कालीन लालिमा के समान है । उससे स्वर्ग व मोक्ष सुख मिलता है ।

श्री कुलभद्राचार्य ने संसार दुःखक्षय का उपाय बतलाते हुए कहा है—

व्रतं शीलतपोवानं संयमोऽर्हत्-पूजनम् ।

दुःख-विच्छिद्यते सर्वं प्रोक्तमेतस्य संशयः ॥३२२॥ (सार समुच्चय)

संसार के दुखों का नाश करने के लिये व्रत, शील, तप, दान, संयम तथा अर्हत्-पूजन ये सब उपाय हैं इसमें संशय नहीं करना चाहिए ।

वीतराग निर्ग्रन्थ महाव्रतधारी गुरुओं का उपदेश तो इस प्रकार है । इसके विपरीत रागी द्वेषी सग्रन्थ असंयमी गुरु का उपदेश माननीय नहीं हो सकता है । आर्षंश्रुतियों की स्वाध्याय से ही यथार्थ ज्ञान हो सकता है ।

—खं. ग. 20-3-75 व 27-3-75/VJ/ राजमल जैन

जीव तरव : सम्यग्दर्शन

१. व्यवहार व निश्चय के स्वरूप तथा भेद-प्रति भेद
२. व्यवहार सम्यग्दर्शन भी वास्तविक सम्यग्दर्शन है
३. व्यवहार सम्यक्त्व में मिथ्यात्व कर्म के उदय का अभाव रहता है
४. निश्चय व व्यवहार सम्यक्त्व का स्वरूप एवं अक्रमास्तित्वविचार

शंका—व्यवहार सम्यग्दर्शन व निश्चय सम्यग्दर्शन, इनका क्या स्वरूप है ? व्यवहार सम्यग्दर्शन को निश्चय सम्यग्दर्शन का कारण कहा है, सो व्यवहार सम्यग्दर्शन क्या केवल निश्चय सम्यग्दर्शन का कारण होने से ही व्यवहार सम्यग्दर्शन है, उसे वह सम्यक्त्व नहीं ? करणानुयोग की सूक्ष्मदृष्टि से व्यवहार सम्यग्दर्शन मिथ्यात्व ही है क्या ?

जिसे देव, शास्त्र, गुरु की सच्ची श्रद्धा है उसे व्यवहार सम्यक्त्व कहा जाता है तथा जिसे आत्म-श्रद्धा है अपने आप में रचि है उसे निश्चयसम्यक्त्व कहा जाता है । तब व्यवहारसम्यक्त्व अर्थात् देव, गुरु, शास्त्र की सच्ची श्रद्धावाला अपने आपकी रचि रखने वाला होगा या नहीं ? और अपने आप में रचि रखने वाला देव, गुरु, शास्त्र का सच्चा श्रद्धाली होगा या नहीं ?

किसी भी जीव के व्यवहार व निश्चयसम्यक्त्व दोनों साथ रहते हैं या इनमें से कोई भी रह सकता है ? यदि है तो कौनसा और क्यों कर ? निश्चय सम्यक्त्व मोक्ष का साक्षात् कारण है तब व्यवहार सम्यक्त्व भी परंपरा से कारण है या नहीं ? व्यवहार सम्यग्दर्शन होने पर भी संसार अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल मात्र रह जाता है या नहीं ?

क्या निश्चयसम्यक्त्व व व्यवहारसम्यक्त्व एक ही सम्यक्त्व के दो प्रकार कथन करने की अपेक्षा से हैं ? यदि ऐसा है तो निश्चय व व्यवहार दोनों सम्यक्त्व एक दूसरे के साथ ही रहेंगे, एक दूसरे के बिना रहेंगे नहीं ? और यह बात फिर प्रत्येक कथन में होनी चाहिए कि प्रत्येक वस्तु का निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकार से निरूपण हो सकता है और दोनों ही धर्म प्रत्येक वस्तु में होने चाहिये तब दोनों साथ ही होंगे ?

समाधान—इस शंका का समाधान करने से पूर्व निश्चय और व्यवहारनय का स्वरूप तथा उनके भेद प्रतिभेदों का कथन करना आवश्यक है । अतः सर्व प्रथम नय का लक्षण और निश्चय व व्यवहार की अपेक्षा उसके भेदों का कथन किया जाता है ।

“प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नयः ।” जयधवल पु० १ पृ० २१०

अर्थ—जो प्रमाण के द्वारा प्रकाशित किये गये अर्थ के विशेष का अर्थात् किसी एक धर्म का कथन करता है, वह ‘नय’ है ।

“सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीनः इति ।” सर्वार्थ सि० १।६

अर्थ—सकलादेश (सम्पूर्ण धर्मों को विषय करना) प्रमाण के आधीन है और विकलादेश (एक धर्म को विषय करना) नय के आधीन है ।

श्री स्वामिकांतिकेय ने नय का लक्षण इस प्रकार कहा है—

णाणा-धम्म-जुदं पि य एयं धम्मं पि बुच्चदे अत्थं ।

तस्सेय-विवक्खादो णट्ठि विक्खा ह्व सेसाणं ॥२६४॥

अर्थ—यद्यपि पदार्थ नाना धर्मों से युक्त है तथापि नय एक धर्म को ही कहता है, क्योंकि उस धर्म की विवक्षा है, शेष नयों की विवक्षा नहीं है ।

उच्चारयम्मि दु पदे णिक्खेवं वा कयं तु वट्ठूण ।

अत्थं णयंति ते तच्चदो त्ति तम्हा णया मणिदा ॥११८॥ जयधवल पु. १ पृ. २५९

अर्थ—पद के उच्चारण करने पर और उसमें किये गये निक्षेप को देखकर अर्थात् समझकर यहाँ पर इस पद का क्या अर्थ है इस प्रकार ठीक रीति से अर्थ तक पहुँचा देते हैं अर्थात् ठीक-ठीक अर्थ का ज्ञान कराते हैं इसलिये वे ‘नय’ कहलाते हैं ।

इस आर्षवाक्य से इतना स्पष्ट हो जाता है कि निश्चयनय व व्यवहार नय इन दोनों नयों में से प्रत्येक नय अर्थ (पदार्थ) का ठीक-ठीक बोध कराता है ।

वस्तु के किसी एक धर्म की विवक्षा से जो लोक व्यवहार को साधता है वह नय है । जो लोक व्यवहार की सिद्धि में सहायक नहीं, वह नय नहीं है । कहा भी है—

लोयाणं ववहारं धम्मविवक्खाइ जो पसाहेवि ।

सुय-णाणस्स विक्खो सो वि णओ लिंग-संभूवो ॥२६३॥ स्वा. का.

अर्थ—जो वस्तु के एक धर्म की विवक्षा से लोक व्यवहार को साधता है वह नय है । नय श्रुतज्ञान का भेद है तथा लिंग से उत्पन्न होता है ।

‘न्यायश्चर्यते लोकसंव्यवहारप्रसिद्धयर्थम्, यत्र स नास्ति न स न्यायः फलरहितत्वात् ।’ ज.ध.पु. १ पृ. ३७२

अर्थ—नय का अनुसरण भी लोक व्यवहार की प्रसिद्धि के लिये किया जाता है । परन्तु जो लोकव्यवहार की सिद्धि में सहायक नहीं है वह नय नहीं है, क्योंकि उसका कोई फल नहीं पाया जाता है ।

समस्त व्यवहार की सिद्धि सुनय से होती है । सुनय और कुनय का लक्षण इस प्रकार है—

ते सावेक्खा सुणया णिरवेक्खा ते वि दुणया होति ।

सयल-ववहार-सिद्धी सुणयादो होदि णियमेण ॥२६६॥

अर्थ—ये नय सापेक्ष हों तो सुनय होते हैं और निरपेक्ष हों तो दुर्नय होते हैं, सुनय से ही समस्त व्यवहारों की सिद्धि होती है ।

अध्यात्मभाषा में मूल नय दो हैं । (१) निश्चयनय और व्यवहारनय । निश्चयनय का अभेद विषय है और व्यवहारनय का भेद विषय है । निश्चयनय के दो भेद हैं—शुद्धनिश्चयनय, अशुद्धनिश्चयनय । व्यवहारनय भी दो प्रकार की है—सद्भूतव्यवहारनय और असद्भूतव्यवहारनय । एक ही वस्तु जिसका विषय हो वह सद्भूतव्यवहारनय । भिन्न वस्तु जिसका विषय हो वह असद्भूतव्यवहारनय है । उपचरित और अनुपचरित के भेद से इन दोनों व्यवहारनयों के भी दो-दो भेद हैं । (श्रीमद् देवसेन आचार्य विरचित आलापपद्धति)

समयसार में निश्चयनय के और व्यवहारनय के विषय में निम्न प्रकार कथन है—

१. निश्चयनय से द्रव्य में पर्यायकृत व गुणकृत भेद नहीं है । गाथा ६ व ७

व्यवहारनय से पर्यायकृत व गुणकृत भेद हैं । गाथा ६ व ७

२. निश्चयनय द्रव्याश्रित है और व्यवहारनय पर्यायाश्रित है । गाथा ५६ की टीका

३. निश्चयनय स्वाश्रित है और व्यवहारनय पराश्रित है ।

श्री गो. जीव. गाथा ५७२ में श्री 'बवहारो य विषयो भेदो तह पञ्जओ त एयट्ठो' इन शब्दों द्वारा यह कहा है कि व्यवहार, विकल्प, भेद तथा पर्याय इन शब्दों का एक ही अर्थ है ।

यद्यपि वस्तु भेदाभेदात्मक है तथापि निश्चयनय अभेद को विषय करता है और व्यवहारनय का विषय 'भेद' है ।

यद्यपि वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है तथापि सामान्य (द्रव्य) निश्चयनय का विषय और विशेष (पर्याय) व्यवहारनय का विषय है ।

यद्यपि वस्तु स्वाश्रितपराश्रितधर्ममयी है । तथापि निश्चयनय स्वाश्रित है । और व्यवहारनय पराश्रित है । जैसे 'केवलज्ञानी आत्मा को जानते हैं' यह कथन स्वाश्रित होने से निश्चयनय का विषय है । केवलज्ञानी सर्व को जानते हैं यह पराश्रित होने से व्यवहारनय का विषय है ।

सभी नय अपने-अपने विषय के कथन करने में समीचीन हैं और दूसरे नयों का निराकरण करने में मूढ़ हैं । अनेकान्तरूप समय के ज्ञाता पुद्गल 'यह नय सच्चा है और यह नय भ्रूठा है' इस प्रकार का विभाग नहीं करते हैं । गाथा इस प्रकार है—

निययवयमिञ्जसच्चा सव्वणया परवियाल्लो मोहा ।

ते उण ण विट्ठसमओ विभयइ सच्चे व अलिए वा ॥ जयधवल पु. १ पृ. २५९

सभी नय अपने-अपने विषय का कथन करने में समीचीन (सच्ची) हैं, किसी भी नय का विषय उस नय की दृष्टि से भ्रूठा नहीं है ।

इसीलिए श्री बीरसेन स्वामी कहते हैं कि व्यवहारनय को असत्य कहना ठीक नहीं है ।

'ण च बवहारणओ चप्पलओ, तत्तो बवहाराणुसारि सिस्साण पउत्तिहंसणावो । जो बहुजीवाणुगहकारी-बवहारणओ सो चेव समस्सिदवथो ति मणोणावहारिय गोदमथेरेण संगलं तत्थ कयं ।' जयधवल पु. १ पृ. ८

अर्थ—यदि कहा जाय—व्यवहारनय असत्य है सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें व्यवहार का अनुसरण करनेवाले शिष्यों की प्रवृत्ति देखी जाती है। अतः जो व्यवहारनय बहुत जीवों का अनुग्रह करने वाला है उसीका प्राश्रय करना चाहिये। ऐसा मन में निश्चय करके गीतम स्थविर ने चौबीस अनुयोग द्वारों के आदि में मंगल किया है।

इस प्रकार नय, निश्चयनय, व्यवहारनय का स्वरूप समझ लेने से निश्चय-सम्यग्दर्शन और व्यवहार-सम्यग्दर्शन का स्वरूप सरल हो जाता है।

सम्महंसणणार्णं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे ।

ववहारा णिच्छयवो तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥३९॥ वृहद् ब्रह्मसंग्रह

अर्थ—व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य इन तीनों के समुदाय को मोक्ष का कारण जानो और निश्चयनय से इन तीनों मयी निज आत्मा को मोक्ष का कारण जानो।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य मोक्षमार्ग हैं यह सत्य है, किन्तु भेद-विवक्षा होने से इसको व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है और विवक्षा से इन तीनमयी आत्मा को मोक्षमार्ग कहा गया है।

इसी बात को श्री कुंबकुंद भगवान ने पंचास्तिकाय गाथा १६१ के इन वाक्यों द्वारा कहा है—

“णिश्चयणयेण भणियो तिहि तेहि समाहिदोहो जो अप्पा ।”

अर्थात्—निश्चयनय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य इन तीन से युक्त यह आत्मा मोक्षमार्ग कहा गया है।

इसी दृष्टि से श्री नेमिचन्द्राचार्य ने वृहद्ब्रह्मसंग्रह गाथा ४१ में निम्न वाक्यों द्वारा व्यवहार और निश्चय सम्यग्दर्शन को कहा है—

“जीवाशीसद्दहणं सम्मत्तं रूपमप्पणो तं तु ।”

अर्थात्—जीवादि पदार्थों का श्रद्धान व्यवहारसम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन अभेदनय से आत्मा का स्वरूप है, इसलिये सम्यग्दर्शन स्वरूपमयी आत्मा निश्चयसम्यग्दर्शन है।

श्री कुंबकुंद भगवान स्वाश्रित और पराश्रित की अपेक्षा से निश्चय और व्यवहारसम्यग्दर्शन का स्वरूप कहते हैं—

अह सेडिया कु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ ।

तह वंसणं कु ण परस्स वंसणं वंसणं तं तु ॥३५९॥

एवं तु णिच्छयणयस्स मासियं णाणदंसणचरित्ते ।

सुणु ववहारणयस्स य वत्तव्वं से समासेण ॥३६०॥

अह परवव्वं सेडिदि ह्णु सेडिया अप्पणो सहव्वेण ।

तह परवव्वं सद्दहइ सम्मदिट्ठि सहव्वेण ॥३६४॥

एवं ववहारस्स कु विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते ।

भणियो अण्णोसु वि पज्जएसु एवमेव णायव्वो ॥३६५॥ [समयसार]

अर्थात्—जैसे सेटिका (खड़िया) पर की नहीं है, सेटिका तो सेटिका ही है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन पर का नहीं है, दर्शन तो दर्शन है। इस प्रकार ज्ञान दर्शन चारित्र्य में निश्चयनय का कथन है और उस सम्बन्ध में

संक्षेप से व्यवहारनय का कथन सुनो। जैसे सेटिका प्रपने स्वभाव से परद्रव्य को सफेद करती है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि अपने स्वभाव से परद्रव्य का श्रद्धान करता है। इस प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य में व्यवहारनय का निर्णय कहा है। अन्य पर्यायों में इसी प्रकार जानना चाहिए।

इन गायत्रियों की टीका में यह कहा है कि निश्चयनय की दृष्टि में स्वस्वामिरूप ग्रंथ (आत्मा का श्रद्धान) भी व्यवहार है।

व्यवहारसम्यग्दर्शन निश्चयसम्यग्दर्शन का कारण है; मात्र इसलिये उसको (व्यवहारसम्यग्दर्शन को) सम्यग्दर्शन की संज्ञा नहीं दी गई है। सम्यग्दर्शन का जो लक्षण 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्', व्यवहारसम्यग्दर्शन में पाया जाता है तथा सम्यग्दर्शन के बाधककारण मिथ्यात्वकर्मोदय का भी अभाव है। इसलिये व्यवहारसम्यग्दर्शन भी वास्तविक सम्यग्दर्शन है। समयसार गाथा ३७३ की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने कहा भी है—

“मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृतियों तथैव चारित्र्यमोहनीयस्योपशमक्षयोपशमक्षये सति षड्द्रव्यपंचास्तिकायसप्ततत्त्व-
नवपदार्थावि श्रद्धानज्ञानरागद्वेषपरिहाररूपेण भेवरत्नत्रयात्मकव्यवहार मोक्षमार्गसंज्ञेन व्यवहारकारणसमयसारेण
साध्येन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक् श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपभेवरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपेणान्त-
केवलज्ञानादिचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारयोत्पादकेन निश्चयकारणसमयसारेण विना खल्वज्ञानिजीवो ह्यति-
तुष्यति च ।”

इसका सारांश यह है कि 'मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों के तथा चारित्र्यमोहनीय के उपशम क्षयोपशम व क्षय होने से छह द्रव्य, पंचास्तिकाय, सात तत्त्व, नवपदार्थ आदि का श्रद्धान ज्ञान व रोगद्वेष का त्याग, यह भेद-
रूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य व्यवहारमोक्षमार्ग है। इसके द्वारा साधन योग्य विशुद्धज्ञान-दर्शन स्वभाव-
रूप शुद्ध आत्मिक तत्त्वरूप सम्यक्ज्ञान-चारित्र्य अभेद रत्नत्रयात्मक निर्विकल्पसमाधिमय निश्चयमोक्षमार्ग है।'

सातप्रकृतियों के क्षय से उत्पन्न हुआ क्षायिकसम्यग्दर्शन यदि सविकल्पावस्था में है, तो वह भी व्यवहार-
सम्यग्दर्शन है। निर्विकल्पसमाधि में स्थित अर्थात् श्रेणी में स्थित जीव के उपशमसम्यग्दर्शन भी निश्चयसम्यग्दर्शन
है। सातप्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय से व्यवहार व निश्चय दोनों सम्यग्दर्शन उत्पन्न होते हैं, अतः
करणानुयोग की दृष्टि से दोनों ही सम्यग्दर्शन वास्तविक हैं।

श्री अमृतचन्द्राचार्य भी पंचास्तिकाय गाथा १०७ की टीका में कहते हैं कि व्यवहारसम्यग्दर्शन में मिथ्यात्व-
कर्म का अनुदय रहता है।

“भावाः खलु कालकलितपंचास्तिकायविकल्परूपा नव पदार्थाः तेषां मिथ्यादर्शनोदया पाविताश्रद्धानामाव-
स्वभावं भावांतरं श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं शुद्ध-चैतन्यरूपात्मतत्त्वविनिश्चयबीजम् ।”

अर्थ—कालसहित पंचास्तिकाय और विकल्प रूप नव पदार्थ इनको भाव कहते हैं। मिथ्यादर्शन के उदय
से उत्पन्न हुआ जो अश्रद्धान, उसका अभाव होने पर पंचास्तिकाय और नव पदार्थ का श्रद्धान वह व्यवहार सम्यग्दर्शन
है और यह शुद्ध आत्मतत्त्व के निश्चय का बीज है।

श्री समन्तभद्र आचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार गाथा ४ में 'सच्चे देव शास्त्र और गुरु के श्रद्धान को
सम्यग्दर्शन' कहा है।

श्री वसुनन्दि आचार्य सिद्धान्तचक्रवर्ती ने गाथा ६ में आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है ।

श्री स्वामि कार्तिकेय आचार्य ने गाथा ३११-१२ में अनेकान्तरूप तत्त्वों को तथा जीव, अजीव आदि नव पदार्थों को श्रुतज्ञान व नयों के द्वारा जानकर श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है । तथा गाथा ३२४ में कहा है कि 'जो तत्त्वों को नहीं जानता है, किन्तु जिन-वचन पर श्रद्धा रखता है वह भी सम्यग्दृष्टि है ।'

'प्रज्ञम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य की प्रगटता ही जिसका लक्षण है उसको सम्यक्त्व कहते हैं । यह शुद्ध नय की अपेक्षा लक्षण है । धवल पु० १ पृ० १५१ ।

आप्त आगम और पदार्थ को तत्त्वार्थ कहते हैं । तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं । यह अशुद्धनय के आश्रय से लक्षण है । धवल पु० १ पृ० १५१ ।

गोमटसार जीवकाण्ड गाथा ५६१ में कहा है—'जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उपदेश दिये गये छह द्रव्य पाँच अस्तिकाय और नव पदार्थों का आज्ञा अथवा अधिगम से श्रद्धान करने को सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने सम्यग्दर्शन के निम्न लक्षण कहे हैं—

"आप्त आगम और तत्त्व की श्रद्धा से सम्यग्दर्शन होता है ।" नि० सा० गाथा ५ । "तत्त्वचर्चै सम्मत्त" अर्थात् तत्त्वचर्च सम्यग्दर्शन है । सो० पा० गाथा ३८ । "हिसारहितधर्म, अठारहदोषरहित देव निर्धन्वगुरु का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है ।" सो० पा० ९० । "कालसहित पंचास्तिकाय और नवपदार्थ का श्रद्धान सम्यक्त्व है ।" पं० का० गा० १०९ । "वर्मादि छह द्रव्यों का श्रद्धान सम्यक्त्व है ।" पं० का० गाथा १६० । "जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष को भूतार्थरूप से जानना सम्यग्दर्शन है ।" समयसार गाथा १३ । "छहद्रव्य नव-पदार्थ पाँचअस्तिकाय साततत्त्व ये जिन-वचन में कहे हैं । तिनके स्वरूप को जो श्रद्धान करे सो सम्यग्दृष्टि है ।" दर्शनपाहुड़ गाथा १९ । "जीवादि का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने व्यवहार से कहा है निश्चय से आत्मा ही सम्यक्त्व है निश्चयसे अप्पाणं हर्बई सम्पत्त ।" दर्शनपाहुड़ गाथा २० ।

जीव और आत्मा एक ही द्रव्य के नाम हैं । अतः जीवादि के श्रद्धान में आत्मा का श्रद्धान भी गभित है । 'आत्मा का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है ।' यह भी भेदविवक्षा से कथन है, अतः व्यवहारनय का विषय है । 'आत्मा ही सम्यक्त्व है,' यह अभेद विवक्षा से कथन है । इसमें गुण-गुणी का भेद नहीं है, अतः निश्चयनय का विषय है ।

जिसको सच्चे-देव, गुरु, शास्त्र अथवा धर्म का यथार्थश्रद्धान है उसको आत्मा का श्रद्धान होता है । ऐसा श्री कुन्दकुन्दभगवान ने प्रवचनसार में कहा है—

जो जाणवि अरहंत, दव्वल्लगुणत्तपज्जयत्तेहि ।

सो जाणवि अप्पाणं मोहो खलु जावि तस्स लयं ॥८०॥

अर्थ—जो अरहंत को द्रव्य, गुण, पर्यायरूप से जानता है वह आत्मा को जानता है और उसका मोह (मिथ्यात्व) अवश्य नाश को प्राप्त होता है ।

निश्चयसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्दर्शन का कथन अनेक दृष्टियों से किया गया है । गुण-गुणी को अभेददृष्टि से सम्यक्त्व का कथन (सम्यक्त्व ही आत्मा है या आत्मा ही सम्यक्त्व है) निश्चयसम्यग्दर्शन, और जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान या आत्मा का श्रद्धान व्यवहारसम्यग्दर्शन है, क्योंकि यह भेददृष्टि से कथन है । निश्चय और व्यवहारसम्यग्दर्शन का इसप्रकार लक्षण करने में दोनों सम्यग्दर्शन साथ रह सकते हैं ।

जहाँ पर सरागसम्यग्दर्शन को अथवा सविकल्पसम्यग्दर्शन को व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा है और वीतराग-सम्यग्दर्शन को अथवा निर्विकल्पसम्यग्दर्शन को निश्चयसम्यग्दर्शन कहा है वहाँ पर निश्चय और व्यवहार दोनों सम्यग्दर्शन साथ नहीं रह सकते ।

“द्विधा सम्यक्त्वं भण्यते सरागवीतराग-भेदेन । प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सरागसम्यक्त्वं भण्यते, तदेव व्यवहारसम्यक्त्वमिति तस्य विषयभूतानि वद्द्रव्याणीति । वीतरागसम्यक्त्वं निजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं वीतरागचारित्र्याविनाभूतं तदेव निश्चयसम्यक्त्वमिति ।” [परमात्म-प्रकाश अ० २ गा० १७ टीका]

अर्थ—सराग और वीतराग के भेद से सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है । प्रशम, संवेग, अनुकम्पा आस्तिक्य की प्रगटता जिसका लक्षण है वह सरागसम्यग्दर्शन है, वही व्यवहारसम्यग्दर्शन है । उसका विषय छद्द्रव्य हैं । निज-शुद्धात्मानुभूति जिसका लक्षण है वह वीतरागसम्यग्दर्शन है और वह वीतरागचारित्र्य के साथ ही रहता है उसको निश्चयसम्यग्दर्शन कहा है ।

श्री राजवातिक अध्याय १ सूत्र २ की टीका में भी कहा है—

‘तद द्विविधं सरागवीतरागविकल्पात् ॥ २९ ॥ प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं प्रथमम् ॥३०॥ आत्मविशुद्धिमात्रमितरत् ॥३१॥ सप्तानां कर्म प्रकृतीनाम् आत्यन्तिकेऽपगमे सत्यात्मविशुद्धिमात्रमितरत् वीतराग-सम्यक्त्वमित्युच्यते । अत्र पूर्वं भवति साधनं, उत्तरं साधनं साध्यं च ।’

अर्थ—वह सम्यग्दर्शन सराग वीतराग के भेद से दो प्रकार का है । प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य की प्रगटता है लक्षण जिसका वह सरागसम्यग्दर्शन है । आत्मविशुद्धिमात्र वीतरागसम्यग्दर्शन है । सातप्रकृतियों के अत्यन्त नाश होने पर जो आत्म-विशुद्धि होती है वह आत्मविशुद्धिमात्र वीतरागसम्यक्त्व कहा गया है । सराग-सम्यक्त्व साधनरूप है । वीतरागसम्यग्दर्शन साधन और साध्यरूप है ।

समयसार गाथा १३ की टीका में भी श्री जयसेनाचार्य ने कहा है—

“आतंरोद्रपरित्यागलक्षणनिर्विकल्पसामायिकस्थितानां यच्छुद्धात्मरूपस्य वर्धनमनुभवनमवलोकनमुपलब्धिः संवित्तिः प्रतीतिः ह्यातिरनुभूतिस्तदेव निश्चयनयेन निश्चयचारित्र्याविनाभावि निश्चयसम्यक्त्वं वीतरागसम्यक्त्वं भण्यते । तदेव च गुणगुण्यभेवरूपनिश्चयनयेन शुद्धात्मरूपं भवति । निश्चयनयेन तु स्वकीयशुद्धपरिणाम एव सम्यक्त्वमिति ।”

अर्थ—आतंरोद्र परिणामों के त्यागरूप लक्षण है जिसका, ऐसी निर्विकल्पसामायिक में स्थित जीव के जो शुद्धात्मरूप का दर्शन, अनुभवन, अवलोकन, उपलब्धि, संवित्ति, प्रतीति, ह्याति, अनुभूति होती है वही निश्चयनय से निश्चयचारित्र्य का अविनाभावी निश्चयसम्यक्त्व-वीतरागसम्यक्त्व कहा गया है । वही गुणगुणी के अभेदरूप निश्चयनय से शुद्धात्मरूप है । निश्चयनय से अपने शुद्ध परिणाम ही सम्यक्त्व है ।

श्री बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा २२ की टीका में भी कहा है—

“यत्पुनस्तदविनाभूतं तन्निश्चयसम्यक्त्वं वीतरागसम्यक्त्वं चेति भण्यते ।”

अर्थ—उस वीतरागचारित्र्य का अविनाभूत वीतरागसम्यक्त्व ही निश्चयसम्यक्त्व कहा गया है ।

रायचन्द-ग्रंथमाला से प्रकाशित पंचास्तिकाय पृ० १६९ पर कहा है कि निर्विकल्पसमाधि काल में निश्चयसम्यक्त्व तो कभी होता है, अधिकतर तो व्यवहारसम्यक्त्व रहता है ।

“यद्यपि क्वापि निर्विकल्प समाधिकाले निर्विकारशुद्धात्म रुचिरूपं निश्चय सम्यक्त्वं स्पृशति तथापि प्रचुरेण बहिरंगपदार्थरुचिरूपं प्रवृत्त्यवहार सम्यक्त्वं तस्यैव मुख्यता ।”

भेद व अभेद की अपेक्षा से व्यवहार—निश्चयसम्यक्त्व का यदि कथन किया जाता तो दोनों सम्यक्त्व एक साथ रह सकते हैं, क्योंकि एक ही सम्यक्त्व का दो दृष्टियों से कथन है ।

निर्विकल्प—वीतराग और सविकल्प—सराग की अपेक्षा से निश्चय तथा व्यवहारसम्यक्त्व का कथन किया जाय तो दोनों सम्यक्त्व साथ नहीं रहते । इस प्रकार इस विषय में अनेकान्त है, एकान्त नहीं है ।

—जै. ग. | 19-11-64 | VIII-IX | ट. ला. जैन, मेरठ
| 10-17-12-64 | IX-X |

- (१) उपचार सम्यग्दर्शन एवं व्यवहार सम्यग्दर्शन में भेद
- (२) उपचार अथवा व्यवहार मिथ्या नहीं होता
- (३) उपचरित नय का कथन भी अमिथ्या है

हांका—उपचार सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शन में क्या अन्तर है ?

समाधान—‘उपचार सम्यग्दर्शन’ आगम में सम्यग्दर्शन की ऐसी संज्ञा मेरे देखने में नहीं आई है । श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पुरुषार्थसिद्धि उपाय में मुख्य और उपचार ऐसे दो प्रकार का मोक्षमार्ग बतलाया गया है ।

सम्यक्त्वचरित्रबोधलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः ।

मुख्योपचाररूपः प्रापयति परंपदं पुरुषम् ॥ २२२ ॥

सम्यग्दर्शन—चारित्र—ज्ञान लक्षणवाला तथा मुख्य (निश्चय) और उपचार (व्यवहार) रूप ऐसा मोक्षमार्ग आत्मा को परमात्मपद प्राप्त करा देता है ।

यहाँ पर ‘मुख्य’ शब्द निश्चय के लिये प्रयोग हुआ है और ‘उपचार’ शब्द व्यवहार के लिये प्रयोग हुआ है, क्योंकि श्री अमृतचन्द्राचार्य ने तत्त्वार्थसार में “निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः ।” निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा मोक्षमार्ग दो प्रकार का है, ऐसा कहा है ।

निश्चयनय की दृष्टि में न तो बंध है और न मोक्ष है, क्योंकि बंधपूर्वक मोक्ष होता है । जब निश्चयनय में बंध व मोक्ष नहीं तो मोक्षमार्ग भी नहीं है ।

एव हि होवि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओढु जो भावो ।

एवं भणंति सुद्धा णावा जो सो उ सो चेव ॥६॥

जीवे कम्मं बद्धं पुट्टं चेदि व्यवहारणय भणिवं ।

सुद्धणयस्स कु जीवे अबद्ध—पुट्टं हवइ कम्मं ॥१४१॥ समयसार

जो ज्ञायक भाव आत्मा है वह अप्रमत्त (सातवें से चौदहवाँ गुणस्थान) भी नहीं है और प्रमत्त (पहले से छठवाँ गुणस्थान) भी नहीं है (अर्थात् गुणस्थानातीत होने से संसारी भी नहीं है) और जो ज्ञाता (आत्मा) है वह तो वही है ऐसा निश्चयनय कहता है । जीव में कर्म बद्ध और स्पृष्ट है यह व्यवहारणय का विषय है । जीव में कर्म बंधे हुए नहीं हैं और अस्पृष्ट हैं यह निश्चयनय का पक्ष है ।

मुक्तश्चेत् प्राक्प्रवेद् बन्धो, नो बंधो मोक्षनं कथम् ।
अबन्धे मोक्षनं बंध मुञ्चेरथो निरर्थकः ॥ [वृ० ३० सं०]

“बन्धश्च शुद्धनिश्चयेन नास्ति तथा बंधपूर्वको मोक्षोऽपि । यदि पुनः शुद्धनिश्चयेन बंधो भवति तदा संबन्धैव बंध एव, मोक्षो नास्ति ।” [वृ० ३० सं०]

अर्थ—यदि जीव मुक्त है तो पहले इस जीव के बंध अवश्य होना चाहिये, क्योंकि यदि बंध न हो तो मोक्ष (छूटना) कैसे हो सकता है । इसलिये अबंध (न बंधे हुए) की मुक्ति नहीं हुआ करती, उसके तो मुञ्च घातु (छूटने का वाचक शब्द) का प्रयोग ही व्यर्थ है । कोई मनुष्य पहले बंधा हुआ हो, फिर छूटे, तब वह मुक्त कहलाता है । ऐसे ही जो जीव पहले कर्मों से बंधा हो उसी को मोक्ष होती है । शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से बंध है ही नहीं । इसीप्रकार शुद्ध निश्चयनय से बंधपूर्वक मोक्ष भी नहीं है । यदि शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा बंध होवे तो सदा ही बंध होता रहे, मोक्ष ही न हो ।

इस आगम से यह सिद्ध हो जाता है कि निश्चयनय से न बंध है, न मोक्ष है और न मोक्षमार्ग है । बंध, मोक्ष, मोक्षमार्ग ये पर्याय हैं, जो व्यवहारनय की विषय हैं । निश्चयनय का विषय द्रव्य सामान्य है, पर्याय नहीं है ।

निश्चयव्यवहारणया मूलभेदा गणया स्वभावां ।
निश्चयसाहणहेतु द्रव्यपञ्जस्थिया मुणह ॥ ४ ॥ [आलापपद्धति]

सम्पूर्ण नयों के निश्चयनय और व्यवहारनय ये दो मूल भेद हैं । निश्चयनय का हेतु द्रव्याधिकनय है, और साधन अर्थात् व्यवहारनय का हेतु पर्यायाधिकनय है ।

“समयसार गाथा ५६ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—‘व्यवहारनयः किल पर्यायाधिरत्वात्’ ‘निश्चयनयस्तु द्रव्याधिरत्वात्’ अर्थात् व्यवहारनय पर्याय के आश्रय है और निश्चयनय द्रव्य के आश्रय है ।

“बवहारो य विपरपो भेदो तह पञ्जओ त्ति एयट्ठो ॥५७२॥ [गो० जी०]

“व्यवहारेण विकल्पेन भेदेन पर्यायेण ।” [समयसार गा० १२ की टीका]

अर्थात्—व्यवहार, विकल्प, भेद और पर्याय ये सब एकार्थवाची शब्द हैं । बंध, मोक्ष और मोक्षमार्ग पर्याय होने से व्यवहारनय का ही विषय है, निश्चयनय का विषय नहीं है ।

सद्भूतव्यवहारनय, असद्भूतव्यवहारनय, उपचारनय इन तीन नयों की अपेक्षासे मोक्षमार्ग की मीमांसा की जाती है । “तत्रैकवस्तुविषयः सद्भूतव्यवहारः ॥२२१॥ भिन्न वस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहारः ॥२२२॥ [भा. प.]”

एक वस्तु को विषय करने वाला सद्भूतव्यवहारनय है । भिन्न वस्तुओं को विषय करनेवाला असद्भूतव्यवहारनय है ।

“मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते घोपचारः प्रवर्तते ॥२१२॥ सोऽपि सम्बन्धोऽविनाभावः संश्लेषः सम्बन्धः परिणाम-परिणामिसम्बन्धः, अद्वाअद्भेद सम्बन्धः, ज्ञानसंयसम्बन्धः, चारित्र्यार्थसम्बन्धश्चेत्यादि ।” [आलापपद्धति]

मुख्य के अभाव में प्रयोजनवश या निमित्तवश उपचार की प्रवृत्ति होती है। अविनाभाव सम्बन्ध में, संश्लेषसम्बन्ध में, परिणाम-परिणामीसम्बन्ध में, श्रद्धा-श्रद्धेयसम्बन्ध में, ज्ञानज्ञेयसम्बन्ध में, चारित्र-चर्या इत्यादि सम्बन्धों में, प्रयोजन या निमित्त के वश उपचार होता है।

प्रमेय रत्नमाला पृ० १७६ पर भी कहा है—

“मुख्य का अभाव होने पर तथा प्रयोजन और निमित्त के होने पर उपचार की प्रवृत्ति होती है, ऐसा नियम है। यहाँ पर वचन का परार्थानुमानने में कारणपता ही उपचार का निमित्त है। अतः प्रतिपाद्य जो शिष्य उसके लिये जो अनुमान सो परार्थानुमान है, उसका प्रतिपाद्यक वचन भी परार्थानुमान है। यहाँ अनुमान के कारण वचन में ज्ञानरूप कार्य का उपचार किया गया है।”

इसीप्रकार तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय छह, सूत्र २ में जो योग को आलव कहा है, वहाँ पर भी कारण में कार्य का उपचार करके कथन किया गया है।

यह उपचार असत्यार्थ (भूठ) भी नहीं है, क्योंकि कार्य और कारण का परस्पर में सम्बन्ध है।

व्यवहार व उपचरितनय की अपेक्षा सम्यग्दर्शन आदि का विचार किया जाता है।

एवं हि जीवराया णावब्बो तह य सद्देवब्बो ।

अथुचरिवब्बो य पुणो सो चैव वु मोक्खकामेण ॥२१॥ [समयसार]

मोक्षार्थी पुरुष को निज शुद्धजीवरूपी राजा को जानना चाहिये, श्रद्धान करना चाहिये और निजशुद्ध आत्मस्वभाव के अनुकूल आचरण करना चाहिये।

मोक्षमार्ग का यह कथन निज जीवद्रव्याश्रित होने से सद्भूतव्यवहारनय का विषय है तथापि असद्भूत-व्यवहारनय की अपेक्षा से इसको निश्चय मोक्षमार्ग या निश्चय रत्नत्रय कहा गया है।

असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा ‘निजशुद्धात्मा के श्रद्धान’ को यद्यपि निश्चयसम्पत्त्व कहा जाता है तथापि सम्यग्दर्शन का यह लक्षण सद्भूतव्यवहारनय का विषय है, क्योंकि यहाँ पर एक ही द्रव्य में, श्रद्धान करनेवाला, श्रद्धान और जिसका श्रद्धान किया जाये अर्थात् कर्ता, क्रिया, कर्म, ऐसे तीन भेद कर दिये गये हैं। “निश्चयनयो-ऽभेदविषयो, व्यवहारो भेदविषयः।” इस सूत्र के द्वारा ‘भेद’ व्यवहारनय का विषय बतलाया गया है। निश्चयनय का विषय तो अभेद है। अतः निजशुद्धात्मा का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। यह कथन निश्चयनय का विषय नहीं हो सकता है।

नियमसार में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने व्यवहारसम्यग्दर्शन का स्वरूप निम्नप्रकार कहा है—

असागमतच्छाणं सद्देहणादो ह्येह सम्भत्तं ।

ववगयअसेस—दोसो सयलपुणग्घा हवे अत्तो ॥५॥

“व्यवहारसम्पत्त्वस्वरूपाह्यानमेतत् ।”

आप्त, आगम और तत्त्वों की श्रद्धा से सम्पत्त्व होता है। यह व्यवहार सम्पत्त्व के स्वरूप का कथन है।

सम्भत्तं सद्देहणं भावाणं तेसि मधिगमो णाणं ।

चारित्तं समभावो विसयेसु विरुद्धमग्गाणं ॥१०७॥

जीवाजीवा भावा पुष्णं पाचं च आसवं तेति ।

संवरणिञ्जरबंधो मोक्षो य ह्वंति ते अट्टा ॥१०८॥ [पंचास्तिकाय]

टीका—“पंचास्तिकायषड्भ्रव्यविकल्परूपं जीवाजीवद्वयं जीवपुद्गलसंयोगपरिणामोत्पन्नास्त्रवाविषयार्थसप्तकं चेत्युक्तलक्षणानामावानां जीवादिनव-पदार्थानां मिथ्यात्वोदयजनित-विपरीताभिनिवेशरहितं श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं भवति । इदं तु नवपदार्थविषयभूतं व्यवहारसम्यक्त्वम् । शुद्धजीवास्तिकायरुचिरूपस्य निश्चयसम्यक्त्वस्य साधकत्वेन बीज-भूतम् ।”

जीव, अजीव और इनके संयोग से उत्पन्न होनेवाले पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष इन पदार्थों का तथा पंचास्तिकाय व छहद्रव्यों का, जो मिथ्यात्वोदयजनित विपरीताभिनिवेशरहित श्रद्धान है वह व्यवहारसम्यग्दर्शन है । यह व्यवहारसम्यग्दर्शन, शुद्धजीवास्तिकाय की रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्व का साधक है, इसलिये व्यवहारसम्यग्दर्शन निश्चय-सम्यग्दर्शन का बीज है ।

यहाँ पर नवपदार्थ के श्रद्धान को जो व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा गया है वह असद्भूतव्यवहारनय का विषय है, क्योंकि दो भिन्न पदार्थों में श्रद्धान व श्रद्धेय संबंध को व्यवहारसम्यक्त्व कहा गया है ।

निज शुद्धात्मा की रुचि को जो निश्चय कहा गया है यह सद्भूतव्यवहारनय का विषय है, क्योंकि यहाँ पर एक ही पदार्थ में श्रद्धान व श्रद्धेय का भेद किया गया है ।

आचारावी णाणं जीवावी दंसणं च विष्णोयं ।

छहजीवणिकं च तथा भणह चरित्तं तु ववहारो ॥२७६॥ [समयसार]

आचारांगआदि शास्त्र तो ज्ञान हैं तथा जीवादितत्त्व हैं वे सम्यग्दर्शन हैं । छहकायके जीव चारित्र हैं ऐसा व्यवहारनय कहता है ।

यह उपचरितनय का कथन है, क्योंकि यहाँ पर कारण में कार्य का उपचार किया गया है । ज्ञानरूप कार्य के आचारांग आदि शास्त्र कारण हैं । अतः आचारांग आदि शास्त्रों में ज्ञानरूप कार्य का उपचार करके आचारांग आदि शास्त्रों को ज्ञान कहा गया है । जीवादितत्त्व श्रद्धेय हैं और इनका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है । सम्यग्दर्शन और जीवादि पदार्थों में श्रद्धान-श्रद्धेय सम्बन्ध है, अतः जीवादि श्रद्धेयपदार्थों में सम्यग्दर्शनरूप श्रद्धान का उपचार करके जीवादि श्रद्धेयपदार्थों को सम्यग्दर्शन कहा गया है ।

छहकाय के जीवों की रक्षा चारित्र है । अर्थात् छहकाय के जीव चारित्र के विषय पड़ते हैं । छहकाय के जीवों में और चारित्र में परस्पर विषय-विषयी सम्बन्ध है । छहकाय के जीवरूप विषय में चारित्ररूप विषयी का उपचार करके छहकाय के जीवों को चारित्र कहा गया है ।

यह उपचार भूठ भी नहीं है, क्योंकि उपचार को भूठ मानने पर, “णाणं रोयप्पमाणमुद्दिट्ठु” ; ज्ञान ज्ञेय-प्रमाण है ऐसा जो जिनेन्द्र भगवान ने कहा है, यह कथन अर्थात् सर्वज्ञता का कथन भी उपचरितनय का विषय होने से भूठ हो जायगा । दो पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध निश्चयनय का विषय नहीं है । अतः निश्चयनय-व्यवहारनय के विषय का निषेध करता है ।

इसप्रकार निजशुद्धात्मा का श्रद्धान निश्चयसम्यग्दर्शन है, यह सद्भूतव्यवहारनय का विषय है । जीवादि-पदार्थों का श्रद्धान व्यवहारसम्यग्दर्शन है, यह असद्भूतव्यवहारनय का विषय है । जीवादिपदार्थ सम्यग्दर्शन है । यह उपचरितनय का विषय है ये तीनों कथन अपनी-अपनी नय की अपेक्षा सत्य हैं ।

—जं. ग. 22-2-73/VII/ ग. म. सोनी, फुलेरा

सम्यग्दर्शन के सराग, वीतराग भेद आगमोक्त है ।

शंका—सम्यक्त्व सराग व वीतराग किसी आचार्य ने बतलाया है या नहीं ? सम्यक्त्व को सराग बतलाने वाला क्या मिथ्यादृष्टि है ?

समाधान—दिग्म्बर जैन महानाचार्य श्री अकलंकदेव कहते हैं—

“सम्यग्दर्शनं द्विविधम् । कुतः ? सराग-वीतराग-विकल्पान् ।”

अर्थात् सरागसम्यग्दर्शन और वीतरागसम्यग्दर्शन के भेद से सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है ।

सराग और वीतराग के भेद से सम्यग्दर्शन को दो प्रकार का बतलाने वाला मिथ्यादृष्टि नहीं हो सकता है, क्योंकि वीतरागी दिग्म्बर जैनाचार्य कभी मिथ्योपदेश नहीं देते हैं ।

—जै. ग. 13-7-72/VII/ ताराचन्द महेन्द्रकुमार

सराग सम्यक्त्व

शंका—मई १९६५ के सन्मति संदेश पृ० ६३ पर श्री पं० फूलचन्दजी ने लिखा है ‘तथा इसके सङ्गभाव में प्रशम, संवेग अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि भावों को जो अभिव्यक्ति होती है वह सराग सम्यक्त्व है ।’ क्या प्रशम आदि भावों की अभिव्यक्ति सराग सम्यग्दर्शन है या सराग सम्यग्दर्शन का लक्षण है ? क्या प्रशम और आस्तिक्य भाव सराग भाव है ?

समाधान—प्रशम, संवेग, आस्तिक्य, अनुकम्पा की अभिव्यक्ति सरागसम्यग्दर्शन का लक्षण है और सराग-सम्यग्दर्शन लक्ष्य है । यदि लक्ष्य और लक्षण में सर्वथा अभेद मान लिया जाये तो ‘लक्ष्य और लक्षण’ ऐसी दो संज्ञा ही नहीं बन सकती । इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेक दोष आ जावेंगे । लक्ष्य और लक्षण में सर्वथा अभेद मानना ‘भेदाभेद विपर्यास’ है ।

‘प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं प्रथमम् ।’ सर्वार्थसिद्धि १।२ ।

अर्थात्—प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य की अभिव्यक्ति सरागसम्यग्दर्शन का लक्षण है ।

प्रशम और आस्तिक्य सरागभाव नहीं हैं । प्रशम का लक्षण निम्नप्रकार है—

“रागादि दोषैभ्यश्चेतो निर्बलतनं प्रशमः ।” तत्त्वार्चवृत्ति १।२ ।

अर्थ—प्राप्ता की रागादि दोषों से विरक्ति प्रशमभाव है ।

‘रागादि दोषों से विरक्ति’ सराग भाव कैसे हो सकता है अर्थात् प्रशम सरागभाव नहीं है । आस्तिक्य भी सरागभाव नहीं है, क्योंकि जीवादि पदार्थों का जैसा स्वभाव है वैसी बुद्धि होना आस्तिक्य है । जैसा कि तत्त्वार्च-वार्तिक में कहा है—

“जीवादयोऽर्था यथास्वं भावैः सन्तीति मतिरास्तिक्यम् ।”

श्रीमान् पं० फूलचन्दजी ने सन् १९५५ में सरागसम्यग्दर्शन और वीतरागसम्यग्दर्शन के विषय में निम्न प्रकार लिखा था—

“सरागी जीव के सम्यग्दर्शन को सरागसम्यग्दर्शन कहा है और वीतरागी जीव के सम्यग्दर्शन को वीतराग-सम्यग्दर्शन कहा है। उपशम आदि के भेद से सम्यग्दर्शन के तीन भेद बतलाये हैं। इनमें से वेदक सम्यग्दर्शन तो सराग अवस्था में ही पाया जाता है, किन्तु शेष दो सम्यग्दर्शन सराग और वीतराग दोनों अवस्थाओं में पाये जाते हैं। राजवातिक में एक क्षायिक सम्यग्दर्शन को ही वीतराग सम्यग्दर्शन बतलाया है। सो यह अपेक्षिक कथन है। चारित्र्य मोहनीय के क्षय से होनेवाली वीतरागता क्षायिकसम्यग्दर्शन के सद्भाव में ही होती है, अन्यत्र नहीं। यही सबब है कि राजवातिक में क्षायिकसम्यग्दर्शन को ही वीतरागसम्यग्दर्शन लिखा है। किन्तु कषायों की उपशमजन्य वीतरागता उपशमसम्यग्दर्शन के सद्भाव में भी प्रगट होती हुई देखी जाती है। इससे अन्यत्र इसे भी वीतराग-सम्यग्दर्शन बतलाया है। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये चार ऐसे चिह्न हैं जो सरागता के रहते हुए भी सम्यग्दर्शन के सद्भाव के ज्ञायक हैं, अतः यहाँ सरागसम्यग्दर्शन के लक्षण में इन धर्मों को प्रमुखता दी गई है। किन्तु वीतरागसम्यग्दर्शन में आत्मा की परिणति में निर्मलता पाई जाती है, वहाँ रागांश का सर्वथा अभाव हो जाता है। अतः वहाँ वीतरागसम्यग्दर्शन को आत्मा की विशुद्धिरूप से लक्षित किया गया है।”

प्रश्नकर्ता ने जो श्री पं० फूलचन्दजी के वाक्य मई १९६५ के सन्मति संदेश से उद्धृत किये हैं, वे श्री पं० फूलचन्दजी के उपर्युक्त लेख से भिन्न हैं। पाठकगण श्री पं० फूलचन्दजी के सन् १९५५ के और १९६५ के लेखों पर विचार करें कि एक विषय पर इन दोनों लेखों में विभिन्नता का क्या कारण है ?

—जं. ग./ 1-7-65/VII/.....

सराग स्वसंवेदन एवं वीतराग स्वसंवेदन

शंका—स्वानुभूति निविकल्प हो या सविकल्प हो, किन्तु सम्यक्त्व दोनों अवस्थाओं में एकसा रहता है। सविकल्पअवस्था में भी निविकल्पअवस्था के समान सम्यक्त्व रह सकता है या नहीं ?

समाधान—मिथ्यात्वप्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति सम्यक्त्वप्रकृति व अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ इन सात प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम या क्षय है तो सम्यग्दर्शन है, अन्यथा नहीं है। सविकल्प और निविकल्प इन दोनों अवस्थाओं में सम्यग्दर्शन हो सकता है, किन्तु वीतरागनिविकल्प समाधि की अवस्था में सम्यग्दर्शन में जो निर्मलता व विशुद्धि होती है वह सविकल्प-सरागअवस्था में नहीं रहती है। यद्यपि सामान्य की अपेक्षा दोनों अवस्थाओं को समान कहा जा सकता है, किन्तु निर्मलता व विशुद्धता की अपेक्षा तरतमता है।

सराग व सविकल्पअवस्था में व्यवहारसम्यग्दर्शन है और वीतरागनिविकल्पसमाधि की अवस्था में निश्चय-सम्यग्दर्शन है।

“विशदाखण्डैकज्ञानाकारे स्वशुद्धात्मनि परिच्छित्तिरूपं सविकल्पज्ञानं स्वशुद्धात्मोपादेयभूतसविकल्परूपं सम्यग्दर्शनं तर्धंवात्मनि रागादिविकल्पनिवृत्तिरूपं सविकल्पचारित्र्यमिति त्रयम् । तत् त्रयप्रसादेनोत्पन्नं यन्नविकल्प-समाधिरूपं निश्चयरत्नत्रयलक्षणं विशिष्टं स्वसंवेदनज्ञानं ।”

निर्मल अखंड एक ज्ञानाकाररूप अपने ही शुद्धात्मा में जानने रूप सविकल्प ज्ञान तथा शुद्धात्मा ही ग्रहण करने योग्य है ऐसी सचि सो विकल्परूप सम्यग्दर्शन और इसी आत्मा के स्वरूप में सविकल्पचारित्र्य इन तीनों के प्रसाद से विकल्परहित समाधिरूप निश्चयरत्नत्रयमय विशेष स्व-संवेदनज्ञान उत्पन्न होता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि सविकल्प अवस्था के स्वसंवेदनज्ञान तथा निविकल्पअवस्था के स्वसंवेदनज्ञान इन दोनों स्वसंवेदनज्ञानों में भी अन्तर है। जिसप्रकार जल की सतरंग अवस्था में अपना मुख स्पष्ट दिखलाई नहीं

देता उसीप्रकार सविकल्पअवस्था में अपना स्वरूप स्पष्ट दिखलाई नहीं देता है। जल की निस्तरंग अवस्था में अपना मुख स्पष्ट दिखलाई देता है उसी प्रकार निविकल्पअवस्था में अपना स्वरूप स्पष्ट दिखलाई देता है।

समयसार में श्री जयसेनाचार्य ने सरागस्वसंवेदनज्ञान तथा वीतरागस्वसंवेदनज्ञान की निम्न प्रकार व्याख्या की है—

“विषयसुखानुभवानंदरूपं स्वसंवेदनज्ञानं सर्वजनप्रसिद्धं सरागमप्यस्ति । शुद्धात्म सुखादि भूतिरूपं स्वसंवेदन ज्ञानं वीतरागमिति ।” समयसार गा. ९६ की टीका ।

अर्थ—विषयसुख-अनुभव के आनन्दरूप स्वसंवेदनज्ञान होता है वह सर्वजन प्रसिद्ध है। वह सराग स्वसंवेदन ज्ञान होता है, किन्तु जो शुद्ध-आत्मा के सुखानुभवरूप स्वसंवेदनज्ञान होता है वह वीतराग स्वसंवेदनज्ञान होता है।

—ज. ग. 18-3-71/VII/ टो. ला. मितल

वीतरागसम्यक्त्व

शंका—श्री राजवार्तिक अध्याय १ सूत्र २ वा० ३१ में सात प्रकृतियों के अत्यन्त नाश होने पर वीतराग सम्यक्त्व होता है। ऐसा उल्लेख है, सो ये सात प्रकृतियाँ कौनसी लेनी? समयसार पृ० २३३ में कहा है कि वीतराग सम्यक्त्व होने पर साक्षात् अबन्ध होता है सो साक्षात् अबन्ध तो बारहवें गुणस्थान से लेना चाहिए। समयसार पृ० २४५ पर छठे गुणस्थान तक सराग सम्यक्त्व कहा है, सातवें से वीतराग कहा है। हमारी समझ में वीतराग सम्यक्त्व आध्यात्मिक भाषा में सातवें गुणस्थान में और आगम भाषा में चारित्र मोहनीय का सर्वथा नाश होने पर होना चाहिए। विशेष खुलासा करें।

समाधान—श्री राजवार्तिक अ० १ सूत्र २ वार्तिक २९ में सम्यग्दर्शन दो प्रकार का कहा है—सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व। वार्तिक ३० में सराग सम्यक्त्व का लक्षण ‘प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, वास्तिक्य’ कहा है। वार्तिक ३१ में वीतराग सम्यक्त्व का लक्षण ‘आत्मविशुद्धि’ कहा है। चौथे, पाँचवें, छठे गुणस्थानों में बुद्धिपूर्वक रागरूप प्रवृत्ति होती है अतः इन तीन गुणस्थानों में सराग सम्यक्त्व कहा है। सातवें गुणस्थान से बुद्धिपूर्वक रागरूप प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है अतः सातवें से वीतराग सम्यक्त्व कहा है। (समयसार गाथा ७७ पर श्री जयसेनाचार्य कृत टीका) वीतराग सम्यग्दृष्टि को जो साक्षात् अबन्धक कहा है वह बुद्धिपूर्वक बन्ध के अभाव की अपेक्षा से कहा है अथवा अधस्तन गुणस्थानों की अपेक्षा उपरितन गुणस्थानों में बन्ध-व्युच्छिन्ति अधिक-अधिक होती जाती है अतः वीतराग सम्यग्दृष्टि को अबन्धक कहा है।

सातवाँ गुणस्थान दो प्रकार का है—१. स्वस्थान अप्रमत्तसंयत; २. सातिशय अप्रमत्तसंयत। स्वस्थान अप्रमत्तसंयत तो प्रमत्तसंयत गुणस्थान को प्राप्त होता रहता है अर्थात् वीतराग सम्यक्त्व से सरागसम्यक्त्व में आ जाता है अतः राजवार्तिककार ने ऐसे स्वस्थान अप्रमत्तसंयत को वीतराग सम्यक्त्व में ग्रहण नहीं किया। सातिशय अप्रमत्तसंयत भी उपशामक और क्षपक के भेद से दो प्रकार का है। उपशामक भी गिरकर या मरकर सराग-सम्यक्त्व को अवश्य प्राप्त होता है। अतः राजवार्तिक अ० १ सू० २ वार्तिक ३१ में उपशामक की भी अपेक्षा नहीं है, किन्तु सातिशय अप्रमत्तसंयत-क्षपक की अपेक्षा है, क्योंकि वह सराग सम्यक्त्व को कभी प्राप्त नहीं होता। सातिशय-अप्रमत्तसंयत क्षपक अर्थात् क्षपकश्रेणी को क्षायिकसम्यग्दृष्टि ही प्रारम्भ करता है और उसी के वास्तविक आत्मविशुद्धि होती है अतः वार्तिक ३१ में चार अनन्तानुबन्धी और तीन दर्शनमोहनीय ये सात प्रकृतियाँ लेनी चाहिये।

—ज. ग. 16-11-61/VI/ एल. एम. जैन

सम्यक्त्वोत्पत्ति की पात्रता

शंका—आचरणहीन व ज्ञानरहित मनुष्य को भी सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो सकता है क्या ?

समाधान—प्रथमोपशमसम्यक्त्व होने से पूर्व पाँच लब्धियाँ होती हैं। १. क्षयोपशम, २. विशुद्धि, ३. देशना, ४. प्रायोग्य, ५. करण, ये पाँच लब्धियाँ हैं। इन पाँच लब्धियों में से प्रथम तीन लब्धियों का स्वरूप इसप्रकार है—

“पुंश्च संविदकम्ममलपडलस्स अणुभागह्याणि जडा विसोहोए पडिसमयमणंतगुणहीणाणि होवूणुवीरिज्जंति तदा खओवसमलद्धी होदि । पडिसमयमणंतगुणहीणकमेण उदीरिं अणुभागह्यजणिवज्जीवपरिणामो सादाविसुह कम्मबंधणिमित्तो असादावि असुहकम्मबंधविरुद्धो विसोहिणाम । तिस्से उवल्लभो विसोहिलद्धी णाम । छह्व-णवपद-स्थोवसेो देसणा णाम । तीए देसणाए परिणद-आइरियावीणमुवल्लंभो; देसिदत्थस्स गहणधारण-विचारणसत्तोए समागमो देसणलद्धी णाम ।”

पूर्वसंचित कर्मों के मलरूप पटल के अनुभागस्पर्शक जिससमय विशुद्धि के द्वारा प्रतिसमय अनन्तगुण हीन होते हुए उदीरणा को प्राप्त किये जाते हैं, उससमय क्षयोपशमलब्धि होती है। प्रतिसमय अनन्तगुणितहीन क्रमसे उदीरत अनुभागस्पर्शकों से उत्पन्न, साता आदि शुभ कर्मों के बंध के कारण और असाता आदि अशुभकर्मबंध के विरोधी, ऐसे जीव-परिणामों को विशुद्धि कहते हैं। उन परिणामों की प्राप्ति का नाम विशुद्धिलब्धि है। छहद्रव्यों और नौपदार्थों के उपदेश का नाम देशना है। उस देशना से परिणत आचार्य आदि की उपलब्धि को और उपदिष्ट अर्थ ग्रहण, धारण तथा विचारण की शक्ति के समागम को देशनालब्धि कहते हैं। धवल पु० ६ पृ० २०४।

इस देशना लब्धि की पात्रता का कथन करते हुए श्री अमृतचन्द्राचार्य ने लिखा है—

अष्टावनिष्टबुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ष्यं ।

जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धिधयः ॥७४॥

दुःखदायक, दुस्तर और पापों के स्थान आठ पदार्थों को (ऊमर, कठूमर, पाकर फल, पीपल फल, बड़फल मध, मांस, मधु) परित्याग करके, अर्थात् इनके त्याग से उत्पन्न हुई निर्मल बुद्धि (विशुद्ध परिणाम) जिनके, ऐसे निर्मलबुद्धि वाले पुरुष जिनधर्म के उपदेश के पात्र होते हैं।

इससे इतना स्पष्ट हो जाता है कि ऊमर आदि आठ पदार्थों के अथवा सप्तव्यसन के त्याग से ही बुद्धि निर्मल होती है। जिससे वह पुरुष छहद्रव्य नवपदार्थों के उपदेश का पात्र बनता है। उस उपदेश से ज्ञान की प्राप्ति होती है। तब उस जीव में सम्यग्दर्शन की योग्यता आती है। अर्थात् इतना आचरण व ज्ञान होने पर ही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति संभव है। सप्तव्यसन का सेवन करते हुए सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं हो सकता है।

—जै. ग. 18-2-71/VIII/ सुत्तानसिंह

१. ज्ञान का फल सम्यग्दर्शन भी है और सम्यक्चारित्र भी
२. द्रव्यालिंगी मुनियों में सम्यक्त्वो भी मिलते हैं
३. विद्वत्ता की सफलता चारित्र धारण करने में है

शंका—१८ दिसम्बर १९६९ के जैनसंदेश के सम्पादकीय लेख में जो यह लिखा है कि ज्ञान का फल सम्यग्दर्शन है, चारित्र नहीं है क्या यह ठीक है ?

समाधान—ज्ञान का फल सम्यग्दर्शन भी है और चारित्र भी है। परीक्षामुख में कहा भी है—

“अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ।”

प्रमेय के निश्चयकाल में अज्ञान की निवृत्ति होती है अतः अज्ञाननिवृत्ति (सम्यग्दर्शन) ज्ञान का साक्षात् फल है। हान, उपादान और उपेक्षा (चारित्र्य अर्थात् संयम) ये ज्ञान के पारम्पर्य फल हैं, क्योंकि ये प्रमेय के निश्चय करने के उत्तरकाल में होते हैं।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान और सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का एक ही काल है। श्री अकलंकदेव ने श्री 'ज्ञानदर्शनयोर्युगपदात्मलाभः।' द्वारा यही कहा है कि ज्ञान और दर्शन की एक साथ उत्पत्ति होती है। इस सहचरता के कारण किसी एक के ग्रहण से दोनों का ग्रहण हो जाता है। जैसे पर्वत और नारद में सहचरता के कारण पर्वत के ग्रहण से नारद का भी ग्रहण हो जाता है और नारद के ग्रहण से पर्वत का भी ग्रहण हो जाता है। श्री अकलंकदेव ने कहा भी है—

“यथा साहचर्यात् पर्वतनारदयोः पर्वतग्रहणेन नारदस्य ग्रहणं, नारदग्रहणेन वा पर्वतस्य तथा सम्यग्दर्शनस्य सम्यग्ज्ञानस्य वा।”

ज्ञान और दर्शन की सहचरता के कारण कहीं पर ज्ञान का फल दर्शन कहा गया है और कहीं पर दर्शन का फल ज्ञान कहा गया है। सहचरता की दृष्टि में ज्ञान और दर्शन दोनों को किसी एक नाम के द्वारा भी कहा गया है अतः वहाँ पर कौन किस का फल है यह नहीं कहा जा सकता है।

यदि चारित्र्य को ज्ञान का फल न माना जाय तो अज्ञान का फल मानना होगा जो कि लेखक महोदय को भी दृष्ट न होगा। चारित्र्य ज्ञान का ही फल है ऐसा महान् आचार्यों ने कहा है—

‘ज्ञातापि संश्रान्त्या परकीयान्भावानादायात्समीपप्रतिपत्त्यात्मन्यध्यास्य शयानः स्वयमज्ञानी सन् गुह्यता परभावविवेकं कृत्वीकीक्रियमाणो संक्षु प्रतिबुध्यस्वीकः खल्वयमास्मेत्यसकृच्छ्रितं वाक्यं शृण्वन्नखिलैश्चिन्हैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेव परभावा इति ज्ञात्वा ज्ञानी सन् मुञ्चति सर्वान् परभावानचिरात्।’ समयसार गाथा ३५ टीका।

श्री पं० जयचन्द्रजी कृत अर्थ—ज्ञानी भी भ्रम से परद्रव्य के भावों को ग्रहणकर अपने ज्ञान आत्मा में एकरूप कर सोता है, बेखबर हुआ आपही से अज्ञानी हो रहा है। जब श्री गुरु इसको सावधान करें परभाव का भेदज्ञान कराके एक आत्मभाव करें और कहें कि तू शीघ्र जाग, सावधान हो यह तेरी आत्मा है वह एक ज्ञानमात्र है अन्य सब परद्रव्य के भाव हैं। तब बारम्बार यह आगम के वाक्य सुनता हुआ समस्त अपने पर के चिह्नों से अच्छी तरह परीक्षाकर ऐसा निश्चय करता है कि मैं एक ज्ञानमात्र हूँ अन्य सब परभाव हैं। ऐसे ज्ञानी होकर सब परभावों को तत्काल छोड़ देता है।

“इत्येवं विशेषदर्शनेन यदेवायमात्मास्त्रयोर्भेदं जानाति तदैव क्रोधादिभ्य आस्त्रयेभ्यो निवर्तते। तेभ्योऽनिवर्तमानस्य परमार्थिकतद्भेदज्ञानासिद्धेः। ततः क्रोधाद्यास्त्रयनिवृत्त्यविनाभाविनो ज्ञानमात्रादेवाज्ञानजस्य पौद्गलिकस्य कर्मणो बंधनिरोधः सिद्ध्यत्।” [स. सा. गा. ७२ टीका]

श्री पं० जयचन्द्रजी कृत अर्थ—इस तरह आत्मा और आस्त्रियों के तीन विशेषणों को भेद देखने से जिस-समय भेद जान लिया उसी समय क्रोधादिक आस्त्रियों से निवृत्त हो जाता है और उनसे जब तक निवृत्त नहीं होता तब तक उस आत्मा के पारमार्थिक सच्ची भेदज्ञान की सिद्धि नहीं होती। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि क्रोधादिक आस्त्रियों की निवृत्ति से अविनाभावी जो ज्ञान उसी से अज्ञानकर हुआ पौद्गलिककर्म के बंध का निरोध होता है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार गाथा ३५ व ७२ की टीका में यह बतलाया है कि जिस समय स्वपर का भेदविज्ञान होता है उसी समय मनुष्य परद्रव्यों को और रागादि परभावों को त्याग देता है अर्थात् संयमी हो जाता है, क्योंकि रागद्वेष की निवृत्ति चारित्र्य से होती है, जैसा कि श्री समन्तभद्राचार्य ने कहा है—'रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ।' जब तक परद्रव्यों को और रागादि परभावों को नहीं छोड़ता है तब तक वह सच्चा पारमार्थिक भेदविज्ञान नहीं है। क्रोधादिक की निवृत्तिरूप चारित्र्य से अविनाभावी जो ज्ञान है वही कार्यकारी है। ज्ञान वही सार्थक है जो क्रोधादि की निवृत्तिरूप चारित्र्य को उत्पन्न करे।

श्री अमितगति आचार्य ने भी कहा है—

परद्रव्यबहिर्भूतं स्वस्वभावमवति यः ।

परद्रव्ये स कुत्रापि न च द्वेष्टि न रज्यति ॥५॥

जो अपने स्वभाव को परद्रव्यों से भिन्न जानता है वह परद्रव्यों में कहीं भी राग नहीं करता है और न द्वेष करता है।

यदि कहा जाय कि असंयतसम्यग्दृष्टि के भी भेदविज्ञान होता है और वह भी अनंतानुबंधी क्रोधादि से निवृत्त होता है इसलिये ज्ञान का फल संयम कहना उचित नहीं है। ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि सम्यग्ज्ञान से रहित बहिरात्मा भी तीसरे गुणस्थान में अनन्तानुबंधी क्रोधादि से निवृत्त रहता है और उसके भी उन्हीं ४१ प्रकृतियों का संवर होता है जिनका संवर असंयतसम्यग्दृष्टि के होता है। जिस सम्यग्दृष्टि ने अनंतानुबंधीकषाय की विसंयोजना कर दी है और वह सम्यग्दर्शन से च्युत होकर जब मिथ्यात्व को प्राप्त होता है उस मिथ्यादृष्टि के भी एक आवली तक अनंतानुबंधी का उदय नहीं होता है। अतः वह मिथ्यादृष्टि भी एक आवली तक अनंतानुबंधी-क्रोधादि से निवृत्त रहता है। समयसार गाथा ३५ व ७२ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने उसी मनुष्य को पारमार्थिक भेदविज्ञानी कहा है जिसका फल परद्रव्यों के और रागादि परभावों के त्यागरूप संयम है, अथवा जो भेदविज्ञान संयम का अविनाभावी है वही पारमार्थिक भेदविज्ञान है।

मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा असंयतसम्यग्दृष्टि को उपादेय बतलाया है और ग्रन्थकारों ने उसकी बहुत प्रशंसा भी की है, किन्तु संयमी की अपेक्षा असंयतसम्यग्दृष्टि हेय है।

“बहिरात्माहेयस्तदपेक्षया यद्यपि अन्तरात्मोपादेयस्तथापि सर्वप्रकारोपादेयभूत परमात्मापेक्षया स हेय इति ।” (परमात्मप्रकाश गाथा १३ की टीका)

यहाँ पर भी यही बतलाया गया है कि यद्यपि बहिरात्मा (मिथ्यादृष्टि) की अपेक्षा अन्तरात्मा (सम्यग्दृष्टि) उपादेय है तथापि परमात्मा की अपेक्षा अन्तरात्मा हेय है।

सम्यग्दर्शन तो इस जीव को चारों गतियों में उत्पन्न हो सकता है, किन्तु उच्च कुलवाला कर्म भूमि का मनुष्य ही संयम धारण कर सकता है। इसीलिये सम्यग्दृष्टिदेव भी ऐसी मनुष्यपर्याय की इच्छा करता है। दुर्लभ ऐसी मनुष्यपर्याय को और शास्त्रों का ज्ञाता होकर भी जो सिनेमा आदि, अभ्रश्य-भक्षण व रात्रिभोजन का भी त्याग नहीं करते वे मूढ़ दिव्यरत्न को पाकर उसे भस्म के लिये जलाकर राख कर डालते हैं। श्री स्वामिकार्तिकेय आचार्य ने कहा भी है।

इयं दुर्लभं मण्डयत्तं लह्मिऊणं जे रमंति विसएसु ।

ते लहिए विव्वरयणं भूइ णिमिस्तं पजालंति ॥ ३०० ॥

अर्थ—इस दुर्लभ मनुष्यपर्याय को प्राप्त करके भी जो इन्द्रियों के विषयों में रमते हैं, वे मूढ़ दिव्यरत्न को पाकर उसे भस्म के लिये जलाकर राख कर डालते हैं ।

अनुकूल वातावरण अर्थात् कृटुम्ब व आजीविकादि की चिन्ता न होने पर भी और शरीर के निरोग होने पर भी संयम की उपेक्षाकर एकदेशसंयम भी धारण नहीं करते हैं, असंयत रहकर अपने आपको कृत्कृत्य मानते हैं, वे मनुष्य विषयों और कषायों के दास हैं । कहा भी है—

अश्रुतित्वं प्रमादित्वं निर्दयत्वमृतृप्तता ।

इन्द्रियेच्छानुवर्तित्वं सन्तः प्राहुरसंयमम् ॥११७॥ उपासकाध्ययन

व्रतों को पालन न करना, अच्छे कामों में आलस्य करना, निर्दय होना, सदा अमंजुष्ट रहना और इन्द्रियों की रुचि के अनुसार प्रवृत्ति करना । इन सबको सन्त पुरुषों ने अर्थात् आचार्यों ने असंयम का लक्षण कहा है ।

श्री अभितगतआचार्य ने भी असंयम का लक्षण निम्नप्रकार कहा है—

हिंसने वितथेस्तेषु मंथुने च परिग्रहे ।

मनोवृत्तिरचारित्रं कारणं कर्मसंततेः ॥ ३० ॥

रागतो द्वेषतो भावं परद्रव्ये शुभाशुभम् ।

आत्मा कुर्वन्नचारित्रं स्वचारित्रपराङ्मुखः ॥ ३१ ॥

हिंसा में, झूठ में, चोरी में, मंथुन में और परिग्रह में मनोवृत्ति का होना अचारित्र है जो कि कर्मसंतति का कारण है । परद्रव्य में राग से या द्वेष से शुभ या अशुभभावों को करनेवाला असंयत है और वह निजगुण जो चारित्र्य उससे विमुख है ।

यद्यपि मनुष्य सम्यग्दृष्टि है और तप भी करता है, किन्तु अणुव्रत या महाव्रत धारण न करने से असंयत है तो असंयम के कारण वह सम्यग्दृष्टि मनुष्य बहुततर और दृढ़तर कर्मों का बांध करता है । श्री कुन्बकुन्दाचार्य ने तथा सिद्धान्तवक्रवर्ती श्री वसुनन्दि आचार्य ने कहा भी है—

सम्माविट्टिस्स वि अघिरदस्स ण तवो महागुणो होवि ।

होवि तु हत्थियहाणं चुं वच्छिवकम्म तं तस्स ॥४९॥ मूलाधार

संस्कृत टीका—तपसा निर्जरयति कर्मासंयमभावेन बहुतरं गृह्णाति कठिनं च करोतीति ।

गजस्नान व लकड़ी में छिद्र करनेवाले बर्मा के समान असंयतसम्यग्दृष्टि का तप भी गुणकारी नहीं है, क्योंकि तप के द्वारा जितने कर्मों की निर्जरा करता है, असंयतभाव के द्वारा उससे अधिक व दृढ़तर कर्मों को बांध लेता है ।

आराम-अहितकारी विषयों व कषायों के प्राधीन होकर संयम में अरुचि रखनेवाले कुछ ऐसे जानाभासी विद्वान हैं जो स्वयं तो अणुव्रत या महाव्रत धारण नहीं करते हैं और अपनी पूजा व प्रतिष्ठा को रखने के लिये, संयमियों को हीन दिखलाने के लिये तथा अपने शिष्यों को संयम धारण से हतोत्साह करने के लिये मोटे अक्षरों में निम्न पद्य लिखते हैं—

मुनिव्रत धार अनन्त बार प्रीवक उपजायो ।

पे निज-आत्म ज्ञान बिना सुख लेश न पायो ॥ छहठाला, बीलतराम

इस पद्य को लिखते समय वे यह भूल जाते हैं कि आचार्यों ने जहाँ सम्यग्ज्ञानरहित व्रत आदि क्रियाओं को निरर्थक कहा है वहाँ पर चारित्ररहित ज्ञानको भी व्यर्थ कहा है।

हृतं ज्ञानं क्रिया हीनं हता चाज्ञानिना क्रिया ।

घावन किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पंगुलः ॥१॥ राजवार्तिक

यहाँ पर श्री अकलंकदेव ने बतलाया है कि चारित्र के बिना ज्ञान किसी काम का नहीं है और ज्ञान के बिना व्रतआदिरूप क्रिया भी व्यर्थ हैं। वन में आग लग जाने पर अंधा पुरुष इधर-उधर दौड़ता तो है, किन्तु वन से निकलने का यथार्थ मार्ग ज्ञात न होने के कारण वन में जलकर मर जाता है। उसी प्रकार अज्ञों वाला यथार्थ मार्ग जानते हुए भी लंगड़ा होने के कारण भागता नहीं है और वन में जलकर मर जाता है। जिस प्रकार व्रत पालन करते हुए भी ज्ञान के बिना दुःखी है उसी प्रकार असंयतसम्यग्दृष्टि भी विषय-कषाय के कारण दुःखी है। श्री अकलंक देव ने इन दोनों प्रकार के जीवों को समकक्ष रखा है।

इसी बात को श्री कुन्वकुन्दाचार्य ने शोलपाहुड में कहा है—

पाणं चरित्तहीणं लियग्गहणं च बंसणविवृणं ।

संजमहीणो य तथो जइ चरइ गिरत्थयं सव्वं ॥५॥

जिस प्रकार दर्शन रहित मुनि-लिय ग्रहण करना निरर्थक है उसी प्रकार चारित्ररहित सम्यग्ज्ञान भी निरर्थक है।

श्री कुन्वकुन्दाचार्य ने 'बंसणमूसो धम्मो । चारित्तं खलुधम्मो ।' इन शब्दों द्वारा भी यह बतलाया है कि वह दर्शनरूप जड़ व्यर्थ है जो चारित्ररूप धर्मवृक्ष को उत्पन्न न करे। क्योंकि, मोक्षरूप फल चारित्ररूप धर्मवृक्ष पर ही लगेगा, न कि दर्शनरूप धर्मवृक्ष की जड़ पर।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी कहा है—

“यत्त्वात्मास्रवयोर्भेदज्ञानमपि नास्रवेष्यो निवृत्तं भवति तज्ज्ञानमेव न भवतीति ज्ञानांशो ज्ञाननयोपि निरस्तः ।”

जो आत्मा और श्रोधादि आस्रव के भेद को जानता हुआ भी श्रोधादि आस्रवों से निवृत्त न हुआ तो वह ज्ञान ही नहीं है। ऐसा कहने से ज्ञान का अंश ऐसे ज्ञाननय का निराकरण हुआ अर्थात् चारित्ररहित ज्ञान का निराकरण हुआ।

श्री जयसेनाचार्य भी कहते हैं—

“यदि रागादिभ्यो निवृत्तं न भवति तत्सम्यग्भेदज्ञानमेव न भवति ।”

यदि रागादिभावों से निवृत्त न हुआ अर्थात् यदि रागादिभावों का त्याग नहीं करता है तो उसके सम्यक् भेदज्ञान ही नहीं होता है।

“सकलपदार्थज्ञोपाकारकरम्बितविशदकज्ञानाकारमात्मानं अहृद्यानोऽप्यनुभवन्नपि यदि स्वस्मिन्नेव संयम्य न व्रतंयति तद्वानादिमोहरागद्वेषवासनोपज नितपरद्रव्यचङ्क्रमणस्त्वेरिष्याद्विद्वद्भृतेः स्वस्मिन्नेव स्थानाभिर्वासननिःकम्पक-तत्त्वसूक्ष्मवृत्तचिद्भृत्प्रभावात् कथं नाम संयतः स्यात् । असंयतस्य च यथोदितात्मतत्त्वप्रतीतिरूपभङ्गानं यथोदितात्म-तत्त्वानुभूतिरूपं ज्ञानं वा किं कुर्यात् ? ततः संयमशून्यात् अद्वानात् ज्ञानाद्वा नास्ति सिद्धिः ।”

प्रवचनसार की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—सकल पदार्थों के ज्ञेयाकारों के साथ मिलित होता हुआ भी एक ज्ञान जिसका आकार है, ऐसे आत्मा का श्रद्धान करता हुआ और अनुभव करता हुआ भी यदि आत्मा अपने में ही संयमित होकर नहीं रहता, तो वह संयत कैसे होगा ? अर्थात् संयत नहीं होगा । क्योंकि उसकी चैतन्य परिणति अनादि मोह, राग, द्वेष की वासना से जनित परद्रव्य में भ्रमणता के कारण स्वेच्छाचारिणी हो रही है और उसके ऐसी चैतन्य-परिणति का अभाव है जो अपने में ही रहने से निर्वासन (विषय-कषाय से रहित) व निष्कम्परूप से एक तत्त्व में लीन हो । यथोक्त-आत्मतत्त्व की प्रतीतिरूप श्रद्धान व यथोक्त आत्मतत्त्व का अनुभूतिरूप ज्ञान असंयत के क्या करेगा ? असंयत के आत्मतत्त्व का श्रद्धान व अनुभूतिरूप ज्ञान व्यर्थ है, क्योंकि संयत-रहित श्रद्धान व ज्ञान से सिद्धि नहीं होती है ।

“यथा प्रबोधसहितपुरुषः स्वकीयपौरुषबलेन कूपपतनाद्यदि न निवर्तते तदा तस्य श्रद्धानं प्रबोधो दृष्टिर्वा किं करोति न किमपि । तथायं जीवः श्रद्धानज्ञानसहितोपि पौरुषस्थानीयचारित्रबलेन रागादिविकल्परूपादसंयमाद्यदि न निवर्तते तदा तस्य श्रद्धानं ज्ञानं वा किं कुर्यान्न किमपीति ।”

श्री अमृतचन्द्राचार्य के कथन को श्री जयसेनाचार्य दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—

जैसे दीपक को रखने वाला पुरुष अपने पुरुषार्थ के बल से कूप पतन से यदि नहीं बचता है तो उसका श्रद्धान दीपक व दृष्टि कुछ भी कार्यकारी नहीं हुई । तैसे ही यह जीव श्रद्धान, ज्ञानसहित भी है, परन्तु पौरुष अर्थात् चारित्र के बल से रागद्वेषादि विकल्परूप असंयमभाव से यदि अपने प्रापको नहीं हटाता है अर्थात् चारित्र धारण नहीं करता है तो श्रद्धान व ज्ञान उसका क्या हित कर सकते हैं ? कुछ हित नहीं कर सकते हैं ।

श्री ब्रह्मदेवसूरि ने भी कहा है—“यस्तु रागादिभेदविज्ञाने जाते सति रागादिकं त्यजति तस्य रागादिभेद-विज्ञानफलमस्तीति ज्ञातव्यम् ।”

अर्थात् रागादि और आत्मस्वभाव का भेदविज्ञान हो जाने पर जो मनुष्य रागादिक छोड़ते हैं उन्हीं का भेदविज्ञान सफल होता है, ऐसा जानना चाहिये ।

श्री समन्तभद्राचार्य ने कहा है कि रागादिक चारित्र धारण करने से दूर होते हैं, अतः जो मनुष्य चारित्र धारण करता है उसी का भेदविज्ञान सफल होता है ।

तत्त्वार्थसूत्र में यद्यपि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ऐसा क्रम है, किन्तु श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने मोक्षमार्गचूलिका में सम्यक्चारित्र, ज्ञान, दर्शन ऐसा भी क्रम रखा है ।

जो चरदि नादि पेश्छदि अप्पाणं अप्पणा अणणमयं ।

सो चारित्तं णाणं संसणमिदि णिच्छिवो होवि ॥

जो आत्मा को आत्मा से अनन्यमय आचरता है, जानता है देखता है वह चारित्र है, ज्ञान है दर्शन है ऐसा निश्चित है ।

मनुष्यों में चारित्र, ज्ञान, दर्शन युगपत् भी होते हैं, क्योंकि जो द्रव्यलिङ्गीमिथ्यादृष्टिमुनि प्रथमगुरास्थान से सातवें में जाता है उसके चारित्र, ज्ञान, दर्शन युगपत् होते हैं । श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा भी है—

“यथा-यथास्त्रवेभ्यश्च निवर्तते तथा-तथा विज्ञानघनस्वभावो भवतीति । तावद्विज्ञान-घनस्वभावो भवति यावत्सम्यगास्त्रवेभ्यो निवर्तते ।”

अर्थ—जैसा-जैसा रागादि आस्रवों से निवृत्त होता जाता है अर्थात् जैसे-जैसे चारित्र में वृद्धि होती जाती है वैसा-वैसा विज्ञानघन स्वभाव होता जाता है विज्ञानघन स्वभाव उतना होता है जितना रागादि आस्रवों से निवृत्त होता है अर्थात् जितना चारित्र होता है ।

बारहवें गुणस्थान का यथाख्यातचारित्र होने पर ही पूर्ण ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान होता है । यथाख्यात-चारित्र के बिना केवलज्ञान नहीं हो सकता है ।

यदि जैनसंदेश के सम्पादक महोदय मात्सर्यभाव से रहित होकर शंका के समाधानों की आलोचना करें तो उससे सम्पादकजी को तथा समाधान-कर्ता दोनों को लाभ होगा । किंतु जो समाधान आर्षग्रन्थों के आधार पर किये गये हैं उनकी आलोचना करने में वे व्यर्थ अपना समय व शक्ति नष्ट करते हैं । आपने एक बार यह आलोचना की थी कि सम्यग्दृष्टि द्रव्यलिंगीमुनि नहीं होता है, मिथ्यादृष्टि ही द्रव्यलिंगी मुनि होता है । तब गोम्मटसार की टीका तथा त्रिलोकसार का प्रमाण देकर यह सिद्ध किया गया था कि अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण कर्मप्रकृतियों के उदय में सम्यग्दृष्टि भी द्रव्यलिंगीमुनि होता है । एक बार आपने यह आलोचना की थी कि तेरहवें गुणस्थान में 'योग' औदयिकभाव नहीं है, किंतु क्षायिकभाव है और अपने कथन को सिद्ध करने के लिये राजवार्तिक की पंक्तियों का अर्थ गलत भी करना पड़ा था । तब घवल आदि ग्रंथों का प्रमाण देकर यह बतलाया गया था कि शरीरनाम-कर्मोदय के कारण तेरहवें गुणस्थान में योग औदयिकभाव है, क्षायिकभाव नहीं है ।

जिन आर्षग्रंथों का प्रमाण इस लेख में दिया गया है, यदि उन ग्रंथों की स्वाध्याय करली गई होती तो १८-१२-६९ के जैनसंदेश में इसप्रकार का लेख न लिखा जाता । विद्वान की सफलता चारित्र धारणकर आत्मध्यान में लीनता से है, न कि मात्सर्य भाव में ।

आत्मध्यानरतिर्ज्ञेयं विद्वत्तायाः परं फलम् ।

अशेषशास्त्रशास्त्रुत्वं संसारोऽभाषि धीधनैः ॥

इस श्लोक में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—एक विद्वान की सफलता इसी में है कि आत्मध्यान में लीनता हो । यदि वह नहीं है तो उसका सम्पूर्ण शास्त्रों का शास्त्रीपना (पठन-पाठन विवेचनादि कार्य) संसार के सिवाय और कुछ नहीं है । उसे भी सांसारिक धंधा अथवा संसार-परिभ्रमण का ही एक अंग समझना चाहिए । साथ में यह भी समझना चाहिए कि उस विद्वान ने शास्त्रों का महान् ज्ञान प्राप्त करके भी अपने जीवन में वास्तविक सफलता प्राप्त नहीं की ।

—जं. ग. 3-10/6/71/VI-VII/ जयचन्दप्रसाद

—जं. ग. 20-1-72/VII/ सुभाषचन्द

परद्रव्य में राग (देवादिक में भक्ति) कथंचित् सम्यक्त्वादि का कारण है

शंका—परद्रव्य में राग करने से क्या आत्मतत्त्व की श्रद्धा व सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति हो सकती है ?

समाधान—जिस प्रकार सूर्य का राग लालिमा दो प्रकार की होती है (१) प्रातःकाल का राग (२) संध्या समय का राग; उसीप्रकार जीव का परद्रव्य में राग दो प्रकार का होता है (१) प्रशस्तराग (२) अप्रशस्तराग (जिस प्रकार प्रातःकालीन राग प्रकाश का कारण है और संध्या समय का राग अंधकार का कारण है;) उसी प्रकार वीतरागदेव, निर्ग्रन्थगुरु, दयामयी धर्म में प्रशस्तराग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रतनत्रय का कारण है तथा स्त्री पुत्रादि में अप्रशस्तराग संसार का कारण है । श्री गुणभद्राचार्य ने कहा भी है—

विभूततमसो रागस्तपः श्रुतनिबन्धनः ।
संध्याराग इवार्कस्य जन्तोरभ्युदयायसः ॥
विहाय व्याप्तमालोकं पुरस्कृत्य पुनस्तमः ।
रविचद्रागमागच्छन् पातालतलमृच्छति ॥

इसका भाव ऊपर कहा जा चुका है । श्री कुंदकुंदाचार्य ने भी कहा है—

एसा पसस्थभूदा समणानं वा पुणा धरत्थानं ।
चरिया परेति भणिदा ताएव परं लहदि सोखं ॥ गायी २५४ प्र० सा०

श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका—गृहिणां तु समस्तविरतेरभावेन शुद्धात्मप्रकाशनस्थाभावात्कषायसद्भावात्प्रवर्तमानोऽपि स्फटिकसंपर्केतेजस इवैधसां रागसंयोगेन शुद्धात्मनोऽनुभवात्क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः ।

श्री जयसेनाचार्यकृत टीका—विषय कषापनिमित्तोत्पन्नेनार्तरीद्रघ्यानद्वयेन परिणतानां गृहस्थानामात्माभित्तिश्चयधर्मस्यावकाशो नास्ति, वैयावृत्यादिधर्मेण दुर्धर्मानवच्छिन्ना भवति तपोधनसंसर्गेण निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गोपदेशलाभो भवति । ततश्च परंपरया निर्वाणं लभत इत्यभिप्रायः ।

रागो पसस्थभूदो वत्थुवित्सेतेण फलदि विचरीदं ।
जाणाभूमिगदाणिह वीजाणिव सस्सकालम्हि ॥ २५५ ॥
छदुमत्थदिहिंवत्सु वदणिय मज्झयणज्ञानवाणरवो ।
ण लहदि अपुणवभावं भावं सावप्पगं लहदि ॥ २५६ ॥ प्र० सा०

श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका—शुभोपयोगस्य सर्वज्ञस्यवस्थापितवस्तुषु प्रणिहितस्य पुण्योपचयपूर्वकोऽपुनर्भावोपसम्भः किल फलं तत्तु कारणवंपरीत्याद्विपर्यय एव । तत्र छद्मस्थस्यवस्थापितवस्तूनि कारणवंपरीत्यं, तेषु व्रतनियमाध्ययनध्यानवानरतत्त्वप्रणिहितस्य शुभोपयोगस्यापुनर्भावशुभ्यकेवल-पुण्यापसवप्राप्तिः फलवंपरीत्यं, तत्सुदेवमनुजत्वम् ॥

यहाँ पर श्री कुंदकुंदाचार्य ने कहा है कि यह प्रशस्तरागरूप वैयावृत्यचर्या श्रमण के गीण होती है और गृहस्थ के तो मुख्य होती है, क्योंकि इसके द्वारा गृहस्थ परम अर्थात् मोक्षसुख को प्राप्त होता है । इसकी टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है कि—सर्वविरति के न होने से शुद्धात्मप्रकाशन के अभाव के कारण कषाय में प्रवर्तमान गृहस्थ के वह वैयावृत्यरूप शुभोपयोग मुख्य है, क्योंकि, जैसे ईंधन को स्फटिक के सम्पर्क से सूर्य के तेज का अनुभव होता है और क्रमशः जल उठता है, उसी प्रकार गृहस्थ को साधु में राग के संयोग से शुद्धात्मा का अनुभव होता है और वह शुभोपयोग क्रमशः परम निर्वाण सौख्य का कारण होता है ।

इसको स्पष्ट करने के लिये श्री जयसेनाचार्य ने कहा है—यदि गृहस्थ वैयावृत्यादि शुभोपयोग से वर्तन करें तो वे छोटे (आर्त-रीद्र) ध्यान से बचते हैं तथा साधुओं की संगति से उनको निश्चय व व्यवहार मोक्षमार्ग का उपदेश मिलता है, इससे वे गृहस्थ परम्परा से निर्वाण को प्राप्त करते हैं, ऐसा गायी का अभिप्राय है ।

श्री कुंदकुंदाचार्य कहते हैं—जैसे एक ही बीज का उत्तम भूमि में उत्तम फल होगा और विपरीत भूमि में विपरीत फल होता है उसीप्रकार प्रशस्तराग यदि वीतरागदेव, निर्बन्ध गुरु, तथा दयामयी धर्म में होता है तो उत्तम फल देता है यदि छद्मस्थ कथित देव-गुरु-धर्म (कुदेव कुगुरु कुधर्म) में है तो मोक्ष (उत्तम फल) को नहीं देता है सातारूप भाव को देता है ।

टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं—सर्वज्ञ कथित वस्तुओं (सुदेव, सुगुरु, सुधर्म) में प्रशस्तराग का फल पुण्य संचय पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति है। वह फल कारण की विपरीतता होने से विपरीत ही होता है, जैसे छद्मस्थ कथित वस्तुओं विपरीत कारण हैं। छद्मस्थ कथित उपदेश के अनुसार व्रत, नियम, अध्ययन, ध्यान, दान, रतरूप प्रशस्तराग का फल मोक्षशून्य केवल अधमपुण्य की प्राप्ति है, वह फल की विपरीतता है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है—

अरहंतणमोकारं भावेण य जो करेवि पयडमवि ।
सो सवदुखमोवखं पावइ अचिरेण कालेण ॥

जो भावपूर्वक अरहंत को नमस्कार करता है, वह अतिशीघ्र समस्त दुखों से मुक्त हो जाता है। श्री बीरसेनाचार्य ने भी कहा है—“जिनबिबदंसरणेण णिघत्त-णिकाचिदस्सवि मिच्छताविकम्मकलावस्सखयवंसणावो ।” जिनबिब के दर्शन से मिघत्त और निकाचितरूप भी मिध्यात्वकर्मकलाप का क्षय देखा जाता है, जिससे जिनबिब का दर्शन सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण होता है।

श्री सकलकीर्त्याचार्य ने भी कहा है—

स्वर्गंश्रीगृहसारसौख्यजनिकां श्वभ्रालयेष्वर्गलां ।
पापारिक्षयकारिकां सुविमलां, मुक्त्यङ्गनाडूतिकाम् ॥
श्री तीर्थेश्वर सौख्यवान कुशलां, श्री-धर्म संपादिकां ।
ध्यातस्त्वंकुश बीतरागचरणे, पूजां गुणोत्पादिकाम् ॥१५७॥

जिनपूजा-भक्ति स्वर्गलक्ष्मी के श्रेष्ठ सुखों को उत्पन्न करने वाली है, नरकरूप घर का आगल है, पापरूप शत्रु (मिध्यात्व) का क्षय करनेवाली है, अत्यन्त निर्मल है, मुक्ति की दूत है, तीर्थंकर के सुख को देने वाली है, धर्म (सम्यक्त्व) की उत्पन्न करने वाली है तथा गुणों की उत्पादक है, अतः हे भाई ! तू निरन्तर बीतराग भगवान के चरणों की पूजा-भक्ति कर ।

इन आर्षवाक्यों से स्पष्ट हो जाता है कि बीतराग भगवान की भक्ति अर्थात् गुणानुराग से पापस्वरूप मिध्यात्वोदय का क्षय होता है तथा सम्यक्स्वरूप धर्म की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार बीतराग भगवान, निर्ग्रन्थ-गुरु और दयामयी धर्म में अनुराग से सम्यक्स्वोत्पत्ति पाई जाती है। जिनबिम्बदर्शन, जिनमहिमा दर्शन को सम्यक्स्वोत्पत्ति का कारण सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में भी कहा गया है।

—जं. ग. 11-7-74/VI/ टो. ला. मित्तल

सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान सम्यग्दर्शनका लक्षण है

शंका—९ नवम्बर १९६७ के जैनसन्देश के सम्पादकीय लेख में लिखा है “जिस मिध्यात्व कर्म का शासन अनादि काल से चला आता है एक अन्तर्मुहूर्त के लिए उस शासन को समाप्त कर देना क्या कोई साधारण बात है ? केवल देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा मात्र से ऐसी क्रान्ति होना संभव नहीं है। यद्यपि देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा कर्म शत्रु के विरुद्ध बगावत का झण्डा ले लेने की निशानी जरूर है, किन्तु इतने से ही पुराना शत्रु भागने वाला नहीं है।”

इस पर यह शंका होती है कि क्या मात्र देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं है ?

समाधान—श्री समन्तभद्र स्वामी महाचार्य हो गये हैं। उन्होंने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य को धर्म बतलाया है और वह धर्म प्राणियों को संसार के कष्टों से निकालकर उत्तम सुख में धरता है। इस सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य-रूप धर्म का कथन करते हुए सम्यग्दर्शन का लक्षण निम्न प्रकार कहा है—

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपो भूताम् ।
त्रिसूत्रापोढमण्डांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥४॥

अर्थ—सच्चे देव-शास्त्र-गुरुओं का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, किन्तु वह श्रद्धान तीन मूढतारहित आठ अङ्गसहित और आठ मदरहित होना चाहिए।

सिद्धान्तचक्रवर्ती श्री वसुनन्दि आचार्य सम्यग्दर्शन का लक्षण निम्न प्रकार कहते हैं—

अत्तागमतच्चाणं जं सद्बहणं सुणिम्मलं होइ ।
संकाइबोसरहियं त सम्मत्तं मुरोयत्वं ॥६॥

अर्थ—सत्यार्थ देव, आगम और तत्त्वों का शंकादि (पच्चीस) दोषरहित जो बतिनिर्मल श्रद्धान होता है, उसे सम्यक्त्व जानना चाहिए।

श्री कुन्वकुन्वाचार्य भी मोक्षप्राप्त में सम्यग्दर्शन का निम्न लक्षण कहते हैं—

हिसारहिए धम्मे अट्टारह दोसवज्जिए देवे ।
निगंथे पावयले सद्बहणं होइ सम्मत्तं ॥९०॥

अर्थ—हिसाररहित धर्म, अट्टारह दोषरहित देव, पदार्थ तथा निर्भ्रन्थ गुरु का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है।

नियमसार में श्री श्री कुन्वकुन्वाचार्य ने सम्यग्दर्शन का लक्षण निम्न प्रकार कहा है—

अत्तागमतच्चाणं सद्बहणावो, हवेइ सम्मत्तं ।
ववगयअसेस दोसो सयलगुणप्पा हवे अस्ती ॥५॥

आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है। जिसके अशेषदोष दूर हुए हैं ऐसा जो सकल गुणमय पुरुष वह आप्त है।

श्री सोमदेवआचार्य ने उपासकाध्ययन में सम्यग्दर्शन का लक्षण निम्न प्रकार कहा है—

आप्तागमपदार्थानां श्रद्धानं कारणद्वयात् ।
सूत्राद्यपोढमण्डाङ्गं सम्यक्त्वं प्रशमादिभाक् ॥४८॥ पृ० १३

श्री पं० कैलाशचन्द्रजी सम्पादक जैनसन्देश ने इसकी टीका में निम्न प्रकार लिखा है—

‘अन्तरंग और बहिरंग कारणों के मिलने पर आप्त (देव), शास्त्र और पदार्थों का तीन मूढतारहित आठ अङ्गसहित जो श्रद्धान होता है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह सम्यग्दर्शन प्रशम, संवेग आदि गुणवाला होता है। सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व अन्तरंग और बहिरंग कारणों के मिलने पर प्रकट होता है। इसका अन्तरंग कारण तो दर्शनमोहनीयकर्म का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम है।’

विज्जिघ-वोसं देवं सध्वं जिवाणं दयावरं धम्मं ।

वज्जिययगंथं च गुरुं जो सण्णदि सो हु सद्धिदु ॥३१९॥ स्वामिकार्तिकेय

श्री पं० कैलाशचन्दजी इसकी टीका में लिखते हैं—“जो वीतराग ग्रहन्त को देव मानता है सब जीवों पर दया को उत्कृष्टधर्म मानता है और परिग्रह के त्यागी को गुरु मानता है वही सम्यग्दृष्टि है ।”

इसप्रकार प्रायः सभी आचार्यों ने सम्यग्दर्शन का लक्षण देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा को कहा है । स्वयं श्री पं० कैलाशचन्दजी ने उपासकाध्ययन व स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका में लिखा है ‘देव, शास्त्र और पदार्थों का श्रद्धान् अथवा देव, गुरु, धर्म का श्रद्धान् सम्यग्दर्शन है और उस सम्यग्दर्शन में दर्शनमोहनीयकर्म का उपशम क्षय या क्षयोपशम होता है ।’

देव, शास्त्र तथा गुरु की श्रद्धा सम्यग्दर्शन का लक्षण है । जहाँ लक्षण हो वहाँ लक्ष्य न हो ऐसा हो नहीं सकता । अतः जहाँ पर देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा है वहाँ पर सम्यग्दर्शन अवश्य है, क्योंकि देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान् सम्यग्दर्शन का लक्षण है ।

इतना ही नहीं श्री पं० कैलाशचन्दजी इससे भी कुछ अधिक कहना चाहते हैं—

“जो तत्त्वों को नहीं जानता किन्तु जिनवचन में श्रद्धान् करता है कि जिनवर भगवान् ने जो कहा है उस सबको मैं पसन्द करता हूँ । वह भी श्रद्धान्वान है । जो जीव ज्ञानावरणकर्म का प्रबल उदय होने से जिन भगवान् के द्वारा कहे हुए जीवादि तत्त्वों को जानता तो नहीं है किन्तु उन पर श्रद्धान् करता है कि जिन भगवान् के द्वारा कहा हुआ तत्त्व बहुत सूक्ष्म है युक्तियों से उसका खण्डन नहीं किया जा सकता । अतः जिन भगवान् की आज्ञारूप होने से वह ग्रहण करने योग्य है, क्योंकि वीतराग जिन भगवान् अन्यथा नहीं कहते, ऐसा मनुष्य भी आज्ञा सम्यक्त्वी होता है ।” स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा भाषा टीका पृ० २२९

जो ण विजाणदि तच्च सो जिणवघरो करेदि सद्धणं ।

जं जिणवरेहि भणियं तं सध्वमहं समिच्छामि ॥

—जं. ग. 15-8-68/VIII/.....

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में मन्दराग भी कथंचित् कारण है

शंका—क्या मन्दराग सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में कारण है ?

समाधान—उत्कृष्ट अर्थात् तीव्र राग के होने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि तीव्रकषाय-रूप परिणाम के होने पर जीव के तत्त्वरुचि होना प्रसम्भव है । कहा भी है ‘उत्कृष्ट स्थितिसत्त्व और उत्कृष्ट अनुभागसत्त्व के होने पर तथा उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अनुभाग के बंधने पर सम्यक्त्व, संयम एवं संयमासंयम का ग्रहण सम्भव नहीं है ।’ षट्खंडागम पुस्तक १२ पृ० ३०३ कषाय के अभाव में भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति संभव नहीं है, क्योंकि कषाय (राग) का अभाव सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् होता है । अतः पारिशेष न्याय से यह सिद्ध हुआ कि मंदकषाय (राग) के सद्भाव में ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है । कहा भी है ‘प्रथमोपशमसम्यक्त्व के अभिमुख जीव के जिन अप्रशस्तप्रकृतियों का उदय होता है उनके निव और कांजीररूप द्विस्थानिय अनुभाग का वेदक होता है ।’ षट्खंडागम पुस्तक ६ पृ० २१३, लब्धिसार गाथा २९ । श्री मोक्षमार्गप्रकाशक में भी कहा है— ‘कोई मंद कषायादि का कारण पाय ज्ञानावरणादि कर्मनिका क्षयोपशम भया, तातै तत्त्व विचार करने की शक्ति भई । अर मोह मंद भया, तातै तत्त्वादि विचार विषै उद्यम भया ।’

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के प्रथमोपशमसम्यक्त्व की प्राप्ति में कारण पाँच लब्धियाँ कही गई हैं। क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि, करणलब्धि इन पाँच लब्धियों के बिना प्रथमोपशमसम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। इन पाँचलब्धियों में से दूसरी विशुद्धलब्धि का स्वरूप इसप्रकार है 'बहुरि मोह का मंद उदय आवने तँ मंदरुषायरूपभाव होय तहां तत्त्व विचार होय सके, सो विशुद्धलब्धि है।' मोक्षमार्ग प्रकाश पृ० ३८५ ।

इन उपर्युक्त आगम प्रमाणों से यह सिद्ध हो गया कि तीव्रराग (कषाय) की अवस्था में सम्यक्त्वोत्पत्ति नहीं हो सकती, किन्तु मन्दराग के समय में ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है अतः अन्य कारणों के साथ मन्दराग भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में कारण है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में मन्दराग सर्वथा अकारण है ऐसा मानना उचित नहीं है, किन्तु कथंचित् कारण है।

—जै. सं. 19-12-57/V/ रतनकुमार जैन

सम्यग्दर्शन का विषय द्रव्य है या पर्याय ?

शंका—सम्यग्दर्शन का विषय द्रव्य है या पर्याय है ?

समाधान—“तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् । जीवाजीवास्त्रयबन्धसंवरनिर्जंरामोक्षास्तत्त्वम् ।” अर्थात् जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जंरा और मोक्ष इन सात तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। इन सात तत्त्वार्थों में द्रव्य व पर्याय दोनों हैं, मात्र द्रव्य नहीं है। इनमें से आस्रव, बंध, संवर, निर्जंरा, मोक्ष अथवा पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जंरा, बंध, मोक्ष ये तत्त्वार्थ न तो मात्र जीव की पर्याय हैं और न मात्र पुद्गल की पर्याय हैं, किन्तु दोनों के परस्पर संयोग से (बंध से) ये पर्याय उत्पन्न हुई हैं। यदि जीव पुद्गल का परस्पर बन्ध न हो तो पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जंरा, बन्ध, मोक्ष ये पर्याय ही उत्पन्न न हों। समयसार की टीका में कहा भी है—

“यथा स्त्रीपुरुषाभ्यां समुत्पन्नः पुत्रो जिवक्षावशेन देवदत्तायाः पुत्रोयं केचन वर्धति; देवदत्तस्य पुत्रोयमिति केचन वर्धति इति दोषो नास्ति । तथा जीवपुद्गलसंयोगेनोत्पन्नाः मिथ्यास्वरागादिभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानरूपेण चेतना जीवसम्बद्धा । शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेणा चेतनाः पौद्गलिकाः । “परमार्थतः पुनरेकांतेन न जीवरूपाः वा पुद्गलरूपाः सुधाहरिद्रयोः संयोगपरिणामवत् ।” श्री जयसेनाचार्यं कृत टीका ।

“स्वमेकस्य पुष्यपापान्नवसंवरनिर्जंराबंधमोक्षानुपपत्तेः तदुभयं च जीवाजीवाविति ।” श्री अमृतचन्द्राचार्यं ।

जिसप्रकार चूना व हल्दी दोनों के मिलने से (परस्पर बंध से) लालरंग की उत्पत्ति होती है, वह लाल रंग न मात्र चूने का परिणामन है, क्योंकि चूना श्वेत होता है और न मात्र हल्दी का परिणामन है, क्योंकि हल्दी पीली होती है। अतः वह लाल वर्ण, चूने व हल्दी दोनों के परस्पर बन्ध से ही उत्पन्न हुआ है। हाइड्रोजन और आक्सीजन इन दो गैसों के मिलने से जल की उत्पत्ति होती है। वह जल न मात्र हाइड्रोजन गैसरूप है और न मात्र आक्सीजनरूप है, किन्तु दोनों के मिलने से (परस्पर बन्ध से) उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जंरा, बन्ध, मोक्ष में एक ही जीव या अजीव के परिणामन नहीं हैं, किन्तु जीव-अजीव (पुद्गल) दोनों से उत्पन्न होते हैं।

“ये केचन वर्दंशेकांतेन रागादयो जीवसम्बन्धिनः पुद्गलसम्बन्धिनो वा तदुभयमपि वचन मिथ्या । कस्मादिति चेत्, पूर्वोक्तस्त्रीपुरुषदृष्टांतेन संयोगोद्भवत्वात् ।”

जो एकांत से ग्रास्यव आदि को जीवसम्बन्धी कहे या एकान्त से पुद्गल (अजीव) सम्बन्धी कहे तो उन दोनों के बचन मिथ्या हैं, क्योंकि जिसप्रकार पुत्र की उत्पत्ति स्त्री-पुरुष दोनों के संयोग से होती है, उसीप्रकार ग्रास्यव आदि की उत्पत्ति जीव और पुद्गल दोनों के संयोग से होती है ।

द्रव्य की श्रद्धा के साथ गुण व पर्याय की श्रद्धा अनिवार्य है, क्योंकि “गुणपर्यायवद्द्रव्यम् ।” अर्थात् गुण-पर्यायवाला द्रव्य है, ऐसा सूत्र है । जो पर्याय से रहित मात्र द्रव्य का श्रद्धान करता है, उसको भी प्रवचनसार में पर्यायविमूढ़ परसमय (मिथ्यादृष्टि) कहा है ।

“नारकादिपर्यायरूपो न भवाम्यहमिति भेदविज्ञानमूढाश्च परसमया मिथ्यादृष्ट्यो भवन्तीति ।” प्रवचनसार में नारकी आदि पर्यायरूप नहीं हूँ, ऐसा जो मानता है वह भेदविज्ञान मूढ़ है, परसमय मिथ्यादृष्टि है ।

—जं. ग. 8-6-72/VI/ रो. ला. मित्तल

जीव को अपने सम्यक्त्व का ज्ञान कथंचित् हो सकता है

शंका—अपने को सम्यक्त्व होने का ज्ञान हो जाता है या नहीं ?

समाधान—अपने को सम्यक्त्व होने का ज्ञान हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है । सम्यक्त्व जीव का सूक्ष्म भाव है और उसका जघन्यकाल एक सैकन्ड के संख्यातर्वे भाग से भी कम है । अतः इतने कम काल के परिणाम मतिज्ञान के द्वारा ग्रहण होना कठिन है । ज्ञान से पूर्व जो दर्शन होता है वह मद्यपि चेतना गुण की पर्याय है तथापि उसका काल इतना कम है कि वह जीव की पकड़ में नहीं आता है ।

—जं. ग. 6-7-72/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

असती सम्यक्त्वी आत्मतत्त्व को नहीं देख सकता

शंका—आत्म-दर्शन किसको होता है ? क्या चौथे गुणस्थान वाले असंयतसम्यग्दृष्टि को साक्षात् आत्म-दर्शन हो सकता है ?

समाधान—यही प्रश्न श्री पुण्यपादाचार्य के सामने उपस्थित हुआ था । उन्होंने अध्यात्म ग्रन्थ समाधितन्त्र में निम्नप्रकार उत्तर दिया है—

रागद्वेषादि कल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम् ।

सपश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत् तत्त्वं नेतरो जनः ॥३५॥

अर्थ—जिसका मनरूपी जल रागद्वेष-काम-क्रोध-मान-माया-लोभ आदि तरंगों से चंचल नहीं होता वही पुरुष आत्मतत्त्व को देखता अर्थात् अनुभव करता है । उस आत्म-तत्त्व को दूसरा मनुष्य (अर्थात् जिसका मन रागद्वेष आदि तरंगों से चंचल हो रहा है ऐसा मनुष्य) नहीं देखता ।

जिस प्रकार तरंगित जल में अपना प्रतिबिम्ब भले प्रकार न पड़ने से अपना यथार्थ प्रतिभास नहीं होता अर्थात् अपना स्वरूप ठीक नहीं दिखाई देता उसीप्रकार रागद्वेषादि कल्लोलों से चंचल मन में आत्मा का यथार्थ दर्शन नहीं होता । जब जल तरंगों से रहित होकर स्थिर हो जाता है उसमें अपना ठीक प्रतिबिम्ब पड़ने से अपना स्वरूप दिखाई दे जाता है । उसीप्रकार जब मन में रागद्वेषादि कल्लोलों का अभाव हो जाता है उस समय मन स्थिर हो जाता है और उस निर्विकार स्थिर मन में आत्म-तत्त्व दिखाई देने लगता है ।

रागद्वेष आदि क्षोभ से रहित आत्म-परिणाम का नाम ही स्वरूपाचरणचारित्र्य अथवा यथाख्यात-चारित्र्य है । श्री कुन्दकुन्द तथा अमृतचन्द्राचार्य ने प्रवचनसार में कहा भी है—

चारित्तं खलु धम्मो-धम्मो जो सो समो त्ति णिद्धिदो ।
मोहक्षोहो विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥

टीका—स्वरूपे चरणं चारित्र्यं । स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः । तदेव वस्तुस्वभावस्वाङ्घर्मः । शुद्ध चैतन्यप्रकाशन-मित्यर्थः । तदेव च यथावस्थितात्मगुणत्वात् साम्यम् । साम्यं तु दर्शनं चारित्र्यमोहनीयोदयापादितसमस्त मोहक्षोभा-भावादत्यन्तनिविकारो जीवस्य परिणामः ॥७॥

अर्थ—चारित्र्य वास्तव में धर्म है जो धर्म है वह साम्य है । ऐसा जिनेश्वर भगवान ने कहा है । साम्य मोहक्षोभरहित आत्म-परिणाम है ।

टीकार्थ—स्वरूप में रमण करना ही चारित्र्य है । अपने स्वभाव में प्रवृत्ति करना ऐसा इसका अर्थ है । यही वस्तुस्वभाव होने से धर्म है । शुद्ध चैतन्य का प्रकाश करना यह इसका अर्थ है । वही यथावस्थित आत्मगुण होने से साम्य है और साम्य दर्शनमोहनीय तथा चारित्र्यमोहनीय कर्मोदय से उत्पन्न होने वाले समस्त मोह और क्षोभ अर्थात् राग-द्वेषकल्लोलों के अभाव के कारण अत्यन्त निविकार आत्म परिणाम है ।

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती असंयतसम्यग्दृष्टि के अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषाय अर्थात् चारित्र्यमोहनीय कर्म की इन बारह प्रकृतियों का निरन्तर उदय रहता है । उसके क्षणभर के लिए भी राग-द्वेष कल्लोलों से रहित मन नहीं हो सकता है, फिर वह आत्म-तत्त्व को कैसे देख सकता है ?

असंयतसम्यग्दृष्टि की जिनवचनों पर अटूट श्रद्धा होती है और वह जिनवचनों के आधार पर ही साततत्त्वों की तथा आत्मतत्त्व की श्रद्धा करता है ।

जो ण विजाणवि तच्चं सो जिणवचणे करेवि सहहणं ।
जं जिणवरेहि षणियं ते सच्चमहं समिच्छामि ॥३२४॥

अर्थात्—जो तत्त्वों को नहीं भी जानता, किन्तु जिनवचन में श्रद्धान करता है कि जिन भगवान ने जो कहा वह मुझको स्वीकार है । वह जीव भी सम्यग्दृष्टि है ।

जिसको जिनवचन पर श्रद्धा नहीं है और चतुर्थगुणस्थान में स्वरूपाचरणचारित्र्य बतलाता है, वह मिथ्यादृष्टि है ।

—जं. ग./28-8-69/VII/ बलयंतराय

चतुर्थ गुणस्थान में निश्चय सम्यक्त्व पर्याय नहीं होती

शंका—चतुर्थगुणस्थान में भी क्या निश्चयसम्यक्त्व होता है ?

समाधान—निश्चयसम्यक्त्व का लक्षण निम्न प्रकार है—

“निश्चयनयेन निश्चयचारित्र्याविनाभावि निश्चयसम्यक्त्वं बीतरागसम्यक्त्वं भण्यते ।” अजमेर से प्रकाशित समयसार पृ० १५ ।

“परमसमाधिकाले नवपदार्थमध्ये शुद्धनिष्कयनयेनेक एव शुद्धात्मा प्रद्योतते प्रकाशते प्रतीयते अनुभूयते इति । या चानुभूतिः प्रतीतिः शुद्धात्मोपलब्धिः संव निश्चयसम्यक्त्वमिति ।” समयसार पृ० १६

‘निश्चयरत्नत्रयलक्षणशुद्धोपयोगबलेन निश्चयचारित्राविनाभावविधीतरागसम्यग्दृष्टिभूत्वा निर्विकल्पसमाधि-रूपपरिणामपरिणति करोति ।’ समयसार पृ० ६५

“निश्चयचारित्राविनाभावविधीतराग सम्यग्दृष्टिभूत्वा संवरनिर्जराभोक्षपदार्थानां प्रयाणां कर्ता भवतीत्यपि संक्षेपेण निरूपितं पूर्वं, निश्चयसम्यक्त्वस्थाभावे यदा तु सरागसम्यक्त्वेन परिणमति तदा शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा परंपरया निर्वाणकारणस्य तीर्थंकरप्रकृत्याविपुष्यपदार्थस्य कर्ता भवतीत्यपि पूर्वं निरूपितं ।” समयसार पृ० ११०

“निजपरमात्मोपादेयरुचिरूपं वीतरागचारित्राविनाभूतं यन्ननिश्चयसम्यक्त्वं तदयं च मुख्त्वं ।”

—प्रवचनसार पृ० ३८०

इन आर्षवाक्यों से यह स्पष्ट है कि निर्विकल्पसमाधिकाल में वीतरागचारित्र अर्थात् निश्चयचारित्र के साथ होनेवाला सम्यक्त्व ही वीतरागसम्यक्त्व अर्थात् निश्चयसम्यग्दर्शन है । वीतरागचारित्र के बिना निश्चय-सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता । चतुर्थ गुणस्थान में असंयतसम्यग्दृष्टि के संयम का ही अभाव है अतः उसके वीतराग-चारित्र सम्भव नहीं है । वीतरागचारित्र के बिना निश्चयसम्यक्त्व होता नहीं है अतः चतुर्थगुणस्थान में निश्चय-सम्यक्त्व नहीं होता । वही पर सराग-सर्विकल्परूप व्यवहारसम्यग्दर्शन होता है ।

—जै. ग. 23-9-71/VII/ रो. ला. पित्तल

असंयतावस्था में माया व निदान शल्य का सद्भाव संभव है

शंका—निःशल्य का अर्थ क्या सम्यग्दर्शन है ? क्या चतुर्थगुणस्थान में ही जीव निःशल्य हो जाता है ?

समाधान—शल्य तीन प्रकार के हैं—

“मायाशल्यं निदानशल्यं मिथ्यादर्शनशल्यमिति । माया निकृतिबंधचना । निदानं विषयभोगाकाङ्क्षा । मिथ्यादर्शनमतस्त्वभङ्गानम् । एतस्मात् त्रिविधाच्छल्यान्निक्रान्तो निःशल्यो व्रती इत्युच्यते” ॥७॥१८॥ स० सि० ।

अर्थ—मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्यादर्शनशल्य । माया, निकृति और बंधना अर्थात् ठगने की वृत्ति यह मायाशल्य है । भोगों की लालसा निदानशल्य है । मतत्त्वों का श्रद्धान मिथ्यादर्शनशल्य है । इन तीनों शल्यों से जो रहित है वह निःशल्य व्रती कहा जाता है ।

गो इंद्रियेसु विरदो, गो जीवे थावरे तसे वापि ।

जो सद्दृष्टि जिह्नुत्, सम्माइद्वी अविरदो सो ॥२९॥ गो० जी०

जो इन्द्रिय के विषयों से अर्थात् भोगों से तथा त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा से विरक्त नहीं है, अर्थात् पापों से विरक्त नहीं है, किन्तु जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित प्रवचन का श्रद्धान करता है वह अविरतसम्यग्दृष्टि है ।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि चतुर्थगुणस्थान में यद्यपि मिथ्याशल्य का अभाव है तथापि मायाशल्य व निदानशल्य का सद्भाव है, क्योंकि उसके विषय भोगों का तथा पाँच पापों का त्याग नहीं है ।

भाया, मिथ्या, निदान इन शक्तियों से रहित होने पर निःशक्त्य होता है अतः निःशक्त्य का अर्थ मात्र सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता है ।

पंचमगुणस्थान में ही जीव निःशक्त्य हो सकता है, उससे पूर्व निःशक्त्य नहीं हो सकता है ।

—जै. ग. 26-10-72/VII/ रो. ला. मित्तल

सम्यक्स्वी सर्वथा निर्भय नहीं होता

शंका—क्या सम्यग्दृष्टि सर्वथा निर्भय रहता है ? क्या सम्यग्दृष्टि के आहार, भय, मंथुन और परिग्रह संज्ञा नहीं होती है ?

समाधान—चतुर्थगुणस्थानवर्ती असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर आठवें अपूर्वकरणगुणस्थान तक भयप्रकृति का उदय रहता है अतः इन पाँच गुणस्थानों में सम्यग्दृष्टि को सर्वथा निर्भय नहीं कह सकते । तीव्र अनिच्छितिकरण गुणस्थान से भय संज्ञा नहीं रहती है अतः वहाँ पर सर्वथा निर्भय हो जाता है । कहा भी है—

“अपुत्रकरणस्त चरिभ समए भयस्त उदीरणोवय णट्टो तेण भयसण्णा णत्थि ।” धवस पु. २ पृ. ४३५

“अपूर्वकरणगुणस्थान के अन्तिमसमय में भय की उदीरणा व उदय नष्ट हो जाता है अतः अनिच्छितिकरण-गुणस्थान में भयसंज्ञा नहीं होती है ।

चौथे, पाँचवें, छठे इन तीन गुणस्थानों में सम्यग्दृष्टि के आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मंथुनसंज्ञा, परिग्रहसंज्ञा ये चारों संज्ञा होती हैं । सातवेंगुणस्थान से आहारसंज्ञा नहीं रहती और शेष तीनसंज्ञा भी उपचार से रहती हैं ।

णट्टपसाए पडमा, सण्णा णहि तत्थकारणाभावात् ।

सेसा कम्मस्थितेणुधयारेणत्थि णहि कउजे ॥१३९॥ गो० जी०

अर्थ—अप्रमत्तादि गुणस्थानों में आहारसंज्ञा नहीं होती, क्योंकि वहाँ पर उसका कारण असंज्ञावेदनीय का तीव्रउदय व उदीरणा नहीं पाई जाती । शेष तीन संज्ञा भी वहाँ पर उपचार से होती हैं, क्योंकि उनका कारण तत्तत्कर्मों का उदय वहाँ पर पाया जाता है फिर भी उनका वहाँ पर कार्य नहीं हुआ करता ।

—जै. ग. 1-1-70/VIII/ रो. ला. मित्तल

शंका—मिथ्यादृष्टि के भयप्रकृति का उदय था जब सम्यग्दृष्टि हुआ भयरहित हो गया, ऐसा आगम में कहा है । क्या मिथ्यादृष्टिकर्मोंवय से भय होता है ? सम्यग्दृष्टि के क्या भयप्रकृति का उदय नहीं होता ?

समाधान—चारित्र्यमोहनीयकर्म के दो भेद हैं । कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीय । नोकषायवेदनीय के नव भेद हैं हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, नपुंसकवेद, पुरुषवेद और स्त्रीवेद । इन नोकषाय में से आदि की छह नोकषाय, आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान के अन्त में उदय से व्युच्छिन्न होती हैं । श्री नेमिचन्द्र सिद्धागत-चक्रवर्ती ने गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा २६८ में कहा है—

“अपुत्रमिह छुचेव णोक्ताया ।”

अर्थ—आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान में हास्यादि छह नोकषाय उदयव्युच्छिन्न होती हैं ।

अतः मात्र सम्यक्त्व ही जाने से भयप्रकृति के उदय का प्रभाव नहीं हो जाता है, क्योंकि भयप्रकृति का उदय आठवेंगुणस्थान तक रहता है । अर्थात् आठवेंगुणस्थान तक सम्यग्दृष्टि के भयप्रकृति का उदय रहता है ।

—जं. ग. 27-1-70/VII/ कपूरचन्द मानचन्द

सम्यक्त्वो को भी चिन्ता होती है

शंका—क्या सम्यग्दृष्टि जीव चिन्तानुर या खेदखिन्न भी होता है ?

समाधान—सम्यग्दृष्टिजीव चौथे गुणस्थान से सिद्ध तक होते हैं । अविरतसम्यग्दृष्टि चारों गतियों के जीव होते हैं और उनके आर्त-रौद्रध्यान भी होते हैं (मोक्षशास्त्र, अध्याय ९, सूत्र ३४ व ३५) । अतः सांसारिक हानि के समय चिन्ता आदि हो सकती है । 'धर्म का प्रतिदिन ह्रास हो रहा है, धर्म का उत्थान किस प्रकार हो' ऐसी चिन्ता भी सम्यग्दृष्टि को हो सकती है । चिन्ता आदिक सम्यग्दर्शन के घातक नहीं हैं, किन्तु परद्रव्य में एकत्व बुद्धि तथा अन्यान्य व अभक्ष्य का सेवन, संयम के प्रति जुगुप्सा भाव; ये सम्यग्दर्शन के घातक हैं ।

—जं. ग. 26-9-63/IX/ ब्र. पञ्जालाल

ज्ञानी जीव के सीमित पदार्थों का उपभोग भी अरति भाव से होता है

शंका—समयसार निर्जरा अधिकार में आचार्य श्री कुन्वकुन्द ने कहा है कि जिसप्रकार कोई पुरुष अरति भाव से मद्य पीकर मतवाला नहीं होता उसीप्रकार द्रव्योपभोग विषय अरत-ज्ञानी-पुरुष नहीं बंधता यह कैसे सम्भव है ? क्योंकि मद्य की लत (व्यसन) जिसको पड़ गई है और अरति भाव से पीता है वह भले ही मत्त न हो, परन्तु अन्य सभी मत्त देखे जाते हैं ।

समाधान—जिस मनुष्य को मद्यपान का व्यसन है वह इतनी तेज व अधिक मद्य पीता है जिससे वह उन्मत्त हो जावे, क्योंकि वह उन्मत्त अवस्था को अच्छी समझता है इसलिये वह रतिभाव से तेज व अधिक मद्य का पान करता है । जब उसको यह बोध हो जाता है कि मद्यपान के कारण जो उन्मत्त अवस्था होती है वह बुरी है, दुःखरूप तथा निन्द्य है तो उसको मद्यपान से अरति हो जाती है, किन्तु पूर्व आदत (व्यसन) के कारण वह मद्यका सर्वथा त्याग करने में असमर्थ है अतः वह तेज मदिरा का तो त्याग कर देता है और अरतिभाव से इतनी हल्की तथा कम मदिरा का पान करता है जिससे वह उन्मत्त नहीं होता है । यदि वह पूर्ववत् तेज मदिरा का पान करता है तो उसके अरतिभाव ही नहीं है और वह उन्मत्त अवश्य होगा ।

अनादिकाल से यह अज्ञानी जीव परपदार्थों का रतिभाव से उपभोग कर रहा है, क्योंकि उसमें इसने सुख मान रखा है । जब इसको ज्ञान हो जाता है तो यह परपदार्थों का उपभोग करना नहीं चाहता, किन्तु सर्वथा त्याग करने में असमर्थ होने के कारण परिग्रह परिमाण तथा भोगोपभोग परिमाण करके अणुव्रत धारण करता है । अतः वह उन अल्प परपदार्थों का उपभोग अरतिभाव से करता है । यदि वह परिग्रह परिमाण आदि नहीं करता, पूर्ववत् उपभोग करता है तो वह ज्ञानी ही नहीं ।

—जं. ग. 15-1-70/VII/राजकिन्नोर

औदयिक पारिणामिक भावों में जीव को सम्यक्त्व रह सकता है

शंका—क्या औदयिक पारिणामिक भावों में जीव सम्यग्दृष्टि नहीं रहता ?

समाधान—औदयिक और पारिणामिक भावों में जीव सम्यग्दृष्टि हो सकता है। औदयिक और पारिणामिकभाव तो चौदहवें गुणस्थान तक रहते हैं।

अण्णयरवेयणीयं मण्णयाऊ मण्णयगई य बोहव्वा ।
 पंचिद्विय जाई वि य तस सुभगादेअज पज्जत्तं ॥४२॥
 वायरजसकित्ती वि य तित्थयरे उच्चोगाइयं चैय ।
 एए बारह पयडी उजोइम्हि उदयवोच्छिण्णा ॥४३॥

चौदहवें अयोगिकेवली गुणस्थान में कोई वेदनीय, मनुष्यायु मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, सुभग, आदेय, पर्याप्त, बादर, यशःकीर्ति, तीर्थंकर और उच्चगोत्र इन बारहप्रकृतियों का उदय रहता है जो अन्तिमसमय में उदय से व्युच्छिन्न होती है।

इन बारह कर्म-प्रकृतियों के उदय से चौदहवेंगुणस्थान में भी औदयिकभाव होता है। जैसे मनुष्यगति नामकर्म के उदय से गति औदयिकभाव होता है। चैतन्यरूप जीवत्व पारिणामिकभाव भी चौदहवेंगुणस्थान में होता है।

“चैतन्यमेव वा जीवशब्दार्थः ।” चैतन्यं जीवशब्देनाभिधीयते, तच्चानादि द्रव्यभयननिमित्तत्वात् पारिणामिकम् । रा० वा० २।७।६

क्षायिकसम्यग्दर्शन तो चौदहवेंगुणस्थान में होता ही है। इस प्रकार चौथेगुणस्थान से चौदहवेंगुणस्थान तक औदयिक व पारिणामिकभाव के साथ सम्यग्दर्शन पाया जाता है।

‘औदयिकक्षायिकपारिणामिकसाम्निपातिकजीवभावो नाम मनुष्यः क्षीणदर्शनमोहोजीवः ।’ रा.वा. २-७-२२

मनुष्यगति औदयिकभाव, क्षायिकसम्यग्दर्शन क्षायिकभाव, जीवत्व पारिणामिकभाव इसप्रकार औदयिक, क्षायिक और पारिणामिकभावों का सन्निकर्ष पाया जाता है।

जै. ग. 11-3-71/VII/मुलतानसिह

सम्यक्त्वो को व्यवहार सापेक्ष निश्चय का बोध होता है

शंका—क्या उत्कृष्ट श्रावक को निश्चय का बोध नहीं होता है ?

समाधान—सम्यग्दृष्टि को निश्चयनय और व्यवहारनय इन दोनों नयों का परस्पर सापेक्षरूप से बोध होता है। इन दोनों में से मात्र किसी एक नय का बोध होवे और दूसरे नय का सापेक्षरूप से बोध न होवे तो वह मिथ्यादृष्टि है।

मिच्छादिद्वी सखे विणया सपक्ख-पडिबद्धा ।
 अणोण्णणिस्सिया उणसहंति सम्मत्तसव्भावं ॥१०२॥

[कवायपाहुड पु० १ पृ० २४९]

मात्र अपने अपने पक्ष से प्रतिबद्ध ये सभी नय मिथ्यादृष्टि हैं । परन्तु यदि ये सभी नय परस्पर सापेक्ष हों तो समीचीनपने को प्राप्त होते हैं, अर्थात् सम्यग्दृष्टि होते हैं ।

जह जिगमयं पथज्जइ तो मा व्यवहारणिच्छए मुयह ।
एक्केण विणा छिज्जइ तिस्यं अणणेण पुण तच्चं ॥

आचार्य कहते हैं—हे भव्य जीवो ! जो तुम जिनमत को प्रवर्तना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयों को मत छोड़ो, क्योंकि व्यवहारनय के बिना तो तीर्थ (मोक्षमार्ग) का नाश हो जायगा और निश्चयनय के बिना तत्त्व (वस्तुस्वरूप) का नाश हो जायगा ।

निश्चयनय का विषय सामान्य-अभेद है और व्यवहारनय का विषय विशेष-पर्यायभेद है । वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है तथा भेदाभेद स्वरूप है । इन दोनों में से किसी भी एक नय के विषय को ग्रहण कर दूसरे नय के विषय का निषेध किया जाना ठीक नहीं होगा । प्रयोजनवश किसी एक नय के विषय को मुख्य और दूसरे नय के विषय को गौण किया जा सकता है । कहा भी है—

“अनेकान्तात्मकवस्तुनः प्रयोजनवशाद्यस्य कस्यचिद्धर्मस्य विवक्षया प्राप्ति प्राधान्यमपितमुपनीतमिति यावत् । तद्विपरीतमनपितम् । प्रयोजनाभावात् सतोऽप्यविवक्षा भवतीत्युपसर्जनीभूतमनपितमित्युच्यते । अपितं चानपितं चापितानपिते । ताभ्यां सिद्धेरपिता-नपितसिद्धेर्नास्ति विरोधः ।” सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सू० ३२ ।

—वस्तु अनेकान्तात्मक है । प्रयोजनवश किसी एक धर्म की विवक्षा से जब प्रधानता प्राप्त होती है, तो वह अपित या उपनीत होता है । प्रयोजन के अभाव में जिस धर्म की प्रधानता नहीं होती वह अनपित होता है । किसी धर्म को रहते हुए भी उसकी विवक्षा नहीं होने से वह गौण या अनपित हो जाता है । अपित और अनपित के द्वारा वस्तु में परस्पर विरोधी दो धर्मों की सिद्धि होती है, इसलिये निश्चयनय और व्यवहारनय परस्पर सापेक्ष हैं; इसमें कोई विरोध नहीं है ।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने निश्चय और व्यवहार के भेद से मोक्षमार्ग दो प्रकार का कहा है—

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः ।
तत्राद्यः साध्यरूपः, स्याद्द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥२॥

निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा मोक्षमार्ग दो प्रकार का है । उनमें पहला निश्चय मोक्षमार्ग साध्यरूप है और दूसरा व्यवहार मोक्षमार्ग उसका (निश्चय का) साधन है ।”

“न केवल भूतार्थोनिश्चयनयो निर्विकल्प समाधिरतानां प्रयोजनवान्भवति, किन्तु निर्विकल्पसमाधिरहितानांपुनःषोडशवर्णकामुवर्णलाभाभावे अद्यस्तनवर्णकामुवर्णलाभवत् केषांचित्प्राथमिकानां कदाचित् सविकल्पावस्थायां मिथ्यात्वविषयकषायदुष्ट्यानिबन्धनार्थं व्यवहारनयोपि प्रयोजनवान् भवति ।”

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि मात्र निश्चय ही प्रयोजनवान् नहीं है । निर्विकल्पसमाधि में स्थित मुनियों के लिये निश्चय प्रयोजनवान् है, किन्तु निर्विकल्प समाधि से रहित सविकल्प अवस्था में व्यवहार प्रयोजनवान् है ।

—जैन. ग. 1-5-75/VII/ रो. ला. मित्तल

“द्रव्यदृष्टि सो सम्यग्दृष्टि तथा पर्यायदृष्टि सो मिथ्यादृष्टि” ; यह मान्यता गलत है

शंका— द्रव्यदृष्टि सो सम्यग्दृष्टि, पर्यायदृष्टि सो मिथ्यादृष्टि । क्या यह सिद्धान्त ठीक है ?

समाधान— वास्तव में सभी वस्तु के सामान्य-विशेषात्मक होने से वस्तु के स्वरूप को देखनेवाले के क्रमशः सामान्य और विशेष को जाननेवाली दो श्रृंखलें (१) द्रव्याधिकनय और (२) पर्यायाधिकनय हैं। इनमें से पर्यायाधिक-चक्षु को सर्वथा बन्द करके, जब मात्र खुली हुई द्रव्याधिकचक्षु के द्वारा देखा जाता है, तब नारकत्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्वपर्यायस्वरूप विशेषों में रहने वाले एक जीव सामान्य को देखनेवाले जीव के वह सब जीवद्रव्य है ऐसा भासित होता है। जब, द्रव्याधिकचक्षु को सर्वथा बन्द करके, मात्र खुली हुई पर्यायाधिकचक्षु के द्वारा देखा जाता है उस समय जीव द्रव्य में रहनेवाले नारकत्व, तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्वपर्यायरूप अनेक विशेषों को देखने वाले और सामान्य को न देखने वाले जीवों के अन्वय अन्वय भासित होने हैं—क्योंकि द्रव्य का उन विशेषों के समय-समय में उन-उन विशेषों से तन्मय होने से अतन्मयपना है, कण्डे, घास पत्ते और काष्ठमय अग्नि की भाँति। जब उन द्रव्याधिक और पर्यायाधिक दोनों अर्खों को एक ही काल में खोलकर देखा जाता है तब नारकत्व, तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्वपर्यायों में रहने वाला जीव सामान्य तथा जीव सामान्य में रहने वाले नारकत्व, तिर्यंचत्व देवत्व और सिद्धत्वपर्यायस्वरूप विशेष एक ही काल में दिखाई देते हैं। दोनों अर्खों से देखना अर्थात् सर्वावलोकन में द्रव्य में सामान्य और विशेष विरोध को प्राप्त नहीं होते हैं। प्रवचनसार ग. ११४ टीका

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि प्रत्येक द्रव्य सामान्य-विशेषात्मक होता है। द्रव्याधिकनय का विषय सामान्य है और पर्यायाधिकनय का विषय विशेष है। जब सामान्य पर दृष्टि होती है उस समय विशेष गौण होता है, किन्तु विशेष का निषेध नहीं होता है। जिस समय विशेष पर दृष्टि होती है उस समय सामान्य गौण होता है, क्योंकि विशेष के बिना सामान्य खरविषाणवत् है और सामान्य के बिना विशेष खरविषाणवत् है। आलापपद्धति^१

जो मात्र द्रव्याधिकनय को ही मानते हैं वे भी मिथ्यादृष्टि हैं और जो मात्र पर्यायाधिकनय को ही मानते हैं वे भी मिथ्यादृष्टि हैं। क्योंकि द्रव्याधिकनय से वस्तु नित्य है और पर्यायाधिकनय से वस्तु अनित्य है।

‘द्रव्याधिकनयेन नित्यत्वेऽपि पर्यायरूपेण विनाशोऽस्तीति ।’ प्रवचनसार गाथा ११९ टीका

द्रव्य को सर्वथा नित्य मानने पर अर्थक्रियाकारित्व का अभाव हो जायगा, जिसके अभाव में वस्तु का भी अभाव हो जायगा। सर्वथा अनित्य मानने पर भी अर्थक्रियाकारित्व का अभाव हो जायगा, जिसके अभाव में द्रव्य का भी अभाव हो जायगा। आलापपद्धति^२

केवली भगवान की वाणी में भी दोनों नयों के आधीन उपदेश होता है, एक नय के आधीन उपदेश नहीं होता है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा भी है—

“द्वौ हि नयो भगवता प्रणीतौ द्रव्याधिकः पर्यायाधिकश्च । तत्र न खल्वेकनयायत्ता देशना किन्तु तदुभयायत्ता ।” पं० का० गाथा ४ टीका

१ निविशेषं हि सामान्यं भवेत्खरविषाणवत् ।

सामान्यरहितस्याच्च विशेषस्तद्वदेव हि ॥

२ नित्यस्यैकरूपत्वादेकरूपस्यार्थक्रियाकारित्वाभावः ।

अर्थक्रियाकारित्वाभावे द्रव्यस्याप्यभावः ॥१२९॥ [आ० प०]

अर्थ—भगवान ने दो नय कहे हैं—द्रव्याधिक और पर्यायाधिक । दिव्यद्वनि में कथन एक नय के प्राचीन नहीं होता है, किन्तु दोनों नयों के प्राचीन होता है ।

द्रव्याधिकनय को निश्चयनय भी कहते हैं, क्योंकि द्रव्याधिक और निश्चयनय इन दोनों का विषय द्रव्य अर्थात् सामान्य है । पर्यायाधिकनय को व्यवहारनय भी कहते हैं, क्योंकि दोनों का विषय पर्याय अथवा विशेष है । कहा भी है—

निश्चयव्यवहारणया मूलभेदा णयाण सव्वाणं ।

निश्चय साहज्येभो दस्यपञ्जस्थिया मुणह ॥ ४ ॥ आलापपद्धति ।

सब नयों के मूल भेद निश्चयनय और व्यवहारनय हैं । निश्चयनय द्रव्याधिक है । साधनरूप व्यवहारनय पर्यायाधिकनय है ।

जो मात्र निश्चयनय अर्थात् द्रव्याधिकनय को ही स्वीकार करते हैं और व्यवहारनय अर्थात् पर्यायाधिकनय के विषय को स्वीकार नहीं करते हैं । उनको श्री कुम्भकुन्दाचार्य ने पर्यायविमूढ़ परसमय कहा है ।

“पञ्जयमूढा हि परसमया—नारकादिपर्यायरूपो न भवाम्यहमिति भेदविज्ञानमूढाश्च परसमया मिथ्यादृष्टयो भवन्तीति । तस्मादियं पारमेश्वरी द्रव्यगुणपर्यायव्याख्या समीचीना भद्रा भवतीत्यभिप्रायः ।”

प्रवचनसार गाथा ९३ टीका

पर्यायमूढ़ जीव परसमय है—मैं नारकादि पर्यायरूप नहीं हूँ इस प्रकार जो भेदविज्ञान मूढ़ हैं वे परसमय मिथ्यादृष्टि हैं । इसलिये यही जिनेन्द्र परमेश्वर की करी हुई द्रव्य-गुण-पर्याय की समीचीन व्याख्या कल्याणकारी है ।

निययध्वयिणजसच्छा सव्वणया परबियालणे मोहा ।

ते उण ण विट्ठसमओ विमयइ सच्चे व अलीए वा ॥११७॥ ज. घ. ११२३

ये सभी नय अपने-अपने विषय का कथन करने में समीचीन हैं और दूसरे नयों के निराकरण में मूढ़ हैं । अनेकान्तरूप समय के ज्ञाता पुरुष ‘यह नय सच्चा है और यह नय झूठा है’ इसप्रकार का विभाग नहीं करते हैं ।

जयधवल पु० १ पृ० २५७

जब कोई भी नय झूठा नहीं है तो प्रत्येक नय से वस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है । वस्तु का यथार्थ ज्ञान मोक्ष का कारण है । कहा भी है—

“प्रमाणविक नयवाक्याद्वस्त्ववगमवस्तोक्य ‘प्रमाणनयैर्वस्त्वधिगमः’ इति इतिपादितत्वात् । किमर्थं नय उच्यते ? स एष याथात्म्योपलब्धिनिमित्तत्वाद् भावानां श्रेयोऽपदेशः ।”

(जयधवल पु० १ पृ० २०९ व २११; नया संस्करण पृ० १९१-९२)

जिसप्रकार प्रमाण से वस्तु का बोध होता है उसी प्रकार नय वाक्य से भी वस्तु का ज्ञान होता है । यह देखकर तत्त्वार्थसूत्र में ‘प्रमाण व नय से वस्तु का ज्ञान होता है’ ऐसा कहा गया है । पदार्थों का जैसा स्वरूप है उस रूप से उनके ग्रहण करने में नय निमित्त होने से मोक्ष का कारण है । वस्तु के ग्रहण करने में पर्यायाधिक अथवा व्यवहारनय भी कारण है अतः वह भी मोक्ष का कारण है ।

—जं. ग. 6-5-71/VII/ सुलतानसिंह

सम्यक्त्वो व मिथ्यात्वो के परिणामों में अन्तर

शंका—नवग्रंथेयक में ब्रह्मलिंगी और भावलिंगी दोनों प्रकार के मुनि जाते हैं। वहाँ पर उन दोनों के भावों में क्या अन्तर रहता है ?

समाधान—नवग्रंथेयक तक सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि दोनों प्रकार के देव होते हैं। मिथ्यादृष्टि देव के मिथ्यास्वरूप भाव होते हैं अर्थात् अतत्त्व श्रद्धान होता है। सम्यग्दृष्टि देव को तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान होता है।

जिनको अनेकान्त का यथार्थ श्रद्धान नहीं है अर्थात् एक ही वस्तु में परस्पर दो विरोधी धर्मों को स्वीकार नहीं करते वे मिथ्यादृष्टि हैं जो वस्तु को भेद-अभेदरूप, नित्य-अनित्यरूप इत्यादिक अनेकान्तरूप स्वीकार नहीं करते वे मिथ्यादृष्टि हैं।

इसी प्रकार जो “सर्वपयस्था सपण्डिवक्त्रा” अर्थात् सब पदार्थ प्रतिपक्षसहित हैं इस सिद्धान्त की श्रद्धा नहीं करता, वह मिथ्यादृष्टि है। जैसे यदि जीव पदार्थ है तो उसका प्रतिपक्षी अजीव पदार्थ भी अवश्य है। यदि भव्य-जीव है, तो अभव्यजीव भी होता चाहिये। यदि मुक्त जीव है तो संसारी जीव भी अवश्य होना चाहिये। एक के अभाव में दूसरे का अभाव अवश्यभावी है। इसी प्रकार यदि नियतपर्याय है तो अनियतपर्याय अवश्य है। एक के प्रभाव में दूसरे का प्रभाव हो जायगा। ऐसा ही जितेन्द्रदेव ने कहा है।

‘जिन्होंने अतीत काल में कदाचित् भी त्रस परिणाम नहीं प्राप्त किया है, वैसे अनन्त जीव नियम से हैं, अन्यथा संसार में भव्य जीवों का अभाव होता है। और अभव्यों का अभाव होने पर अभव्य जीवों का अभाव प्राप्त होता है। और वह भी है नहीं, क्योंकि उनका अभाव होने पर संसारी जीवों का भी अभाव प्राप्त होता है। और यह भी नहीं संसारी जीवों का प्रभाव होने पर असंसारी (मुक्त) जीवों के अभाव का प्रसंग आता है। संसारी जीवों का अभाव होने पर असंसारी जीव भी नहीं हो सकते, क्योंकि सब पदार्थों की उपलब्धि सप्रतिपक्ष होती है। इस सिद्धान्त की हानि हो जायगी’ सर्वस सपण्डिवक्त्रस्स उवल्लंघणहाणुववत्तीवो। (धवल पु० १४ पृ० २३४)

इस प्रकार मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि देवों के परिणामों में बहुत अन्तर होता है।

—जं. ग. 4-9-69/VII/ रोहतक समाज

व्यवहार क्रियाएँ भेदविज्ञान की कथंचित् कारण हैं

शंका—क्या व्यवहारक्रिया भेदविज्ञान का कारण है, यदि है तो कैसे ?

समाधान—मिथ्यात्व कर्मोदय के कारण जीव को भेदविज्ञान नहीं हो सकता है। व्यवहारक्रिया से मिथ्यात्वकर्म का क्षय होता है अतः जिनबिम्ब दर्शन आदि व्यवहारक्रिया भेदविज्ञान का कारण है। कहा भी है—

“कथं जिणंबिबवंसणं पठमसम्मत्तुप्पत्तीए कारणं ? जिणंबिबवंसणेण णिघलणिकाच्चिदस्स वि मिषल्लतावि-
कम्मकलावस्सं खयवंसणावो।” धवल पु० ६ पृ० ४२७

जिनबिम्ब का दर्शन प्रथमसम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण किस प्रकार होता है ? जिनबिम्ब के दर्शन से निघत्त और निकाचितरूप भी मिथ्यात्वादि कर्मकलाप का क्षय देखा जाता है, जिससे जिनबिम्ब का दर्शन प्रथम-सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण है।

—जं. ग. 23-1-69/VII/ रोग्नलाल

छह द्रव्य व नौ पदार्थों का जानना हेय नहीं है

शंका—क्या छहद्रव्य नवपदार्थों का जानना हेय है ? यदि नहीं तो व्यवहार को हेय क्यों कहा गया है ? व्यवहार का विषय जो छहद्रव्य या नवपदार्थ क्या इनका अस्तित्व नहीं है ?

समाधान—छहद्रव्य नवपदार्थ और सप्ततत्त्वों का जानना हेय नहीं है, अपितु उपादेय है, क्योंकि इनका जानना तथा श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान है तथा ये मोक्ष के मूल हैं। श्री कुन्दकुन्वाचार्य तथा टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पंचास्तिकाय में कहा है—

सम्मत्तं सदृहणं भावाणं तेषामधिगमो णाणं ।
धारित्तं समभावो विसयेसु विरुद्धमग्गाणं ॥१०७॥

टीका—भावा खलु कालकलित पंचास्तिकायविकल्परूप नवपदार्थः । तेषां मिथ्यादर्शनोदयापाविताश्रद्धाना-
भावस्वभावं भावांतरं श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं, शुद्ध चैतन्यरूपात्मतत्त्वविनिश्चयबीजम् । तेषामिव मिथ्यादर्शनोदयान-
संस्कारादिस्वरूपविपर्ययेणाध्यवसीयमानानां तन्निवृत्तौ समञ्जसाध्यवसायः सम्यग्ज्ञानं, भनाग्ज्ञानचेतनाप्रधानात्म-
तत्त्वोपलम्बीजम् ।

कालसहित पंचास्तिकाय अर्थात् छहद्रव्य और उनके भेदरूप नवपदार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है उनका अवबोध अर्थात् जानना सम्यग्ज्ञान है ।

“धर्मादीसदृहणं सम्मत्तं” (गाथा १६०)

टीका—धर्मादीनां द्रव्यपदार्थविकल्पवतां तत्त्वार्थश्रद्धानभावस्वभावं भावान्तरं श्रद्धानाल्पं सम्यक्त्वं ।

अर्थात्—धर्मादि छहद्रव्य, जीवादि नवपदार्थों का श्रद्धानरूप भाव सम्यग्दर्शन है ।

जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेषि ।
संवरणिज्जरबंधो मोक्खो य हवंति ते अट्टा ॥१०८॥

जीव-अजीव ये दो मूल पदार्थ हैं तथा इन दो के भेद पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नवपदार्थ हैं जिनके श्रद्धान व ज्ञान से सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान होता है । इसी बात को तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥२॥ जीवाजीवास्त्रवबन्ध-संवर-निर्जराभोक्षास्तत्त्वम् ॥४॥

अर्थ—तत्त्वार्थ का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है । जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये तत्त्व हैं ।

वैकाल्यं द्रव्यषट्कानवपद सहितं जीव षट्कायलेश्याः,
पंचान्ये चास्तिकाया व्रतसमितिगतिज्ञानधारित्र भेदाः ।
इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवनमहितं प्रोक्तमहं चिररीशः,
प्रत्येति श्रद्धाति स्पृशति च मतिमान् यः स वं शुद्धदृष्टिः ॥१॥

इस श्लोक में यह बतलाया गया है कि छहद्रव्य, नवपदार्थ पंचास्तिकाय ये मोक्ष के मूल हैं ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है । जो मतिमान् इनकी श्रद्धा करता है वही सम्यग्दृष्टि है ।

खरविषाणइव इन छहद्रव्य नवपदार्थ का अस्तित्व न हो ऐसी बात नहीं है, यदि इनका अस्तित्व न होता तो जिनेन्द्र भगवान इनका उपदेश क्यों करते और इनके श्रद्धान व ज्ञानको सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान क्यों कहते ? जिनेन्द्र भगवान ने छहद्रव्य व नवपदार्थ का कथन किया है, अतः व्यवहारनय का विषयभूत होते हुए भी इनका अस्तित्व है ।

“व्यवहारनयेन भिन्नसाध्यसाधनभावमवलम्ब्यानादिभेदवासितबुद्धयः सुखेनावतरन्ति तीर्थं प्राथमिकाः ।”

—पंचास्तिकाय गाथा १७२ टीका

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है — अनादिकाल से भेदवासित बुद्धि होने के कारण प्राथमिकजीव व्यवहारनय से भिन्न साध्य-साधन भाव का अवलम्बन लेकर सुगमता से मोक्षमार्ग में अवतरण करते हैं ।

‘व्यवहारणयं पशुश्च पुण गोदमसामिणा क्षत्रुवीसहमणिद्योगद्वाराणमावीए मंगलं कर्त्तं । ण च व्यवहारणओ चप्पलओ; ततो व्यवहाराणुसारिसिस्साण पउत्तिदंसणाओ । जो बहुजीवाणुणहकारो व्यवहारणओ सो चेव समस्सि-दव्वो त्ति मशेणावहारिय गोदमथेरेण मंगलं तस्य कयं ।’ (जयघवल पु० १ पृ० ८)

अर्थ—गौतमस्वामी ने व्यवहारनय का आश्रय लेकर कृति आदि चौबीस अनुयोगद्वारों के आदि में ‘णमो जिणाणं’ इत्यादिरूप से मंगल किया है । यदि कहा जाय व्यवहारनय असत्य है, सो भी बात नहीं है, क्योंकि उससे व्यवहार का अनुसरण करने वाले शिष्यों की प्रवृत्ति देखी जाती है । अतः जो व्यवहारनय बहुत जीवों का अनुग्रह करने वाला है, उसी का आश्रय करना चाहिए ऐसा मन में निश्चय करके गौतम स्थविर ने चौबीस अनुयोगद्वारों के आदि में मंगल किया ।

—जं. ग. 4-3-71/V/ सुलतानसिंह

सम्यक्त्व की पहिचान दुःसम्भव

शंका—सम्यग्दर्शन हुआ या नहीं ? अथवा प्रायोग्यलब्धि हुई या नहीं ? कौम जान सकता है ?

समाधान—वास्तव में, सम्यग्दर्शन अत्यन्त सूक्ष्म है जो या तो केवलज्ञान का विषय है या प्रवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान का । यह मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन दोनों का किंचित् भी विषय नहीं है, साथ ही यह देशावधि ज्ञान का भी विषय नहीं है, क्योंकि इन ज्ञानों के द्वारा सम्यग्दर्शन की उपलब्धि नहीं होती ।

दर्शनमोहनीयकर्म की तीन प्रकृति और चार अनन्तानुबन्धी इन सात कर्म प्रकृतियों के उपशम या क्षयोपशम होने पर सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है । पौद्गलिक कर्म सूक्ष्म है जो पाँच इन्द्रियों व मन का विषय नहीं है । अतः सम्यग्दर्शन मति या श्रुतज्ञान के द्वारा नहीं जाना जा सकता, किन्तु बाह्य चिह्नों से कुछ अनुमान किया जा सकता है । यह अनुमान यथार्थ है, ऐसा दृढ़ निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता ।

—जं. ग. 28-12-61

सम्यक्त्व की साधना

शंका—हमारे चारित्रमोहनीय कर्म का उद्ध्य है, सो हम चारित्र धारण नहीं कर सकते, ऐसा कहने वाले पुरुषार्थ से श्रावक के उत धारण करने का भाव क्यों नहीं करते ? ऐसा कहने वाले क्या प्रमादी नहीं हैं ?

समाधान—जिस जीव के संयम धारण करने की चटापटी अर्थात् निरन्तर वाञ्छा बनी रहती है, किन्तु बाह्य व अन्तरंग कारणों से संयमधारण करने में असमर्थ है फिर भी इस प्रतीक्षा में रहता है कि कब वह अवसर आये कि संयम धारण कर सकूँ और यथाशक्ति व्रत-नियमों को धारण करता रहता है, ऐसे जीव के चारित्रमोह का उदय कहा जा सकता है। जो जीव व्रत-नियम आदि को मात्र पुण्यबन्ध का कारण जान संयम से उपेक्षाबुद्धि रखता है ऐसा जीव प्रमादी तो है ही किन्तु सम्यग्दृष्टि भी नहीं है। ऐसा जीव ही चारित्रमोह का उदय कहकर अपना दोष कर्मों के ऊपर थोपना चाहता है।

—जै. ग. 28-12-61

अधुना निर्दोष सम्यक्त्वियों की दुर्लभता

शंका—क्या पंचमकाल में जो समय अब बीत रहा है उस काल में सम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्दर्शन के आठ अंग को पूर्ण धारण कर सकता है या नहीं ?

समाधान—भरतक्षेत्र में आजकल उपशम व क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि बिरले होते हैं (ज्ञानार्णव)। उनमें से निर्दोष सम्यक्त्व को धारण करने वाले कोई एक या दो जीव संभव हैं। क्षायिकसम्यग्दर्शन तो भरतक्षेत्र में पंचमकाल में उत्पन्न होनेवाले जीवों के संभव ही नहीं (धवल पु० ६) भरतक्षेत्र में आजकल पंचम काल में आठ अंग को पूर्ण धारण करने वाले सम्यग्दृष्टियों का सर्वथा निषेध नहीं किया जा सकता, परन्तु दुर्लभ हैं।^१

—जै. ग. 21-3-63/IX/ जिनेन्द्रदास

अंगहीन सम्यक्त्व, सातिचार सम्यक्त्व है

शंका—क्या अङ्गहीन सम्यग्दर्शन सम्भव है ? यदि है तो किस प्रकार ?

समाधान—सम्यग्दर्शन के आठ अंग होते हैं। उन आठ अंगों में से किसी एक अंग की हानि के कारण सम्यग्दर्शन सातिचार हो जाता है। वह सातिचार सम्यग्दर्शन 'अंगहीन सम्यग्दर्शन' कहलाता है।

“णिसंका णिकंखा, णिव्विदिगिच्छा अमूढद्विट्ठो य ।

उपगूहण ठिवियरणं वच्छल्ल, पहावणा चेवा ॥४८॥” ख० भा०

निःशंका, निःकांक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना, सम्यक्त्व के ८ अंग हैं।

“तस्या अष्टावङ्गानि, निःशङ्कितत्व, निःकाङ्क्षिता, विचिकित्साविरहता, अमूढदृष्टिता, उपवृहणं, स्थितिकरणं, वात्सल्यं, प्रभावनं चेति । सर्वार्थसिद्धि अ. ६ सूत्र २४

सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं :—निःशंकितत्व, निःकांक्षिता निर्विचिकित्सितत्व, अमूढदृष्टिता, उपवृहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ।

१. स्मरण रहे कि भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में कभी सबके सब मिथ्यावादी जीव ही मिले, एक भी अग्रणी सम्यक्त्वयी या अती सम्यक्त्वयी न मिले; यह भी सम्भव है। कहा भी है—पण पण अण्णा खंडे भरहेदावदमि मिच्छगुण-दृठाणं, अवटे । [ति. प. ४।२६३५]—सं०

“शङ्काकाङ्क्षा विचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः ।” ॥७।२३॥ तत्त्वार्थ सूत्र

“निःशङ्कित्वाद्यो व्याख्याता दर्शनविशुद्धिरित्यत्र । तत्प्रतिपक्षशङ्काद्यो वेदितव्याः । स्वान्तं सम्यग्दर्शनमष्टाङ्ग निःशंकितत्वादि लक्षणमुक्तम् । तस्याऽतिचारैरपि तावद्भूरेव भवितव्यमित्यष्टादतिचारा निर्दोषत्वा इति । तत्रैवान्तर्भावान् ।

सम्यग्दर्शन के शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा, अन्यदृष्टिसंस्तवन ये पाँच अतिचार हैं । सम्यग्दर्शन के निःशंकित्वादि आठ अंग कहे थे, उनके प्रतिपक्षभूत शंका आदि सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं । सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं, अतः उनके प्रतिपक्षभूत आठ अतिचार होते हैं जिनका अन्तर्भाव इन पाँच अतिचारों में हो जाता है । आठ अंगों में से किसी अंग की हीनता व सम्यग्दर्शन का अतिचार है और जो सम्यग्दर्शन अतिचारसहित है वह सम्यग्दर्शन अंगहीन सम्यग्दर्शन कहलाता है ।

—जें. ग. 23-3-78/VII/ र. ला. जैन, एम. कॉम

सम्यग्दर्शन के २५ दोष

शंका—सम्यग्दर्शन के २५ दोषों का वर्णन किस आर्ष ग्रंथ में है ? छहडाला में छह अनाय-तन और तीन मूढता का कथन है, ये कौन सी हैं ?

समाधान—चारित्रप्राप्तुत गाथा ५ की टीका में श्री श्रुतसागरसूरि ने सम्यग्दर्शन के २५ दोषों का कथन करने के लिए निम्न श्लोक उद्धृत किया है—

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट् ।
अष्टौ शङ्कावयश्चेति द्वादशोऽपि पञ्चविंशतिः ॥

तीन मूढता, आठ मद, छह अनायतन और शङ्का आदि आठ दोष ये सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष हैं ।

यह श्लोक स्वामिकातिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३२६ की टीका में तथा ज्ञानार्णव व आत्मानुशासन में भी उद्धृत हुआ है । लोकमूढता, देवमूढता और गुरुमूढता का स्वरूप इस प्रकार है—

आयनासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम् ।
गिरिपातोऽग्निपातरश्च लोकमूढं निगद्यते ॥२२॥
वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः ।
देवता बहुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥२३॥
सप्रन्यारम्भहिसानं संसारावर्तवतिनाम् ।
पाषण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाषण्डिमोहनम् ॥२४॥ रत्नकरण्ड भावकाचार

अर्थ—धर्म समझकर गंगा आदि नदियों तथा समुद्र में नहाना, बाखू और पत्थरों का ढेर करना, पहाड़ से गिरना और अग्नि में जलना आदि काम करना लोकमूढता कही जाती है ॥२२॥ धन आदि चाहने वाला मनुष्य वर पाने की इच्छा से जो राग द्वेष से मलिन देवताओं को पूजता है वह देवमूढता है ॥२३॥ परिग्रह आरम्भ और हिंसा सहित संसार रूप बंधर में रहने वाले पाषण्डी साधुओं का आदर सरकार करना गुरु मूढता है ।

ज्ञानं पूजां कुलं जाति बलमृद्धि तपो वपुः ।

अष्टावाभिरथ मान्दित्थं स्मयमाहुर्गतस्मयः ॥२५॥ (र.क.)

अर्थ—ज्ञान का मद, पूजा का मद कुल का मद, जाति का मद, बल का मद, धन सम्पत्ति का मद, तप का मद और शरीर का मद अर्थात् ज्ञान आदि इन आठ को आश्रय करके मान करने को मद कहते हैं ।

कुदेवगुरुशास्त्राणां तद्भूक्तानां गृहे गतिः ।
षडनायतनमित्येवं वदन्ति विद्वितागमाः ॥

अर्थ— कुगुरु कुदेव और कुशास्त्र और उनके भक्तों के स्थान पर जाना इन छहों को आगम के ज्ञाता पुरुष छह अनायतन कहते हैं ।

कुदेवस्तस्यभक्तश्च कुज्ञानं तस्य पाठकः ।
कुलिङ्गी सेवकस्तस्य लोकोऽनायतनानिषद् ॥

अर्थ— १ कुदेव २ कुदेव के भक्त ३. कुशास्त्र ४ कुशास्त्र के बाँचने वाले मनुष्य, ५. कुगुरु, ६. कुगुरु के सेवक ये छह अनायतन हैं ।

‘ प्रभाचन्द्रस्त्वेवं वदति मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि त्रीणि त्रयश्च तद्वन्तः पुरुषाः षडनायतानि । अथवा असर्वज्ञः, असर्वज्ञायतनं, असर्वज्ञज्ञानसमवेतपुरुषः, असर्वज्ञानुष्ठानं, असर्वज्ञानुष्ठानसमवेत पुरुषश्चेति ।’ ॥६॥

श्री प्रभाचन्द्र आचार्य ने छह अनायतन इस प्रकार कहे हैं—

१. मिथ्यादर्शन, २. मिथ्याज्ञान, ३. मिथ्याचारित्र, ४. मिथ्यादर्शन का धारक पुरुष, ५. मिथ्याज्ञान का धारक पुरुष, ६. मिथ्याचारित्र का धारक पुरुष । अथवा १. असर्वज्ञ, २. असर्वज्ञ का आयतन, ३. असर्वज्ञ का ज्ञान, ४. असर्वज्ञ के ज्ञान से युक्त पुरुष, ५. असर्वज्ञ का अनुष्ठान, ६. असर्वज्ञ के अनुष्ठान से सहित पुरुष ये छह अनायतन हैं ।

‘शंकाकांक्षाविचिकित्सामूढदृष्टिः अनुपगूहनं अस्थितिकरणं अवात्सल्यं अप्रभावना चेति अष्टौ शंकादयः ।’
—चारित्र पाहुड गा० ६ टीका

शंकादिक आठ दोष निम्न प्रकार हैं—१. शंका, २. कांक्षा, ३. विचिकित्सा, ४. मूढदृष्टि, ५. अनुपगूहन, ६. अस्थितिकरण, ७. अवात्सल्य, ८. अप्रभावना । इनसे विपरीत सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं ।

निस्संक्रिय निवर्कस्त्रिय निविविगिच्छा अमूढविद्वी य ।

उपगूहनं ठिबिकरणं वच्छल्लल पहावणाय ते अट्ट ॥७॥ चारित्र पाहुड

१. निःसंक्रिय, २. निःकांक्षित, ३. निविविचिकित्सा, ४. अमूढ-दृष्टि, ५. उपगूहन, ६. स्थितिकरण, ७. वात्सल्य, ८. प्रभावना ये सम्यक्त्व के आठ अंग हैं ।

—जै. ग. 24-12-70/VII/द. ला. जैन



सम्यग्ज्ञान

ज्ञान व सम्यग्ज्ञान में हेतु

शंका—सम्यग्ज्ञान होने में अनन्तानुबन्धी कारण है या ज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम कारण है ?

समाधान—सात तत्त्वों के स्वरूप को समझ सके तथा जीव, अजीव आदि द्रव्यों को जान सके ऐसे ज्ञानकी प्राप्ति तो ज्ञानावरणकर्म के तथा वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम के अधीन है, किन्तु उस ज्ञानका सम्यक्त्व या मिथ्यात्व विशेषण, मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी के अनुदय व उदय के अधीन है ।

मिथ्यात्व व सम्यग्मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी चतुष्क का अनुदय होने के कारण सम्यग्दर्शन हो जाने से उस ज्ञानकी सम्यग्ज्ञान संज्ञा हो जाती है । यदि मिथ्यात्व या अनन्तानुबन्धी का उदय है तो उस ज्ञानकी मिथ्याज्ञान संज्ञा हो जाती है । छहहड़ाला का पाठी भी इस बात को जानता है, क्योंकि छहहड़ाला में कहा है—

सम्यक्साधं ज्ञान होय पे भिन्न अराधो ।
लक्षण भद्रा ज्ञान बुद्धमें भेद अबाधो ॥
सम्यक् कारण ज्ञान ज्ञान कारज है सोई ।
युगपत् होतें हूं प्रकाश दीपकतें होइ ॥

—जै. ग. 9-4-70/VI/ टो. ला. मित्तल

गुणस्थानों में चेतना

शंका—प्रवचनसर गाथा १२३-१२४, पंचास्तिकाय गाथा ३८-३९ तथा ब्रह्मसंग्रह की गाथा १५ में ज्ञान, कर्म व कर्मफल चेतनाओं का स्वरूप दिया है, किन्तु यह स्पष्ट नहीं हुआ कि कौनसी चेतना कौन से गुणस्थान में होती है ?

समाधान—श्री कुन्दकुन्दाचार्य तथा श्री अमृतचन्द्राचार्य के मतानुसार केवलज्ञानी के ज्ञानचेतना होती है और उससे पूर्व कर्मचेतना व कर्मफलचेतना होती है, किन्तु स्थावरजीवों के मात्र कर्मफलचेतना होती है । कहा भी है—

सर्वे खलु कम्मफलं यावरकाया तसा हि कज्जजुवं ।
पाणिस्समदिक्कंता णाणं धिदंति ते जीवा ॥३९॥ पंचास्तिकाय

टीका—तत्र स्थावराः कर्म फलं चेतयंते, प्रसाः कार्यं चेतयंते, केवलज्ञानिनो ज्ञानं चेतयंते इति ।

अर्थ—सर्व स्थावरजीव समूह वास्तव में कर्मफल को वेदते हैं । प्रस वास्तव में कार्य सहित (कर्म चेतना सहित) कर्मफल को वेदते हैं और जो प्राणों का अतिक्रम कर गये हैं वे ज्ञानको वेदते हैं ।

टीकार्थ—स्थावर कर्मफल को चेतते हैं, प्रस कर्म चेतना को चेतते हैं, केवलज्ञानी ज्ञानको चेतते हैं ।

इससे इतना स्पष्ट हो जाता है कि केवलज्ञानी अर्थात् तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में तथा सिद्धों में ज्ञानचेतना है । बारहवें गुणस्थान तक, ज्ञानावरणकर्म का उदय होने के कारण, अज्ञानमिश्रित ज्ञान होता है । अतः बारहवें गुणस्थान तक शुद्धज्ञान चेतना नहीं होती है, उनके तो कर्मचेतना व कर्मफलचेतना होती है । स्थावर जीवों

के ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायकर्मों का तीव्र उदय होता है अतः उनके मात्र कर्मफलचेतना होती है। श्रेणी में अर्थात् आठवें आदि गुणस्थानों में कर्मचेतना व कर्मफलचेतना अबुद्धिपूर्वक होती है।

—जै. ग. 25-3-71/VII/ २. ला. जैन, मेरठ

ज्ञानचेतना का स्वामी

शंका—ज्ञानचेतना किस जीव के होती है ?

समाधान—‘पाणिस्तम दिक्कंता णाणं विदंति ते जीवा ।’ (पंचास्तिकाय गाथा ३९) अर्थात् प्राणों का अतिक्रम कर गये हैं वे जीव ज्ञान को वेदते हैं। इसी की टीका में कहा है कि केवलज्ञानी ज्ञान को चेतते हैं। इसी प्रकार समयसार गाथा २२३ में कहा है। समयसार गाथा ३२९ की टीका में ज्ञानी के ज्ञानचेतना कही है। इस सबका तात्पर्य यह है कि जीव पहले तो कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से भिन्न अपनी ज्ञानचेतना का स्वरूप प्रागम, अनुमान, स्वसंवेदनप्रमाण से जाने और उसका श्रद्धान बढ़ करे। सो यह तो अविरत, प्रमत्त अवस्था में भी होता है। अप्रमत्त-अवस्था में अपने स्वरूप का ध्यान करता है ज्ञानचेतना का जैसा श्रद्धान किया था उसमें लीन होता है। तब श्रेणी चढ़ केवलज्ञान उपजाय साक्षात् ज्ञानचेतनारूप होता है (भाषाार्थ कलश २२३)। प्रवचनसार गाथा १२३-१२५ से भी ज्ञानचेतना, कर्मचेतना, कर्मफलचेतना का स्वरूप जानना।

—जै. ग 4-7-63/IX/ सुखदेव

रतनत्रय में ज्ञान मध्य में क्यों ?

शंका—सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्र के मध्य में सम्यग्ज्ञान क्यों रखा गया ?

समाधान—“ज्ञानस्य सम्यग्व्यपदेशहेतुत्वात् । चारित्र्यात्पूर्वं ज्ञान प्रयुक्तं तत्पूर्वकत्वाच्चारित्रस्य ।”

—सर्वार्थसिद्धि

सम्यग्दर्शन से ज्ञान में समीचीनता आती है, इसलिये ज्ञान से पूर्व सम्यग्दर्शन रखा गया। चारित्र ज्ञान-पूर्वक होता है अतः चारित्र से पूर्वा ज्ञान का प्रयोग किया गया है।

जै. ग. 15-6-72/VII/ २। ला. मित्तल

सम्यग्ज्ञान का लक्षण

शंका—सोनगढ़ से प्रकाशित ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव पुस्तक के पृ० ३०९ पर लिखा है—‘ज्ञेय के तीनों अंशों-द्रव्य, गुण, पर्याय को स्वीकार करे वह ज्ञान सम्यक् है।’ क्या यह ठीक है ?

समाधान—सम्यग्ज्ञान का यह लक्षण ठीक नहीं है, द्रव्यगुण-पर्याय को जानता हुआ भी यदि कार्यकारण भाव अथवा ज्ञेयज्ञायक भाव में भूल है तो वह ज्ञान सम्यक् नहीं हो सकता है। श्री समन्तभद्रस्वामी ने सम्यग्ज्ञान का लक्षण निम्नप्रकार कहा है—

अन्यूनमनतिरिक्तं यथातथ्यं विना च विपरीतात् ।

निःसंवेहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥४२॥ रत्न. भाव.

जो वस्तुस्वरूप को न्यूनतारहित अधिकतारहित और विपरीततारहित संवेहरहित जैसा का तैसा जानता है वह ज्ञान सम्यक् है। शास्त्रों के ज्ञाता पुरुषों ने ऐसा कहा है।

द्रव्य-गुण-पर्याय को जानते हुए भी यदि ज्ञान न्यूनता, अधिकता, विपरीतता या संदेहसहित है तो वह ज्ञान सम्यक् नहीं हो सकता है ।

—जं. ग./8-2-73/VII/ सुलतानसिंह

- (१) सम्यग्ज्ञानी के स्वानुभूति, स्वानुभव व स्वसंवेदन के स्वरूप एवं इनके विषयी का निर्णय
(२) सुख-दुःख का अनुभव आत्मप्रत्यक्ष है या आत्मपरोक्ष, इसका निर्णय

शंका—सम्यग्ज्ञानी को स्वानुभूति, स्वानुभव व स्वसंवेदन अतीन्द्रियप्रत्यक्ष होते हैं या मानसप्रत्यक्ष होते हैं ? इसी प्रकार जो सुख-दुःख का अनुभव होता है वह मानसप्रत्यक्ष होता है या अतीन्द्रियप्रत्यक्ष ? स्वानुभूति, स्वसंवेदन व स्वानुभव के क्या अर्थ हैं ? स्पष्ट करें ।

समाधान—आत्मा का मुख्य गुण चेतना है । इसी चेतना के पर्यायवाची नाम अनुभव और वेदना भी हैं । अनुभव या अनुभूति अथवा संवेदन चेतना से भिन्न नहीं हैं । कहा भी है—‘चेतयन्ते अनुभवन्ति उपलभन्ते विन्वन्तीत्येकार्थचेतनानुभूत्युपलब्धिबेदानामेकार्थत्वात् ।’ पं० का० पृ० १३०

अर्थ—चेतना है, अनुभव करता है, उपलब्ध करता है और वेदन करता है; ये सब एकार्थ वाचक हैं, क्योंकि चेतना, अनुभूति, उपलब्धि और वेदना का एक ही अर्थ है । चैतन्यमनुभवनम् । अनुभूतिर्जोवाजीवाविषयार्थानां चेतनमात्रम् । आ० प०

अर्थ—अनुभवन ही चैतन्य है । जीव, अजीव आदि पदार्थों का चेतनमात्र अनुभूति है । वह चेतना, अनुभव अनुभूति अथवा संवेदन तीन प्रकार का होता है—कर्मफलचेतना, कर्मचेतना और ज्ञानचेतना । समस्त स्थावरजीव कर्मफल को चेतते हैं, अनुभव करते हैं वेदन करते हैं । असजीव कर्म को चेतते हैं और केवलज्ञानी ज्ञान को चेतते हैं । कहा भी है—‘स्थावराः कर्मफलं चेतयन्ते, प्रसाः कार्यं चेतयन्ते, केवलज्ञानिनो ज्ञानं चेतयन्ते इति ।

[पं० का० पृ० १३०]

अर्थ—स्थावर कर्मफल (सुख-दुःख) को चेतते हैं, अस कार्य (कर्म-चेतना) को चेतते (वेदन करते) हैं तथा केवलज्ञानी ज्ञान चेतना को चेतते (वेदन करते) हैं ।

श्री कुन्वकुन्वाचार्य एवं श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पंचास्तिकाय में यह स्पष्ट कर दिया है कि केवलज्ञानी के मात्र ज्ञानचेतना का सचेतन (संवेदन, अनुभवन या अनुभूति) होता है ।

इस चेतनागुण का परिणामन स्वरूप उपयोग दो प्रकार का होता है—(१) ज्ञानोपयोग (२) दर्शनोपयोग कहा भी है—‘उच्यते—आत्मनश्चैतन्यानुविधायिपरिणाम उपयोगः ।

चैतन्यमनुविधायित्वव्ययरूपेण परिणमति अथवा पदार्थपरिच्छिन्नकाले घटोयं पटोयमित्याद्ययंग्रहणरूपेण व्यापारयति इतिचैतन्यानुविधायी स्फुटं द्विविधः । सविकल्पं ज्ञानं निविकल्पं दर्शनं ।’ पं० का० पृ० १३९ ।

आत्मा का वह परिणाम जो उसके चैतन्य गुण के साथ रहने वाला है उसको उपयोग कहते हैं अथवा जो चैतन्यगुण के साथ-साथ अन्वयरूप से परिणमन करे सो उपयोग है अथवा जो पदार्थ के जानने के समय यह घट है यह पट है इत्यादि पदार्थों को ग्रहण करता हुआ व्यापार करे सो उपयोग है, वह उपयोग दो प्रकार का है । १. ज्ञानोपयोग २. दर्शनोपयोग । सविकल्पउपयोग ज्ञानोपयोग है । निविकल्पउपयोग दर्शनोपयोग है ।

अर्थात् चेतना, अनुभव, अनुभूति, संवेदन दो प्रकार का है, एक दर्शनरूप दूसरा ज्ञानरूप। उनमें से दर्शन-रूप स्वसंवेदन इस प्रकार है—

आलोकनवृत्तिर्वा दर्शनम् । अस्य गमनिका, आलोकन इत्यालोकनमात्मा, वर्तनं वृत्तिः, आलोकनस्य वृत्ति-
रालोकनवृत्तिः स्वसंवेदनं, तद्दर्शनमिति लक्ष्यनिर्देशः ।' धवल पु० १ पृ० १४८-१४९ ।

अर्थ—आलोकन अर्थात् आत्मा के व्यापार को दर्शन कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि जो अवलोकन करता है उसे आलोकन या आत्मा कहते हैं। और वर्तन अर्थात् व्यापार को वृत्ति कहते हैं। तथा आलोकन अर्थात् आत्मा को वृत्ति अर्थात् वेदनरूप व्यापार को आलोकनवृत्ति या स्वसंवेदन कहते हैं और उसी को दर्शन कहते हैं।

“आत्मबिषयोपयोगस्य दर्शनत्वेऽङ्गीक्रियमाणे आत्मनो विशेषाभावाच्चतुर्णामपि दर्शनानामविशेषः स्यादिति
वेत्नेनैव दोषः, यद्यस्य ज्ञानस्योत्पादकं स्वरूपसंवेदनं तस्यतद्दर्शनव्यपदेशात् दर्शनस्य चातुर्विध्यनियमः ।”

(धवल १।३८)

यदि कोई यह कहे कि आत्मा को बिषय करने वाले उपयोग को दर्शन स्वीकार कर लेने पर आत्मा में कोई विशेषता नहीं होने से चारों (चक्षु, अचक्षु, श्रवण, केवल) दर्शनों में भी कोई भेद नहीं रह जावेगा ? तो आचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं है, क्योंकि जो जिस ज्ञान का उत्पन्न करनेवाला स्वरूपसंवेदन है, उस स्वरूपसंवेदन को उसी नाम का दर्शन कहा जाता है।

“ततः स्वरूपसंवेदनं दर्शनमित्यङ्गीकर्तव्यम् ।” धवल पु० १ पृ० ३८३ ।

स्व (अपने) रूप के संवेदन को दर्शन स्वीकार कर लेना चाहिये ।

इसप्रकार श्री बीरसेन आचार्य स्वसंवेदन अर्थात् आत्मसंवेदन को दर्शनरूप चेतन परिणाम कहते हैं। सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं और मिथ्याज्ञान को प्रमाणाभास कहते हैं। प्रमाण का लक्षण निम्न प्रकार है—

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ॥१॥ हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ।२।
स्वोन्मुखतयाप्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः ॥६॥ (आत्मभिमुखतया प्रतीतिः प्रतिभासनम् अर्थस्यैव तदुन्मुखतया ॥७॥
घटमहमात्मना वेत्ति ॥८॥ कर्मवत् कर्तृकरणक्रियाप्रतीतेः ॥ ९ ॥ शब्दानुच्चारणोऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत् ॥ १० ॥

—परीक्षामुख

स्व अर्थात् अपने आपके निश्चय करने वाले ज्ञानको और अपूर्व अर्थ के निश्चय करने वाले ज्ञानको (सम्यग्ज्ञान को) प्रमाण कहते हैं। क्योंकि प्रमाण हित की प्राप्ति और अहित का परिहार करने में समर्थ है अतः प्रमाण सम्यग्ज्ञान ही है। जिसप्रकार पदार्थ के अभिमुख उसके जानने को अर्थ व्यवसाय कहते हैं उसी प्रकार स्व अर्थात् अपने आपके अभिमुख होकर जो अपने आपका प्रतिभास होता है अर्थात् आत्मप्रतीति या आत्म-निश्चय होता है वह स्वव्यवसाय है अर्थात् सम्यग्ज्ञान है। मैं घट को अपने आपके द्वारा जानता हूँ, इस वाक्य में 'घट' कर्म के समान 'मैं' कर्ता, 'अपने आपके द्वारा' करण और जानने रूप क्रिया की भी प्रतीति होती है। पदार्थ के समान शब्द का उच्चारण नहीं करने पर भी सम्यग्ज्ञानी को अपने आपका अनुभव होता है। अर्थात् जैसे घट आदि शब्द के उच्चारण नहीं करने पर भी घट आदि का अनुभव होता है, उसी प्रकार बाहर में शब्द का उच्चारण नहीं करने पर भी 'अहं' 'अहं' इस प्रकार अन्तर्मुखाकाररूप से सम्यग्ज्ञानी को अपने आपका स्वयं अनुभव होता है। वही स्वव्यवसायात्मकरूप प्रमाण है अर्थात् सम्यग्ज्ञान है।

वह प्रमाण अर्थात् सम्यग्ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है । कहा भी है—

तद्दृष्टे धा ॥१॥ प्रत्यक्षेतरभेदात् ॥२॥ विशदं प्रत्यक्षम् ॥३॥ इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः संव्यावहारिकम् ॥४॥ सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतोमुख्यम् ॥११॥ परीक्षामुख अ० २

प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से वह प्रमाण दो प्रकार का है । विशद सम्यग्ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण कहलाता है । वह प्रत्यक्षप्रमाण सांख्यावहारिक और मुख्य प्रत्यक्ष के भेद से दो प्रकार का होता है । इन्द्रिय और मनके निमित्त से होने वाले एकदेशविशद ज्ञानको सांख्यावहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं । सामग्री की विशेषता से अर्थात् उत्तम संहनन, योग्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आदि की पूर्णरूप से प्राप्ति होने पर जिसके समस्त आवरण दूर हो गये हैं ऐसे अतीन्द्रिय तथा पूर्णतया विशद सम्यग्ज्ञान को मुख्यप्रत्यक्ष कहते हैं ।

ऊपर यह बताया जा चुका है कि जिस समय छद्मस्थ आत्मा स्वोन्मुख होता है तब उसे पर पदार्थों के समान स्व का अनुभव अर्थात् स्वानुभव होता है । इस पर यह प्रश्न होता है कि यह स्वानुभव प्रत्यक्षप्रमाण (प्रत्यक्ष सम्यग्ज्ञान) है या परोक्षप्रमाण (परोक्ष सम्यग्ज्ञान) ? यदि प्रत्यक्षप्रमाण है तो सांख्यावहारिक प्रत्यक्ष है या मुख्य प्रत्यक्ष ? इसके सम्बन्ध में बृहद्ब्रह्मसंग्रह में निम्न प्रकार लिखा है—

“शब्दात्मकं श्रुतज्ञानं परोक्षमेव तावत् स्वर्गापवर्गादिविषयपरिच्छित्तिपरिज्ञानं विकल्परूपं तदपि परोक्षम् यत्पुनरभ्यन्तरे सुखदुःखविकल्परूपोऽहमनन्तज्ञानादिरूपोहमिति वा तदीषत् परोक्षम्; यच्चनिश्चय भाव श्रुतज्ञानं तच्च शुद्धात्माभिमुखसुखसंवित्तिस्वरूपं स्वसंवित्त्वाकारेण सविकल्पमपीन्द्रियमनोजनितरगादिविकल्पजाल रहितत्वेन निविकल्पम्, अभेदनयेन तदेवात्म शब्दवाच्यं वीतरागसम्यक्चारित्राविनाभूतं केवलज्ञानापेक्षया परोक्षमपि संसारिणी क्षायिकज्ञानाभावात् क्षायोपशमिकमपि प्रत्यक्षमभिधीयते । अत्राह शिष्यः—आद्ये परोक्षमिति तत्त्वार्थसूत्रे मतिश्रुतद्वयं परोक्षं भणितं तिष्ठति कथं प्रत्यक्षं भवतीति ? परिहारमाह—तदुत्सर्गव्याख्यानम्, इदं पुनरपवादव्याख्यानम् । यदि तदुत्सर्गव्याख्यानं न भवति तर्हि मतिज्ञानं कथं तत्त्वार्थं परोक्षं भणितं तिष्ठति । तर्कशास्त्रे सांख्यावहारिकं प्रत्यक्षं कथं जातम् । यथा अपवादव्याख्यानेन मतिज्ञानं परोक्षमपि प्रत्यक्षज्ञानम् तथा स्वात्माभिमुखं भावश्रुतज्ञानमपि परोक्षं सत् प्रत्यक्षं भव्यते । यदि पुनरेकान्तेन परोक्षं भवति तर्हि सुखदुःखादिसंबेदनमपि परोक्षं प्राप्नोति, न च तथा ।”

अर्थ—जो शब्दात्मक श्रुतज्ञान है वह तो परोक्ष है ही तथा स्वर्ग, मोक्ष आदि बाह्य विषयों का बोध करा देने वाला विकल्परूप जो ज्ञान है वह भी परोक्ष है और अभ्यन्तर में “सुख दुःखरूप मैं हूँ अथवा मैं अनन्त ज्ञानादि रूप हूँ” ऐसा जो विकल्प है वह भी ईषत् परोक्ष है । जो निश्चय भावश्रुतज्ञान है वह शुद्धात्मा के अभिमुख होने से सुखसंवित्ति-सुखानुभवरूप है । यद्यपि वह निजआत्मज्ञानाकार की अपेक्षा सविकल्प है तथापि इन्द्रिय तथा मन जनित रागादि विकल्पसमूह से रहित होने के कारण निविकल्प है और अभेदनय से वही ज्ञान ‘आत्मा’ शब्द से कहा जाता है तथा वह वीतराग सम्यक्चारित्र के बिना नहीं होता । केवलज्ञान की अपेक्षा यद्यपि वह ज्ञान परोक्ष है तथापि संसारियों के क्षायिक ज्ञान का अभाव होने से क्षायोपशमिक होने पर भी प्रत्यक्ष कहा जाता है ।

यहाँ पर शिष्य शंका करता है कि “आद्ये परोक्षम्”, इस तत्त्वार्थसूत्र में मति और श्रुत; दोनों ज्ञानों को परोक्ष कहा है । फिर श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ? इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि तत्त्वार्थ-सूत्र में जो श्रुतज्ञान को परोक्ष कहा गया है वह उत्सर्ग व्याख्यान की अपेक्षा कहा है और भावश्रुत प्रत्यक्ष है, ऐसा अपवाद की अपेक्षा कथन है । यदि तत्त्वार्थ सूत्र में उत्सर्ग कथन न होता तो मतिज्ञान परोक्ष कैसे कहा जाता ? यदि मतिज्ञान परोक्ष ही होता तो तर्कशास्त्र में उसे सांख्यावहारिक प्रत्यक्ष कैसे कहते ? इसप्रकार जैसे अपवाद

व्याख्यान से परोक्षरूप मतिज्ञान को भी सांख्यव्यवहारिकप्रत्यक्ष कहा है वैसे ही आत्मा के सम्मुख जो भावश्रुतज्ञान है वह परोक्ष होने पर भी प्रत्यक्ष कहा गया है ।

यदि मतिज्ञान व श्रुतज्ञान एकान्त से परोक्ष होते तो सुख-दुःख आदि का संवेदन भी परोक्ष ही होता, किन्तु वह संवेदन परोक्षज्ञान नहीं है ।

—जै. ग. 10-10-68/VII/ श्लो. ला. मित्तल

स्वानुभव का लक्षण एवं स्वामी

शंका—स्वानुभव का लक्षण क्या है ? यह कौनसे गुणस्थान से प्रारम्भ होता है ?

समाधान—वेद्यत्वं वेदकत्वं च यत्स्वस्थं स्वेन योगिनः । तत्स्व-संवेदनं प्रादुरात्मनोऽनुभवं दृशम् ॥ १६१ ॥
तत्त्वानुशासन

अर्थ—योगी को अपने ही द्वारा अपने को ज्ञेयपना और ज्ञानपना है उसका नाम स्वसंवेदन है और उसी को अनुभव प्रत्यक्ष कहते हैं ।

“यद्यप्यनुमानेन लक्षणेन परोक्षज्ञानेन व्यवहारनयेन धूमादग्निववशुद्धात्मा ज्ञायते तथापि रागाद्विकल्पपरहित स्वसंवेदनज्ञानसमुत्पन्नपरमानंदरूपानाकुलत्वमुत्थितवास्तवसुखामृतजलेन पूर्णकलशवत्सर्वप्रवेशेषु भरितवस्थानां परमयोगिनां यथा शुद्धात्मा प्रत्यक्षो भवति तथेतराणां न भवतीत्यलियग्रहणः ।” पंचास्तिकाय गाथा १२७ ।

अर्थात्—अशुद्धात्मा अनुमानस्वरूप परोक्षज्ञान के द्वारा व्यवहारनय से उसी तरह पहचान लिया जाता है जिस तरह धूमसे अग्नि का अनुमान करते हैं । यह शुद्धात्मा रागादि विकल्पों से रहित स्वसंवेदनज्ञान से उत्पन्न परमानंदमई अनाकुलता में भले प्रकार स्थित सच्चे सुखामृतजल से पूर्णकलश की तरह भरे हुए परमयोगियों को प्रत्यक्ष है, किन्तु जो ऐसे योगी नहीं हैं उनको अनुभव प्रत्यक्ष नहीं होता इसलिये यह जीव अलियग्रहण है ।

इसप्रकार स्वानुभव का लक्षण तथा उसके स्वामी का कथन उपर्युक्त आर्षग्रन्थों में किया गया है । किन्तु गुणस्थान का उल्लेख नहीं है, क्योंकि द्रव्यानुयोग में गुणस्थान की अपेक्षा कथन नहीं होता । फिर भी योगी कहने से संयमी का ग्रहण हो जाता है और अन्य विशेषणों से श्री भी में स्थित योगी का ग्रहण होता है ।

यही बात निम्न पंक्तियों से भी स्पष्ट हो जाती है—

“निर्विकल्पसमाधिबलेन जातमुत्पन्नं वीतरागसहजपरमानन्दसुखसंविद्युपलब्धिप्रतीत्यनुभूतिरूपं यत्स्वसंवेदन-ज्ञानं ।” पंचास्तिकाय गाथा १३ टीका ।

अर्थ—निर्विकल्पसमाधि के बल से उत्पन्न जो वीतरागसहजपरमानन्दमयसुख; उसकी संवित्ति, प्राप्ति, प्रतीति व अनुभूतिरूप स्वसंवेदनज्ञान है ।

यह कथन अध्यात्मग्रन्थ की अपेक्षा से है । तर्क—शास्त्र की अपेक्षा से “जैसे पदार्थों का ज्ञान होता है वैसे ही स्व का भी ज्ञान होता है उस ज्ञान को स्वानुभव कहा है । वह मानस-प्रत्यक्ष व इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में गभित है ।

“स्वस्यानुभवनमर्थवत् ।” परीक्षामुख १।१० ।

अर्थ—जैसे अर्थ का निश्चय ज्ञान होता है वैसे स्व का अनुभवन (ज्ञान) होता है ।

“ननु स्वसंवेदन-भेदमन्यदपि प्रत्यक्षमस्ति, तत्कथं नोक्तमिति न वाच्यम्, तस्य सुखादिज्ञानस्वरूपसंवेदनस्य मानसप्रत्यक्षत्वात्, इन्द्रियज्ञानस्वरूपसंवेदनस्य चेन्द्रियसमक्षत्वात् । अन्यथा तस्य स्वव्यवसायायोगात् । स्मृत्यादिवस्वरूप संवेदनं मानसमेवेति नापरं स्वसंवेदनं नामाध्यक्षमस्ति ।” [प्रमेयरत्नमाला २।५]

अर्थ—जो स्वसंवेदन नाम प्रत्यक्ष अन्य है सो क्यों न कहा ? ऐसे न कहना, जातें सो संवेदन सुख आदि का ज्ञान स्वरूप अनुभवन है सो मानस प्रत्यक्ष में आ गया और इन्द्रियज्ञानस्वरूप संवेदन है सो इन्द्रियप्रत्यक्ष में आ गया जो ऐसे न मानिये तो तिस ज्ञानके अपने स्वरूप का निश्चय करने का अयोग आवे है । बहुरि स्मरण आदि का स्वरूप का संवेदन है सो मानसप्रत्यक्ष ही है अन्य नाहीं है सो स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कहिये है, परन्तु जुदा भेद नाहीं ।

—जै. ग. 20-3-67/VII/ रतनलाल

जीव के सूक्ष्म परिणामों को मतिश्रुतज्ञानी नहीं जान पाते

शंका—जीव के परिणामों को अनन्त कोटियाँ हैं, किन्तु वे परिणाम हमारी जानकारों में कैसे आवें ? अपने परिणामों का सूक्ष्मज्ञान कैसे हो सकता है ?

समाधान—मतिश्रुत ये दोनों परोक्षज्ञान इन्द्रिय तथा मनकी सहायता से उत्पन्न होते हैं अतः इन दोनों ज्ञानों के द्वारा सूक्ष्म परिणामों का या परिणामों में सूक्ष्म परिवर्तन का ज्ञान नहीं हो सकता है । ये दोनों ज्ञान अपने या पर के स्थूल परिणामों को जान सकते हैं तथा प्रागम के प्राधार से परमाणु आदि सूक्ष्म का भी ज्ञान हो जाता है ।

—छै. ग. 28-1-71/VII/ टो. ला. जैन

आत्मा अलिगग्रहण, अर्थात् इन्द्रियों से अज्ञेय है

शंका—‘अलिगग्रहण’ से क्या प्रयोजन है ? आत्मा का लक्षण उपयोग और उपयोग लक्षण के द्वारा आत्मा ग्राह्य है ।

समाधान—अलिगग्रहण से प्रयोजन यह है कि आत्मा इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण योग्य नहीं है । पंचास्तिकाय गाथा १२७ की टीका में कहा है—

“नेन्द्रियग्रहणयोग्यं”

उपयोग आदि लक्षणों से अनुमान के द्वारा आत्मा परोक्षरूप से ग्राह्य भी है तथा केवलज्ञानी प्रत्यक्ष जानते हैं ।

—जै. ग. 14-1-71/VII/ टो. ला. मित्तल

१. आत्मा और पदार्थों में ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है

२. दर्शन (दर्शनोपयोग) का कार्य आत्म-ज्ञान

शंका—आत्मा के स्वपर द्रव्यों का ज्ञानपना और द्रव्यों का तथा आत्मा का ज्ञेयरूपपना किस प्रकार है ?

समाधान—आत्मा का लक्षण उपयोग है और वह उपयोग दो प्रकार का है—१. ज्ञानोपयोग २. दर्शनोपयोग । (तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय २, सूत्र ८ व ९) । आत्मा ज्ञानोपयोग के कारण परद्रव्यों को जानता है और दर्शनोपयोग के कारण आत्मा (स्व) को देखता (जानता) है । श्री बीरसेन आचार्य ने कहा भी है—

“अशेषबाह्यार्थग्रहणो सत्यपि न केवलिनः सर्वज्ञता, स्वरूपपरिच्छिद्यभावादित्युक्ते आह-‘पश्यति’ त्रिकाल-गोचरानन्तपर्यायोपचितमात्मानं च पश्यति ।” धवल पु० १३

अर्थ—केवलज्ञान द्वारा अशेष बाह्य पदार्थों का ग्रहण होने पर भी भगवान आत्मा का सर्वज्ञ होना सम्भव नहीं है, क्योंकि उनके स्वरूप-परिच्छिद्यता का अभाव है, ऐसी आशंका के होने पर सूत्र में ‘पश्यति’ कहा है, अर्थात् दर्शनोपयोग के द्वारा वे त्रिकालगोचर अनन्तपर्यायों से उपचित आत्मा को भी देखते हैं ।

जिसप्रकार चुम्बक में आकर्षण शक्ति है उसी प्रकार लोह में आकर्षणीय शक्ति है, अन्यथा लोहे का चुम्बक द्वारा आकर्षण नहीं हो सकता था । इसी प्रकार प्रत्येकद्रव्य में ज्ञेयशक्ति है अन्यथा वह ज्ञानका विषय नहीं हो सकता था । कहा भी है—

“प्रमाणेन स्वपररूपं परिच्छेद्यं प्रमेयम् ।” आलापपद्धति

प्रमाण अर्थात् ज्ञान के द्वारा अस्तित्व-नास्तित्वरूप परिच्छेद्य (जाना जाने योग्य) शक्ति को प्रमेय या ज्ञेय गुण कहते हैं ।

आत्मा में ज्ञान गुण है और पदार्थों में ज्ञेय गुण है अतः आत्मा और पदार्थों में ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है ।

—जं. ग. 28-1-71/VII/ टी. ला.

(१) रागद्वेषरूप प्रवर्तन करने वाले का ज्ञान-दर्शन कथंचित् अयथार्थ है ।

(२) चारित्र से ही ज्ञान व दर्शन यथार्थता पाते हैं

शंका—जैसे बच्चे को ज्ञान नहीं है कि आग से हाथ जल जाता है और वह बेखटके आग में हाथ दे देता है । जब उसको यह ज्ञान व प्रज्ञान हो जाता है कि आग में हाथ देने से हाथ जल जाता है तो वह आग में हाथ नहीं देता है । इसी प्रकार जिसको यह ज्ञान व प्रज्ञान हो गया कि रागादिक भाव आस्रव व बन्ध के कारण हैं उस पुरुष को रागादि नहीं करने चाहिये । यदि वह पुरुष रागादि भावरूप परिणत होता है तो उसके प्रज्ञान व ज्ञान को यथार्थ कहा जा सकता है क्या ?

समाधान—सम्यग्दर्शन दो प्रकार है (१) सरागसम्यग्दर्शन और (२) वीतरागसम्यग्दर्शन । कहा भी है—

“तन् द्विविधं सरागवीतरागविषय भेदान् ।”

जबतक बुद्धिपूर्वक राग है अर्थात् चतुर्थगुणस्थान से सातवेंगुणस्थान तक सरागसम्यग्दर्शन है, यहीं तक आयु का बन्ध होता है । आठवेंआदि गुणस्थानों में अर्थात् क्षपकश्रेणी में बुद्धिपूर्वकराग का अभाव हो जाने से वीतरागसम्यग्दर्शन है, वहाँ पर आयु का बन्ध नहीं होता है ।

“बुद्धिपूर्वकास्ते परिणामा ये मनोद्वारा बाह्यविषयानालम्ब्य प्रवर्तते, प्रवर्तमानाश्च स्वानुभवगम्याः अनुमानेन परस्यापि गम्या भवन्ति । अबुद्धिपूर्वकास्ते परिणामा इन्द्रियमनोव्यापारमंतरेण केवलमोहोदयनिमित्तास्ते तु स्वानुभवा-गोचरात्वाद्बुद्धिपूर्वका इति विशेषः ।”

जबतक बुद्धिपूर्वक राग है अर्थात् सम्यग्दर्शन है तबतक शुद्धात्मसंवित्ति अथवा वीतरागस्वसंवेदनज्ञान का अभाव है। वीतरागस्वसंवेदनज्ञान के अभाव के कारण सरागसम्यग्दृष्टि को (किसी अपेक्षा से) कथंचित् अज्ञानी भी कहा गया है। आर्यप्रमाण इसप्रकार है—

‘अज्ञानिनां निविकल्प समाधि भ्रष्टानाम् ।’ (समयसार गा. १४ की टीका)

‘अथ निश्चयेन वीतराग स्वसंवेदनज्ञानस्याभाव एवाज्ञानं भव्यते ।’ (स. सा. गा. १२ की उत्थानिका)

अर्थात् निविकल्पसमाधि से जो भ्रष्ट हैं वे अज्ञानी हैं। वास्तव में वीतरागस्वसंवेदनज्ञान का न होना ही अज्ञान है।

फलटन से प्रकाशित श्री मोतीलाल जैन एम. ए. द्वारा सम्पादित समयसार में लिखा है—आचार्य श्री जयसेनजी ने ‘ततः स्थितं शुद्धात्मसंवित्तेरभावरूपमज्ञानं कर्मकर्तृत्वस्य कारणं भवति’ इस वाक्य के द्वारा अज्ञान को शुद्धात्मसंवित्ति का अभावरूप बताया है। यह उनके द्वारा बताया गया अर्थ यथार्थ है, क्योंकि चौथे से सातवें तक के गुणस्थानवाले जीव के सराग-सम्यक्त्व का सद्भाव होने से उसके मनुष्यगति का और देवगति का बन्ध होता है। प्राठवाँ आदि गुणस्थान अर्बन्ध न होने पर भी वह क्षरकश्रेणी वाले जीव के गतिबन्ध का कारण नहीं होता। अतः गतिबन्ध का अभाव होने से शुद्धात्मा की अनुभूति जीव के कर्मकर्तृत्व का कारण नहीं है। अतः सातवेंगुणस्थान तक अज्ञान का सद्भाव होता है यह बात स्पष्ट हो जाती है। अथवा चौथे से सातवें गुणस्थान तक जीव विभावरूप से परिणत होनेवाला होने से वह भाव कर्मों का उपादानकर्ता और द्रव्यकर्मों का निमित्त कर्ता होता है और कर्ता होने से उसकी अवस्था एक प्रकार से अज्ञानमय ही है। अतः अज्ञान शब्द से शुद्धात्मसंवित्ति के अभावरूप अज्ञान का ग्रहण ही अभीष्ट है।’ (पृ० ६१८)

‘जीव को जबतक वीतरागस्वसंवेदनरूप या शुद्धात्मसंवित्तिरूप ज्ञान नहीं होता तब तक उसके दर्शनज्ञान और चारित्र्य एकप्रकार से मिथ्या कहे जा सकते हैं। जीव के जिसकाल में प्रथमोपशमरूप उपशमसम्यक्त्व प्रादुर्भूत होता है उसकाल से आगे के काल में और वीतरागस्वसंवेदन की प्रादुर्भूति के पूर्वकाल में जबतक सरागता होती है तबतक जीव को शुद्ध आत्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि रागभाव शुद्धात्मसंवित्ति का प्रतिबन्धक होता है। उपशमसम्यक्त्व की उत्पत्ति होते समय सिर्फ सातप्रकृतियों के उदयरूप निमित्त का अभाव अर्थात् अनुदयरूप निमित्त का सद्भाव होता है। उसीप्रकार शुद्धात्मसंवित्ति के प्रतिबन्धक अप्रत्याख्यानारण, प्रत्याख्यानारण और संज्वलन का तीव्र उदय होता है। इनका उदय होने से शुद्धात्मा के स्वरूपका अनुभवजन्य पूर्णज्ञान नहीं होता। उससमय आत्मा का जो कुछ ज्ञान होता है वह उसके सिर्फ सामान्यांश का ही होता है-विशेषांश का नहीं वस्तुके सामान्य और विशेष इन दोनों अंशों का ज्ञान होने पर ही वस्तुके स्वरूपका ज्ञान पूर्णरूप से होता है, अन्यथा नहीं। वस्तु के विशेषों का जबतक ज्ञान नहीं होता तबतक ज्ञान के अंशभूत दर्शन और चारित्र्य अर्थात् आत्मस्वरूप विषयक दृढ़ निश्चय न होने से दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य अंशतः सम्यक् और अंशतः मिथ्या होने से निश्चयनय की दृष्टि से मिथ्या ही हैं। यह स्पष्ट हो जाता है। अतः शुद्धात्मसंवित्ति के बाद ही रत्नत्रय की यथार्थता की सिद्धि होती है, उसके पहले नहीं। सारांश, वीतरागरत्नत्रय ही यथार्थ रत्नत्रय है सरागरत्नत्रय नहीं। फिर भले ही वह परम्परा से मोक्ष का कारण बन जाता है। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि सराग रत्नत्रय के सर्वथा अभाव में ही वीतरागरत्नत्रय की या अभेदरत्नत्रय की प्राप्ति होती है।’ ३३१।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी कहा है कि जो रागादिरूप प्रवृत्ति करता है अर्थात् रागादि आस्रवभावों से निवृत्त नहीं हुआ है। वह पारमाथिक ज्ञानी नहीं है। कहा भी है—

‘तेष्वोऽनियतमानस्य पारमाथिकतद्भेदज्ञानासिद्धेः ततः क्रोधाद्यास्रवनिवृत्त्यविनाभाविनो ज्ञानमात्रादेवा-
ज्ञानजस्य पौद्गलिकस्य कर्मणो बन्धनिरोधः सिद्ध्येत। यत्त्वात्मास्रवयोर्भेदज्ञानमपि नास्रवेष्वो निवृत्तं भवति
तज्ज्ञानमेव न भवति।’ समयसार गा० ७२ टीका

अर्थ—क्रोधादि अर्थात् रागादि आस्रवभावों से जबतक निवृत्त नहीं होता, तब तक उस आत्मा के पारमाथिक सच्चे भेदज्ञान की सिद्धि नहीं होती है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि क्रोधादिक आस्रवों की निवृत्ति से अर्थात् बीतरागचारित्र से अविनाभावी जो सच्चा ज्ञान है, उसी से अज्ञानजन्य पौद्गलिक कर्मबन्ध का निरोध होता है। जो आत्मा और रागादिआस्रवों का भेद ज्ञान है यदि वह भी रागादिआस्रवों से निवृत्त न हुआ तो वह ज्ञान ही नहीं है।

इन आस्रवकार्यों से सिद्ध है कि जो राग-द्वेषरूप प्रवर्तता है उसका ज्ञान, श्रद्धान परमार्थ नहीं है।

जै. ग. 25-2-71/IX/ सुलतानसिंह

सकल जीवों के ज्ञायक भाव की सत्ता

शंका—आत्मा का ज्ञायकभाव पारिणामिकभाव है या नहीं? क्या ज्ञायकभाव संसार अवस्था में भी रहता है?

समाधान—जीवत्व, उपयोग, चेतना, ज्ञायक ये सब पर्यायवाची हैं। ‘जीव भव्याऽन्यथास्वानि च ॥२॥७॥’ इस सूत्र में जीवत्व को पारिणामिकभाव कहा गया है। इस सूत्र की टीका में श्री पूज्यपाद आचार्य ने ‘जीवत्व चैतन्यमित्यर्थः।’ इन शब्दों द्वारा जीवत्व का अर्थ चैतन्य किया है।

‘चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः।’ अर्थात् चैतन्य का अन्वयी परिणाम उपयोग है। ‘स उपयोगो द्विविधः ज्ञानोपयोगः दर्शनोपयोगश्चेति।’ अर्थात् वह उपयोग दो प्रकार का है ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग ही ज्ञायकभाव है। इसप्रकार ज्ञायकभाव पारिणामिकभाव है।

‘उपयोगो लक्षणम्—उपयोग जीव का लक्षण है। अतः संसारअवस्था में भी जीव में ज्ञायकभाव रहता है।

—जै. ग. 12-2-70/VII/ र. ला. जैन

सम्यग्ज्ञान की स्वाधीनता पराधीनता

शंका—छद्मस्थ के जिस ज्ञान ने कर्म का यथार्थ स्वरूप जान लिया है वह ज्ञान स्वतंत्र है या कर्माधीन है?

समाधान—छद्मस्थ का वह ज्ञान जिसने कर्म का यथार्थ स्वरूप जान लिया है, स्वतंत्र भी है और कर्माधीन भी है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से अथवा सामान्यज्ञान की दृष्टि से वह ज्ञान स्वतंत्र है। क्षायोपशमिक-ज्ञान होने से वह ज्ञान विभाव है, कर्माधीन है। एकान्त नियम नहीं है।

केवलमिदिय-रहियं असहायं तं सहावणार्णति ।
सवणणिदरवियप्पे विहावणारणं हवे बुविहं ॥११॥
सवणणं खउभेयं मदिसुदिओही तहेव मणपउजं ।
अण्णारं तिवियप्पं मदियाई भेवओ चेव ॥१२॥ नियमसार

अर्थ—जो ज्ञान केवल, इन्द्रियरहित और असहाय है वह स्वभावज्ञान है; सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान के भेद से विभावज्ञान दो प्रकार का है। वह (विभाव) सम्यग्ज्ञान चार भेद वाला है—१. मति, २. श्रुत, ३. अवधि; ४. मनःपर्यय, और (विभाव) मिथ्याज्ञान मति आदि के भेद से तीनप्रकार का है।

“केवलज्ञानादयः स्वभावगुणा मतिज्ञानादयो विभावगुणाः ।” पं० का० गाथा ५ टीका

अर्थात्—केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि स्वभावगुण हैं। मति आदि क्षायोपशमिकज्ञान विभावगुण हैं।

“सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयक्षयात्तेषामेव सदुपशमाद्देशघातिस्पर्द्धकानामुदये क्षायोपशमिकभावो भवति ।”

—स० सि० २।५

अर्थात्—वर्तमानकाल में सर्वघातीस्पर्द्धकों का उदयाभावी क्षय होने से और आगामी काल की अपेक्षा उन्हीं का सदवस्थारूप उपशम होने से, देशघाती कर्मस्पर्द्धकों का उदय रहते हुए क्षायोपशमिकभाव होता है। अर्थात्—क्षायोपशमिकज्ञान कर्मों के क्षयोपशम के आधीन है, अतः कर्माधीन है। छद्मस्थों के केवलज्ञान का अभाव है उनके मात्र क्षायोपशमिकज्ञान होता है। द्रव्याधिकतय से ज्ञान अनादि-अनन्त है, अतः स्वाधीन है। पर्यायाधिकतय से ज्ञानका उपयोग परिणत होता रहता है अतः पराधीन है।

—जै. ग. 27-6-66/IX/ ज्ञानधम्द एम. एस. मी.

समयसार कलश ११६ का अभिप्राय/ज्ञानो का अर्थ

शंका—सोनगढ़ से प्रकाशित समयसार कलश ११६ के भावार्थ में लिखा है—“परवृत्ति (परपरिणति) दो प्रकार की है, अधद्धारूप और अस्थिरतारूप। ज्ञानी ने अधद्धारूप परवृत्ति को छोड़ दिया है और वह अस्थिरतारूप परवृत्ति को जीतने के लिये निजशक्ति को बारम्बार स्पर्श करता है अर्थात् परिणति को स्वरूप के प्रति बारम्बार उन्मुख किया करता है। इसप्रकार सकल परवृत्ति को उखाड़ करके केवलज्ञान प्रगट करता है।” कलश नं० ११६ का क्या ऐसा अभिप्राय है ?

समाधान—समयसार में कलश ११६ इस प्रकार है—

सन्यस्यसिज्जबुद्धिपूर्वमनिश रागं समग्रं स्वयं,
बारम्बारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन् ।
उच्छिद्वम् परवृत्तिमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णां भवन्,
नात्मा निरत्यनिरास्त्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा ॥११६॥

अर्थ—इस प्रकार है—

“यह आत्मा जब ज्ञानी होय है, तब अपने बुद्धिपूर्वक रागकूँ तो समस्तकूँ आप दूरी करता संता निरस्त्र प्रवर्त है। बहुरि अबुद्धिपूर्वक रागकूँ भी जीतने कूँ बारम्बार अपनी ज्ञानानुभवनरूप शक्तिकूँ स्पर्शता प्रवर्त है; बहुरि ज्ञानकी पलठनी है ताकूँ समस्त ही कूँ दूरि करता संता ज्ञानकूँ स्वरूप विषे थांभता पूर्ण होता संता प्रवर्त है। ऐसा ज्ञानी होय तब शाश्वत निरास्त्रव होय है।”

इस कलश में जिस ज्ञानी का कथन किया गया है उसके दो विशेषण दिये गये हैं। १. ज्ञानी होते ही समस्त बुद्धिपूर्वक राग का (वह राग जो अपने ज्ञान गोचर होय, उस राग का) अभाव हो जाय है और अबुद्धिपूर्वक राग (अपने ज्ञान में न आवे तथा श्रेणों में होने वाले ऐसे कर्मोदय जनित राग) का अभाव करने के लिये अपनी ज्ञानानुभवनरूप शक्ति (जहां पर राग-द्वेष का अनुभवन न हो ऐसी शक्ति) को प्रयोग में लावे है। २. ज्ञानी होते ही ज्ञानकी पलटन (विकल्प) समाप्त हो जाती है और निविकल्पसमाधि (शुक्लध्यान) में स्थित हो जाता है। ज्ञानी के इन दोनों विशेषणों से स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ पर असंयतसम्यग्दृष्टि की अपेक्षा कथन नहीं है, क्योंकि उसके न तो समस्त बुद्धिपूर्वक राग का अभाव होता है और न समस्त ज्ञान की पलटन दूर होती है। यद्यपि राग को हेय जानता है तथापि उसका राग बाह्य विषय का आलम्बन लेकर प्रवर्तता है और स्वयं उसका अनुभव होता है तथा दूसरे भी उस राग को अनुमान से जान लेते हैं। अतः वह राग बुद्धिपूर्वक है। समयसार टिप्पण में कहा भी है—

“बुद्धिपूर्वकास्ते परिणामा ये मनोद्वारा बाह्यविषयानालम्ब्य प्रवर्तते, प्रवर्तमानश्च स्वानुभवगम्याः अनुमानेन परस्यापिगम्याः। अबुद्धिपूर्वकास्तु परिणामा इन्द्रियमनोव्यापारमंतरेण केवलमोहोदयनिमित्तास्ते तु स्वानुभवागोचर-स्वादबुद्धिपूर्वका इति विशेषः।” समयसार पृ० २४६ रायचन्द ग्रंथमाला

अर्थ—जीव के जो परिणाम बाह्य विषय का आलम्बन लेकर मन के द्वारा प्रवृत्त होता है तथा स्वानुभवगम्य है और अनुमान के द्वारा दूसरों से भी जाना जाता है वह आत्म-परिणाम बुद्धिपूर्वक कहलाता है। किन्तु जो परिणाम इन्द्रिय और मन के व्यापार के बिना मात्र मोहोदय के निमित्त से होता है और जो स्वानुभव गोचर भी नहीं है वह अबुद्धिपूर्वक परिणाम है।

इसप्रकार स्वयं कलश ११६ के अर्थ से तथा संस्कृत टिप्पणी से कलश ११६ का अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है।

—जौ. ग. 24-4-69/V/र. ला. जौन

“ज्ञान बिन कर्म भरें जे” पद्यांश में ज्ञानबिन का अर्थ

शंका—कोटि जनम तप तपें ज्ञान बिन कर्म भरें जे। ज्ञानी के छिनमांहि त्रिगुप्तितें सहज टरें ते।

छहठाला के उपर्युक्त पद्य में ‘ज्ञान बिन’ अर्थात् अज्ञानी से—मिथ्यादृष्टि से प्रयोजन है? या पूर्ण ज्ञान के अभावरूप अज्ञान से प्रयोजन है? सम्यग्दृष्टि के यद्यपि पूर्णज्ञान का अभाव है, किन्तु सम्यग्ज्ञान के सद्भाव के कारण वह अज्ञानी नहीं कहला सकता है।

समाधान—‘ज्ञानी’ शब्द का अनेक अर्थ में प्रयोग हुआ है। जैसे ज्ञान और आत्मा का तादात्म्य सम्बन्ध है, अतः प्रत्येक जीव ज्ञानी है। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल में ज्ञान नहीं है अतः वे ज्ञानरहित (अज्ञानी-अचेतन) हैं।

कहीं पर मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को अज्ञान कहा गया है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि का ज्ञान, ज्ञान का कार्य नहीं करता है। कहा भी है—

‘ज्ञानाज्ञानविभागस्तु मिथ्यात्व कर्मोदयानुदयापेक्षः।’ रा० धा० २।५।६

मिथ्यात्व कर्मोदय के कारण ज्ञान भी अज्ञान है। मिथ्यात्व कर्म का अनुदय होने पर, वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है।

‘मिथ्यात्व समवेतज्ञानस्यैव ज्ञान कार्याकरणावज्ञानव्यपदेशात् पुत्रस्यैव पुत्रकार्याकरणावपुत्रव्यपदेशवत्’

—धवला पु० १ पृ० ३५३

अर्थ—मिथ्यात्वसहित ज्ञानको ही अज्ञान कहा है, क्योंकि वह ज्ञान का कार्य नहीं करता है जैसे पुत्रोचित कार्य को नहीं करनेवाले पुत्र को ही अपुत्र कहा जाता है ।

‘कथं मिच्छाविट्टिणाणस्स अण्णाणत्तं ? णाणकज्जाकरणादो । किं णाणकज्जं ? णादत्थसद्दहणं । ण तं मिच्छाविट्टिन्निह अत्थि । तदो णाणमेव अण्णाणं, अण्णहा जीवविणासप्पसंगा । ण च एस व्यवहारो लोगे अप्पसिद्धो, पुत्रकज्जमकुण्णंते पुत्ते वि लोगे अपुत्तव्यवहारवसणादो ।’ धवला पु० ५ पृ० २२४

अर्थ—मिथ्यादृष्टिजीवों के ज्ञानको अज्ञानपना कैसे कहा ? मिथ्यादृष्टि का ज्ञान, ज्ञान का कार्य नहीं करता है इसलिये उसको अज्ञान कहा है । ज्ञान का कार्य क्या है ? जाने हुए पदार्थ का श्रद्धान करना ज्ञान का कार्य है । इस प्रकार का ज्ञान कार्य मिथ्यादृष्टि में नहीं पाया जाता है, इसलिये मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को अज्ञान कहा है । यहाँ पर अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं लेना चाहिए अन्यथा ज्ञानरूप जीव के लक्षण का विनाश होने से लक्ष्यरूप जीव के विनाश का प्रसंग प्राप्त होगा । ज्ञान का कार्य नहीं करने पर ज्ञान में अज्ञान का व्यवहार लोक में अप्रसिद्ध भी नहीं है, क्योंकि पुत्रकार्य को नहीं करने वाले पुत्र में भी लोक में अपुत्र कहने का व्यवहार देखा जाता है ।

श्री वीरसेनाचार्य ने ‘पुत्रोचित कार्य न करनेवाला पुत्र अपुत्र है’ इस दृष्टान्त द्वारा यह स्पष्ट कर दिया कि ज्ञान के अनुकूल यदि कार्य नहीं है अर्थात् चारित्र धारण नहीं किया तो वह ज्ञान निष्फल होने से अज्ञान ही है । इसीलिये ज्ञान का फल चारित्र भी कहा है ।

“अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ॥५॥” परीक्षामुख

अर्थ—अज्ञान की निवृत्ति, हान, उपादान और उपेक्षा यह ज्ञान का फल है । यहाँ पर भी श्रीमन्माणिक्य-नन्दिआचार्य ने ‘हान’, ‘उपादान’ और ‘उपेक्षा’ शब्दों द्वारा चारित्र को ज्ञान का फल बतलाया है । इसी बात को श्री वीरसेन आचार्य ने भी कहा है—

“किं तदज्ञानकार्यमिति चेतत्त्वार्थे रुचिः प्रत्ययः श्रद्धा चारित्रस्पर्शनं च ।”

अर्थ—तत्त्वार्थ में रुचि, निश्चय, श्रद्धा और चारित्र का धारण करना ज्ञान का फल है ।

इन आर्षवाक्यों से भी स्पष्ट है कि चारित्र धारण किये बिना ज्ञान निष्फल है ।

इसी बात को श्री ब्रह्मदेवसूरि ने बृहद्ब्रह्मसंग्रह की टीका में कहा है कि जबतक रागादि का पूर्णरूप से त्याग नहीं होता है तबतक वह ज्ञान निष्फल है ।

अन्धकारे पुरुषद्वयम् एकः प्रदीपहस्तस्तिष्ठति, अन्यः पुनरेकः प्रदीपरहितस्तिष्ठति । स च कूपे पतनं सर्पादिकं वा न जानाति, तस्य विनाशे दोषो नास्ति । यस्तु प्रदीपहस्तस्तस्य कूपपतनाविधिनारोप्रदीपफलं नास्ति । यस्तु कूपपतनादिकं त्यजति तस्य प्रदीपफलमस्ति । तथा कोऽपि रागादयो हेयामदीया न भवतीति भेदविज्ञानं न जानाति स कर्मणाबध्यते तावत्, अन्यः कोऽपि रागादिभेद विज्ञाने जातेऽपि यावतांशेन रागादिकमनुभवति तावतांशेन सोऽपि बध्यत एव, तस्यापि रागादिभेदविज्ञानफलं नास्ति । यस्तु रागादिभेदविज्ञाने जाते सति रागादिकं त्यजति तस्य भेदविज्ञानफलमस्तीति ज्ञातव्यम् । बृहद् ब्रह्मसंग्रह गाथा ३६ टीका

अर्थ—अन्धकार में दो मनुष्य हैं, एक के हाथ में दीपक है और दूसरा बिना दीपक है। उस दीपकरहित पुरुष को कुए तथा सर्पादि का ज्ञान नहीं होता, इसलिये कुए आदि में गिरकर नाश होने में उसका दोष नहीं है। हाथ में दीपक वाले मनुष्य का कुए में गिरने आदि से नाश होने पर उस दीपक का कोई फल नहीं हुआ। जो दीपक के प्रकाश द्वारा कूप-पतनआदि से बचता है उसके दीपक का फल है। इसीप्रकार जो कोई मनुष्य 'राग आदि हेय हैं, भेरे नहीं हैं' इस भेदविज्ञान को नहीं जानता, वह तो कर्मों से बँधता ही है। दूसरा कोई मनुष्य 'रागादि हेय हैं, भेरे नहीं हैं' इस भेदविज्ञान के होने पर भी जितने अंशों में रागादिक का अनुभव करता है, उतने अंशों से वह भेद-विज्ञानी बँधता ही है, उसके रागादि के भेदविज्ञान का भी फल नहीं है, अर्थात् उसका भेदविज्ञान निष्फल होने से अज्ञान ही है। जो रागादिक भेदविज्ञान होने पर रागादि का त्याग करता है, उसके भेदविज्ञान का फल है अर्थात् भेदविज्ञान सफल होने से वह वास्तविक ज्ञानी है। इसी बात को श्री शिवकोटि आचार्य ने भगवती आराधना में कहा है—

चषखुस्स वंसणस्स य सारो सप्पादि वोस परिहरणं ।

धषखू होइ गिरस्थं दट्ठूण बिले पडंतस्स ॥१२॥

अर्थ—नेत्र और उससे होने वाला जो ज्ञान है उसका फल सर्प, खड्डा, कंटक—इत्यादि दुखों का परिहार करना है, परन्तु जो बिलादि देखकर भी उसमें गिरता है, उसका नेत्रज्ञान व्यर्थ है।

इसी बात को श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार में कहा है—

णाहूण आसवाणं असुच्चित्तं च विवरीयभावं च ।

वुषखस्स कारणं त्ति य तवो गियत्ति कुणदि जीवो ॥७२॥

रागादिआस्रवों का अशुचिपना, विपरीतपना, और दुःख का कारणपना जहनकर उन रागादिआस्रवों से निवृत्त होता है।

संस्कृत टीका—'इत्येवं विशेषदर्शनेन यदैवायमात्मास्त्रवयोर्भेदं जानाति तदैव क्रोधाविष्य भास्त्रवेभ्यो निवर्तते । तेभ्योऽनिवर्त्तमानस्य पारमाथिकतद्भेदज्ञानासिद्धेः । यत्त्वात्मास्त्रवयोर्भेदज्ञानमपि नास्त्रवेभ्यो निवृत्तं भवति तज्ज्ञानमेव न भवति ।'

अर्थ—इसप्रकार आत्मा और आस्रवों के तीन विशेषणों कर भेद देखने से जिससमय भेद जान लिया उसी समय क्रोधादिक आस्रवों से निवृत्त हो जाता है और उनसे जबतक निवृत्त नहीं हो तबतक उस आत्मा के पारमाथिक सच्चे भेदविज्ञान की सिद्धि नहीं होती। जो आत्मा और रागादिआस्रवों का भेद-ज्ञान है वह भी यदि रागादिआस्रवों से निवृत्त न हुआ तो वह ज्ञान, ज्ञान ही नहीं है।

इन आर्षवाक्यों से स्पष्ट हो जाता है कि निर्विकल्पसमाधि में स्थित होकर रागादि से निवृत्त होने पर ही जीव ज्ञानी कहलाता है और उससे पूर्व वह ज्ञानी नहीं है। अतः छहठाला के उपर्युक्त पद्य में 'ज्ञान बिन' से मात्र मिथ्यादृष्टिजीव को न ग्रहण करना, किन्तु निर्विकल्पसमाधि से रहित जितने भी जीव हैं उन सबको ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि श्री कुन्दकुन्दाचार्य की दृष्टि में निर्विकल्पसमाधि से रहित जीव अज्ञानी है। इस बात को श्री प्रवचनसार में स्पष्टरूप से कहा गया है—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहि ।

तं णाणी तिहि गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥२३८॥

अर्थ—जो कर्म अज्ञानी लक्षकोटिभवों में खपाता है, उन कर्मों को ज्ञानी (निर्विकल्पसमाधि में स्थित) त्रिगुप्ति के द्वारा उच्छ्वास मात्र में खपा देता है ।

इस गाथा का अनुवाद छहडाला में निम्न पद्य द्वारा किया गया है ।

कोटि जन्म तप तपे, ज्ञान बिन कर्म क्षरं जे ।
ज्ञानी के छिनमाहि, त्रिगुप्तिसे सहज टरं ते ॥

इस गाथा की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने ज्ञानी और अज्ञानी की परिभाषा निम्न प्रकार की है—

‘यन्निर्विकल्पसमाधिरूपं निश्चरत्नत्रयलक्षणं विशिष्टस्वसवेदनज्ञानं तदभावादज्ञानीजीवो बहुभवकोटिभिर्यत्कर्मक्षपयति तत्कर्मज्ञानीजीवः पूर्वोक्तज्ञानगुणसद्भावात् त्रिगुप्तिगुप्तः सन्नुच्छ्वासमात्रेण लीलयैव क्षपयतीति ।’

यदि ‘ज्ञान बिन’ अर्थात् ‘अज्ञानी’ का अर्थ मिथ्यादृष्टि किया जायगा तो श्री कुन्दकुन्दाचार्य की उपर्युक्त गाथा का अर्थ ठीक नहीं बैठेगा, क्योंकि मिथ्यादृष्टि तो कर्मों का क्षय नहीं करता है, किन्तु उपर्युक्त गाथा में अज्ञानी के कर्मों का क्षय बतलाया है । कर्मों का क्षय सम्यग्दृष्टि के ही सम्भव है अतः उपर्युक्त गाथा व छहडाला के पद्य में अज्ञानी से अभिप्राय उन सम्यग्दृष्टिजीवों का है जो निर्विकल्पसमाधि से रहित हैं । जो सम्यग्दृष्टिजीव निर्विकल्पसमाधि में स्थित हैं वे ही ज्ञानी हैं ।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य की यही दृष्टि समयसार आदि ग्रन्थों में भी रही है अतः वहाँ पर भी ‘ज्ञानी’ शब्द से वीतरागसम्यग्दृष्टि अर्थात् निर्विकल्पसमाधि में स्थित सम्यग्दृष्टि को ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि ज्ञान श्रद्धान के अनुरूप आचरण करने के कारण निर्विकल्पसमाधि में स्थित वीतरागसम्यग्दृष्टि ही वास्तविक ज्ञानी है । निर्विकल्पसमाधि से रहित सविकल्पचारित्र वाले सम्यग्दृष्टि भी वास्तविक ज्ञानी नहीं हैं, अज्ञानी हैं । फिर ज्ञानी शब्द से असंयतसम्यग्दृष्टि का कैसे ग्रहण हो सकता है । इसीलिये श्री जयसेनाचार्य ने समयसार की टीका में लिखा है—

‘अत्र ग्रंथे वस्तुवृत्त्या वीतरागसम्यग्दृष्टेर्ग्रहणं ।’ (पृ० २७४)

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने निर्विकल्पसमाधि में स्थित वीतरागसम्यग्दृष्टि को ज्ञानी कहा है और सविकल्पसम्यग्दृष्टि को अज्ञानी कहा है ।

—जं. ग. 4-12-69/VI/ जिनेन्द्रकुमार

जीवतरव/विभाव में हेतु

अध्यवसान

शंका—‘समयसार’ में अध्यवसान से क्या अर्थ लिया है ?

समाधान—यद्यपि अध्यवसान का अर्थ निर्णयात्मक ज्ञान होता है, परन्तु समयसार की टीका में अध्यवसान का अर्थ मिथ्याज्ञान लिया है । (देखो कलश १७०) रागद्वेष पर-वस्तु के आश्रय से होता है, अतः बुद्धिपूर्वक रागद्वेष सहित जो ज्ञान है वह भी अध्यवसान है । [समयसार गाथा १७२ की टीका]

—पद्माचार 6-9-80/ज. ला. जंन, भीण्डर

विभिन्न अध्यावसानों के नाम

शंका—समयसार में यतरेबंधनिमित्ताः ततरे रागद्वेषमोहाद्याः [स० सा० गा० २१७] पद आया है; जिसका अर्थ है रागद्वेषमोहादि (अध्यवसान प्रकरण)—यहाँ रागद्वेषमोहादि में 'आवि' शब्द से क्या लेना चाहिए ?

समाधान—राग, द्वेष, मोह के अतिरिक्त लेश्यारूप परिणाम प्रमादरूप परिणाम ग्रहण किये जा सकते हैं। बंध के कारणों में कषाय व मिथ्यात्व से पृथक् प्रमाद को ग्रहण किया है। भ्रातृ-रीदरूप परिणाम भी लिये जा सकते हैं।

—पत्राधार 30-9-80/ ज. ला. जैन, भीण्डर

शुद्धात्मा में रागादि शक्तिः भी नहीं हैं तथा क्रियावती शक्ति भी आत्मा में नहीं है

शंका—शुद्धावस्था में शक्तिरूप से राग, योगादि रहते हैं या नहीं ? अकेला (स्वयं) जीव रागादि का कर्ता है या नहीं ? जीव की क्रियावती शक्ति है या निष्क्रियत्व शक्ति ?

समाधान—राग, योग आदि विभावपर्याय हैं, जो कि अशुद्धदशा में हो सकती हैं। बन्ध होने पर अशुद्ध-दशा होती है, अतः बन्ध का नाश होने पर राग, योग आदि शक्ति [पर्यायशक्ति] रूप से भी नहीं रहते। द्रव्य सामान्यरूप है। वह अनादि-अनन्त है। वह न तो संसारी है, न ही मुक्त। पर्याय विशेष हैं। वे उत्पन्न होती हैं और विनष्ट होती रहती हैं। सामान्य अपने सब विशेषों में व्याप्त होकर रहता है, अतः उसको तत्प्रमाण कहा है। जैसे बांस (वेणुदण्ड) प्रत्येक पोरी में भिन्न-भिन्न है, किन्तु सामान्य से वेणुदण्ड अपनी पोरियों प्रमाण है। विशेष दृष्टि से प्रत्येक पोरी का वेणुदण्ड भिन्न-भिन्न है। अन्यथा द्रव्य का लक्षण उत्पाद व्यय धीव्य घटित नहीं हो सकेगा।

अकेला जीव स्वयं रागादि का अकर्ता है। समयसार गा० २७९ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा भी है—

केवलः किलारामा परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावाद् रागादिभिः स्वयं न परिणमते ।

समयसार गाथा ५१ में श्री कुन्धकुन्दाचार्य ने कहा है—“जीवस्त णरिण्य रागो णचि दोसो खेव विज्जदे मोहो ।”

समयसार—आत्मख्याति टीका के अन्त में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने ४७ शक्तियों का कथन किया है उसमें जीव के निष्क्रियत्वशक्ति कही है, किन्तु क्रियावती शक्ति नहीं कही।

मात्र हाइड्रोजन में या मात्र आक्सीजन में जलरूप परिणामन करने की शक्ति नहीं है, किन्तु इन दोनों का बन्ध होने पर हवा से [Gas से] जलरूप परिणामन हो जाता है; इसीलिए जल को न केवल H कहा तथा न ही केवल O कहा, किन्तु H₂O कहा है। आत्मा स्वभाव से अमूर्तिक है, किन्तु बन्ध होने पर मूर्तिक हो जाता है।

—पत्र 14-12-78/ ज. ला. जैन, भीण्डर

जीव व पुद्गल के स्वभाव व विभाव परिणमन में अन्य द्रव्य हेतुता

शंका—जीव और पुद्गलों के विभाव तथा क्रमअबद्ध पर्यायों में धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्यों की शुद्ध-क्रमबद्धपर्यायों कैसे निमित्त हो सकती हैं ?

समाधान—धर्मद्रव्य जीव और पुद्गल के गमन में सहकारी कारण है। अधर्मद्रव्य जीव और पुद्गल को ठहरने में सहकारी कारण है। आकाश द्रव्य जीवादिद्रव्यों को अवकाश देता है। कालद्रव्य सर्वद्रव्यों के परिणमन में सहायक है। द्रव्यसंग्रह गाथा १७, १८, १९ व २१।

जीव और पुद्गल के परिणमन में ये चारों द्रव्य सामान्य हेतु हैं। इनके कारण जीव और पुद्गलों का स्वभाव या विभाव परिणमन नहीं होता है। जीव और पुद्गलों का परस्पर बंध हो जाने के कारण अथवा पुद्गल का परस्पर बंध हो जाने के कारण जीव और पुद्गलों में विभाव परिणमन होता है। बंध से मुक्त हो जाने पर स्वभाव परिणमन होने लगता है। अतः जीव और पुद्गलों के विभाव और स्वभाव परिणमन में परद्रव्य के साथ बंध-अबंध अवस्था कारण है।

धर्म, अधर्म आकाश और काल ये चारोंद्रव्य तो अनादि काल से शुद्ध हैं, अतः इनका परिणमन तो स्वाभाविक ही होता है। जीवद्रव्य अनादि काल से पौद्गलिक कर्मों से बंधा हुआ है अतः उसका परिणमन विभावरूप हो रहा है, किन्तु जो मुक्त हो गये उनका परिणमन स्वाभाविक हो जाता है। पुद्गल परमाणु का परिणमन स्वाभाविक है और स्कंध का विभाव परिणमन है।

—जै. ग. 15-1-70/VII/ राजकिशोर

रागादि भाव किसके हैं ?

शंका—समयसार गाथा ५०-५५ में राग, द्वेष, मोह, गुणस्थान व जीवस्थान आदि की निश्चयनय से पुद्गल के कहा है तो क्यों ? राग-द्वेषादि भाव जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न होते हैं अतः निश्चयनय से ये भाव न जीव के हैं, न पुद्गल के हैं।

समाधान—समयसार गाथा १११ की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने इस विषय को बहुत स्पष्ट किया है जो इस प्रकार है—

‘एते मिथ्यात्वाविभावप्रत्ययाः शुद्धनिश्चयेनाचेतनाः खलुस्फुटं । कस्मात् ? पुद्गलकर्मोदय सम्भवा यस्मादिति । यथा स्त्रीपुरुषाभ्यां समुत्पन्नः पुत्रो विवक्षा वशेन देवदत्तायाः पुत्रोयं केचन वदंति, देवदत्तस्य पुत्रोयमिति केचन वदंति इति बोधो नास्ति । तथा जीवपुद्गल-संयोगोत्पन्नाः मिथ्यात्वरारागादिभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानरूपेण चेतनाजीवसंबद्धाः शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेणाचेतनाः पौद्गलिकाः । परमार्थतः पुनरेकांतेन न जीवरूपाः न च पुद्गलरूपाः सुधाहरिद्रयोः संयोगपरिणामवत् । वस्तुतस्तु सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनयेन न संत्येवान्जानोद्भवाः कल्पिता इति । एतावता किमुक्तं भवति । ये केचन वदंत्येकांतेन रागादयो जीवसम्बन्धिनः पुद्गलसम्बन्धिनो वा तदुभयमपि वचनं मिथ्या । कस्मादिति चेत् ? पूर्वोक्तस्त्री पुरुषदृष्टांतेन संयोगोद्भवत्वात् ।’

ये मिथ्यात्वादि (राग, द्वेष, मोह आदि) शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा अचेतन हैं, क्योंकि पुद्गलकर्मोदय से इन रागादिकी उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ पुत्र अपने बाबा के घर पर विवक्षावश देवदत्त-पिता का कहा जाता है, माता का नाम कोई भी नहीं जानता, किन्तु वही पुत्र नाना के घर पर

विवक्षावश देवदत्ता-माता का कहा जाता है वहाँ पर पिता का नाम कोई भी नहीं जानता। इसीप्रकार जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हुए मिथ्यात्वरामादिभाव अशुद्धनिश्चयनय और अशुद्धउपादान की अपेक्षा चेतन हैं; क्योंकि जीव के हैं। शुद्धनिश्चयनय और शुद्धउपादान की अपेक्षा ये रागादिभाव अचेतन हैं, पीद्गलिक हैं। (शुद्धनिश्चयनय की विवक्षा में शुद्धजीव को ग्रहण कर अशुद्धपुद्गल को ग्रहण किया गया है) परमार्थ से जीव और पुद्गल को पृथक्-पृथक् ग्रहण करने पर रागादि न जीवरूप हैं और न पुद्गलरूप हैं, क्योंकि चूना और हल्दी के संयोग से उत्पन्न हुए जात्यंतर रक्तवर्ण के समान ये रागादि जीव और पुद्गल के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ जात्यंतर-भाव है। वस्तुतः सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि में इन रागादि का सद्भाव नहीं है; ये रागादि कल्पित हैं। ये रागादिविभावभाव होने के कारण न तो शुद्धजीव के हैं और न शुद्धपुद्गल के हैं। इसलिये शुद्धजीव और शुद्धपुद्गल को ग्रहण करनेवाली सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि में रागादिविभावभावों का सद्भाव ही नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि जो एकान्ततः रागादि को जीव के कहते हैं या एकान्त से पुद्गल के कहते हैं उन दोनों के दचन मिथ्या हैं, क्योंकि रागादि जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न होते हैं जैसे पुत्र, स्त्री और पुरुष के संयोग से उत्पन्न होता है। यहाँ पर नैमित्तिकभावों को निश्चयनय से निमित्त के बतलाये गये हैं।

—जं. ग. 12-2-70/VII/ रतनलाल

रागादि का आत्मा के साथ तादात्म्य संबंध है

शंका—रागादि के साथ आत्मा का कौनसा सम्बन्ध है ? तादात्म्यसंबंध या मात्र निमित्त-नैमित्तिक संबंध।

समाधान—जिस समय यह आत्मा अपने परिणमन स्वभाव से द्रव्य कर्मोदय का निमित्त पाकर रागादिरूप परिणमता है उससमय यह जीव उन रागादिपरिणामों से तन्मय हो जाता है। कहा भी है—परिणमन्नि जेण दव्वं तक्कालं तम्ममत्ति पण्णत्तं ।' (प्रवचनसार गाथा ८)। अर्थात्—जिससमय जिस भाव से द्रव्य परिणमन करता है उससमय उसी भावमय द्रव्य हो जाता है। इस आगमप्रमाण से यह सिद्ध हुआ कि रागादि का आत्मा के साथ तादात्म्यसंबंध है, किन्तु यह तादात्म्यसंबंध त्रैकालिक व स्वाभाविक तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है जैसा कि अग्नि और उष्णता का त्रैकालिक व स्वाभाविक तादात्म्य सम्बन्ध है। इस अपेक्षा से समयसार गाथा ५७ में रागादि का जीव के साथ तादात्म्यसम्बन्ध का निषेध किया है।

आत्मा के साथ रागादि का निमित्त-नैमित्तिक संबंध नहीं है, क्योंकि, रागादि आत्मा की ही अशुद्ध (विभाव) पर्याय है। समयसार कलश १७४ में यह प्रश्न हुआ कि रागादि का निमित्त आत्मा है या कोई ग्रन्थ। इसके उत्तर में गाथा २७८-२७९ के द्वारा स्फटिकमणि का दृष्टान्त देकर यह बताया गया कि आत्मा रागादि का निमित्त नहीं है, किन्तु अन्यद्रव्य है। रागादि का मोहनीयद्रव्यकर्मोदय के साथ निमित्तनैमित्तिकसंबंध है। जिससमय जितने अनुभाग को लिये हुए चारित्रमोहनीयद्रव्यकर्मोदय होता है उससमय उतने ही प्रविभाग-प्रतिच्छेदों को लिये हुए आत्मा के रागादि अवश्य होते हैं। यदि चारित्रमोहनीयद्रव्यकर्मोदय न हो तो जीव के रागादिभाव मात्र अपने उपादान से नहीं हो सकते। इसप्रकार द्रव्यकर्मोदय का और आत्मपरिणाम का अन्वय-व्यतिरेक के कारण अविनाभाविसम्बन्ध पाया जाता है। अविनाभाविसम्बन्ध के कारण ही द्रव्यकर्मोदय आत्मा के तद्रूप परिणामों में कारण (हेतु) होते हैं।

दर्पण के सामने जिसप्रकार का मयूर खड़ा है, दर्पण में उसीप्रकार का मयूर-प्रतिबिम्ब पड़ेगा। मयूर चेतन है और प्रतिबिम्ब दर्पण की स्वच्छता का विकार (दर्पण की पर्याय) होने से अचेतन है। मयूर का एक

अंश भी मयूरप्रतिबिम्ब में नहीं गया, किन्तु प्रतिबिम्ब का परिणामन मयूर की आकृति के आधीन है। यदि मयूर एक टांग उठाता है तो प्रतिबिम्ब में भी उसी समय एक टांग उठ जाती है। यदि मयूर नाचता है तो प्रतिबिम्ब में भी मयूर नाचने लगता है। यदि दर्पण के सामने से मयूर का अभाव हो जाता है तो मयूरप्रतिबिम्ब का भी अभाव हो जाता है। दर्पण धर्गाकार हो या गोल हो, दर्पण की आकृति के कारण मयूर प्रतिबिम्ब में कोई अन्तर नहीं पड़ता, किन्तु मयूर की आकृति में अन्तर पड़ने से तुरन्त मयूर प्रतिबिम्ब की आकृति में अन्तर पड़ जाता है। यद्यपि प्रतिबिम्ब का उपादानकारण दर्पण है, किन्तु प्रतिबिम्ब दर्पण के आकार के आधीन न होकर मयूर के आकार के आधीन है, प्रतिबिम्ब दर्पण की विभावपर्याय है।

इसीप्रकार रागादि जीव की विकारीपर्याय हैं, इनमें द्रव्यकर्म का एक परमाणु भी नहीं है फिर भी जिस-जिसप्रकार का द्रव्यकर्मोदय होता है उस प्रकार जीव अपने परिणामन स्वभाव के कारण परिणम जाता है। यदि क्रोधद्रव्यकर्म का उदय है तो जीव में क्रोधरूप परिणाम अवश्य होंगे, मान, माया या लोभरूप नहीं हो सकते। यदि तीव्र अनुभाग को लिये हुए क्रोधद्रव्यकर्मोदय है तो जीव में तीव्रक्रोधरूप परिणाम होंगे, मंदक्रोधरूप नहीं हो सकते। ऐसा भी नहीं है कि क्रोधद्रव्यकर्म का उदय हो और जीव में क्रोध न हो, क्योंकि 'उदय' का अर्थ ही फल देना है (पं० का० गाथा ५६ ढोका) अथवा कर्मस्वरूप से या पररूप से फल बिना दिये अकर्मभाव (निर्जरा) को प्राप्त नहीं होता (जयघवल पु० ३ पृ० २४५)। यदि द्रव्यकर्मोदय होनेपर भी जीव के तद्रूप परिणाम न हों तो अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यानकषाय के उदय में जीव के संयमभाव का तथा बादरकषाय के उदय में सूक्ष्मसाम्प्राय-संयमभाव का प्रसंग आ जायगा, जो आगमविरुद्ध है। जिसप्रकार दर्पण की मयूरबिम्बरूप विकारीपर्याय मयूर के आधीन है उसीप्रकार जीव की रागादि विकारीपर्याय कर्मोदय के आधीन है इसीलिये पंचास्तिकाय गाथा ५७ में जीव के श्रौदयिकभावों का द्रव्यकर्म हेतुकर्ता कहा गया है।

रागादि के साथ आत्मा का उपादान कारण होने से, तादात्म्य संबंध है और द्रव्यकर्म के साथ रागादि का हेतुकर्ता होने से निमित्तनैमित्तिकसम्बन्ध है।

— जं. सं. 20-3-58/VI/ कपूर्वोदेवी

संसारावस्था में जीव की शुद्ध द्रव्यपर्याय सम्भव नहीं है

शंका—क्या आत्मा संसारावस्था में शुद्ध-अशुद्धरूप परिणमन कर सकती है ? यदि शुद्धरूप परिणमन कर सकती है तो फिर उसका अशुद्ध परिणमन क्यों होता है ?

समाधान—अबतक संसारावस्था है तबतक यह जीव मनुष्य, नरक, तिर्यंच, देव इन चार गतियों में से किसी न किसी गति में अवश्य होगा, क्योंकि इन चार गतियों से रहित सिद्ध भगवान होते हैं। मनुष्य, नरक, तिर्यंच, देव में जीव की अशुद्धपर्याय हैं, क्योंकि कर्मोपाधिजनित हैं। कर्मोपाधि से रहित तो सिद्धपर्याय है जो जीव की शुद्धपर्याय है।

णरणारयतिरियसुरा पञ्जाया ते विभावमिदि भणिवा ।

कम्मोपाधि विवज्जिय ते पञ्जाया सहावमिदि भणिवा ॥१५॥

अर्थ—श्री जिनेन्द्र भगवान ने मनुष्य, नरक, तिर्यंच और देव पर्यायों को जीव की विभाव पर्यायें कहा है; और कर्मोपाधि से रहित पर्याय (सिद्ध पर्याय) को जीव की स्वभाव पर्याय कहा है।

इस गाथा से स्पष्ट है कि अशुद्धपर्याय का कारण कर्मोपाधि है। संसारावस्था में कर्मोपाधि से रहित जीव की अवस्था होती नहीं है, अतः संसारावस्था में जीव की शुद्धद्रव्यपर्याय सम्भव नहीं है।

—जै. ग. 18-6-70/V/ का. ना कोठारी

आत्मा : शुद्ध/अशुद्ध

शंका—क्या रागद्वेष का असर ऊपरी है ? क्या आत्मा का इस हालत में भी कुछ नहीं बिगड़ा ? आत्मा अब भी शुद्ध ही है क्या ?

समाधान—क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से कषाय चार प्रकार की है। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद नौ प्रकार की नोकषाय है। इनमें से माया, लोभ, हास्य, रति, स्त्रीवेद, पुरुषवेद व नपुंसकवेद ये सातों राग हैं। क्रोध, मान, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा ये छह द्वेष हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि कषाय ही राग-द्वेष है। जहाँ कषाय नहीं वहाँ राग-द्वेष भी नहीं है। अब यह विचारना है कि कषाय जीव की परिणति है या अजीव की या दोनों की और कषायरूप पर्याय का तादात्म्यसम्बन्ध है या संयोगसम्बन्ध है; यदि तादात्म्यसम्बन्ध है तो क्या वह नित्य (त्रिकालिक) तादात्म्यसम्बन्ध है या अनित्य तादात्म्यसम्बन्ध है। श्री स० सा० गाथा १६५ में यह बताया गया है कि कषाय किस द्रव्य का परिणाम है और किस प्रकार का सम्बन्ध है। वह गाथा इसप्रकार है—

मिच्छन्तं अविरमणं कषाय योगे य सण्णसण्णानु ।

बहुविहभेया जीवे, तस्सेव अण्णण परिणामा ॥ आत्तव अधिकारः। प्रथम गाथा॥

अर्थ—मिथ्यात्व, अविरत, कषाय और योग यह संज्ञा (चेतन अर्थात् जीव विकार) और असंज्ञा (पुद्गल विकार, द्रव्यकर्म) भी हैं। विविध भेदवाले (संज्ञ) जो जीव में उत्पन्न होते हैं वे जीव के ही अनन्य परिणाम हैं। श्री कुन्वकुन्दाचार्य ने इस गाथा के द्वारा यह उपदेश दिया है कि राग-द्वेष आत्मा (जीव) की निजपरिणति है और वह जीव से अभिन्न है। इसी बात को भी उमास्वामी आचार्य ने मो० शा० के दूसरे अध्याय में कहा है जो इस प्रकार है—ओपशमिकक्षायिको भावो मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपरिणामिको च ॥१॥ गतिकषायलिङ्गमिथ्या-वर्णनाऽज्ञानाऽसंयताऽसिद्धलेश्याश्चतुष्टयैर्कैर्कैर्कषयड्भेदाः ॥६॥ प्रथमसूत्र में औदयिकभाव को जीव का स्वतत्त्व कहा है और सूत्र ६ में कषाय (राग-द्वेष) को औदयिकभाव कहा है। इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि राग-द्वेष (कषाय) जीव के स्वतत्त्व (निजपर्याय) हैं। श्री कुन्वकुन्द भगवान् प्र० सा० में यह उपदेश देते हैं कि जिससमय जो द्रव्य जिस पर्यायरूप परिणमता है, उस समय उसद्रव्य का उस पर्याय से तादात्म्यसम्बन्ध होता है अर्थात् उस समय द्रव्य उस पर्याय से तन्मय हो जाता है। गाथा इस प्रकार है—

परिणमदि जेण दब्बं, तवकालं तम्मय त्ति पण्णत्तं ।

तम्हा धम्मपरिणदो, आदा धम्मो सुण्णेषव्वो ॥८॥

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो ।

सुद्धेण तदा सुद्धो, हवदि हि परिणाम सब्भावो ॥९॥

अर्थ—द्रव्य जिस रूप परिणमन करता है उस समय उसमय है ऐसा कहा गया है। इसलिये धर्मपरिणत आत्मा को धर्म समझना चाहिए ॥८॥ जीव परिणामस्वभावी होने से जब शुभ या अशुभ भावरूप परिणमन करता है तब शुभ या अशुभ (स्वयं ही) होता है। और जब शुद्धभावरूप परिणमित होता है तब शुद्ध होता है। इस

गाथा की टीका में भी अभुतचन्द्राचार्य ने लिखा है कि जब यह आत्मा शुभ या अशुभ रागभाव से परिणमित होता है तब परिणाम स्वभाव होने से शुभ या अशुभ होता है। इन गाथाओं से यह सिद्ध होता है कि जिस समय जीव राग (कषाय) भाव से परिणत होता है उस समय वह जीव रागमयी हो जाता है। इस रागमयी जीव के ज्ञान की क्या अवस्था होती है ? उसे भी अकलंकदेव स्वरूप सम्बोधन में बताते हैं—

कषायः रञ्जितं चेतस्तरुं नैवावगाहते ।

नीलीरक्तोऽम्बरे रागो, बुराधेमो हि कौकुमः ॥ १७ ॥

अर्थ—जैसे नीले कपड़े पर केसर का रंग नहीं चढ़ सकता वैसे ही क्रोधादि कषायों से रंजयमान हुए मनुष्य का चित्त, वस्तु के असली स्वरूप को नहीं पहिचान सकता।

रागी (कषायी) जीव के यथाख्यातसंयतगुण का अभाव रहता है। यदि कोई यह शङ्का करे कि संयत-गुण का अभाव होने पर जीव का भी अभाव हो जावेगा। सो ऐसी शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि जिसप्रकार उपयोग जीव का लक्षण कहा गया है इसप्रकार संयम जीव का लक्षण नहीं होता है। अतएव संयम के अभाव में जीवद्रव्य का अभाव नहीं होता (ष० ख० ७।९६)। उस कषायी जीव में उत्तम क्षमादि दसधर्म प्रगट नहीं होते।

इसप्रकार आगम प्रमाणां से यह सिद्ध होता है कि राग-द्वेष जीव की विकारी पर्यायि है। जीव उन पर्यायों से तन्मय होता है, उन पर्यायों का मात्र ऊपरी असर नहीं होता, किन्तु उनसे आत्मा का दर्शन व चारित्र (संयम) गुण घाता जाता है जिससे आत्मा का बहुत बिगाड़ होता है। आत्मा रागावस्था में अशुद्ध होती है, शुद्ध नहीं होती, किन्तु शुद्ध होने की शक्ति रहती है। यदि कषायावस्था में आत्मा शुद्ध है तो क्या अकषाय अवस्था में अशुद्ध होगी ? राग शब्द ही आत्मा की अशुद्ध अवस्था का वाचक है। नयविवक्षा समझकर यह समाधान ग्रहण करना चाहिए।

—ज. सं. 26-7-56/VI/ ला. रा. दा. कैराना

शंका—क्या जीव सदैव (हर समय) संसारी अवस्था में भी शुद्ध निर्विकार रहता है अथवा कर्माधीन अवस्था में वह हर समय अशुद्ध ही रहता है ? साक्ष्य यह है कि यदि कर्मदश संसारी जीव में एक समय में अशुद्ध भाव होते हैं तो क्या उसी समय उसमें शुद्ध भाव का रहना भी सम्भव है ? यदि है तो किस प्रकार ? यदि एक ही समय में दो परस्पर विरोधीभाव शुद्ध व अशुद्ध संसारी जीव में नहीं रह सकते तो ऐसी अवस्था में जीव-जो निश्चयनय से सदैव (हर समय) शुद्ध व निर्विकल्प कहा जाता है, वह किस प्रकार है ?

समाधान—बृहद् द्रव्य संप्रह की गाथा १३ के 'सध्वे सुद्धाहु सुद्धणया' शब्दों को लेकर यह शङ्का की गई प्रतीत होती है अतः इसका समाधान बृहद् द्रव्य संप्रह की संस्कृत टीका के आधार से किया जाता है। गाथा २० की टीका में इस प्रकार कहा है—सर्वे जीवा यथा शुद्धनिश्चयेन शक्तिरूपेण निरावरणाः शुद्धबुद्धौघैकस्वभावस्तथा-व्यक्तिरूपेण व्यवहारनयेनापि, न च तथा प्रत्यक्षविरोधावागम विरोधाच्चेति।

अर्थ :—जैसे शक्तिरूप शुद्धनिश्चयनय से सब जीव आवरणरहित तथा शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव के धारक हैं वैसे ही व्यक्तिरूप व्यवहारनय से भी हो जाँय, किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि ऐसा मानने में प्रत्यक्ष और आगम से विरोध है। इस आगम प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि संसारावस्था में भी सब जीव शक्तिरूप से शुद्ध हैं, किन्तु व्यक्तिरूप से अशुद्ध हैं। यदि संसार अवस्था में जीव में शुद्ध होने की शक्ति न मानी जावे तो जीव कभी शुद्ध नहीं हो सकेगा अतः मोक्षमार्ग का उपदेश निरर्थक हो जावेगा। यदि संसार अवस्था में भी व्यक्तिरूप से शुद्ध मान लिया

जावे तो भी मोक्षमार्ग का उपदेश निरर्थक हो जावेगा, क्योंकि जिसके शुद्ध अवस्था (मोक्ष) व्यक्त है अर्थात् प्राप्त है उसको मोक्ष की प्राप्ति के उपदेश से क्या लाभ ? वर्तमान पर्याय से उपलक्षित द्रव्य को भाव कहते हैं (ष० खं० ५०१८७) । वर्तमानपर्याय एकसमय की एक ही होगी, क्योंकि एकसमय में एक द्रव्य की दो पर्याय नहीं होती । यदि शुद्धपर्याय है तो उससमय अशुद्धपर्याय नहीं हो सकती और यदि अशुद्धपर्याय है तो उससमय शुद्धपर्याय नहीं हो सकती, क्योंकि शुद्ध और अशुद्ध परस्पर विरोधी हैं । अथवा जिससमय अवस्था विशेष में मिश्र परिणाम होते हैं उस समय शुद्ध व अशुद्धभाव एक जीव में एक साथ भी रह सकते हैं । अनेकान्त से यह घटित हो जाता है । अनेकान्त का अर्थ है—अनेक विरोधी धर्म एकसाथ एकद्रव्य में रहते हैं । ष० खं० पु० १ पत्र १६७ पर कहा भी है—अनेकान्त का यह अर्थ समझना चाहिए कि जिन धर्मों का जिस आत्मा में अत्यन्त अभाव नहीं है वे धर्म उस आत्मा में किसी काल और किसी क्षेत्र की अपेक्षा युगपत् भी पाये जा सकते हैं, ऐसा हम मानते हैं । इस प्रकार जबकि समीचीन और असमीचीनरूप इन दोनों श्रद्धाओं का क्रम से एक आत्मा में रहना सम्भव है तो कदाचित् किसी आत्मा में एक साथ भी उन दोनों का रहना बन सकता है । यह सब कथन काल्पनिक नहीं है, क्योंकि पूर्व स्वीकृत अन्य देवता के अपरित्याग के साथ-साथ अरिहन्त भी देव हैं ऐसी सम्पत्तिमध्यारूप श्रद्धावाला पुरुष पाया जाता है । अनेकान्त का यह भी अर्थ नहीं कि परस्पर विरोधी व अविरोधी समस्त धर्मों का एक साथ एक आत्मा में रहना सम्भव हो । यदि सम्पूर्ण धर्मों का एक साथ रहना मान लिया जावे तो परस्पर विरुद्ध चैतन्य-अचैतन्य धर्मों का एक साथ एक आत्मा में रहने का प्रसंग आ जाएगा (ष० खं० पु० १/१६६-१६७) इसी प्रकार शुद्ध व अशुद्धभाव का एक आत्मा में क्रम से रहना सम्भव है तो कदाचित् किसी आत्मा में एक साथ भी एकदेश शुद्ध-अशुद्ध दोनों का रहना भी सम्भव है । शक्ति और व्यक्ति के कथन को स्पष्ट करने के लिये बृहद् द्रव्य संग्रह के टीकाकार ने इस प्रकार लिखा है—मिथ्यादृष्टिभ्रम्ये जीवे बहिरात्मा व्यक्तिरूपेण तिष्ठति अन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेण भाविनेगमनयापेक्षया व्यक्तिरूपेण च । अभव्यजीवे पुनर्बहिरात्मा व्यक्तिरूपेण अन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेण च भावि नैगमनयेनेति । यदाभव्यजीवे परमात्मा शक्तिरूपेण वर्तते तर्हि कथमभव्यत्वमिति चेत् परमात्मशक्तेः केवलज्ञानादिरूपेण व्यक्तित्वं भविष्यतीत्यभव्यत्वं, शक्तिः पुनः शुद्धनयेनोभयत्र समाना । यदि पुनः शक्तिरूपेणाप्यभव्यजीवे केवलज्ञानं नास्ति तदा केवलज्ञानावरणं न घटते । भव्याभव्यद्वयं पुनरशुद्धनयेनेति भावार्थः । एवं यथा मिथ्यादृष्टि-संज्ञे बहिरात्मनि नयविभागेन दशितमात्मत्रयं तथा शेषगुणस्थानेष्वपि । तद्यथा—बहिरात्मावस्थायामन्तरात्मपरमात्म-द्वयं शक्तिरूपेण भाविनेगमनयेन व्यक्तिरूपेण च विज्ञेयम् । अन्तरात्मावस्थायां तु बहिरात्मा भूतपूर्वनयेन घृतघटवत्, परमात्मस्वरूपं तु शक्तिरूपेण भाविनेगमनयेन व्यक्तिरूपेण च । परमात्मावस्थायां पुनरन्तरात्मबहिरात्मद्वयं भूतपूर्वनयेनेति ।

अर्थ—मिथ्यादृष्टि भ्रम्यजीव में बहिरात्मा तो व्यक्तरूप से रहता है और अन्तरात्मा व परमात्मा ये दोनों शक्तिरूप से रहते हैं एवं भाविनेगमनय की अपेक्षा व्यक्तरूप से भी रहते हैं । मिथ्यादृष्टि अभव्य जीव में बहिरात्मा व्यक्तरूप से और अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्तिरूप से ही रहते हैं; भावी नैगमनय की अपेक्षा अभव्य में अन्तरात्मा तथा परमात्मा व्यक्तरूप से नहीं रहते । कदाचित् कोई कहे कि यदि अभव्य जीव में परमात्मा शक्तिरूप से रहता है तो उसमें अभव्यत्व कैसे है ? इसका उत्तर यह है कि अभव्य जीव में परमात्मशक्ति की केवलज्ञानादि-रूप से व्यक्ति न होगी इसलिए उसमें अभव्यत्व है । शुद्धनय की अपेक्षा परमात्मा की शक्ति तो मिथ्यादृष्टि भ्रम्य और अभव्य इन दोनों में समान है । यदि अभव्य जीवों में शक्तिरूप से भी केवलज्ञान न हो तो उसके केवलज्ञाना-वरणकर्म सिद्ध नहीं हो सकता । सारांश यह है कि भव्य, अभव्य ये दोनों अशुद्धनय से हैं । इसप्रकार जैसे मिथ्या-दृष्टि बहिरात्मा में नयविभाष से तीनों आत्माओं को बतलाया है उसी प्रकार शेष गुणस्थानों में भी घटित करना चाहिए । जैसे कि बहिरात्मा की दशा में अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्तिरूप से रहते हैं और भावी नैगमनय

से व्यक्तरूप से भी रहते हैं, ऐसा समझना चाहिये । अन्तरात्मा की अवस्था में बहिरात्मा भूतपूर्वनय से घृत के घट के समान और परमात्मा का स्वरूप शक्तिरूप से तथा भावी नैगमनय की अपेक्षा व्यक्तरूप से भी जानना चाहिये । परमात्मावस्था में अन्तरात्मा तथा बहिरात्मा भूतपूर्वनय की अपेक्षा जानने चाहिये । इसप्रकार अनेकान्त व नयों के द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का श्रद्धान कार्यकारी है ।

—जौ. सं. 30-8-56/VI/ बी. एल. पद्म, मृजालपुर

(१) द्रव्य कर्मोदय तथा रागादि का अविनाभाव सम्बन्ध है

(२) कथंचित् रागादि भाव जीव के हैं, कथंचित् नहीं

(३) रागादि भावों की उत्पत्ति में द्रव्यकर्मोदय वास्तविक हेतु है

शंका—क्या निश्चयनय की अपेक्षा 'ज्ञान की हानि (आवरण) व रागादि भाव जीव के मात्र अपनी धोरयता से हो होते हैं और द्रव्यकर्मोदय के कारण नहीं होते, द्रव्यकर्मोदय पर कारणपने का केवल आरोप किया जाता है' ऐसा है या अज्ञान आदि व रागादिभावों में द्रव्यकर्मोदय वास्तविक कारण है ?

शंका—अज्ञान व रागादिभावों का अविनाभावसम्बन्ध जीव से है या द्रव्यकर्मोदय से है ?

शंका—अज्ञान व रागादिभाव जीव के क्या निश्चयनय से हैं या व्यवहारनय से ?

समाधान—उपर्युक्त तीनों शंकाओं का एक साथ विचार किया जाता है । पर्यायाश्रित 'व्यवहारनय' है और द्रव्याश्रित 'निश्चयनय' है । (समयसार गथा ५६, आत्मख्याति वृत्ति) अविनाभाव सम्बन्ध को 'व्याप्ति' भी कहते हैं । व्याप्ति का लक्षण परीक्षामुख में इसप्रकार कहा गया है—“इसके होते ही यह होता है इसके न होते होता ही नहीं जैसे अग्नि के होते ही धुआँ होता है, अग्नि के न होते धुआँ होता ही नहीं ।

(अ० ३ सूत्र १२-१३)

ज्ञान के आवरण (अज्ञान) व रागादि का आत्मा के साथ तो अविनाभाव सम्बन्ध या तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है, क्योंकि सिद्धपर्याय (अवस्था) में आत्मा (जीव) तो है, किन्तु अज्ञान (ज्ञान का आवरण) व रागादि नहीं हैं । द्रव्यकर्मोदय के साथ अज्ञान व रागादि का अविनाभाव सम्बन्ध पाया जाता है, क्योंकि जहाँ-जहाँ चातिया द्रव्यकर्मोदय है वहाँ-वहाँ अज्ञान आदि अवश्य हैं और जहाँ-जहाँ कर्मोदय नहीं है वहाँ-वहाँ अज्ञानादि भी नहीं हैं । अथवा जहाँ-जहाँ अज्ञान व रागादि हैं वहाँ-वहाँ कर्मोदय है और जहाँ रागादि व अज्ञान नहीं हैं वहाँ चातिया कर्मोदय भी नहीं है । (समयसार आत्मख्याति गथा ६१)

जैसे सफेद रूई के वस्त्र को लाल रंग से रंग लेने पर लाल रंग के सम्बन्ध से वस्त्र भी व्यवहारनय से लाल वस्त्र कहा जाता है, क्योंकि निश्चयनय से लालिमा वस्त्र की नहीं है किन्तु रंग की है । सम्बन्ध के कारण रंग की ललाई को वस्त्र की ललाई व्यवहारनय से कही गई है उसी प्रकार पुद्गल के संयोगवश अनादिकाल से जिसकी बन्धपर्याय प्रतिद्ध है ऐसा जीव व्यवहारनय से अज्ञानी, रागी, द्वेषी कहलाता है, क्योंकि अज्ञान, राग, द्वेष, जीव के स्वभाव नहीं हैं किन्तु पुद्गल कर्मोदय के हैं । बन्ध के कारण कर्मोदय के अज्ञान, राग, द्वेष को जीव के राग द्वेष, अज्ञान व्यवहारनय से कहा जाता है इसलिए अज्ञान, राग, द्वेष जो भाव हैं वे व्यवहारनय से जीव के हैं और निश्चयनय से जीव के नहीं हैं ऐसा (भगवान का स्याद्वाद युक्त) कथन योग्य है । (समयसार आत्मख्याति गथा ५६ की टीका) समयसार गथा ६ में भी कहा है कि 'जीव न प्रमत्त है न अप्रमत्त है' क्योंकि निश्चयनय द्रव्याश्रित है और प्रमत्त व अप्रमत्तदशा जीव की पर्याय है; निश्चयनय की दृष्टि में पर्याय गीण हैं । समयसार गथा ४६

में भी औपाधिकभावों को व्यवहारनय से जीव के कहा गया है। निश्चयनय से ये औपाधिकभाव पुद्गलमयी हैं, क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणाम से उत्पन्न हुए हैं। (स० सा० गाथा ४४) गाथा ४५ की टीका में श्री जयसेना-चार्य ने लिखा है कि—'आठ प्रकार पुद्गलमयी द्रव्यकर्म का कार्य दुःख उत्पन्न करना है जिसका लक्षण आकुलता-रूप है तथा जो परमार्थ निश्चय आत्मिकसुख से विलक्षण है और जो आकुलता को भी उत्पन्न करता है। क्योंकि राग द्वेषादि भी आकुलता के उत्पन्न करनेवाले हैं इससे दुःखलक्षण स्वरूप हैं, इस कारण पुद्गल के कार्य हैं तिस कारण शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा यह रागादिक पुद्गलमयी हैं।' इसी प्रकार समयसार गाथा ५०-६८ में 'अज्ञान व रागद्वेषादि' को निश्चयनय से पुद्गल के और व्यवहारनय से जीव के कहे हैं। गाथा ७४ की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने कहा है 'यद्यपि यह जीव शुद्ध निश्चय करके अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता तथापि व्यवहार करके कर्मों के वश से रागद्वेष उपाधिमयी भावों को ग्रहण करता है।' गाथा ७५ की टीका में श्रीमदमृतचन्द्रसूरि ने 'निश्चय से रागद्वेष का पुद्गल कर्म के साथ षडे मिट्टी की तरह, व्याप्यव्यापक का सद्भाव होने से कर्ताकर्मपना' कहा है। इस गाथा ७५ के पश्चात् तात्पर्यवृत्ति में गाथा इसप्रकार है—

कत्ता आवा मणिवो, णय कत्ता केण सो उवाएण ।

धम्मारी परिणामे जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥

'आत्मा पुण्य-पाप आदि कर्मों से होने वाले औपाधिकभावों का करनेवाला व्यवहारनय से कहा गया है, परन्तु तो आत्मा किसी भी उपाय से निश्चयनय की अपेक्षा इन रागादि भावों का कर्ता नहीं है। जो कोई इनका स्वरूप जानता है सो ज्ञानी होता है।' इसी प्रकार गाथा १९९ व १९५ की टीका में भी कहा है। अन्यत्र भी ऐसा कथन पाया जाता है।

वचिवत् समयसार में निश्चयनय से भी जीव को रागादि का कर्ता कहा है। गाथा १०२, ११५, १३८ की तात्पर्यवृत्ति टीका में यह कहा है कि असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा से इसको 'निश्चय' संज्ञा दी गई है, शुद्ध-निश्चयनय की अपेक्षा तो व्यवहार ही है। 'यह संसारी जीव अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय से ज्ञानावरणीय आदि द्रव्यकर्म का कर्ता है तथा अशुद्धनिश्चयनय से रागादिभावों का कर्ता है। यद्यपि द्रव्यकर्मों के कर्तापने को कहते हुए जब अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय का प्रयोग करते हैं तब इस अपेक्षा से अशुद्धनिश्चयनय को निश्चय संज्ञा देते हैं तो भी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से इस अशुद्धनिश्चय को व्यवहार ही कहते हैं।' समयसार गाथा १३८ तात्पर्यवृत्ति। 'यहाँ शिष्य ने शंका की कि यह जीव शुद्धनिश्चय से अकर्ता है जबकि व्यवहार से कर्ता है। यह बात आपने बहुत प्रकार से वर्णन की है। परन्तु ऐसा मानने पर जैसे जीव के व्यवहारनय से द्रव्यकर्मों का कर्तापन है वैसे राग द्वेषादि भावकर्मों का भी है। तब ये द्रव्यकर्म और भावकर्म दोनों एक हो जावेंगे। इसका समाधान आचार्य करते हैं कि ऐसा नहीं है। रागद्वेषादि भावकर्मों का कर्तापना इस आत्मा के जिस व्यवहारनय से कहा जाता है उसकी संज्ञा अशुद्धनिश्चयनय है। यह संज्ञा इसलिए है कि जिससे रागादि भावकर्म और ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म इन दोनों का तारतम्य मालूम पड़े। वह तारतम्य क्या है? इसके लिये कहते हैं कि द्रव्यकर्म तो अचेतन जड़ हैं जबकि भावकर्म चेतन हैं, तथापि शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा इनको अचेतन ही कहते हैं, क्योंकि यह अशुद्ध निश्चयनय भी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार है। समयसार गाथा ११५ तात्पर्यवृत्ति।

अशुद्धनिश्चयनय का लक्षण इसप्रकार है—'कर्मउपाधि से उत्पन्न होने से 'अशुद्ध' कहलाता है और उस-समय अग्नि में तपे हुए लोहे के गोले के समान तन्मय होने से 'निश्चय' कहा जाता है।'

(वृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ८ की टीका)

उपर्युक्त आगम प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि अज्ञान व रागादि इस जीव के व्यवहारनय से अथवा कर्मउपाधिसहित निश्चयनय से हैं, किन्तु शुद्धनिश्चयनय से ये अज्ञान व रागादिभाव जीव के नहीं हैं। निश्चयनय द्रव्याश्रित होने से पर्याय को ग्रहण नहीं करता। अज्ञान व रागादि विकारीपर्याय हैं अतः निश्चयनय की अपेक्षा से जीव के रागादि व अज्ञानभाव नहीं हैं, व्यवहारनय की अपेक्षा से रागादि व अज्ञानभाव जीव के हैं।

—जं. सं. 28-11-57/VI/ व. प्र. स. पटना

शंका नं० १ में शंकाकार ने 'योग्यता' व 'आरोप' शब्दों का प्रयोग किया है। योग्यता का अर्थ इस प्रकार है—'योग्यस्य भावः योग्यता, सामर्थ्यं' अर्थात् योग्य का भाव योग्यता है जिसका अर्थ सामर्थ्य (शक्ति) होता है। आरोप का शब्दार्थ है—'अन्यस्मिन् अन्यधर्मावभासे यथा रज्ज्वा सर्पज्ञानम्' अर्थात् जिसमें अन्य धर्म (जो धर्म न हो उसका) अवभासमान हो जैसे रस्सी में साँप का ज्ञान होना। (जो वास्तव में न हो, किन्तु उस जैसी मालूम पड़ती हो। जैसे रस्सी वास्तव में साँप नहीं है, किन्तु साँप जैसी मालूम पड़ने लगती है अतः रस्सी में साँप का आरोप किया जाता है।)

प्रत्येक जीव में 'केवलज्ञान' शक्तिरूप से सर्वदा है। अभव्य जीव में यद्यपि केवलज्ञान व्यक्त नहीं होगा, किन्तु केवलज्ञान अभव्यजीव में भी शक्तिरूप से है। यदि शक्तिरूप से भी केवलज्ञान न हो तो केवलज्ञानावरण कर्म सिद्ध नहीं हो सकता। कहा भी है—यदि पुनः शक्तिरूपेणाप्यभव्यजीवे केवलज्ञानं नास्ति तदा केवलज्ञानावरणं न घटते। (वृहद् ब्रह्मसंप्रह गाथा १४ टीका) यह कथन द्रव्याधिक (निश्चय) नय की अपेक्षा से है, क्योंकि पर्यायाधिक (व्यवहार) नय से तो केवलज्ञान छद्मस्थ के है ही नहीं। छद्मस्थ के जब आत्रियमाण केवलज्ञान ही नहीं है तो उसका आवारक केवलज्ञानावरण भी पर्यायाधिकनय से सम्भव नहीं है। कहा भी है—णाणावरणोयं ॥५॥ द्रव्यद्विगुण अवलंबिज्जमाणो आवरिदणो भागसावरणो वि जीवे अस्थि। पञ्जवद्विगुण अवलंबिज्जमाणो आवरिज्जमाणो भागसावरणो, तेसि तनुवलंबाभावा। ण च एवं सुत्तं पञ्जवद्विगुणमवलंबिय द्विदं, तवावरिज्जमाणो-आवरयववहाराभावा। किंतु द्रव्यद्विगुणमवलंबिय सुत्तमिदमवद्विदं तेलीत्य आवरिज्जमाणो आवरय भावो ण विरुद्धवे। अर्थ—ज्ञानावरणीय कर्म है ॥सूत्र ५॥ द्रव्याधिकनय का अवलम्बन करने पर आवरण किये गये ज्ञान के अंश सावरण जीव में भी होते हैं। पर्यायाधिकनय का अवलम्बन करने पर आत्रियमाण ज्ञानभाग सावरण जीव में नहीं होते, क्योंकि वे ज्ञानभाग उक्त जीव में नहीं पाये जाते। यह सूत्र (नं० ५) पर्यायाधिकनय का अवलम्बन करके स्थित नहीं है, क्योंकि उस नय में आत्रियमाण और आवारक इन दोनों के व्यवहार का अभाव है। किन्तु यह सूत्र (नं० ५) द्रव्याधिकनय का अवलम्बन करके अवस्थित है इसलिये यहाँ पर आत्रियमाण और आवारकभाव विरोध को प्राप्त नहीं होते हैं। (षट्छण्डागम पुस्तक ६)

निश्चयनय की (द्रव्याधिकनय) अपेक्षा प्रतिसमय प्रत्येक जीव में केवलज्ञान की योग्यता है जिसको ज्ञानावरणकर्म ने आवरण कर रखा है। यह बात उपर्युक्त आगमप्रमाण से भले प्रकार सिद्ध हो जाती है। 'ज्ञान का आवरण (अज्ञानता) व रागादिभाव जीव के मात्र अपनी योग्यता से ही होते हैं और द्रव्यकर्मोदय कारण नहीं है, यह कथन आगम विरुद्ध है।'

ज्ञान का आवरण (अज्ञानता) व रागादिभाव जीव की स्वभाव पर्याय नहीं हैं, क्योंकि ये भाव सिद्धों में नहीं पाये जाते अतः ये विभावपर्याय हैं। पर्याय दो प्रकार की होती है एक स्वपर अपेक्ष और दूसरी निरपेक्ष। जो पर्याय स्वपर अपेक्ष है वह विभावपर्याय है। पञ्जाओ बुबियप्पो, सपवावेक्खो घ निरवेक्खो ॥१४॥ नियमसार। विभाव पर्यायोनाम रूपादीनां ज्ञानादीनां वा स्वपरप्रत्ययवर्तमान। (प्रवचनसार गाथा ९३ टीका) अर्थ—रूपादि के या ज्ञानादि के स्वपर के कारण विभावपर्याय है।

समयसार गाथा २५७-२५८ तथा आत्मख्याति टीका में भी कहा है 'जो मरता है या जीता है दुःखी होता है या सुखी होता है, यह वास्तव में अपने कर्मोदय से ही होता है, क्योंकि अपने कर्मोदय के अभाव में उसका वंसा होना अशक्य है।' समयसार गाथा १९९ में भी कहा है 'राग पुद्गल कर्म है उसके विपाकरूप उदय से यह राग है। टीका—वास्तव में राग नामक पुद्गलकर्म है, उसके उदय विपाक से उत्पन्न हुआ रागरूप भाव है।

समयसार गाथा १०९-११६ तात्पर्यवृत्ति टीका में यह बतलाया है कि रागादि की उत्पत्ति वास्तव में जीव और पुद्गल से होती है। टीका अर्थ इस प्रकार है—जैसे स्त्री और पुरुष दोनों के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ पुत्र है। उसको उसकी माता की अपेक्षा से देवदत्ता का यह पुत्र है ऐसा कोई कहते हैं दूसरे कोई पिता की अपेक्षा से देवदत्त का पुत्र है ऐसा कहते हैं। परन्तु इस कथन में कोई दोष नहीं तैसे ही जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न यह मिथ्यात्व व रागद्वेषादि भाव हैं सो अशुद्धनिश्चय व अशुद्धउपादान से तो चेतन हैं तथा शुद्धनिश्चयनय से व शुद्धउपादानरूप से ये भाव अचेतन हैं, पौद्गलिक हैं। परमार्थ से विचारा जाय तो ये भाव एकान्त से न तो जीव रूप हैं न पुद्गलरूप हैं, परन्तु जैसे हलदी और फिटकरी के संयोग से एक जुदा परिणाम उपजता है ऐसे ही जीव और पुद्गल के संयोग से विभावभाव हैं। इस कथन से यह कहा गया है कि जो कोई एकान्त से ऐसा कहते हैं कि यह रागादिभाव जीवसम्बन्धी हैं अथवा कोई कहते हैं कि यह पुद्गलसम्बन्धी हैं इन दोनों के भी वचन मिथ्या हैं, क्योंकि पूर्व में कहे हुए स्त्री और पुरुष के दृष्टान्त के समान जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हुए हैं।

समयसार गाथा १२१-१२५ की तात्पर्यवृत्ति में भी इसप्रकार कहा है—'यदि एकान्त से ऐसा माना जाय कि जीव स्वयं परिणमन करता हुआ उदय में प्राप्त द्रव्यक्रोध के निमित्त के बिना भी, भावक्रोधादिरूप परिणमन कर जावे, क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ दूसरे की अपेक्षा नहीं रखतीं तो ऐसा होने पर मुक्तात्मा के भी द्रव्यकर्मोदय का निमित्त न होने पर भी, भावक्रोधादिरूप प्राप्त हो जावेंगे। यह बात मानी नहीं जा सकती, आगम से विरोधरूप है।

उपर्युक्त आगम प्रमाणों से यह भलीभाँति सिद्ध होता है कि ज्ञान का आवरण व रागादिभाव मात्र जीव की योग्यता से ही उत्पन्न नहीं होते, किन्तु जीव में द्रव्यकर्मोदय से उत्पन्न होते हैं। इन विकारीभावों की उत्पत्ति में जीव व द्रव्यकर्मोदय दोनों ही कारण हैं। जैसे पुत्र की उत्पत्ति में माता व पिता दोनों कारण हैं। केवल एक से पुत्र की उत्पत्ति नहीं हो सकती, किन्तु जीव व द्रव्यकर्मोदय दोनों उपादानकारण नहीं हैं। भावक्रोधादि का उपादानकारण तो जीव है और पुद्गलकर्मोदय निमित्तकारण है। बिना निमित्त के भावक्रोधादि की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि बिना निमित्त के भी भावक्रोधादि की उत्पत्ति होने लगे तो सिद्ध के भी भावक्रोधादि की उत्पत्ति का प्रसंग आ जावेगा, जो इष्ट नहीं है। ऐसा भी नहीं है कि द्रव्यकर्मरूप धातियाप्रकृति का तो उदय हो और उसके अनुरूप जीव के भाव न हों, क्योंकि ऐसा मानने पर ध्यानारूढ क्षपकश्रेणीगत सूक्ष्मसाम्परायणुणस्थानवर्ती जीव में सूक्ष्मलोभ का उदय होने पर भी सूक्ष्मलोभकषायरूप भाव के अभाव का प्रसंग आ जाएगा जो आगमविरुद्ध है। अतः द्रव्यकर्मोदय वास्तव में निमित्त है और ज्ञान का आवरण करना तथा अन्य औदयिकभावों को उत्पन्न करना इसका कार्य है। यह कथन द्रव्याधिकनय (निश्चयनय) से है। द्रव्यकर्मोदय पर निमित्त का आरोप किया जाता है, ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि द्रव्यकर्मोदय वास्तविक निमित्त है।

- (१) “परनिमित्त बिना होई ताहि का नाम स्वभाव है”
- (२) कर्मोदय से ही जीव में विकार होता है
- (३) कर्ताकर्म संबंध कथंचित् एक द्रव्य में, कथंचित् भिन्न द्रव्य में
- (४) निगोद से निकलने में कारण [पुरुषार्थ व कर्मोदय]

संका—आत्मा के भाव होने से कर्मोदय होता है या कर्मोदय होने से आत्मा में भाव होते हैं ? निमित्त-नैमित्तिक और कर्ता-कर्म सम्बन्ध में क्या अन्तर है ? जो जीव निगोद से निकलता है वह शुभ कर्मोदय से या अपने पुरुषार्थ से ?

समाधान—इस संसार विषय एक जीवद्रव्य और अनन्ते कर्मरूप पुद्गलपरमाणु तिनका अनादि तै एक बन्वन है । तिनमें केई कर्मफल देकर निर्जरे (भिन्न होय) हैं और रागादि का निमित्त पाये, केई कर्म नवीन बंधे हैं जो कर्म निमित्त बिना पहले जीव के रागादि कहिए तो रागादिक जीव का निजस्वभाव हो जाय । जातें पर-निमित्त बिना होई ताहि का नाम स्वभाव है (मोक्षमार्ग प्रकाशक) ।

समयसार गाथा ८० की तात्पर्यवृत्ति टीका में भी इसीप्रकार कहा है—‘जिसप्रकार कुंभकार (कुम्हार) के निमित्त से मिट्टी घड़ेरूप परिणम जाती है तैसे ही जीव के मिथ्यात्वरगादि परिणामों को निमित्त पाकर कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल द्रव्यकर्मरूप से परिणम जाते हैं । जिसप्रकार से घड़े के निमित्त से घड़े को मैं करता हूँ, इस परिणामरूप कुंभकार परिणमता है उसीप्रकार पुद्गलकर्मोदय के कारण जीव भी मिथ्यात्वरगादिविभावरूप परिणमता है ।

समयसार गाथा २८३-२८५ की आत्मखयाति टीका में भी इसप्रकार कहा है—‘आत्मा स्वतः रागादि का अकारक ही है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान की द्विविधता का उपदेश नहीं हो सकता । अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का जो वास्तव में द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का उपदेश है वह द्रव्य और भाव के निमित्तनैमित्तिकपने को प्रगट करता हुआ आत्मा के अकर्तृत्व को ही बतलाता है । इसलिये यह निश्चित हुआ कि परद्रव्य निमित्त है और आत्मा के रागादिभाव नैमित्तिक हैं । यदि ऐसा न माना जाय तो एक ही आत्मा के रागादिभावों का निमित्तत्व ग्राजायेगा, जिससे नित्य कर्तृत्व का प्रसंग आ जायगा, जिससे मोक्ष का अभाव सिद्ध हो जायगा । इसलिये परद्रव्य ही आत्मा के रागादिभावों का निमित्त हो, और ऐसा होने पर, यह सिद्ध हुआ कि आत्मा रागादि का अकारक ही है ।

समयसार गाथा २७९ की आत्मखयाति टीका में भी इसप्रकार कहा है—

‘वास्तव में केवल आत्मा, स्वयं परिणामन स्वभाववाला होने पर भी अपने शुद्धस्वभावत्व के कारण रागादि का निमित्तत्व न होने से अपने आप ही रागादिरूप नहीं परिणमता, परन्तु जो अपने आप रागादिभावों को प्राप्त होने से (रागादि-अनुभागशक्ति युक्त द्रव्यकर्म) आत्मा को रागादि का निमित्त होता है ऐसे परद्रव्य के द्वारा ही रागादिरूप परिणामित किया जाता है । ऐसा वस्तुस्वभाव है ।’

इन उपर्युक्त आगमप्रमाणों से यह सिद्ध हुआ कि ‘वस्तुस्वभाव (निश्चयनय) की अपेक्षा कर्मोदय से जीव में विकारीभाव होते हैं ।’ यह कथन उपचार या व्यवहारनय से नहीं है । ‘कर्मोदय से जीव में विकार होता है’ यह कथन सत्यार्थ है असत्यार्थ नहीं है ।

जिसप्रकार स्त्री व पुरुष से पुत्र की उत्पत्ति होती है। उसीप्रकार जीव व द्रव्यकर्मादय से रागादिभागों की उत्पत्ति होती है। विवक्षावश से पुत्र कभी स्त्री का कहा जाता है और कभी पुरुष का। नाना के घर पुत्र स्त्री का कहलाता है और पितामह (बाबा) के घर पुरुष का कहलाता है। विवक्षावश रागादि कभी जीव के कहे जाते हैं और कभी पुद्गलकर्म के। एकान्त से न जीव के हैं और न पुद्गलकर्म के। (समयसार गाथा १०९-११२ तात्पर्यवृत्ति टीका) समयसार गाथा ८९-९० में रागादि का कर्ता जीव को कहा है, किन्तु पंचास्तिकाय गाथा ५८ में रागादिभागों का कर्ता कर्म को कहा है।

निमित्त-नैमित्तिकसंबंध तो भिन्न द्रव्यों की पर्याय में होता है अथवा भिन्न गुणों में होता है। किन्तु कर्ता कर्म सम्बन्ध उपादान की अपेक्षा से एक ही द्रव्य व उसकी पर्याय में होता है और निमित्त की अपेक्षा से कर्ताकर्म-संबंध भिन्न द्रव्यों की पर्याय में होता है।

जिससमय निगोदियाजीव के आयु का बंध होता है यदि उससमय काललब्धिवश व अपने अबुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ द्वारा व मंदकर्मादय के कारण उसके मंदकषाय होय तो उसके निगोदिया आयु का बंध नहीं होता, किन्तु अन्य आयु का बंध होता है। भुज्यमान निगोद आयु के पूर्ण होने पर बध्यमान नवीन आयु का उदय होने से वह जीव निगोद से निकल जाता है। अबुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ व कर्मादय दोनों कारण होते हैं। एक कार्य अनेक कारणों से होता है। उन सब कारणों के मिलने पर ही कार्य की उत्पत्ति होती है। विवक्षावश यदि कहीं एक कारण की मुख्यता से कथन ही वहाँ अन्य कारणों के अभाव से प्रयोजन नहीं है, किन्तु अन्य कारण भी गौरवरूप से हैं। कोई भी कारण अकिंचित्कर नहीं। कार्य की उत्पत्ति में सभी कारण अपना सहकार देते हैं।

—जै. सं. 2-1-58/VI/ लालचन्द नाहटा

१. जीव अपनी भूल से अज्ञानी बनता है, कर्म पर तो आरोपमात्र आता है;

ऐसी मान्यता आगम प्रतिकूल है।

२. बिना किसी दूसरे के सम्बन्ध के, एक द्रव्य में अशुद्धता नहीं आ सकती

शंका—व्यवहार कहता है कि ज्ञानावरणीयकर्म ने ज्ञान को रोक रखा है। निश्चयनय कहता है कि जब जीव अपनी भूल से अज्ञानी बनता है तब ज्ञानावरणीयकर्म को निमित्त का आरोप किया जाता है। कानजी स्वामी के इस कथन को सत्यार्थ क्यों नहीं मानते? व्यवहारनय के कथन को पूर्णरूप से वस्तु का स्वरूप क्यों समझते हो?

समाधान—यहाँ पर सर्वप्रथम यह विचारना है कि व्यवहारनय का क्या विषय है और निश्चयनय का क्या विषय है? आगम के आधार से विचार किया जाता है। पदार्थ का यथार्थ निर्णय आगमचक्षु द्वारा हो सकता है—

आगमचक्षु साहु इंदियचक्षुणि सध्वभूदाणि ।

देवा य ओहिचक्षु, सिद्धा पुण सखवो चक्षु ॥२३४॥ प्रवचनसार

अर्थ—साधु (मुमुक्षु) के आगमचक्षु है। सर्वप्राणी इन्द्रियचक्षु वाले हैं। देव अवधिचक्षु वाले हैं और सिद्धों के सर्वतः चक्षु हैं।

श्री अमृतचन्द्रसूरिजी टीका में लिखते हैं—सर्वमप्यागमचक्षुष्वेव मुमुक्षुणां द्रष्टव्यम् मुमुक्षुणों को सब कुछ आगमचक्षु द्वारा देखना चाहिए।

सर्वप्रथम नय का लक्षण विचारा जाता है—नानास्वभावेभ्यः व्यावृत्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयतीति नयः अथवा

णयदित्तिणयोमणिवो बहुहि गुणवज्जएहि जं इत्थं ।
परिणामखेत कालंतरेसु अविणट्टु सम्भावं ॥ (नयचक्र)

अर्थात् जो वस्तु को नानास्वभावों से हटाकर एक स्वभाव में निश्चय करता है वह नय है अथवा जो बहुत से गुण, पर्यायों से परिणाम, क्षेत्रान्तर और कालान्तरों में अविनश्वर सद्भाव वाले द्रव्य को निश्चय करता है, वह नय है ।

गुणव्यवस्थात्मभाषया नया उच्यन्ते । तावन्मूलनयो द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च । तत्र निश्चयनयोऽभेदविषयो व्यवहारो भेदविषयः । तत्र निश्चयो द्विविधः शुद्धनिश्चयोऽशुद्धनिश्चयश्च तत्र निरुपाधि विषयः शुद्धनिश्चयः । अथवा संसारमुक्त पर्यायाणामाधारं सूत्राव्यात्मद्रव्यकर्मबन्धमोक्षाणां कारणं न भवतीति परमभावप्राहक द्रव्याधिकनयः । अथवा मिथ्यात्वादि गुणस्थाने सिद्धत्वं वदति स्फुटं । कर्मभिनिरपेक्षो यः शुद्धद्रव्याधिको हि स ॥

अशुद्धनिश्चयनय—औदयिकादित्रिभावान् यो व्रते सर्वात्मसत्तया ।
कर्मोपाधिविशिष्टात्मा स्यावशुद्धस्तु निश्चयः ॥ (नयचक्र)

अथवा—सोपाधि विषयोऽशुद्धनिश्चय यथा मतिज्ञानादयो जीव इति ।

अर्थ—अब अध्यात्मभाषा की अपेक्षा से नय कहते हैं मूल नय दो हैं—निश्चय और व्यवहार । इनमें से निश्चय-नय का विषय अभेद है और व्यवहारनय का विषय भेद है । उनमें से निश्चयनय दो प्रकार है—शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय । उनमें से उपाधिरहित को विषय करनेवाला शुद्धनिश्चयनय है । कर्मोपाधिविशिष्ट, एवजाया ते सहावमिदि ऋणिदा । अर्थात् कर्मों की उपाधि से रहित हैं वे स्वभाव पर्याय हैं । (नियमसार गाथा १५)

संसार और मुक्त पर्यायों का साधार होकर भी प्रात्मद्रव्य कर्मों के बन्ध और मोक्ष का कारण नहीं होता है । इस अपेक्षा से परमभावप्राहक द्रव्याधिकनय है ।

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ वु जो भावो ।
एवं षणंति सुद्धं णाओ जो सोउ सो चेव ॥६॥ समयसार ॥

अर्थात् जो जायकभाव है वह अप्रमत्त भी नहीं है और न प्रमत्त ही है । जो नय मिथ्यात्वादि गुणस्थानों में स्पष्टतया सिद्धत्वपने को बतलाया है, वह कर्मों की अपेक्षा से रहित शुद्धद्रव्याधिकनय है । [सर्वे सुद्धा वु सुद्धणया ॥१३॥ (द्रव्यसंग्रह) शुद्धनय से सभी संसारीजीव शुद्ध हैं । टीका में कहा है कि 'शुद्धनय' से प्रयोजन 'शुद्धनिश्चयनय' से है ।]

अशुद्धनिश्चयनय—जो औदयिक आदि तीन भावों को (औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक) सम्पूर्ण आत्मसत्ता से युक्त बतलाता है, वह कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्धनिश्चयनय है अथवा उपाधिसहित को विषय करनेवाला अशुद्धनिश्चयनय है जैसे मतिज्ञानादि जीवरूप हैं ।

जीव का स्वभाव व लक्षण ज्ञान है तथापि संसार अवस्था में जीव के क्षायोपशमिकज्ञान के साथ-साथ औदयिकप्रज्ञान भी पाया जाता है । शंकाकार का कहना है कि 'निश्चयनय कहता है कि जब जीव अपनी भूल से

अज्ञानी बनता है तब ज्ञानावरण कर्मपर निमित्त का आरोप किया जाता है।' शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से तो जीव अज्ञानी बनता नहीं है, क्योंकि उपर्युक्त लक्षणों से सिद्ध है कि शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि में 'सब जीव सिद्ध समान शुद्ध हैं। आत्मापपद्धति में कहा भी है कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्धद्रव्याधिको यथा संसारीजीवः सिद्धहृक् शुद्धात्मा। अर्थात् कर्मोपाधि से निरपेक्ष शुद्धद्रव्याधिक (निश्चयनय) नय है जैसे संसारीजीव सिद्धसमान शुद्ध-आत्मा है। अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से जीव अज्ञानी है। जैसा अशुद्धनिश्चयनय के लक्षण में ऊपर कहा गया है कि कर्मोपाधि भावों को ग्रहण करने वाला अशुद्धनिश्चयनय है। आत्मापपद्धति में भी इसी प्रकार कहा है—कर्मोपाधि सापेक्षोऽशुद्ध-द्रव्याधिको यथा क्रोधादि कर्मजभावा आत्मा। अर्थात् अशुद्धद्रव्याधिक (निश्चयनय) का विषय कर्मोपाधि सापेक्ष भाव हैं जैसे कर्म से उत्पन्न होनेवाले क्रोधादिकभावमयी आत्मा है।

अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा 'अज्ञानी' तो कहलाया जा सकता है, किन्तु 'आत्मा अज्ञानी अपनी भूल से बनता है' ऐसा अशुद्धनिश्चयनय से भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अशुद्धनिश्चयनय के लक्षण में इस भाव को 'कर्मज अर्थात् कर्म से उत्पन्न होने वाले भाव' कहा है। यदि जीव अपने ज्ञानगुण का घातक स्वयं हो जावे तो जीवद्रव्य का ही अभाव हो जावेगा। दूसरे, द्रव्य अपने स्वभाव का घातक स्वयं नहीं होता जैसा समयसार गाथा २७९ में कहा है—

एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमई रायमावीहि ।
राइज्जदि अण्हि दु सो रागावीहि बोसेहि ॥

ज्ञानी जीव शुद्ध है वह रागादिभावों से अपने आप तो नहीं परिणमता, परन्तु अन्य रागादि दोषों से रागादिरूप किया जाता है।

श्री समयसार ग्रंथ में अशुद्धनिश्चयनय को निश्चयनय न कहकर व्यवहारनय कहा है। गाथा ५७ की टीका में आचार्य श्री जयसेनजी ने लिखा है—वस्तुस्तु शुद्धनिश्चयापेक्षया पुनरशुद्धनिश्चयोपि व्यवहार एवेति भावार्थः। वास्तव में शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा अशुद्धनिश्चयनय व्यवहार ही है। गाथा ६८ की टीका में इसप्रकार लिखा है—अशुद्धनिश्चयस्तु वस्तुतो यद्यपि द्रव्यकर्मपेक्षयाभ्यन्तर रागादयश्चेतना इति मत्वा निश्चयसंज्ञा लभते तथापि शुद्ध निश्चयापेक्षया व्यवहार एवं इति व्याख्यानं निश्चयव्यवहारनय विचारकाले सर्वत्र ज्ञातव्यं। अर्थात् द्रव्यकर्म की अपेक्षा से अन्तरंग रागादि चेतन हैं ऐसा मानकर के यद्यपि अशुद्धनिश्चयनय का निश्चयसंज्ञा दी जाती है, किन्तु शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा तो व्यवहार ही है। निश्चयनय व व्यवहारनय के विचार के समय सर्वत्र इसप्रकार जानना चाहिए। स्वयं श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी 'रागादि अव्यवसानभाव को जीव' व्यवहारनय से कहा है—

व्यवहारसस वरीसण मुवदेसो वण्णिवो जिणवरेहि ।
जीवा एदे सद्धे अज्जवसानादभो भावा ॥४६॥ स० सा०
व्यवहारेण वु एदे, जीवसस हवन्ति वण्णमावीया ।
पुण्ठाणता भावा, ण वु केई णिच्छयणयसस ॥५७॥ स० सा०

अर्थ—ये सब अव्यवसानादि भाव हैं, वे जीव हैं ऐसा जिनवरदेव ने जो उपदेश दिया है, वह व्यवहारनय का मत है ॥ ४६ ॥ ये वर्णादि से लेकर गुणस्थानादि पर्यन्त जो भाव कहे गये हैं वे व्यवहारनय से तो जीव के ही होते हैं, इसलिये सूत्र में कहे हैं, परन्तु निश्चयनय के मत में इनमें से कोई भी जीव के नहीं है।

'जीव अपनी भूल से अज्ञानी बनता है' शंकाकार के इन शब्दों में अज्ञान का कारण 'जीव की भूल' कहा है। यह विचारना है कि 'जीव' में भूल सहेतुक है या निहेतुक। यदि भूल निहेतुक है तो भूल जीव का स्वभाव हो

जायगा। यदि सहेतुक है तो यह विचार करना है कि इसमें हेतु क्या है ? यदि अन्य भूल को हेतु कहा जायगा तो उस अन्य भूल में तीसरी ग्रन्थ भूल हेतु होगी, इसप्रकार अनवस्था दोष आ जायगा। यदि भूल में द्रव्यकर्मादय को कारण कहा जावे तो अज्ञान में भी द्रव्यकर्मादय को क्यों न कारण मान लिया जावे।

यदि कहा जाय कि पंचास्तिकाय गाथा ५७ में औदयिक आदि भावों का कर्ता जीव को कहा है तो इसका उत्तर यह है कि इसी गाथा में द्रव्यकर्मादय का वेदन करते हुए जीव को औदयिकभावों का कर्ता कहा है। स्वयं इस गाथा से स्पष्ट है कि 'अज्ञानता' कर्मादय के कारण से हुई है, बिना कर्मादय के नहीं हुई है। श्री जयसेनाचार्यजी ने टीका में लिखा है—अशुद्धनिश्चयेन कर्ता भवति अर्थात् अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से कर्ता होता है। टीका के अन्त में लिखा है—जीवो निश्चयेन कर्मजनितरागादिविभावानां स्वशुद्धात्मभावनाच्युतः सन् कर्ता भोक्ता भवतीति व्याख्यान मुख्यत्वेन गाथा गता। अर्थात् जीव स्वशुद्ध आत्मभावना से च्युत होकर कर्मजनित रागादिभावों का निश्चयनय से कर्ता भोक्ता होता है। इस गाथा व टीका से भी यही सिद्ध होता है कि जीव में अज्ञानता कर्मजनित है।

पंचास्तिकाय गाथा ६२ की टीका में श्रीमत् जयसेनजी ने लिखा है—अशुद्ध षट्कारकीरूपेण परिणममानः सन्नशुद्धमात्मानं करोति। अभेद षट्कारकीरूपेण व्यवतिष्ठमानः कारकान्तरं नापेक्षते अर्थात् अशुद्ध षट्कारकरूप परिणाम करता हुआ अशुद्धजीव अपने अशुद्धभावों को करता है। अभेद षट्कारक की अपेक्षा से अन्यकारक की अपेक्षा नहीं करता। यह कथन भी अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से है। जीव का विशेषण 'अशुद्धता' शब्द ही जीव के साथ अन्यद्रव्य का सम्बन्ध प्रकट करता है, क्योंकि बिना दूसरे के सम्बन्ध के एकद्रव्य में अशुद्धता आ नहीं सकती। षट्कारक में 'कारण' कोई कारक नहीं है अतः अभेद षट्कारक के कथन के द्वारा कारण का निषेध नहीं होता है। इस गाथा व टीका से भी यह सिद्ध नहीं होता कि जीव अपनी भूल से ही अज्ञानी बनता है।

'निश्चयनय कहता है कि जीव अपनी भूल से अज्ञानी बनता है तब ज्ञानावरणीयकर्म को निमित्त का आरोप किया जाता है।' श्री कानजी स्वामी का यह कथन हो या किसी अन्य का हो, किन्तु यह कथन उपर्युक्त आगम अनुकूल नहीं है और युक्ति से भी बाधित है।

—जॉ. सं. 24-10-57/VI/

१. क्रोधादि जीव का पारिणामिक भाव नहीं है, परन्तु औदयिक है
२. जीव स्वतन्त्र अवस्था में क्रोधादि नहीं करता
३. कषाय निष्कारण नहीं होती
४. कर्म प्रेरक निमित्त हैं, इसका खुलासा

शंका—गुजराली आत्मधर्म वर्ष ३ अंक १२ पृष्ठ २२० पर इस प्रकार लिखा है—'जो भाव परकारण की अपेक्षा नहीं रखते हैं सो पारिणामिकभाव हैं। क्रोधादि कषायभाव भी पारिणामिकभाव है क्योंकि ये भाव परकारण की अपेक्षा नहीं रखते हैं, इससे वे निष्कारण हैं। क्रोधादि सब भाव स्वतन्त्र अकारणीय हैं इसलिये खरेखर वह सब भाव पारिणामिकभाव से हैं। कषाय पारिणामिकभाव हैं, क्योंकि वह जीव की अपनी योग्यता से होता है, परन्तु चाका कारण कोई पर नहीं है इसलिये स्व की अपेक्षा से कहो तो वे निष्कारण है तातें पारिणामिक है। जब पर-निमित्त की अपेक्षा से लेकर कहें तो व्यवहार से कर्मादय को ताका कारण मान करके चाकी औदयिकभाव कहा जाता है। परन्तु खरेखर तो विभावजीवकी पर्यायकी इस समय की स्वतन्त्र योग्यता से वह भाव हुआ है।

‘हर समय की पर्याय स्वतन्त्रनिष्कारण है’ ऐसा प्रतीति करने के बाद विकारसमय में निमित्त की हाजरी का ज्ञान कराने के लिये औदयिकादिभाव दर्शाया है—परन्तु क्रोध जीव की योग्यता से होता है इसलिये क्रोधादिभाव पारिणामिकभाव का विकार है इससे वाको पारिणामिकभाव कहते हैं। ‘क्रोध जीव का त्रिकालिकस्वभाव है’ ऐसा यहाँ जताया नहीं है, परन्तु क्रोध कोई परकारण से होता नहीं है, जीव की अपनी लायकात से होता है ऐसा बताने के लिये उसको पारिणामिकभाव कहा है। इस पर शंका होती है—(अ) क्या क्रोधादिकषाय मात्र वास्तविक में जीव के पारिणामिकभाव हैं ? (आ) क्या कर्मोदय बिना भी जीव स्वतन्त्ररूप से इन क्रोधादिकषाय भावों को कर सकता है ? (क) क्या जीव की कषायरूप की पर्याय परकारण से नहीं होती अथवा निष्कारण हैं ? (ख) क्या क्रोधादिकभाव कहने मात्र से औदयिकभाव हैं वास्तव में औदयिकभाव नहीं। किन्तु पारिणामिकभाव हैं ?

समाधान—(अ)—क्रोधादिक कषायरूप भाव जीव के पारिणामिकभाव नहीं है, क्योंकि इन क्रोधादि-भावों में पारिणामिकभाव का लक्षण घटित नहीं होता है। जिन भावों के होने में मात्र आत्मद्रव्य ही कारण हो, अन्य कोई कारण न हो उसको पारिणामिकभाव कहते हैं (पंचास्तिकाय गाथा ५६ टीका; सर्वार्थसिद्धि अध्याय २ सूत्र १; राजवातिक अध्याय २ सूत्र १ वातिक ५) किन्तु क्रोधादिभाव चारित्र्यगुण की वैभाविकपर्याय है और वैभाविकपर्याय स्वपर निमित्तिक होते हैं अतः क्रोधादिभाव पारिणामिक नहीं हैं। पारिणामिकभाव अनादि-अनन्त; निरुपाधि और स्वाभाविक होता है। (पंचास्तिकाय गाथा ५८ टीका), किन्तु क्रोधादिभाव सादिसांत हैं सोपाधिक हैं व वैभाविक हैं अतः क्रोधादिकभाव पारिणामिक नहीं हैं। पारिणामिकभाव कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के बिना होते हैं (सर्वार्थसिद्धि अध्याय २ सूत्र ७, राजवातिक अध्याय २ सूत्र ७ वातिक २।) किन्तु क्रोधादिभाव बिना कर्मोदय के होते नहीं हैं (पंचास्तिकाय गाथा ५८ व उभय टीका) अतः क्रोधादि पारिणामिकभाव नहीं हैं। इन उपर्युक्त आगमप्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि क्रोधादि पारिणामिकभाव नहीं हैं। श्री समय-सार गाथा ७४ में बतलाया है कि ये कषायादिक आस्रवभाव जीव के साथ निबद्ध हैं, अद्रुव है, अनित्य है, अशरण है, दुःखरूप हैं दुःख ही इनका फल है।’ अतः ये क्रोधादिकषायभाव जीव के पारिणामिकभाव कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—(आ)—जीव कर्मोदय के बिना स्वतन्त्ररूप से इन क्रोधादिभावों को नहीं कर सकता। द्रव्यक्रोध के उदय के निमित्त बिना भी यदि जीव भावक्रोधादिरूप परिणाम जावे तो द्रव्यक्रोधादि उदय के निमित्त के बिना मुक्तजीवों के भी भावक्रोध हो जावेगा, किन्तु ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि आगम से विरोध आवेगा (समयसार गाथा १२१-१२५ श्री जयसेनाचार्य की टीका) कषायरूप परिणामन करने की शक्ति स्वयं जीव की है, किसी अन्य ने यह शक्ति नहीं दी है, किन्तु वह शक्ति परसापेक्ष है। यदि पर-निरपेक्ष हो तो क्रोधादि-कषाय का कभी भी प्रभाव नहीं होगा। कहा भी है—समर्थस्य ? करणे सर्वबोत्पत्तिरनपेक्षत्वात् (परीक्षामुख ६/६३) तस्याकारकत्वे सर्वदा सर्वत्र सर्वस्य सद्भावानुषङ्गः, परापेक्षारहितत्वाविति (अष्टसहस्री)

संसार-प्रवस्था में जीव कर्मबन्धनबद्ध होने के कारण स्वतन्त्र भी नहीं है, किन्तु परतन्त्र है। जो परतन्त्र है वह स्वतन्त्ररूप से क्रोधादि कैसे कर सकता है। कहा भी है—जो जीव को परतन्त्र करते हैं अथवा जीव जिनके द्वारा परतन्त्र किया जाता है उन्हें ‘कर्म’ कहते हैं। क्रोधादि जीव के परिणाम हैं इसलिये वे परतन्त्रत्वरूप हैं। परतन्त्रता में कारण नहीं। द्रव्यकर्म जीव में परतन्त्रता में कारण है जैसे कि जड़। प्रसिद्ध है कि कर्म वही है जो आत्मा को पराधीन बनाता है। यदि आत्मा को पराधीन न बनाने पर उसको कर्म माना जाय तो हर कोई भी पदार्थ कर्म हो जायगा (आप्तपरीक्षा पृष्ठ २४६-२४८ वीरसेवा मंदिर से प्रकाशित)।

समयसार कलश नं० १७४ में यह प्रश्न किया गया कि ‘रामादि बंध के कारण कहे गये तो इस रामादि का निमित्त आत्मा है या अन्य कोई है ?’ इसके उत्तर के स्वरूप गाथा २७९ में कहा गया—आत्मा शुद्ध होने से

स्वयं रागादिरूप नहीं परिणमती, परन्तु अन्य रागादिदोषों (द्रव्यकर्म) से रागी किया जाता है। इस गाथा की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने लिखा है—वास्तव में अकेला आत्मा, स्वयं परिणमन स्वभाववाला होने पर भी अपने शुद्धस्वभाव के कारण रागादि का निमित्तत्त्व न होने से अपने आप ही रागादिरूप नहीं परिणमता, परन्तु द्रव्यकर्म जो रागादि के निमित्त होते हैं, ऐसे परद्रव्य के द्वारा ही आत्मा रागादिरूप परिणमित किया जाता है। गाथा २८३-२८५ की टीका में भी लिखा है कि आत्मा स्वतः रागादि का अकारक ही है।

इन उपर्युक्त आगमप्रमाणों से सिद्ध है कि जीव स्वतन्त्र होकर अर्थात् स्वतन्त्रावस्था में क्रोधादिकषाय करने में असमर्थ है। जीव परतन्त्र होकर क्रोधादिकषाय को करता है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—मोहनीयो-दयानुवृत्तिवशाद्द्रव्यमानोपयोगः (पंचास्तिकाय गाथा १५६ टीका); समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म (समयसार कलश नं० ११०) श्री पं० जयचन्द्रजी ने भी समयसार गाथा १३० व १६६ आदि के भावार्थ में व अन्य अनेक स्थलों पर कहा है कि चारित्रमोह के उदय की बलवत्ता से रागादि होते हैं।

समाधान—(क) यदि जीव के कषायभाव को निष्कारण माना जावेगा तो ये कषायभाव 'नित्य' हो जावेंगे, क्योंकि जिसका कोई कारण (हेतु) नहीं होता और 'सत्' रूप होता है वह 'नित्य' होता है (आप्तपरीक्षा पृ० ४ देहसी से प्रकाशित)। जीव के क्रोधादिकषायभाव अनित्य हैं, विनाशीक हैं, सदा स्थित रहने वाले नहीं हैं अतः ये कार्य हैं। जो कार्य होता है उसका कारण अवश्य होता है। जैसे अज्ञानादि भी कार्य हैं और उनका कारण ज्ञानावरणादिकर्म, उसीप्रकार क्रोधादिकषायभाव का भी कारण अवश्य होना चाहिये और इनका कारण कषायकर्म अर्थात् चारित्रमोहनीयकर्म है। (आप्तपरीक्षा पृ० २४७)। जो जिसका कारण होता है, उस कारण का उस कार्य के साथ अन्वय-व्यतिरेक अवश्य होता है। अन्वयव्यतिरेक के द्वारा ही कार्यकारणभाव सुप्रतीत होता है। (आप्तपरीक्षा पृ० ४०-४१) जहाँ-जहाँ चारित्रमोह का उदय है वहाँ-वहाँ कषायभाव अवश्य है जैसे सकषाय जीव। जहाँ-जहाँ कषायभाव नहीं है वहाँ-वहाँ चारित्रमोह का उदय भी नहीं है जैसे प्रकषायी-जीव। जिससमय क्रोघरूपी चारित्रमोह का उदय है उस समय जीव के कषायरूप भाव अवश्य होते हैं। जिससमय मान का उदय है उससमय जीव में मानकषायरूप भाव अवश्य होते हैं। इसप्रकार अन्य कषायों के विषय में भी ज्ञान लेना चाहिये। क्रोघ-कषायभाव का क्रोघरूपी चारित्रमोहनीयकर्म के उदय के साथ कार्यकारण-सम्बन्ध न हो तो मान के उदय में भी अथवा चारित्रमोह के अनुदय में भी क्रोघ कषायभाव को उत्पत्ति का प्रसङ्ग आ जावेगा। इस सम्बन्ध में विशेष के लिये समयसार गाथा ६१-६८ तक तथा गाथा ७५ पर श्री अमृतचन्द्राचार्य की संस्कृत टीका देखनी चाहिए।

भावबन्ध (कषायभाव) द्रव्यबन्ध (चारित्रमोह) के बिना नहीं होता अन्यथा मुक्तजीवों के भी भावबन्ध का प्रसंग आ जावेगा (आप्तपरीक्षा पृ० ५)

श्री समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय आदि ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर यह लिखा है कि कषाय-भाव कर्मोदय के कारण ही होते हैं निष्कारण नहीं होते हैं। विशेष के लिये श्रीमान् पं० शिखरचन्द्रजी लिखित 'समाधान चन्द्रिका' देखनी चाहिये।

समाधान—(ख)—यद्यपि इस प्रश्न का समाधान उपर्युक्त समाधानों से हो जाता है, समाधान (अ) में यह सिद्ध किया जा चुका है कि क्रोधादिकषायभाव पारिणामिक नहीं हैं, समाधान (आ) व (क) में यह सिद्ध किया जा चुका है कि आत्मा स्वतन्त्र होकर इन भावों को नहीं करता और ये भाव निष्कारण भी नहीं हैं, किन्तु इन भावों का कर्मोदय कारण है। जो भाव कर्मोदय के निमित्त से होते हैं उनको औदयिक कहते हैं। पंचास्तिकाय गाथा ६० की टीका में कहा भी है—कर्मों का फलदान समर्थ से प्रगट होना 'उदय' है। उस उदय से जो युक्त हो

उसे औदयिक कहते हैं। अतः क्रोधादि कषायभाव वास्तव में औदयिक हैं। कहने मात्र से औदयिकभाव तो बह हो सकते हैं जिनमें कर्मोदय कारण न हो। परन्तु क्रोधादिकषायभाव में तो कर्मोदय प्रेरक-निमित्तकारण है, उदासीन (अप्रेरक) निमित्त नहीं है, क्योंकि कषायकर्मोदय होने पर ऐसा नहीं हो सकता कि जीव कषायभाव न करे। धर्मद्रव्य अप्रेरक निमित्त है, क्योंकि उसके सद्भाव में यदि जीव गमन करे तो धर्मद्रव्य सहकारी होता है, किन्तु प्रेरणा नहीं करता। इष्टोपदेश गाथा ३५ का संबंध द्रव्यकर्म से नहीं है, किन्तु बाह्य नोकर्मों से है। नोकर्मरूप बाह्यकारण रहने पर भी यदि अंतरंग में तज्जातीय कषाय का उदय नहीं है तो जीव के इस प्रकार के कषायभाव नहीं होंगे। क्रोधादिकषायभाव होने में मुख्य कारण कर्मोदय है अतः ये भाव वास्तव में औदयिक हैं।

प्रत्येकभाव यद्यपि परिणमन से होता है, किन्तु प्रत्येकभाव पारिणामिक नहीं हो सकता। पारिणामिक-भाव वह है जिसमें कर्म का उदय उपशम, क्षय तथा क्षयोपशम कारण न हो। पंचाध्यायी अध्याय २, गाथा १३० में जो यह कहा गया है—'परगुणों के आकार परिणमनशील क्रिया बंध है'—वह पारिणामिकभाव नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें पूर्वकर्मोदय कारण है।

चौदहगुणस्थानों में से आदि के चारगुणस्थानसम्बन्धी भावों की प्ररूपणा में दर्शनमोहनीयकर्म की विवक्षा है। सासादनगुणस्थान में दर्शनमोहनीय का उदय, उपशम, क्षय तथा क्षयोपशम नहीं है अतः दर्शनमोहनीयसम्बन्धी लक्षण घटित होने से उस सासादनगुणस्थान को पारिणामिक कह दिया है, किन्तु चारित्रमोहनीय की अपेक्षा सासादनगुणस्थान औदयिकभाव है (षट्खंडागम पु० ५ पृ० १९७) किन्तु क्रोधादि कषायभाव में चारित्रमोहनीय के उदय का अभाव नहीं होता अतः क्रोधादि कषायभाव में सासादनगुणस्थानवाली विवक्षा घटित नहीं होती और न ऐसी विवक्षा का किसी आचार्य ने प्रयोग किया।

दो या दो से अधिक द्रव्यसंबन्धी हीनाधिकपना (अल्पबहुत्व) किसी भी कर्म के उदय, उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से नहीं होता, क्योंकि अल्पबहुत्व पारस्परिक आपेक्षिकधर्म है। अतः अल्पबहुत्व, प्रमेयत्व, सत्त्वादिक अनेकोंभाव पारिणामिक हैं, किन्तु क्रोधादि कषायभाव कर्मोदय से होते हैं उनको अल्पबहुत्व के समान पारिणामिक नहीं कह सकते हैं।

यदि शब्दनय (शब्दनय, समभिरुदनय व एवंभूतनय) की अपेक्षा से क्रोधादिकषाय को पारिणामिकभाव कहा जावे, क्योंकि इन तीनों शब्दनयों की दृष्टि में कार्यकारणभाव नहीं है अर्थात् कषायभाव का न कोई उपादानकारण है न कोई निमित्तकारण है। दोनों ही कारणों का अभाव है। इन तीनों नयों की दृष्टि में यह पारिणामिकभाव जीव का या द्रव्यकर्म का नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इन तीनों नयों का विषय 'द्रव्य' नहीं है। इसीलिये इन नयों की दृष्टि में क्रोधादिकषाय का न तो कोई स्वामी है और न कोई आधार है। अतः इन नयों की दृष्टि में भी क्रोधादिकषाय जीव के या द्रव्यकर्म के पारिणामिकभाव नहीं कहे जा सकते (कषायपःहृङ्ग पुस्तक १ पृ० ३१८ व ३२०) 'क्रोधादिकषायभाव, जीव के पारिणामिकभाव हैं ऐसा कहना अयथार्थ है, आगमविरुद्ध है। भोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय २) में तथा अन्यग्रन्थों में भी कषायभाव को जीव का औदयिकभाव कहा है, क्योंकि कर्म के उदय से होता है। अतः क्रोधादिकषायभाव को जीव का औदयिकभाव कहना वास्तविक है और आगमानुकूल है।

—जं. सं. 3-7-58/V/ सटदारमल

कर्मोदय तथा विकारीभाव में कारणकार्य सम्बन्ध है

शंका—क्या कर्मोदय और आत्मा के विकारी-भाव में कारण-कार्य भाव नहीं है? यदि है तो किस प्रकार का है?

समाधान—कर्मोदय के और जीव-विकारीपरिणामों के कारणकार्यं भाव सुवर्द्धित हैं । यदि कर्मोदय कारण के बिना जीव के विकारी परिणाम होने लगे तो शुद्ध जीवों के भी विकारीपरिणाम होने का प्रसंग प्राप्त हो जायगा ।

एकस्स तु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहि ।
ता कम्मोदयहेतू हि विणा जीवस्स परिणामो ॥१४६॥ (समयसार)

संस्कृत टीका—जीवस्यैकानिनोपादानकारणस्य रागादि-परिणामो जायते स च प्रत्यक्षविरोध आगम-विरोधश्च ।

यदि अकेले जीव के ही रागादि परिणाम मान लिये जावें तो कर्मोदय के बिना भी रागादि विकारीपरिणाम हो जाने चाहिये । इससे यह दूषण आता है कि कर्महेतु बिना शुद्ध जीवों (सिद्धों) में रागादि विकारीपरिणाम पाया जाना चाहिए । शुद्धजीवों में रागादि विकारीपरिणाम पाया जाना, प्रत्यक्ष व आगम इन दोनों से विरुद्ध है ।

सम्मत्त पडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठीति णायव्वो ॥१६९॥
णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहिं परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणो होदि णायव्वो ॥१७०॥
चारित्त पडिणिबद्धं कसाम जिणवरेहिं परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥१७१॥ (समयसार तात्पर्यवृत्ति)

अर्थ—आत्मा के सम्यक्त्वगुण को रोकनेवाला मिथ्यात्वकर्म है, जिसके उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि हो रहा है । आत्मा के ज्ञानगुण का प्रतिबन्धक अज्ञान अर्थात् ज्ञानावरणकर्म है । जिसके उदय से यह जीव अज्ञानी हो रहा है । चारित्रगुण का प्रतिबन्धक कषायकर्म अर्थात् चारित्रमोहनीयकर्म है । जिसके उदय से यह जीव अचारित्री (चारित्ररहित) हो रहा है । ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने बतलाया है ।

“केवल किलात्मा परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात् रागादिभिः स्वयं न परिणमते परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव रागादिभिः परिणम्यते इति तावद्ब्रह्मस्वभावः ।” (समयसार गाय्या २७९ आत्मख्याति टीका)

परिणामन स्वभाव होने पर भी अपने शुद्धस्वभावपने कर रागादि निमित्तपने के अभाव से आप ही रागादि-भावरूप नहीं परिणमता, अपने आप ही रागादि परिणाम का निमित्त नहीं है, परन्तु परद्रव्य स्वयं रागादिभाव को प्राप्त होकर आत्मा के रागादि विकारीपरिणामों का निमित्त है । ऐसा वस्तुस्वभाव है ।

“आत्मा अनात्मना रागादीनामकारक एवं अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्विविधोपदेशः । यः खलु अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्व्यभावभेदेन द्विविधोपदेशः स द्रव्यभावयोर्निमित्तनैमित्तिकत्वात् प्रथमकर्तृत्वमात्मनो ज्ञापयति । तत एतत् स्थितं, परद्रव्यं, निमित्तं नैमित्तिका आत्मनो रागादिभावाः । यद्येवं नेष्येत तदा द्रव्याप्रति-क्रमणाप्रत्याख्यानयोः कर्तृत्वनिमित्तत्वोपदेशोऽनर्थक एव स्यात् तदनर्थकत्वे त्वेकस्यैवात्मनो रागादिभावनिमित्तत्वापत्तौ नित्यकर्तृत्वानुषंगान्मोक्षाभावः प्रसज्येच्च । ततः परद्रव्यमेवात्मनो रागादिभावनिमित्तमस्तु । तथासति तु रागादीनाम-कारक एवात्मा ।” (समयसार २६३-२६५ आत्मख्याति)

आत्मा आप से रागादिभावों का अकारक ही है, क्योंकि आप ही कारक हो तो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान इनके द्रव्यभाव इन दोनों भेदों के उपदेश की अप्राप्ति आती है। जो निश्चयकर अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान के दो प्रकार का उपदेश है, वह उपदेश द्रव्य और भाव के निमित्तनैमित्तिकभाव को विस्तारता हुआ आत्मा के अकर्तापने को जतलाता है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि परद्रव्य तो निमित्त है और नैमित्तिक आत्मा के रागादिकभाव हैं। यदि ऐसा न माना जाय तो द्रव्यअप्रतिक्रमण और द्रव्यअप्रत्याख्यान इन दोनों के कर्तापन के निमित्तपने का उपदेश है वह व्यर्थ ही हो जायगा। और उपदेश के अनर्थक होने से एक आत्मा के ही रागादिकभाव के निमित्तपने की प्राप्ति होने पर नित्य कर्तापन का प्रसंग आजायगा। जिससे मोक्ष का अभाव सिद्ध होगा। इसलिये आत्मा के रागादिभावों का निमित्त परद्रव्य ही रहे। ऐसा होने पर आत्मा रागादिभावों का अकारक ही है, यह सिद्ध हुआ।

“अण्णिरावेदखो जो परिणामो सो सहावपज्जावो ।” (नियमसार)

अर्थ—अन्य निरपेक्ष जो परिणाम है वह स्वभावपर्याय है।

यदि रागादिपर्याय को कर्मोदय निरपेक्ष मान लिया जाय तो रागादि को स्वभावपर्याय का प्रसंग आजायगा, किन्तु रागादि विकारीपर्याय है।

“कम्मोपाधिच्चिज्जयपज्जाया ते सहावमि वि भणिया ॥१५॥ नियमसार कर्मोपाधिरहित जो पर्यायें हैं वे स्वभावपर्यायें हैं ऐसा कहा गया है।

रागादि विकारीपर्याय होने से कर्मोदय सापेक्ष हैं। अतः कर्मोदय और रागादि विकारीपरिणामों में निमित्त नैमित्तिकरूप कारण-कार्य भाव है।

—जॉ. ग. 18-1-73/V/ ब. चुम्नीलाल देसाई

जीव में अज्ञानता व रागादि परद्रव्यों के निमित्त से उत्पन्न होते हैं

शंका—यह कहा जाता है कि जीव मात्र अपनी भूल के कारण अपने ज्ञापकस्वभाव से श्रुत होकर रसाविरूप परिणमता है। इस पर प्रश्न यह है कि जब जीव ज्ञापकस्वभाववाला है तो वह भूलता क्यों है? रागद्वेषपरिणति में मात्र जीव ही कारण है या अन्य भी कोई कारण है।

समाधान—भूल अर्थात् अज्ञानता व रागद्वेषरूप परिणति जीव के स्वभाव तो नहीं हैं, विकारीभाव हैं। कर्मोदय के बिना जीव में विकारीभाव नहीं हो सकते। यदि कर्मोदय के बिना भी जीव में विकारीभाव हो जावें तो मुक्त जीवों में भी क्रोधादि विकारीभावों का प्रसंग आजावेगा। समयसार में कहा भी है—

“अर्थकान्तेन परिणममाना वा तर्हि उदयागतद्रव्यक्रोधनिमित्तमंतरेणापि भावक्रोधाविभिः परिणमंतु। कस्माविति चेत् न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षन्ते। तथा च सति मुक्तात्मनामपि द्रव्यक्रोधादिकर्मोदयनिमित्ताभावेऽपि भावक्रोधादयः प्राप्नुवन्ति। न च तद्विद्वत्प्रागमविरोधोऽतः।”

अर्थ—यदि कोई एकान्तवादी यह कहे कि उदयागत द्रव्यक्रोध के निमित्त बिना भी जीव स्वयं भावक्रोधादिरूप परिणमन कर जाता है, क्योंकि जीव का परिणमन स्वभाव है और वस्तु-शक्तियाँ दूसरे की अपेक्षा नहीं रखती हैं तो श्री आचार्यदेव कहते हैं कि एकान्त से ऐसा मानने पर तो मुक्तात्मा सिद्ध जीवों के भी, द्रव्यकर्मोदयरूप निमित्त के बिना भावक्रोधादि प्राप्त हो जावेंगे, किन्तु सिद्धों के भाव क्रोध माना नहीं जा सकता, क्योंकि आगम से विरोध आता है। समयसार में भी प्रश्न उठाया गया है—

रागादयो बंधनिदानमुक्तास्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः ।

आत्मा परो वा किमु तन्निमित्तमिति प्रष्टव्याः पुनरेवमाहुः ॥कलश १७४॥

अर्थः—यहाँ शिष्य कहता है कि रागादिक हैं वे तो बंध के कारण कहे और वे शुद्ध चैतन्यमात्र आत्म-स्वभाव से जुड़े कहे । प्रश्न यह है कि उन रागादि होने में आत्मा निमित्तकारण है या अन्य कोई दूसरा निमित्त-कारण है ।

श्री कुन्वकुन्वाचार्य इस प्रश्न का निम्नप्रकार उत्तर देते हैं—

अहं कलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहि ।

रेगिज्जवि अण्णोहि तु सो रत्तादोहि बव्वोहि ॥२७८॥

एवं णाणो सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहि ।

राइज्जवि अण्णोहि तु सो रागादोहि बोसेहि ॥२७९॥

अर्थ—जैसे स्फटिकमणि आप शुद्धस्वभावी है वह परद्रव्य के निमित्त के बिना अपने आप ललाईरूप नहीं परिणमती, किन्तु अन्य लालादिद्रव्यों से ललाई आदिरूप परिणमाई जाती है । इसीप्रकार ज्ञानी अर्थात् जीव शुद्ध-स्वभावी है वह स्वयं अपने आप परद्रव्य के निमित्त बिना रागादिभावरूप नहीं परिणमता, किन्तु अन्य रागादिरूप-द्रव्यकर्मों के द्वारा रागादिरूप किया जाता है । श्री अमृतचन्द्राचार्य गायत्रा २७९ की टीका में कहते हैं—

“केवलः किलात्मा परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वा भावात् रागादिभिः स्वयं न परिणमते परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव रागादिभिः परिणम्यते, इति तावद्वस्तु स्वभावः ।”

अर्थ—अकेला आत्मा परिणामन स्वभाव रूप होने पर भी अपने शुद्ध-स्वभाव कर रागादि निमित्तपने के अभाव से आप ही रागादि भावों कर नहीं परिणमता, अपने आप ही रागादि परिणाम का निमित्त नहीं है परन्तु जो पर द्रव्य रागादि भाव को प्राप्त हो गया है और आत्मा के रागादि का निमित्तभूत है, उस पर द्रव्य के निमित्त से अपने शुद्ध स्वभाव से च्युत हुआ यह आत्मा रागादिभाव रूप परिणामता है, ऐसा वस्तु स्वभाव है ।

श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने समयसार गायत्रा २८३-२८४ की टीका में कहा है—

“आत्मा अनात्मना रागादीनामकारक एव, अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्वं विध्योपदेशान्यथानुपपत्तेः । यः खलु अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्व्यभाव-भेदेन द्विविधोपदेशः स द्रव्यभावयोर्निमित्तनैमित्तिकभावं प्रथयन्नकर्तृत्व-मात्मनो ज्ञाययति । तत एतत् स्थितं, परद्रव्यं निमित्तं नैमित्तिकं आत्मनो रागादिभावाः । यद्येवं नेष्यते तदा द्रव्या-प्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोः कर्तृत्वनिमित्तत्वोपदेशोऽनर्थक एव स्यात्, तदनर्थकरत्वे त्वेकस्यैवात्मनो रागादिभाव-निमित्तत्वापत्तौ नित्यकर्तृत्वानुषंगान्मोक्षाभावः प्रसज्येच्च । ततः परद्रव्यमेवात्मनो रागादिभावनिमित्तमस्तु । तथा सति तु रागादीनाम कारक एवात्मा ।”

अर्थ—आत्मा अपने आप से अनात्मभूत (आत्मा के स्वभाव नहीं) रागादि भावों का अकारक ही है, क्योंकि यदि अपने आप ही रागादि भावों का कारक हो तो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान इनके द्रव्य और भाव इन दोनों भेदों के उपदेश की अप्राप्ति आती है । निश्चयकर अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान ये जो दो प्रकार का उपदेश है, वह उपदेश द्रव्य और भाव के निमित्त-नैमित्तिक भाव को विस्तारता हुआ आत्मा को रागादि के अकर्ता-पने को प्रगट करता है । इसलिए यह सिद्ध हुआ कि परद्रव्य तो निमित्त है और नैमित्तिक आत्मा के रागादिभाव हैं ।

यदि ऐसा न माना जाय तो द्रव्य-अप्रतिक्रमण और द्रव्यप्रत्याख्यान इन दोनों के कर्तृत्व के निमित्तपने का उपदेश व्यर्थ हो जायगा। कर्तृत्व के निमित्तपने का उपदेश व्यर्थ होने से एक आत्मा के ही रागादिक भाव के निमित्तपने की प्राप्ति हो जायगी, जिससे आत्मा को रागादि के नित्य कर्तृत्व का प्रसंग आजायगा। आत्मा को नित्य कर्तृत्व का प्रसंग आ जाने से मोक्ष का अभाव सिद्ध होगा, इसलिये आत्मा के रागादिभावों का निमित्त पर-द्रव्य ही है। रागादि भावों का निमित्त पर द्रव्य सिद्ध हो जाने पर आत्मा रागादि भावों का अकारक सिद्ध हो जाता है।

समयसार के उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अज्ञानता व रागादि परद्रव्यों के निमित्त से ही उत्पन्न होते हैं।

—जें. ग. 28-5-70/VII/ रो. ला. मितल

कर्म के उदय से विकार भाव मानना सत्य श्रद्धान है

शंका—वीरसेवामंदिर सस्तीग्रंथमाला से प्रकाशित हिन्दी आवृत्ति मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० १४८ पर लिखा है कि कर्मके उदय से जीव को विकार होता है ऐसी मान्यता भ्रम मूलक है। क्या यह कथन सत्य है? क्या कर्मोदय के बिना भी जीव में विकार हो सकता है?

समाधान—वीर सेवा मंदिर सस्ती ग्रंथमाला से प्रकाशित मोक्षमार्ग प्रकाशक में तो कथन इसप्रकार का पाया जाता है—

“बहुरि सो कर्म ज्ञानावरणादि भेदनिकरि आठ प्रकार है तहां च्यारि घातिथा कर्मनिके निमित्तत्तौ तो जीव के स्वभाव दर्शन ज्ञान तिनकी व्यक्तता नहीं हो है तनि कर्मनिका क्षयोपशम के अनुसार किंचित् ज्ञान दर्शन की व्यक्तता रहे है। बहुरि मोहनीय करि जीव के स्वभाव नाहीं ऐसे मिथ्याश्रद्धान व क्रोध, मान, माया, लोभादिक-कषाय तिनकी व्यक्तता हो है। बहुरि अंतरायकरि जीव का स्वभाव दीक्षा लेने की समर्थतारूप वीर्य ताकी व्यक्तता न हो है ताका क्षयोपशम के अनुसार किंचित् शक्ति हो है। ऐसे घातियकर्मनिके निमित्तत्तौ जीव के स्वभाव का घात अनादि ही तै भया है।” (पृ० ३५)

“जीव विषे अनादिहीतै ऐसी पाइए है जो कर्म का निमित्त न होइ तो केवलज्ञान आदि अपने स्वभावरूप प्रवर्तै, परंतु अनादिहीतै कर्मका संबंध पाइए हैं। तातै तिस शक्ति का व्यक्तपना न भया।” (पृ० ३६)

“बहुरि मोहनीयकर्मकरि जीव के अर्थार्थरूपतौ मिथ्यात्वभाव हो है वा क्रोध, मान, माया, लोभादिक-कषाय होय है। ते यद्यपि जीव के अस्तित्वमय हैं जीव ते जुदे नाहीं। जीव ही इनका कर्ता है जीव के परिणामरूप ही ये कार्य हैं तथापि इनका होना मोहकर्म के निमित्तत्तै ही है कर्म निमित्तकरि भये इनका अभाव ही है तातै ए जीव के निजस्वभाव नाहीं उपाधिक भाव है।” (पृ० ३८)

“बहुरि इस जीव का मोह के उदयतै मिथ्यात्व व कषायभाव हो हैं तहां दर्शनमोह के उदयतै तौ मिथ्यात्व-भाव हो है ताकरि यह जीव अन्यथा प्रतीतिरूप अतत्त्वश्रद्धान करै है। जैसे हे तैसे तो न मानै है अर जैसे नाहीं है तैसे माने हैं।” (पृ० ५४)

“बहुरि चारित्रमोह के उदयतै इस जीव के कषायभाव हो हैं। तब यह देखता जानता संता पर पदायं-निविषे इष्ट अनिष्टपनी मानि क्रोधादिक करै है।” (पृ० ५५)

“या प्रकार इस अनादि संसार विषय घाति-अघाति कर्मनिका उदय के अनुसार आत्मा के अवस्था हो है सो हे भय्य ! अपने अन्तरंगविषय विचारि देखि ऐसैं ही है कि नाहीं ।” (पृ० ६४)

“दोऊ विपरीत श्रद्धानत रहित भये सत्यश्रद्धान होय, तब ऐसा मानै—ए रागादिकभाव आत्मा का स्वभाव तो नाहीं है कर्म के निमित्त आत्मा के अस्तित्व विषय विभावपर्याय निपजै हैं । निमित्त मिटै इतका नाश होतै स्वभावभाव रह जाय है । तातैं इनके नाश का उद्यम करना ।” (पृ० २८९)

“जातैं रागादिकभाव आत्मा का स्वभावभाव तो है नाहीं । उपाधिकभाव हैं, पर निमित्ततैं भये हैं, सो निमित्त मोहकर्म का उदय है । ताका अभाव भये सर्वरागादिक विलय होय जाय, तब आकुलता का नाश भये दुख हरि होय, सुख की प्राप्ति होय ।” (पृ० ४५१)

मोक्षमार्गप्रकाशक में तो सर्वत्र कर्म के उदय तैं विकारभाव मानना सत्य श्रद्धान कहा है ।

—जै. ग. 28-5-70/VII/ रो. ला. मित्तल

“रागादिभाग मात्र जीव की योग्यता से उत्पन्न होते हैं”; ऐसा एकान्त कथन अनाहृत है

शंका—समयसार में यह लिखा है कि आत्मा कर्म नहीं करता । भावकर्म भी पौद्गलिक हैं । यह समझ में नहीं आता कि पुद्गल बेजान होते हुए बिना आत्मा के कर्म कैसे कर सकता है ? और भावकर्म अर्थात् रागद्वेष तो आत्मा में होते हैं पुद्गल में नहीं होते । पौद्गलिक कैसे ?

समाधान—समयसार गाथा ५ में भी कुम्बकुन्दाचार्य ने यह कहा है कि ‘मैं एकत्वविभक्त आत्मा को दिखाऊंगा’ इस प्रतिज्ञा के फलस्वरूप गाथा ६८ तक एकत्वविभक्त (शुद्ध) आत्मा का कथन है । शुद्धात्मा के कथन में यह कहा गया है कि आत्मा कर्म का कर्ता नहीं है और रागद्वेषरूप भावकर्म भी आत्मा के नहीं हैं । यह कथन शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से है । आत्मा भी एक वस्तु है और प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक (अनेकान्त) होती है । प्रत्येक धर्म किसी न किसी अपेक्षा को लिये हुए है । जैसे स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्ति, परचतुष्टय की अपेक्षा नास्ति । अनन्त धर्मों का एक साथ कथन करना असंभव है । एक समय में एक ही धर्म का कथन अपनी अपेक्षा से हो सकता है । उस समय अन्य धर्म व अन्य अपेक्षा गौण रहती हैं । किन्तु उनका निषेध नहीं होता अतः जिससमय शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से यह कहा जाता है कि ‘आत्मा कर्म नहीं कर्ता और रागद्वेष आदि भावकर्म पौद्गलीक हैं उससमय अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा यह कथन ‘आत्मा कर्म कर्ता है, रागद्वेष आदि भावकर्म आत्मा के हैं’ गौण हैं । अथवा उस समय यह कथन भी गौण है कि ‘रागद्वेष आदि न केवल आत्मा के हैं और न केवल पौद्गलीक हैं किन्तु दोनों के संबन्ध से उत्पन्न हुए हैं । जैसे कि पुत्र न केवल पिता का है, न केवल माता का है, किन्तु मातापिता के संयोग से उत्पन्न हुआ है ।’ श्री बृहद् द्रव्यसंग्रह की संस्कृत टीका में कहा भी है—“यहाँ शिष्य पूछता है—रागद्वेषादि भावकर्मों से उत्पन्न हुए हैं या जीव से ? आचार्य उत्तर देते हैं—स्त्री और पुरुष इन दोनों के संयोग से उत्पन्न हुए पुत्र के समान तथा चूना तथा हल्दी इन दोनों के मेल से उत्पन्न हुए लाल रंग की तरह, यह रागद्वेष आदि कषायभाव जीव और कर्म इन दोनों के संयोग से उत्पन्न हुए हैं । नय की विवक्षा अनुसार—विवक्षित एकदेश शुद्धनिश्चयनय से तो ये रागद्वेषादि कषाय कर्म से उत्पन्न हुए कहलाते हैं । अशुद्धनिश्चयनय से जीवजनित कहलाते हैं । साक्षात् शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से ये उत्पन्न ही नहीं होते । जैसे स्त्री व पुरुष के संयोग बिना पुत्र की उत्पत्ति नहीं होती, तथा चूना व हल्दी के संयोग बिना लाल रंग उत्पन्न नहीं होता इसीप्रकार जीव तथा कर्म इन दोनों के संयोग बिना रागद्वेषादि की उत्पत्ति ही नहीं होती ।

“जैसे पुत्र यद्यपि पिता-माता के संयोग से उत्पन्न हुआ है फिर भी पितामह (बाबा) के घर पर वह पुत्र पिता का कहलाता है, किन्तु नाना के घर पर वह ही पुत्र माता का कहलाने लगता है। इसीप्रकार रागद्वेष कषाय-भाव यद्यपि जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हुए हैं; फिर भी अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा अशुद्ध-उपादान से चेतन अर्थात् जीव संबद्ध कहलाते हैं, किन्तु शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा शुद्धउपादान से अचेतन पौद्गलिक हैं। वास्तव में एकान्त से रागद्वेष न जीवस्वरूप हैं और न पुद्गलस्वरूप हैं, किन्तु चूना हल्दी के संयोग के समान, जीव पुद्गल के संयोगरूप हैं। वस्तुतः सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से यह मिथ्यात्व रागादिभाव असल में कुछ भी नहीं हैं, अज्ञान से उत्पन्न हुए कल्पितभाव हैं। इस कथन से यह कहा गया कि जो कोई एकान्त से ऐसा कहते हैं कि यह रागादिभाव जीव संबन्धी हैं अथवा कोई कहते हैं कि ये पुद्गलसम्बन्धी हैं इन दोनों के वचन मिथ्या हैं, क्योंकि पूर्व में कहे हुए स्त्री-पुरुष के दृष्टान्त के समान जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हुए हैं। सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से इन रागादिभावों का अस्तित्व ही नहीं है।” (समयसार गाथा १०९-११२ तात्पर्यवृत्ति टीका)। इस उपरोक्त आगमप्रमाण से यह भी सिद्ध होगया कि जो यह कहते हैं कि ‘रागद्वेषभाव मात्र जीव की योग्यता से उत्पन्न होते हैं कर्मोदय के निमित्त से उत्पन्न नहीं होता’ उनका ऐसा कथन भी मिथ्या है।

नयविवक्षा व अनेकान्तदृष्टि से रागादिभाव के विषय में यथार्थ समझ लेने से ही आत्मा का कल्याण है।

—जं. सं. 9-10-58/ / ड. से. जैन, मुरादाबाद

रागादिभाव जीव और पुद्गल दोनों के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए हैं

शंका—मिथ्यात्व, राग-द्वेष आदि २९ भाव, जिनका कथन समयसार गाथा ५०-५५ में है, उन भावों का निश्चयनय से कौन कर्ता है और व्यवहारनय से कौन कर्ता है ?

समाधान—सर्वप्रथम व्यवहारनय और निश्चयनय का लक्षण विचारना है। व्यवहारनय पर्यायाश्रित होने से दूसरे के भाव को दूसरे का कहता है, जैसे लालरंग से रंगे हुए सफेद वस्त्र को लाल कहना। निश्चयनय द्रव्याश्रित होने से दूसरे के भाव को किञ्चित्मात्र भी दूसरे का नहीं कहता; जैसे लालरंग से रंगे हुए सफेद वस्त्र को सफेद कहना। व्यवहारनय व निश्चयनय की इस व्याख्या अनुसार, मिथ्यात्व-रागद्वेषादि २९ भाव व्यवहारनय से जीव के हैं; क्योंकि अनादिकाल से कर्मबद्ध जीव व पुद्गल के संयोगवश ये मिथ्यात्व रागद्वेषादि औपाधिकभाव होते हैं। निश्चयनय की अपेक्षा से मिथ्यात्व, रागद्वेष आदि २९ औपाधिकभाव जीव के नहीं हैं, क्योंकि ये औपाधिकभाव जीव के स्वाभाविकभाव नहीं, किन्तु द्रव्यकर्म जनित हैं। निश्चयनय दूसरे के भावों को दूसरे के किञ्चित्मात्र भी नहीं कहता; अतः निश्चयनय की दृष्टि में ये औपाधिकभाव जीव के कैसे हो सकते हैं, क्योंकि ये रागादि औपाधिकभाव पुद्गलकर्म का अनुकरण करनेवाले हैं। ये रागादिभाव पौद्गलिक मोहकर्मकी प्रकृति के उदयपूर्वक होने से अचेतन हैं, क्योंकि कारण जैसा ही कार्य होता है, जैसे जी से जी ही उत्पन्न होता है। (समयसार गाथा ५६-६८ तक आत्मव्याप्ति टीका) कलश सं० ४४ में और १०८ अमृतचन्द्राचार्य ने भी इसप्रकार कहा है—‘रागादि पुद्गलविकारविरुद्धशुद्धचैतन्यघातुमयमूर्तिरयं च जीवः’ अर्थ—यह जीव तो रागादि पुद्गल विकारों से विलक्षण, शुद्धचैतन्य घातुमयमूर्ति है। पंडितवर ने भी कहा है—

‘रागादि विकार पुद्गल के, इनमें नहीं चैतन्य निशानि ।’

निश्चय से मोह, रागद्वेषादि कर्म का परिणाम होने से पुद्गल होने के कारण इन रागद्वेष आदि का पुद्गल के साथ व्याप्यव्यापक संबंध है, जैसे घड़े और मिट्टी का व्याप्यव्यापकभाव है। व्याप्यव्यापकभाव में कर्ताकर्म-

पना है, बिना व्याप्यव्यापकभाव कर्तृकर्मपता संभव नहीं है। अतः निश्चयनय से मिथ्यात्व (मोह) रागद्वेष का कर्ता पुद्गलकर्म है, जीव तो रागादि का ज्ञाता है। (समयसार गाथा ७५ आत्मखयाति टीका) श्री जयसेनजी ने भी कहा है—'निश्चयनयेन रागादयः कर्मोदयजनिता' अर्थ—निश्चयनय से रागादि कर्मोदयजनित हैं (समयसार पृष्ठ ३८२ रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला) ।

व्यवहारनय से रागादि जीव के हैं, जीव की अवस्था है और जीव इनका कर्ता है। 'रागी द्वेषी, मोही जीवकर्म से बंधता है, उसे छुड़ाना है' इत्यादिक उपदेश व्यवहारनय के अनुसार बनता है, क्योंकि निश्चयनय से तो जीव बंधा नहीं है। (समयसार गाथा ४६ आत्मखयाति टीका) ।

यह उपर्युक्त कथन शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से आगमानुसार किया गया है। अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से कथन इसप्रकार है—जीव, अशुद्धनिश्चयनय से रागादि औदयिकभावों का कर्ता है, और ये रागादि औदयिकभाव कर्मोदय के बिना नहीं होते इसलिये व्यवहारनय से द्रव्यकर्मकृत हैं। (पंचास्तिकाय गाथा ५७-५८ तात्पर्यवृत्तिः टीका) ।

वास्तव में रागादि न केवल जीवकृत हैं और न केवल पुद्गलकृत हैं। यदि रागादि केवल जीवकृत होते तो सिद्धभगवान में भी होने चाहिये थे। यदि रागादि केवल पुद्गलकृत होते तो पुस्तक आदि में भी पाये जाने चाहिये थे। अतः रागादि जीवपुद्गल (द्रव्यकर्म) के संबंध से उत्पन्न होते हैं। जैसे पुत्र न केवल माता का है और न केवल पिता का है, किन्तु माता और पिता के सम्बन्ध से पुत्र की उत्पत्ति होती है। विवक्षावश पुत्र कभी माता का कहलाता है और कभी पिता का कहलाता है, जैसे नाना के घर पुत्र माता का कहलाता है और बाबा के घर पर वही पुत्र पिता का कहलाता है। माता या पिता का कहलाता हुआ वह पुत्र माता और पिता दोनों का समझा जाता है। इसीप्रकार रागादि जीव के या पुद्गल के विवक्षावश कहे जाते हैं किन्तु रागादि को जीव या पुद्गल में से किसी एक के कहे जाने पर भी समझना यही चाहिए कि रागादि जीव और पुद्गल दोनों के संबंध से उत्पन्न हुए हैं, मात्र जीव की योग्यता से पुद्गलकर्मोदय बिना उत्पन्न नहीं हुए हैं। (समयसार गाथा १११ तात्पर्य वृत्ति टीका) में भी कहा है—'यथा स्त्रीपुरुषाभ्यां समुत्पन्नः पुत्रो विवक्षावशेन देववत्सायाः पुत्रोयं केचन वदति, देववत्तम्य पुत्रोयमिति केचन वदति इति बोधो नास्ति। तथा जीवपुद्गलसंयोगेनोत्पन्नाः मिथ्यात्वरारागादिभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानरूपेण चेतना जीवसंबद्धाः शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेणाचेतनाः परमार्थतः पुनरेकांतेन न जीवरूपाः न च पुद्गलरूपा सुधाहरिद्रयोः संयोगपरिणामवत् ।' इसीप्रकार बृहद्ब्रह्मसंह ग्रंथ गाथा ४८ की संस्कृत टीका में भी कहा है।

—जं. सं. 21-8-58/V/ मौखिक चर्चा

रागादिक का स्वरूप या इनके उत्पादक कारण

शंका—रागादिक में कुछ ज्ञानांश भी होता है, ऐसा अनुभव में आता है। रागादि आत्मा के कर्म हैं या आत्मा रागादि का उत्पादक है ?

समाधान—'रागादि' चारित्रगुण की विकारीपर्यायि हैं; 'ज्ञान' चेतनागुण की पर्याय है। "ब्रह्माश्रया निर्गुणा गुणाः ॥५१४१॥" सूत्र द्वारा यह कहा गया है कि एकगुण में दूसरागुण नहीं रहता है। इसीलिये श्री कुम्भकुन्दाचार्य ने समयसार संवराधिकार में निम्नप्रकार कहा है।

उबओगे उबओगो कोहाविसु णत्थि कोवि उबओगो ।

कोहे कोहो चेव हि उबओगे णत्थि खलु कोहो ॥१८१॥

उपयोग (ज्ञान) उपयोग में है, क्रोधादि (रागद्वेष) उपयोग नहीं है। क्रोध क्रोध में है, उपयोग में क्रोध नहीं है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि रागादि में ज्ञानांश नहीं है।

“यथा स्त्रीपुरुषाभ्यां समुत्पन्नः पुत्रो विवक्षावशेन देवदत्तायाः पुत्रोयंकेचन वदन्ति देवदत्तस्यपुत्रोऽयमिति-
केचनं वदन्तीतिदोषो—नास्ति । तथा जीवपुद्गलसंयोगेनोत्पन्नाः मिथ्यात्वरगादिभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपा-
दानरूपेण चेतना जीवसंबद्धाः, शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेणाचेतनाः पौद्गलिकाः परमार्थतः । पुनरेकांतेन न जीव-
रूपाः न च पुद्गलरूपाः सुधाहरिद्वयोः समोपपरिणामवत् । वस्तुतस्तु सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनयेन न संत्येवाज्ञानोद्भवाः
कल्पिता इति । एतावता किमुक्तं भवति ? ये केचन वदन्त्येकांतेन रागादयो जीवसंबन्धिनः पुद्गलसंबन्धिनी वा तद्ब्रह्म-
मपि वचनं मिथ्या । कस्मादिति चेत् पूर्वोक्तस्त्रीपुरुषदृष्टान्तेन संयोगोद्भवत्वात् ।” (समयसार पृ० १०१)

जैसे पुत्र जो उत्पन्न होता है वह स्त्री और पुरुष दोनों के संयोग से होता है। अतः विवक्षावश से उसकी माता की अपेक्षा से देवदत्ता का यह पुत्र है ऐसा कोई कहते हैं, दूसरे पिता की अपेक्षा यह देवदत्त का पुत्र है ऐसा कहते हैं। परन्तु इन कथनों में कोई दोष नहीं है, क्योंकि विवक्षाभेद से दोनों ही ठीक हैं। वैसे ही जीव और पुद्गल इन दोनों के संयोग से उत्पन्न होनेवाले मिथ्यात्वरगादिरूप जो भावप्रत्यय हैं वे अशुद्धउपादानरूप अशुद्ध-निश्चयनय से चेतनरूप हैं, क्योंकि जीव से सम्बद्ध हैं, किन्तु शुद्धउपादानरूप शुद्धनिश्चयनय से ये सभी अचेतन हैं, क्योंकि पौद्गलिककर्मादय से हुए हैं। किन्तु वस्तुस्थिति में ये सभी न तो एकांत से जीवरूप ही हैं और न पुद्गल रूप ही हैं। किन्तु चूना और हल्दी के संयोग से उत्पन्न हुई कुंकुम के समान ये रागादिप्रत्यय भी जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न होने वाले संयोगीभाव हैं। सूक्ष्मरूप शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि में इनका अस्तित्व ही नहीं है, क्योंकि अज्ञान द्वारा उत्पन्न हुए कल्पित हैं। इस सबका सार यह है जो एकांत से रागादि को मात्र जीवसम्बन्धी कहते हैं या मात्र पुद्गलसम्बन्धी कहते हैं उन दोनों का कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ये जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हुए हैं, जैसा स्त्री पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुए पुत्र के दृष्टान्त द्वारा बताया जा चुका है।

जं. ग. 2-12-71/VIII/ रो. ला. मित्तल

कर्मादय व विभाव परिणामों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है

शंका—जीव का रागादि भावरूप परिणमन और पुद्गल का ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन क्या एक दूसरे के निरपेक्ष होता है ? क्या रागादिभावों के लिये कर्मादय को निमित्त मानना मिथ्यात्व है ?

समाधान—“यथा बलीवर्दपरिभ्रमणापादिशरगतंभ्रान्ति घटियन्त्रभ्रान्तिजनिकां बलीवर्दपरिभ्रमणाभवे
चारगतंभ्रान्त्यभावाद् घटियन्त्रभ्रान्तिनिवृत्ति च प्रत्यक्षत उपलभ्य सामान्यतोदृष्टावनुमाभाद् बलीवर्दतुल्यकर्मादया-
पादितां चतुर्गत्यरगतंभ्रान्ति शरीरमानसद्विविधवेदनाघटीयन्त्रभ्रान्तिजनिकां प्रत्यक्षत उपलभ्य ज्ञानदर्शनचारित्रा-
तिनर्हंगध्व्य कर्मण उदयाभावे चतुर्पंथ्यरगतंभ्रान्त्यभावात् संसारघटीयन्त्रभ्रान्तिनिवृत्त्या भवितव्यनुमीयते ।”

—राजवातिक; प्रारंभिका, वा० ९ पृ० २

जैसे घटीयन्त्र का घूमना उसके धुरे के घूमने से होता है और धुरे का घूमना उसमें जुते हुए बेल के घूमने पर होता है। यदि बेल का घूमना बन्द हो जाय तो धुरे का घूमना रुक जाता है और धुरे के रुक जाने पर घटीयन्त्र का घूमना बन्द हो जाता है। उसीप्रकार कर्मादयरूप बेल के चलने पर चारगतिरूपी धुरे का चक्र चलता है और चतुर्गति घुरा ही अनेक प्रकार की शारीरिक-मानसिकादि वेदनाओंरूपी घटीयन्त्र को घुमाता रहता है। सम्यग्दर्शन-

ज्ञान-चारित्र्य के द्वारा दग्ध हो जाने से कर्मादय की निवृत्ति होने पर चतुर्गति का चक्र रुक जाता है और उसके रुकने से संसाररूपी घटीयन्त्र का परिचलन समाप्त हो जाता है ।

श्री स्वामिकार्तिकेय ने भी कहा है—

मोह-अण्णाम-मयं वि य परिणामं कुणवि जीवस्स ॥२०९॥

संस्कृत टीका—जीवस्य मोहं ममस्वरूपं परिणामं परिणतिं पुद्गलः करोति । च पुनः अज्ञानमयं अज्ञान-निवृत्तं मूढं बहिरात्मानं करोति ।

अर्थ—पुद्गल-जीव के मोह अर्थात् ममस्वरूप परिणाम तथा अज्ञानमयी मूढभावों को करता है ।

का वि अउब्बा वीसहि पुग्गलडव्वस्स एरिसी सत्तो ।

केवल-ण-सहावो विणासिवो जाइ जीवस्स ॥२११॥

अर्थ—पुद्गलद्रव्य की कोई ऐसी अपूर्वशक्ति है जिससे जीव का केवलज्ञान स्वभाव भी नष्ट हो जाता है ।

कम्मइं विट्ठणच्चिकणइयरुवइ वज्ज समाइ ।

ण-वियक्खणु जीवडउ उप्पहि पाइहि ताइ ॥७८॥

अर्थ—वे ज्ञानावरणादिकर्म इस ज्ञान-विचक्षण जीव को छोटे मार्ग में पटकते हैं वे कर्म बलवान हैं, बहुत हैं, जिनका विनाश करना कठिन है, गुरु हैं तथा वज्र के समान अभेद्य हैं ।

कम्माइं वलियाइं वलियो कम्माहु णरिथ कोइ जणे ।

सव्वबलाइ कम्मं अलेवि ह्स्सवि णल्लिणिवणं ॥१६२१॥ (भूलाराधना)

अर्थ—जगत में कर्म ही अतिशय बलवान है, उससे दूसरा कोई भी बलवान नहीं है । जैसे हाथी कमल वन का नाश करता है वैसे ही यह बलवान कर्म भी जीव के सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्र्यगुणों का नाश करता है ।

जीव परिणामहेकुं कम्मत्तं पुद्गला परिणमंति ।

पुग्गलकम्मणिमित्तो त्थेव जीवो वि परिणमइ ॥८०॥ (समयसार)

अर्थ—जीवपरिणामों को निमित्त पाकर यह पुद्गल कर्मरूप परिणमता है । उसीप्रकार पीद्गलीकर्मोदय का निमित्त पाकर जीव विभावरूप परिणमता है ।

“तहि जीव निमित्तकर्तारिमंतरेणापि स्वयमेव कर्मरूपेण परिणमत्तु । तथा च सति किं दूषणं ? घटपटस्तंभादि पुद्गलानां ज्ञानावरणादिकर्मपरिणतिः स्यात् । स च प्रत्यक्ष विरोधात् ।” (समयसार पृ० १८२)

अर्थात्—यदि जीव परिणामों के निमित्त बिना भी पुद्गल कर्मरूप परिणमने लगे तो घटपट स्तंभ आदि पुद्गल भी ज्ञानावरणादिकर्मरूप परिणम जायेंगे । ऐसा होने से प्रत्यक्ष से विरोध आ जायगा । यह दोष आयगा ।

“तहि उदयामतद्रव्यक्रोधनिमित्तमंतरेणापि भावक्रोधादिभिः परिणमत्तु । तथा च सति मुक्तात्मनामपि ब्रह्म-क्रोधादिकर्मोदयनिमित्ताभावेऽपि भावक्रोधादयः प्राप्नुवन्ति । न च तद्विच्छिन्नाय विरोधात् ।” (समयसार पृ० १८४)

अर्थात्—यदि द्रव्यक्रोधादि कर्मोदय के बिना जीव भावक्रोधादिरूप परिणाम जावे तो मुक्तजीव भी द्रव्य-क्रोधादि कर्मोदय के निमित्त के बिना भावक्रोधरूप परिणाम जावेंगे; किन्तु यह इष्ट नहीं है, क्योंकि आगम से विरोध आ जायेगा ।

इन आर्थ प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि जीव के विभावपरिणाम के लिये कर्मोदय निमित्त होता है और कार्माणवर्गणा को ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणामन करने में जीवके रागादिपरिणाम निमित्त होते हैं । इस-प्रकार निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध मानना सम्यक्त्व है, मिथ्यात्व नहीं है ।

—जै. ग. 4-6-70/VII/ रो. ला. मित्तल

१. जीव के विकारों में कर्म की कारणता

२. कुन्दकुन्द ने भी कर्म के हेतु से ही जीव-विकार का होना कहा

शंका—कुछ समयसार ग्रंथ के वेत्ता इसप्रकार कहते हैं—

(क) ज्ञानावरण के कारण ज्ञान अटका ? नहीं; अपनी योग्यता के कारण ही ज्ञान अटका है ।

(ख) कर्म के उदय के कारण जीव को विकार हुआ ? नहीं; जीव की पर्याय में वंसी योग्यता के कारण ही विकार हुआ है ।

(ग) गुरु के कारण ज्ञान हुआ ? नहीं; अपनी योग्यता से ही ज्ञान हुआ है ।

क्या उनका ऐसा कहना युक्त है ?

समाधान—समयसारग्रन्थ के वेत्ताओं ने इसप्रकार नहीं कहा है और न वे ऐसा कह सकते हैं, क्योंकि वाक्य “योग्यता के कारण ही” में शब्द “ही” ग्रन्थ कारणों का निषेधक होने से एकान्त का द्योतक है । मिथ्यात्व के पाँच भेदों (संशय, विपरीत, एकान्त, अज्ञान और विनय) में से ‘एकान्त’ भी मिथ्यात्व का एक भेद है ।

आगम और युक्ति से इस शंका पर विशेष विचार किया जाता है । आगम इसप्रकार है—और समयसार के रचयिता श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने इस विषय में यह कहा है—

(१) जीवपरिणामहेतुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमन्ति ।

पुग्गलकम्मणिभित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८०॥ [समयसार]

अर्थ—जीव के परिणाम के कारण से पुद्गल कर्मरूप परिणामते हैं, उसीप्रकार पुद्गलकर्म के निमित्त कारण से जीव भी परिणामन करता है ।

(२) वत्थस्स सेव-भावो जहणासेवी मलमेलणासत्तो ।

मिच्छत्तमलोच्छरणं तह सम्मत्तं खु णायब्बं ॥१५७॥

वत्थस्स सेव-भावो जहणासेवी मलमेलणासत्तो ।

अण्णाणमलोच्छरणं तह णाणं होवि णायब्बं ॥१५८॥

वत्थस्स सेव-भावो जहणासेवी मलमेलणासत्तो ।

कसायमलोच्छरणं तह चारिसं वि णायब्बं ॥१५९॥ [समयसार]

अर्थ—जैसे वस्त्र का श्वेतभाव मैल के मिलने से लिप्त होता हुआ नष्ट हो जाता है, उसीप्रकार मिथ्यात्व-रूपी मैल से व्याप्त होता हुआ (लिप्त होता हुआ) सम्यक्त्व वास्तव में नष्ट हो जाता है, ऐसा जानना चाहिये । जैसे वस्त्र का श्वेतभाव मैल के मिलने से लिप्त होता हुआ नाश को प्राप्त होता है उसीप्रकार अज्ञानरूपी मैल से व्याप्त होता हुआ ज्ञान नष्ट हो जाता है, ऐसा जानना चाहिये । जैसे वस्त्र का श्वेतभाव मैल के मिलने से लिप्त होता हुआ नाश को प्राप्त होता है, उसीप्रकार कषायरूपी मैल से व्याप्त (लिप्त) होता हुआ चारित्र भी नष्ट हो जाता है, ऐसा जानना चाहिये ॥ १५७-१५९ ॥

- (३) सम्मत्तापडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो, मिच्छादिद्विद्वि पायव्वो ॥ १६१ ॥
णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहि परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होवि पायव्वो ॥ १६२ ॥
आरित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहि परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो अआरित्तो होवि पायव्वो ॥ १६३ ॥ [समयसार]

अर्थ—सम्यक्त्व को रोकनेवाला मिथ्यात्व है । ऐसा सर्वज्ञ ने कहा है, उसके उदय से जीव मिथ्याद्विष्ट होता है ऐसा जानना चाहिये । ज्ञान को रोकने वाला अज्ञान है ऐसा सर्वज्ञ ने कहा है, उसके उदय से जीव अज्ञानी होता है ऐसा जानना चाहिये । चारित्र को रोकने वाला कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) है, ऐसा सर्वज्ञ ने कहा है, उसके उदय से यह जीव अचारित्रवान होता है ऐसा जानना चाहिये ॥ १६१-१६२-१६३ ॥

- (४) जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहि ।
रंगिज्जवि अण्णोहि दु सो रत्तावीहि वव्वोहि ॥ २७८ ॥
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहि ।
राहज्जवि अण्णोहि दु सो रागावीहि वोसेहि ॥ २७९ ॥ [समयसार]

अर्थ—जैसे स्फटिकमणि शुद्ध होने से रागादिरूप से (ललाईआदिरूप से) अपने आप नहीं परिणमती, परन्तु अन्य रक्तादिवर्षों से वह लाल-आदि किया जाता है इसीप्रकार आत्मा शुद्ध होने से रागादिरूप अपने आप नहीं परिणमता, अन्य रागादिदोषों से वह रागी आदि किया जाता है ॥ २७८-२७९ ॥

- (५) जह फलिहमणि विसुद्धो परवध्वज्जुवो ह्वेइ अण्णं सो ।
तह रागावि-विज्जुत्तो जीवो हववि ह्व अण्णविहो ॥५१॥ [मोक्षपाहुङ्ग]

अर्थ—जैसे स्फटिकमणि विशुद्ध है वह परद्रव्य के संयोग से अन्यरूप हो जाती है, उसीप्रकार जीव भी रागादि के संयोग से अन्य-अन्य प्रकार होता है । [स्त्रीभिर्योगे रागवान् भवति, शत्रुभिर्योगे द्वेषवान् भवति, पुत्रादिभिर्योगे मोहवान् भवतीति तात्पर्यार्थः] स्त्री के संयोग से रागी, शत्रु के संयोग से द्वेषी और पुत्र के संयोग से मोही होता है, यह तात्पर्य है । [संस्कृत टीका]

- (६) चेया उ पयडी-अहुं उप्पज्जइ विणस्सइ ।
पयडीवि ज्ञेयवहुं उप्पज्जइ विणस्सइ ॥ ३१२ ॥
एवं बंधो उ हुण्हं वि अण्णोणत्पक्कया ह्वे ।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए ॥ ३१३ ॥ (समयसार)

अर्थ—चेतन अर्थात् आत्मा प्रकृति (द्रव्यकर्म) के निमित्त से उत्पन्न होता है और नष्ट होता है, तथा प्रकृति भी चेतन (आत्मा) के निमित्त से उत्पन्न होती है तथा नष्ट होती है। इसप्रकार परस्पर निमित्त से दोनों ही आत्मा और प्रकृति का बंध होता है और इससे संसार उत्पन्न होता है।

उपर्युक्त गाथाओं तथा अन्य भी गाथाओं से यह स्पष्ट है कि श्री कुम्भकुन्द भगवान ने जीव के विकार अपनी योग्यतामात्र से नहीं कहा, किन्तु कर्मों को भी कारण कहा है।

समयसार के टीकाकार श्री अमृतचन्द्रसूरि इस विषय में क्या कहते हैं, इस पर विचार किया जाता है—

(१) परपरिणति हेतोर् मोहनाम्नोऽनुभावादविरतमनुभावध्याप्तकल्माषितायाः ।

सम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रपूर्ते भवतु समयसार व्याख्ययैवानुभूतेः ॥३॥

अर्थ—इस समयसार की व्याख्या (टीका) से ही मेरी अनुभूति की परमविशुद्धि हो यह मेरी परिणति, परपरिणति के कारणभूत जो मोहनामक कर्म है; उसके अनुभाव से (उदय-विपाक से) जो अनुभाव्य (रागादि विकारी परिणामों) की व्याप्ति है, उससे निरन्तर कल्माषित अर्थात् मैली है, और मैं द्रव्यदृष्टि से शुद्धचैतन्यमात्र सूरति हूँ ॥ ३ ॥

(२) यदा त्वनाद्यविद्याकंबलीमूलकंबायमानमोहानुवृत्तितन्त्रतया दृशितस्वभावनियतवृत्तिरूपादात्म-
तत्त्वात्प्रवृत्त्य, परद्रव्यप्रत्ययमोहरागद्वेषाविभावंकगतत्वेन वर्तते तदा पुद्गलकर्मप्रवेशस्थितत्वात्परमेकत्वेन युगपज्जान-
नन् गच्छंश्च परसमय इति प्रतीयते । (समयसार आत्मख्याति टीका गाथा नं० २) ।

अर्थ—जब वह अनादि अविद्यारूपी केले के मूल की गाँठ की भाँति मोह उसके उदयानुसार प्रवृत्ति की आधीनता से दर्शन, ज्ञानस्वभाव में निश्चित प्रवृत्तिरूप आत्मतत्त्व से अनादि से छूटकर परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न मोह, राग-द्वेषादिभावों में एकतारूप से लीन होकर प्रवृत्त होता है पुद्गलकर्म के प्रदेशों में (कार्माणस्कन्धरूप के फल में) स्थित होने से परद्रव्य को अपने साथ एकरूप से एककाल में जानता है और रागादिरूप (विकारीभाव) परिणमित होता हुआ “परसमय” है। समयसार गाथा नं० २ ।

(३) “एकच्छत्रीकृतविश्वतया महतामोहप्रहेण गोरिव ब्राह्मणस्य इदं तु निश्चयस्त-
यातःप्रकाशमानमपि कषायवक्त्रेण सहैकीक्रियमाणत्वावत्यंततिरोभूतं सन् (समयसार गाथा नं० ४
आत्मख्याति टीका) ।

अर्थ—समस्त विश्व को एकछत्र राज्यवश करने वाला महा मोहरूपी भूत जिसके पास यह समस्त जीव-
लोक बेल की भाँति भार वहन करता है। आत्मा सदा प्रकटरूप से अन्तरंग में प्रकाशमान है, तथापि कषायों के साथ एकरूप जैसा किया जाता है इसलिये अत्यन्त तिरोभाव को प्राप्त हुआ है। समयसार गाथा ४ की टीका

(४) निरवधिबंधपर्यायवशेन प्रशस्तमितसमस्त स्वपरविभागानि समयसार गाथा ३१
आत्मख्याति टीका ।

अर्थ—अनादि अमर्यादरूप बंधपर्याय के वश समस्त स्वपर का विभाग अस्त हो गया है।

(५) “फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकत्वेन भवंतमपि दूरत एव तदनुवृत्तेरात्मनो भाव्यस्य ”

अर्थ—मोहकर्म फल देने की सामर्थ्य से प्रगट उदयरूप होकर भावकपने से प्रगट होता है और तदनुसार जिसकी प्रवृत्ति है ऐसा जो आत्मा भाव्य (समयसार गाथा ३२ की टीका)

(६) 'यतो जीवपरिणामं निमित्तीकृत्य पुद्गलाः कर्मत्वेन परिणमन्ति पुद्गलकर्मनिमित्तीकृत्य जीवोपि परिणमन्तीति जीवपुद्गलपरिणामयोरितरेतरहेतुत्वोपन्यासेऽपि जीव पुद्गलयोः परस्परव्याप्यव्यापकभावाभावाञ्जीवस्य पुद्गलपरिणामानां पुद्गलकर्मणोपि जीवपरिणामानां कर्तृकर्मत्वासिद्धौ निमित्तनैमित्तिकभावमाश्रयाप्रतिषिद्धत्वादितरेतरनिमित्तमात्रोपवनेनैव द्वयोरपि परिणामः ।' (समयसार गाथा ८० व ८१ की आत्मख्याति टीका) ।

अर्थ—जीव परिणाम को निमित्त करके पुद्गलकर्मरूप परिणमित होते हैं और पुद्गलकर्म को निमित्त करके जीव भी परिणमित होते हैं, इसप्रकार जीव के परिणाम के और पुद्गल के परिणाम के परस्पर हेतुत्व का उल्लेख होने पर भी जीव और पुद्गल में परस्पर व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने से जीव को पुद्गलपरिणामों के साथ और पुद्गलकर्म को जीवपरिणामों के साथ कर्ताकर्मपने की असिद्धि होने से, मात्र निमित्त-नैमित्तिकभाव का निषेध न होने से, परस्पर निमित्तमात्र होने से ही दोनों का परिणाम होता है ।

(७) "उपयोगस्यानादिवस्त्वन्तर भूतमोहयुक्तत्वाग्निश्यादर्शनमज्ञानमविरतिरिति त्रिविधः परिणामविकारः । स तु तस्य स्फटिकत्वच्छ्रुताया इव परतोपि प्रभवन् दृष्टः ।" (समयसार गाथा ८९ टीका आत्मख्याति) ।

अर्थ—अनादि से अग्य वस्तुभूत मोह के साथ संयोग होने से उपयोग का मिश्यादर्शन, अज्ञान और अविरति के भेद से तीनप्रकार परिणामविकार हैं । उपयोग का वह परिणामविकार, स्फटिक की स्वच्छता के परिणामविकार की भाँति, पर के कारण उत्पन्न होता हुआ दिखाई देता है ।

(८) आत्मा अनात्मना रागादीनामकारक एव, अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्विविधोपदेशान्यथानुपपत्तेः । य खलु अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्विव्यभाव भेदेनद्विविधोपदेशः सद्रव्यभावयोनिमित्तनैमित्तिकभावं प्रथयन्नकर्तृत्वमात्मनो ज्ञापयति । तत एतत् स्थितं, परद्रव्यं निमित्तं नैमित्तिका आत्मनो रागादिभावाः । यद्येवं नेष्येत् तदा द्रव्याप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोः कर्तृत्वनिमित्तत्वोपदेशोऽनर्थक एव स्यात् । तदनर्थकत्वे त्वैकस्यैवात्मनो रागादिभावनिमित्तत्वापत्तौ नित्यकर्तृत्वानुषंगान्मोक्षाभावः प्रसजेच्च । ततः परद्रव्यमेवात्मनो रागादिभावनिमित्तमस्तु । तथा सति तु रागादीनामकारक एवात्मा, तथापि यावन्नैमित्तभूतद्रव्यं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च तावन्नैमित्तिकभूतं भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च, यावत्तु भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे तावत्कर्तृत्वं स्यात् । यदेवं निमित्तभूतं द्रव्यं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदैव नैमित्तिकभूतं भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च । यदा तु भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे तदा साक्षादकर्तृत्वं स्यात् । (समयसार आत्मख्याति टीका गाथा २८३-२८५)

अर्थ—आत्मा आपसे रागादिभावों का अकारक ही है, क्योंकि आप ही कारक हो तो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान इनके द्रव्य-भाव इन दोनों भेदों के उपदेश की अप्राप्ति आती है । जो निश्चयकर अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान के दो प्रकार (भेद) का उपदेश है वह उपदेश द्रव्य और भाव के निमित्त-नैमित्तिकभाव को विस्तारता हुआ आत्मा के अकर्तापन को जतलाता है । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि परद्रव्य तो निमित्त है और नैमित्तिक आत्मा के रागादिकभाव हैं । यदि ऐसा न माना जाय तो द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान इन दोनों के कर्तापन के निमित्तपने का उपदेश है, वह व्यर्थ ही हो जायगा । और उपदेश के अनर्थक होने से एक आत्मा के ही रागादिक भाव के निमित्तपने की प्राप्ति होने पर सदा कर्तापन का प्रसंग आयेगा, उससे मोक्ष का अभाव सिद्ध होगा । इसलिये आत्मा के रागादिभावों का निमित्त परद्रव्य ही रहे । ऐसा होने पर आत्मा रागादिभावों का अकारक ही है यह सिद्ध हुआ । तो भी जब तक रागादिक का निमित्तभूत परद्रव्य का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान न करे तबतक नैमित्तिकभूत रागादिभावों का प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान नहीं होता और जबतक इन भावों का प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान न हो तबतक रागादिभावों का कर्ता ही है । जिससमय रागादिभावों के निमित्तभूत द्रव्यों का प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान

करता है उसीसमय नैमित्तिकभूत रागादिभावों का प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान होता है। तथा जिससमय इन भावों का प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान हुआ उससमय साक्षात् अकर्ता हो जाता है।

इसी प्रकार गाथा १५७, १५८, १५९, १६१, १६२, १६३, २७८, २७९, ३१२ व ३१३ की आत्मख्याति टीका से यह सिद्ध है कि रागादिक को परद्रव्य (द्रव्यकर्म) निमित्त है। और गाथा ५०-६८ तक, तथा ७५ व ७८ में अजीवद्रव्य निमित्त होने के कारण इन रागादिक का अजीव के साथ तादात्म्य सम्बन्ध व व्याप्य-व्यापकभाव कहा है।

जै. ग. 7-2-63/VII व IX/ आत्माराम

जीव द्रव्य : विविध

जीव के अस्तित्व की सिद्धि

शंका—जीव का अस्तित्व कैसे सिद्ध किया जा सकता है जबकि मनुष्य को घड़ी आदि मशीनों से उपमा दी जाती है? यदि ज्ञान की विशेषता जताई जाय तो उसका उत्तर यह होता है कि वह भी मशीन का कार्य है जो मशीन ठप्प होते ही समाप्त हो जाती है?

समाधान—अचेतन पुद्गलद्रव्य तो इन्द्रियगोचर है। उसका अस्तित्व स्वीकार करने के लिये किसी युक्ति या आगम प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। इसप्रकार अचेतनद्रव्य का अस्तित्व सिद्ध हो जाने पर उसके प्रतिपक्ष पदार्थ चेतनपदार्थ की सिद्धि ही जाती है, क्योंकि समस्त पदार्थ अपने प्रतिपक्ष सहित ही उपलब्ध होते हैं। यदि अशुद्ध घी न हो तो शुद्ध घी की भी उपलब्धि नहीं हो सकती। आज से पचास वर्ष पूर्व जब तक वनस्पति घी की उत्पत्ति नहीं हुई थी तब तक किसी की दुकान पर भी 'शुद्ध घी' का साइनबोर्ड (पाटिया) लगा हुआ नहीं होता था। 'अचेतन' शब्द यह सिद्ध कर रहा है कि कोई न कोई चेतन वस्तु भी है।

अचेतनद्रव्य से चेतनद्रव्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि चेतनद्रव्य अनादि है। यदि चेतनद्रव्य को सादि मान लिया जावे तो उससे पूर्व अर्थात् चेतनद्रव्य की उत्पत्ति से पूर्व ज्ञानप्रमाण का अभाव प्राप्त होता है। ज्ञापकप्रमाण के अभाव में समस्त ज्ञेय व प्रमेयों अर्थात् समस्त अचेतनद्रव्यों के अभाव का प्रसंग आजायगा। अचेतन के अभाव में चेतन की उत्पत्ति भी नहीं हो सकेगी।

चेतन एक स्वतंत्रद्रव्य है, क्योंकि वह उत्पाद, व्यय और ध्रुवरूप है। चेतन की ध्रुवता असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि जब जीव मरकर दूसरी पर्याय में उत्पन्न होता है तो उसको अपने पूर्वभव का ज्ञान रहता है। जाति-स्मरण की तथा पुनर्जन्म की अनेकों घटनायें समाचार पत्रों में प्रकाशित होती रहती हैं। सहारनपुर का मनोहरलाल व्यक्ति मरकर बरेली में एक प्रोफेसर के पुत्र हुआ। वह बालक सहारनपुर में आया और उसने पूर्वभव के सम्बन्धियों मित्रों तथा मकान आदि सबको पहिचान लिया और वह बालक उनके साथ बँसा ही व्यवहार करता था जैसा कि वह मनोहरलाल की पर्याय में करता था। यदि चेतनद्रव्य ध्रुव न होता और मात्र अचेतनद्रव्य की विशेष पर्याय होती तो पूर्वपर्याय की स्मृति किसको रहती?

आर्थ प्रमाण भी इस प्रकार है—

“योगलवण्वपि जीवो होञ्ज; अचेयणत्तं पडि विसेसाभावावो । । ण च चेयणवभाभावो, पच्चक्खेण भाहुवल्लंभावो, सव्वस्स सपडिक्खस्सुवल्लंभावो च । ण चाजीवावो जीवस्सुव्वप्पत्तो, वव्वस्सेअंतेण इव्वत्तिविरोहावो । ण च जीवस्स वव्वत्तमसिद्धं, मज्जावत्थाए अक्कमेण वव्वत्ताविणाभावितिलक्खणत्तुवल्लंभावो ।

[ज. घ. १ पृ० ५२-५४, नवीन संस्क० पृ० ४७-४९]

अर्थ— यदि जीव का लक्षण अचेतन माना जायगा तो पुद्गलद्रव्य भी जीव हो जायगा, क्योंकि अचेतनत्व की अपेक्षा इन दोनों में कोई विशेषता नहीं रह जाती है। चेतनद्रव्य का अभाव किया नहीं जा सकता है, क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा स्पष्टरूप से चेतनद्रव्य की उपलब्धि होती है। तथा समस्तपदार्थ अपने प्रतिपक्षसहित ही उपलब्ध होते हैं, इसलिये भी अचेतनपदार्थ के प्रतिपक्षी चेतनद्रव्य के अस्तित्व की सिद्धि हो जाती है। यदि कहा जाय कि अजीव से जीव की उत्पत्ति होती है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि द्रव्य की सर्वथा उत्पत्ति मानने में विरोध आता है। यदि कहा जाय कि जीव का द्रव्यपना किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि मध्यम-अवस्था में द्रव्यत्व के अविनाभावी उत्पाद ध्यय और ध्रुवरूप त्रिलक्षणत्व की युगपत् उपलब्धि होने से जीव में द्रव्यपना सिद्ध ही है।

आर्वाकमत अजीव से जीव की उत्पत्ति मानता है उसका खण्डन बृहद्द्रव्यसंग्रह की टीका आदि अनेकों ग्रंथग्रन्थों में है। वहाँ से विशेष कथन देख लेना चाहिये।

—जै. ग. 20-3-67/VII/ ट. ला. जैन, मेरठ

मात्र एक ही आकाश प्रदेश में एक जीव नहीं टिकता

शंका—आकाश के एक प्रदेश पर अनन्त जीव बतलाये हैं और एक जीव कम से कम असंख्यात प्रदेशों पर रहता है। फिर दोनों बात कैसे ?

समाधान—निगोदियाजीव की जघन्यअवगाहना घनांगुल के असंख्यातबेभागप्रमाण है जिसमें आकाश के असंख्यातप्रदेश होते हैं। अतः एक जीव कम से कम असंख्यातप्रदेशों पर आता है। किन्तु उस निगोदियाशरीर में अनन्तानन्त जीव रहते हैं। आकाश के प्रत्येक प्रदेश पर जहाँ एक निगोदिया के आत्मप्रदेश हैं वहीं पर अनन्तानन्त जीवों के भी आत्मप्रदेश हैं। इसप्रकार दोनों बातों में परस्पर कोई विरोध नहीं है।

—जै. ग. 10-7-67/VII/ ट. ला. जैन

जीव का एकप्रदेशत्व

शंका—जीव का एकप्रदेशी स्वभाव आलापपद्धति में कहा, सो कैसे ?

समाधान—प्रत्येक जीव एक अखंडद्रव्य है। जिसप्रकार बहुप्रदेशी पुद्गलस्कन्ध के खंड हो जाते हैं, उस प्रकार बहुप्रदेशी एक जीवद्रव्य के खण्ड नहीं हो सकते क्योंकि वह एक अखण्डद्रव्य है; किन्तु पुद्गलस्कन्ध नाना पुद्गल द्रव्य (परमाणुओं) का बंध होकर एक पिण्ड बना है। अतः भेदकल्पना निरपेक्षारष्टि से अखण्ड एकद्रव्य होने के कारण जीव एकप्रदेश स्वभाव वाला है। कहा भी है—भेदकल्पनानिरपेक्षेणैतरेषां धर्माधर्माकाशाजीवानां चाखण्डत्वादेकप्रदेशत्वम् ।

—जै. ग. 18-6-64/IX/ अ. लाभानन्द

१. विग्रहगति में सुख-दुःख, राग तथा आस्रव-बन्ध
२. सुख-दुःख का संवेदन आत्मा को प्रत्यक्ष होता है ।

शंका—विग्रहगति में मन और इन्द्रियाँ हैं नहीं, फिर जीव राग बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक कर ही नहीं सकता, किन्तु विग्रहगति में कहा ही है। तो क्या विग्रहगति में राग होता है या बिना राग के केवल कर्मोदय से ही बंध हो जाता है ?

समाधान—विग्रह का अर्थ 'देह' भी है और व्याघात या कुटिलता भी है। दूसरे शरीर के लिये संसारी जीव के जो मोड़ेवाली गति होती है, वह विग्रहगति है। विग्रहगति में इन्द्रियप्राण होता है, क्योंकि वहाँ पर ज्ञान का क्षयोपशम पाया जाता है। दूसरे बाह्यपदार्थों को ग्रहण करने के लिये इन्द्रियों के व्यापार की आवश्यकता है, किन्तु स्वयं के सुख-दुःख का अनुभव तो स्वयं ज्ञान के द्वारा हो जाता है, उसमें इन्द्रियज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। कहा भी है—'यदि एकान्त से ये मति, श्रुत दोनों परोक्ष ही हों तो सुख-दुःख आदि का जो स्वसंवेदन-स्वानुभव है वह भी परोक्ष ही होगा। किन्तु वह स्वसंवेदन परोक्ष नहीं है।' (बृहद् ब्रह्मसंग्रह गाथा ५ की संस्कृत टीका) ।

सुख-दुःख का अनुभव होने पर राग-द्वेष अवश्य उत्पन्न होते हैं। राग-द्वेष के उत्पन्न होने पर कर्मों का बंध भी अवश्य होता है, यदि यह कहा जाय कि आस्रव के बिना कर्मबन्ध कैसे होगा ? इसका उत्तर यह है कि विग्रहगति में कामंणकाययोग होता है जिसके कारण कर्मास्रव होता है। कहा भी है—'विग्रहगतो कर्मयोगः ।' (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय २ सूत्र २५) । इसी प्रकार तत्त्वार्थसार श्लोक १७ में भी कहा है।

—अं. ग. 14-11-63/VIII/ पं. सरनाराम

आत्मप्रदेशों के भ्रमण की सिद्धि

शंका—आत्मा के प्रदेश भ्रमण करते हैं, इसमें आगम प्रमाण क्या है ?

समाधान—अभेदनय की अपेक्षा आत्मा एक अखंड पदार्थ है। अखंडपदार्थ में प्रदेशों का भ्रमण संभव नहीं है, किन्तु भेद दृष्टि में आत्मा असंख्यात प्रदेशी है और प्रत्येक प्रदेश की सत्ता भिन्न-भिन्न है। अनादिकाल से यह आत्मा कर्मों से बंधा हुआ होने के कारण अपने स्वभाव से क्युत हो रहा है। जैसा-जैसा कर्मोदय होता है वैसा-वैसा आत्मा का परिणामन होता है। शरीरनामकर्म के उदय से आत्मा के प्रदेश संकोच व विस्ताररूप होते रहते हैं। संकोच व विस्तार के कारण आत्मप्रदेशों का भ्रमण होता रहता है।

यदि जीवप्रदेशों का भ्रमण नहीं माना जावे, तो अत्यन्त द्रुतगति से भ्रमण करते हुए जीवों को भ्रमण करती हुई पृथ्वी आदि का ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये आत्मप्रदेशों के भ्रमण करते समय द्रव्येन्द्रिय प्रमाण आत्मप्रदेशों का भी भ्रमण होता है। जीव के आठ मध्यप्रदेशों का संकोच अथवा विस्तार नहीं होता; अतः वे स्थित रहते हैं। अयोगकेवली जिनमें समस्त योगों के नष्ट हो जाने से जीवप्रदेशों का संकोच व विस्तार नहीं होता है अतएव वहाँ पर भी (सर्व) आत्मप्रदेश अवस्थित रहते हैं। विशेष के लिए धवल पुस्तक १ पृ० २३२-२३४; धवल पु० १२ पृ० २६४-२६८ देखना चाहिये।

श्री राजवार्तिक अध्याय ५ सूत्र ८ वार्तिक १६ में आचार्य श्री अकलंकवेव ने इसप्रकार कहा है—“आगम में जीव के प्रदेशों को स्थित और अस्थित दोरूप में बताया है। दुःख का अनुभव पर्याय परिवर्तन या क्रीधादि दशा

में जीव के प्रदेशों की उथल-पुथल को अस्थित तथा उथल-पुथल न होने को स्थित कहते हैं। जीव के घाठ मध्य-प्रदेश सदा निरपवादरूप से स्थित ही रहते हैं। अयोगकेवली और सिद्धों के सभी प्रदेश स्थित हैं। व्यायाम के समय या दुःख परिताप आदि के समय जीवों के उक्त आठ मध्यप्रदेशों को छोड़कर बाकी प्रदेश अस्थित होते हैं। शेष जीवों के स्थित और अस्थित दोनों प्रकार के हैं।"

सम्बन्धरूपी दृष्टं, अवद्विष्टं भवति तत्र पदेसा वि ।

रूपी जीवा चलयता, तिविद्यन्ता ह्येति ह पदेसा ॥५९२॥

(गोम्भटसार जीवकांड)

अर्थ—सम्पूर्ण अरूपीद्रव्य अवस्थित हैं तथा इनके प्रदेश भी चलायमान नहीं होते, किन्तु रूपी जीव अर्थात् संसारीजीव के प्रदेश चलायमान होते हैं जिसके तीन प्रकार हैं। १ अचल, २ चल, ३ चलाचल ।

—जै. ग. 10-10-63/IX/ ब. ला.

शरीराऽभाव होने पर भी जीवप्रदेशों का विस्तार नहीं होता

शंका—लोकाकाश भी असंख्यातप्रदेशी है और जीव के भी उतने ही प्रदेश हैं, फिर जीव लोक के असंख्यातवैभाग में रहता है, यह कैसे सम्भव है ?

समाधान—जीव यद्यपि लोकप्रमाण असंख्यातप्रदेशी है तथापि अनादिकाल से कर्मबन्ध होने के कारण जीवप्रदेश शरीरप्रमाण संकोच-विस्तार होते रहते हैं। शरीर की अवगाहना लोकाकाश के असंख्यातवैभागप्रमाण है अतः जीव भी लोक के असंख्यातवैभाग में रहता है ।

“यद्यपि निश्चयेन सहजशुद्धलोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशस्तथापि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धाधीनत्वेन शरीरनामकर्मोदयजनितोपसंहारविस्ताराधीनत्वात् घटाविभाजनस्थप्रदीपवत् स्वदेहपरिमाणः ।

—बृहद् ब्रह्मसंग्रह गा० २ टीका

अर्थ—यद्यपि जीव निश्चयनय से लोकाकाश के प्रमाण असंख्यात स्वाभाविक शुद्धप्रदेशों का धारक है, तो भी व्यवहार से अनादि कर्मबंधवशात् शरीरकर्म के उदय से उत्पन्न संकोच तथा विस्तार के आधीन होने से, घट आदि में स्थित दीपक की तरह, अपनी देह के बराबर है ।

“कश्चिद्वाह यथा प्रदीपस्थ भाजनाद्यावरणे गते प्रकाशस्य विस्तारो भवति तथा वेहाभावे लोकप्रमाणेन साध्यमिति ? तत्र परिहारमाह-प्रदीपसम्बन्धी योऽसौ प्रकाशविस्तारः पूर्वस्वभावेनैव तिष्ठति पश्चादावरणं जातं, जीवस्य तु लोकमात्रासंख्येयप्रदेशत्वं स्वभावो भवति यस्तु प्रवेशानां सम्बन्धी विस्तारः स स्वभावो न भवति । कस्मादिति चेत् ? पूर्वं लोकमात्रप्रदेशा विस्तीर्णा निरावरणास्तिष्ठन्ति पश्चात् प्रदीपवदावरणं जातमेव । तन्न, किन्तु पूर्वमेवानादिसंतानरूपेण शरीरेणावृतास्तिष्ठन्ति ततः कारणात्प्रवेशानां संहारो न भवति, विस्तारश्च शरीरनामकर्म-धीन एव, न च स्वभावस्तेन कारणेन शरीराभावे विस्तारो न भवति ।” बृहद् ब्रह्मसंग्रह गा. १४ टीका

अर्थ—कोई शंका करता है कि जैसे दीपक को ढकनेवाले पात्रादि के हटा लेने पर उस दीपक के प्रकाश का विस्तार हो जाता है, उसीप्रकार देह का अभाव हो जाने पर सिद्धों की आत्मा भी फैलकर लोकप्रमाण होनी चाहिये ? इस शंका का उत्तर यह है—दीपक के प्रकाश का जो विस्तार है, वह तो पहले ही स्वभाव से दीपक में रहता है, पीछे उस दीपक के आवरण से संकुचित होता है, किन्तु जीव का लोकप्रमाण असंख्यातप्रदेशत्व तो स्वभाव

है, प्रदेशों का लोकप्रमाण विस्तार स्वभाव नहीं है। यदि यह कहा जाय कि जीव के प्रदेश पहले लोक के बराबर फले हुए आवरण रहित रहते हैं फिर जैसे प्रदीप के आवरण होता है उसीप्रकार जीवप्रदेशों का भी आवरण हुआ है ? ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जीवप्रदेश तो पहले अनादिकाल से सन्तानरूप से चले आये हुए शरीर के आवरणसहित ही रहते हैं, इसकारण जीवप्रदेशों का संहार नहीं होता। विस्तार व संहार शरीरनामकर्म के आधीन है, जीव का स्वभाव नहीं है। इसकारण शरीर का अभाव होने पर भी जीव प्रदेशों का विस्तार नहीं होता है।

जं. ग. 29-6-72/IX/ टी. ला. मित्तल

सिद्धों में रागादिरूप परिणत होने की शक्ति है या नहीं ?

शंका—सिद्ध परमात्मा में रागादि तथा मिथ्यास्वरूप परिणमन करने की शक्ति है या नहीं ? क्या शक्ति का कभी नाश हो सकता है ?

समाधान—बिना परद्रव्य के निमित्त के केवल (अकेला) आत्मा अपने आप रागादि तथा मिथ्यास्वरूप परिणमन नहीं कर सकता। कहा भी है—यथा खलु केवल स्फटीकोपलः परिणामत्वस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात् रागादिभिः स्वयं न परिणमते। परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन, शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव, रागादिभिः परिणम्यते; तथा केवलः क्लृप्तात्मा, परिणाम-स्वभावत्वे सत्यपि, स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात् रागादिभिः स्वयं न परिणमते, परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया रागादिनिमित्तभूतेन, शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव, रागादिभिः परिणम्यते। इति तावद्वस्तुस्वभावः। समयसार गाथा २७८-२७९ आ० ख्या०

अर्थ—जैसे वास्तव में केवल (अकेला) स्फटिकमणि, स्वयं परिणमन स्वभाववाला होने पर भी, अपने को शुद्धस्वभावत्व के कारण रागादि का निमित्तत्व न होने से अपने आप रागादिरूप नहीं परिणत होता, किन्तु जो अपने आप रागादिभाव को प्राप्त होने से स्फटिकमणि के रागादि का निमित्त होता है, ऐसे परद्रव्य के द्वारा ही शुद्धस्वभाव से च्युत होता हुआ रागादिरूप परिणमित किया जाता है। इसीप्रकार वास्तव में केवल [अकेला] आत्मा, स्वयं परिणमनस्वभाववाला होने पर भी अपने शुद्धस्वभाव के कारण रागादि का निमित्तत्व न होने से अपने आप ही रागादिरूप नहीं परिणमता, परन्तु जो अपने आप रागादिभाव को प्राप्त होने से आत्मा को रागादि का निमित्त होता है ऐसे परद्रव्य के द्वारा ही, शुद्धस्वभाव से च्युत होता हुआ ही, रागादिरूप परिणमित किया जाता है। ऐसा वस्तुस्वभाव है। और भी कहा है—

आत्मात्मनारागादीनामकारक एव, अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्विष्योपदेशान्यथानुपपत्तेः। यः खलु अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्विष्यभावभेदेन द्विविधोपदेशः स, द्रव्यभावयोर्निमित्तनैमित्तिकभावं प्रथयन्, अकर्तृत्वमात्मनो ज्ञापयति। तत एतत् स्थितम्—परद्रव्यं निमित्तं, नैमित्तिका आत्मनो रागादिभावाः। यद्येवं नेष्येत तदा द्रव्याप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोः कर्तृत्वनिमित्तस्वोपदेशोऽनर्थक एव स्यात्, तदनर्थकत्वे त्वेकस्यैवात्मनो रागादिभावनिमित्तत्वापत्तौ नित्यकर्तृत्वानुसङ्गात् मोक्षाभावः प्रसज्येच्च। ततः परद्रव्यमेवात्मनो रागादिभावनिमित्तमस्तु। तथा सति तु रागादीनामकारक एव आत्मा। समयसार २८३-२८५ आ० ख्या०

अर्थ—आत्मा स्वतः रागादि का अकारक ही है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो अप्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान की द्विविधता का उपदेश नहीं हो सकता। अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का जो वास्तव में द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का उपदेश है वह द्रव्य और भाव के निमित्त-नैमित्तिकत्व को प्रगट करता हुआ आत्मा के अकर्तृत्व को

ही बतलाता है। इसलिये यह निश्चित हुआ कि परद्रव्य निमित्त है और आत्मा के रागादिभाव नैमित्तिक हैं। यदि ऐसा न माना जाय तो द्रव्यअप्रतिक्रमण और द्रव्यअप्रत्याख्यान का कर्तृत्व के निमित्तरूप का उपदेश निरर्थक ही होगा और निरर्थक होने पर एक ही आत्मा को रागादिभावों का निमित्तत्व आ जायेगा, जिससे नित्यकर्तृत्व का प्रसंग आ जायेगा, जिससे मोक्ष का अभाव सिद्ध होगा। इसलिये परद्रव्य ही आत्मा के रागादिभावों का निमित्त है और ऐसा होने पर, यह सिद्ध हुआ कि आत्मा रागादि का अकारक ही है।

इन आगमप्रमाणों से यह सिद्ध हुआ कि आत्मा में परिणामन करने की शक्ति है जिसका नाश नहीं होता। जब तक मोहनीयकर्म का उदय है और नोकर्म का संयोग है उससमय तक जीव का परिणामन रागादिरूप होता है और सिद्धों में उक्त परद्रव्य का निमित्त नहीं है अतः सिद्ध जीवों का परिणामन रागादिरूप न होकर स्वाभाविक है। सिद्धों में परिणामन करने की शक्ति है और परिणामन भी है, किन्तु परद्रव्य का निमित्त न होने से रागादि तथा मिथ्यात्वरूप परिणामन करने की शक्ति नहीं है।

— ज. सं. 20-6-57 / / दि. जैन स्वाध्याय मण्डल

१. सिद्धों में वैभाविक पर्याय शक्ति नहीं है

२. मात्र ज्ञान से बंधाऽभाव नहीं होता

शंका—आत्मप्रबोधनामक पुस्तक में कहा गया है कि 'यद्यपि वैभाविकशक्ति सिद्धों में द्रव्यरूप से है, किन्तु भेदज्ञान होनेपर बंध नहीं होता है।' क्या सिद्धों में वैभाविकशक्ति है? यदि मात्र भेद-ज्ञान हो जाने पर ही कर्मबंध रुक जाता है तो चारित्र्य की क्यों आवश्यकता रहेगी?

समाधान—बन्ध के कारण द्रव्य अशुद्ध हो जाता है और अशुद्धद्रव्य में विभावरूप परिणामन होता है। बन्ध का अभाव हो जाने पर द्रव्यशुद्ध हो जाता है और विभावरूप परिणामन का अभाव होकर स्वभावरूप परिणामन होने लगता है। कहा भी है—

“समानजातीया असमानजातीयारब्ध अनेकद्रव्यात्मिकरूपेण द्रव्यपर्याया जीवपुद्गलधोरेव भवन्ति अशुद्धा एव भवन्ति। कस्मादिति चेत्? अनेकद्रव्याणां परस्पर-संश्लेषरूपेण संबंधात्।” पंचास्तिकाय भा. १६ टीका

समानजातीय तथा असमानजातीय अनेक द्रव्यों की एकरूप द्रव्यपर्यायि जीव और पुद्गलों में ही होती हैं तथा ये अशुद्ध (विभावरूप) ही होती हैं, क्योंकि अनेक द्रव्यों के परस्पर संश्लेषसम्बन्ध अर्थात् बंध से हुई हैं।

किसी भी आर्षग्रन्थ में वैभाविकद्रव्यशक्ति का कथन नहीं है। अशुद्धद्रव्यों का विभावरूप परिणामन होने से वैभाविकपर्यायशक्ति सम्भव हो सकती है। अशुद्धअवस्था का अभाव हो जाने पर वैभाविकपर्यायशक्ति का भी अभाव हो जाता है।

“आत्मवनिरोधः संवरः ॥१॥ समुत्ति-समित्तिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः ॥२॥ तपसा निर्जरा च ॥”

—तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ९

श्री उमास्वामिआचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र की रचना करके सागर को गागर में बन्द कर दिया है। उस तत्त्वार्थसूत्र के उपर्युक्त तीन सूत्रों द्वारा चारित्र्य को संवर (कर्मों का बन्ध रुक जाना) तथा निर्जरा (पुराने कर्मों का भङ्गना) का कारण कहा है।

चारित्र के बिना मात्र भेदज्ञान से मोक्ष प्राप्ति नहीं होती है, क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है । कहा भी है—

“सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१११॥ (तत्त्वार्थ सूत्र)

“असंयतस्य च यथोचितात्मतत्त्वप्रतीतिरूपश्रद्धानं यथोचितात्मतत्त्वानुभूतिरूपज्ञानं वा किं कुर्यात् । ततः संयमशून्यात् श्रद्धानात् ज्ञानाद्वा नास्ति सिद्धिः । अतः आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानामभयौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं विघटतेष्वेव ।” प्रवचनसार गाथा २३७ टीका

आत्मतत्त्व की प्रतीतिरूप श्रद्धान व आत्मतत्त्व का अनुभूतिरूप ज्ञान असंयत (संयमरहित के) क्या लाभ करेगा ? इसलिये संयमरहित श्रद्धान व ज्ञान से सिद्धि नहीं होती अतः आगमज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान व संयतत्व की अयुगपत्वाले के मोक्षमार्गत्व घटित नहीं होता है ।

अतः मात्र भेदज्ञान से सम्पूर्ण कर्मों का बंध नहीं रुकता, यथाख्यातचारित्र हो जाने पर कर्मबंध नहीं होता ।

—जं. ग./6-1-72/VII/

जीव निराकार यानी स्पर्शादिगुणरहित है

शंका—जीव को निश्चयनय से निराकार (अमूर्तिक) माना है, किन्तु मुक्तावस्था में जीव को उसके अन्तिम शरीर से कुछ न्यून आकारवाला बतलाया है । अतः इसप्रकार तो शुद्धमुक्तजीव भी साकार ही सिद्ध हुआ तब वह अमूर्तिक कैसे कहा जा सकता है ?

समाधान—जिस द्रव्य में स्पर्श, रस, गन्ध और वरुण गुण पाये जाते हैं, वह द्रव्य मूर्तिक कहलाता है और जिस द्रव्य में स्पर्श, रस, गन्ध और वरुण गुण न हों वह द्रव्य अमूर्तिक है । स्पर्श, रस, गन्ध और वरुण गुण स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है अतः मूर्तिकद्रव्य को इन्द्रियग्राह्य कहा है । पुद्गलद्रव्य में स्पर्शादि गुण पाये जाते हैं अतः पुद्गलद्रव्य मूर्तिक है और जीवादि शेष पाँच द्रव्यों में स्पर्शादि गुण नहीं पाये जाते अतः वे अमूर्तिक हैं । कहा भी है—

मुक्ता इन्द्रियगेज्जा पोगलद्रव्यव्यपना अरोगविषा ।

वध्वानममुत्तार्ण गुणा अमुक्ता मुशेवञ्जा ॥ १३१ प्र. सा. ॥

अर्थ—इन्द्रिय ग्राह्य मूर्तगुण पुद्गलद्रव्यात्मक अनेक प्रकार के हैं, अमूर्त द्रव्यों के गुण अमूर्त जानने चाहिए । कहीं-कहीं पर मूर्त को साकार और अमूर्त को निराकार कहा है । वहाँ पर आकार शब्द द्वारा स्पर्शादि गुणों को ग्रहण करना । आत्मा का कोई निश्चित आकार नहीं है । सिद्धों (मुक्त जीवों) में भी नाना आकार हैं अतः जीव अनिदिष्टसंस्थान है । अनिदिष्टसंस्थान होने के कारण भी जीव को निराकार कहा है । निराकार का यह अर्थ नहीं है कि द्रव्य का कोई आकार नहीं है । हर एक जीवद्रव्य का कोई न कोई आकार अवश्य है, जीव में प्रदेष्टव्य गुण विद्यमान है । यहाँ पर निराकार का अर्थ ‘स्पर्शादिगुणरहित’ है ।

—जं. सं. 23-8-56/VI/ बी. एल. पद्म, मुजालपुत्र

परमाणु की तरह सिद्ध (शुद्धजीव) का आकार नियत नहीं

शंका—सिद्धों का शुद्धआकार शुद्धनिश्चयनय से कैसा है ? जैसा कि पुद्गल का षट्कोण आकार बतलाया है ।

समाधान—शुद्धनिश्चय का विषय 'विशेष' या 'भेद' नहीं है । 'सिद्धों का आकार' यह भेद विवक्षा को लिए हुए है । इसलिए यह निश्चयनय का विषय नहीं है । कहा भी है—

“निश्चयनयोऽभेदविषयो व्यवहारो भेदविषयः ।” (आलापपद्धति)

अर्थ—निश्चयनय का विषय अभेद है और व्यवहारनय का विषय भेद है ।

अतः सिद्धों के आकार का कथन व्यवहारनय का विषय है । प्रत्येक सिद्ध भगवान का आकार अपने-अपने चरमशरीर से कुछ न्यून होता है । कहा भी है—

णिकरुम्मा मद्दुगुणा किञ्चुणा चरमवेह्वो सिद्धा ।

सोयगठिवा णिच्चा उत्पाववएहि संजुत्ता ॥१४॥ (वृ. ब्र. सं.)

अर्थ—सिद्धभगवान ज्ञानावरणादि आठकर्मों से रहित हैं, सम्यक्त्वादि आठगुणों के धारक हैं और अन्तिम शरीर से कुछ कम आकारवाले हैं, लोक के अग्रभाग में स्थित हैं तथा उत्पाद-व्यय से संयुक्त हैं ।

जिसप्रकार शुद्ध पुद्गलपरमाणु का आकार नियत है उसप्रकार शुद्ध जीव का आकार नियत नहीं है ।

अरसमरूधमगंधं अठवत्तं ज्ञेयणागुणमसहं ।

आण अलिंगगहणं जीवमणिदिट्ठ-संठुणं ॥५॥ [सद्यु ब्रह्मसंग्रह]

अर्थ—जीव अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त (अस्पृशं), अशब्द, अलिंगग्रहण है तथा अनिर्दिष्ट संस्थान वाला है अर्थात् जीव का कोई संस्थान (आकार) निर्दिष्ट (नियत) नहीं है । चेतना गुणवाला है । जीव को ऐसा जानो ।

—जै. ग. 1-11-65/VII/ ओमपकात्र

१. आत्मा का आकार व्यवहार से है

२. अमूर्तिक द्रव्यों का भी प्रवेशत्व गुण के कारण आकार होता है

शंका—यह जीव जिस गति में जाता है उस गति के अनुकूल पुद्गल वर्गणाओं के द्वारा शरीर की रचना होती है और उस शरीर के अनुकूल आत्म-प्रदेशों का प्रसार होकर जो आत्मा का आकार बना वह निश्चय से है या व्यवहार से ?

समाधान—आत्मप्रदेशों का संकोच होना व विस्तार होना आत्म-द्रव्य का स्वभाव नहीं है किन्तु शरीर नामकर्म के आधीन है अर्थात् शरीरनामकर्मोदय के आधीन होकर आत्मा के प्रदेश संकोच व विस्तार अवस्था को धारण करते हैं । ऐसा नहीं है कि आत्मद्रव्यस्वभाव के कारण आत्मप्रदेशों का संकोच विस्तार होता है । यदि ऐसा न माना जावे अर्थात् द्रव्यस्वभाव के कारण संकोच-विस्तार मान लिया जावे तो सिद्धों के भी संकोच-विस्तार का प्रसंग आ जाने से आगम से विरोध आ जायगा । अतः जीवप्रदेशों की संकोच-विस्ताररूप क्रिया पुद्गलकृत है । इस सम्बन्ध में आर्षवाक्य इसप्रकार है—

‘संहारविस्तारश्च शरीरनामकर्माधीन एव, न च स्वभावस्तेन कश्चिदेन शरीराभावे विस्तारो न भवति ।’

—बृ० ब्र० सं० गाथा १४ की टीका

अर्थ—संहार व विस्तार तो शरीरनामकर्म के आधीन हैं, जीव का स्वभाव नहीं है। इस कारण शरीर का अभाव होने पर जीवपदार्थों का विस्तार नहीं होता।

‘उपसंहारप्रसर्वतः शरीरनामकर्मजनितविस्तारोपसंहारधर्माभ्यामित्यर्थः ।’ बृ. ब्र. सं. गा. १० टीका

अर्थ—शरीरनामकर्म से उत्पन्न हुआ विस्तार तथा संकोचरूप जीव के धर्म हैं।

इसी बात को श्री कुम्भकुन्द भगवान तथा श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं—

जीवा पुग्गलकाया सह सचिकरिया हवन्ति ण य सेसा ।

पुग्गलकरणा जीवा खंधा खलु कालकरणा वु ॥९८॥ पं. का.

टीका—“प्रदेशांतरप्राप्तिहेतुः परिस्पन्दनरूपपर्यायः क्रिया । तत्र सक्रिया बहिरंगसाधनेन सहभूता जीवाः । जीवानां सक्रियत्वस्य बहिरङ्गसाधनं कर्मनो कर्मोपचयरूपाः पुद्गला इति ते पुद्गलसकरणाः । तदभावात्क्रिया क्रियत्वं सिद्धानां ।”

गाथार्थ—जीव और पुद्गल बहिरंग कारणों के मिलने पर सक्रिय होते हैं। शेष द्रव्य क्रियावान नहीं हैं। जीव की क्रिया में बहिरंगसाधन पुद्गल है और पुद्गलस्कन्ध की क्रिया में बहिरंगसाधन काल है।

टीकार्थ—क्षेत्रान्तर प्राप्ति का कारण ऐसी परिस्पन्दनरूप पर्याय को क्रिया कहते हैं। बहिरंगसाधन के साथ जीव सक्रिय होता है। जीव की क्रिया के बहिरंग साधन कर्म और नोकर्म का समूह पुद्गल है। इसलिये जीवों को पुद्गल कारण कहा गया। उन कर्म-नोकर्मों के अभाव में अर्थात् पुद्गल के रूपी बहिरंग साधन के अभाव में सिद्ध जीव निष्क्रिय है।

जीवप्रदेशपरिस्पन्दरूप क्रिया से ही आत्मप्रदेशों का संकोच-विस्तार होता है अथवा शरीर के आकाररूप होते हैं।

जिस शरीर को यह जीव ग्रहण करता है उस शरीर के आकाररूप आत्मप्रदेश हो जाते हैं। यह क्रियारूप पर्याय जीव की स्वाभाविकपर्याय नहीं है, किन्तु कर्माधीनपर्याय है अर्थात् विभावपर्याय है। कहा भी है—

अणिया जे विन्नावा जीवाणं तह्य पोग्गलाणं च ।

कम्मेण य जीवाणं कालावो पोग्गलाणेया ॥७८॥ नयचक्र संग्रह

अर्थ—जीव और पुद्गल में जो विभावभाव अथवा पर्याय होती हैं उनमें जीव को पुद्गल कर्म कारण जानना चाहिये और पुद्गल को काल कारण जानना चाहिये।

व्योंकि ये पर्यायें स्व-पर निमित्तक हैं और पराश्रित हैं, इसलिये व्यवहारनय का विषय हैं; निश्चयनय से तो जीव असंख्यातप्रदेशी है। कहा भी है—

अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारोपसत्पवो चेवा ।

असमुहवो धवहारा णिच्छयणयवो असंखवेसो वा ॥१०॥ (बृ. ब्र. सं.)

अर्थ—व्यवहारनय के विषय की अपेक्षा यह जीव, समुद्रघात के बिना, संकोच-विस्तार के कारण अपने छोटे-बड़े शरीर के प्रमाण रहता है। और निश्चयनय के विषय की अपेक्षा असंख्यातप्रदेश का धारक है।

‘यद्यपि निश्चयेन सहजशुद्धलोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशस्तथापि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धाधीनत्वेन शरीर-नामकर्मोदयजनितोपसंहारविस्ताराधीनत्वात् घटादिभाजनस्य प्रवीणवत् स्वदेहपरिमाणः ।’

अर्थ—यद्यपि जीव निश्चयनय से लोकाकाश के प्रमाण असंख्यात स्वाभाविकशुद्धप्रदेशों का धारक है, तो भी व्यवहार से अनादिकर्मबंधवशात् शरीर कर्मोदय से उत्पन्न संकोच तथा विस्तार के आधोनि होने से, घटादि में स्थित दीपक की तरह अपनी देह के बराबर है। बृ० ब्र० सं० गाथा २ की टीका

शरीरप्रमाण होकर जीव का जो आकाररूप संस्थान बनता है वह भी व्यवहारनय का विषय है। जीव अनिर्दिष्टसंस्थानवाला है, यह निश्चयनय का विषय है। कहा भी है—

अरसमरूपमगंधं अव्वत्तं चेतनागुणमसद् ।

जाण अलिगग्गहणं जीवमणिद्विट्ठसंठाणं ॥४०॥ समयसार

अर्थ—निश्चयनय के विषय की अपेक्षा जीव अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, चेतनागुणवाला, अशब्द, अलिग-ग्रहण और अनिर्दिष्टसंस्थान (आकार) वाला है।

इसकी टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य संस्थान के विषय में निम्नप्रकार लिखते हैं—

“द्रव्यांतरारब्धशरीर संस्थानेनैव संस्थान इति निर्बेष्टमशक्यत्वात् नियतस्वभावेनानियतसंस्थानानंतशरीर-वतिस्वात्संस्थाननामकर्मविपाकस्य पुद्गलेषु निर्विशयमानत्वात्, प्रतिविशिष्टसंस्थानपरिणतसमस्तवस्तुतत्त्वसंबलितसहज-संवेदनशक्तिरूपेण स्वयमखिललोकसंबलनस्योपजायमाननिर्मलानुभूतितार्क्यतमसंस्थानत्वाच्चानिर्दिष्टसंस्थानः ।”

अर्थ—(१) पुद्गल द्रव्य कर रचे हुए संस्थानों (आकारों) कर कहा नहीं जाता कि ऐसा आकार है। (२) अपने नियत स्वभावकर अनियत संस्थानरूप अनंत शरीरों में वर्तता है, इसलिये भी आकार नहीं कहा जाता। (३) ‘संस्थान’ नामकर्म का विपाक (फल) है वह भी पुद्गलद्रव्य में है, उसके निमित्त से भी आकार नहीं कहा जा सकता। (४) जुदे २ आकाररूप परिणामते जो समस्त वस्तु उनके स्वरूप से तदाकार हुआ जो अपना स्वभाव-रूप संवेदन उस शक्तिरूपपना इसमें होने पर भी आप समस्त लोक के मिलाप कर शून्य हुई जो अपनी निर्मलज्ञान मात्र अनुभूति उस अनुभूतिपने करि किसी भी आकाररूप नहीं है, इसकारण भी अनिर्दिष्ट संस्थान है। ऐसे चार हेतुओं से निश्चयनय की अपेक्षा संस्थान का निषेध कहा।

यद्यपि सिद्ध भगवान के आत्मप्रदेशों का आकार है तथापि वह आकार पूर्वशरीर के आकाररूप होता है इसलिये वह आकार भी निश्चयनय का विषय नहीं है। जिसप्रकार समस्त सिद्ध भगवानों के ज्ञानादि अनंतगुण तथा आत्मप्रदेशों की संख्या समान होती है उसप्रकार आकार व अवगाहना समान नहीं होती, क्योंकि जघन्य-अवगाहना से उच्छुष्ट-अवगाहना तक अवगाहना के असंख्यात भेद होते हैं। कोई पचासन से सिद्ध होते हैं, कोई खड्गासन से सिद्ध होते हैं, इसलिये भी सिद्धों के आकार में समानता नहीं है। संस्थान के मूलभेद छह हैं और सूक्ष्मदृष्टि से उत्तरभेद असंख्यात हैं। इन सब संस्थानों से सिद्ध होते हैं। इस कारण भी सिद्धों के आकारों में विभिन्नता है। इसप्रकार सिद्धों का भी कोई नियतसंस्थान नहीं है, किन्तु उनका आकार भी पूर्वशरीर के आकार पर आधारित है। इसलिये सिद्धों का आकार भी निश्चयनय का विषय नहीं है। लोकाकाश के बराबर असंख्यात-प्रदेशीयना सब सिद्धों में है अतः यह निश्चयनय का विषय है।

सिद्धों का आकार निश्चयनय का विषय नहीं है इसका यह अभिप्राय नहीं है कि सिद्धों का आकार एक कल्पना मात्र है, झूठ है—असत्य है; किन्तु सिद्धों का आकार वास्तविक है जो पूर्वशरीर से किंचित् ऊन है। कहा भी है—

षिवकम्मा अट्ट गुणा किञ्चुणा चरमवेह्वो सिद्धा ।

सोयगमठिवा एण्च्वा उप्पाववएहि संजुत्ता ॥१४॥ [बृ० ब्र० सं०]

अर्थ—सिद्ध भगवान् ज्ञानावरणादि आठकर्मों से रहित हैं, सम्यक्त्व आदि आठगुणों के धारक हैं। अन्तिमशरीर से कुछ कम आकार वाले हैं। आगे घर्मास्तिकाय का अभाव होने से लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, निश्चय हैं तथा उत्पाद-व्यय से युक्त हैं।

सिद्ध भगवान् निराकार भी हैं। इसका यह अभिप्राय है कि सिद्ध भगवान् अमूर्तिक हैं अर्थात् आठ कर्मों का अभाव हो जाने से सिद्धों में अमूर्तिकपना व्यक्त हो गया है, किन्तु संसार अवस्था में वह अमूर्तिकपना कर्मों से तिरोहित होने के कारण संसारी जीव कथंचित् अर्थात् कर्मबंध को अपेक्षा से मूर्तिक है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार की टीका के अन्त में शक्तियों का वर्णन करते हुए कहा भी है—“कर्मबंध-व्यपगमव्यंजितसहजस्पर्शाद्विशून्त्यात्मप्रदेशिका अमूर्तस्वशक्तिः ।”

अर्थ—कर्मबंध के अभाव से व्यक्त किये गये सहज स्पर्शादि शून्य आत्मप्रदेशस्वरूप अमूर्तत्व शक्ति है ? “कम्म-णोकम्मानमणाविसंबंधेण मुत्तत्तमुवगयस्स जीवस्स घणलोगमेत्तपवेसस्स जोगवसेण संघारविसत्पणधम्मियस्स अवयवाणं परतंतलवखणसंबंधेणछद्दुमंगुप्पत्तीए ।” धवल १४ पृ० ४५ ।

अर्थ—जो कर्म नौकर्मों का अनादि सम्बन्ध होने से मूर्तपने को प्राप्त हुआ है और जिसके घनलोकप्रमाण जीवप्रदेश योग के वशसे संकोच-विस्तार धर्मवाले हैं ऐसे जीव के अवयवों के परतन्त्र लक्षण सम्बन्ध से शरीरबंध के छठे मंग की उत्पत्ति होने में कोई विरोध नहीं है।

“मुत्तद्दुकम्मज्जिब सरीरेण अणाइणा संबद्धस्स जीवस्स संसारावस्थाए सब्बकालं ततो अपुधधूवस्स तत्संबंधेण मूत्तभावमुवगयस्स सरीरेण सह संबंधस्स विरोहाभावावो ।” धवल १६ पृ० ५१२ ।

अर्थ—मूर्त आठ कर्म जनित अनादि शरीर से संबद्ध जीव संसार अवस्था में सदा काल उससे अपृथक् रहता है। अतएव उसके सम्बन्ध से मूर्तभाव को प्राप्त हुए जीव का शरीर के साथ सम्बन्ध होने में कोई विरोध नहीं है।

निराकार का यह अर्थ नहीं है कि सिद्ध जीवों का कोई आकार नहीं है, क्योंकि अमूर्तिक द्रव्यों का भी प्रदेशत्वगुण के कारण आकार अवश्य होता है। जैसे आकाश का आकार समघनरूप है। धर्म, अधर्मद्रव्य, पुरुषाकाररूप हैं।

—जैन. ग. 1-10-64/VIII-IX/ जयप्रकाश

जीव और पुद्गल की क्रियाशीलता

शंका—जीव क्रियाशील है अथवा नहीं? कृपया निश्चयनय से बतलाइये। यदि क्रियाशील है तो मुक्त (शुद्ध) अवस्था में उसे निष्क्रिय (अकर्ता) क्यों माना है ?

शंका—पुद्गल क्रियाशील है अथवा नहीं ? कृपया निश्चयनय से बतलाइये । यदि क्रियाशील है तो समाधान कीजिए कि पुद्गल परमाणु जो एक जड़ पदार्थ है—स्वतः (बिना जीव के संयोग के) क्रिया कैसे कर सकता है ?

समाधान—निश्चयनय दो प्रकार हैं—शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय । यहाँ दोनों नयों की अपेक्षा समाधान कर रहे हैं । सर्वप्रथम क्रिया का लक्षण क्या है ? इसका विचार करना है—क्रिया—क्षेत्राक्षेत्रान्तर-गमनरूपा परिस्पन्दवती चलनवती क्रिया सा विद्यते ययोस्तौ क्रियावन्तौ जीवपुद्गलौ । अर्थ : जिनके क्षेत्र से क्षेत्रान्तर परिस्पन्दनवाली व चलनवाली गमनरूप क्रिया विद्यमान है वे जीव-पुद्गल दोनों क्रियावाले हैं । परिस्पन्दन-लक्षण क्रिया, क्रिया का लक्षण परिस्पन्द (कम्पन) है । (प्र. सा. गाथा १२९ की टीका) प्रदेशान्तरप्राप्ति हेतुः परिस्पन्दनरूपपर्यायः क्रिया । अर्थ—एक प्रदेश से प्रदेशान्तर में गमन करना उसका नाम क्रिया है । (पं० का० गाथा ९८ की टीका) । उभयनिमित्तापेक्षः वशादुत्पद्यमानः पर्यायो द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रिया । (स० सि० अ० ५ सू० ७) उभयनिमित्तापेक्षः पर्यायविशेषो द्रव्यस्य देशान्तर प्राप्तिहेतुः क्रिया । (त० रा० वा० अ० ५ सू० ७ वा० १) अर्थ : उभयनिमित्त के (अभ्यन्तर और बाह्य कारण) द्वारा जिसकी उत्पत्ति है और जो द्रव्य को एक देश से दूसरे देश में लेजाने में कारण है, ऐसी पर्याय का नाम क्रिया है । अभ्यन्तरं क्रियापरिणामशक्तिपुक्तं द्रव्यं बाह्यं च प्रेरणाभिघातादिकं निमित्तमपेक्ष्योत्पद्यमानः पर्यायविशेषो द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रियेति व्यपदिश्यते । अर्थ : क्रियारूप परिणामशक्ति का धारक द्रव्य अभ्यन्तर विकारण, प्रेरणा का होना एवं अभिघात (धक्का आदि) बाह्यकारण है इन दोनों कारणों के द्वारा जिसकी उत्पत्ति है और जो द्रव्य को एकदेश से दूसरे देश लेजाने में कारण है ऐसी विशेषपर्याय का नाम क्रिया है । (सुखबोध तत्त्वार्थवृत्ति अ० ५ सूत्र ७) इसप्रकार क्रिया का लक्षण कहा गया ।

जीव क्रियाशील है और नहीं भी

जीवा सहसन्निकरिया हवन्ति पुण्मलकरण जीवा । पं० का० गा० ९८ इस पर टीका इस प्रकार है—जीवानां सक्रियत्वस्य बहिरंग साधनं कर्मनोकर्मोपचय रूपाः । ते पुद्गलकरणाः तद्भावान्निःक्रियत्वं सिद्धानां । अर्थ : जीव बाह्य पुद्गल कारणों के साथ सक्रिय होते हैं । जीवों के क्रियापने में बाह्यसाधन कर्म और नोकर्मरूप पुद्गल हैं । वे जीव-पुद्गल का निमित्त पाकर क्रियावन्त होते हैं । कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलनिमित्त के अभाव में सिद्ध निष्क्रिय हैं । यहाँ पर जीव की विभावरूप क्रिया का बाह्य कारण की मुख्यता से कथन है और विभाव के अभाव में सिद्धों को निष्क्रिय कहा है । प्र० सा० गाथा १२९ की टीका में इसप्रकार कहा है—जीवा अपि परिस्पन्दस्वभावत्वात् परिस्पन्देन नूतनकर्मनोकर्मपुद्गलेभ्यो भिन्नास्तैः सह संघातेन संहताः पुनर्भवेनोत्पद्यमानाव-तिष्ठमाना अज्यमानाः क्रियावन्तश्च भवन्ति ।

अर्थ—जीव भी क्रियावाले होते हैं, क्योंकि परिस्पन्द स्वभाववाले होने से परिस्पन्द के द्वारा नवीन कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलों से भिन्न जीव उनके साथ एकत्र होने से और कर्म नोकर्मरूप पुद्गलों के साथ एकत्र हुए जीव बादमें पृथक् होने से (इस अपेक्षा से) वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं । यहाँ पर क्रिया की अपेक्षा में अशुभ जीव में उत्पाद, व्यय और ध्वंस बताया है । अतः क्रिया जीव का स्वभाव कहा है । यह अशुद्ध क्रिया का अन्तरंग कारण की मुख्यता से कथन है । त० रा० वा० अ० ५ सूत्र ७ की प्रथम वार्तिक की टीका में श्रीमद्भट्टकलकवेव ने इस प्रकार कहा है—उभयनिमित्त इति विशेषणं द्रव्यस्वभावनिवृत्त्यर्थं । यदि हि द्रव्यस्वभावः स्यात् क्रिया परिणामिनोद्रव्यस्थानुपरत क्रियत्वप्रसंगः । द्रव्यस्य पर्याय विशेष इति विशेषणं अर्थान्तर भावनिवृत्त्यर्थं । यदि हि क्रिया द्रव्यावर्धान्तर भूता स्यात् द्रव्यनिश्चलत्व प्रसंगः । अर्थ—उभय निमित्तापेक्ष यह विशेषण दिया गया है ।

वह क्रिया द्रव्य का स्वभाव न समझा जाय इस बात की निवृत्ति के लिए है। यदि क्रिया को द्रव्य का स्वभाव मान लिया जावे तो फिर द्रव्य सदा स्थिर न रहकर हलन-चलनरूप ही रहेगा। पर्याय विशेष यह जो क्रिया का विशेषण है वह क्रिया द्रव्य से भिन्न पदार्थ नहीं समझा जाय, इस बात की द्योतना के लिए है। यदि क्रिया भिन्न पदार्थ हो जावे तो द्रव्य सर्वथा निश्चल हो आवेगा। यहाँ पर बाह्यकारण निरपेक्ष त्रिकालिकस्वभाव की अपेक्षा से क्रिया के जीव के स्वभावपने का निषेध किया, किन्तु क्रिया जीव की पर्याय है, कोई भिन्न वस्तु नहीं है, वार्तिक १४ व उसकी टीका इस प्रकार है—शरीरवियोगे निष्क्रियत्वप्रसंग इति चेन्न अभ्युपगमात्। अथवा, परनिमित्तक्रियानिवृत्तावपि स्वाभाविकी मुक्तस्योऽर्ध्वगतिरभ्युपगम्यते प्रबोधवत्। अथवा, स्याच्छरीरवियोगे मुक्तस्य निःक्रियत्वं यद्यनन्तवीर्यज्ञान-वर्शनाच्चिन्त्य सुखानुभवनादयः क्रिया न अभ्युपगम्येरन्। अभ्युपगम्यन्ते तु तस्मादयमदोषः शरीरवियोगात्तात्मनो निः-क्रियत्वप्रसङ्ग इति। अर्थ : शरीर (कार्माणशरीर) के वियोग हो जाने पर जीव क्रियारहित होता है, ऐसा कहने में कोई दोष नहीं, क्योंकि यह इष्ट है। अथवा, परनिमित्तक्रिया का अभाव हो जाने पर भी, दोषक के समान मुक्त-जीव के ऊर्ध्वगमनरूप स्वाभाविक क्रिया मानी गई है। अथवा, यदि शरीर के वियोग में मुक्तजीव को क्रियारहित माना जायगा तो अनन्तवीर्य, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन एवं अचिन्त्यसुख का अनुभव करना आदि क्रियाएँ मानी गई हैं वे न मानना चाहिए। किन्तु वे मानी गई हैं, इसलिए शरीर के अभाव में आत्मा निष्क्रियपदार्थ है यह दोष यहाँ लागू नहीं हो सकता।

पं० का० गाथा २८ की टीका में श्री अमृतचन्द्रमूरिजी ने इस प्रकार कहा है—आत्मा हि परद्रव्यत्वात्कर्म-रजसा साकल्येन यस्मिन्नेव क्षणे मुच्यते तस्मिन्नेवोर्ध्वगमनस्वभावत्वात्लोकान्तमधिगम्यः परतो गतिहेतोरभावाच्च-स्थितः। जिस क्षण में समस्त कर्मों से आत्मा मुक्त होता है उसी क्षण में आत्मा ऊर्ध्वगमनस्वभाव होने के कारण लोक के अन्ततक जाकर ठहर जाता है, क्योंकि आगे गतिहेतु (धर्मद्रव्य) का अभाव है। बृहद्ब्रह्मसंग्रह गाथा २ में भी कहा है—विस्स सोउड गई अर्थात् जीव स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है। इस गाथा की टीका में इस-प्रकार कहा है—यद्यपि व्यवहारेण चतुर्गतिजनककर्मोदयवशेनोर्ध्वगतिर्यंगति स्वभावस्तथापि निश्चयेन केवल ज्ञाना-द्यनन्तगुणावाप्ति लक्षण मोक्षगमनकाले विल्लसा स्वभावोर्ध्वगतिश्चेति। अर्थ : यद्यपि व्यवहार से चारों गतियों को उत्पन्न करनेवाले कर्मों के उदयवश ऊँचा, नीचा तथा तिरछा गमन करनेवाला है फिर भी निश्चयनय से केवल-ज्ञानादि अनन्तगुणों की प्राप्तिस्वरूप जो मोक्ष उसमें जाने के काल में स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है। इस-प्रकार अशुद्धनिश्चयनय से परिस्पन्दरूप क्रिया जीव का स्वभाव है और शुद्धनिश्चयनय से ऊर्ध्वगतिरूप क्रिया जीव का स्वभाव है; किन्तु परिस्पन्दरूप क्रिया जीव का स्वभाव नहीं है। शुद्धभवस्था में मुक्तजीव को परिस्पन्दरूप वैभाविकक्रिया के अभाव की अपेक्षा निष्क्रिय कहा है।

पुद्गलों में क्रियाशीलता

पुद्गलों की क्रिया में कालनिमित्त कारण है और काल का अभाव नहीं होता अतः पुद्गल सिद्धों के समान निष्क्रियपने को प्राप्त नहीं होता जैसा कि पं० का० गाथा ९८ की टीका में कहा है—पुद्गलानां सक्रियत्वस्य बहि-रंगसाधर्मं परिणामनिर्वर्तकः काल इति ते कालकरणः। न च कर्मादीनामिव कालस्याभावः। ततो न सिद्धानामिव निष्क्रियत्वं पुद्गलानामिति। पुद्गलों की क्रिया स्वाभाविक और प्रायोगिक दो प्रकार की होती है जैसा त० रा० वा० अ० ५ सू० ७ की वार्तिक १६ में कहा है—पुद्गलानामपि द्विविधा क्रिया विल्लसा प्रयोगनिमित्ता च अतः पुद्गलपरमाणु को स्वाभाविकक्रिया के लिए जीव के संयोग की आवश्यकता नहीं है। पुद्गलपरमाणु का जीव के साथ संयोग भी नहीं हो सकता, क्योंकि जीव का संयोग स्कन्ध के साथ हो सकता है।

—जं. सं. 23-8-56/VI/बी. एल. पद्म, गुजालपुर

स्वसमय-परसमय

शंका—स्वसमय और परसमय कौन-कौन जीव हैं ?

समाधान—श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वसमय और परसमय जीवों की व्याख्या निम्नप्रकार की है—

बहिरंतरप्यभेयं परसमयं भण्य जिणिदेहि ।
परमप्या सगसमयं तभेयं जाण गुणट्ठाणे ॥१४८॥
मिस्तोत्ति बाहिरप्या तरतमया तुरिय अतरप्यजहण्णा ।
संतोत्ति मज्झिमंतर खीणुत्तम परम-जिणसिद्धा ॥१४९॥^१ रयणसार

अर्थ—बहिरात्मा और अन्तरात्मा भेदरूप परसमय, ऐसा जितेन्द्र भगवान ने कहा है । परमात्मा स्वसमय है । गुणस्थानों की अपेक्षा उनके भेद जानने चाहिये ॥ १४८ ॥ तरतमता लिये हुए मिश्र-तीसरे गुणस्थानतक बहिरात्मा है । चतुर्थगुणस्थान में जघन्यअन्तरात्मा है । उपशान्तमोह-ग्यारहवें गुणस्थान तक मध्यमअन्तरात्मा है । क्षीणमोह-बारहवें गुणस्थान में उष्कृष्टअन्तरात्मा है । जिन और सिद्ध परमात्मा है । अर्थात् बारहवेंगुणस्थान तक अन्तरात्मा होने के कारण परसमय है । तेरहवें-चौदहवें गुणस्थानवर्ती जिन तथा गुणस्थानातीत सिद्धभगवान स्वसमय हैं । मिथ्यादृष्टि अथवा सम्यग्दृष्टि जो घातिया कर्मोदय में स्थित हैं, वे परसमय हैं और जो क्षायिकसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य में स्थित हैं वे स्वसमय हैं ।

इसी बात को उन्हीं कुन्दकुन्द भगवान ने समयसार ग्रंथ में कहा है ।

जीवो चरित्तवंसणणाणट्ठिड तं हि ससमयं जाण ।
पुग्गल कम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं ॥ २ ॥

अर्थ—जो जीव (क्षायिक) चारित्र्य, ज्ञान, दर्शन में स्थित हैं, उनको स्वसमय जानना चाहिये और जो घातियाकर्मोदयरूप पुद्गल प्रदेशों में स्थित हैं । उनको परसमय जानना चाहिये ।

नोट—यह ग्रंथ रयणसार गाथा १४८ व १४९ की दृष्टि से किया गया है ।

—जै. ग. 7-10-65/IX/ प्रेमचन्द

स्वसमय तथा परसमय का स्वरूप

शंका—कौन जीव स्व-समय है और कौन जीव पर-समय है ? स्व-समय और पर-समय किसको कहते हैं ? केवली भगवान के योग तथा कर्मात्मत्व हैं क्या वे भी पर-समय हैं ?

समाधान—श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने स्व-समय और पर-समय का स्वरूप निम्नप्रकार कहा है—

जे पज्जयेसु णिरदा जीवा परसमयिणं सि णिट्ठिटा ।
आवसहावस्मि ठिदा ते सग समया मुलोवक्खा ॥ ९४ ॥ प्र. सा.

अर्थ—जो पर्याय में निरत हैं वे पर-समय हैं ऐसा कहा गया है । जो आराम-स्वभाव में स्थित हैं उनको स्व-समय जानना चाहिये ।

१. डा० देवेन्द्रकुमार झास्वी द्वारा अनूदित 'रयणसार' में इन गाथाओं की गाथा संख्या १२८-१२९ है ।

जीवो धरित्तबंसणणाणट्टिउ तं हि ससमयं जाण ।

पुग्गलकम्मपवेसट्ठिथं च तं जाण परसमयं ॥२॥ समयसार

अर्थ—जो जीव दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थित है उसको स्व-समय जानो और जो पुद्गलकर्मप्रदेश में स्थित है उसको पर-समय जानो ।

इन दोनों गायार्थों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जो आत्मस्वभाव अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित है वह स्वसमय है । ऐसा जीव परमात्मा हो सकता है । और इससे भिन्न अर्थात् जो आत्मस्वभाव या दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित नहीं है अर्थात् जो परमात्मा नहीं है वह परसमय है । इसप्रकार अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि भी पर-समय कहा गया है । इसी बात को श्री कुन्वकुन्व भगवान् रयणसार ग्रंथ में इस प्रकार कहते हैं—

बहिरंतरप्पभेयं परसमयं ऋणए जिणिवेहि ।

परमप्पो सगसमयं तवभेयं जाण गुणठाणे ॥१४८॥^१

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने बहिरात्मा और अन्तरात्मा को परसमय कहा है और परमात्मा को स्व-समय कहा है । इनके विशेष भेद गुणस्थान की अपेक्षा समझ लेना चाहिये ।

मिस्सोत्ति बाहिरप्पा तरतमया तुरिया अंतरप्पजह्णया ।

संतोत्ति मज्झिमंतर खीणुत्तमपरमजिणसिद्धा ॥ १४९ ॥^२

अर्थ—भिष्यात्व नामक पहिले गुणस्थान से सम्यग्भिष्यात्व नामक तीसरे भिन्नगुणस्थानतक तरतमता से बहिरात्मा है । अविरत सम्यग्दृष्टि चौथेगुणस्थानवाला जघन्य अन्तरात्मा है, उपशान्त मोह [ग्यारहवें गुणस्थान] तक मध्यमअन्तरात्मा है और क्षीण मोह [बारहवें गुणस्थान] वाला उत्कृष्ट अन्तरात्मा है । जिन और सिद्ध परमात्मा हैं ।

इन शार्थवाक्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि क्षीणमोह [बारहवें गुणस्थान] तक धातियाकर्मों का उदय रहता है अर्थात् पुद्गलकर्मप्रदेश में स्थित रहते हैं, क्योंकि केवलज्ञान आदि स्वभाव व्यक्त नहीं हुआ है, अतः वे पर-समय हैं । जिनेन्द्र भगवान् के यद्यपि योग के कारण सातावेदनोपकर्म का ईर्ष्यापथान्नव हो रहा है तथापि समस्त धातियाकर्मों का नाश हो जाने से स्वाभाविक केवलज्ञान, धार्मिकसम्यक्त्व व धार्मिकचारित्र व्यक्त हो गये हैं, इसलिये जिनस्वभाव में स्थित होने से स्व-समय हैं ।

जै. ग. 10-9-64/IX/ जयपकात्र

जीवतत्त्व व जीवद्रव्य में अन्तर

शंका—जीवतत्त्व और जीवद्रव्य में क्या अन्तर है ? तत्त्व और द्रव्य का असग-अलग लक्षण करते हुए दोनों का अन्तर समझाइये ।

समाधान—‘तत्त्व’ शब्द भावसामान्य वाचक है, क्योंकि ‘तत्’ यह सर्वनामपद है और सर्वनाम सामान्य अर्थ में रहता है अतः उसका भाव तत्त्व कहलाया । (सर्वार्थसिद्धि अध्याय १ सूत्र २) । ‘द्रव्य’ शब्द में ‘द्रव’

१., २. ये दोनों गायार्थों डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री द्वारा सम्पादित रयणसार में गायार्थ १२८-२९ पर हैं ।

घातु है जिसका अर्थ प्राप्त करना होता है। जो यथायोग्य अपनी-अपनी पर्यायों के द्वारा प्राप्त होता है या पर्याय को प्राप्त होता है वह 'द्रव्य' है (सर्वार्थसिद्धि ५-२)। 'तत्त्व' में भाव की मुख्यता है और 'द्रव्य' में परिणमन की मुख्यता है। जीवपदार्थ जिसरूप से प्रवस्थित है उसका उसरूप से होना यह जीवतत्त्व है। जीवपदार्थ स्वरूप है यह जीवद्रव्य है।

—जै. सं. 6-3-58/VI/ गु. च. ग्राह, लम्करवाले

तत्त्वचिन्तन में मन व इन्द्रियों का साहाय्य अपेक्षित है

शंका—कर्मों से मलिन आत्मा क्या बिना द्रव्यमन के तत्त्वों का यथार्थ चिन्तन कर सकता है? मन तो जड़ पदार्थ है। वह तो चिन्तन कर नहीं सकता है फिर उसके अभाव में तत्त्वों का चिन्तन क्यों नहीं कर सकता है?

समाधान—संसारी जीवों के ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वीर्यतरायकर्मों का उदय होने के कारण, उनके ज्ञान का पूर्ण विकास नहीं हो पाता है। ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षयोपशम के कारण जितना भी ज्ञान लब्धिरूप से प्रगट होता है उसको उपयोगात्मक होने के लिए इन्द्रिय व मन की सहायता की आवश्यकता होती है, क्योंकि वह ज्ञान अपूर्ण होने के कारण कमजोर है। इसलिये श्री उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र में कहा है—

“तविन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं ॥१११४॥ श्रुतं मतिपूर्वं दृग्घनेकदावशमेवं ।” उस मतिज्ञान के इन्द्रिय और मन निमित्तकारण होते हैं और श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि इन्द्रियाँ या मन पदार्थों को जानते हैं। आत्मा ही पदार्थों को जानता है, किन्तु जानने के लिये इन्द्रिय व मन की सहायता की आवश्यकता होती है। बिना इन्द्रिय व मन की सहायता के मति-ज्ञान व श्रुतज्ञान जानने में असमर्थ हैं।

जिसप्रकार आँखें देखती हैं, किन्तु जब वे कमजोर हो जाती हैं तो उनको चश्मे की सहायता की आवश्यकता होती है। यह बात सत्य है कि देखती आँख है चश्मा नहीं देखता, किन्तु बिना चश्मे के कमजोर आँख नहीं देख सकती। इसीप्रकार आत्मा भी पौद्गलिक इन्द्रिय व मन की सहायता के बिना मति व श्रुत ज्ञान द्वारा तत्त्वों को नहीं जान सकती।

जै. ग. 11-7-69/... / टो. ला. मिचल

सम्यक्त्व रहित आत्मा में भी कथंचित् जिनत्व है

शंका—सम्यक्त्व रहित आत्मा में जिनत्व नहीं है, इसमें अनेकान्त क्या है?

समाधान—सम्यक्त्वरहित आत्मा अर्थात् मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा में भी जिनत्व शक्तिरूप से तथा भावी-नैगमनय की अपेक्षा व्यक्तिरूप से भी है। श्री बृहद्ब्रह्मसंहिता की संस्कृत टीका में कहा भी है—

“मिथ्यादृष्टिभक्ष्यजीवे बहिरात्मा व्यक्तिरूपेण तिष्ठति, अन्तरात्मापरमात्माद्वयं शक्तिरूपेण भाविनैगमनया-पेक्षया व्यक्तिरूपेण च । अभक्ष्यजीव पुनर्बहिरात्मा व्यक्तिरूपेण अन्तरात्मा परमात्माद्वयं शक्तिरूपेणैव, न च भाविनैगमनयेनेति । यद्यभक्ष्यजीवे परमात्मा शक्तिरूपेण वर्तते तर्हि कथमभक्ष्यत्वमिति चेत् ? परमात्मशक्तेः केवलज्ञानादिक्रमेण व्यक्तित्वं न विव्यतीत्यभक्ष्यत्वं, शक्तिः पुनः शुद्धनयेनोभयत्र समाना । यदि पुनः शक्तिरूपेणाप्यभक्ष्यजीवे केवलज्ञानं नास्ति तदा केवलज्ञानावरणं न घटते ।” गाथा १४ टीका ।

अर्थ—मिथ्यादृष्टि अभव्यजीव है उसमें केवल बहिरात्मा तो व्यक्तिरूपसे रहता है, अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्तिरूप से रहते हैं, भावीनैगमनय की अपेक्षा व्यक्तिरूप से भी रहते हैं। मिथ्यादृष्टि अभव्यजीव में बहिरात्मा व्यक्तिरूप से तथा अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्तिरूप से ही रहते हैं। भावी नैगमनय की अपेक्षा अभव्य में अन्तरात्मा तथा परमात्मा व्यक्तिरूप से नहीं रहते। कदाचित् कोई कहे कि यदि अभव्य जीव में परमात्मा शक्तिरूप से रहता है तो उसमें अभव्यत्व कैसे ? इसका उत्तर यह है कि अभव्यजीव में परमात्मशक्ति की केवलज्ञानादिरूप से व्यक्ति न होगी इसलिये उसमें अभव्यत्व है। शुद्धनय की अपेक्षा परमात्मा की शक्ति तो मिथ्यादृष्टि-भव्य और अभव्य इन दोनों में समान है। यदि अभव्यजीव में शक्तिरूप से भी केवलज्ञान न हो तो उसके केवलज्ञानावरण कर्म सिद्ध नहीं हो सकता।

इसप्रकार सम्यक्त्वरहित जीव में जिनत्व शक्तिरूप से सिद्ध हो जाने से अनेकान्त सिद्धान्त में कोई बाधा नहीं आती है।

—जै. ग. 8-1-70/VII/ रो. ला. जैन

चेतन व चैतन्य में कौन किसके आश्रय से रहता है ?

शंका—चेतन के आश्रय चैतन्य रहता है या चैतन्य के आश्रय चेतन रहता है ?

समाधान—चेतनद्रव्य और अचेतनद्रव्य इसप्रकार द्रव्य के दो भेद हैं। जिस द्रव्य में चेतना या चैतन्यगुण पाया जावे वह चेतनद्रव्य है। जिस द्रव्य में चेतना अर्थात् चैतन्यगुण न हो वह अचेतनद्रव्य है। इसप्रकार चेतनद्रव्य के चैतन्यगुण रहता है। कहा भी है—

“अचेतनोऽयमित्यन्वयस्तद्द्रव्यं, यच्छान्दव्याभितं चैतन्यमिति विशेषणं स गुणः।”

—प्रबचनसार १।० ८० टीका

अर्थ—जो यह चेतन है, यह अन्वय है, वह द्रव्य है। जो अन्वय के आश्रय रहनेवाला चैतन्य है, यह विशेषण है वह गुण है।

“द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥५।४१॥” (मोक्ष शास्त्र)

यहाँ पर भी यह बतलाया गया है कि गुण सदा द्रव्य के आश्रय रहते हैं। इससे भी यह सिद्ध हुआ कि चैतन्यगुण निरन्तर चेतनद्रव्य के आश्रय रहता है।

—जै. ग. 16-7-70/..... / रो. ला. जैन

एकशरीरस्थ निगोदों के सुखदुःखानुभव असमान होते हैं

शंका—एक निगोद शरीर में रहने वाले अनन्त जीवों को दुःखानुभव एक प्रकार का होता है या उसमें कुछ अन्तर है ?

समाधान—एकनिगोद शरीर में रहने वाले सभी जीवों के एक जैसे परिणाम नहीं होते हैं। किसी के तीव्रपरिणाम होते हैं और किसी के मंदपरिणाम होते हैं और उन तीव्र व मंद परिणामों के अनुसार ही तीव्र व मंद अनुभागसहित कर्मबन्ध होता है। जैसा कि “तीव्रमन्वजाताज्ञात भावाधिकरणधीर्य विशेषेभ्यस्तद्विशेषः” इस सूत्र में कहा गया है। जैसा-जैसा अनुभाग उदय में आता है, उसके अनुरूप ही सुख-दुःख का वेदन होता है, क्योंकि “विपाकोऽनुभवः” ऐसा सूत्र है। अतः सभी निगोदिया जीव एक ही प्रकार के दुःख का अनुभव नहीं करते हैं।

निगोदिया जीवों के परिणामों में विभिन्नता होना अप्रसिद्ध भी नहीं है ।

“निगोदजीवा बाबरा सुहुमा तिरिक्खोहि कालपदसमाणा कब्बिगविओ गच्छति ? कुवे गदीओ गच्छन्ति तिरिक्खगदि मण्णलगदि चेदि ।” धवल पु० ६ पु० ४५७ ।

निगोद-जीव-बादर या सूक्ष्म तिर्यचपर्याय से मरण करके कितनी गतियों में जाते हैं ? दो गतियों में जाते हैं (१) तिर्यचगति (२) मनुष्यगति ।

परिणामों की विभिन्नता के कारण ही निगोद जीव विभिन्न गतियों में जाते हैं । यदि एक से परिणाम होते तो एक ही गति में जाने का नियम होता, किंतु ऐसा नियम है नहीं । अतः सभी निगोद जीवों के सद्भ परिणाम नहीं होते हैं, इसीलिये वे एक ही प्रकार के दुःख का अनुभव नहीं करते हैं ।

—जै. ग. 1-1-76/VIII/.....

आत्मा व जीव में कथंचित् अन्तर है

शंका—आत्मा और जीव में क्या कोई अन्तर बताया जा सकता है ? यदि है तो क्या और कैसे ?

समाधान—“आत्मा” शब्द का अर्थ इसप्रकार है—

“अत् धातुः सातत्यगमनेऽर्थे वर्तते । गमनशब्देनात्र ज्ञानं भण्यते, सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः” इति वचनात् । तेन कारणेन यथासंभवं ज्ञानसुखादि गुणेषु आसमन्तात् अतति वर्तते यः स आत्मा भण्यते । अथवा शुभाशुभमनोवचन-कायव्यापारैर्यथासम्भवं तीव्रमन्दादिरूपेण आसमन्तादतति वर्तते यः स आत्मा । अथवा उत्पादव्ययध्रौष्यैरासमन्ता-दतति वर्तते यः स आत्मा ।” वृ. द्र. सं. गाथा ५७ की टीका ।

अर्थ—‘अत्’ धातु निरंतर गमन करने रूप अर्थ में है और “सब गमनार्थक धातु ज्ञानार्थक होती हैं” इस वचन से यहाँ पर ‘गमन’ शब्द से ज्ञान कहा जाता है । इसकारण जो यथासम्भव ज्ञान, सुखादि गुणों में सर्वप्रकार वर्तता है, वह आत्मा है । अथवा शुभाशुभ मन, वचन, काय की क्रिया द्वारा यथासम्भव तीव्रमन्दआदिरूप से जो पूर्ण-रूपेण वर्तता है वह आत्मा है । अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौष्य इन तीनों धर्मों के द्वारा जो पूर्णरूप से वर्तता है, वह आत्मा है ।

जीव शब्द का अर्थ इस प्रकार है—

“आउआविपाणाणं धारणं जीवाणं तं च अजोगिच्चरिमसमयावो षवरिणत्थि, सिद्धेसु पाणणिवंधणदुक्कम्मा-भावावो, तम्हा सिद्धा ण जीवा, जीविदपुक्खा इदि ।” धवल पु० १४ पृ० १३ ।

अर्थ—आयुआदि प्राणों को धारण करना जीवन है । वह अयोगी के अन्तिम समय से आगे नहीं पाया जाता, क्योंकि सिद्धों के प्राणों के कारणभूत आठों कर्मों का अभाव है । इसलिये सिद्ध जीव नहीं हैं । अधिक से अधिक वे जीवितपूर्व कहे जा सकते हैं ।

इस अपेक्षा से जीव और आत्मा में अन्तर है, किंतु जो चेतन परिणामों से जीता है वह जीव है और जो जाने सो आत्मा इस अपेक्षा जीव और आत्मा में अन्तर नहीं, एकार्थवाची है ।

—जै. ग. 10-8-72/X/ र. ला. जैन, मेरठ

आत्मा कथंचित् सर्वगत है

शंका—आत्मा सर्वव्यापी किसप्रकार है ?

समाधान—आत्मा के प्रदेश यद्यपि लोकाकाश प्रमाण असंख्यात हैं तथापि ज्ञान की अपेक्षा सर्वव्यापी हैं, क्योंकि ज्ञान लोकालोक सर्वपदार्थों को जानता है । कहा भी है—

आद्या णाणपमाणं णाणं रोयप्यघाणमुद्दिहं ।

रोयं लोयालोयं तम्हा णाण तु सव्वगयं ॥२३॥ प्रवचनसार

ज्ञानप्रमाणमात्मानं ज्ञानं ज्ञेयप्रम विदुः ।

लोकालोकं यतो ज्ञेयं ज्ञानं सर्वगतं ततः ॥१११९॥ योगसार प्राभृत पृ० १२

जिनेन्द्रदेव ने आत्मा को ज्ञानप्रमाण और ज्ञान को ज्ञेयप्रमाण कहा है । ज्ञेय तू कि लोकालोकरूप है अतः ज्ञान सर्वागत है । आत्मा ज्ञान प्रमाण होने से आत्मा भी सर्वागत है ।

सिद्धो बोधमितिः स बोध उचितो ज्ञेयप्रमाणो भवेत् ।

ज्ञेयं लोकमलोकमेव च वदन्त्यात्मेति सर्वस्थितः ॥ पद्मनन्दि पं० ८१५

अर्थ—सिद्धजीव अपने ज्ञान के प्रमाण हैं और वह ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है ज्ञेय भी लोक-अलोकस्वरूप हैं । इससे आत्मा सर्व व्यापक कहा जाता है । (प्रदेश की अपेक्षा आत्मा सर्वव्यापक नहीं है) ।

—जं. ग. 23-9-71/VII/ टो. ला. मित्तल

शुद्धनिश्चयनय से आत्मा को कुछ भी हेय-उपादेय नहीं

शंका—अध्यात्मरहस्य ग्रंथ के ६५ वें श्लोक में कहा गया है कि 'परमशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से आत्मा के लिये न कुछ हेय और न उपादेय है ।' प्रश्न यह है—क्या उच्च श्रेणी का योगी अपनी प्रवृत्ति में हेय उपादेय बुद्धि नहीं रखता है ? क्या आहार लेते समय भी वह अभक्ष्य-भक्ष्य में हेय उपादेय बुद्धि नहीं रखता ?

समाधान—परमशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि में आत्मा शुद्ध है, उसमें न राग-द्वेष है और न क्रिया है । अतः शुद्धात्मा के लिये न कुछ हेय है और न कुछ उपादेय, क्योंकि शुद्धात्मा ग्रहण नहीं करता है । जो ग्रहण करता है उसी के लिये ग्राह्य-अग्राह्य का विकल्प होता है । शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि में आहार लेना ही सम्भव नहीं है अतः अभक्ष्य-भक्ष्य का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता ।

“जीवपुद्गलसंयोगोत्पन्नाः मिथ्यात्वरारागादिभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानरूपेण चेतना जीव-सम्बद्धाः शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेणाचेतनाः पौद्गलिकाः परमार्थतः पुनरेकान्तं न जीवरूपाः न च पुद्गलरूपाः सुघ्राह्रिद्रयोः संयोग परिणामवत् । वस्तुतस्तुसूक्ष्मशुद्धनिश्चयनयेन न सन्त्येव ।” समयसार पृ० १७५-१७६ ।

अर्थ—जीव और पुद्गल के संयोग (बंध) से उत्पन्न होनेवाले मिथ्यात्व, रागादि भावप्रत्यय अशुद्ध-निश्चयनय व अशुद्ध-उपादान की अपेक्षा जीवरूप हैं और शुद्धनिश्चयनय व शुद्ध उपादान की अपेक्षा मिथ्यात्व व रागादि अचेतन हैं पौद्गलिक हैं । परमार्थ एकान्त से न जीवरूप हैं और न पुद्गलरूप हैं, जैसे चूना-हल्दी के संयोग से उत्पन्न होनेवाला लालरंग न चूनारूप है न हल्दीरूप है । वस्तुतः सूक्ष्म-शुद्धनिश्चयनय (परमशुद्धनिश्चयनय) की अपेक्षा से मिथ्यात्व, रागद्वेष हैं ही नहीं, क्योंकि परमशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि में सब द्रव्य अपने-अपने स्वभाव में ठहरे हुए शुद्ध हैं, बन्ध नहीं हैं ।

—जं. ग. 29-1-70/VII/ आरत्नसभा, श्रीनारिक, देहली

ऊर्ध्वगमन आत्मद्रव्य की शुद्ध पर्याय है, यह आत्मा का स्वभाव है, गुण नहीं

शंका—ऊर्ध्वगमन यदि आत्मा का स्वभाव है तो ऊर्ध्वगमन गुण है या पर्याय ? यदि गुण है तो उस गुण की शुद्ध तथा अशुद्ध कौनसी पर्याय है ? यदि ऊर्ध्वगमन पर्याय है तो वह किस गुण की है और वह ऊर्ध्वगमनपर्याय शुद्ध या अशुद्ध है ?

समाधान—ऊर्ध्वगमन आत्मा का स्वभाव है, किन्तु यह गुण नहीं है, पर्याय है और वह जीवद्रव्य की शुद्ध पर्याय है । इस विषय में आगम इस प्रकार है “तथागतिपरिणामाच्चाग्निशिखावत् ॥६॥ (टीका) यथा तिर्यक्-प्लवनस्वभावसमीरणसंबन्धनिष्ठमुक्ता प्रदीपशिखा स्वभावावुत्पतति तथा मुक्तात्मापि नाना गतिधिकारण कर्म निवारणं सति ऊर्ध्वगतिस्वभावत्वाद्दूर्ध्वमेवारोहति । (वार्तिक) ऊर्ध्वगत्यभावे तद्भावात् प्रसंगोऽनेरोऽप्याभावेऽभाववदिति चेन्न गत्यंतरनिवृत्त्यर्थत्वात् ॥९॥ (टीका) स्पन्दतं यथोष्णस्वभावस्याग्ने रोष्ण्याभावेऽभावस्तथा मुक्तस्योर्ध्वगमनं स्वभावस्तदभावेऽभावः प्राप्नोतीति चेन्न । किं कारणं ? गत्यंतरनिवृत्त्यर्थत्वात् । तथा च मुक्तस्योर्ध्वमेवगमनं न विद्यंतरगमनमित्ययं स्वभावो नोर्ध्वं गमनमेवेति । (वार्तिक) ऊर्ध्वज्वलनवद्वा ॥१०॥ (टीका) यथोर्ध्वज्वलनस्व-भावात्वेऽप्यग्नेर्बैगवद् द्रव्याभिघातात्तिर्यग्ज्वलनेऽपि नाग्नेविनाशो दृष्टस्तथा मुक्तस्योर्ध्वगति-स्वभावत्वेऽपि तदभावेऽभाव इति । अप्राह—ऊर्ध्वज्वलनस्वभावस्याग्नेर्बैगवदभिघातात्तिर्यग्ज्वलने सति विरोधाद्दूर्ध्वज्वलनाभावो युक्तः । मुक्तस्य तु पुनः स्वभावगतिलोपहेत्वभावाद्दूर्ध्वगत्युपरमोनुपपन्न इत्युच्यते लोकांतान्नोर्ध्वगतिमुक्तस्य कुतः ? (सूत्र) घर्मा-स्तिकायाप्तावात् ॥९॥ (टीका) गत्युपग्रहकारणभूतोर्ध्वस्तिकायो नोपर्यस्तीत्यलोके गमनाभावः । तदभावे च लोका-लोक विभागाभावः प्रसज्यते ।”

अर्थ—अग्निशिखा के समान जीव का गति स्वभाव है ॥६॥ जिस प्रकार तिरछी बहने का स्वभाव रखने-वाली वायु दीपक की शिखा को भी तिरछी कर देती है, परन्तु जब इस वायु का संबन्ध नहीं रहता है तब दीपक की शिखा अपने स्वभाव से ऊपर को ही जाती रहती है, क्योंकि, ऊपर को जाना ही दीपशिखा का स्वभाव है । उसी प्रकार नाना गतियों में ले जाने में कारणभूत कर्म का सर्वथा निवारण हो जाने पर वह अपने ऊर्ध्वगति स्वभाव के कारण नियम से ऊपर को ही सीधा गमन करता है । संसार में कर्मों की परतंत्रतावश वह ऊर्ध्वगमन नहीं कर पाता था, परन्तु उस परतंत्रता के दूर हो जाने पर वह अपने स्वभावानुसार वायुवेग से रहित दीपकशिखा के समान नियम से ऊर्ध्वगमन करता है । ऊर्ध्वगति के अभाव में जीव के अभाव का प्रसंग आ जायगा, क्योंकि, उष्णता के अभाव में अग्नि का अभाव हो जाता है । यह ठीक नहीं है, क्योंकि जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव दूसरी गति के निषेध के लिये है ॥९॥ जिसप्रकार अग्नि का उष्ण-स्वभाव है । यदि वह उष्णस्वभाव नहीं रहे तो अग्नि का भी अभाव हो जाय उसी प्रकार मुक्तजीव का यदि ऊर्ध्वगमनस्वभाव माना जाता है तो उसका जब ऊर्ध्वगमन होना रुक जाता है तब उस ऊर्ध्वगमनरूप स्वभाव का अभाव हो जाने से जीव का भी अभाव सिद्ध होता है ? यह कहना ठीक नहीं है कारण कि दूसरी गति के निषेध के लिये मुक्त जीव का ऊर्ध्वगमनस्वभाव कहने का प्रयोजन यह है कि मुक्त-जीव का ऊपर ही नियम से गमन होता है और किसी भी दिशा में उसका गमन नहीं हो सकता है । यही मुक्त जीव का स्वभाव है, परन्तु ऊपर उसका सर्व्व गमन ही होता रहे यह स्वभाव नहीं माना गया है । इस विषय में दृष्टान्त देते हैं—जिस प्रकार अग्नि का स्वभाव नियम से ऊपर जाना है, परन्तु वेगवान् द्रव्य के अभिघात से अग्नि का तिरछा गमन होने पर भी उसका नाश नहीं हो जाना है उसीप्रकार मुक्त जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने पर भी अन्यत्र उस ऊर्ध्वगमन का अभाव होने पर भी जीव का अभाव नहीं हो सकता है । प्रश्न—यद्यपि अग्नि का ऊर्ध्वगमन करना स्वभाव है तो भी वेगवान् द्रव्य (वायु) की प्रेरणा से उसकी तिरछी ज्वाला के जलने पर ऊर्ध्वगमन का विरोध हो जाता है । इसलिये ऊर्ध्वगमन अग्नि का नहीं हो पाता है, परन्तु मुक्तजीव के तो ऊर्ध्व-

गमनस्वभाव के लोप होने का कोई कारण नहीं है। बिना किसी बाधक कारण के मुक्तजीव की ऊर्ध्वगति क्यों रुक जाती है? मुक्तजीव की ऊर्ध्वगति लोक के अंततक ही होती है, उससे आगे अलोक में मुक्तजीव की गति नहीं होती। आगे उसकी गति क्यों नहीं होती है इसके लिये सूत्र कहा गया है—धर्मास्तिकाय का अभाव होने से लोक के अंत से आगे मुक्त जीव का गमन नहीं होता। गति के उपकार में कारणभूत धर्मास्तिकाय का ऊपर अभाव है, अलोक में मुक्त जीव के गमन का अभाव है। यदि धर्मास्तिकाय का गति में उपकार नहीं माना जावे तो लोक-अलोक विभाग के अभाव का प्रसंग आ जायगा। इससे यह भी सिद्ध होता है कि निमित्त कारण के अभाव में मुक्त (शुद्ध) जीव की ऊर्ध्वगति रुक जाती है।

—जं. सं. 13-6-57/.... / श्री दि. जैन त्वाध्याय मंडल

आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन

शंका—क्या आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करना है या आत्मा का स्वभाव निष्क्रिय है ?

समाधान—आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन है। कहा भी है—विस्ससोड्ढपई/यद्यपि व्यवहारेण चतुर्गति-जनककर्मोदयवशेनोर्ध्वगतिस्वभावस्तथापि निश्चयेन केषलज्ञानाद्यनन्तगुणावाप्ति लक्षणमोक्षगमनकाले विस्ससास्वभावोर्ध्वगतिश्चेति (बृहद्ब्रह्मसंग्रह गाथा २ व टीका) अर्थ—जीव स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है। यद्यपि व्यवहार से चारों गतियों को उत्पन्न करने वाले कर्मों के उदयवश ऊँचा, नीचा तथा तिरछा गमन करने वाला है फिर भी निश्चयनय से केवलज्ञानादि अनन्त गुणों की प्राप्तिस्वरूप जो मोक्ष है उसमें पहुँचने के समय स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है। श्री राजवार्तिक अध्याय १० सूत्र ७ की वार्तिक ६ व टीका इस प्रकार है—तथागतपरिणामाच्छाग्निशिखावत् यथा तिर्यक्प्लवनस्वभावसमीरणसम्बन्ध निरस्तुका प्रदीपशिखा स्वभावाद्दुत्पत्ति तथा मुक्तात्मपि नानागतविकारणकर्मनिवारणं सति ऊर्ध्वगतिस्वभावत्वाद्बुध्वंमेवारोहति। अर्थ—जिसप्रकार तिरछी बहने का स्वभाव रखने वाली वायु, दीपक की शिखा को भी तिरछी कर देती है, परन्तु जब उस वायु का सम्बन्ध नहीं रहता है अर्थात् वायु का बहना जब बन्द हो जाता है तब दीपक की शिखा अपने स्वभाव से ऊपर को ही जाती रहती है, क्योंकि ऊपर को जाना ही दीपशिखा का स्वभाव है उसी प्रकार नानागतियों में ले जाने में कारणभूत कर्मों का सम्बन्ध रहने पर यह आत्मा भी गतियों में गमन करता रहता था, परन्तु उन गतियों के कारणभूत कर्मों का सर्वथा निवारण हो जाने पर वह अपने ऊर्ध्वगतिस्वभाव के कारण नियम से ऊपर को ही सीधा गमन करता है अर्थात् जीव का ऊर्ध्वगमन करना ही स्वभाव है। श्री पंचास्तिकाय गाथा २८ की टीका में इसप्रकार है—

आत्मा हि परद्रव्यत्वात्कर्मरजसा साकल्येन यस्मिन्नेव क्षणे मुच्यते तस्मिन्नेवोर्ध्वगमनस्वभावत्वात्लोकान्त-मधिगम्य परतो गतिहेतोरभावादवस्थितः। आत्मा जिससमय समस्त परद्रव्य कर्मरज से मुक्त होता है उसी समय ऊर्ध्वगमन स्वभाव से लोक के अन्त में जाता है उसके आगे गतिहेतु (धर्मास्तिकाय) का अभाव होने से अवस्थित है।

क्रिया का लक्षण परिस्पन्द (कम्पन) है अर्थात् प्रदेशों में हलन-चलन होना। इस लक्षण को पुद्गल और जीव में घटित करके बताया है—प्र. सा. गाथा १२९ टीकापरिस्पन्दनलक्षणक्रिया।..... पुद्गलास्तु परिस्पन्द-स्वभावत्वात्परिस्पन्देन भिन्नाः संघातेन संहताः पुनर्भेदेनोत्पद्यमानावतिष्ठमानाभज्यमानाः क्रियावन्तश्च भवन्ति। तथा जीवा अपि परिस्पन्दस्वभावत्वात्परिस्पन्देन नूतनकर्मनो कर्मपुद्गलेभ्यो भिन्नास्तैः सहसंघातेन संहताः पुनर्भेदेनोत्पद्यमानावतिष्ठमानाभज्यमानाः क्रियावन्तश्च भवन्ति। अर्थ—पुद्गल तो क्रियावाले भी होते हैं, क्योंकि परिस्पन्द द्वारा पृथक् पुद्गल एकत्र होते हैं और एकत्र मिले हुए पुद्गल पुनः पृथक् हो जाते हैं इसलिये वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं। तथा जीव भी क्रियावाले भी होते हैं, क्योंकि परिस्पन्द स्वभाव वाले होने से परिस्पन्द

के द्वारा कर्म-नोकर्म पुद्गलों से भिन्न जीव उनके साथ एकत्र होने से और कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलों के साथ एकत्र हुए जीव बाद में पृथक् होने से वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं। श्री यन्त्रास्तिकाय भाषा ९८ में भी क्रिया के विषय में श्री प्रबन्धनसार के अनुकूल ही कहा है जो इसप्रकार है—

जीवा पुग्गलकाया सह सविकरिया ह्वंति ण य सेता ।

पुग्गलकरणा जीवा खंघा खलु कालकरणा कु ॥९८॥

टीका—प्रदेशान्तरप्राप्तिहेतुः परिस्पन्दनरूपपर्यायः क्रिया । तत्र सक्रिया बहिरंगसाधनेन सहभूताः जीवाः सक्रियाबहिरंग साधनेन सहभूताः पुद्गलाः । जीवानां सक्रियत्वस्य बहिरंगसाधनं कर्मनोकर्मोपचयरूपाः पुद्गला इति ते पुद्गलकरणाः । तदभावात्सिःक्रियत्वं सिद्धानां । अर्थ—जीव द्रव्य और पुद्गलकाय निमित्तभूत परद्रव्य की सहायता से क्रियावन्त होते हैं और शेष के जो चार द्रव्य हैं वे क्रियावन्त नहीं हैं। जीव तो पुद्गल का निमित्त पाकर क्रियावन्त होते हैं और पुद्गलस्कन्ध निश्चय करके कालद्रव्य के निमित्त से क्रियावन्त होते हैं ॥९८॥ प्रदेश से प्रदेशान्तर होने में कारणभूत जो परिस्पन्दनरूप पर्याय है वह क्रिया है। बहिरंग साधनों से होने वाली क्रिया-सहित जीव है और बहिरंग साधनों से होने वाला क्रियासहित पुद्गल है। जीवों के क्रियासहितपने के बहिरंगसाधन कर्म और नोकर्म का समूहरूप पुद्गल है इसलिये वे जीव-पुद्गलों का निमित्त पाकर क्रियावन्त होते हैं। कर्म नोकर्मरूप पुद्गल का अभाव होने से सिद्धों के निःक्रियपता है।

श्री भोक्षशास्त्र में भी धर्म, अधर्म और आकाशद्रव्य को निःक्रिय कहकर यह भाव प्रकट किया है कि शेष पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय क्रियावन्त हैं। श्री राजवार्तिक अ० ५ सूत्र ७ की टीका व. वार्तिक १ में क्रिया का लक्षण इसप्रकार कहा है—उभयनिमित्तापेक्षः पर्यायविशेषो द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रिया ॥१॥ अभ्यन्तरं क्रियापरिणामशक्तिपुक्तं द्रव्यम्, बाह्यं च नोदनाभिघाताद्यपेक्ष्योत्पद्यमानः पर्यायविशेषः द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रियेत्युपविश्यते । उभयनिमित्त इति विशेषणं द्रव्यस्वभावनिवृत्त्यर्थम् । यदि हि द्रव्यस्वभावः स्यात् परिणामिनो द्रव्यस्याऽनुपगतक्रियत्वप्रसङ्गः । द्रव्यस्य पर्यायविशेष इति विशेषणम् अर्थान्तरभावनिवृत्त्यर्थम् । यदि हि क्रिया द्रव्या-दर्थान्तरभूता स्यात् द्रव्यस्य निश्चलनत्वप्रसङ्गः । देशान्तर प्राप्तिहेतुरिति विशेषणं ज्ञानाविरूपाविवृत्त्यर्थम् । अर्थ—उभयनिमित्त का अर्थ अभ्यन्तर और बाह्यकारण है। वही पर क्रियारूप परिणामनशक्ति का धारक द्रव्य अन्तरंग कारण है और नोदन अर्थात् प्रेरणा का होना एवं अभिघात आदि अर्थात् धक्का आदि बाह्य कारण हैं। इन दोनों प्रकार के कारणों के द्वारा जिसकी उत्पत्ति है और जो द्रव्य के एक देश से दूसरे देश में ले जाने में कारण है ऐसी विशेष पर्याय का नाम क्रिया है। यहाँ क्रिया पदार्थविशेष है एवं उभयनिमित्तापेक्ष, पर्यायविशेष और द्रव्यस्य देशान्तर प्राप्ति हेतु ये तीन उसके विशेषण हैं। किसी बात की व्यावृत्ति करना अथवा उसे व्यवहार में ले आना यह विशेषण प्रयोग का प्रयोजन है। यहाँ पर जो उभयनिमित्तापेक्ष यह विशेषण दिया है वह क्रिया, द्रव्य का स्वभाव न समझा जावे, इस बात की निवृत्ति के लिये है। यदि क्रिया को द्रव्य का स्वभाव मान लिया जाएगा तो उस क्रिया का कभी अभाव तो होगा नहीं फिर द्रव्य सदा स्थिर न रहकर हलनचलनरूप ही रहेगा इसलिये क्रिया को द्रव्य के स्वभाव की निवृत्ति के लिये उभयनिमित्तापेक्ष विशेषण कार्यकारी है। पर्यायविशेष जो क्रिया को विशेषण दिया गया है वह क्रिया द्रव्य से भिन्न पदार्थ न समझा जाए इस बात को बताने के लिये है। यदि क्रिया को द्रव्य से सर्वथा भिन्न पदार्थ माना जाएगा तो द्रव्य सर्वथा निश्चल हो जाएगा। देशान्तर प्राप्ति हेतु जो विशेषण है वह आत्मा के अनादि गुणों की और पुद्गलों के रूपादि गुणों की निवृत्ति के लिये है।

उपर्युक्त तीन ग्रन्थों में क्रिया का जो लक्षण कहा है उससे स्पष्ट है कि 'क्रिया' से अभिप्राय वैभाविक-क्रिया का है अथवा समानजाति व असमानजाति द्रव्य-पर्याय में परिस्पन्दरूप या हलन-चलनरूप जो क्रिया होती है

उससे है। जीव व पुद्गल में ही विभावरूप परिणमन करने की शक्ति है अतः इन दोनों ही द्रव्यों को सक्रिय कहा है। परिस्पन्दरूप शक्ति को श्री अमृतचन्द्राचार्य ने स्वभाव कहा है, किन्तु श्री अकलंकस्वामी ने इसे शक्ति तो कहा है परन्तु स्वभाव स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि यह वैभाविक शक्ति है। इस बात को वार्तिक १५ में स्पष्ट करते हैं—

शरीरविद्योगे निष्क्रियत्वप्रसङ्ग इति चेत्, न, अभ्युपगमात् ॥ १५ ॥ स्यान्मतम्—यस्य कार्मणशरीरसम्बन्धे सति तत्प्रणालिकापादिता क्रिया आत्मनोऽभिप्रेता तस्याष्टविधकर्मसंक्षये शरीरविद्योगात् अशरीरस्यात्मनो निःक्रियत्वं प्रसक्तमिति; तन्न, किकारणम् ? अभ्युपगमात्, कारणाभावात् कार्याभाव इति। कर्मनोऽकर्मनिमित्ता या क्रिया सा तवभावे नास्तीति निष्क्रियत्वं मुक्तस्याभ्युपगम्यतेऽस्माभिः। अथवा परनिमित्त क्रियानिवृत्तावपि स्वाभाविकी मुक्त-स्थोर्धर्मागतिरभ्युपगम्यते प्रवीणवत्। अर्थ—शरीर का विद्योग हो जाने पर निष्क्रियपने का प्रसंग आ जायगा ! यदि ऐसा कहते हो तो यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि यह बात हमें स्वीकार है ॥ १५ ॥ जो कार्मणशरीर का सम्बन्ध रहने पर आत्मा में क्रिया होती है ऐसा मानते हैं उनके मत में आठों प्रकार के कर्मों का क्षय होने पर जिससमय आत्मा शरीर से जुदा होकर अशरीरी होगी उससमय वह निष्क्रिय माना जायगा ? ऐसा नहीं है, क्योंकि यह बात हमें इष्ट है। कारण के अभाव में कार्य का अभाव होता है। कर्म व नोकर्म के निमित्त से होनेवाली क्रिया कर्म-नोकर्म के अभाव में नहीं होती, अतः मुक्त जीवों को हम निष्क्रिय मानते ही हैं। जिसप्रकार दीपक की लौ वायु का निमित्त दूर हो जाने पर ऊपर को स्वभाव से जाती है उसी प्रकार मुक्त जीवों के भी कर्मों का नाश हो जाने से परनिमित्तक क्रिया तो नहीं हो सकती, किन्तु स्वभाव सिद्ध ऊर्ध्वगमनरूप क्रिया मानी जाती है। इसप्रकार पर-निमित्तक क्रिया की अपेक्षा से शुद्धजीव का स्वभाव निष्क्रिय है, किन्तु स्वाभाविकक्रिया की अपेक्षा शुद्धजीव का स्वभाव सक्रिय है; ऐसा अनेकान्त से सिद्ध हो जाता है।

—जै. सं. 10-1-57/VI-VII/ दि. जै. स. एत्मादपुत्र

पुद्गल : परमाणु

अनादि परमाणु कोई नहीं

शंका—क्या ऐसे शुद्धपुद्गल भी हैं जो अनादि से शुद्ध हो हैं और अनन्तकाल तक शुद्ध ही रहेंगे ?

समाधान—जो शुद्धपुद्गल है वह परमाणुरूप है। कहा भी है—शुद्धपरमाणुरूपेण अवस्थानं स्वभावद्वय-पर्यायः।” (पंचास्तिकाय गाथा ५ पर श्री जयसेनाचार्य कृत टीका) कोई भी पुद्गल परमाणु अनादिकाल से परमाणुरूप स्थित रहा हो, ऐसा नहीं है। “न चानाविपरमाणुर्नाम कश्चिदस्ति।” (राजवातिक अध्याय ५ सूत्र २५ वार्तिक १० टीका) अर्थात् अनादिकाल से अब तक परमाणु की अवस्था में ही रहने वाला कोई अणु नहीं है। अतः ऐसा कोई भी शुद्ध पुद्गल नहीं है जो अनादि से शुद्ध ही हो और अनन्तकाल तक शुद्ध ही रहेगा।^१

—जै. ग. 5-4-62/... / मानकचन्द

१. परन्तु श्लोकवार्तिक २/१७३ में लिखा है “अनन्तानन्त परमाणु ऐसे हैं जो स्वयं अथवा मे प्राप्त नहीं हुए हैं, वे अनादि से परमाणुरूप हैं।” परन्तु वहाँ यह कथन भाषा टीका में है।

[भाषाटीकाकार—साणिकचन्दजी कौदेय, न्यायाचार्य]—सम्पादक

शुद्ध पुद्गल एक समय से अधिक कालतक भी रहता है

शंका—क्या शुद्धपुद्गल केवल एकसमय मात्र ही शुद्ध रह सकता है ? कारण कि षट्गुणी वृद्धि से अशुद्धि आ जाती है ।

समाधान—परमाणु शुद्धपुद्गल द्रव्य है । जब तक वह परमाणु द्व्यणुकादि स्कन्धरूप से न परिणमन करे उस समय तक मात्र गुण में षट्गुणवृद्धि हो जाने से अशुद्धता नहीं आती । अशुद्धता द्व्यणुक आदि स्कन्धरूप परिणमन करने पर घाती है । “पुद्गलस्य कथ्यन्ते । शुद्धपरमाणवो वर्णादियः स्वभावगुणाः द्व्यणुकादि स्कन्धे वर्णादयो विभावगुणाः शुद्धपरमाणुरूपेणावस्थानं स्वभावद्रव्यपर्यायः वर्णादिव्यो वर्णान्तरादिपरिणमनं स्वभावगुणपर्यायः । द्व्यणुकादिस्कन्धरूपेण परिणमनं विभावद्रव्यपर्यायाः । तेष्वेव द्व्यणुकादि स्कन्धेषु वर्णान्तरादिपरिणमनं विभावगुणपर्यायाः ।” (पंचास्तिकाय गाथा ५ श्री जयसेनाचार्य कृत टीका) अर्थात्—‘पुद्गल के विषय में कहते हैं । शुद्ध परमाणु के वर्णादिक स्वभावगुण हैं और द्व्यणुक आदि स्कन्ध में वर्णादि विभावगुण हैं । शुद्धपरमाणुरूप से रहना स्वभावद्रव्यपर्याय है और उस परमाणु के वर्णादि का अन्य वर्णादिरूप परिणमन करना स्वभावगुण पर्याय है । द्व्यणुकादि स्कन्धरूप परिणमन विभाव द्रव्यपर्याय है और उन द्व्यणुकादि स्कन्ध में वर्णादि से अन्य वर्णादिरूप विभाव गुणपर्याय है ।’ “स्वभावगुणपर्याया अगुरुलघुगुणषड्वानिवृद्धिरूपाः । शुद्धार्थपर्याया अगुरुलघुगुणषड्वानिवृद्धिरूपेण स्वभावगुणपर्याय व्याख्यानकाले पूर्वमेव सर्वद्वयार्था कथिताः ।” (पंचास्तिकाय गाथा १६ श्री जयसेनाचार्य कृत टीका) अगुरुलघुगुण के द्वारा षट्गुणहानिवृद्धिरूप स्वभाव गुणपर्याय है । यह ही शुद्ध अर्थपर्याय है जो क्षणक्षयी है, अतः परमाणु में जो षट्गुणवृद्धि होती है वह स्वभावगुणपर्याय है । अतः ऐसा नियम नहीं कि शुद्ध पुद्गल एकसमय मात्र ही शुद्ध रहता ही । जब तक वह द्व्यणुकादि स्कन्धरूप नहीं परिणमन करता, वह शुद्ध रहता है और उसके गुणों में परिणमन भी स्वाभाविक अर्थात् शुद्ध गुण पर्याय हैं ।

जै. ग. 5-4-62/ ... / नानकवन्द

‘तत्त्वार्थसूत्र’ में बन्धविषयक नियम परमाणुओं के लिए हैं

शंका—सर्वार्थसिद्धि अ. ५ सूत्र ३६ में बंध के लिये दो अधिक गुण का नियम बतलाया है वह स्कन्ध के लिये भी है या मात्र परमाणु के लिये है ?

समाधान—तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) अध्याय ५ में सूत्र ३३ से ३७ तक पुद्गल परमाणुओं के परस्पर बंध का कथन है । सूत्र ३३ में बंध का साधारण नियम है और सूत्र ३६ में विशेष नियम है । सूत्र ३३ की उत्थानिका में (तत्त्वार्थवृत्ति टीका में) श्री श्रुतसागर सूरि ने ये सूत्र परमाणु बंध विषयक बतलाये हैं । वह उत्थानिका इसप्रकार है—

“अथ परमाणूनां परस्परबंध निमित्तसूक्ष्मपरं सूत्रमुच्यते ।”

अर्थ—अब परमाणुओं के परस्पर बंध के कारणों को बतलाने के लिये आगे का सूत्र कहते हैं ।

—जै. ग. 7-8-67/VII/ ८. ला जैन

कार्य परमाणु कारण परमाणु बन सकता है । कार्य परमाणु की जघन्यता का नियम नहीं

शंका—क्या भेद से होने वाले शुद्ध परमाणु का भी पुनः कभी बंध हो सकता है ? क्या कार्य परमाणु जघन्य परमाणु ही होता है ? क्या जघन्य परमाणु (कार्यपरमाणु) बदलकर कभी भी बंधयोग्य नहीं होता, अर्थात् जघन्यपरमाणु कभी भी कारणपरमाणु नहीं बनता ?

समाधान—‘भेदावणः’, इस सूत्र द्वारा यह कहा गया है कि स्कन्ध के भेद से अणु की उत्पत्ति हो सकती है। यह अणु भेदरूपी क्रिया का कार्य होने से ‘कार्यपरमाणु’ कहा जाता है। इसमें स्निग्ध या रूक्ष के जघन्य अविभागपरिच्छेद हों, ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं है। यदि जघन्य अविभागपरिच्छेद भी हों तो वे भी काल पाकर वृद्धि को प्राप्त हो जाते हैं। कहा भी है—

“स्नेहादयो हि गुणाः परमाणौ प्रादुर्भवन्ति विद्यन्ति च ।” [रा-वा-५।२५।७] अर्थात् परमाणु में स्निग्ध आदि गुण हानिवृद्धि को प्राप्त होते रहते हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि जघन्यगुण वाला परमाणु भी, स्निग्ध या रूक्षगुण में वृद्धि हो जाने पर, बंधयोग्य हो जाता है।

भी पंचास्तिकाय गाथा ९८ की टीका में भी कहा है।

“न च कर्मादीनामिव कालस्याभावः। ततो न सिद्धानामिव निष्क्रियत्वं पुद्गलानामिति “अथ यथा शुद्धात्मानुभूतिबलेन कर्मक्षये जाते कर्म-नोकर्म पुद्गलानामभावात् सिद्धानां निष्क्रियत्वं भवति न तथा पुद्गलानाम्। कस्मात् ? कालस्य सर्वबंध सर्वत्रैव विद्यमानत्वादित्यर्थः।”

अर्थात् जीवों के बन्ध का कारण कर्मोदय है और पुद्गल के बन्ध का कारण कालद्रव्य है। जिसप्रकार शुद्धात्मानुभूति से कर्मों का क्षय हो जाने पर कर्मनोकर्मरूप पुद्गलों का जीवों से अभाव हो जाता है और सिद्धजीव पुनः बन्ध को प्राप्त नहीं होते; उसप्रकार पुद्गलपरमाणु स्कन्ध से पृथक् हो जाने पर पुनः बन्ध को प्राप्त न हो ऐसा नहीं है, क्योंकि कालद्रव्य सर्वदा और सर्वत्र विद्यमान रहता है, जिसके कारण कार्यपुद्गलपरमाणु पुनः बन्ध को प्राप्त हो जाता है।

जं. ग. 12-6-67/IV/ मू. घ. त्रासही

भिन्न-भिन्न परमाणुओं में भिन्न-भिन्न वर्ण

शंका—वर्णगुण के अविभागप्रतिच्छेद भी परमाणु में होते हैं और वह भी स्वर्ण की तरह अनन्त तक बढ़ते हैं या नहीं। वर्णगुण की पाँच पर्यायें हैं, उन पाँच पर्यायों में से स्वर्णगुण की कौनसी पर्याय होती है? क्या सभी परमाणुओं में एकसा वर्ण होता है या भिन्न-भिन्न वर्ण होते हैं।

समाधान—वर्णगुण के अविभागप्रतिच्छेद भी परमाणु में घटते-बढ़ते रहते हैं। “शुद्धपरमाणुरूपेणावस्थानं स्वभावद्रव्यपर्यायः वर्णादिभ्यो वर्णान्तरादिपरिणमनं स्वभावगुणपर्यायः।” (पंचास्तिकाय गाथा ५ की टीका)

अर्थात्—शुद्धपरमाणु में वर्ण से वर्णान्तररूप परिणमन होना स्वभावगुणपर्याय है।

इससे सिद्ध होता है एक ही वर्ण के अविभागप्रतिच्छेदों में हीनाधिक होना अथवा एकवर्ण से दूसरे वर्ण-रूप होना यह परमाणु में स्वभाव-गुण-पर्याय है। परमाणु में एक ही वर्ण के जघन्यअविभागप्रतिच्छेद से बढ़कर उत्कृष्टअविभागप्रतिच्छेद भी हो सकते हैं और वर्णगुण की एकपर्याय से दूसरीपर्याय भी हो सकती है। सभी परमाणुओं में वर्णगुण की एक ही पर्याय हो ऐसा नियम नहीं है। भिन्न-भिन्न परमाणु भिन्न-भिन्न वर्णवाले हो सकते हैं।

—जं. ग. 26-6-67/IX/ ट. ला. जैन

परमाणु में शक्तिरूप से भी गुरु लघु आदि नहीं

शंका—जैनसंदेश में लिखा है कि “गुरु, लघु, मृदु, कठिनस्पर्शरूप परिणत हुए स्कन्धरूप होने को शक्ति के योग से परमाणु को इन स्पर्शवाला भी कहा जा सकता है। परमाणु में सर्वथा इनका निषेध करने से तो स्कन्ध में भी उनका दर्शन होना सम्भव नहीं है” क्या परमाणु में गुरु, लघु, मृदु, कठिनस्पर्श है ?

समाधान—श्री कुंदकुंदाचार्य ने पंचास्तिकाय गाथा ८१ में परमाणु में दो-दो स्पर्श बतलाये हैं। शीत-उष्ण में से कोई एक तथा स्निग्ध रूक्ष में से कोई एक। इसप्रकार परमाणु में दो स्पर्श होते हैं। किसी भी आचार्य ने परमाणु में शक्ति या व्यक्तिरूप से गुरुलघु या मृदु-कठिन स्पर्श का निर्देश नहीं किया है। एक परमाणु में दूसरे परमाणुओं के साथ बन्ध को प्राप्त होने की शक्ति है, क्योंकि उसमें स्निग्ध या रूक्षगुण है। स्कंध अवस्था में गुरु-लघु या मृदु-कठिनस्पर्श होते हैं। परमाणु में इन गुरु आदि स्पर्श को मानने से आगम से विरोध आ जायगा। आगम का कुतर्क के द्वारा खण्डन करना उचित नहीं है, क्योंकि आगम तर्क का विषय नहीं है ? (धवल पृ. १४ पृ. १५१)।

—जै. ग. 7-2-66/X/ट. ला. जैन

परमाणु का स्व-रूप से रहने का काल

शंका—पुद्गलपरमाणु क्या कभी स्कन्ध से पृथक् होता है ? उसका परमाणुरूप से रहने का उत्कृष्ट काल कितना है ?

समाधान—पुद्गलपरमाणु स्कन्ध से पृथक् होता है क्योंकि तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ५ सूत्र २७ ‘भेदावणुः’ से सिद्ध है कि स्कन्ध के भेद से अणु की उत्पत्ति होती है। अणु स्कन्ध को भी प्राप्त होते हैं और पृथक् होकर अणु-रूप हो जाते हैं। अनादिकाल से अब तक परमाणु की अवस्था में ही रहनेवाला कोई अणु नहीं है (राजवातिक अध्याय ५ सूत्र २२ वार्तिक १०)। पुद्गलपरमाणु का परमाणुरूप से रहने का कोई नियतकाल नहीं है। कोई परमाणु दूसरे समय में स्कन्ध से बँध जाता है और कोई बहुत कालतक स्कन्धपने को प्राप्त नहीं होता।

—जै. ग. 4-4-63/1X/ भ्रान्तिलाल

परमाणु में कर्णेन्द्रिय-ग्राह्यत्व नहीं। शब्दगुण नहीं पर्याय है

शंका—‘जैनसंदेश’ में प्रवचनसार गाथा २।४० की टीका उद्धृत करके लिखा है—“यहां परमाणु में शक्तिरूप से इन्द्रियग्राह्यता स्वीकार की है। अतः जैसे परमाणु में शक्तिरूप से अन्य इंद्रियसंबंधी ग्राह्यता है वैसे ही कर्णेन्द्रियसंबंधी ग्राह्यता भी है।” क्या यह निष्कर्ष ठीक है ?

समाधान—प्रवचनसार गाथा २।४० में परमाणु की इंद्रियग्राह्यता का कथन ही नहीं है, किन्तु वहाँ पर तो स्पर्श रस गंध वरुण, इन चार गुणों की इंद्रिय ग्राह्यता का कथन है जो इस प्रकार है—

“इन्द्रियग्राह्याः किल स्पर्शरसगंधवरुणास्तद्विषयत्वात्, ते चेन्द्रियग्राह्यास्त्वव्यक्तिशक्तिवशात् ग्राह्यमाणा अप्राह्य-माणाश्च वा एकद्रव्यात्मकसूक्ष्मपर्यायात्परमाणोः वा अनेकद्रव्यात्मकस्थूलपर्यायात्पृथिवीस्कन्धाच्च सकलस्यापि पुद्गलस्याविशेषेण विशेषगुणत्वेन विद्यन्ते ।”

अर्थात् स्पर्श, रस, गंध और वरुण इंद्रियग्राह्य हैं, क्योंकि वे इंद्रियों के विषय हैं। इंद्रियग्राह्यता की व्यक्ति और शक्ति के वश से भले ही वे स्पर्श आदि गुण इंद्रियों के द्वारा ग्रहण किये जाते हों या ग्रहण न किये जाते हों

तथापि वे एक द्रव्यात्मक सूक्ष्म पर्यायरूप परमाणु से लेकर अनेक द्रव्यात्मक स्थूल पर्यायरूप पृथ्वी स्कन्धतक के समस्त पुद्गलों के साधारणरूप से पाये जाते हैं, किन्तु अन्य द्रव्यों में नहीं रहने से ये स्पर्श आदि विशेष गुण हैं ।

इसी टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य लिखते हैं कि शब्द यद्यपि इंद्रियग्राह्य है तथापि वह गुण नहीं है, किन्तु शब्द तो पुद्गल की स्कंधपर्याय है । पर्याय का लक्षण कादाचित्कत्व है अर्थात् अनित्यत्व है और गुण का लक्षण नित्यत्व है । शब्द नित्य नहीं है इसलिये शब्दगुण नहीं है, किन्तु पुद्गल की पर्याय है । यदि शब्द पुद्गल की पर्याय है तो वह समस्त इंद्रियों के द्वारा ग्राह्य होना चाहिये जैसे पृथिवी पुद्गल की पर्याय है और समस्त इंद्रियों द्वारा ग्राह्य है, ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे जल घ्राणइंद्रिय का विषय नहीं है अग्नि घ्राण और रसना इंद्रियों का विषय नहीं है, और वायु घ्राण, रसना तथा चक्षुइंद्रिय का विषय नहीं है वैसे ही शब्द भी कर्ण के अतिरिक्त अन्य इंद्रियों का विषय नहीं है, किन्तु जल, अग्नि, वायु और शब्द में स्पर्श आदि चारों ही गुण विद्यमान हैं ।

इस टीका से यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि परमाणु में कर्णइंद्रियसम्बन्धी ग्राह्यता है । पुद्गल की शब्द-रूप स्कंध पर्याय में कर्णइंद्रियसम्बन्धी ग्राह्यता है । परमाणु में शब्दरूप स्कंधपर्याय का अभाव है इसलिये उसमें कर्णइंद्रियसम्बन्धी ग्राह्यता नहीं है, किन्तु उसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्णगुण विद्यमान हैं, इसलिये परमाणु के स्पर्श आदि गुणों में स्पर्शनादि इंद्रियों द्वारा ग्राह्यता है ।

यह बात सत्य है कि पुद्गल में शब्दरूप परिणमन करने की शक्ति है, अन्य पाँचद्रव्यों में अर्थात् जीव, घर्म, अधर्म, आकाश, कालद्रव्यों में शब्दरूप परिणमन करने की शक्ति नहीं है, इसीलिये 'शब्द' पुद्गल की पर्याय है । किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि प्रत्येक पुद्गलद्रव्य में शब्दरूप परिणमन करने की शक्ति है । यदि ऐसा मान लिया जाय तो अव्यवस्था हो जायगी । उपादान का नियम न ठहरे । यद्यपि मृत्तिका और तन्तु दोनों पुद्गल हैं, किन्तु मृत्तिका में घटरूप परिणमन शक्ति है, तन्तु में घटरूप परिणमनशक्ति नहीं है इसीप्रकार भाषा-वर्णनाओं में शब्दरूप परिणमन करने की शक्ति है अन्य पुद्गल २२ वर्णनाओं में शब्दरूप परिणमन करने की शक्ति नहीं है, अन्यथा कार्माणवर्णना भी शब्दरूप परिणम जायेगी, मृत्तिका से पट (कपड़ा) बन जायगा और तन्तु से घट बन जायगा ।

पुद्गल परमाणु में शब्दरूप परिणमन करने की शक्ति नहीं है । बन्ध होने पर जब पुद्गल परमाणुओं का समूह भाषावर्णारूप परिणम जाता है तब उनमें शब्दरूप परिणमन करने की पर्याय-शक्ति उत्पन्न हो जाती है ।

—छं. ग. 7-2-66/X/ट. ला. जैन

परमाणु में स्पर्शादि चारों गुण व्यक्त हैं स्कन्ध में कोई गुण व्यक्त तथा कोई अव्यक्त होते हैं

शंका—“किन्हीं परमाणुओं में कोई गुण व्यक्त होता है और किन्हीं में कोई गुण अव्यक्त रहता है” ऐसा 'जैन-संवेश' में लिखा है । परमाणु में रूप, रस, गंध, स्पर्श इनमें से कोई गुण व्यक्त और कोई गुण अव्यक्त रहते हैं क्या ? कैसे ?

समाधान—परमाणु में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण में चारों गुण व्यक्त रहते हैं । इनमें से कोई भी अव्यक्त नहीं रहता है । परमाणु जब पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुरूप स्कन्ध में परिणमन कर जाता है तब उसमें कोई गुण मुख्य (व्यक्त) हो जाता है और कोई गुण गौण (अव्यक्त) हो जाता है । स्पर्शगुण के ग्राह्य भेद हैं स्निग्ध-रूक्ष, शीत-उष्ण, हल्का-भारी, कोमल-कठोर । स्पर्शगुण के इन चार युगलों में परमाणुओं में स्निग्ध-रूक्ष शीतोष्ण, ये दो युगल पाये जाते हैं और हल्का-भारी तथा कोमल कठोर इन दो युगलों का अभाव है । बंध होने पर स्कन्ध अवस्था

में हलका-भारी कोमल-कठोर ये गुण उत्पन्न होंगे। द्रव्याधिकनय की अपेक्षा से सत् का नाश और असत् का उत्पाद नहीं होता, किन्तु पर्यायाधिकनय की अपेक्षा से सत् का विनाश और असत् का उत्पाद होता रहता है। श्री कुन्दकुन्द भगवान ने कहा भी है—

एषां सदो विनासो असदो, जीवस्य होई उत्पादो ।

इति जिणवरेहि भणितं, अण्णोणविरुद्धमविरुद्धं ॥ ५४ ॥

भावों के द्वारा जीव के सत् का विनाश और असत् का उत्पाद होता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। पूर्व में जो यह कहा गया है कि सत् का विनाश नहीं होता और असत् का उत्पाद नहीं है, यद्यपि यह कथन उसके विरुद्ध है तथापि नय विवक्षा से विरुद्ध नहीं भी है अर्थात् द्रव्याधिकनय से सत् द्रव्य का विनाश और असत् द्रव्य का उत्पाद नहीं होता, किन्तु पर्यायाधिकनय से सत् पर्याय का नाश और असत् पर्याय का उत्पाद होता है। दोनों नय परस्पर सापेक्ष हैं।

जिनके मात्र द्रव्याधिकनय का एकान्त है अर्थात् ऐसे एकान्त मिथ्यादृष्टियों के मत में असत् का उत्पाद और सत् का विनाश नहीं होता। किन्तु स्याद्वादियों को दोनों इष्ट हैं, उनको किरा का एकान्त आग्रह नहीं है।

द्रव्याधिकनय की अपेक्षा पुद्गलपरमाणु का उत्पाद भी नहीं है और विनाश भी नहीं है, किन्तु पर्यायाधिकनय से बंध हो जानेपर स्कन्ध अवस्था में परमाणु अवस्था (पर्याय) का नाश हो जाता है और स्कन्ध से पृथक् होने पर अर्थात् भेद होने पर परमाणु का उत्पाद होता है। तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५ में कहा भी है “भेदावणुः” परमाणु अचाक्षुष है, किन्तु स्थूल स्कन्धपर्याय होने पर चाक्षुष हो जाता है। परमाणु में हलका-भारी कोमल-कठोर स्पर्शगुणों का अभाव है, किन्तु स्कन्धपर्याय में ये गुण उत्पन्न हो जाते हैं। परमाणु में ये गुण अव्यक्त भी नहीं हैं। यदि परमाणु में कोमल-कठोर हलका-भारी अव्यक्त होते तो केवलज्ञानी को तो ये व्यक्तरूप से दिखाई देते, किन्तु सर्वज्ञ ने परमाणु में कोमल-कठोर हलका-भारी गुणों का अभाव बतलाया है।

—जं. ग. 7-2-66/IX/ ट. ला. जंन

परमाणु की स्तिग्धता-रूक्षता की हानि-वृद्धि भी शुद्ध परिणमन है

शंका—जब जघन्य अंशवाला शुद्ध परमाणु दो अंशरूप परिणमता है तो निमित्त कौन होता है? एषां यह परिणमन स्वभाव है अथवा विभाव?

समाधान—जब जघन्य अंशवाला परमाणु दो अंशरूप परिणमता है तो उस परिणमन में कालद्रव्य निमित्त होता है। पंचास्तिकाय में कहा भी है—

“पुद्गलानां सक्रियत्वस्य बहिरंग साधनं परिणाम निर्वर्तकः काल इति ते कालकरणाः ।”

(गाथा ९८ टीका)

अर्थ—पुद्गलों को सक्रियपने का बहिरंग साधन परिणाम निष्पादककाल है, इसलिये पुद्गल कालकरण वाले हैं।

परमाणु के गुणों में जो परिणमन होता है। वह स्वभाव परिणमन है।

‘शुद्ध परमाणुरूपेणावस्थानं स्वभावद्रव्यपर्यायः वर्णादिभ्यो वर्णान्तराविपरिणमनं स्वभावगुणपर्यायः ।’

(पंचास्तिकाय गाथा ५ की टीका)

अर्थ—शुद्ध परमाणुरूप से रहना सो स्वभावद्रव्यपर्याय है। शुद्धपरमाणु में वर्णादि से अन्य वर्णादिरूप परिणमना स्वभावगुणपर्याय है।

परमाणु शुद्धद्रव्य है, अतः उसके गुण भी शुद्ध हैं, अतः उन गुणों में जो परिणमन होता है वह स्वभाव-परिणमन है। जब वह परमाणु अन्य परमाणु के साथ बन्ध को प्राप्त हो जाता है तो वह द्व्यणुक आदि स्कन्धरूप अशुद्धपुद्गलद्रव्यपर्याय हो जाती है अतः उसके गुण भी अशुद्ध हो जाते हैं और उन गुणों का परिणमन भी विभाव परिणमन होता है।

इसीप्रकार आत्मा की भी संसार अवस्था में पौद्गलिक कर्मों से बन्ध के कारण असमानजाति अशुद्धद्रव्य-पर्याय हो रही है। संसारी जीव के गुण और उन गुणों का परिणमन भी अशुद्ध हो रहा है, क्योंकि आत्मद्रव्य अशुद्ध हो रहा है। द्रव्य के शुद्ध होने पर गुण शुद्ध होंगे और द्रव्यपर्याय व गुणपर्यायें शुद्ध होंगी।

जबतक परमाणु बन्ध को प्राप्त नहीं हुआ अर्थात् अबन्ध अवस्था है वह स्वयं शुद्ध है और उसके गुणों का परिणमन स्वाभाविक परिणमन है।

—जै. ग. 15-1-70/VII/ राजकिशोर

वनस्पति के कारण को कारण परमाणु नहीं कहा

शंका—नियमसार गाथा २५ में कहा है 'जो पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु का कारण है, वह कारण परमाणु है' जो वनस्पति का कारण है, उसे कारण परमाणु क्यों नहीं कहा जबकि वनस्पतिरूप स्कन्ध का भी कारण नियम से परमाणु ही है।

समाधान—नियमसार गाथा २५ इस प्रकार है—

धातुत्तवत्कस पुणो जं हेऊ कारणंति तं रोयो । खंधाणां अवसाणो णावस्वो कज्जपरमाणु ॥२५॥ नि. सा. चार धातुओं का जो कारण है, उसको कारण परमाणु कहा है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये चार धातुयें मानी गई हैं। इन चारों धातुओं का कारणपरमाणु एक ही प्रकार का है। जैसा बाह्य निमित्त मिलता है वह परमाणु उस धातुरूप परिणम जाता है। चार धातुओं के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के परमाणु कारण नहीं हैं जैसा कि अन्य मतवालों ने माना है। परमाणु एक ही प्रकार का है, वह बाह्य निमित्तों के कारण पृथ्वी, जल, अग्नि-वायुरूप परिणमन कर जाता है। वनस्पति धातु नहीं है। वनस्पति के लिये पृथ्वी आदि धातुएँ कारण होती हैं। अतः वनस्पति के लिए जो कारण है, उसे कारण परमाणु नहीं कहा गया।

—पद्माधार/ ज. ला. जैन, भीण्डर

स्कन्ध व परमाणु दोनों द्रव्य हैं। सर्व परमाणुओं की समान पर्यायें नहीं होती हैं

शंका—पुद्गलद्रव्य परमाणु को कहा या स्कन्ध को? यदि स्कन्ध भी पुद्गलद्रव्य है तो क्या वह शुद्ध है? क्या प्रत्येक परमाणु में एकही शक्ति होती है?

समाधान—परमाणु भी पुद्गलद्रव्य है और स्कन्ध भी पुद्गलद्रव्य है।

“अणवस्कन्धाश्च ॥२५॥ (तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ५)

इस सूत्र द्वारा अणु और स्कन्ध दोनों को पुद्गलद्रव्य बतलाया है। परमाणु पुद्गल की शुद्धपर्याय अर्थात् स्वभावपर्याय है। स्कन्ध पुद्गलद्रव्य की विभावपर्याय अर्थात् अशुद्धपर्याय है। पंचास्तिकाय में कहा भी है—

“शुद्धपरमाणु रूपेणावस्थानं स्वभावद्रव्यपर्यायः वर्णादिभ्यो वर्णान्तरादिपरिणमनं स्वभावगुणपर्यायः, द्व्यणुकादिस्कन्धरूपेण परिणमनं विभावद्रव्यपर्यायः तेष्वेव द्व्यणुकादिस्कन्धेषु वर्णान्तरादिपरिणमनं विभावगुणपर्यायः।”
(पंचास्तिकाय गाथा ५ की टीका)

शुद्धपरमाणु पुद्गल की स्वभावद्रव्यपर्याय है और द्व्यणुक आदि स्कन्ध पुद्गल की विभाव अर्थात् अशुद्धपर्याय है।

सर्व परमाणुओं में गुणपर्याय एक प्रकार की नहीं होती है। कोई परमाणु स्निग्ध है, कोई रूक्ष है। कोई परमाणु शीत है, कोई परमाणु उष्ण है। इसीप्रकार रस, गंध, वर्णगुणों की पर्यायों में भी अन्तर सम्भव है।

—ज. ग. 13-8-70/IX/

१. परमाणु स्वयं अशब्द है

२. एक पर्याय में दूसरी पर्याय नहीं होती

शंका—परमाणु जब स्पर्श, रस, गंध, वर्णवाला है तो वह शब्दरूप क्यों नहीं परिणमन करता है ?

समाधान—पुद्गल की अणु और स्कन्ध ये दो पर्याय हैं। श्री कुं बकुंदाचार्य ने नियमसार में कहा भी है—

अणुणिरावेक्षो जो परिणामो सो सहावपज्जावो ।

खंघसरूपेण पुणो परिणामो सो विहावपज्जावो ॥२८॥

संस्कृत टीका—परमाणुपर्यायः पुद्गलस्य शुद्धपर्यायः। स्कन्धपर्यायः स्वजातीयबन्धलक्षणलक्षित्वाव-
शुद्धः इति ॥

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि अन्यद्रव्य निरपेक्ष होने से परमाणुरूप पर्याय पुद्गल की स्वभाव अर्थात् शुद्धपर्याय है। स्वजातीयबंध के कारण स्कन्धरूप पर्याय पुद्गल की विभाव अर्थात् अशुद्धपर्याय है।

अणुरूप पर्याय में स्कन्धरूप पर्याय का अभाव है, क्योंकि भिन्न-भिन्न पर्यायों में परस्पर इतरेतरअभाव होता है। कहा भी है—

सर्वात्मकं तत्रेकं स्यावग्यापोह्यतिक्रमे ।

अन्यप्रसमवाये न व्यपदिश्येत सर्वथा ॥१०५॥ (जयधवल पु. १ पु. २५१)

श्री पं० कैलशचन्द्रजी कृत अर्थ—एकद्रव्य की एकपर्याय का उसकी दूसरी पर्याय में जो अभाव है उसे अव्यापोह या इतरेतराभाव कहते हैं। इस इतरेतराभाव के अपलाप करने पर प्रतिनियत द्रव्य की सभी पर्यायें सर्वात्मक हो जाती हैं। विशेषार्थ—आशय यह है कि इतरेतराभाव को नहीं मानने पर एकद्रव्य की विभिन्न पर्यायों में कोई भेद नहीं रहता, सब पर्यायें सब रूप हो जाती हैं।

जिससमय परमाणुरूप पर्याय है उससमय स्कन्धरूप पर्याय नहीं है, क्योंकि पर्यायें क्रम-क्रम से होती हैं। कहा भी है—

क्रमवर्तिनः पर्यायाः ॥९२॥ (आलापपद्धति)

क्रमभाविनः पर्यायाः (तयचक्र पृ. ५७)

शब्द स्कन्धरूप पर्याय है, जैसा कि श्री कुंभकुंदाचार्य ने पंचास्तिकाय में कहा है—

सहो खंधप्पभवो, खंधो परमाणुसंगसंघादो ।

पद्वेसु तेषु जायति, सहो जप्पाविगो गियदो ॥७९॥

श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका—“इह हि बाह्य अवशेन्द्रियावलम्बितो भावेन्द्रियपरिच्छेद्यो हवतिः शब्दः । स खलु स्वरूपेणानंतपरमाणुनामेकस्कंधो नाम पर्यायः ।”

श्री जयसेनाचार्य कृत टीका—“द्विविधा स्कंधा भवन्ति भाषावर्गणायोग्या ये तेऽभ्यंतरे कारणभूताः सूक्ष्मास्ते च निरंतरं लोके तिष्ठन्ति, ये तु बहिरंगकारणभूतास्तत्त्वोच्छुद्धव्यापारघंटाभिघातमेघादयस्ते स्पूलाः क्वापि क्वापि तिष्ठन्ति न सर्वत्र यत्रेयमुभयसामग्री समुविता तत्र भाषावर्गणाः शब्दरूपेण परिणमन्ति न सर्वत्र ।”

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि शब्द स्कन्ध—प्रभव है अर्थात् भाषावर्गणारूप स्कंध की पर्याय है और अनन्तपरमाणुओं के परस्पर बंध होने पर अर्थात् एकीभाव को प्राप्त होने पर भाषा-वर्गणारूप स्कंध होता है, क्योंकि ‘एकीभावो बन्धः’ एकीभाव को प्राप्त होना बंध है ये भाषा वर्गणार्थे संसार में सर्वत्र तिष्ठ रही हैं । किन्तु भाषावर्गणा को शब्दरूप परिणमाने में बहिरंग कारण ओंठ आदि का व्यापार तथा घंटा आदि का हिलना व मेघादिक का संयोग लोक में सर्व ठिकाने नहीं है, कहीं—कहीं पर है । जहाँ पर यह बहिरंग कारण मिलता है वहाँ पर ही भाषावर्गणा शब्दरूप परिणम जाती है ।

आदेशमेतमुत्तो घावुचक्रुकस्त कारणं जो दु ।

सो ऐओ परमाणु, परिणामगुणो सयमसहो ॥७८॥

परमाणु आदेशमात्र से मूर्त है, चार वातुओं का (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि) कारण है, परिणामन स्वभाववाला है (वर्ण से वर्णान्तर, रस से रसान्तर इत्यादि) और स्वयं अशब्द है (भाषावर्गणारूप स्कंध न होने से परमाणु शब्दरूप नहीं परिणम सकता) ।

अपदेशो परमाणु पदेशमेत्तो ये सयमसहो जो ॥ १६३ ॥ [प्रवचनसार]

संस्कृत टीका—“स्वयमनेक परमाणुद्रव्यात्मकशब्दपर्यायव्यक्त्यसंभवावशब्दश्च ।”

परमाणु अप्रदेशी है तथा प्रदेशमात्र है और अनेक परमाणुद्रव्यात्मक स्कंधरूप शब्द पर्यायरूप स्वयं परिणामन न होने से अशब्द है ।

परमाणुरूप पर्याय में भाषावर्गणारूप स्कन्धपर्याय का अभाव होने से परमाणु स्वयं अशब्द है ।

—जै. ग. 6-7-72/IX/ ट. ला. जैन

शब्द गुण नहीं है, किन्तु पर्याय है

शंका—शब्द को यदि गुण माना जाय तो क्या यह योग्य नहीं है ?

समाधान—शब्द को यदि गुण माना जाय तो उसका कभी नाश नहीं होना चाहिये। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण के सब शब्द भी पुद्गल की प्रत्येक अवस्था में रहना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं है। स्कन्धों के परस्पर टकराने से शब्द उत्पन्न होता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा भी है—

सध्वेसि खंघाणं जो अंतो तं वियाण परमाणू ।
 सो सस्सदो असदो एक्को अविभागे मुत्तिभवो ॥७७॥
 भादेसमेत्तमुत्तो धादुच्चदुक्कस्स कारणं जो द्दु ।
 सो ऐओ परमाणू परिणामगुणो संघमसदो ॥७८॥
 सहो खंधप्पभवो परमाणु संगसंघादो ।
 पुट्ठेसु तेसु जायवि सहो उप्पाविणो णियदो ॥७९॥ पंचास्तिकाय

यहाँ पर गाथा ७७ व ७८ में यह बतलाया गया है कि परमाणु स्वयं अशब्द है। गाथा ७९ में बतलाया है कि शब्द स्कन्धजन्य है। स्कन्धों के परस्पर टकराने से शब्द उत्पन्न होता है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—“शब्दयोग्यवर्गणाभिरन्योन्यमनुप्रविश्य समंततोऽभिव्याप्य पूरितेऽपि सकले लोके यत्र सत्र बहिरंगकारणसामग्रीसमुद्भेति तत्र तत्र ताः शब्दत्वेन स्वयं विपरिणमत इति शब्दस्य नियतमुत्पाद्यत्वात् स्कंधप्रभवत्वमिति ।” [पं० का० गा० ७९ तं वी०]

शब्दयोग्य वर्गणाओं से समस्त लोक भरपूर होने पर भी जहाँ—जहाँ बहिरंग कारणसामग्री उदित होती है वहाँ—वहाँ वे भाषा वर्गणाएँ शब्दरूप से स्वयं परिणमित होती हैं। इसप्रकार शब्द अवश्य ही उत्पाद्य है इसलिये वह स्कन्ध-जन्य है।

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि शब्द के योग्य पुद्गलवर्गणाएँ अर्थात् शब्द का उपादानकारण तो लोक में सर्वत्र है, किन्तु निमित्त—कारण के अभाव में वे उपादान—कारणरूप वर्गणाएँ शब्दरूप स्वयं नहीं परिणम सकतीं। जहाँ जहाँ निमित्तकारण मिलता है वहाँ—वहाँ वह उपादानकारणरूप वर्गणा ही शब्दरूप परिणमती हैं, अन्य पुद्गल स्कन्ध शब्दरूप नहीं परिणमता इसलिये स्वयं परिणमती हैं ऐसा कहा गया है। अंतरंग और बहिरंग कारणों से शब्द की उत्पत्ति होती है, इसलिये शब्द गुण नहीं हो सकता वह पर्याय है, क्योंकि गुण की उत्पत्ति या विनाश नहीं होता है।

सदो बंधो सुहुमो झूलो संठान भेदतमछाया ।
 उज्जोदादवसहिया पुगलदधवस्स पवजाया ॥ १६ ॥ द्रव्यसंग्रह

यहाँ पर ‘सदो’ शब्द द्वारा यह बतलाया गया है कि शब्द पुद्गलद्रव्य की पर्याय है इससे शब्द के गुण होने का निषेध हो जाता है।

—जै. ग. 15-6-72/VII/ टी. ला. जैन

पुद्गल परमाणु में वैभाविक पर्याय शक्ति नहीं है

तर्का—परमाणु पुद्गलद्रव्य की स्वभावपर्याय है तथा द्रव्यक आवि पुद्गल की विभावद्रव्यपर्याय है। यदि पुद्गल में विभावशक्ति न होती तो पुद्गलपरमाणु का बन्ध होकर विभावरूप परिणमन नहीं हो सकता था। अतः पुद्गलद्रव्य में वैभाविकद्रव्यशक्ति है ऐसा क्यों न माना जाय ?

समाधान—परमाणु के बन्ध का कारण स्निग्ध व रूक्ष गुण है । कहा भी है—

“स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः ॥५।३॥” (तत्त्वार्थ सूत्र)

स्निग्धत्व और रूक्षत्व के कारण पुद्गलपरमाणुओं का परस्पर बन्ध होता है और इसमें सहकारोकारण कालद्रव्य है । कहा भी है—

“खंडा खलु काल करणा बु ।”

पुद्गलपरमाणुओं का परस्पर बंध हो जाने पर द्वयणुक आदि स्कन्धरूप समानजाति-द्रव्य-पर्याय उत्पन्न हो जाती है जो विभावरूप पर्याय है ।

परमाणु में नरम, कठोर, हलका, भारी स्पर्श नहीं है, किन्तु बंध होकर स्थूल स्कन्ध बन जाने पर उनमें नरम-कठोर तथा हलका-भारी स्पर्श उत्पन्न हो जाते हैं इसीप्रकार पुद्गलपरमाणु में जल धारण करने की शक्ति या कर्णइन्द्रिय का विषय होने की शक्ति नहीं है, किन्तु पुद्गल परमाणुओं का बन्ध होकर घटरूप परिणामन होने पर जल धारण करने की नवीन पर्यायशक्ति उत्पन्न हो जाती है तथा भाषावर्गणास्कन्धरूप परिणामन होने पर कर्ण-इन्द्रिय का विषय होने की नवीन पर्यायशक्ति उत्पन्न हो जाती है । घटपर्याय का व्यय हो जाने पर जल-धारण करने की पर्यायशक्ति नष्ट हो जाती है । भाषावर्गणारूप स्कन्ध का विघटन हो जाने पर कर्ण-इन्द्रिय के विषय होने की शक्ति का भी अभाव हो जाता है । इसप्रकार पर्यायशक्ति उत्पन्न होती रहती है, और विनष्ट होती रहती है । परमाणुओं का परस्पर बंध हो जाने पर पुद्गलपरमाणुरूप शुद्धपर्याय का अभाव होकर (व्यय होकर) स्कन्धरूप अशुद्धपर्याय उत्पन्न हो जाती है । और विभावरूप परिणामन होने लगता है । विभावरूप परिणामन को वैभाविक-शक्ति भी कह दिया तो कोई विशेष आपत्ति नहीं है, किन्तु अशुद्धद्रव्य की पर्यायशक्ति है द्रव्यशक्ति नहीं है । अशुद्ध-पर्याय का व्यय होने पर और अशुद्धपर्याय का उत्पाद होने पर इस पर्यायशक्ति का भी अभाव हो जाता है । किसी भी आर्षग्रन्थ में वैभाविक-द्रव्यशक्ति का उल्लेख नहीं है फिर उसको कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? पर्यायशक्ति के लिये प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० २०० देखना चाहिये ।

—पं० ग. 25-6-70/VII/ का. ना. फोठारी

पुद्गलों (परमाणुओं) के बन्ध का नियम एवं मतवैभिन्य

शंका—परमाणु के बन्ध के विषय में तत्त्वार्थसूत्रकार से धवल का मत भिन्न है या तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकारों से धवल का मत भिन्न है ? सर्वार्थसिद्धि में सम्पादक पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री ने पृ० २३० पर बताया है कि “तत्त्वार्थसूत्र [५।३३-३७] एवं प्रवचनसार [गाथा १६६ की टीकाद्वय] का मत एक है, परन्तु बटखंडा-गम [धवल पु० १४ पृ० ३३ गाथा ३६] में कही गई बन्ध-व्यवस्था इससे कुछ भिन्न है ।” इस पर विशेष स्पष्टीकरण देने की कृपा करें ।

समाधान—‘तत्त्वार्थसूत्र’ में परमाणुओं के बन्ध होने में दो सूत्र [निषेधात्मक] हैं । जघन्य गुण (अविभाग प्रतिच्छेद) वाले परमाणुओं का बन्ध नहीं होता । दूसरे, जिन सदृशपरमाणुओं के गुणसमान हों उनका परस्पर बन्ध नहीं होता । सदृश परमाणुओं में यदि दो गुण अधिक हों तो बन्ध हो सकता है । रूक्ष व रूक्ष परस्पर सदृश हैं । स्निग्ध व स्निग्ध परस्पर सदृश हैं, किन्तु रूक्ष व स्निग्ध परस्पर सदृश नहीं हैं, किन्तु विदृश हैं ।

परन्तु श्री पूज्यपाद आचार्य और इनके पश्चात् होने वाले अकलंकदेव आदि ने भी "सदुश" को गीण करके 'सदश तथा विदश दोनों में गुणों की समानता होने पर बन्ध नहीं होता" ऐसा अर्थ कर दिया है। परन्तु मूल सूत्रकार के सूत्र से यह अर्थ नहीं निकलता। अपने अभिप्राय को प्रकट करने के लिए शब्द ही माध्यम है। शब्दों का जो अर्थ होता है वही ग्रन्थकार का अभिप्राय है।

'धवल' से तत्त्वार्थसूत्रकार का मत भिन्न नहीं है, किन्तु टीकाकारों का मत भिन्न है; ऐसा पं० फूलचन्द्रजी सा० को लिखना चाहिए था। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी 'तत्त्वार्थसूत्र' पर 'तत्त्वार्थसार' लिखा है। उन्होंने भी श्री पूज्यपादाचार्य को Follow किया है। श्री वीरसेनाचार्य ने श्री पूज्यपाद को Follow नहीं किया, किन्तु मूल ग्रन्थकर्ता (उमास्वामी) के शब्दों का अर्थ किया है।

अथवा इस सम्बन्ध में आचार्यों के दो भिन्न मत हैं। "जघन्यगुण और दो गुण अधिक" समझने के लिए धवल पु० १४ पृ० ४५० व ४५१ देखने चाहिए।

—पृ 15-4-79/ ज. ला. जैन, भीण्डर

शंका—'तत्त्वार्थसूत्र' का 'धवला' से बन्धनियमविषयक मतभेद हो, ऐसा नजर नहीं आता। "सदृशानां" शब्द भी अवलोकनीय है। इस विषय में कृपया आप स्पष्टीकरण दें। साथ ही धवलाकार के मतानुसार विदशों में जब समगुणबन्ध एवं अद्वयधिक बन्ध स्वीकृत है तो "बन्धेऽधिको पारिणमिको च [५।३७ त० सू०]" यह सूत्र वहाँ क्या काम करेगा? समझाने की कृपा करें।

समाधान—परमाणुओं के परस्पर बन्ध के विषय में जो धवलाकार का [ध० पु० १४ में—वर्णना खण्ड में] मत है वही मत तत्त्वार्थसूत्रकार का है। किन्तु श्रीमत्पूज्यपाद आदि आचार्यों का भिन्न मत है। 'तत्त्वार्थसूत्र', अध्याय ५ में सूत्र ३३ से ३७ तक परमाणुओं के परस्पर बन्ध का नियम बताया गया है। सूत्र ३३ में कहा गया है कि स्निग्ध व रूक्षगुण के कारण परमाणुओं का परस्पर बन्ध होता है। ३४ वें एवं ३५ वें सूत्र में यह बताया गया है कि किन-किन अवस्थाओं में परमाणुओं का परस्पर बन्ध सम्भव नहीं है। चौतीसवें सूत्र में बताया गया है कि जब स्निग्ध या रूक्षगुण के अविभागप्रतिच्छेद घटकर इतने कम हो जाते हैं कि उनमें बन्धशक्ति का अभाव हो जाता है तो उन परमाणुओं का बन्ध नहीं होता। जब स्निग्ध या रूक्षगुण के अविभागप्रतिच्छेद बढ़कर जघन्यतर हो जाते हैं तो उनमें बन्ध शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है और उनका बन्ध सम्भव हो जाता है। पैतीसवें सूत्र में बताया है कि यदि वे परमाणु सदृश हैं—अर्थात् एक परमाणु स्निग्ध है और दूसरा परमाणु भी स्निग्ध है [अथवा एक परमाणु रूक्ष है और दूसरा परमाणु भी रूक्ष है] तथा उन दोनों परमाणुओं के अविभागप्रतिच्छेद भी समान हों तो उनका परस्पर बन्ध नहीं होता। गुणों (अविभागप्रतिच्छेदों) की समानता का नियम विदश (स्निग्ध का रूक्ष या रूक्ष का स्निग्ध के साथ) बन्ध में बाधक नहीं है। यदि गुण-समानत्व का नियम विदशों में भी बन्ध का बाधक हो जावे तो सूत्र ३५ में प्रयुक्त 'सदृशानाम्' शब्द निरर्थक हो जायगा। छतीसवें सूत्र में बताया गया है कि सदृशों [स्निग्ध का स्निग्ध के साथ अथवा रूक्ष का रूक्ष के साथ] का बन्ध दो गुण अधिक होने पर ही सम्भव है।

सैंतीसवें सूत्र में यह बताया गया है कि बन्ध होने पर अधिक गुणवाले रूप परिणमन हो जायगा। स्निग्ध का स्निग्ध के साथ या रूक्ष का रूक्ष के साथ होने पर हीनगुण (अविभाग प्रतिच्छेद) वाला परमाणु भी अधिक स्निग्ध या अधिक रूक्ष हो जावेगा। इसीप्रकार स्निग्ध व रूक्ष परमाणुओं का परस्पर बन्ध होने से यदि दोनों के

अविभाग प्रतिच्छेद समान हैं तो उनके गुणों में परिणामन नहीं होगा। यदि दोनों के अविभागप्रतिच्छेद असमान हों तो हीनगुण वाला परमाणु अधिकगुण वाले परमाणुरूप परिणामन करेगा। इसप्रकार सैतीसवाँ सूत्र बन्ध-अबन्ध का नियामक नहीं है। इसमें तो यह बताया गया है कि हीनाधिक गुणवाले परमाणुओं का परस्पर बन्ध होने पर कंसा परिणामन होता है।

—पताघाट/अग्रत ८७/ ज. ला. जैन, भीण्डर

ज्ञानावरणादि कर्मों की तीस कोड़ाकोड़ी सागर स्थिति कैसे सम्भव है ?

शंका—सर्वासिद्धि ग्रन्थ अ० ५ सूत्र ७ की टीका की अन्तिम पंक्ति में लिखा है—“उक्त विधि से बन्ध के होने पर ज्ञानावरणादि कर्मों की तीसकोड़ाकोड़ीसागर स्थिति बन जाती है।” तीसकोड़ाकोड़ीसागर की स्थिति कैसे सम्भव है ? क्या द्वि-अधिक गुण परमाणु ३० कोड़ाकोड़ीसागर तक गुणान्तर को संक्रमण नहीं करते ?

समाधान—‘तत्त्वार्थसूत्र’ अ० ५ में सूत्र ३३ से ३७ परमाणुओं के परस्पर बन्ध का कथन है। परस्पर स्कन्धों के बन्ध का या जीव पुद्गल के परस्पर बन्ध का कथन नहीं है। “बन्ध के समय दो अद्विक गुणवाला परमाणु परिणामन कराने वाला होता है।” ऐसा ३७ वें सूत्र में कहा गया है। ‘बन्ध’ की व्याख्या करते हुए श्री पूज्यपावाचार्य ने कहा है—“पूर्वावस्थाप्रच्यवनपूर्वकं तार्तीयिकमवस्थान्तरं प्राकुर्भन्वतीत्येकत्वमुपपद्यते। इतरथा हि शुक्लकृष्णतन्तुवत् संयोगे सत्यप्यपारिणामिकत्वात्सर्वा विविक्तरूपेणैवव्यतिष्ठते। उक्तेन विधिना बन्धे पुनः सति ज्ञानावरणादीनां कर्मणां त्रिंशत्सागरोपमकोटाकोट्यादिस्थितिरुपपन्ना भवति।” इसका अर्थ श्री पण्डित कुलचन्द्रजी ने इसप्रकार किया है—

“इससे पूर्व अवस्थाओं का त्याग होकर उनसे भिन्न एक तीसरी अवस्था उत्पन्न होती है। अतः उनमें एकरूपता आजाती है। अन्यथा सफेद और काले तन्तु के समान संयोग के होने पर भी पारिणामिक न होने से सब भ्रमल-अलग ही स्थित रहेंगे। उक्त विधि से बन्ध के होने पर ज्ञानावरणादि कर्मों की तीसकोड़ाकोड़ीसागरोपम स्थिति बन जाती है।”

यहाँ बन्ध और संयोग का अन्तर दिखलाया गया है। बन्ध के होने पर पारिणामिकता होने से उन दोनों द्रव्यों में एकरूपता आजाती है। त० सू० २।७ की टीका में प्राचीन गाथा उद्धृत की गई है। जिसमें लिखा है— बंधं पडि एयत्तं लवखणबो तस्स ह्यइ णाणत्तं।” अर्थात् बन्ध की अपेक्षा पीद्गलिक कर्मों और आत्मा में एकरूपता आजाती है। किन्तु लक्षण की अपेक्षा उन दोनों में नानारूपता है। मात्र संयोग होने पर पारिणामिक न होने से एकरूपता नहीं आती। इस एकरूपता को समझाने के लिए आचार्य महाराज ने ज्ञानावरणादि कर्म और जीव के परस्पर बन्ध का दृष्टान्त दिया है। एकरूपता हो जाने के कारण कर्मों की ३० कोड़ाकोड़ीसागर स्थिति बन जाती है। स्पर्शादि गुणों में परिणामन होने पर भी ज्ञानावरणादि कर्मावस्था ३० कोड़ाकोड़ीसागर तक बनी रहती है। उसमें कोई बाधा नहीं आती। जैसे मेरुपर्वत अनादिकाल से स्थित है।

—पताघाट 1978/ ज. ला. जैन, भीण्डर



पुद्गल : स्कन्ध

स्कन्ध रूप परिणामे बिना शब्द पर्याय नहीं उत्पन्न होगी

शंका—बन्ध होने पर क्या कोई नवीनता आ जाती है ?

समाधान—बन्ध होने पर एक तीसरी ही विलक्षण अवस्था होकर एक स्कन्ध बन जाता है। श्री अकलंक-देव ने भी कहा है—'पूर्वावस्था प्राच्यवपूर्वकं तार्तीयकमवस्थान्तरं प्रादुर्भवतीत्येक स्कन्धत्वमुपपद्यते।' इस प्रकार अनन्त परमाणुओं के बंध होने पर भाषा वर्णरूप स्कन्ध की एक तीसरी विलक्षण अवस्था हो जाती है। जिसमें शब्दरूप परिणामन करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। बंध के द्वारा तीसरी विलक्षण अवस्था को प्राप्त हुए बिना मात्र परमाणु शब्दरूप नहीं परिणामन कर सकता।

—जै. ग. 7-2-66/X/ र. ला. जैन

पुद्गल के भेद : छाया एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजी नहीं जाती

शंका—स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २०६ की संस्कृत टीका में लिखा है—'छाया बावरसूक्ष्मम्, यच्छेत् भेत्सुम् अन्यत्र नेतुम् अशक्यं तद्बावरसूक्ष्ममिदमर्थः अर्थात् छाया को बावरसूक्ष्म कहा है, क्योंकि जो छेदा-भेदा न जा सके और न एक जगह से दूसरी जगह लेजाया जा सके उसे बावरसूक्ष्म कहते हैं। अब यहाँ पर शंका होती है कि आज जो टेलीविजन में छाया भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर यंत्रों द्वारा भेजी जाती है वह कैसे सिद्ध होगा ?

समाधान—टेलीविजन में यंत्र द्वारा छाया एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं भेजी जाती। किन्तु छाया को यंत्रों द्वारा Electric Waves में संक्रमण करके Electric Waves एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाती हैं जहाँ पर Electric Waves को यंत्रों द्वारा पुनः छायारूप में संक्रमण कर देते हैं। छाया भी पुद्गल है और Electric Waves भी पुद्गल हैं, अतः इन दोनों के परस्पर संक्रमण होने में कोई बाधा नहीं आती।

—जै. ग. 17-5-62/VII/ नामकघन्द

पुद्गल द्रव्य के गमन में धर्म व काल कारण हैं

शंका—पुद्गल के गमन में धर्म सहकारी कारण है, किन्तु द्रव्यसंग्रह में काल को भी लिखा है तो कैसे ?

समाधान—जीव और पुद्गल के गमन में धर्मद्रव्य साधारण सहकारी कारण है यह बात सत्य है, किन्तु एक कार्य के होने में अनेक सहकारी कारण होते हैं। जैसे मछली के गमन में धर्मद्रव्य के अतिरिक्त जल भी सहकारी कारण होता है। 'भोक्षशास्त्र' अध्याय ५ सूत्र २२ में कालद्रव्य का उपकार बतलाया गया है। उसमें 'क्रिया' भी एक उपकार बतलाया गया है। इसी प्रकार 'पंचास्तिकाय' गाथा ९८ में भी कहा गया है। 'एक कार्य के होने में अनेक सहकारी कारण होने में कोई बाधा नहीं। 'बृहद्द्रव्यसंग्रह' गाथा २५ की संस्कृत टीका में इस शंका का समाधान स्वयं टीकाकार ने किया है वहाँ से विशेष देख लेना चाहिये।

—जै. ग. 17-5-62/VII/ रामदास

लोहे का स्वर्णरूप परिणमन

शंका—यह ठीक है, कि रसायन के योग से लोहा भी सोना बन जाता है, किन्तु जिसप्रकार अग्नि के संयोग हटने पर जल अपने वास्तविक स्वरूप पर आ जाता है। तो क्या सोना भी रसायन का प्रभाव हटने पर अपने वास्तविक स्वरूप को ग्रहण कर लेता है। यदि सोना भी अपना वास्तविक स्वरूप ग्रहण कर लेता है तो यही सिद्ध होता है कि अन्यद्रव्य की पर्याय अन्यद्रव्य को एकसमय मात्र ही प्रभावित करती है सर्वदेक्ष नहीं तथा उपचार से ही उसे सोना कह सकते हैं।

रसायन के योग से लोहा सोना बन जाना कोई आश्चर्य नहीं, किन्तु यह कितने आश्चर्य की बात है कि जो शक्तिरूप से सोना है, वह तो परके संयोग से लोहा बना हुआ है और जो शक्तिरूप से लोहा है वह परके संयोग से सोना बना हुआ है।

लोहे से सोना बनने में निमित्तकारण तथा उपादानकारण क्या है? अर्थात् स्वर्णरूप कार्य के निमित्त व उपादान एक दूसरे के प्रतिकूल हैं। आगम में कार्य की उत्पत्ति अनुकूल निमित्त अनुकूल उपादान तथा बाधक कारण के अभाव होने पर मानी है। अतः स्पष्ट करें। पुनश्च इसके अन्तर्गत बीज व भूमि का दृष्टान्त दिया, इनमें निमित्त व उपादान कौनसा है?

समाधान—रसायन के प्रयोग से जो लोहा सुवर्ण हो जाता है यह पुद्गल की द्रव्यपर्याय है और अग्नि के संयोग से जो जल का स्पर्शगुण क्षीतल से उष्णरूप परिणमन कर जाता है वह गुणपर्याय है। अग्नि का संयोग दूर हो जाने पर जल में नवीन उष्णता आनी बन्द हो गई और उसमें से उष्णता निकल कर हवा में मिलने लगी, क्योंकि भौतिक परिवर्तन था। लोहे का सुवर्ण बनने में रासायनिक परिवर्तन हो जाता है अर्थात् लोहा और रसायन ये दोनों मिलकर सुवर्णरूप परिणमन कर जाते हैं। अतः रसायन के पृथक् होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है।

—जं. ग. 17-7-69/.../ रो. ला. जैन

सोने और ताँबे का भी [बंध हो जाने पर] एकत्व सम्भव है

शंका—सोनगढ़ से प्रकाशित 'ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव' पुस्तक के पृ० ३३० पर लिखा है 'सोना और ताँबा कभी एकमेक होता ही नहीं।' क्या यह ठीक है?

समाधान—उपयुक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सोने और ताँबे का बंध हो जाने पर दोनों में एकत्व हो जाता है। श्री बीरसेन महानाथ ने कहा भी है—

“बंधो नाम बुभावपरिहारेण एयत्तावती।” धवल पु० १३ पृ० ७।

अर्थ—द्वित्व का त्यागकर एकत्व की प्राप्ति का नाम बंध है।

“एकीभावो बंधः सामीप्यं संयोगो वा युतिः।” धवल पु० १३ पृ० ३५८।

अर्थ—एकीभाव का नाम बंध है। समीपता या संयोग का नाम युति है।

इसी बात को भी पुज्यपाद आचार्य कहते हैं—

“यथा क्लिन्नो गुडोऽधिकमधुररसः परीतानां रेष्वादीनां स्वगुणापादनात् पारिणामिकः । तथाऽन्योऽप्यधिक-
गुणः अल्पीयसः पारिणामिक इति कृत्वा द्विगुणाविस्त्रिगुणरूपस्य चतुर्गुणाविस्त्रिगुणरूपस्य पारिणामिको भवति । ततः
पूर्वावस्थाप्रव्ययनपूर्वकं तार्तीयिकमवस्थानतरं प्राकृर्ष्वतीत्येकत्वमुपपद्यते । इतरथा हि शुक्लकृष्णतन्तुवत् संयोगे सत्य-
प्यपारिणामिकत्वात्सर्वं विविक्तरूपेणैवावतिष्ठते ।” सर्वार्थसिद्धि ५।३७ ।

श्री पं० कूलचन्द्रजी कृत अर्थ—जैसे अधिक मीठे रसवाला भोला गुड़ उस पर पड़ी हुई धूलि को अपने गुणरूप से परिणामाने के कारण पारिणामिक होता है, उसीप्रकार अधिकगुणवाला अन्य भी अल्पगुणवाले का पारिणा-
मिक होता है । इस व्यवस्था के अनुसार दो शक्त्यंशवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणु का चार शक्त्यंशवाला स्निग्ध
या रूक्ष परमाणु पारिणामिक होता है । इससे पूर्व अवस्थाओं का त्याग होकर उनसे भिन्न एक तीसरी अवस्था ही
प्राप्त होकर उनमें एकरूपता आ जाती है । अग्न्यथा सफेद और काले तन्तु के समान संयोग के होने पर भी पारिणा-
मिक न होने से सब अलग-अलग ही स्थित रहेगा ।

इसप्रकार यह बतलाया गया कि बंध होने पर एकत्व हो जाता है, किन्तु संयोग में एकत्व नहीं होता है ।
श्री अमृतचन्द्राचार्य भी बंध में एकत्व स्वीकार करते हैं—

बन्धं प्रतिभवत्यैश्वर्यमन्योन्यानुपवेशतः ।

युगपद् द्वावितस्वर्णशरीरप्यवज्जीवकर्मणोः ॥१८॥ तत्त्वार्थसार अ. ५

जिसप्रकार एकसाथ पिघलाये हुए सुवर्ण और चांदी का एक पिण्ड बनाये जाने पर परस्पर प्रदेशों का एक
दूसरे में प्रवेशानुप्रवेश हो जाने से एकरूपता आजाती है उसीप्रकार बंध की अपेक्षा जीव और पौद्गलिक कर्मों के
प्रदेशों का परस्पर में प्रवेशानुप्रवेश हो जाने से दोनों में एकरूपता हो जाती है ।

जो एकरूपता स्वीकार नहीं करते वे बंधतत्त्व को स्वीकार नहीं करते । बंधतत्त्व को न मानने से मोक्ष-
तत्त्व के अस्वीकारता का प्रसंग आजायागा, क्योंकि बंधपूर्वक ही मोक्ष होता है । जो बंधा नहीं उसके लिये मोक्ष का
प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है ।

मुक्तश्चेत् प्राकभेदबन्धो नो बन्धो मोचनं कथम् ।

अबन्धे मोचनं नैव मुञ्चेरथो निरर्थकः ॥

यदि जीव मुक्त होता है तो इस जीव के बन्ध अवश्य होना चाहिये, क्योंकि यदि बन्ध न हो तो मोक्ष
(छूटना) कैसे हो सकता है । अतः अबन्ध की मुक्ति नहीं हुआ करती, उसके तो मुञ्च घातु का प्रयोग ही
व्यर्थ है ।

जं. ग. 8-2-83/VII/ श्री सुलतानसिंह

टीन व प्लेटिनम मिश्रित धातुरूप हैं तथा पृथ्वीरूप ही हैं

शंका—टीन, प्लेटिनम आदि को पृथ्वी के ३६ भेदों में क्यों नहीं गिनाया ? धवल १।२७४—२७५ प्राकृत
पंचसंह १।७७ तथा मूलाचार अधिकार ५ गाथा ८—१२ अथवा गाथा २०६—२०९ में छत्तीस भेद पृथ्वियों के बताये
हैं; परन्तु उनमें टीन व प्लेटिनम के नाम नहीं कहे ।

समाधान—टीन, प्लेटिनम आदि शुद्ध धातु नहीं हैं, मिश्रित हैं; अतः पृथिवियों के ३६ भेदों में उन्हें
नहीं गिनाया ।

—पृष्ठ 13-2-79/.../ ज. मा. धन, भीण्डर

स्कन्धों का बन्ध-विधान

शंका—स्कन्धों में बन्ध किस नियम से होता है ?

समाधान—स्कन्ध में सभी आठों स्पर्श, दो गन्ध, पाँच रस एवं पाँच वर्ण होते हैं। दो स्कन्धों में परस्पर बन्ध के लिए द्व्यधिकगुण का नियम नहीं है। उनमें परस्पर बन्ध रासायनिक नियम से हो जाता है।^१

—पृष्ठ 16-2-78/ / ज. ला. जैन, भीण्डर

पुद्गल स्कन्ध कालकरण है, जीव पुद्गलकरण है

शंका—पंचास्तिकाय तथा ९८ में पुद्गलों को कालकरण कहा, पर जीव को कालकरण नहीं कहा क्यों ?

समाधान—जीव स्वभाव से निष्क्रिय है। कर्मादय के कारण जीव में गति होती है, जो विभाव है। समयसार, आत्मस्थिति टीका के अन्त में परिशिष्ट में ४७ शक्तियों का कथन है। [उसमें जीव के गति या क्रियावती शक्ति नहीं कही गई; निष्क्रियत्व शक्ति (२३ वीं शक्ति) तो कही है] अतः जीव की गति में कालद्रव्य को कारण न कह कर पुद्गल द्रव्य को कारण कहा है। [पं० का० ९८] यदि मात्र धर्म द्रव्य व कालद्रव्य को कारण कहा जाता तो पुद्गल [अर्थात् शुद्धपुद्गल] के समान जीव (शुद्ध जीव) में भी गति के नित्य सद्भाव का प्रसंग आ जायगा। अतः जीव को कालकरण न कहकर "पुग्गलकरणा" अर्थात् पुद्गलकरण कहा है।

—पृष्ठ 21-4-80/.../ ज. ला. जैन, भीण्डर

पुद्गलों की विभाव पर्याय काल-प्रेरित होती है

शंका—पुद्गलद्रव्य की विभावपर्याय कालप्रेरित होती है। सो कालप्रेरित से क्या अभिप्राय है ?

समाधान—पुद्गलद्रव्य में बंध के कारण विभावपर्याय होती है। पुद्गल में बन्ध स्निग्ध व रूक्षगुण के कारण होता है। जैसा कि 'भोक्षशास्त्र' में 'स्निग्धरूक्षस्वाङ्ग बंधः' इस सूत्र द्वारा कहा गया है।

पुद्गलपरमाणुओं का या सूक्ष्मस्कन्धों का बंध में काल के अतिरिक्त अन्यद्रव्य कारण नहीं हो सकता है। इसीलिए श्री कुन्दकुन्दादि आचार्यों ने पुद्गल की विभावपर्याय को कालकृत या कालप्रेरित कहा है।

जीवापुग्गल काया सह सब्बिकरिथा हवंति ण य सेसा ।

पुग्गल-करण जीवा, खंघा खलु कालकरणा तु ॥९८॥ [पं. का.]

१. (अ) द्वयोः स्निग्धरूक्षयोरण्वोः परस्पराल्लेखलक्षणो बन्धो सति द्व्यणुकः स्कन्धो भवति । एवं संख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशस्कन्धो योज्यः । रा. वा. ५।३।३२ पृ ४६८ ।

(ब) स्निग्धरूक्षगुणनिमित्तः विद्युदुत्काजलघाटाग्निन्द्रधनुरादिविषयः रा. वा. ५।२।४।७।४८७ ।

(स) एवमुक्तेन विधिना बन्धेऽस्त्यणूनां, द्व्यणुकाद्यनन्तानन्तप्रदेशावसानस्कन्धोत्पत्तिर्वेदितव्या ।

रा. वा. ५।३।३।२।५ ४६६

इन उक्त तीनों प्रकरणों से लगता है कि स्कन्धों का परमाणु से तथा स्कन्ध का स्कन्ध से भी स्निग्ध-रूक्ष गुण निमित्तक ही बन्ध होता है।—सम्पादक

टीका—“स्कंधशब्देनात्र स्कंधाण्यभेदभिन्ना द्विधा पुद्गला गृह्यन्ते । ते च कथंभूता ? सक्रियाः । कं कृत्वा ? काल करणोहि, परिणामनिर्वर्तककालाद्युद्भवैः, खलु स्फुटं ।”

परिणामनिर्वर्तक कालद्रव्य द्वारा पुद्गलपरमाणु व स्कन्धों में प्रदेश-परिस्पंद पर्यायरूप क्रिया की जाती है ।

पुगलद्रव्ये जो पुण विभाओ, काल पेरिओ होदि ।

सो णिद्वेषख सहिवो बन्धो, खलु होइ तस्सेव ॥२०॥

पुद्गलद्रव्य में जो विभावपर्याय होती है, वह कालप्रेरित है । स्निग्ध व रूक्षसहित बन्धरूप पुद्गल की विभावपर्याय होती है ।

अभिप्राय यह है कि काल के अभाव में पुद्गलद्रव्य में विभाव परिणमन नहीं हो सकता है । काल की प्रेरणा से पुद्गल में विभाव होता है ।

—जै. ग. 9-10-75/.../ ट. ला. जैन, मेरठ

“कर्म योग्य पुद्गल” का अर्थ

शंका—तत्त्वार्थसूत्र अ० ८ सूत्र २ ‘सकषायस्वाज्जीवः कर्मणो योग्याःपुद्गलानावत्ते स बन्धः ।’ यह लिखा है । यहाँ पर ‘कर्मयोग्य पुद्गल’ का क्या अभिप्राय है ।

समाधान—पुद्गल की तेईस प्रकार की वर्गणा हैं । उनमें से एक कार्माणवर्गणा भी है । यह कार्माणवर्गणा ही कर्मयोग्य-पुद्गल है । षट्षण्डागम के पाँचवें वर्गणाखण्ड के निम्नलिखित सूत्रों में कहा भी है—

“कर्मइयद्वयवर्गणा नाम का ॥७५६॥ कर्मइयद्वयवर्गणा अट्टविहस्स कम्मस्स गहणं पवत्तवि ॥ ७५७ ॥ ज्ञानावरणीयस्स बसणावरणीयस्स वेयणीयस्स मोहणीयस्स आउस्स णामस्स गोवस्स अंतराइयस्स जाणि दब्बाणि छेत्तूण णाणावरणीयत्ताए बसणावरणीयत्ताए वेयणीयत्ताए मोहणीयत्ताए आउअत्ताए णामत्ताए गोवत्ताए अंतराइयत्ताए परिणामेइण परिणमंति जीवा ताणि दब्बाणि कम्मइयद्वयवर्गणा नाम ॥ ७५८ ॥

अर्थ—कार्माण द्रव्यवर्गणा क्या है ? ॥७५६॥ कार्माणद्रव्यवर्गणा आठप्रकार के कर्म का ग्रहणकर प्रवृत्त होती है ॥७५७॥ ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय के जो द्रव्य हैं उन्हें ग्रहण कर ज्ञानावरणरूप से दर्शनावरणरूप से, वेदनीयरूप से, मोहनीयरूप से, आयुरूप से, नामरूप से, गोत्ररूप से और अन्तरायरूप से परिणमाकर जीव परिणमन करते हैं, अतः उन पुद्गल द्रव्यों की कार्माणद्रव्यवर्गणा संज्ञा है ॥७५८॥

—जै. ग. 26-2-70/IX/ टो. ला. जैन

रूप तथा वर्ण में भेद

शंका—समयसार गाथा ३९२ व ३९३ में ‘रूप’ और ‘वर्ण’ शब्द पृथक्-पृथक् प्रयुक्त हुए हैं । इनका पृथक्-पृथक् क्या तात्पर्य है, क्योंकि वैसे तो ये दोनों पर्यायवाची हैं ।

समाधान—‘रूप’ शब्द से प्रयोजन मूर्ति से है । सर्वार्थसिद्धि अ. ५ सूत्र ५ की टीका में, ‘रूपं मूर्तिरित्यर्थः’ रूप और मूर्ति इनका एक अर्थ है, ऐसा कहा है ।

“वर्ण्यते वर्णमात्रं वा वर्णः स पञ्चविधः कृष्ण-नील-पीत-शुक्ल-लोहितमेवात्” (स. सि. ५।२३)

जिसका कोई वर्ण है या वर्णमात्र को वर्ण कहते हैं। काला, नीला, पीला, सफेद और लाल के भेद से वह वर्ण पाँच प्रकार का है।

काला, नीला आदि वर्ण के भेद हैं, किन्तु रूप के भेद नहीं हैं, क्योंकि स्पर्शादि सामान्य परिणाममात्र को रूप कहते हैं। कहा भी है—

‘यत्स्पर्शादिसामान्यपरिणाममात्रं रूपं ।’ (समयसार गा० ५० की टीका)

इसप्रकार ‘रूप’ और ‘वर्ण’ पर्यायवाची नहीं हैं।

—जं. न. 24-12-70/VII/ ट. ला. जैन, मेरठ

‘रूपादिक गुण अमूर्त हैं’; इसका अभिप्राय

शंका—सर्वासिद्धि अ० १ सूत्र १७ की टीका में ‘वे रूपादिक गुण अमूर्त हैं ? इसका क्या तात्पर्य है ? यदि रूपादिक गुण अमूर्त हैं तो रूपादिक का धारक पुद्गल मूर्त कैसे हो सकता है ?

समाधान—गुण का लक्षण इस प्रकार है—

“द्रव्याभ्या निगुणा गुणाः ॥४१॥ [तत्त्वार्थसूत्र ५।४१]

जो निरन्तर द्रव्य के आश्रय से रहते हैं और गुणों से रहित हैं वे गुण हैं। पुद्गल में ‘मूर्त’ एक पृथक्गुण है जिसके कारण पुद्गल मूर्त होता है। किन्तु पुद्गल के अंग रूपादिक गुणों में मूर्तगुण नहीं रहता, क्योंकि एकगुण में अन्यगुण नहीं रहते अन्यथा वह गुण भी एक स्वतन्त्रद्रव्य हो जायगा। इसकारण रूपादि गुणों को मूर्त नहीं कहा जा सकता। इसप्रकार रूपादि गुण मूर्त नहीं हैं अर्थात् अमूर्त हैं। ऐसा अभिप्राय प्रतीत होता है।

—जं. न. 25-3-76/VII/ ट. ला. जैन, मेरठ

पुद्गल के भी कश्चित् अमूर्त स्वभाव है

शंका—जैसे पुद्गल के सम्बन्ध से जीव को ‘मूर्तिक’ कहा गया है, क्या उसीप्रकार जीव के सम्बन्ध से पुद्गल को अमूर्तिक कह सकते हैं ?

समाधान—जीव के साथ बन्ध को प्राप्त हुआ सूक्ष्मकार्मणवर्गणारूप पुद्गल भी उपचार से अमूर्तिकभाव को प्राप्त कर लेता है। आलापपद्धति सूत्र २८ में २१ स्वभावों का नाम निर्देश किया गया है जिसमें १४ वें, १५ वें क्रम पर मूर्त स्वभावः अमूर्तस्वभावः इन दो स्वभावों का नाम है। सूत्र २९ जीवपुद्गलयोरेकविंशतिः द्वारा यह कहा गया है कि जीव और पुद्गल इन दोनों द्रव्यों में २१ स्वभाव हैं। अर्थात् जीव में भी मूर्त-अमूर्त दोनों स्वभाव हैं। पुद्गल में भी मूर्त-अमूर्त दोनों स्वभाव हैं। आलापपद्धति ग्रन्थ के नययोजना अधिकार सूत्र १६६ में ‘पुद्गल के उपचार से अमूर्तत्व स्वभाव’ कहा गया है। पुद्गलस्योपचारदेवास्त्यमूर्तत्वम्।

—पद्माचार / जं. ला. जैन, भीण्डर

(१) अशुद्ध निश्चयनय से पुद्गल क्या है ?

(२) विविध अपेक्षाओं से व्यवहार भी निश्चय तथा निश्चय भी व्यवहार हो जाते हैं ।

शंका—'नियमसार' गाथा २९ में पुद्गलपरमाणु को पुद्गल शुद्धनिश्चयनय से कहा और स्कन्ध को व्यवहारनय से ऐसा क्यों ? फिर अशुद्धनिश्चयनय से पुद्गल क्या है ?

समाधान—'नियमसार' गाथा २९ में निश्चयनय का शब्द है, शुद्धनिश्चयनय का शब्द नहीं है । 'नियमसार' गाथा २९ निम्न प्रकार है—

पोगलवद्वं उच्चइ परमाणू णिच्छएण इवरेण ।

पोगलवद्वोत्ति पुणो वववेसो होवि खंघस्स ॥२९॥

अर्थ—परमाणु को पुद्गलद्रव्य निश्चय से कहा जाता है और स्कन्ध का पुद्गलद्रव्य ऐसा नाम व्यवहार से है ।

श्री कुम्भकुन्दान्धार्य ने निश्चय और व्यवहार ऐसे दो शब्दों का प्रयोग किया है । निश्चय के शुद्धनिश्चय या अशुद्धनिश्चय तथा व्यवहार के सदभूतव्यवहार, असदभूतव्यवहार तथा उपचरितसदभूतव्यवहार व अनुपचरितसदभूतव्यवहार, उपचरितअसदभूतव्यवहार व अनुपचरितअसदभूतव्यवहार ऐसे भेद-प्रभेद की अपेक्षा कथन नहीं किया है । इसीलिये शुद्धनिश्चय की अपेक्षा अशुद्धनिश्चयनय को व्यवहार कहा गया है । असदभूतव्यवहार की अपेक्षा सदभूतव्यवहार को निश्चय कहा गया है । उपचरितसदभूतव्यवहार की अपेक्षा अनुपचरितसदभूतव्यवहार को निश्चय कहा गया है । उपचरितासदभूतव्यवहार की अपेक्षा अनुपचरितासदभूतव्यवहार को निश्चय कहा गया है ।

एक जीव दूसरे को सुखी दुःखी करते हैं अथवा मारते या जिलाते हैं, यह कथन उपचरितासदभूतव्यवहारनय की अपेक्षा से है । अपने कर्मोदय से ही जीव सुखी दुःखी होता है अथवा मरता जीता है, यह कथन अनुपचरितासदभूतव्यवहारनय की अपेक्षा से है, किन्तु समयसार कलश १६८ में उपचरितासदभूतव्यवहार की अपेक्षा अनुपचरितासदभूत के कथन को निश्चय कहा है । इसी प्रकार समयसार गाथा ८३-८४ में असदभूतव्यवहार की अपेक्षा सदभूतव्यवहार के कथन को निश्चय कहा है ।

अणु और स्कन्ध दोनों पुद्गलद्रव्य की पर्यायें हैं । कहा भी है "आह किमेवां पुद्गलानामणुस्कन्धलक्षणः परिणामोऽनाविरूत आदिमानित्युच्यते । स खलूत्पत्तिमत्त्वादिमान् प्रतिज्ञायते ।" [सर्वार्थसिद्धि ५।२५]

इन पुद्गलों का अणु और स्कन्धरूप परिणाम होना अनादि है या सादि है ।

अणु और स्कन्धरूप परिणाम उत्पन्न होता है इसलिये सादि है ।

"परमाणु पोत्तलानं सो वव्वसहाव पज्जाओ ॥३०॥" (नयचक)

अर्थ—परमाणु पुद्गल की स्वभावद्रव्यपर्याय है ।

पर्याय व्यवहार नय का विषय है । कहा भी है—

"ववहारो ष त्रियण्णो भेवो तह पज्जओ त्ति एयट्ठो ॥५७२॥" (गो. जी.)

"व्यवहारेण विकल्पेन भेवेन पर्यायेण ।" (समयसार गा. १२)

अतः अणु-स्कन्ध दोनों पर्यायों व्यवहारनय के विषय हैं। अणु शुद्धपर्याय है, अतः अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय का विषय है। स्कन्ध अशुद्धपर्याय है अतः उपचरितासद्भूतव्यवहारनय का विषय है।

“शुद्धपरमाणुरूपेणावस्थानं स्वभावद्रव्यपर्यायः वर्णादिक्यो वर्णान्तराद्विपरिणमनं स्वभावगुणपर्यायः द्वघणुकादिस्कन्धरूपेण परिणमनं विभावद्रव्यपर्यायः तेष्वेव द्वघणुकादिस्कन्धेषु वर्णान्तराद्विपरिणमनं विभावगुणपर्यायः।”
(पंचास्तिकाय गा० ५ टीका)

यहाँ पर यह कहा गया है कि शुद्धपरमाणु स्वभावद्रव्यपर्याय है और द्वघणुक आदि स्कन्ध विभावद्रव्यपर्याय है।

पुद्गलस्कन्ध विभावद्रव्यपर्याय होने से उपचरितसद्भूतव्यवहार का विषय है। पुद्गलपरमाणु स्वभावद्रव्यपर्याय होने से अनुपचरितसद्भूतव्यवहार का विषय है। नियमसार गाथा २९ में उपचरितसद्भूतव्यवहार की अपेक्षा अनुपचरितसद्भूत को निश्चय कहकर पुद्गलपरमाणु को निश्चय का विषय कहा है।

श्री कुन्वकुन्वाचार्य के ग्रन्थ में किस स्थल पर निश्चय से क्या प्रयोजन है, इसको जानने के लिये नयश्चक्र, आलापपद्धति आदि ग्रन्थों से निश्चय और व्यवहार के भेद-प्रभेद तथा उनके लक्षणों को जानने की अत्यन्त आवश्यकता है; अन्यथा कुन्वकुन्वाचार्य के ग्रन्थों का यथार्थ भाव समझ में आना कठिन है।

—पं. ग. 1-6-72/VII/ ट. ला. जैन, मेरठ

जीव व पुद्गल की गति व स्थिति भी पर्यायरूप है

शंका—क्या गति व स्थिति पर्याय है ?

समाधान—गति व गतिपूर्वक स्थिति पर्याय हैं। अन्यथा स्थिति पर्याय नहीं है।^१

—पृष्ठ 21-4-80/ज. ला. जैन, भीण्डर

शब्द व प्रकाश किस इन्द्रिय के विषय हैं ?

शंका—शब्दवर्गणा किस इन्द्रिय की विषय है तथा कब ? प्रकाश किस इन्द्रिय का विषय है। आज के वैज्ञानिक तो कहते हैं कि प्रकाश स्वयं अदृश्य है, किन्तु प्रकाश में वस्तुएं बिखती हैं ? क्या यह ठीक है। आगम में तो लिखा है कि “छाया, चांदनी, आतप, धूप, अंधकार आदि चक्षुइन्द्रिय के द्वारा बिछाई देने के कारण स्थूल हैं।” अर्थात् सूर्य का प्रकाश चक्षुइन्द्रिय से ग्राह्य है (महापुराण २४।१५०—१५३) समाधान करें।

समाधान—शब्दवर्गणा कर्ण इन्द्रिय से ग्राह्य है, किन्तु कब ? जब वे शब्दरूप परिणत हो जायें तब कर्णइन्द्रिय की विषय होती हैं। छाया, प्रकाश, अन्धेरा आदि चक्षुरिन्द्रिय से ग्राह्य हैं। आपका कथन समीचीन है। आगम ही सर्वोपरि मान्य है।

—पृष्ठ 31-3-79/ज. ला. जैन, भीण्डर

१. इसको विशेष समझने के लिए पं० काय गा० ८६ व उसकी टीका देखनी चाहिए।

धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य

प्रत्येकद्रव्य द्रव्यदृष्टि से स्वतंत्र है, पर्यायदृष्टि से परतन्त्र है

शंका—क्या धर्मादि द्रव्य भी द्रव्यदृष्टि से स्वतंत्र एवं पर्यायदृष्टि से परतन्त्र हैं ? धर्मादि भी पर्यायदृष्टि से परतन्त्र हो होने चाहिये, क्योंकि कालद्रव्य के बिना उनके भी परिणमन सम्भव नहीं। आकाश के बिना अवगाहन-रूप अवस्था भी धर्मादि के सम्भव नहीं अतः धर्मादि भी पर्यायदृष्टि से परतन्त्र होने चाहिये।

समाधान—प्रापने ठीक लिखा है। धर्मादि भी द्रव्यदृष्टि से स्वतंत्र हैं और पर्यायदृष्टि से परतन्त्र हैं।

—पृष्ठ 8-7-80/ ज. ला. जैन, भीण्डर

धर्म आदि द्रव्यों से आयुकर्म का सम्बन्ध

शंका—'राजवार्तिक' अध्याय २ सूत्र ७ की टीका में कहा है कि 'आयुकर्म का सम्बन्ध तो धर्म, अधर्म आदि अचेतन पदार्थों के साथ भी है; यह कैसे ?

समाधान—जहाँ पर आयुकर्म के पुद्गलपरमाणु हैं वहाँ पर धर्म, अधर्म और आकाशद्रव्य के प्रदेश तथा कालाणु भी हैं। अतः आयुकर्म का धर्म, अधर्म आदि द्रव्यों से एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध है।

—जै. ग. 23-5-63/IX/ प्रो. मनोहरलाल

धर्मादिक चारों द्रव्यों का स्वभाव—परिणमन ही होता है

शंका—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य का क्या अशुद्ध या विभावरूप परिणमन भी होता है या मात्र स्वाभाविकपरिणमन होता है ?

समाधान—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य इनमें विभावस्वभाव व अशुद्धस्वभाव नहीं है, अतः इन चार द्रव्यों का अशुद्धरूप या विभावरूप परिणमन नहीं होता है।

“चेतनस्वभावः मूर्तस्वभावः विभावरूपस्वभावः उपचरितस्वभावः अशुद्धस्वभावः एतैः पञ्चभिः स्वभावेभ्यो धर्मादिप्रियाणां (धर्माधर्माकाशानां) षोडश स्वभावाः सन्ति । तत्र बहुप्रदेशं विना कालस्य पञ्चदश स्वभावाः ।”

आलापपद्धति ।

यहाँ पर धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य इन चारों द्रव्यों में अशुद्धस्वभाव व विभावरूप-स्वभाव का अभाव बतलाया गया है।

—जै. ग. 23-7-70/VII/ टी. ला. मित्तल

जो द्रव्य है वह गुण या पर्याय नहीं है

शंका—श्री पं० भाणिकचम्बजी ने श्लोकवार्तिक पु० ६ अध्याय ५ सूत्र २ की टीका में लिखा है—धर्मादिक चारद्रव्य गुण या पर्याय स्वरूप नहीं हैं। यह कैसे संभव है क्योंकि 'गुण पर्यायवद् द्रव्यं' ऐसा सूत्र है ?

समाधान—द्रव्य, गुण और पर्याय में यद्यपि प्रदेश भेद नहीं है तथापि संज्ञा, संख्या, लक्षण आदि की अपेक्षा तो भेद है। कहा भी है—

गुणगुण्यदिसंज्ञादिभेदाद् भेदस्वभावः ॥११२॥ आत्मापपद्धति

द्रव्य, गुण और पर्याय ये तीनों पृथक्-पृथक् संज्ञाएँ हैं। गुण अनेक हैं, पर्यायें अनेक हैं और द्रव्य एक है। द्रव्य का लक्षण सत् है, गुण का लक्षण—‘द्रव्याभ्यां निर्गुणा गुणाः’ है अर्थात् जो द्रव्य के आश्रय हो और स्वयं निर्गुण हो वह गुण है। पर्याय का लक्षण—‘द्वविकारो हि पञ्जवो षण्णवो’। अर्थात् द्रव्य के विकार को पर्याय कहते हैं।

इसप्रकार संज्ञा, संख्या, लक्षण की अपेक्षा जो द्रव्य है वह गुण या पर्याय नहीं है।

—जं. म. 30-3-72/VII/ देहरा ति गारा से प्राप्त शंका

चार द्रव्यों की निष्क्रियता

शंका—जीव और पुद्गल के अतिरिक्त क्या शेष चारद्रव्य भी अपनी शुद्धअवस्था में स्वतः क्रियाशील (active) हैं ? यदि नहीं तो प्रत्येक द्रव्य परिवर्तनशील कैसे है, क्योंकि जो स्वयं निष्क्रिय है उसमें अपनी पर्यायों का सर्वत्र परिवर्तन होते रहना कैसे सम्भव है ? यदि द्रव्य में उसकी पर्यायें प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती हैं तो यह अवश्य उस द्रव्य में एक क्रिया का होना कहा जाएगा और ऐसी दशा में धर्मादि को निष्क्रिय तथा निराकार संज्ञाएँ कैसे दी जा सकती हैं; क्योंकि द्रव्यों की पर्याय द्रव्य से भिन्न नहीं हो सकती हैं ?

समाधान—धर्मादि चार द्रव्यों को मोक्षशास्त्र अध्याय ५ सूत्र ७ में ‘निष्क्रिय’ कहा है सो वहाँ पर परिस्पन्द व चलनरूप क्रिया के अभाव की अपेक्षा से ‘निष्क्रिय’ कहा है। निष्क्रिय होते हुए भी धर्मादि द्रव्यों में स्वनिमित्तक उत्पाद-व्यय होते रहते हैं अतः पर्यायें होती रहती हैं जैसा श्री राजवार्तिक पंचम अध्याय सूत्र ७ वार्तिक ३ की टीका में कहा है—अनन्तानामगुरुलघुगुणानामागमप्रामाण्यादभ्युपगम्यमानानां षट्स्थान प्रतितया वृद्ध्या हान्या च वर्तमानानां स्वभावादेशामुत्पादो व्ययश्च । आगम प्रमाण से जानने योग्य और जो षट्स्थान वृद्धि-हानिरूप वर्तन कर रहे हैं ऐसे अनन्तान्त अगुरुलघु गुणों के स्वभाव से इन (धर्मादि द्रव्यों) का उत्पाद व व्यय होता है अतः धर्मादि शुद्ध द्रव्यों में स्वनिमित्तक उत्पाद व्ययरूप क्रिया मानने में कोई विरोध नहीं आता, किन्तु प्रदेश परिस्पन्द व चलनरूप क्रिया धर्मादि शुद्धद्रव्यों में नहीं है।

—जं. सं. 6-9-56/VI/ बी. एल. पद्म. शृजालपुट

जीव पुद्गल की शक्ति तो लोकाकाश से बाहर जाने की है

शंका—धर्मास्तिकाय के अभाव से जीव लोक के बाहर नहीं गया, यह व्यवहारनय का कथन है। निश्चयनय कहता है कि जीव लोकाकाश का द्रव्य है, उसमें लोक के बाहर जाने की उपादानशक्ति ही नहीं है। विशेष कथन सोनगढ़ के मोक्षशास्त्र अध्याय १०, सूत्र ८ की टीका में है। फिर आप श्री कानजीस्वामी के निश्चयनय के कथन का क्यों विरोध करते हो ?

समाधान—सोनगढ़ से प्रकाशित मोक्षशास्त्र पत्र ७९१ पर लिखा है “जीव और पुद्गल की गति स्वभाव से इतनी है कि वह लोक के अन्त तक ही गमन करता है। यदि ऐसा न हो तो अकेले आकाश में लोकाकाश और अलोकाकाश ऐसे दो भेद ही न रहें। गमन करनेवाले द्रव्य की उपादानशक्ति ही लोक के अग्रभाग तक गमन करने की है अर्थात् वास्तव में जीव की अपनी योग्यता ही अलोक में जाने की नहीं है अतएव वह अलोक में नहीं जाता, धर्मास्तिकाय का अभाव तो इसमें निमित्तमात्र है।”

सोनगढ़वालों ने अपनी टीका में इस सम्बन्ध में कोई आगमप्रमाण नहीं दिया है और न यह लिखा है कि वह किस ग्रन्थ के आधार पर जीव की गमनशक्ति को सीमित करते हैं। यदि किसी ग्रन्थ का उल्लेख होता तो उस-पर अवश्य विचार किया जाता। मेरे देखने में ऐसा कोई आगमप्रमाण नहीं आया जिसमें जीव की गमनशक्ति को लोक के अन्त तक ही बताया गया हो। अन्य विद्वानों से भी इस सम्बन्ध में चर्चा की, किन्तु उन्होंने भी ऐसे आगमप्रमाण का निषेध किया।

धर्मास्तिकाय के कारण लोकाकाश और अलोकाकाश ऐसा विभाग हो रहा है। जीवद्रव्य की उपादान गमनशक्ति सीमित न होते हुए भी धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण जीव लोकाकाश से बाहर गमन नहीं करता। किसी भी कार्य के लिए अन्तरंग और बहिरंग (उपादान व निमित्त) कारणों की आवश्यकता होती है। किसी एक कारण के अभाव में कार्य का अभाव रहता है अर्थात् कार्य नहीं होता। जीवद्रव्य के गमन में धर्मद्रव्य सहकारी कारण है, जिस प्रकार मछली के गमन में जल कारण है। अलोकाकाश में धर्मद्रव्य का अभाव होने के कारण (अर्थात् बाह्यकारण का अभाव होने से) जीव अलोकाकाश में गमन नहीं कर सकता जैसे तालाब से बाहर जल न होने के कारण मछली तालाब से बाहर गमन नहीं कर सकती। वर्षाकाल में जब जल तालाब से बाहर उमड़ आता है तो सहकारी कारण मिलजाने से मछली तालाब के बाहर भी गमन कर जाती है। मछली में तालाब के बाहर भी गमनशक्ति रहते हुए भी सहकारी कारण के अभाव में बाहर गमन का अभाव पाया जाता है। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है।

शङ्काकार का उक्त कथन प्रत्यक्ष से बाधित होते हुए भी अब उस पर आगम की अपेक्षा से विचार किया जाता है। सोनगढ़वालों को श्रीमद् कुम्भकुम्भ भगवान के वचन अधिक इष्ट हैं अतः सर्वप्रथम श्रीमद् कुम्भकुम्भवाचार्य-विरचित ग्रन्थों के अनुसार लोक व अलोक के विभाग के कारण और जीव व पुद्गल की गमनशक्ति पर विचार किया जाता है।

जादो अलोगलोगो, जेसि सभभावदो य गमणठिदो ।

वो बि य मया विभत्ता, अविभत्ता लोयमेत्ता य ॥८७॥ पं० का० ।

अर्थात्—जिन धर्म-अधर्मद्रव्य के अस्तित्व होने से लोक और अलोक हुआ है और जिनसे गति स्थिति होती है, वे दोनों ही अपने-अपने स्वरूप से जुदे-जुदे कहे गए हैं, किन्तु एकक्षेत्रावगाह से जुदे-जुदे नहीं हैं।

टीका—धर्माधर्मौ विद्यते लोकालोकविभागान्यथानुपपत्तौः। जीवादिसर्वपदाथानामेकत्र वृत्तिरूपो लोकः। शुद्धं काशावृत्तिरूपोऽलोकः। तत्र जीवपुद्गलो स्वरसत एव गतितत्पूर्वस्थितिपरिणामापन्नौ। तद्योर्वि गतिपरिणामं तत्पूर्वस्थितिपरिणामं वा स्वयमनुभवतोर्बहिरङ्गहेतू धर्माधर्मौ न भवेताम्, तदा तद्योनिरगलगतस्थिति परिणामस्वाव-सोकेऽपि वृत्तिः केन धार्यते। ततो न लोकालोकविभागः सिद्ध्येत। धर्माधर्मयोस्तु जीवपुद्गलमोगंतितत्पूर्वस्थित्यो-र्बहिरङ्गहेतुत्वेन सद्भावे अभ्युपगम्यमाने लोकालोकविभागो जायते इति।

अर्थ—धर्म और अधर्म विद्यमान हैं क्योंकि अन्य प्रकार से लोक व अलोक का भेद नहीं हो सकता था। जहाँ जीवादि सब पदार्थ हों वह लोक है, जहाँ एक आकाश ही हो सो अलोक है। उन जीवादि द्रव्यों में से जीव और पुद्गल ये दोनों द्रव्य अपने स्वभाव से गति और गतिपूर्वक स्थिति को प्राप्त होते हैं। उन दोनों (जीव और पुद्गल) का गतिरूप परिणामन व गतिपूर्वक स्थितिरूप परिणामन अपने आप होने पर यदि धर्म व अधर्मद्रव्य बहिरंग कारण न हों तो उन दोनों की गति व स्थिति निरगल (बिना रोकटोक के) होने से अलोक में भी उन दोनों की स्थिति को कौन रोक सकेगा? इसलिये लोक-अलोक का विभाग नहीं हो सकेगा। जीव व पुद्गल की गति व

गतिपूर्वक स्थिति के बहिरंगकारण धर्म-अधर्म को अंगीकार करने पर ही लोक-अलोक का विभाग होता है ।

— श्री १०८ आचार्य अमृतचन्द्रसूरि की टीका

श्रीमद् जयसेनजी ने भी अपनी टीका में इस प्रकार कहा है—धर्माधर्मो विद्यन्ते लोकालोकसम्भावत् षड्रव्यसमूहात्मको लोकः तस्माद्बहिर्भूतं शुद्धमाकाशमलोकः तत्र लोके गतिपूर्वकस्थितिमास्कन्दतोः स्वीकुर्वन्तोर्जीव-पुद्गलयोर्यदि बहिरङ्गहेतुभूतधर्माधर्मो न स्यतां तदा लोकाद्बहिर्भूतबाह्यभागेऽपि गतिः केन नाम निषिध्यते न केनापि ततो लोकालोक विभागादेव ज्ञायते धर्माधर्मौ विद्यन्ते ।

अर्थ—लोक और अलोक की सत्ता है, इससे धर्म और अधर्म की सत्ता सिद्ध है । जो छह द्रव्यों का समूह है उसे लोक कहते हैं, उससे बाहर जो शुद्ध आकाशमात्र है उसको अलोक कहते हैं । यदि इस लोक में जीव और पुद्गलों के चलने में और चलते-चलते ठहर जाने में बाहरी निमित्त कारण धर्म और अधर्म द्रव्य न हों तो लोक के बाहरी भाग में गमन को कौन निषेध कर सकता है ? यदि कोई भी रोकनेवाला न हो तब लोक और अलोक का विभाग ही न रहे, परन्तु जब लोक और अलोक है तब यह जाना जाता है कि अवश्य धर्म और अधर्मद्रव्य हैं ।

इस गाथा व टीका से सिद्ध है कि जीव और पुद्गल में तो लोकाकाश से बाहर जाने की भी शक्ति है, किन्तु धर्मद्रव्य के अभाव के कारण उन दोनों द्रव्यों की गति लोक के अन्त में रुक गई अर्थात् धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण ही जीव और पुद्गल की गति अलोक में नहीं हो सकी । लोक और अलोक का विभाग भी धर्म-द्रव्य के कारण है । इस विषय में श्री १०८ आचार्य कुन्वकुन्व का अन्य प्रमाण इस प्रकार है—

जीवाणं पुग्गलाणं गमणं जाणेहि जाव धम्मदयं ।

धम्मदयिकायाभावे, सत्तो परवो ण गच्छन्ति ॥१८४॥ नि० सा०

अर्थ—जहाँ तक धर्मास्तिकाय द्रव्य है वहाँ तक जीव और पुद्गलों का गमन होता है ऐसा मैं (श्री कुन्व-कुन्वाचार्य) जानता हूँ । धर्मास्तिकाय के अभाव से उसके ऊपर कोई नहीं जा सकता है ।

नोट—इस गाथा में यह नहीं कहा है कि आगे अलोकाकाश में जीव की जाने की शक्ति स्वभाव से ही नहीं है, किन्तु धर्मास्तिकाय का अभाव है इसलिये आगे नहीं जाता ।

टीका—यथा जलाभावे मत्स्यानां गतिक्रिया नास्ति अतएव यावद्धर्मास्तिकायस्तिष्ठति तदक्षेत्रपर्यन्तं स्वभावविभाव गतिक्रिया परिणतानां जीवपुद्गलानां गतिरिति ।

अर्थ—जैसे जल के अभाव में मछली की चलन रूप क्रिया नहीं हो सकती इसलिये जहाँ तक धर्मास्तिकाय है उस क्षेत्र तक ही चेतन व अचेतन जड़ पुद्गल गमन करेंगे, इसके आगे नहीं ।

इसप्रकार सोनमद की मान्यता श्री कुन्वकुन्वाचार्य के सिद्धान्त के विरुद्ध है । अब श्री भोक्षशास्त्र के टीकाकारों का प्रमाण इस प्रकार है—

भोक्षशास्त्र अध्याय १०, सूत्र ८ की सर्वार्थसिद्धि टीका में श्री पूज्यपादाचार्य लिखते हैं—गत्युपग्रहकारण-भूतो धर्मास्तिकायो नोपर्यस्तीत्यलोके गमनाभावः । तवभावे च लोकालोकविभागाभावः प्रसज्यते । अर्थ—गतिरूप उपकार का कारणभूत धर्मास्तिकाय लोकान्त के ऊपर नहीं है इसलिये अलोक में गमन नहीं होता । धर्मास्तिकाय के अभाव में भी गमन माना जावे तो लोकालोक के विभाग का अभाव प्राप्त होता है ।

तत्त्वार्थवृत्ति में श्री भूतसागरसूरिजी इस प्रकार लिखते हैं—‘गत्युपकारकारणं धर्मास्तिकाय’ स तु धर्मास्तिकायो लोकान्तात् परतोऽलोके न वर्तते तेन मुक्तजीवः परतोऽपि न गच्छति ।’ अर्थ—चलने में उपकार का कारण धर्मास्तिकाय है। वह धर्मास्तिकाय लोक के अन्त तक है, लोक से परे नहीं है इसलिये मुक्त जीव का भी लोक से परे गमन नहीं होता है।

श्री भास्करनन्दी आचार्य सुखबोध टीका में इस प्रकार लिखते हैं—गत्युपग्रहकारणभूतो धर्मास्तिकायो नोपर्यस्तीत्यलोके गमनाभावः। तदभावे च लोकालोकविभागाभावः प्रसज्यते। अर्थ—गतिरूप उपकार का कारणभूत धर्मास्तिकाय लोकान्त के ऊपर नहीं है इसलिये अलोक में गमन नहीं होता। धर्मास्तिकाय के अभाव में भी गमन माना जावे तो लोकालोक के विभाग का अभाव प्राप्त होता है।

इसी टीका के अध्याय ५ सूत्र १७ में लिखा है—धर्माधर्मान्भ्युपगमे सर्वत्राकाशे सर्वं जीव पुद्गलगति-स्थिति प्रसंगात्लोकालोकव्यवस्था न स्यात्। ततो लोकालोकव्यवस्थाऽव्यथाऽनुपपत्तेर्धर्माधर्मास्तित्व सिद्धिः। अर्थ—धर्म व अधर्म द्रव्य के न मानने पर आकाश में सर्वत्र सब जीव और पुद्गलों की गति व स्थिति का प्रसंग प्राप्त होने से लोक और अलोक की व्यवस्था न रहेगी। इसलिये अन्य प्रकार से लोकालोक की उत्पत्ति न होने से धर्म व अधर्म द्रव्य की सिद्धि होती है।

श्रीमद् भट्टाकलंकदेव ने राजवार्तिक अ० ५ सू० १७ टीका में इस विषय को बहुत स्पष्ट किया है—गतिस्थितिपरिणामिनां आत्मपुद्गलानां धर्माधर्मोपग्रहात् गतिस्थिति भवतो नाकाशोपग्रहात् गतिस्थितां स्यातां अलोकाकाशेऽपि भवेतां। अतश्च लोकालोकविभागाभावः स्यात्। अर्थ—चलने और ठहरने वाले जीवों और पुद्गलों के चलने व ठहरने में धर्म तथा अधर्म का उपकार न हो और आकाश का उपकार हो तो अलोकाकाश में भी जीव और पुद्गलों की गति व स्थिति हो जायगी इसलिए लोक और अलोक के विभाग का अभाव हो जाएगा।

नोट—यदि गमन करने वाले द्रव्यों की उपादानशक्ति ही लोक के अग्रभाग तक गमन करने की है और उनमें योग्यता ही अलोक में जाने की नहीं है (जैसा कि सोनगढ़ मोक्षशास्त्र पत्र ७६१ पर लिखा है) तो धर्मद्रव्य की क्या आवश्यकता रह जाती है ? आकाशद्रव्य को ही गति में उपकारी मान लेते। जीव और पुद्गल की उपादानशक्ति के कारण अलोक में जीव व पुद्गल का अभाव भी बन जाता, किंतु महानाचार्य श्रीमद्भट्टाकलंक स्वामी ने जीव व पुद्गल की गमनशक्ति तो अलोकाकाश में भी जाने की स्वीकार करके, धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण अलोकाकाश में जीव और पुद्गलों का अभाव माना है। सोनगढ़वालों की ‘शक्ति के अभाव’ की मान्यता उक्त आगमविरुद्ध है। सम्भवतः निमित्त के प्रसंग के भय से उनको (सोनगढ़वालों को) उपादानशक्ति सीमित करनी पड़ी, किन्तु श्रीमद् भट्टाकलंकदेव इसी सूत्र १७ अध्याय ५ की वार्तिक ३१ की टीका में इस प्रकार लिखते हैं—

कार्यस्यानेकोपकरणसाध्यत्वात् तस्मिन् ॥३१॥ इह लोके कार्यमनेकोपकरणसाध्यं दृष्टं यथामृत्पिण्डो घट-कार्यपरिणामप्राप्ति प्रतिगृहीताभ्यन्तरसामर्थ्यः बाह्यकुलालदण्डचक्र-सूत्रोदककालाकाशाद्यनेकोपकरणापेक्षः घटपर्याये-णाऽऽविर्भवति। नैकैवमृत्पिण्डः कुलालाद्विबाह्यासाधन सन्निधानेन विना घटात्मनाविर्भवितुं समर्थः। तथा पतत्रि-प्रभृतिद्रव्यं गतिस्थितिपरिणामप्राप्ति प्रत्यभिमुखं नान्तरेण बाह्यानेककारण सन्निधिगतस्थितिं प्राप्तुमलमितितवुपग्रह-कारण धर्माधर्मास्तिकायः सिद्धिः।

अर्थात् संसार में यह प्रत्यक्ष दीख पड़ता है कि एक कार्य की सिद्धि में अनेक कारणों की आवश्यकता पड़ती है। जिसतरह मिट्टी का पिण्ड जिससमय घटकार्यरूप परिणत होता है उस समय घटस्वरूप परिणत होने की अन्तरंग सामर्थ्य तो उस मिट्टी के अन्दर ही है, परन्तु बाह्य में कुम्भकार, दण्ड, चाक, डोरा, जल, काल और

आकाश (क्षेत्र) आदि अनेक सहायक कारणों की भी उसे अपेक्षा करनी पड़ती है तब वह मिट्टी का पिण्ड घट-स्वरूप होता है। कुम्भकार, चाक आदि बाह्यकारणों की सहायता के बिना अकेले मिट्टी के पिण्ड में घटस्वरूप परिणत होने की सामर्थ्य नहीं। उसीप्रकार पक्षी आदिक द्रव्य जिससमय चलने व ठहरने के लिए उद्यत हैं, बाह्य-कारणों की अपेक्षा के बिना उनकी गति व स्थिति नहीं हो सकती। पक्षी आदि की गति और स्थिति में सहायक बाह्यधर्म और अधर्मद्रव्य हैं।

तत्त्वार्थसार मोक्षतत्त्व अधिकार के श्लोक ४४ में भी अमृतचन्द्रसूरिजी लिखते हैं—ततोऽध्वंभंगतिस्तेषां कस्मान्नास्तीति चेन्मतिः। धर्मास्तिकायस्याभावात्स हि हेतुर्वन्तेः परं ॥४४॥ अर्थात् ऐसा पूछा जाने पर कि उन सिद्ध जीवों की उस लोकाकाश से ऊपर गति क्यों नहीं होती ? (यही उत्तर है कि) गति में हेतु कारण धर्मास्तिकाय का आगे अभाव होने से लोकाकाश के ऊपर सिद्ध जीवों की गति नहीं होती।

उपर्युक्त आगम प्रमाणों से यह भली प्रकार सिद्ध हो गया है कि जीव व पुद्गल में अलोकाकाश में भी जाने की शक्ति है, किन्तु बाह्य सहकारीकारण धर्मद्रव्य का अलोकाकाश में अभाव होने के कारण जीव और पुद्गलों का अलोकाकाश में गमन नहीं है।

सोनगढ़वालों की, शंकाकार की या अन्य किसी व्यक्ति की जो यह मान्यता है कि 'जीव व पुद्गल में लोक के अन्त तक ही गमन करने की उपादानशक्ति है' यह भीमश् भगवान् कुन्वकुन्व, भीमश्मृतचन्द्रसूरि, भीमश्मृतचन्द्रस्वामी, भीमश्मृताकलकदेष आदि महानाचार्यों के सिद्धान्त के विरुद्ध है।

यदि सोनगढ़ मतानुसार यह मान लिया जावे कि जीव व पुद्गल में लोकाकाश तक ही गमन करने की उपादानशक्ति है तो 'धर्मास्तिकायाभावात् सूत्र ८ अ० १० भो० शा०' निरर्थक हो जाएगा और सूत्र अनर्थक होता नहीं है, क्योंकि वचनविस्वादे के कारणभूत रागद्वेष व मोह से रहित जिनभगवान् के वचन के अनर्थक होने का विरोध है। वदखण्डागम पु० १० पत्र २८०

—जं. सं. 31-10-57 तथा 7-11-57/

**सिद्धों में निःसीम शक्ति होते हुए भी धर्म द्रव्य के अभाव से आगे गमन नहीं होता
जीव की गति में जीव और धर्म दोनों कारण हैं**

शंका—जीव लोकाकाश का द्रव्य है। सिद्ध भगवान् भी जीव होने से लोक के द्रव्य हैं, उनमें लोक से बाहर जाने की शक्ति का अभाव है इसलिये सिद्ध भगवान् लोक के अन्त में ठहर जाते हैं, कुछ ऐसा कहते हैं। कुछ ऐसा कहते हैं कि धर्मद्रव्य के अभाव के कारण सिद्धजीव लोक से आगे नहीं जाते। इन दोनों में से कौनसा कथन ठीक है ?

समाधान—जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है। वृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा २ में भी नेमिचन्द्र आचार्य ने "विस्सोऽड्ढगई" पद द्वारा जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव बतलाया है, किन्तु आयुक्रम ने जीव के ऊर्ध्वगमन स्वभाव का प्रतिबन्ध कर रखा है। कहा भी है—

"आयुष्यवेदनीयोदययोर्जीवोर्ध्वगमनसुखप्रतिबन्धकयोः सत्त्वात्"।

जीव के ऊर्ध्वगमन स्वभाव का प्रतिबन्धक आयुक्रम का उदय और सुखगुण का प्रतिबन्धक वेदनीयकर्म का उदय अरहंतों के पाया जाता है।

सिद्ध भगवान के आयुर्कर्म का क्षय हो जाने से आयुर्कर्म का उदय नहीं पाया जाता है। प्रतिबन्धक के अभाव के कारण सिद्धों की ऊर्ध्वगमनशक्ति असीम हो जाती है अतः यह कहना कि सिद्धों में लोकाकाश में ही जाने की शक्ति है, उचित नहीं है किन्तु आर्षग्रन्थ विरुद्ध है।

गमन में सहकारी कारण धर्मद्रव्य है। इसीलिये जिनेन्द्र भगवान ने धर्मद्रव्य का लक्षण गतिहेतुत्व कहा है।

गहपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी ।

तोयं जह मच्छाणं अचछंताणेव सो रोई ॥१७॥ (वृ. द्र. सं.)

गमन करते हुए जीव और पृथ्वी को धर्मद्रव्य गमन करने में उसीप्रकार सहकारी कारण होता है जिस प्रकार जल मछलियों के गमन में सहकारी कारण है, किन्तु ये जबरदस्ती गमन नहीं कराते।

आचार्य महाराज ने मछलियों का दृष्टांत देकर यह बतलाया है कि शक्ति होते हुए भी जिस प्रकार मछलियाँ जल की सहायता के बिना गमन नहीं कर सकती हैं उसीप्रकार शक्ति होते हुए भी जीव धर्मद्रव्य की सहायता बिना गमन नहीं कर सकता। तालाब आदि में जहाँ तक जल होता है वहाँ तक ही मछलियाँ गमन कर सकती हैं। वर्षाकाल में जब तालाब आदि में जल की वृद्धि हो जाती है तो मछलियाँ पूर्ब की अपेक्षा अधिक दूर तक गमन कर सकती हैं। प्रीष्मकृतु में जब जल सूखकर बहुत कम रह जाता है तो मछलियों का गमन भी उतने ही अल्पक्षेत्र में होता है। इससे स्पष्ट है कि शक्ति होते हुए भी मछलियाँ वहाँ तक ही गमन कर सकती हैं जहाँ तक जल होता है, जल से बाहर गमन नहीं कर सकती हैं। इसीप्रकार असीम शक्ति होते हुए भी सिद्ध भगवान वहाँ तक ही गमन कर सकते हैं, धर्मद्रव्य के अभाव में उससे आगे गमन नहीं कर सकते हैं। धर्मद्रव्य लोक के अंत तक है, अतः सिद्धभगवान का गमन भी लोक के अंत तक ही होता है। उससे आगे धर्मद्रव्य का अभाव है, अतः सिद्ध भगवान का उससे आगे गमन नहीं हो सकता है। कहा भी है—

जीवाणं पुग्गलाणं गमणं जाणेहि जाव धम्मरपो ।

धम्मत्थिकायभावे ततो परवो ण गच्छंति ॥१८४॥ (नियमसार)

टीका—अतोऽसीमां त्रिलोकशिखरादुपरि गतिक्रिया नास्ति परतो गतिहेतोर्धर्मास्तिकायामावात् । यथा जलाभावे मत्स्यानां गतिक्रिया नास्ति । अतएव यावद्धर्मास्तिकायस्तिष्ठति तत्क्षेत्रपर्यन्तं स्वभावविभावगति-क्रिया-परिणतानां जीवपृथ्वीगलानांगतिरिति ।

जहाँ तक धर्मास्तिकाय है वहाँ तक जीवों का गमन होता है। धर्मास्तिकाय के अभाव में उससे आगे गमन नहीं होता है। लोक शिखर तक ही धर्मास्तिकाय है उससे आगे धर्मास्तिकाय का अभाव है। अतः सिद्ध भगवान की गति लोकशिखर तक ही होती है तथा धर्मास्तिकाय के अभाव में उससे आगे नहीं होती है। जैसे जल के अभाव में मछलियों का गमन नहीं होता है।

इस गाथा द्वारा कुन्दकुन्दाचार्य ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सिद्धों का लोकाकाश से आगे गमन के अभाव में शक्ति का अभाव कारण नहीं है, किन्तु गतिहेतुत्व लक्षणवाले धर्मास्तिकाय का अभाव कारण है।

इसी बात को श्री अमृतचन्द्राचार्य ने निम्न श्लोक में कहा है—

ततोऽप्यूढ्वंगतिस्तेषां कस्मात्तास्ति चेन्मतिः ।

धर्मास्तिकायस्याभावत्स हि हेतुर्गतेः परः ॥४४॥

लोकशिखर से ऊपर सिद्धों की गति क्यों नहीं होती ? गति का सहकारी कारण जो धर्मास्तिकाय उसका अभाव होने से लोकशिखर से आगे सिद्धों की गति नहीं होती ।

श्री अकलंकदेव ने भी राजवातिक में कहा है—

“गत्पुपग्रहकारणभूतो धर्मास्तिकायो च नोपर्यस्तीत्यलोके गमनाभावः । तदभावे लोकालोकविभागाभावः । प्रसज्यते ।”

अर्थ—लोकाकाश से आगे गतिउपग्रह में कारणभूत धर्मास्तिकाय नहीं है । अतः आगे सिद्धों की गति नहीं होती । आगे धर्मद्रव्य का सद्भाव मानने पर लोकालोक विभाग का अभाव ही हो जायगा ।

लोयालोयविभेयं गमणं ठाणं च जाण हेहूहि ।

अइ णहि ताणं हेऊ किह लोयालोयववहारे ॥१३५॥ (नयचक)

गमन और स्थिति के हेतुभूत धर्म-अधर्मद्रव्य ही लोक अलोक के विभाग के कारण हैं । इससे सिद्ध होता है कि जीवद्रव्य या सिद्धजीव लोक-अलोक के विभाग के कारण नहीं हैं । यदि धर्मद्रव्य लोक से बाहर भी होता तो जीव का गमन लोक से बाहर अवश्य हो जाता ।

गमनरूप क्रिया में जीव और धर्मद्रव्य दोनों ही कारण हैं । जो कार्य दो कारणों से होता है वह कार्य एक कारण से नहीं हो सकता ।

“बोहितो चेमुप्पज्जमाणकज्जहस तस्येक्कावो समुप्पत्तिविरोहावो ।”

अर्थ—दोनों से उत्पन्न होने वाले कार्य की उनमें से एक के द्वारा उत्पत्ति का विरोध है ।

सिद्धों में गमनशक्ति होते हुए भी धर्मास्तिकाय के अभाव में लोकशिखर से आगे सिद्धों का गमन नहीं होता है ।

—जं. ग. 26-12-68/VII/गमनमाला

क्या पुद्गल परमाणु १४ राजू से बाहर नहीं जा सकता है ?

प्रश्न—क्या शीघ्रगति से गमन करने वाला पुद्गल परमाणु १४ राजू से बाहर नहीं जा सकता है ? यदि नहीं तो क्यों ?

समाधान—१४ राजू अर्थात् लोकाकाश से बाहर जीव या पुद्गल कोई भी द्रव्य नहीं जा सकता है, क्योंकि गमन में सहकारी कारण धर्मद्रव्य का अभाव है । सिद्धों में अनन्तवीर्य व ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने के कारण अनन्त राजू तक गमन शक्ति है, किन्तु धर्मद्रव्य निमित्त के अभाव में उपादान में योग्यता होते हुए भी गमनरूप कार्य नहीं हो रहा है । श्री कुं बकुं बाचार्य ने कहा भी है—

जीवानं पुग्गलानं गमणं जाणेहि जाव धम्मस्थी ।

धम्मस्थिकायभावे तत्तो परवो ण गच्छंति ॥१८४॥ नि. सा.

अर्थ—जहाँ तक धर्मास्तिकाय है वहाँ तक जीवों का और पुद्गलों का गमन जानना चाहिए । धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण उससे आगे जीव-पुद्गल गमन नहीं करते हैं ।

यदि धर्मद्रव्य को जीव पुद्गल के गमन में सहकारी कारण न माना जाय और उसके अभाव में जीव-पुद्गलों के गमन का अभाव न माना जाय तो सर्वोत्कृष्ट स्वाभाविक ऊर्ध्वगति से परिणत सिद्ध भगवान लोकाकाश के अन्त में क्यों रुक जाते ? कहा भी है—

“उद्धृगदिष्पघाणा सिद्धाच्चिद्धंति किधतस्थ ।” (पं० का०)

तत्त्वार्थसूत्र में श्री ‘धर्मास्तिकायाभावात् ।’ सूत्र द्वारा यह बतलाया है कि धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण सिद्धजीव लोक के अन्त में ठहर जाते हैं ।

कुछ अन्य मतियों का यह कहना है कि जीव व पुद्गल लोकाकाश के द्रव्य हैं । उनमें लोकाकाश से बाहर जाने की शक्ति नहीं है, किन्तु उनकी यह मान्यता जैन मान्यता से विरुद्ध है, क्योंकि सिद्धों में सर्वोत्कृष्ट स्वाभाविक ऊर्ध्वगमनशक्ति है । कहा भी है—

“सर्वोत्कृष्टस्वाभाविकोर्ध्वगतिपरिणता भगवंतः सिद्धाः ।”

लोक-अलोक का विभाजन भी धर्म-अधर्म के कारण हुआ है ।

सोघालोयविभेयं गमणं ठाणं च जाण हेद्वीह ।

जइ ण्हि ताणं हेऊ किह लोयालोयववहारं ॥१३५॥ नयचक्र

लोक-अलोक के विभाजन में धर्म-अधर्मद्रव्य कारण है यदि धर्म-अधर्मद्रव्य का विभाजन न माना जाय तो लोक-अलोक का व्यवहार नहीं हो सकता है ।

—जै. ग. 14-1-71/VII/ टो. ला. जैन

जीव की लोकाकाश से बाहर जाने की शक्ति तो है; पर व्यक्ति नहीं; यह त्रिकाल सत्य है

हांका—श्री कानजी स्वामी परमार्थ से शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा ‘जीव में लोकाकाश तक ही जाने की शक्ति है, अलोकाकाश में जाने की शक्ति नहीं है’ कहते हैं । फिर ३१ अक्टूबर १९५७ के जैन-संदेश में व्यवहारनय का आश्रय लेकर इस निश्चयनय के पक्ष का खंडन करना उचित नहीं है ।

एक विद्वान ने अपने उपदेश में स्वामीजी के इस मत का मंडन करते हुए एक दृष्टान्त भी दिया है जो इस प्रकार है—‘दूरान्दूर भव्य के मोक्ष जाने की शक्ति के व्यक्त होने का प्रसंग कभी नहीं आवेगा । इससे निश्चयनय से दूरान्दूरभव्य के मोक्ष जाने की शक्ति का अभाव ही मानना पड़ेगा । इसीप्रकार जीव की अलोकाकाश में जाने की शक्ति के व्यक्त होने का प्रसंग कभी आवेगा नहीं अतः निश्चयनय से जीव में अलोकाकाश में जाने की शक्ति का अभाव स्वीकार करना पड़ेगा ।’

या तो आप अपना भूल को स्वीकार करें या निश्चयनय की अपेक्षा से इस विषय को स्पष्ट करने की कृपा करें ?

समाधान—मैंने ३१ अक्टूबर १९५७ के समाधान में अनेक दिगम्बर जैन आगमों का प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि जीव में अलोकाकाश में जाने की शक्ति है, किन्तु लोकाकाश से प्राये धर्मद्रव्य जो कि गमन में सहकारिकारण है, का अभाव होने से वह शक्ति व्यक्त नहीं होने पाती । अतः धर्मद्रव्य के अभाव के कारण जीव लोकाकाश के बाहर गमन नहीं कर पाता, लोकाकाश के अन्त में रुक जाता है ।

संसारी जीवों का कर्म के निमित्त से छड़ों दिशाओं में गमन होता है, किन्तु मुक्त जीवों के स्वाभाविक ऊर्ध्वगति होती है (पंचास्तिकाय गाथा ७३ की टीका) कर्मों के प्राचीन होने के कारण संसारी जीवों की गति तो सावधि हो सकती है, किन्तु मुक्त जीवों के कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने के कारण उनकी (मुक्त जीवों की) स्वाभाविक ऊर्ध्वगमनशक्ति सावधि न होकर निरवधि होगी, क्योंकि विरोधी कारण का सर्वथा अभाव है। श्री पंचास्तिकाय गाथा ९२ की टीका में कहा है कि सिद्ध भगवान सर्वोत्कृष्ट स्वाभाविक ऊर्ध्वगति परिणत होते हैं 'सर्वोत्कृष्ट स्वाभाविकोर्ध्वगतिपरिणत भगवंतः सिद्धाः।' श्री अमृतचन्द्राचार्य पंचास्तिकाय गाथा ९४ की टीका में लिखते हैं 'जीव पुद्गलानां गतिस्थित्योनिःसीमत्वात्' अर्थात् जीव व पुद्गलों की गति सीमारहित है।

'जीव में उपादानशक्ति ही लोकाकाश तक गमन करने की है' ये वाक्य उपपुक्त आगमप्रमाणों से तथा ३१ श्रवतूबर व ७ नवम्बर १९५७ के जैन-संदेश में दिये गये आगम प्रमाणों से विरुद्ध है। अतः शंकाकार स्वयं विचार करे कि उक्त समर्थान में भेरी भूल है या 'जीव की गमन शक्ति को सीमित' माननेवाले की। भूल स्वीकार करना दूषण नहीं, किन्तु भूषण है। यदि भेरी भूल होती तो मैं तुरंत स्वीकार कर लेता।

निश्चयनय शक्ति का विवेचन करता है न कि शक्ति की व्यक्ति का कहा है—'सर्वे शुद्धा ह्यु मुदणया—त एव सर्वे संसारिणः शुद्धा सहजशुद्धकैकस्वभावाः।' अर्थात् वे ही सब संसारीजीव निश्चयनय की अपेक्षा से शुद्ध यानी स्वाभाविक शुद्धज्ञायकरूप स्वभाव धारक हैं। यह निश्चयनय का कथन शक्ति की अपेक्षा से है, क्योंकि संसारी जीव अशुद्ध हैं फिर भी उनको निश्चयनय की दृष्टि में शक्ति की अपेक्षा शुद्ध कहा है। (बृहद्ब्रह्मसंह्ये गीगा १२ व टीका) इसीप्रकार सिद्धभगवान का अलोकाकाश में गमन न होने पर भी निश्चयनय की दृष्टि में असीमित शक्ति की अपेक्षा यह ही कहा जावेगा कि सिद्धभगवान में अलोकाकाश में गमन करने की उपादानशक्ति है। अतः निश्चयनय की अपेक्षा भी सिद्धों की शक्ति को सीमित मानना आगमानुकूल नहीं है।

सिद्धभगवान में अलोकाकाश में गमन करने की उपादानशक्ति का अभाव सिद्ध करने के लिये जो दूरानदूर भव्य का इष्टान्त दिया गया है वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'दूरानदूर भव्य में मोक्ष जाने की शक्ति का अभाव है' ऐसा आगम वाक्य नहीं है, किन्तु उनमें मोक्ष जाने की शक्ति का सद्भाव है, जैसा कि षट्खंडागम पुस्तक ७ पृ० १७६ पर कहा है—अनादि से अनन्तकाल तक रहनेवाले भव्य जीव हैं तो सही पर उनमें संसार अविनाशशक्ति का अभाव है अर्थात् संसार विनाशशक्ति का सद्भाव है।

वर्तमान में दिग्म्बर जैन वाणी के अतिरिक्त इस जीव का हितु अन्य कोई नहीं है। शास्त्रों के द्वारा ही देव, गुह, घमं व नवपदार्थ व निज के वास्तविक स्वरूप का बोध होता है, जिससे सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। श्री प्रवचनसार में कहा भी है—जिनशास्त्र द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थों को जाननेवाले के नियम से मोहसमूह क्षय हो जाता है इसलिये शास्त्र का सम्यक्प्रकार से अध्ययन करना चाहिये। (गाथा ८६) श्रमण (मुनि) एकाग्रता को प्राप्त होता है एकाग्रता पदार्थों के निश्चयवान के होती है। पदार्थों का निश्चय आगम द्वारा होता है इसलिये आगम मुख्य है (गा० २३२) आगमहीन श्रमण आत्मा को, पर को नहीं जानता। पदार्थों को नहीं जानता हुआ भिक्षु कर्मों को किसप्रकार क्षय कर सकता है (गा० २३३) इसलोक में जिसकी आगमपूर्वक दृष्टि नहीं है, उसके संयम नहीं है, इसप्रकार सूत्र कहता है और वह असंयत श्रमण कैसे हो सकता है (गा० २३६) आगम से यदि पदार्थों का श्रद्धान न हो तो मुक्ति नहीं हो सकती (गा० २३७) प्रत्येक दिग्म्बर जैन को आगम पर अवश्य श्रद्धान रखना चाहिये। जिसको आगम पर श्रद्धान है उसको आगमविरुद्ध उपदेश नहीं देना चाहिये। उसको तो ऐसे वाक्य भी नहीं उच्चारण करने चाहिये जिनका आगम से विरोध होता हो। आगम से विरुद्ध बोलनेवाला आगम का श्रद्दालु कैसे हो सकता है? जिसको दिग्म्बर जैन आगम पर श्रद्दा नहीं वह क्या है, स्वयं पाठकरण

विचार करलें। हमारी तो जिनआगम पर ऐसी दृढ़ श्रद्धा होनी चाहिये कि स्वप्न में या भूल में भी कोई वाक्य आगमविरोध न निकले।

—जै. सं. 7-8-58/V/ हुलाप्रघण्ड

धर्मादिक द्रव्यों के कार्य

शंका—धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य अजीव होते हुए भी अरूपी हैं। इन चारों में से प्रत्येक द्रव्य का कार्य भिन्न-भिन्न है, किन्तु इनका कार्य जीव और पुद्गलद्रव्य की तरह अनुभव में नहीं आता ?

समाधान—धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चारों द्रव्य अरूपी हैं अतः ये द्रव्य इन्द्रियगोचर तो हो नहीं सकते, किन्तु इनके कार्यों से इनका अनुमान किया जा सकता है। अतः इनके अस्तित्व का ज्ञान होता है। जीव और पुद्गल यद्यपि सक्रिय द्रव्य हैं, किन्तु बिना धर्मद्रव्य के उनकी क्रिया नहीं हो सकती, क्योंकि धर्मद्रव्य जीव और पुद्गल के गमन में सहायक है जिसप्रकार जल मछली के चलने में सहायक है। धर्मद्रव्य जीव और पुद्गल के चलने में प्रेरक कारण नहीं है जिसप्रकार जल मछली के चलने में प्रेरक कारण नहीं है। यदि धर्मद्रव्य प्रेरक कारण होता तो कोई भी जीव या पुद्गल स्थिर न पाया जाता। शक्ति होते हुए भी धर्मद्रव्य के बिना जीव और पुद्गल गमन भी नहीं कर सकते। जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है सिद्ध भगवान में अनन्त शक्ति है, किन्तु धर्मद्रव्य के अभाव के कारण अलोकाकाश में गमन नहीं कर सकते। धर्मद्रव्य के अभाव के अतिरिक्त अन्य कोई भी कारण नहीं जो अनन्त शक्तिवाले सिद्ध भगवान के गमन को रोक दे, क्योंकि सिद्ध भगवान में कर्मों का सर्वथा अभाव है।

तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५ सूत्र १७ 'गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः। में जो 'उपग्रह' शब्द आया है उसका अर्थ 'द्रव्यों की शक्ति का आविर्भाव करने में कारण होना' है राजवार्तिक अ० ५ सूत्र १७ वार्तिक ३। इसी सूत्र की वार्तिक ३१ में कहा है—'जैसे अकेले मृत्पिण्ड से घड़ा उत्पन्न नहीं होता; उसके लिये कुम्हार, चक्रचीवर आदि अनेक बाह्यकारण अपेक्षित होते हैं उसी तरह गति और स्थिति भी अनेक बाह्य कारणों की अपेक्षा करती है। इनमें सब की गति और स्थिति के लिये साधारणकारण क्रमशः धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य होते हैं। इसतरह अनुमान से धर्म और अधर्मद्रव्य प्रसिद्ध हैं।' पंचास्तिकाय गाथा ८७ में कहा गया है कि लोक और अलोक का विभाग ही धर्म और अधर्म के कारण हुआ है। यदि धर्म और अधर्मद्रव्य गति व स्थिति में कारण न होते तो अलोकाकाश में भी जीव और पुद्गल पाये जाते पंचास्तिकाय गाथा ९२, ९३, ९४ व उनकी टीका।

इसीप्रकार भ्रवगाहनहेतुत्वगुण के द्वारा आकाशद्रव्य का भी अनुमान होता है। कालद्रव्य का भी वर्तनाहेतुत्व गुण के द्वारा अनुमान होता है। यद्यपि परिणमन करने की शक्ति प्रत्येकद्रव्य में है, परन्तु यदि कालद्रव्य न होता तो उन द्रव्यों की परिणमनशक्ति व्यक्त नहीं हो सकती थी। कालद्रव्य को 'समय' पर्याय है असंख्यात समयों की आवृत्ति और संख्यात आवृत्तियों का एक मुहूर्त होता है। यह काल अनुभव में आता है। इसप्रकार काल का भी अनुमान होता है।

—जै. ग. 4-4-63/IX/ श्रान्तिनाल

आकाश सर्वव्यापक तथा दो भेदवाला कैसे है ?

शंका—आकाश सर्व व्यापक कैसे है ? यदि आकाश सर्व-व्यापक है तो उसके लोकाकाश और अलोकाकाश ऐसे दो खण्ड नहीं हो सकते, क्योंकि सर्वव्यापक अखण्ड होता है ?

समाधान—आकाश अखण्ड एकद्रव्य है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा भी है—

“आ आकाशावेकद्रव्याणि ॥ ६ ॥”

आकाश पर्यन्त अर्थात् धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य ये तीनों एक-एक द्रव्य हैं । ये तीनों द्रव्य की अपेक्षा से एक एक हैं, किन्तु क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से अनेक हैं । कहा भी है—

“अवगाह्यनेकद्रव्य विविधावगाहनिमित्तत्वेन अनन्तभावत्वेऽपि प्रदेशभेदात् सति चानन्तक्षेत्रत्वे द्रव्यतः एकमेवाकाशमिति ।” रा. वा. अध्याय ५ सूत्र ६ वार्तिक ६ ।

अर्थ—आकाश को अवगाहन करनेवाले अनेक द्रव्यों के अनन्त अवगाहन होते हैं इसलिये अनन्त अवगाहनों के कारण भाव की अपेक्षा यद्यपि आकाशद्रव्य अनन्त है एवं आकाश के अनन्तप्रदेश हैं इसलिये क्षेत्र की अपेक्षा भी आकाश अनन्त है, परन्तु द्रव्य की अपेक्षा आकाश एक ही है ।

एक द्रव्य में प्रदेश (खण्ड) कल्पना मात्र हो सो भी बात नहीं है और प्रदेश भेद होने से अर्थात् खण्ड होने से एक द्रव्यपने की हानि हो जाती हो सो भी बात नहीं है । कहा भी है—

“एकद्रव्यस्य प्रदेशकल्पनोपचार इति चेत् न, मुख्यक्षेत्रविभागात् । मुख्य एवं क्षेत्रविभागाः अन्यो हि घटावगाह्याः आकाशप्रदेशः इतरावगाह्याश्चान्य इति । यदि अन्यत्वं न स्यात्; व्याप्तित्वं व्याहृत्यते । निरवयवत्वानुपपत्तिरिति चेत् न, द्रव्यविभागाभावात् । यथा घटो द्रव्यतो विभागवान् सावयवः, न च तथैषां द्रव्यविभागोऽस्तीति निरवयवत्वं प्रयुज्यते ।” (रा. वा. अ. ५ सूत्र ८)

एक अखण्डद्रव्य में प्रदेश कल्पना अर्थात् खण्ड कल्पना उपचार मात्र से है, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि क्षेत्र की अपेक्षा से अखण्डद्रव्य में विभाग मुख्यरूप से हैं । जिसको घट ने अवगाहन कर रखा है वह आकाश प्रदेश अन्य है और जिसको अग्न्य पदार्थ ने अवगाहन कर रखा है वे आकाश प्रदेश अन्य हैं ऐसी प्रतीति है । यदि मुख्यरूप से क्षेत्र का विभाग न माना जायगा तो आकाश का व्यापकपना ही न सिद्ध होगा अर्थात् प्रदेशों को भिन्न भिन्न न मानकर यह घटाकाश है यह पटाकाश है यह मठाकाश है इसप्रकार आकाश ही भिन्न-भिन्न माना जायगा तो आकाश का व्यापकपना न बन सकेगा । जिसप्रकार घटरूप द्रव्य के जुदे-जुदे टुकड़े हो जाते हैं इसलिये वह सावयव अर्थात् अवयवविशिष्ट पदार्थ है उसप्रकार धर्म-अधर्म आकाश द्रव्यों के विभाग नहीं किसी भी कारण से घट के समान उसके जुदे-जुदे टुकड़े नहीं हो सकते, इसलिये उनका निरवयवपना नाशित नहीं है ।

आकाशद्रव्य के प्रदेश अन्य सब द्रव्यों और उनके प्रदेशों से अनन्तगुणे हैं, अतः आकाशद्रव्य सबसे बड़ा होने के कारण व्यापक है । आकाशद्रव्य के प्रदेशों की गणना इसप्रकार है—

“सर्वजीवरासी वगिज्जमाणा वगिज्जमाणा अणंतलोगमेत्तवग्गण्ट्वाणाणि उवरिगंतूण सर्वपोगलदब्बं पाववि । पुणो सर्वपोगलदब्बं वगिज्जमाणां वगिज्जमाणां अणंतलोगमेत्तवग्गिण्ट्वाणाणि उवरिगंतूण सदाकालं पाववि । पुणो सर्वकाला वगिज्जमाणा वगिज्जमाणा अणंतलोगमेत्तवग्गण्ट्वाणाणि उवरिगंतूण सर्ववासासेऽंठि पाववि ।”

(परिकर्म सूत्र एवं त्रिलोकसार गाथा ६९ की टीका)

अर्थ—सर्व जीवराशिका उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्तलोकप्रमाण वर्गस्थान आगे जाकर पुद्गल द्रव्य प्राप्त होता है । पुनः सब पुद्गलद्रव्य का उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्तलोकमात्र वर्गस्थान आगे जाकर सब काल के समय प्राप्त होते हैं । पुनः सब कालसमयों का उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्त लोकमात्र वर्गस्थान आगे जाकर सर्व आकाश के प्रदेश प्राप्त होते हैं ।

परिकर्म के इन आर्षं वचनों से जाना जाता है कि आकाशद्रव्य सबसे बड़ा है अतः वह व्यापक है ।

—जं. ग. 23-9-71/VII/ टो. ला. भित्तल

अवकाशदान आकाश का ही असाधारण गुण हो सकता है

शंका—अवकाश देना आकाश का ही असाधारण गुण क्यों ? क्योंकि अन्य द्रव्य भी परस्पर एक दूसरे को स्थान देते हैं । सिद्धों के अवगाहनत्व गुण का क्या प्रयोजन है ?

समाधान—इस प्रकार की शंका सर्वार्थसिद्धि में भी उठाई गई है । उसका समाधान निम्न प्रकार किया गया है—

“यद्येवं नेवमाकाशस्यासाधारणं लक्षणम्, इतरेषामपि तत् सूत्रावाविति ? तन्न, सर्वपदार्थानां साधारणाव-
गाहनहेतुत्वमस्यासाधारणं लक्षणमिति नास्ति दोषः । सर्वार्थसिद्धि ५।१८ ।

“यदि धर्मादीनां लोकाकाशमाधारः आकाशस्य क आधार इति ? आकाशस्य नास्त्यन्याधारः । स्वप्रतिष्ठ-
भाकाशम् । यथाकाशं स्वप्रतिष्ठम्; धर्मादीन्यपि स्वप्रतिष्ठान्येव । अथ धर्मादीनामन्य आधारः कल्प्यते, आकाश-
स्याप्यन्य आधारः कल्प्यः । तथा सत्यनवस्थाप्रसङ्ग इति चेत् ? नैव दोषः नाकाशादन्यदधिकपरिमाणं द्रव्यमस्ति
यत्राकाशं स्थितिमित्युचेत् सर्वतोऽनन्तं हि तत् ।” सर्वार्थसिद्धि ५।१२ ।

अर्थ—यदि ऐसा है तो ‘अवकाशदान’ आकाश का असाधारण लक्षण नहीं रहता, क्योंकि दूसरे द्रव्यों में भी अवकाशदान पाया जाता है ? यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि आकाशद्रव्य सब पदार्थों को अवकाश देने में साधारण कारण है, यही इसका असाधारण लक्षण है, इसलिये कोई दोष नहीं है ।

यदि धर्मादिकद्रव्यों का लोकाकाश आधार है तो आकाश का क्या आधार है ? आकाश का अन्य आधार नहीं है, क्योंकि आकाश स्वप्रतिष्ठ है । यदि आकाश स्वप्रतिष्ठ है तो धर्मादिकद्रव्य भी स्वप्रतिष्ठ होने चाहिये । यदि धर्मादिकद्रव्यों का अन्य आधार माना जाता है तो आकाश का भी अन्य आधार मानना चाहिये और ऐसा मानने पर अनवस्था दोष प्राप्त होता है । यह दोष देना ठीक नहीं है, क्योंकि आकाश से अधिक परिमाणवाला अन्य द्रव्य नहीं है, वह सबसे अनन्त है ।

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि यदि आकाश के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों में भी ‘अवकाशदान’ असाधारण गुण माना जायगा तो उनको भी समस्त द्रव्यों को अवकाश देना चाहिये, किन्तु वे समस्त आकाशद्रव्य को अवकाश देने में असमर्थ हैं, क्योंकि क्षेत्र की अपेक्षा आकाश से बड़ा अन्य नहीं है । आकाश ही सबसे बड़ा द्रव्य होने से आकाश तो अन्य द्रव्यों को अवकाश देता है, किन्तु अन्यद्रव्य सम्पूर्ण आकाश को अवकाश देने में असमर्थ हैं । अतः अवकाशदान अन्यद्रव्यों का असाधारण गुण नहीं हो सकता है, मात्र आकाश का ही है

—जं. ग. 1-6-72/VII/ ट. ला. जैन

लोक-अलोक की व्याख्या तथा इनके विभाजन का हेतु

शंका—लोक और अलोक की व्याख्या क्या है और इनके विभाजन का क्या कारण है ?

समाधान—आकाश एक अखंडद्रव्य है । उस आकाश के जितने क्षेत्र में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और कालद्रव्य पाये जाते हैं वह लोकाकाश है और उससे आगे अलोकाकाश है । श्री कुन्बकुन्बाचार्य ने कहा भी है—

समवाओ पंचण्हं समउ त्ति त्रिणुत्तमेहि पणणत्तं ।

सो चेव हवदि लोओ तत्तो अनिओ अलोओ खं ॥ ३ ॥ पंचास्तिकाय

अर्थ— पाँच जीवादि द्रव्यों का समूह समय है ऐसा त्रिनेन्द्र ने कहा है । वही पाँचों का समुदाय लोक है, इससे बाहर अप्रमाण अलोकमात्र शुद्धआकाश है ।

“लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादि पदार्था यत्र स लोकः तस्माद्बहिर्भूतमनन्तशुद्धआकाशमलोक इति ।”

अर्थ—जहाँ जीव आदि पदार्थ दिखलाई पड़े सो लोक है, इसके बाहर अनन्त शुद्धआकाश है सो अलोक है ।

लोयालोयविभेयं गमणं ठाणं च हेवूहि ।

अइ णहि ताणं हेऊ किह लोयालोयववहारं ॥१३५॥ (नयचक्र)

गमन और स्थिति के हेतुभूत धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य के द्वारा लोक और अलोक का विभाजन किया गया है । यदि धर्म और अधर्मद्रव्य न होते तो लोक और अलोक का व्यवहार ही सम्भव नहीं हो सकता ।

“जादो अलोगलोगो तेसि सब्भावदो य गमणठिदो ॥८७॥” (पंचास्तिकाय)

धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य की सत्ता होने से ही लोक और अलोक का विभाजन हुआ है तथा जीव पुद्गल की गमन व स्थिति होती है ।

“लोकालोकद्वयं कस्माज्जातं ? यद्यो धर्माधर्मयोः स्वभावतश्च ।”

टीका—धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य के स्वभाव से ही लोक और अलोक इन दोनों की उत्पत्ति होती है ।

“धर्माधर्मो विद्यते, लोकालोकविभागान्यथानुपपत्तेः । जीवादिपदार्थानामेकत्र वृत्तिरूपो लोकः । शुद्धआकाशवृत्तिरूपोऽलोकः ।”

टीका—यदि धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य न हों तो लोक और अलोक का विभाग नहीं हो सकता । धर्म और अधर्म विद्यमान हैं, क्योंकि लोक और अलोक का विभाग पाया जाता है । जीवादि सर्व पदार्थों के एकत्र अस्तित्वरूप लोक है, शुद्धएकआकाश से अस्तित्वरूप अलोक है ।

इन आर्षवाक्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि लोक-अलोक का विभाजन धर्म अधर्मद्रव्यों के कारण है । जहाँ तक जीव आदि पदार्थ पाये जाते हैं वह लोक है । जहाँ पर केवल आकाश ही द्रव्य है वह अलोक है ।

—जं. ग. 23-9-71/VII/ टो. ला. मित्तल

समय कथंचित् अविभागी व कथंचित् सविभागी है

शंका—आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर जाने में परमाणु को जितना काल लगता है, उसको समय कहते हैं । किन्तु तीव्रगति से एकसमय में १४ राजू गमन करता है । १४ राजू के जितने प्रदेश हैं, समय के उतने भाग हो जाते हैं क्योंकि प्रत्येक प्रदेश को परमाणु भिन्न-भिन्न काल में स्पर्श करता है फिर समय को अविभागी क्यों कहा जाता है ?

समाधान—इस विषय में अनेकांत है । समय अविभागी भी है, सविभागी भी है । कोई भी कार्य एक समय से कम काल में समाप्त नहीं होता है, इस अपेक्षा से समय अविभागी है, किन्तु एक समय में १४ राजू गमन

करने पर समय सविभागी है। इसीप्रकार परमाणु भी सावयव भी है और निरवयव भी है। परमाणु का विभाग नहीं हो सकता इस अपेक्षा से निरवयव है, किन्तु दो परमाणुओं का परस्पर देशस्पर्श होता है, अन्यथा स्थूल स्कन्धों की उत्पत्ति नहीं बन सकती, इस अपेक्षा से परमाणु सावयव है। धवल पु० १३ पु० २१-२४।

जैनधर्म का मूल सिद्धांत अनेकांत है। अनेकान्त का श्रद्धान करने वाला ही सम्यग्दृष्टि है। जिसको किसी भी विषय में एकांत का आग्रह है, वह मिथ्यादृष्टि है।

—जं. ग. 7-8-67/VII/ त्रान्तिलाल

काल की सत्ता है

शंका—भावसंग्रह पु० २०५ गाथा ३१६ के अर्थ में लिखा है कि कालद्रव्य सत्तारूप से नहीं है, इसलिये उसे अस्तिकाय भी नहीं कहते। क्या जिन द्रव्यों की सत्ता मौजूद है वही अस्तिकाय द्रव्य हैं सो खुलासा करना ?

समाधान—भावसंग्रह गाथा २०५ निम्न प्रकार है—

एयं तु द्रव्यं छवकं जिरोहि पंचस्थिकाइयं भणियं ।
वज्जियं कायं कालो कालस्स एएसयं णत्थि ॥३१६॥

पु० २०५ पर अर्थ इसप्रकार लिखा है—“इसप्रकार भगवान् जिनेन्द्रदेव ने छहद्रव्यों का स्वरूप कहा है। इन छहों द्रव्यों में से काल को छोड़कर शेष पांचद्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं। जिनकी सत्ता हो उनको अस्तिकाय कहते हैं और जो काय व शरीर के समान अनेक प्रदेशवाला हो उसको काय कहते हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पांचों द्रव्य बहुप्रदेशी हैं इसलिये अस्तिकाय कहलाते हैं। काल के प्रदेश नहीं हैं वह एक ही प्रदेशी है इसलिये अस्तिकाय नहीं कहते हैं।”

यहाँ पर ‘काल की सत्ता नहीं है’ ऐसा नहीं कहा है किन्तु ‘वह एक ही प्रदेशी है’ इससे काल की सत्ता स्वीकार की गई है, किन्तु बहुप्रदेशी न होने के कारण इस को काय नहीं कहा गया है।

‘काल अस्तिकाय नहीं है’ इन शब्दों से शंकाकार को भ्रम हो गया है। किन्तु काल एक ही प्रदेशी है इससे काल की सत्ता स्वीकार की गई है।

—जं. ग. 12-6-69/VII/रो. ला मित्तल

प्रत्येक कालाणु की पृथक्-पृथक् समयरूप पर्याय होती है

शंका—‘समय’ पर्याय कालाणुओं की एक समयवर्ती ब्रह्मा का ही नाम है या और कुछ ? क्या वह प्रत्येक कालाणु पृथक् २ पर्याय होगी ?

समाधान—कालाणु की समयरूप पर्याय है और समयरूप पर्याय की जो स्थिति है, वह समयरूप व्यवहार-काल है। पंचास्तिकाय गाथा २६ की टीका में कहा है—

“समयस्तावत्सूक्ष्मकालरूपः प्रसिद्धः एव पर्यायः न च द्रव्यं । कथं पर्यायत्वमिति चेत् ? उत्पन्नप्रवृत्तित्वात्पर्यायस्य, समओ उत्पन्न पद्धंसीति वचनात् ।”

समय सबसे सूक्ष्मकालरूप प्रसिद्ध एक पर्याय है, वह द्रव्य नहीं है। उत्पन्न होना और विनाश होना पर्याय का लक्षण है। समय भी उत्पन्न होता है और विनाश होता है। इसलिये पर्याय है।

“स्थितिः कालसंज्ञका । तस्य पर्यायस्य सम्बन्धिनी याऽसौ समयघटिकाविरूपा स्थिति सा व्यवहारकालसंज्ञा भवति, न च पर्याय इत्यभिप्रायः ।” द्रव्यसंग्रह गाथा २१ टीका ।

जो स्थिति है वह काल-संज्ञक है । अर्थात् द्रव्य की पर्याय से सम्बन्ध रखनेवाली जो समय, घड़ीआदिरूप स्थिति है; वह स्थिति ही व्यवहारकाल है, किन्तु पर्याय व्यवहारकाल नहीं है ।

प्रत्येक कालाणु पृथक् २ द्रव्य है अतः प्रत्येक कालाणु की पृथक्-पृथक् समयरूप पर्याय होती है ।

—जं. ग. 24-8-72/VII/ ट. ला. जंन

समस्त पर्यायों में कालद्रव्य कारण नहीं होता

शंका—क्या समस्त पर्यायों में कालद्रव्य कारण नहीं होता ?

समाधान—सर्वपर्यायों में कालद्रव्य कारण नहीं होता । जैसे अभावव्यत्व पर्याय है तथा इसी तरह अन्य अनादि-अनन्त पर्यायों में कालद्रव्य कारण नहीं होता । सादि-अनन्तपर्यायों की स्थिति में कालद्रव्य कारण नहीं होता । कालद्रव्य का लक्षण वर्तना में कारणपना है, जो शुद्धद्रव्य में अगुसलघुगुण के कारण होती है और अशुद्ध-द्रव्यों में बन्ध के कारण व काल के कारण होती है ।

—पृष्ठ 21-4-80/ज. ला. जैन, भीण्डर

काल के परिणमन में सहकारी कारण काल है

शंका—अन्य द्रव्यों के परिणमन में कालद्रव्य सहकारी कारण है, किन्तु कालद्रव्य के परिणमन में कौन सहकारी कारण है ?

समाधान—जिसप्रकार ज्ञान को जानने के लिये अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती है, क्योंकि ज्ञान जिसप्रकार पर को जानता है उसीप्रकार अपने को भी जान लेता है, इसीलिये ज्ञान को दीपक के समान स्व-पर प्रकाशक कहा गया है । आकाशद्रव्य अन्य समस्त द्रव्यों को अवगाहन देता है और स्व को भी अवगाहन देता है, आकाश को अवगाहन देने के लिये अन्यद्रव्य की आवश्यकता नहीं होती है । इसीप्रकार काल भी अन्य द्रव्यों के परिणमन तथा अपने परिणमन में कारण है । कहा भी है—

न चैवमनवस्था स्यात्कालस्यान्यान्याव्यपेक्षान्ता ।

स्ववृत्तो तस्वभावस्थास्वयं वृत्तोः प्रसिद्धितः ॥१२॥ श्लोकवार्तिक ५।२२

यदि कोई यों कहे कि धर्मादिक की वर्तना कराने में कालद्रव्य साधारण हेतु है और कालद्रव्य की वर्तना में भी वर्तयिता किसी अन्य द्रव्य की आवश्यकता पड़ेगी और उस अन्य द्रव्य की वर्तना करने में भी द्रव्यान्तरों की आकांक्षा बढ़ जाने से अनवस्था दोष होगा ? ग्रन्थकार कहते हैं—हमारे यहाँ इस प्रकार अनवस्था दोष नहीं आता है, क्योंकि काल को अन्य द्रव्य की व्यपेक्षा नहीं है, अपनी वर्तना करने में उस काल का वही स्वभाव कारण है, क्योंकि दूसरों के वर्तना कराने के समान कालद्रव्य की स्वयं निज में वर्तना करने की प्रसिद्धि हो रही है । जैसे आकाश दूसरों को अवगाह देता हुआ स्वयं को भी अवगाह दे देता है तथा ज्ञान अन्य पदार्थों को जानता हुआ भी स्वयं को जान लेता है । श्लोकवार्तिक छठा खंड पृ. १६०-१६१ ।

—जं. ग. 7-1-71/VII/ टो. ला. मिचल

आस्रव तरव

आस्रव का कारण

शंका—आस्रव का कारण योग है या कषाय व योग है ?

समाधान—आस्रव का कारण योग है। तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ६ सूत्र १ व २ में योग को आस्रव कहा है। साम्प्रदायिकआस्रव में कषायसहित योग आस्रव का कारण है। साम्प्रदाय का अर्थ कषाय है।

—जौ. ग. 31-10-63/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

एक ही समय में भावास्रव, द्रव्यास्रव व बन्ध होते हैं

शंका—जिससमय भावास्रव होता है क्या उसी समय द्रव्यास्रव होता है या उत्तर समय में ? बन्ध भी क्या उसीसमय में होता है या अनन्तर समय में ?

समाधान—योग के निमित्त से द्रव्यास्रव होता है। द्रव्यास्रव का यह अर्थ नहीं है कि कार्माणवर्गणा कहीं बाहर से आती है, किन्तु जहाँ पर जीव है वहीं पर बन्धयोग्य कार्माण-वर्गणारूप पुद्गलस्कंध भी है। कहा भी है—

“यत्रैव शरीरावगाढक्षेत्रेजीवस्तिष्ठति बन्धयोग्यपुद्गला अपि तत्रैव तिष्ठन्ति न च बहिर्भागाज्जीव आनय-
तीति ।” प्रवचनसार गाथा १६८ टीका ।

अर्थात्—जहाँ पर जीव स्थित है वहीं पर बन्धयोग्य पुद्गल भी स्थित है बाहर से जीव नहीं लाता ।

इसी बात को मोक्षशास्त्र अध्याय ८ सूत्र २४ में ‘सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः’ द्वारा कहा गया है। भी अकलंकदेव ने भी इस सूत्र की टीका में कहा है—

“आत्मप्रवेशकर्मपुद्गलैकाधिकरणव्यतिरिक्तक्षेत्रान्तरनिवृत्त्यर्थमेकक्षेत्रावगाह इति वचनं क्रियते ।”

अर्थात्—आत्मप्रवेश और कर्मयोग्य पुद्गलों का एक अधिकरण है तथा ग्रन्थ क्षेत्र के निराकरण के लिये सूत्र में एक क्षेत्रावगाह वचन दिया गया है ।

यह कर्मयोग्य पुद्गलद्रव्य आठ प्रकार का होता है षड्खंडागम में कहा भी है—

“जाणावरणीयस्त बंसणावरणीयस्त वेद्यणीयस्त मोहणीयस्त आठअस्त णामस्त गोदस्त अंतराइयस्त जाणि
द्वेषाणिषेतूण णाणावरणीयस्ताए बंसणावरणीयस्ताए वेद्यणीयस्ताए मोहणीयस्ताए आठअस्ताए णामस्ताए गोदस्ताए
अंतराइयस्ताए परिणामेदूण परिणमंति जीवा ताणि द्दव्याणि कम्मइयदध्ववग्गणा णाम ॥ ७५८ ॥”

वर्गणा खंड बन्धन-अनुयोगद्वार कूलिका

टीका—जाणावरणीयस्त जाणि पाओग्गणि द्दव्याणि ताणि चैव मिच्छताविपच्चएहि पंचजाणावरणीय-
सकूवेण परिणमंति ण अओसि सकूवेण । कुदो ? अप्पाओग्गतावो । एवं सर्व्वेसि कम्मणं वत्तव्वं, अण्णहा णाणा-
वरणीयस्त जाणि द्दव्याणि ताणि मिच्छाविपच्चएहि जाणावरणीयस्ताए परिणामेदूण जीवा परिणमंति ति सुत्ताणु-
ववत्तोवो ।

सूत्र-अर्थ—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, द्रायु, नाम, मोत्र और अन्तराय के जो द्रव्य हैं, उनको ग्रहणकर ज्ञानावरणरूप से, दर्शनावरणरूप से, वेदनीयरूप से, मोहनीयरूप से, आयुरूप से, नामरूप से,

गोत्ररूप से और अन्तरायरूप से परिणामाकर जीव परिणामन करते हैं, अतः उन द्रव्यों की कार्माण-द्रव्य वर्गणा संज्ञा है ॥ ७५८ ॥

टीकार्थ—ज्ञानावरणीय के योग्य जो द्रव्य हैं वे ही मिथ्यात्व आदि प्रत्ययों के कारण पाँच ज्ञानावरणीय-रूप से परिणामन करते हैं, अन्यरूप से वे परिणामन नहीं करते, क्योंकि वे अन्य के अयोग्य होते हैं। इसीप्रकार सब कर्मों के विषय में कहना चाहिए, अन्यथा ज्ञानावरणीय के जो द्रव्य हैं उन्हें ग्रहणकर मिथ्यात्व आदि प्रत्ययवश ज्ञानावरणीयरूप से परिणामाकर जीव परिणामन करते हैं, यह सूत्र नहीं बन सकता है।

इससे सिद्ध है कि जिस समय भावासन्न (योग) है उसीसमय द्रव्यासन्न है, क्योंकि कार्माणवर्गणा (बन्ध पुद्गलद्रव्य) बाहर से नहीं आता।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच कर्मबन्ध के प्रत्यय अर्थात् हेतु (कारण) हैं। जहाँ पर ये पाँचों, चार, तीन, दो या एक कारण हैं वहाँ पर कर्मबन्ध होता है। कहा भी है—

“मिथ्यादर्शनाविरति प्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥ ८११ ॥” मोक्षशास्त्र

टीका—“मिथ्यादर्शनादीनां बन्धहेतुत्वं समुदायेऽव्यये च वेदितव्यम् ।”

सूत्रार्थ—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बन्ध के हेतु हैं।

टीकार्थ—मिथ्यादर्शनादि समुदित और पृथक्-पृथक् भी बन्ध के हेतु होते हैं।

“सकषायस्वाज्जीवः कर्मणोयोग्यापुद्गलानादत्ते स बन्धः ॥ ८१२ ॥”

अर्थ—कषायसहित होने से जीव अर्थात् कषायसहित जीव कर्म के योग्य (कार्माण वर्गणा) पुद्गलों को ग्रहण करता है वह बन्ध है। अर्थात् कषायसहित जीव का कर्म के योग्य पुद्गलवर्गणाओं को ग्रहण करना ही बन्ध है।

इससे स्पष्ट है कि आसन्न और बन्ध का भिन्नसमय नहीं है। जिससमय में कर्म-आसन्न है उसीसमय में बन्ध है। अन्यथा सकषायजीव के दसवें गुणस्थान के अन्त समय में जो कर्मासन्न हुआ है, या तो उसका बन्ध अकषाय जीव अर्थात् ग्यारहवें या बारहवें गुणस्थान के प्रथमसमय में बन्ध का प्रसंग आजायगा या उसके बन्ध के अभाव का प्रसंग आजायगा। जिससे उपर्युक्त सूत्र से विरोध आजायगा।

इन दोनों शंकाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि शंकाकार का यह विचार है कि कारण और कार्य का भिन्न-भिन्न समय होना चाहिये, किन्तु ऐसा एकान्त नहीं है। जिसप्रकार दीपक और प्रकाश इन दोनों की युगपत् उत्पत्ति होती है फिर भी दीपक कारण है और प्रकाश कार्य है।

सम्यक् कारण जान, ज्ञान कारज है सोई।

युगपत् होते हू प्रकाश, दीपक ते होई ॥ छहदाला-वीलतराम

इसप्रकार एक ही समय में भावासन्न, द्रव्यासन्न और बन्ध आदि अनेक कार्य होने में कोई बाधा नहीं है।

—जं. ग. 3-1-66/VIII/ म. ला. जैन

जीव के विभाव परिणमन में द्रव्यकर्म ही हेतु है

शंका—जीव में विभाव-परिणमन पुद्गल-द्रव्यकर्म के बंध के कारण है या अन्य कोई कारण है ?

समाधान—जब तक दूसरे द्रव्य के साथ बंध न हो उस समयतक कोई भी द्रव्य अशुद्ध नहीं हो सकता है। स्वर्ण का किट्टिमा के साथ बंध होने से स्वर्ण अशुद्ध होता है। उसीप्रकार जीव का द्रव्यकर्म के साथ बंध होने से जीव अशुद्ध होता है। अकेला जीव अशुद्ध नहीं हो सकता और न उसमें रामद्वेष आदि विभाव परिणति हो सकती है। श्री कुन्वकुन्वाचार्य ने कहा भी है—

अहं फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहि ।
रंगिज्जवि अण्णोहिं वु सो रत्तावीहिं वव्वोहिं ॥ २७८ ॥
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहि ।
राइज्जवि अण्णोहिं वु सो रागावीहिं वोसेहिं ॥ २७९ ॥

अर्थ—जैसे स्फटिकमणि आप शुद्ध है वह ललाई आदि रंगस्वरूप आप तो नहीं परिणमती, परन्तु वह स्फटिकमणि आप दूसरे लालआदि द्रव्यों से मेल होनेपर ललाईआदि रंगस्वरूप परिणमती है। इसीप्रकार जीव आप शुद्ध है, वह राग आदि विभावरूप आप नहीं परिणमता, परन्तु अन्य राग आदि दोषरूप (क्रोध, मान, माया, लोभ कषायरूप) द्रव्यकर्मों से रागादि विभावरूप किया जाता है।

इसकी टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—जैसे अकेला स्फटिकमणि परिणमन स्वभाव होने पर भी दूसरे द्रव्य के बिना आप लालरूप नहीं परिणमता, परन्तु परद्रव्य का मेल होने पर स्फटिकमणि अपने स्वभाव से च्युत होकर लालरंग आदि विभावरूप परिणमता है, क्योंकि अपने विभावरूप परिणमने में स्वयं निमित्त कारण नहीं है। इसीप्रकार अकेला आत्मा परिणामस्वरूप होने पर भी आप ही रागादि विभावरूप नहीं परिणमता, क्योंकि अपने रागादि विभाव के लिये आप ही कारण नहीं है। परन्तु पुद्गलरूप द्रव्यकर्म के मेल से आत्मा अपने स्वभाव से च्युत होकर रागादि विभावरूप परिणमता है।

इससे सिद्ध है कि जीव के विभावरूप परिणमन में द्रव्यकर्म कारण है, क्योंकि समस्त द्रव्यकर्म का अर्थ ही जाने पर जीव मुक्त हो जाता है अर्थात् जीव का शुद्ध परिणमन हो जाता है और विभावरूप परिणमन का अभाव हो जाता है।

—जे. ग. 24-7-67/VII/ ज. प्र. म. कु.

आत्मव के अधिकरण

शंका—ज्ञानपीठ राजवार्तिक दूसरा भाग पृ० ५१३ पंक्ति २२, २३, २४ में अधिकरण के १० भेद बतलाये हैं उनमें ७ अजीव अधिकरण और ३ जीव अधिकरण जान पड़ते हैं। ये भेद कुछ समस्त में नहीं आये। कृपया स्पष्ट करें। हमारे विचार से तो अनन्त भेद होने चाहिए। क्या इन भेदों का ध्वलादि ग्रन्थों में भी कहीं कथन आया है ?

समाधान—तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ६ सूत्र ७ में “जीव और अजीव ये आत्मव के अधिकरण हैं” ऐसा कहा गया है। राजवार्तिक टीका में इन दोनों अधिकरणों के १० भेद इसप्रकार कहे हैं—विष, लवण, क्षार, कटुक, अम्ल, स्नेह, अग्नि और खोटेरूप से युक्त मन, वचन, काय। इनमें सात अचेतन और तीन चेतन हैं। ये १० भेद

उपलक्षण मात्र हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भी आस्रव के अधिकरण हैं, जिनका कथन सूत्र ८ व ९ में है। यह सब संक्षेप से कथन है। यदि सूक्ष्मदृष्टि से विस्तारपूर्वक विचार किया जावे तो अधिकरण के अनेक भेद हो सकते हैं। घबलसंघ में इस दृष्टि से आस्रव के अधिकरण का कथन नहीं है।

—जं. ग. 27-2-64/IX/ पं० सरनाराम जैन

पापपुण्य कथंचित् जीव के हैं, कथंचित् पुद्गल के

शंका—१० नवम्बर १९६६ के जैनसंदेश पृ० ३०९ कालम बो में लिखा है—“शुभाशुभ परिणाम (भाव-पुण्य भावपाप) का कर्ता तो जीव है,” किन्तु इसी लेख के फलितार्थ में पृ० ३१३ पर लिखा है—“पुण्य और पाप चाहे वे भावात्मक हों और चाहे द्रव्यरूप हों दोनों ही पुद्गल की उपज हैं।” क्या इन दोनों कथनों में परस्पर विरोध नहीं है ?

समाधान—शुभाशुभभाव न तो केवल जीव के परिणाम हैं, क्योंकि सिद्धों में नहीं होते और न केवल पुद्गल के हैं, क्योंकि भेज, कुर्सी आदि में नहीं पाये जाते। जीव और पुद्गल की बंध घबस्था में होते हैं। अतः कहीं पर उपादान की मुख्यता से शुभाशुभ भावों को जीव के कह दिए जाते हैं और कहीं पर निमित्त की मुख्यता से पुद्गल के कह दिए जाते हैं। शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि में पुण्य-पाप अवस्तु हैं।

—जं. ग. 5-10-67/VII/ ट. ला. जैन

- (१) शरीर आदि की क्रिया से आत्मा को आस्रव होता है
- (२) कथंचित् भावशून्य क्रिया का भी फल
- (३) दिगम्बरेतर दशन में क्रियानिरपेक्ष भाव माना है
- (४) नग्नता मोक्षमार्ग है

शंका—भावसहित क्रिया का फल होता है, सावरहित क्रिया का फल नहीं होता; क्या यह कथन सर्वथा सत्य है ? विस्तृत समाधान दीजिये।

समाधान—“काय-वाङ्-मनः कर्मयोगः ॥ १ ॥ सः आस्रवः ॥ २ ॥ शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥ ३ ॥”
त० सू० अ० ६ ।

अर्थात्—शरीर, वचन और मन की क्रिया योग है। वह योग ही आस्रव है। शुभ योग से पुण्यास्रव और अशुभ योग से पापास्रव होता है।

मन, वचन और काय की क्रिया भावसहित भी होती है और भावशून्य भी होती है, किन्तु कर्मों का आस्रव हर हालत में होता है और वह कर्मास्रव कम से कम एक समय की स्थितिवाला अवश्य होता है और अपना फल देकर जाता है।

यदि यह कहा जावे कि ‘शरीर वचन मन’ पुद्गलमयी हैं, क्योंकि “शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥ १९ ॥ त० सू० अ० ५ में इनको पुद्गल का कार्य कहा है और पुद्गलमयी शरीर आदि की क्रिया से जीव के आस्रव नहीं होना चाहिये (‘शरीर वचन और मन पौद्गलिक है’) यह सत्य होते हुए भी शरीर आदि का आत्मा के साथ बंध होने के कारण एकद्व हो रहा है। जैसा कि सर्वार्थसिद्धि दूसरे अध्याय सूत्र ७ की टीका

में कहा है—“बंधं पडिष्यत्” अर्थात् —बंध की अपेक्षा से जीव और पुद्गल का एकत्व हो रहा है, इसलिये शरीर आदि जड़ की क्रिया से जीव के आसूब होता है ।

यदि यह कहा जावे कि भावशून्य क्रियाओं का फल नहीं होता ; सो ऐसा एकान्त भी नहीं है, क्योंकि कहीं पर भावशून्य क्रियाओं का भी फल देखा जाता है । जैसे श्री अर्हंत भगवान की कर्मोदयजनित विहार आदि भावशून्य शारीरिक क्रिया का फल मोक्ष देखा जाता है । श्री अमृतचन्द्राचार्य ने प्रवचनसार गाथा ४५ की टीका में कहा है—

“क्रिया तु तेषां या काचन सा सर्वापि तदुभयानुभावसंभावित्तात्मसंभूतितया किलोदयिक्येव । ... नित्य-मौदयिकी कार्यभूतस्य बंधस्थाकारणभूततया कार्यभूतस्य मोक्षस्य कारणभूततया च क्षायिक्येव कथं हि नाम नानुमन्येत ।”

अर्थात्—उन अर्हंत की जो भी क्रिया है वह सब उस पुण्य के उदय के प्रभाव से उत्पन्न होने के कारण औदयिकी है । वह नित्य औदयिकी क्रिया बंध का तो कारण नहीं है, किन्तु मोक्षरूपी कार्य का कारण है इसलिये वह क्रिया क्षायिकी है ।

इस प्रकार श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भावशून्यक्रिया का फल मोक्ष स्वीकार किया है । प्रवचनसार गाथा २११ में श्री कुम्भकुम्भाचार्य ने तथा उसकी टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भावशून्य मात्र कायचेष्टा का फल ‘संयम का छेद’ स्वीकार किया है ।

पयवन्हि समारद्धे छेवो समणस्स काय—चेट्टुम्हि ।

जायदि जदि तस्स पुणो आलोयणपुब्बिया क्रिया ॥ २११ ॥

अर्थ—यदि भ्रमण (मुनि) के प्रयत्नपूर्वक की जानेवाली कायचेष्टा में छेद होता है तो उसे तो आलोचना पूर्वक अपने दोष को दूर करना चाहिये ।

“संस्कृत टीका—“द्विविधः किल संयमस्य छेदः बहिरङ्गोऽन्तरङ्गश्च । तत्र कायचेष्टामात्राधिकृतो बहिरङ्गः, उपयोगाधिकृतः पुनरन्तरंगः । तत्र यदि सम्यगुणयुक्तस्य भ्रमणस्य प्रयत्नसमारब्धायाः कायचेष्टायाः कथंचित् बहिरङ्गच्छेदो जायते तदा तस्य सर्वथान्तरंगच्छेदवर्जितत्वावालोचनापूर्विकया क्रिययैव प्रतिकारः । यदा तु स एवोपयोगाधिकृतच्छेदस्येन साक्षाच्छेद एवोपयुक्तो भवति तदा जिनोक्तिव्यवहारविधिबिधेयधर्मणाश्रययालोचनपूर्वकतदुपदिष्टानुष्ठानेन प्रतिसंधानम् ।”

अर्थ—संयम का छेद दो प्रकारका है; बहिरंग और अन्तरंग (उसमें मात्र कायचेष्टा संबंधी बहिरंग है और उपयोग संबंधी अंतरंग है । उसमें यदि भलीभाँति उपयुक्त भ्रमण के प्रयत्नकृत कायचेष्टा से कथंचित् बहिरंग छेद होता है, तो वह सर्वथा अंतरंगछेद से रहित है इसलिये आलोचनापूर्वक क्रिया से ही उसका प्रतिकार होता है । किन्तु यदि वही भ्रमण उपयोग संबंधी छेद होने से साक्षात् छेद में ही उपयुक्त होता है तो जिनोक्त व्यवहार विधि में कुशल भ्रमण के आश्रय से, आलोचनापूर्वक, उनसे उपदिष्ट अनुष्ठान द्वारा प्रतिसंधान होता है ।

यह जो कहा गया है कि भावशून्य क्रिया का फल नहीं होता, इसका अभिप्राय यह है कि भावसहित होने से उस क्रिया का फल जितना होना चाहिये था, भाव रहित होने से उतना फल नहीं होता । किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि भावशून्यक्रिया का फल बिलकुल नहीं होता । यदि सर्वथा ऐसा मान लिया जावे तो मात्र

कायचेष्टा से संयम का छेद नहीं होना चाहिये था तथा अर्हंत भगवान की क्रिया मोक्ष की कारण नहीं होनी चाहिये थी, किन्तु श्री प्रवचनसार में भावशून्य मात्र कायचेष्टा से संयम का छेद तथा अर्हंत भगवान की क्रिया को मोक्ष की कारणीभूत स्वीकार किया है ।

श्री पद्मनन्दि आचार्य भी पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका में कहते हैं ।

विद्वे तुमस्मि जिणवर चम्ममणच्छिण्णावि तं पुष्णं ।

अं अणइ पुरो केवलदंसण णाणाइ णयणाइं ॥ ७५७ ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! चर्ममय नेत्र से भी आपका दर्शन होने पर वह पुण्य प्राप्त होता है जो कि भविष्य में केवलदर्शन और केवलज्ञानरूप नेत्र को उत्पन्न करता है ।

४५ दिन के बालक को माता जिनमंदिर में लेजाकर भगवान के दर्शन कराती है और उससमय से प्रतिदिन वह बालक मंदिरजी में भगवान के दर्शनार्थ लेजाया जाता है, किन्तु कई वर्ष तक उस बालक की वह क्रिया भावशून्य ही रहती है । क्या उस बालक का मंदिरजी में लेजाया जाना सर्वथा निरर्थक है ? विद्वान् इस पर विचार करें । यदि इस क्रिया को सर्वथा निरर्थक मान लिया जावेगा तो जैन समाज में जिनदर्शन की परम्परा उठ जावेगी । जिससे जैनधर्म का लोप हो जावेगा । आज जितने भी भावपूर्वक दर्शन करनेवाले व्यक्ति दृष्टिगोचर हो रहे हैं उन सबने सर्वप्रथम जिनदर्शन की क्रिया भावशून्य प्रारम्भ की थी । जिनमंदिर में जाने से तथा जिनेन्द्र के दर्शन करने से ही उनकी वह भावशून्यक्रिया भावपूर्वक होगई । यदि वे भावशून्यक्रिया को न करते तो उनको भावपूर्वक जिनेन्द्रदेव के दर्शन प्राप्त न होते । अतः 'भावशून्यक्रिया का कुछ भी फल नहीं होता,' ऐसा एकान्त मानना उचित नहीं है ।

दिगम्बरेतर समाज में शारीरिकक्रिया निरपेक्ष मात्र भावों से मोक्ष की प्राप्ति स्वीकार की है जिसका खण्डन श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने 'नग्नो ही मोक्ष नग्नो' अर्थात् 'नग्नता मोक्षमार्ग है' इन वाक्यों द्वारा किया है । उन्हीं श्री कुन्दकुन्द के नाम पर अध्यात्म की ग्राड़ में एकान्तमिथ्यात्व का प्रचार उचित नहीं है ।

—खं. ग. 12-3-64/IX/ स. कु. सेठी

पुण्य की कथंचित् हेयता, कथंचित् उपादेयता; पुण्य मोक्षपद में श्री सहायक है

शंका—सम्यग्दर्शन क्या बिना तत्त्वश्रद्धान के हो सकता है और अगर तत्त्वश्रद्धान से होता है तो जैसा तत्त्व है वैसा ही समझने से होता है या पहले तत्त्व को किसी प्रकार समझा जाय फिर और प्रकार जाने जैसे आश्रय तत्त्व को प्रथम अवस्था में उपादेय माने बाद में हेय; क्या यही क्रम परिपाटी है ?

समाधान—जो संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तजीव ज्ञानावरणकर्म का विशेष क्षयोपशम न होने के कारण तत्त्वों को नहीं जान सकते, उनको भी सम्यग्दर्शन हा सकता है । श्री स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा भी है—

जो ण वि जाणइ तच्चं सो जिणवयेण करेइ सहूहणं ।

अं जिणवरेहि भणिअं तं सब्बमहं समिच्छामि ॥ ३२४ ॥

जो जीव अपने ज्ञानावरण के विशिष्ट क्षयोपशम बिना तथा विशिष्ट गुरुसंयोग बिना तत्त्वार्थ को नहीं जान सके हैं सो जिनवचनविषे ऐसे श्रद्धान करे है कि जिनेश्वरदेव ने जो तत्त्व कहा है, सो सब ही मैं भले प्रकार दृष्ट कछुं हूँ ऐसे भी श्रद्धावान होय हैं । ऐसे सामान्य श्रद्धाते भी आज्ञासम्यक्त्व कहा है ।

सम्माद्दृष्टी जीवो उवद्दुट्टं पक्षयणं तु सहहृदि ।

सहहृदि असम्भावं अज्ञानमाणो गुरुणियोगा ॥ २७ ॥ गो.जी.

सम्यग्दृष्टि जीव जिनेन्द्रभगवान के उपदेश का श्रद्धान करता है, किन्तु किसी तत्त्व को अज्ञानतावश गुरु के उपदेश से विपरीत अर्थ का भी श्रद्धान कर लेता है। 'अरहंत देव का ऐसा ही उपदेश है' ऐसा समझकर यदि कदाचित् किसी पदार्थ का विपरीत श्रद्धान भी करता है तो भी वह सम्यग्दृष्टि है, क्योंकि उसने अरहंत का उपदेश समझकर उस पदार्थ का वंसा श्रद्धान किया है।

हेय और उपादेय वे तत्त्व नहीं हैं, किन्तु आपेक्षक हैं जैसे बहिरात्मा (मिथ्यादृष्टि) की अपेक्षा अन्तरात्मा (स्यस्थ सम्यग्दृष्टि) उपादेय है, किन्तु परमात्मा की अपेक्षा वही अन्तरात्मा हेय है। जैसा कि परमात्म-प्रकाश गाथा १३ की टीका में कहा है—

“अत्र बहिरात्मा हेयस्तदपेक्षया यद्यन्यन्तरात्मोपादेयस्तथापि सर्वप्रकारोपादेयभूतपरमात्मापेक्षया स हेय इति तात्पर्यार्थः ।”

इसीका भाव ऊपर कहा जा चुका है।

इसीप्रकार निराज्ञव अयोगीजिन की अपेक्षा शुभासूव हेय है, किन्तु साधक के शुभासूव अर्थात् पुण्य उपादेय है। कहा भी है—पुण्यप्रकृतयस्तीर्थपदाविमुखाणयः । मूलाचार—प्रदीप पृ० २०० । अर्थात् पुण्यप्रकृतियाँ तीर्थकर आदि पदों के सुख को देनेवाली हैं। ये पुण्यप्रकृतियाँ सिद्धगति अर्थात् मोक्ष के लिये सहकारी कारण हैं। पञ्चास्तिकाय गाथा ८५ की टीका में कहा भी है—

“निदानरहितपरिणामोपाजित तीर्थकरप्रकृत्युत्तमसंहननाद्विशिष्ट पुण्यरूपधर्मोऽपि सहकारिकारणं भवति ।”

निदानरहित परिणामों से उपाजित तीर्थकरप्रकृति व उत्तमसंहनन आदि विशिष्ट पुण्यरूप कर्म भी सिद्धगति का सहकारी कारण होता है। श्री विद्यानन्द आचार्य ने अष्टसहस्रीकारिका ८८ की टीका में कहा है—

“मोक्षस्यापि परमपुण्यातिशयचारित्र्य विशेषात्मक पौरुषाभ्यामेव संभवात् ।” मोक्ष की प्राप्ति भी परम पुण्य और चारित्र्यरूप पुरुषार्थ के द्वारा ही संभव है।

मोक्ष के लिये जिसप्रकार चारित्र्यकी आवश्यकता है उसी प्रकार पुण्यकर्मोदय की भी आवश्यकता है।

पुण्याच्चक्रघरभिर्यं विजयिनी मन्द्रीं च दिव्य धियं ।

पुण्यात्तीर्थकरभिर्यं च परमां नैःश्रेयसां चाश्नुते ॥

पुण्यावित्यसुभृच्छ्रियां चतसृणामा विभवेद् भानजम् ।

तस्मात् पुण्यमुपार्जयन्तु सुधियः पुण्याज्जिनेन्द्रागमात् ॥ १२९ ॥ महापुराण सर्ग ३०

अर्थ—पुण्य से सबको विजय करनेवाली चक्रवर्ती की लक्ष्मी मिलती है, इन्द्र की दिव्य लक्ष्मी भी पुण्य से मिलती है, पुण्य से तीर्थकर की लक्ष्मी भी मिलती है, और परम कल्याणरूप मोक्षलक्ष्मी भी पुण्य से मिलती है। यह जीव पुण्य से ही चारों प्रकार की लक्ष्मी का पात्र होता है। इसलिये हे सुधियन ! तुम लोग भी पुण्य का उपार्जन करो।

श्री कुन्वकुन्वाचार्य ने भी कहा है—“पुण्यफला अरहंता ।” अर्थात् पुण्यकर्म का फल अरहंत पद है । श्री जयसेन आचार्य ने भी कहा है ।

“यत्तीर्थकरनाम पुण्यकर्म तत्फलभूता अहंन्तो भवन्ति ।”

श्री कुन्वकुन्वाचार्य प्रवचनसार में शुभोपयोग की मुख्यता व गौणता बतलाते हैं—

एसा पसत्थभूवा सम्पणाणं चा पुणा घरत्थाणं ।

वरिया परेति मणिवा ताएव परं लहवि सोव्खं ॥ २५४ ॥

अर्थ—यह प्रशस्तभूत चर्या (शुभोपयोग) श्रमणों के होती है, किन्तु गृहस्थों के तो मुख्य होती है, क्योंकि इस प्रशस्तभूत चर्या के द्वारा गृहस्थ परमसौख्य अर्थात् निर्वाणसौख्य को प्राप्त होता है ।

श्री अमृतचन्द्राचार्य इंधन के दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—जैसे इंधन को स्फटिक के सम्पर्क से सूर्य के तेज का अनुभव होता है और इसलिए वह क्रमशः जल उठता है उसीप्रकार गृहस्थ को राग के संयोग से शुद्धात्मा का अनुभव होता है और क्रमशः परमनिर्वाण सौख्य को प्राप्त कर लेता है ।

इन आर्षग्रन्थों से स्पष्ट है कि पुण्यकर्म व शुभोपयोग मोक्षमार्ग में सहकारी कारण हैं अतः वे सबंधा हेय नहीं हैं । अतः पुण्यासूत्र कथंचित् उपादेय है कथंचित् हेय है ऐसा श्रद्धान करने वाला सम्यग्दृष्टि है ।

—जै. ग. 15-1-70/VII/ प. घ. जैन

स्त्रीपर्याय (स्त्रीवेद) के शास्त्रव के कारण तथा उसके नाश का उपाय

शंका—स्त्रीपर्याय कौन-से पाप से अथवा किन-किन भावों से बन्ध करने पर मिलती है ? स्त्रीपर्याय के नाश करने का मुख्य उपाय क्या है ?

समाधान—असत्य बोलने की आदत, प्रतिस्वभानपरता (धोखा, छल, कपट) दूसरों के छिद्र ढूँढना और बड़ा हुआ राग आदि स्त्रीवेद के आसूत्र हैं । कहा भी है—

“अस्त्रीकान्निष्ठायितात्सिन्धानपरत्त्वररग्ध्रप्रेक्षित्वप्रवृद्धरागादिः स्त्रीवेदनीयस्य ।” सर्वाथसिद्धि ६।१४ ।

इसका अर्थ ऊपर आ चुका है ।

स्त्रीपर्याय में उत्पन्न न होने का मुख्य उपाय सम्यग्दर्शन है, क्योंकि सम्यग्दृष्टिजीव मरकर स्त्रियों में उत्पन्न नहीं होता है ऐसा आर्षवचन है—

छसु हेट्टिमासु पुठवीसु ओइसवणभवण सव्वइत्थीसु ।

खेवेसु समुप्पज्जइ सम्माइट्ठी सु ओ जीवो ॥१३३॥

इत्यार्षात् घवल पु० १ पृ० २०९ एवं घवल १।३३९

अर्थ—जो सम्यग्दृष्टिजीव होता है, वह प्रथमपृथिवी के बिना नीचे की छह पृथिवियों में, ज्योतिषी व्य-स्तर, भवनवासी देवों में और सर्वप्रकार की स्त्रियों में उत्पन्न नहीं होता है । यह कथन पूर्व ब्रह्मायुष्क की अपेक्षा है । पूर्व अब्रह्मायुष्क की अपेक्षा कथन निम्न प्रकार है—

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्गनपुंसकस्त्रीत्वानि ।

बुष्कुलविकृताल्पायुर्वरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥ ३५ ॥ (रत्नकरञ्च भावकाचार)

निर्दोष सम्यग्दृष्टिजीव व्रतरहित होने पर भी नारक, तिर्यच, नपुंसक और स्त्रीपने को नीचकुल, विकलाङ्ग, अल्पायु तथा दरिद्रपने को प्राप्त नहीं होता है ।

—जे. ग. 14-12-72/VII/ कमलादेवी

आत्मव तत्त्व का वर्तमान में भी किन्हीं के विनाश देखा जाता है

शंका— धवल पु० ७ पृ० ७४ पर लिखा है कि मिथ्यात्व, असंयम और कषायरूप आत्मवों का वर्तमानकाल में भी किसी जीव के विनाश देखा जाता है । वर्तमानकाल में तो मिथ्यात्व का भी क्षय नहीं होता । फिर किसप्रकार लिखा है ?

समाधान—धवल ७ पृ० ७३ पर यह बतलाया गया है कि—‘आसूव कूटस्थ भ्रनादिस्वभाव वाला नहीं है, क्योंकि प्रवाहअनादिरूप से आये हुए मिथ्यात्व असंयम और कषायरूप आसूवों का वर्तमानकाल में भी किसी-किसी जीव में विनाश देखा जाता है । यहाँ पर यह नहीं कहा कि भरतक्षेत्र में वर्तमान में विनाश देखा जाता है । विदेहक्षेत्र में वर्तमान में भी मिथ्यात्व, असंयम और कषायरूप आसूवों का विनाश देखा जाता है ।’ अतः उक्त कथन समीचीन है ।

—जे. ग. 17-4-69/VII/ ड. ला. खंन

द्रव्यकर्म/भावकर्म

शंका—पुद्गलजन्य कर्म दो प्रकार के माने हैं—(१) द्रव्यकर्म और (२) भावकर्म । जब भावकर्म भी पुद्गल की ही पर्याय है तो वे चेतन व अमूर्तिक कैसे हो सकते हैं ? यदि वे भावकर्म चेतन व अमूर्तिक हैं तो स्पष्टतः जीवजन्य, जीव के ही भाव सिद्ध हुए । अतः जीव के भाव (Feelings) भावमात्र ही हो सकते हैं, उन्हें पुद्गल अथवा पुद्गल की पर्याय कैसे कहा जा सकता है ? औद्ययिकभाव केवल जीव में उत्पन्न होते हैं अतः उनका कर्ता जीव ही है, तब वे पौद्गलिक कैसे हो सकते हैं ? पुद्गल जड़ पदार्थ में भाव (Thoughts and Feelings) कैसे सम्भव है ? भावकर्म पुद्गल किसप्रकार हैं ? भावकर्म की उत्पत्ति में उपादानकारण जीव है अथवा पुद्गल ? यदि जीव है तो रागद्वेषादि भाव जीव के कार्य अथवा भाव सिद्ध हुए । यदि पुद्गलद्रव्यकर्म को उपादान कारण माना जावे तो पुद्गल द्रव्यकर्म साकार मूर्तिक व अचेतन जड़ होने से भावकर्म रागद्वेषादि भी मूर्तिक व अचेतन ही होने चाहिए । इन दोनों में से सत्य क्या है ?

समाधान—जैनागम में रागद्वेषरूप भावकर्म के विषय में अनेक विवक्षाओं से कथन है । शुद्धनिश्चयनय, अशुद्धनिश्चयनय, परम अथवा सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनय, स्वभाव, विभाव, उपादान, निमित्त, भेद, अभेदादि । इन भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं की दृष्टि से भावकर्म पुद्गलकृत भी हैं, जीवकृत भी हैं, पुद्गल-जीवकृत भी है अथवा नहीं है; चेतन अमूर्तिक भी है और अचेतन मूर्तिक भी है । स्याद्वाद से एक को मुख्य करने से शेष कथन उसमें गौरावरूप से रहता है, क्योंकि एकका मुख्यरूप से कथन करने पर शेष का अभाव नहीं होता—अपित्तानपित्तसिद्धेः ॥५॥३२॥मो. शा. ऐसा तत्त्वार्थसूत्र का वाक्य है । एकान्त से एकरूप मानकर अन्य का निषेध करना उचित नहीं है, क्योंकि वस्तु अनेकान्तात्मक है । राग-द्वेषरूप भावकर्म का उपादानकारण जीव है; अशुद्धनिश्चयनय से जीव इनका कर्ता है, ये जीव के स्वभाव नहीं हैं, किन्तु विभाव हैं । द्रव्य और पर्याय की अभेददृष्टि से ये भावकर्म चेतन अमूर्तिक हैं, क्योंकि जीव की अशुद्धपर्याय है ।

रागद्वेषरूप भावकर्म का निमित्तकारण पुद्गल द्रव्यकर्म है। शुद्धनिश्चयनय से ये जीवकृत नहीं हैं, किन्तु भावकर्म कार्य हैं इनका कर्ता अवश्य होना चाहिए अतः पारिशेष न्याय से पुद्गलद्रव्यकर्म इनका कर्ता है। रागादिक, पुद्गल की विभावपर्याय द्रव्यकर्म के उदय से उत्पन्न होते हैं अतः रागादि पुद्गल के विभावभाव हैं (यहाँ पर भाव का अर्थ पर्याय है) पुद्गल की पर्याय होने से रागादिक अचेतन-भूतिक हैं अथवा चेतन को परिणति ज्ञान-दर्शनरूप है और रागादिक ज्ञानदर्शनरूप नहीं है। अतः चेतनगुण से भिन्न होने के कारण अचेतन हैं। रागादि, न शुद्ध जीव का स्वभाव है और न शुद्ध पुद्गल परमाणु का स्वभाव है अतः शुद्ध स्वभाव की दृष्टि में रागादिक नहीं हैं।

श्री जयसेनाचार्यजी ने समयसार की टीका में कहा भी है—एते मिथ्यात्वरगादिविभावप्रत्ययाः शुद्धनिश्चये-नाचेतनाः। कस्मान् ? पुद्गलकर्मोदयसम्भवा यस्मादिति। यथा स्त्रीपुरुषाभ्यां समुत्पन्नः पुत्रो विवक्षावशेन देवदत्तायाः पुत्रोऽयं केचन वदन्ति, देवदत्तस्य पुत्रोऽयमिति केचन वदन्ति, दोषो नास्ति। तथा जीवपुद्गलसंयोगेनोत्पन्नाः मिथ्या-त्वरगादिविभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानरूपेण चेतना जीवसम्बन्धाः। शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेणाचेतनाः पौद्गलिकाः परमार्थतः। पुनरेकान्तेन न जीवरूपाः न च पुद्गलरूपाः सुधाहरिद्रयोः संयोगपरिणामवत्। वस्तुतस्तु सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनयेन न संत्येवाज्ञानोद्भवाः कल्पिता इति। एतावता किमुक्तं भवति ? ये केचन वदन्त्येकान्तेन रागादयो जीवसम्बन्धिनः पुद्गलसम्बन्धिनः वा तदुभयमपि वचनं मिथ्या। कस्मादिति चेत् ? पूर्वोक्तस्त्रीपुरुषदृष्टान्तेन संयोगोद्भवत्वात्। अथ मतं सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनयेन कस्येति प्रयच्छामो वयं सूक्ष्मशुद्धनिश्चयेन तेषामस्तिस्वमेव नास्ति पूर्वंमेव भणित ॥ ११६-११९ ॥

अर्थ—ये मिथ्यात्वरगादि भावप्रत्यय, शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से अचेतन हैं। अचेतन क्यों हैं ? क्योंकि ये भाव पुद्गलकर्म के उदय से होते हैं, इसलिये अचेतन हैं। जैसे स्त्री और पुरुष दोनों के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ पुत्र है उसको उसकी माता की अपेक्षा से देवदत्ता का यह पुत्र है, ऐसा कोई कहते हैं। दूसरे कोई पिता की अपेक्षा से यह देवदत्त का पुत्र है, ऐसा कहते हैं। इस कथन में कोई दोष नहीं है, (दोनों ही ठीक हैं) तैसे ही जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न यह मिथ्यादर्शन व रागादिभाव प्रत्यय हैं सो अशुद्धनिश्चयनय व अशुद्धउपादानरूप से तो चेतन हैं (जीवसम्बन्धी होने से) तथा शुद्ध निश्चयनय से व शुद्धउपादानरूप से ये अचेतन हैं, पौद्गलिक हैं, जड़ हैं, क्योंकि शुद्धआत्मा में इनका सम्बन्ध नहीं पाया जाता। तथा परमार्थ से विचार जाय तो यह एकान्त से न तो जीवरूप हैं न पुद्गलरूप हैं, परन्तु जैसे चूना और हल्दी के संयोग से एक जुदा परिणाम उपजता है ऐसे ही जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हुए विभावभाव हैं। वास्तव में सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से यह मिथ्यात्व व रागादिभाव असल में कुछ भी नहीं हैं, ये अज्ञान से उत्पन्न कल्पितभाव हैं। इस कथन से क्या कहा गया ? इस कथन से यह कहा गया कि जो कोई एकान्त से ऐसा कहते हैं कि यह रागादिक भाव जीव सम्बन्धी है अथवा कोई कहते हैं कि यह पुद्गल सम्बन्धी है, इन दोनों के भी वचन मिथ्या हैं। मिथ्या क्यों हैं ? क्योंकि पूर्व में कहे हुए स्त्री और पुरुष के दृष्टान्त के समान जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हुए हैं। यदि कोई प्रश्न करे कि सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनय से ये भाव किसके हैं तो यही कहा जा सकता है कि सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनय से इनका अस्तित्व ही नहीं है।

भाव का लक्षण ष० खं० पु० ५ पत्र १८७ पर इसप्रकार कहा है—भावो नाम किं ? दृष्टपरिणामो पुष्प-वरकोटिविरिक्त वट्टमाण परिणामुवलखिद्यवब्धं वा। कस्य भावो ? छण्हदध्वाणं।

अर्थ—भाव नाम किस वस्तु का है ? द्रव्य परिणाम को अथवा पूर्वापर कोटि से व्यतिरिक्त वर्तमान पर्याय से उपलक्षित द्रव्य को भाव कहते हैं। भाव किसके होता है ? छहों द्रव्यों के भाव होता है ; इस आगम वाक्य से यह सिद्ध हुआ कि “विचार या अनुभव (Thoughts and Feelings)” को भाव नहीं कहते किन्तु द्रव्य के

परिणाम को भाव कहते हैं क्योंकि परिणाम (पर्याय) ज्यों द्रव्यों में होते हैं अतः पुद्गल में भी भाव होते हैं । भाव पाँच प्रकार के होते हैं जैसा ष० खं० पु० ५ पत्र १८८ पर कहा है—कविविद्यो भावो ? ओदइओ उवसमिओ खइओ खओवसमिओ पारिणामिओ सि पंचविहो । केण भावो ? कम्मणमुवएण खएण खओवसमेण कम्मणमुवसमेण सभाववो वा । तस्य जीववहसस भावा उत्तपंचकारणेहितो होति । पोगलववभावा पुण कम्मोवएण विससभावो वा उपपज्जति । सेसाणं चट्ठुहं वव्वाणं भावा सहाववो उपपज्जति ।

अर्थ—भाव कितने प्रकार का है ? औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक के भेद से भाव पाँच प्रकार का है । भाव किससे होता है ? भाव कर्मों के उदय से, क्षय से, क्षयोपशम से, उपशम से अथवा स्वभाव से होता है । उनमें जीवद्रव्य के भाव, उक्त पाँचों ही कारणों से होते हैं, किन्तु पुद्गलद्रव्य के भाव, कर्मों के उदय से उत्पन्न होते हैं तथा शेष चार द्रव्यों के भाव स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं । इस आगमवाक्य से पुद्गलद्रव्य के भी औदयिकभाव सम्भव हैं, क्योंकि पूर्वमोहनीय द्रव्यकर्म के उदय से नवीन द्रव्यकर्म का जन्म होता है अथवा पूर्व शरीरनामा नामकर्म के उदय होने पर नवीनकर्म का बन्ध होता है ।

—जं. सं. 23-8-56/VI/ वीं एल. पद्म, मुज्जालपुर

भावान्तरव किस गुण की विकारीपर्याय है ?

शंका—भावान्तरव आत्मा की किस गुण की किसप्रकार की विकारीपर्याय का नाम है ? उन गुणों में अंश-अंश में शुद्धता आती है या नहीं ? यदि आती है तो प्रतिपक्षी कौनसे कर्म का अभाव होने से आती है ?

समाधान—भावान्तरव दो प्रकार का है ? साम्परायिक और ईर्यापथ । “सकषायाकषाययोः साम्परायिके-र्यापथयोः ॥ ४ ॥ (मोक्षसास्त्र अध्याय ६, सूत्र ४) इसमें से साम्परायिकभावान्तरव के १ मिथ्यात्व, २ अविरति, ३ प्रमाद, ४ कषाय, ५ योग, पाँच भेद हैं ।

“मिच्छन्ताविरविपमादजोगकोहावओऽथ विण्णोया ।

पण पण पणदस तियचवु कमसोभेवा वु पुव्वसस ॥२०॥” बृहद्ब्रह्मसंग्रह

इनमें से ‘मिथ्यात्व’ आत्मा के दर्शन अज्ञान गुण की विकारीपर्याय है । ‘अविरति’ ‘प्रमाद’ ‘कषाय’ ये तीनों आत्मा के चारित्रगुण की विकारीपर्याय हैं । ‘योग’ आत्मा की विकारीद्रव्यपर्याय है । ईर्यापथवासूव का भेद “योग” है । “दर्शन” (अज्ञान) व “चारित्र” गुण में अंश-अंश शुद्धता आती है । दर्शनमोहनीय और चारित्र-मोहनीयकर्म के अभाव से शुद्धता आती है ।

—जं. सं. 6-5-57/VIII/ जै. श्या. मं. कुशामन सिटी

पुण्य के फल में अरिहन्त पद की प्राप्ति होती है, यह कथन त्रैकालिक सत्य है

शंका—‘समयसार-वचन’ की भूमिका में पं० जगन्मोहनलालजी ने लिखा है—‘पुण्यफला अरिहन्ताः’ प्रवचनसार की इस गाथा में पुण्य के फल से अरिहन्त पद प्राप्त हुआ है, ऐसा समझना नितान्त ध्रम है । अरिहन्त बसा तो चार घातिया कर्मों के विनाश से प्राप्त होती है ।” प्रश्न यह है अरिहन्त पद प्राप्त करने में क्या पुण्यकर्म सहकारी कारण नहीं है ?

समाधान—प्रवचनसार गाथा ४५ में श्री कुन्वकुन्दाचार्य ने ‘पुण्यफला अरिहन्ता’ ऐसा लिखा है । इसी की टीका करते हुए श्री जयसेनाचार्य ने लिखा है—

“पञ्चमहाकल्याणपूजाजनकं त्रैलोक्यविजयकरं यत्तीर्थकरनामपुण्यकर्म तत्फलभूता अहंन्तो भवन्ति ।”

पंचमहाकल्याणक की पूजा को उत्पन्न करनेवाला तथा तीनलोक को जीतनेवाला जो तीर्थकरनाम पुण्यकर्म उसके फलस्वरूप अरहन्त होते हैं ।

“अहंन्तः खलु सकलसम्यक्परिपक्व पुण्यकल्पपादपफला एव भवन्ति ।”

यहाँ पर भी श्री अभूतचन्द्राचार्य ने कहा है कि वास्तव में पुण्यरूपी कल्प-वृक्ष के फल अरहन्त भगवान् हैं । इसी बात को श्री धीरसेनाचार्य ने धवल ग्रंथराज में कहा है—

“काणि पुण्य-फलाणि ? तिस्थयर-गणहर-रिसि-चक्रवर्ति-बलदेव-वासुदेव-सुर-विजजाहरिद्वीओ ।”

धवल पृ० १ पृ० १०५ ।

अर्थ—पुण्य के फल कौनसे हैं ? तीर्थकर, गणघर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देव और विद्याधरों की ऋद्धियाँ पुण्य के फल हैं ।

श्री विद्यानन्द आचार्य अष्टसहस्री जैसे महान ग्रन्थ में लिखते हैं—

“मोक्षस्यापि परमपुण्यातिशयचारित्रविशेषात्मक पौरुषाभ्यामेव संभवात् ।”

परम पुण्यसे तथा अतिशय चारित्ररूप विशेष पुरुषार्थ से मोक्ष होता है ।

यहाँ पर भी चारित्र के साथ परमपुण्य को मोक्ष का कारण स्वीकार किया गया है ।

श्री पं० जयचन्द्रजी ने भी आत्ममीमांसा की टीका में लिखा है— ‘मोक्ष भी होय है सो परमपुण्य का उदय अर चारित्र का विशेष आचरण रूप पौरुष तँ होय है ।

श्री देवसेन आचार्य भी भावसंग्रह में कहते हैं—

सम्माविट्ठी पुण्णं ण होइ संसार कारणं नियमा ।

मोक्खस्स होइ हेउं जइ वि नियमाणं ण सो कुणई ॥ ४०४ ॥

सम्यग्दृष्टि के द्वारा किया हुआ पुण्य संसार का कारण कभी नहीं होता, यह नियम है । यदि सम्यग्दृष्टि पुरुष के द्वारा किये हुए पुण्य में निदान न किया जाय तो वह पुण्य नियम से मोक्ष का ही कारण होता है ।

तम्हा सम्माविट्ठी पुण्णं मोक्खस्स कारणं ह्वई ।

इय णाऊण गिह्णो पुण्णं चायरउ जत्तेण ॥ ४२४ ॥

सम्यग्दृष्टि का पुण्य मोक्ष का कारण होता है । यही समझकर गृहस्थों को यत्नपूर्वक पुण्य का उपार्जन करते रहना चाहिये ।

जब भी अरहंतपद प्राप्त होगा वह उच्चगोत्र, वज्रवृषभनाराच संहनन, मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति नामकर्म तथा मनुष्यायु के उदय में होगा । इनके अभाव में अरहंतपद प्राप्त नहीं हो सकता । अतः इन पुण्यप्रकृतियों के उदय के साथ अरहंतपद का अन्वय व्यतिरेक घटित हो जाने से कार्यकारणभाव सिद्ध हो जाता है । कहा भी है—

“जेण विणा जं ण होवि चेव तं तस्स कारणं ।” धवल पृ० १४ पृ० ९० ।

अर्थ—जिसके बिना जो नहीं होता है, वह उसका कारण है ।

“यद्यस्य भावाभावानुविधानतोभवति तत्तस्येति यदन्ति तद्विव इतिन्यायात् ।” धवल पु० १४ पृ० १३ ।

अर्थ—जो जिसके सद्भाव और असद्भाव का अविनाभावी होता है वह उसका है ऐसा कार्य-कारण के ज्ञाता कहते हैं यह न्याय है ।

इन आर्षग्रन्थों से सिद्ध है कि पुण्योदय से तथा चारघातियाकर्मों के क्षय से अरहंतपद प्राप्त होता है । पुण्योदय के बिना चारघातियाकर्मों का क्षय भी नहीं हो सकता है । अतः श्री कुम्भकुन्दादि आचार्यों ने पुण्य का फल अरहंत पद कहा है । जिनकी बुद्धि इन आर्षग्रन्थों के विपरीत है उनकी बुद्धि में भ्रम हो सकता है ।

—जै. म. 11-1-73/ /

बन्ध तत्त्व

(१) योग व कषाय के समय में ही क्रमशः आसूत्र व बन्ध हो जाते हैं

(२) परमाणु, प्रदेश और समय तीनों कथंचित् सावयव हैं

(३) एक द्रव्य-पर्याय पर अन्य द्रव्य-पर्याय का प्रभाव पड़ता है

शंका—जिस एक अविभागीसमय में आत्मा में योग होता है क्या उसी एक अविभागीसमय में कर्मासूत्र होता है अथवा ठीक अगले समय में ? जिस अविभागीसमय में आत्मा का कषायपरिणाम होता है क्या उसी अविभागीसमय में पुद्गलवर्गणाओं में कर्मबंध पड़ जाता है अथवा ठीक अगले अविभागीसमय में ? एक ही अविभागीसमय में एकद्रव्य की पर्याय का प्रभाव दूसरे द्रव्य की उसी अविभागीसमय में होने वाली पर्याय पर कैसे पड़ सकता है ?

समाधान—जिस एक अविभागीसमय में योग होता है उसी एक अविभागीसमय में पुद्गल-द्रव्य-कर्मासूत्र होता है । यदि यह माना जाय कि द्रव्यकर्मासूत्र अनन्तर अगले समय में होता है तो सयोगकेवली अर्थात् तेरहवें गुणस्थान के अन्तिमसमय के योग से चौदहवें गुणस्थान के प्रथमसमय में अयोगकेवली के पुद्गल द्रव्यकर्म व आहार-वर्गणाओं के आसूत्र का प्रसंग आ जायगा । इसप्रकार योग से अनन्तर दूसरे समय में आसूत्र मानने से अपार्यवाक्यों का विरोध होता है । वे आर्षवाक्य निम्नप्रकार हैं—

“युज्यत इति योग” धवल पु० १ पृ० १३९ ।

अर्थात्—जो संयोग को प्राप्त हो वह योग है ।

“त्रिविधवर्गणासम्बन्धापेक्षः प्रवेशपरिस्पन्दो योगः सयोगकेवलिनोऽस्ति । तदासम्बन्धाभावाद्योगकेवलिसिद्धानां योगाभावः ॥” [सुखबोध तत्त्वार्थवृत्ति ६।१]

अर्थात्—मन, वचन, काय इन तीनप्रकार की वर्गणाओं के आलम्बन की अपेक्षा से जो आत्म प्रदेशों का परिस्पन्द होता है वह योग है जो सयोगकेवली के भी होता है । मन, वचन, कायरूप वर्गणाओं के आलम्बन का अभाव होने से अयोगकेवली और सिद्धों के योग का अभाव है ।

यदि अयोगकेवली के प्रथमसमय में आसूव माना जावेगा तो उनके उक्त वर्गणाओं का अभाव नहीं रहेगा ।

“वर्गणालम्बननिमित्तो योग आसूव इष्यते ।” राजवार्तिक ६।२ ।

अर्थात्—वर्गणाओं के निमित्त से होनेवाले योग को आसूव स्वीकार किया गया है ।

अयोगकेवली के वर्गणाओं का निमित्त नहीं है अतः वहाँ पर योग भी नहीं और आसूव भी नहीं है ।

जोसि ण संति जोगा सुहा सुहा पुण्ण-पाव संजणया ।

ते होंति अजोइजिणा अणोवमाणंत-बल-कलिया ॥ धवल पु० १ पु० २८० ।

अर्थात्—जिन जीवों के पुण्य और पापकर्म के आसूव करने वाले शुभ और अशुभ योग नहीं पाये जाते, वे अनुपम और अनन्तबलसहित प्रयोगीजिन कहलाते हैं ।

सयोगकेवली के अन्तसमय के योग से अनन्तरसमय में आसूव नहीं होता । इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि जिससमय में योग है, उसीसमय में आसूव है । ‘स आसूवः’ सूत्र से यह बात जानी जाती है, क्योंकि इस सूत्र में योग को आसूव बतलाया है ।

जिससमय में कषायरूप परिणाम होते हैं, उसीसमय कर्मबन्ध होता है । कर्मबन्ध का लक्षण निम्न-प्रकार है—

“सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानावत्ते स बंधः ॥ ८।२ ॥” मोक्षशास्त्र

अर्थ—कषायसहित होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है वह बंध है ।

यदि कषायरूप परिणाम के अनन्तर समय में बंध माना जावेगा तो दसबें गुणस्थान के अन्तसमय के कषाय-रूप परिणाम से अनन्तरसमय में अकषायजीव के भी बंध का प्रसंग आ जावेगा । परन्तु बन्ध के लक्षण में कषाय-सहित जीव के ही बंध होता है, ऐसा कहा गया है । यदि अकषायजीव के बंध स्वीकार कर लिया जावे तो कर्मबन्ध का कभी अभाव नहीं होगा ।

इसके अतिरिक्त जो ग्यारहवें गुणस्थान से गिरा है उसके प्रथमसमय में कषाय के होते हुए भी बंध के अभाव का प्रसंग आ जावेगा, क्योंकि प्रथमसमय की कषाय से अनन्तर दूसरे समय में बंध होगा । इसप्रकार भी कषायसहित जीव के बंधाभाव हो जाने से उक्त बंध के लक्षण में बाधा आती है ।

इससे सिद्ध होता है कि जिस अविभागीसमय में कषाय होती है, उसी अविभागीसमय में कर्मबन्ध भी होता है ।

दीपकरूप पर्याय जिस अविभागीसमय में प्रगट होती है उसी अविभागीसमय में पुद्गल की अंधकारपर्याय नष्ट होकर प्रकाशरूप पर्याय उस दीपकरूप पर्याय के प्रभाव से ही जाती है । जिस अविभागीसमय में अग्नि और जल के पात्र की संयोगरूप पर्याय प्रगट होती है, उसी अविभागीसमय में अग्नि के प्रभाव से जल में उष्णता आ जाती है । दर्पण के सामने स्थित मयूर में जिस अविभागी समय में जो पर्याय होगी उसी अविभागी समय में दर्पण में स्थित मयूर प्रतिबिम्ब में भी उसके अनुरूप परिणाम हो जाता है ।

एक अविभागीसमय में एकैन्द्रियजीव मरकर चौदहराजू गमन करता है । चौदहराजू के असंख्यातप्रदेश हैं प्रत्येक प्रदेश को उसी एक अविभागीसमय में क्रमशः स्पर्श करता हुआ जाता है । प्रत्येक आकाश-प्रदेश के स्पर्श

का भिन्न-भिन्नकाल होते हुए भी सबका काल मिलकर एकसमय है अर्थात् LEAST UNIT OF TIME है। केवलज्ञानी प्रत्येक आकाशप्रदेश के स्पर्श का भिन्न-भिन्न काल प्रत्यक्ष देखते हैं और छद्मस्थ आगमप्रमाण तथा अनुमान से परोक्षरूप से जानता है। इसप्रकार एक अविभागीसमय में अनेकों कार्य होने में कोई बाधा नहीं आती है फिर भी एक समय से कोई भी जघन्यकाल नहीं है।

मरकर ऋजुगति में उत्पन्न होनेवाला जीव उसी एक अविभागीसमय में चौदहराजू गमनकर उत्पन्न हो आहारवर्णनाओं को ग्रहणकर उनसे शरीर, इन्द्रियादि पर्याप्ति प्रारम्भ कर लेता है।

ग्यारहवें गुणस्थान से मरकर देवों में उत्पन्न होनेवाला मनुष्य प्रथममय में चारित्रमोहनीयकर्म की प्रकृतियों का अपकर्षणकर उदय में ले आता है। अपकर्षण होना और उदय होना तथा उदय के अनुरूप आत्मपरिणाम होना (ग्यारहवें से चतुर्थगुणस्थान में आ जाना) ये सब कार्य एक अविभागीसमय में होते हैं।

समय इस अपेक्षा से अविभागी है कि उससे जघन्य अन्य कोई काल नहीं है, किन्तु सर्वथा अविभागी नहीं है। यदि सर्वथा अविभागी मान लिया जाये तो एकान्तवाद का प्रसंग आ जावेगा।

परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होवि सव्वहा वयणा ।

जइणाणं पुण वयणं सम्मं खु कह्वि वयणादी ॥ प्रवचनसार टीका

अर्थ—परसमयों (मिथ्यामतियों) का वचन 'सर्वथा' कहा जाने से वास्तव में मिथ्या है। और जनों का वचन कथंचित् (अपेक्षासहित) कहा जाने से वास्तव में सम्यक् है।

अनेक कार्यों की अपेक्षा से समय का ज्ञान द्वारा विभाजन भी किया जा सकता है अन्यथा एकसमय में चौदहराजू के असंख्यात आकाशप्रदेशों को क्रमशः स्पर्श करके गमन नहीं बन सकता है। जिसप्रकार परमाणु कथंचित् निरवयव और कथंचित् सावयव हैं उसीप्रकार समय भी कथंचित् अविभागी और कथंचित् सविभागी है। यदि कोई एकान्तवादी परमाणु को सर्वथा निरवयव मानता है तो उसको आर्षग्रंथों पर अथवा जिनवाणी पर श्रद्धा नहीं है।

“पञ्जवट्टियणाए अवलंबिज्जमारो सियाए एगदेसेण समागमो । ण च परमाणुणभवयवा णत्थि, उवरिमहेट्टिममज्झिमोवरिमोवरिमभागाणमभावेपरमाणुस्स त्ति अभावप्पसंगादो । ण च एवे भागा संकप्पियसरुवा; उड्ढाघोमभिसमभागाणं उवरिमोवरिमभागाणं च कप्पणाए विणा उवलंबादो । ण च अवयवाणं सव्वत्थ विचाणेण होदव्वमेवे त्ति णियमो, सयलवत्तणमभावप्पसंगादो । ण च भिष्णवमाणो ज्ज्जाणं भिष्णविसाणं च एत्तमत्थि, विरोहादो । ण च अवयवेहि परमाणु णारद्धो, अवयवसमूहस्सेव परमाणुत्तवंसणादो । ण च अवयवाणं संजोगविणासेण होदव्वमेवे त्ति णियमो, अणादिसंजोगे तवभावादो ।” धवल पु० १४ पृ० ५६-५७ ।

अर्थ—पर्यायार्थिकतय का अवलम्बन करने पर कथंचित् एकदेशीय समागम होता है। परमाणु के अवयव नहीं होते, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यदि उसके उपरिम, अवस्तन, मध्यम और उपरिमोपरिम भाग न हों तो परमाणु का ही अभाव प्राप्त होता है। ये भाग कल्पित होते हैं यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि परमाणु में ऊर्ध्वभाग, मधोभाग और मध्यभाग तथा उपरिमोपरिम भाग कल्पना के बिना भी उपलब्ध होते हैं। तथा परमाणु के अवयव हैं इसलिये उनका सर्वत्र विभाग ही होना चाहिये, ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि इस तरह मानने पर तो सब वस्तुओं के अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है। जिनका भिन्न-भिन्न प्रमाणों से ग्रहण होता है और जो भिन्न-भिन्न दिशावाले हैं। वे एक हैं यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर विरोध आता है। प्रवयवों

से परमाणु नहीं बना है यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अवयवों के समूहरूप ही परमाणु दिखाई देता है। तथा अवयव संयोग का विनाश होना चाहिये यह भी कोई नियम नहीं है, क्योंकि अनादिसंयोग के होने पर उसका विनाश नहीं होता।

जब परमाणु के अवयव हैं तो प्रदेश के भी अवयव होंगे, क्योंकि एक परमाणु जितने आकाश में रहता है उतने क्षेत्र को आकाशप्रदेश कहते हैं। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा भी है—

“भागासमष्टिगिद्धं आगासपदेससंज्ञया—भणितं ।” प्रवचनसार गाथा १४० ।

अर्थ—एक परमाणु जितने आकाश-अंश में रहता है, उतने आकाश की आकाशप्रदेश संज्ञा है।

जब परमाणु और आकाश-प्रदेश के अवयव हैं तो समय (सबसे जघन्यकाल) के भी अवयव होंगे, क्योंकि जितने काल में परमाणु एक आकाशप्रदेश को मंदगति से उल्लंघन करता है वह काल 'समय' है।

वचिवदवो तं देसं तस्सम समप्रो तवो परो पुष्वो ।

जो अथो सो कालो समओ उप्पणपट्ठंती ॥ १३९ ॥ प्रवचनसार

अर्थ—परमाणु एक आकाश के प्रदेश को (मंदगति से) उल्लंघन करता है, उसके बराबर जो काल है अर्थात् उस उल्लंघन करने में जो काल लगता है वह समय (सर्व जघन्यकाल) है।

इसप्रकार परमाणु, प्रदेश और समय ये तीनों कर्षचित् सावयव हैं। इसलिये एक ही समय में योग, आस्रव व बंध, तथा एक ही समय में कषायभाव का होना और उसके निमित्त से कार्माणुवर्गणाओं में स्थिति अनुभागादिरूप बंध हो जाना अथवा एकद्रव्य की पर्याय का दूसरेद्रव्य की उसी समय में होनेवाली पर्याय पर प्रभाव पड़ जाना असंभव नहीं है। ऐसा भी नहीं है कि एकद्रव्य की पर्याय का दूसरे द्रव्य की पर्याय पर प्रभाव न पड़ता हो। श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने भी इसप्रकार के प्रभाव का कथन किया है।

रागो पसत्थभूवो अस्थुवित्सेण फलदि विवरदीवं ।

णाणाभूमिगवाणिह बीजाणिव सस्सकालमिह ॥२५५॥ प्रवचनसार

अर्थ—जैसे जगत में वो का वो ही बीज होने पर भी नानाप्रकार की भूमियों के कारण निष्पत्तिकाल में नानाप्रकार के धान्य फलित होते हैं (अर्थात् अच्छी भूमि में उसी बीज से अच्छा अन्न उत्पन्न होता है और खराब भूमि में वही बीज खराब अन्न देता है या फल ही नहीं देता) उसीप्रकार प्रणस्तभूत राग वस्तुभेद से विपरीत फलता है।

“यतः परिणामस्वभावत्वेनात्मनः सप्ताच्चिः संगतं तोयमिवावश्यंभाविबिकारस्वाल्कीकसंगात्संयतोऽप्यसंयत एवस्यात् ।” [प्रवचनसार गाथा २७० टीका]

अर्थात्—जैसे अग्नि की संगति से जल अपने शीतलस्वभाव को छोड़कर उष्ण हो जाता है, क्योंकि अग्नि उष्ण होती है, उसीप्रकार संयत भी लौकिकजनों की संगति से असंयत हो जाता है, क्योंकि लौकिकजन असंयत होते हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने बीज और भूमि का तथा जल और अग्नि का दृष्टान्त देकर यह सिद्ध किया है कि आत्मा पर भी परपदार्थों का प्रभाव पड़ता है।

श्री अनन्तवीर्य आचार्य ने भी प्रमेयरत्नमाला में पुद्गल का चेतना पर प्रभाव पड़ता है यह सिद्ध किया है—

“अमूर्तया अपि चेतनशक्तमदिरामवनकोद्ववादिभिरावरणोपपत्तेः । इन्द्रियाणामचेतनानामाप्यनावृतप्रक्य-
त्वात् स्मृत्यादिप्रतिबन्धायोगात् । नापि मनसस्त्वेरविरणम्, आत्मव्यतिरेकेणापरस्य मनसो निषेत्स्यमानत्वात् ।” २।१२

अर्थात्—अमूर्त भी चैतन्यशक्ति का मदिरा, मदनकोद्व आदि मूर्तपदार्थों से आवरण होता हुआ देखा जाता है । यदि कहा जाय कि मदिरा आदि से इन्द्रियों का आवरण होता है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इन्द्रियाँ अचेतन हैं, सो उनका आवरण भी अनावरण के तुल्य है । यदि इन्द्रियों का आवरण माना जाय तो मदिरा पान करने वाले पुरुष के स्मृति प्रत्यभिज्ञान आदि ज्ञानों का अर्थात् स्मरण आदि का अभाव नहीं होना चाहिये । यदि कहा जाय कि मदिरा आदि से मन का आवरण होता है, सो भी कहना ठीक नहीं क्योंकि आत्मा से अतिरिक्त भाव-मन का निषेध है । इसलिये अमूर्त चेतनशक्ति का आवरण नहीं होता, यह कहना ठीक नहीं है । [इसप्रकार मदिरा आदि का प्रभाव आत्मा पर पड़ता है]

—जै. ग. 16-1-67/VII/ प्रो. ल. घ. जैन

मन्द कषायरूप विशुद्ध परिणाम ही मिथ्यात्वी मुनि के ग्रंथेयक—प्रायु का बन्ध कराते हैं । ये ही परिणाम सम्यक्त्व में भी कथंचित् कारण हैं

शंका—क्या आर्त-रौद्र परिणामों में मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगीमुनि उपरिम ग्रंथेयक तक जाता है या धर्मध्यान से ?

समाधान—मिथ्यादृष्टि के धर्मध्यान नहीं होता है । सकषाय सम्यग्दृष्टिजीव के धर्मध्यान होता है । आर्त और रौद्रध्यान या परिणाम भी उपरिमग्रंथेयक की देवायु के बन्ध का कारण नहीं हो सकते । मिथ्यादृष्टि द्रव्य-लिंगीमुनि के जो मंदकषायरूप विशुद्धपरिणाम होते हैं वे ही देवायु के बन्ध के कारण हैं । ये मंदकषायरूप विशुद्ध-परिणाम सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में भी कारण हो सकते हैं, क्योंकि मनुष्य या तिर्यंच के संकलेशपरिणामों में सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं होती । कहा भी है—

“यद्यपि तिर्यंचमनुष्यो वा मन्दविशुद्धिस्तथापि तेजोलेश्याया जघन्यांशे वर्तमान एव प्रथमोपशमसम्यक्त्व-
प्रारम्भको भवति ।” लब्धिसार गा० १०१ टीका ।

अर्थ—यदि तिर्यंच या मनुष्य के मन्दविशुद्धता हो तो भी प्रथमोपशमसम्यक्त्व की उत्पत्ति के लिये तेजोलेश्या के जघन्यघ्नंश तो होने ही चाहिये । अर्थात् कृष्ण, नील, कापोतलेश्या में तिर्यंच या मनुष्य के प्रथमोपशमसम्यक्त्व का प्रारम्भ नहीं हो सकता ।

श्री जयधवल में भी कहा है—

“तिरिक्ख-मय्खस्सेसु किण्णुणील-काउलेस्साणं सम्मतुप्पसिकाले पडिसेहो कवो, विसोहिकाले अमुहत्तिलेस्सा-
परिणामस्स संभवाणुववत्तोवो ।”

अर्थ—तिर्यंच और मनुष्यों में कृष्ण, नील, कापोतलेश्या का सम्यक्त्वउत्पत्तिकाल में निषेध किया गया है, क्योंकि विशुद्धिकाल में तीन अशुभलेश्यारूप परिणाम संभव नहीं हैं ।

इन आर्षवाक्यों से सिद्ध है कि मंदकषायरूप विशुद्ध परिणामों में ही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति सम्भव है। इसलिये सम्यक्त्वउत्पत्ति में विशुद्धपरिणाम भी एक कारण है। अन्यायरूप प्रवृत्ति तथा अभक्ष्य का सेवन करनेवाले मनुष्यों के सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति संभव नहीं है। जिन जीवों को शरीर से इतना मोह है कि शरीर के स्वास्थ्य के लिये अशुद्ध औषधि का सेवन करते हैं बाजार की बनी हुई दही आदि वस्तु का सेवन करते हैं किसी प्रकार का त्याग नहीं है वे सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं ? सम्यग्दृष्टि के अन्याय और अभक्ष्य दोनों का त्याग होता है।

—जं. ग. 23-9-65/IX/ व. पञ्जालाल

सम्यक्त्व प्रकृति का कार्य आदि मोहोदय होने पर भावमोह से अपरिणत जीव के बन्धाभाव कैसे ?

शंका—श्री प्रवचनसार गाथा ४५ जयसेनस्वामी की टीका 'द्रव्यमोहोदये सति शुद्धात्मभाव-बलेन भाव-मोहेन न परिणमति तदा बन्धो न भवति।' इसका जयधवल पु० ३ पृ० २४५ के कथन से विरोध मालूम होता है। स्पष्टीकरण करें।

समाधान—मिथ्यात्वप्रकृति कर्म के द्रव्यका उदय दो प्रकार से होता है। अर्थात् मिथ्यात्व प्रकृति का स्वमुख (निज यानी मिथ्यात्व) से उदय होता है या (परप्रकृतिरूप) परमुख से उदय होता है। यदि स्वमुख उदय है तो मिथ्यात्वरूप फल देगा। यदि स्तिबुकसंक्रमण द्वारा परमुख अर्थात् सम्यग्मिथ्यात्व या सम्यक्त्व प्रकृतिरूप उदय में आता है तो उन प्रकृतिरूप फल देगा, किन्तु स्वरूप से या पररूप से फल दिये बिना कोई भी कर्म-अकर्मभाव को प्राप्त नहीं होता अर्थात् नहीं ऋडता। यह आगम का मूल सिद्धांत है जिसको जयधवल पु० ३ पृ० २४५ पर कहा गया है।

मिथ्यात्वप्रकृति का मिथ्यात्वरूप से उदय मिथ्यादृष्टिजीव के होता है, क्योंकि मिथ्यात्वकर्म की उदयव्युत्पत्ति मिथ्यात्वगुणस्थान में कही गई है (गोम्मटसार कर्मकांड गाथा २६५)। मिथ्यादृष्टिजीव के शुद्धात्मभावना संभव नहीं है। चार अनन्तानुबन्धीकषाय और तीन दर्शनमोह इन सात प्रकृतियों के उपशम या क्षय होने पर अथवा क्षयोपशम होने पर (चार अनन्तानुबन्धीकषाय और मिथ्यात्व व सम्यग्मिथ्यात्व इन छहप्रकृतियों का पररूप से उदय होने पर और दर्शनमोह की सम्यक्त्वप्रकृति का स्वमुख उदय होने पर) शुद्धात्मभावना होती है। कहा भी है— 'यदि वह व्यवहार मोक्षमार्गी भव्य मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों के उपशम क्षय या क्षयोपशम से शुद्धात्मा को उपादेय मानकर वर्तन करता है तब उसे अक्षय मोक्ष होगा। यदि वह सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय या क्षयोपशम नहीं कर सकता तो शुद्धात्मा ही उपादेय है इसरूप भी वर्तन नहीं कर सकता तब उसे कदापि मोक्ष नहीं हो सकता। इसका भी यही कारण है कि सात प्रकृतियों के उपशम क्षय या क्षयोपशम के अभाव होने पर अनन्तज्ञानादिस्वरूप आत्मा ही उपादेय है ऐसा वर्तन नहीं करता, क्योंकि यह अवश्य है कि जो कोई अनन्तज्ञानादिस्वरूप आत्मा को उपादेय मानकर श्रद्धान करता है उसके सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय या क्षयोपशम अवश्यमेव विद्यमान है और वह अवश्य भव्य है। जिसके पूर्व में कहे प्रमाण शुद्धात्मा ही उपादेय हैं ऐसा श्रद्धान नहीं, उसके सात प्रकृतियों का उपशमादिक भी नहीं है ऐसा जानना योग्य है। इसलिये यह मिथ्यादृष्टि ही है।' समयसार गाथा २७७ पर श्री जयसेनाचार्य की टीका।

प्रवचनसार गाथा ४५ की टीका में "द्रव्य-मोहोदये सति यदि शुद्धात्म-भावना-बलेन भावमोहेन न परिणमति तदा बन्धो न भवति" का अभिप्राय यह है कि शुद्धात्मभावना के बल से मिथ्यात्वप्रकृति व मिश्रप्रकृति का द्रव्य यदि स्वमुख से उदय न आकर स्तिबुकसंक्रमण द्वारा पररूप से उदय में आवे अर्थात् सम्यक्त्वप्रकृतिरूप उदय में आवे तो सम्यक्त्वप्रकृतिरूप द्रव्यमोह के उदय में यह सामर्थ्य नहीं कि जीव उसके उदय के निमित्त से भावमोह अर्थात्

मिथ्यात्वरूप परिणाम जावे और न सम्यक्त्वप्रकृति के उदय से दर्शनमोह का बन्ध होता है, क्योंकि सम्यक्त्वप्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति बंधयोग्य नहीं है, मात्र मिथ्यात्वप्रकृति ही बन्ध योग्य है। जिसका बन्ध मिथ्यात्वगुण-स्थान में होता है। सम्यक्त्वप्रकृति के उदय से सम्यग्दर्शन का घात भी नहीं होता, क्योंकि इसमें सर्वघाती स्पृहकों का अभाव है। कहा भी है—“यदि यह कहा जावे कि सम्यक्त्वप्रकृति दर्शनमोह कर्म के तीन भेदों में से एक भेद है—कर्म विशेष है; यह सम्यग्दर्शनरूप कैसे हो सकता है, क्योंकि सम्यक्त्व तो भव्यजीव का परिणाम है और वह परिणाम विकाररहित सदा आनन्दमयी एक लक्षण को रखनेवाले परमात्मतत्त्व आदि के श्रद्धानस्वरूप है तथा मोक्ष का बीज है। ऐसा कहना ठीक नहीं है। यद्यपि सम्यक्त्वप्रकृति दर्शनमोहकर्म का ही भेद है, तथापि जैसे विष का विष मर जाने पर अर्थात् फूँका हुआ संखिया किसी के मरण का कारण नहीं हो सकता, तैसे ही मंत्र के समान शुद्धात्मभावनारूप परिणाम विशेष की शुद्धि से मिथ्यात्वकर्म में मिथ्याभाव करने की शक्ति को नष्ट कर देती है। तब उस कर्म समूह को, जिसमें मिथ्यात्वभाव नष्ट हो गया है, सम्यक्त्वप्रकृति कहते हैं। यह सम्यक्त्वकर्मप्रकृति-विशेष, क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण लक्षियों से उत्पन्न प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन के पश्चात् होने वाले वेदकसम्यग्दर्शन स्वभावरूप तत्त्वार्थश्रद्धानरूप, जीव के परिणाम को नहीं मार सकता है।” समयसार गाथा ३२८ के पश्चात् तात्पर्यवृत्ति में भी हुई गाथा पर श्री जयसेनस्वामी की टीका।

कषायपाहुडसुत पृ० ६३४ पर गाथा १०२ में कहा है—“वेदकसम्यग्दृष्टि अर्थात् दर्शनमोह की सम्यक्त्व-प्रकृति के उदय को वेदन करनेवाला जीव दर्शनमोह का प्रबन्धक है।” दर्शनमोह की सम्यक्त्वप्रकृतिरूप ब्रव्यमोह के उदय होने पर भी जीव वेदकसम्यग्दृष्टि होता है; क्योंकि उसके भावमोह अर्थात् मिथ्यात्व नहीं होता और दर्शन-मोह का बन्ध भी नहीं होता। इसप्रकार जयधवल और प्रवचनसार के कथन में कोई मतभेद नहीं है।

—जै. ग. 28-3-63/IX/ प्यारेलालजी

कर्मबन्ध कथंचित् अनादि, कथंचित् सादि/कर्मबन्ध अहेतुक नहीं

शंका—कर्मबन्ध को यदि सादि माना जाय तो यह दोष आता है कि आत्मा कर्मबन्ध से पूर्व शुद्ध थी और शुद्धात्मा के कर्मबन्ध होता नहीं है, अन्यथा सिद्ध भगवान के कर्मबन्ध का प्रसंग आजायगा। इससे सिद्ध होता है कि जीव के साथ कर्मबन्ध अनादि है और अनादि में हेतु अर्थात् कारण का प्रश्न नहीं होता है, क्योंकि जो सहेतु होता है वह अनादि नहीं हो सकता जैसे घट आदि। जो अनादि होते हैं वे निर्हेतु होते हैं जैसे मेघ आदि। अतः कर्मबन्ध अनादि व अहेतुक हैं। यही श्री पं० कंलाशचन्द्रजी ने 'जैनसंवेश' में लिखा था। श्री पं० जीवन्धरजी ने इसका खण्डन क्यों किया है ?

समाधान—यह सत्य है कि कर्मबन्ध को सर्वथा सादि मानने से शुद्धात्मा अर्थात् सिद्ध भगवान के कर्मबन्ध का प्रसंग आता है अथवा रागद्वेष आदि को अकारणपने का तथा जीवस्वभाव का प्रसंग आजायगा। शुद्ध-आत्मा के कर्मबन्ध नहीं होता, क्योंकि सिद्धपर्याय सादि-अतन्त है। कहा भी है—

‘सादिनित्यपर्यायार्थिको यथा सिद्धपर्यायो नित्यः ।’ आलापपद्धति

‘त एव क्षायिक-सायेन साद्यनिघनाः न च सादिस्वात्सनिघनत्वं क्षायिकभावस्याशक्यम् । स खलूपाधि-निवृत्तो प्रवर्तमानः सिद्धभाव इव सद्भाव एव जीवस्य, सद्भावेन चामंता एव जीवाः प्रतिज्ञायन्ते ।

बंधास्तिकाय गाथा ५३ टीका

यहाँ यह बतलाया गया है कि सिद्धपर्याय के समान क्षायिक भाव का भी कभी नाश नहीं होता है, क्योंकि उपाधि की (कर्मबन्ध की) निवृत्ति होने पर क्षायिकभाव उत्पन्न होता है।

यह सिद्ध हो जाने पर भी कि शुद्धात्मा के कर्मबंध नहीं होता है, कर्मबंध सर्वथा अनादि नहीं है, किन्तु संतान की अपेक्षा अनादि है। जैसे अंकुर बीज पूर्वक होने से सादि है, किन्तु संतान की अपेक्षा अनादि है। कहा भी है—

‘यथांकुरो बीजपूर्वकः स च सन्तानापेक्षया अनादि इति । सर्वार्थसिद्धि

यदि संतान की अपेक्षा भी जीव और कर्म का बंध अनादि न माना जाय तो वर्तमानकाल में भी जीव और कर्म का बंध सिद्ध नहीं हो सकता। कहा भी है—

‘जीवकर्मणं अणादिभो बंधो ति कथं णववे ? वट्टमाणकाले उवलभमाणजीवकर्मबंधण हाणुववत्तीवो ।’
(जयधवल पु० १ पृ० ५६)

अर्थ—जीव और कर्मों का अनादिकालीन संबंध है, यह कैसे जाना जाता है ? यदि जीव का कर्मों के साथ अनादिकालीन संबंध स्वीकार न किया जाय तो वर्तमानकाल में जो जीव और कर्मों का सम्बन्ध उपलब्ध होता है वह बन नहीं सकता है। इस अन्यथानुपपत्ति से जीव और कर्मों का अनादिकाल से संबंध है, यह जाना जाता है।

इसी बात को श्री पूज्यपादाचार्य ने सर्वार्थसिद्धि में इसप्रकार कहा है—

‘अनादिसम्बन्धे सादिसम्बन्धे चेति । कार्यकारण-भावसन्तत्या अनाविसम्बन्धे, विशेषापेक्षया सादिसम्बन्धे च बीजवृक्षवत् ।’

अर्थात्—जीव और कर्मों का अनादिसम्बन्ध भी है और सादिसम्बन्ध भी है। कार्यकारणभाव की परम्परा की अपेक्षा अनादिसम्बन्ध है और विशेष की अपेक्षा सादिसंबंध है। यथा बीज और वृक्ष का।

बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज अनादिकाल से चले आ रहे हैं, किन्तु बीज के बिना वृक्ष नहीं होता और वृक्ष के बिना बीज नहीं होता। इस अपेक्षा से प्रत्येक बीज और वृक्ष सादि व सहेतुक हैं। इसीप्रकार जीव परिणामन से द्रव्यकर्म बंध और कर्मोदय से जीव-परिणाम अनादिकाल से चले आ रहे हैं, किन्तु कोई भी जीव का विकारी परिणाम कर्मोदय के बिना नहीं होता और कोई भी कर्मबंध जीव के परिणाम बिना नहीं होता। इसप्रकार प्रत्येक कर्मबंध व जीव का विकारीपरिणाम सहेतुक व सादि है, किन्तु संतान परंपरा की अपेक्षा अनादि है। यदि किसी भी कर्मबंध को अनादि और अहेतुक मान लिया जाय तो उसके अविनाश का प्रसंग ग्राजायगा, किन्तु किसी भी जीव के साथ कोई भी कर्म ७० कोड़ाकोड़ी सागर से पूर्व का बंधा हुआ नहीं पाया जाता और कर्म स्वमुख या परमुखरूप से फल देकर निर्जरा को अर्थात् विनाश को प्राप्त हो जाता है, कहा भी है—

‘कम्मं पि सहेउअं तत्विणासण्णहाणुववत्तीवो णववे । ण च कम्मविणासो असिद्धो; बाल-जोषण-रायादि पण्णायाणं विणासण्णहाणुववत्तीए तत्विणाससिद्धोवो । कम्मकट्टिमं किण जायहे ? ण; अकट्टिमस्स विणासाणुवव-सोवो । तस्सा कस्सेण कट्टिमेण चव होवव्वं । (जयधवल पु० १ पृ० ५६-५७)

अर्थ—यदि कर्मों को अहेतुक माना जायगा तो उनका विनाश बन नहीं सकता है, इस अन्यथानुपपत्ति के बल से कर्म भी सहेतुक हैं यह जाना जाता है। यदि कहा जाय कि कर्मों का विनाश किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि कर्मों के कार्यभूत बाल, यौवन और राजादि पर्यायों का विनाश, कर्मों का विनाश हुए बिना बन नहीं सकता। इसलिए कर्मों का विनाश सिद्ध है। कर्म अकृत्रिम भी नहीं हैं, क्योंकि अकृत्रिम पदार्थ का विनाश नहीं बन सकता, इसलिए कर्मों को कृत्रिम ही होना चाहिए। आप्तपरीक्षा में भी कहा है—

बन्धस्य प्रसिद्धौ तद्धेतुरपि सिद्धः तस्याहेतुकत्वे नित्यस्वप्रसङ्गात् सतो हेतुरहितस्य नित्यस्वव्यवस्थितेः ।
(पृ० ४) न चार्थभाषबंधो द्रव्यबन्धमंतरेण भवति, मुक्तस्यापितत्प्रसङ्गाविति द्रव्यबंधः सिद्धः । सोपि मिथ्यादर्शना-
विरतिप्रमादकषाययोगहेतुक एव बंधत्वात् भावबंध घविति मिथ्यादर्शनाविर्बन्धहेतुः सिद्धः । (पृ० ५) कारिका २ ।

अर्थ—कर्मबंध सिद्ध हो जाने पर उसके हेतु (कारण) भी सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि कर्मबंध को अहेतुक (निष्कारण) मानने पर कर्मबंध को नित्य मानना पड़ेगा, क्योंकि जो सत् है और कारणरहित है वह नित्य व्यवस्थित किया गया है । भावबंध भी द्रव्यबंध के बिना नहीं होता । अग्यथा मुक्त जीवों के भी भावबंध का प्रसंग आयागा । द्रव्यबंध भी मिथ्यादर्शन अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से उत्पन्न होता है, क्योंकि बंध है, जैसे भावबंध । इसप्रकार द्रव्यबंध के मिथ्यादर्शन आदि कारण हैं, वह अहेतुक नहीं है ।

—जै. ग. 14-8-67/VII/.....

१. मात्र योग बन्ध का कारण नहीं है

२. कषाय सहित योग अथवा कषाय बन्ध का कारण है

३. मात्र योग वालों के भी स्थिति-अनुमाग बन्ध

शंका—क्या योग से बंध होता है या योग से मात्र आस्रव होता है और कषाय से बंध होता है ? मात्र आस्रव तो हो जावे और बंध न हो क्या ऐसा भी सम्भव है ?

समाधान—सर्व प्रथम योग के लक्षण पर विचार किया जाता है—प्रदेशपरिस्पर्शरूप आत्मा की प्रवृत्ति के निमित्त से कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूत वीर्य की उत्पत्ति को योग कहते हैं । आत्मा के प्रदेशों के संकोच और विस्ताररूप होने को योग कहते हैं । अथवा जीव के प्राणयोग को योग कहते हैं (ध. पु. १ पृ. १४०) । भावमन की उत्पत्ति के लिये जो प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते हैं । वचन की उत्पत्ति के लिये जो प्रयत्न होता है उसे वचनयोग कहते हैं और काय की क्रिया की उत्पत्ति के लिये जो प्रयत्न होता है उसे काययोग कहते हैं (ध. पु. १ पृ. २७९) । मनोवर्गणा से निष्पन्न हुए द्रव्यमन के अवलम्बन से जो जीव का संकोच-विकोच होता है वह मनोयोग है । भाषावर्गणा सम्बन्धी पुद्गलस्कन्धों के अवलम्बन से जो जीव प्रदेशों का संकोच-विकोच होता है वह वचनयोग है । जो चतुर्विध शरीरों के अवलम्बन से जीवप्रदेशों का संकोच-विकोच होता है वह काययोग है (धवल पु. ७ पृ. ७६) । कायवाक् (वचन) और मन के कर्म को योग कहते हैं (त. सू. अ. ६ सूत्र १) ।

यह योग आस्रव है (तस्वायं सूत्र अ. ६ सूत्र २) । जैसे जलागमन द्वार से जल आता है उसी तरह योग प्रणाली से आत्मा में कर्म आते हैं अतः इस योग को आस्रव कहते हैं (राज. वा. अ. ५ सू. २ वा. ४) । 'कम्मागमकारणं जोगो' अर्थात् कर्म के आगमन के कारण को जोग कहते हैं (गो. जी. गा. २१६) । इन प्रमाणों से जाना जाता है कि योग से आस्रव होता है ।

यह आस्रव दो प्रकार के जीवों के होता है । एक कषायसहित जीवों के और दूसरे अकषायजीवों के । सकषाय जीवों के साम्परायिकआस्रव होता है और अकषाय जीवों के ईर्यापिथआस्रव होता है (त. सू. अध्याय ६ सूत्र ४) । इसी सूत्र की टीका में श्री अकलंकदेव लिखते हैं कि 'क्रोधादि परिणाम आत्मा के स्वरूप की हिंसा करते हैं, अतः ये कषाय हैं । अथवा जैसे बट वृक्ष आदि का चैप चिपकने में कारण होता है उसी तरह क्रोध आदि भी कर्म बन्धन के कारण होने से कषाय हैं । मिथ्यादृष्टि से लेकर दसवें गुणस्थान तक कषाय का चैप रहने से योग के द्वारा आये हुए कर्म गीले चमड़े पर धूल की तरह चिपक जाते हैं, उनमें स्थिति बंध हो जाता है, यह साम्परायिक-

आस्रव है। उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली के योग क्रिया से आये हुए कर्म कषाय का चेप न होने से सूखी दीवाल पर पड़े हुए पत्थर की तरह अनन्तर समय में अकर्म भाव को प्राप्त हो जाते हैं, बँधते नहीं हैं, पर ईर्यापथआस्रव हैं।' सूत्र २ की बातक ५ में भी कहा है 'जैसे गीला कपड़ा वायु के द्वारा लाई गई धूलि की चारों ओर से चिपटा लेता है उसीतरह कषायरूपी जल से गीला आत्मा योग के द्वारा लाई गई कर्मरज को सभी प्रदेशों से ग्रहण करता है।' त. सू. अ. ८ सू. २ में कहा है—'जीव सकषाय होने से कर्मयोग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, वही बंध है' इसी प्रकार श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी तत्त्वार्थसार बन्धतत्त्व वर्णन के श्लोक १३ में कहा है। श्री कुन्धकुन्धाचार्य ने भी समयसार में कहा है कि रागीपुरुष कर्म से बँधता है। इन सब आगमप्रमाणों से सिद्ध है कि मात्र योग बंध का कारण नहीं है, किन्तु कषायसहित योग बंध का कारण है। अथवा कषाय से स्थिति अनुभागबंध होता है, (गो. क.) अतः कषाय बन्ध का कारण है।

जैसा स्थिति, अनुभाग का बन्ध कषाय से होता है वैसा स्थिति, अनुभाग ईर्यापथआस्रव में नहीं होता, अतः स्थिति, अनुभागबन्ध नहीं होता। तथापि एकसमय की स्थिति का निवर्तक ईर्यापथकर्मबन्ध अनुभागसहित है ही, ऐसा ग्रहण करना चाहिए। इसी कारण से ईर्यापथकर्म स्थिति और अनुभाग की अपेक्षा अल्प है ऐसा कहा है। (धवल पु. १३ पृ. ४९)।

—ज. ग. 16-4-64/ / एस. के. जैन

एक ही भाव से बन्ध तथा मोक्ष

शंका—जो परिणाम देवेन्द्र आदि पद के कारण हैं वे परिणाम संवर और निर्जरा के कारण कैसे हो सकते हैं, क्योंकि जिन परिणामों से बंध होता है उन परिणामों से संवर-निर्जरा नहीं हो सकती ?

समाधान—जो परिणाम देवेन्द्र आदि पद के कारण हैं, वे परिणाम संवर और निर्जरा के कारण नहीं हो सकते ऐसा एकांत नियम नहीं है। मिथ्यादृष्टि के जो परिणाम देवेन्द्र आदि पद के कारण हैं वे परिणाम संवर और निर्जरा के कारण नहीं हो सकते, क्योंकि निरतिशयमिथ्यादृष्टि के संवर और निर्जरा का अभाव है, किन्तु सम्यग्दृष्टि का तप अभ्युदयसुख और संवर-निर्जरा इन दोनों का कारण होता है, जैसे एक ही बिजली से नाना कार्य देखे जाते हैं। यदि यह कहा जावे कि इस कथन से कुछ विद्वानों के मत का खण्डन होता है तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि इस कथन का समर्थन श्रापवाक्यों से होता है। श्राप वाक्य ही प्रामाणिक हैं, क्योंकि वे वीतराग निर्ग्रन्थ गुरु के वाक्य हैं।

श्री पूज्यपाद स्वामी महान् आचार्य हुए हैं जिन्होंने समाधिशतक और इष्टोपदेश नाम से आध्यात्मिक ग्रन्थ लिखे हैं। उन्होंने आचार्यवर ने स. सि. ग्रंथ अ० ९ सूत्र ३ की टीका में इसप्रकार लिखा है—

“ननु च तपोऽभ्युदयाङ्गमिष्टं देवेन्द्रादिस्थानप्राप्तिहेतुत्वाभ्युपगमात्, कथं निर्जरङ्गस्यादिति ? नैषबोधः; एकस्यानेककार्यदर्शनादभिनवत् । यथाऽग्निरेकोऽपि विश्लेदन-भस्माङ्गारादिप्रयोजन उपलभ्यते तथा तपऽभ्युदयकर्मक्षय-हेतुरित्यत्र को विरोधः ।”

अर्थ—'कोई शंका करता है कि तप को अभ्युदय का कारण मानना द्रष्ट है, क्योंकि वह देवेन्द्र आदि स्थान विशेष की प्राप्ति के हेतुरूप से स्वीकार किया गया है, इसलिये वह निर्जरा का कारण कैसे हो सकता है ? इसका समाधान करते हुए आचार्य महाराज लिखते हैं—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि अग्नि के समान एक होते हुए भी इसके अनेक कार्य देखे जाते हैं। जैसे अग्नि एक है तो भी उसके विश्लेदन, भस्म और अंगार आदि अनेक कार्य

उपलब्ध होते हैं, जैसे ही तप अशुद्ध (सांसारिक वैभव) और कर्मक्षय इन दोनों का कारण है ऐसा मानने में क्या विरोध है अर्थात् कोई विरोध नहीं ।

इसी बात को इष्टोपदेश ग्रंथ में भी कहा है—

यत्र भावः शिवं वत्ते, शोः कियद्दूरवर्तिनो ।
यो न्यत्याशु गच्छति, श्लेशार्थे किं स सीवति ॥ ४ ॥

अर्थ—जो भावमोक्ष दे सकता है उसके लिये स्वर्ग देना कितनी दूर है ? वह तो उसके निकट ही समझो । जैसे जो भार को दो कोस तक आसानी और शीघ्रता के साथ ले जा सकता है तो क्या वह अपने भार को आधा कोस ले जाते हुए खिन्न होगा ? नहीं, भार को ले जाते हुए खिन्न न होगा । बड़ी शक्ति के रहते हुए अल्प कार्य का होना सहज अर्थात् सरल ही है ।

इसी की टीका में निम्न श्लोक दिया गया है—

“गुरुपदेशमासाद्य, ध्यायमानः समाहितः ।
अनन्तशक्तिरात्मा सः भुक्ति मुक्ति च यच्छति ॥”

अर्थ—गुरु के उपदेश को प्राप्तकर सावधान हुए प्राणियों के द्वारा चिन्तवन किया गया यह अनन्त शक्ति-वाला आत्मा चिन्तवन करने वाले को भुक्ति और मुक्ति प्रदान करता है ।

श्री कुन्वकुन्द भगवान भी कहते हैं शुभोपयोग से देवेन्द्र आदि के सुख तथा निर्वाण की प्राप्ति होती है—

संपञ्जदि जिश्वार्णं देवासुरमण्युरायविहवेहि ।
जीवस्स चरित्ताढो वंसणणाणप्पहाणाढो ॥ ६ ॥ प्रवचनसार

अर्थ—जीव को दर्शन-ज्ञान प्रधान चारित्र्य से देवेन्द्र असुरेन्द्र और नरेन्द्र के वैभवों के साथ निर्वाण प्राप्त होता है ।

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरस्थानं ।
चरिया परेत्ति भणिदा ताएव परं लह्वि सोख्खं ॥२५४॥ प्रवचनसार

अर्थ—यह प्रशस्तचर्या (शुभोपयोग) श्रमणों के गौण होती है और गृहस्थों के मुख्य होती है । ऐसा जिन आगम में कहा है । उसी से गृहस्थ परमसौख्य को प्राप्त होते हैं ।

इसकी टीका में श्री अमृतचन्द्र सूरि कहते हैं—

“गृहिणो तु समस्तविरतेरभावेन शुद्धात्मप्रकाशस्याभावान् कषायसङ्घावान् प्रवर्तमानोऽपि स्फटिकसंपर्कभा-
कृतेजस इबंधसां रागसंयोग्धे शुद्धात्मनोऽनुभवनात्क्रमतः परमसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः ।

अर्थ—वह शुभोपयोग गृहस्थों के तो, सर्वविरति के अभाव से शुद्धात्म प्रकाशन का अभाव होने से कषाय के सद्भाव के कारण प्रवर्तमान होता हुआ भी, मुख्य है, क्योंकि जैसे ईंधन को स्फटिक के सम्पर्क से सूर्य के तेज का अनुभव होता है, और क्रमशः परमनिर्वाणसौख्य का कारण होता है ।

इसप्रकार एक ही भाव से बन्ध और मोक्ष आर्षग्रन्थों में स्पष्टतया कहा गया है। इन आर्षग्रन्थों के अनुसार ही अपनी श्रद्धा बनानी चाहिये। वह ही सम्यग्दर्शन है।

—जं. ग. 6-8-64/IX/ आट. डी.जैन

बन्ध, सम्बन्ध, तादात्म्य संबंध एवं संयोग संबंध

शंका—बंध, संबंध, तादात्म्यसंबंध और संयोगसंबंध इनके लक्षण क्या हैं ?

समाधान—दो द्रव्यों का परस्पर श्लेष होना बंध का लक्षण है। कहा भी है—

“परस्पर श्लेषलक्षणे बन्धे सत्सिद्धयणुकस्त्वन्धो भवति।” सर्वांशसिद्धि ५।३३

इससे पूर्व अवस्थाओं का त्याग होकर उनसे भिन्न एक तीसरी अवस्था उत्पन्न होती है अतः उनमें एक-रूपता आ जाती है। कहा भी है—

“ततः पूर्वावस्थाप्रणयवनपूर्वकं तार्तीयिकमवस्थान्तरं प्रादुर्भवतीत्येकत्वमुपपद्यते।” स० सि० ५।३७

हाइड्रोजनहवा तथा ग्राहसीजनहवा का बंध होकर जल बन जाता है। जीव-कर्म का बंध सम्बन्ध है।

जिनके प्रदेश तो भिन्न न हों, किन्तु संज्ञा, संख्या लक्षण से भिन्न हो वह तादात्म्य-संबंध है। जैसे अग्नि और उष्णता का सम्बन्ध। गुण-गुणी का संबंध, पर्याय और पर्यायी का तादात्म्य सम्बन्ध है, क्योंकि इनके प्रदेश भिन्न नहीं हैं।

दो द्रव्यों का परस्पर इस प्रकार मिलना कि तीसरी अवस्था प्राप्त न हो उसको संयोगसम्बन्ध कहते हैं। जैसे कपड़े में ताना और बाना का संयोगसम्बन्ध है।

—जं. ग. 19-12-66/VIII/ रतनलाल

समकितो के बन्ध का कारण चारित्रमोह

शंका—कलश नं० ११ पुष्य-पाप अधिकार समयसार में कहा है—“कर्म के उदय की बरजोरी से कषाय बिना जो कर्मउदय होय है सो तो बन्ध को ही कारण है” सम्यक्स्वप्रकृति का उदय बन्ध का कारण क्यों नहीं ?

समाधान—समयसार पुष्य-पाप अधिकार कलश नं० ११ में जो कर्म के उदय को बन्ध का कारण कहा वहाँ पर चारित्रमोह कर्मोदय से अभिप्राय है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि के दसवें गुणस्थानतक चारित्रमोहकर्म के उदय के कारण बन्ध होता रहता है। मिथ्यात्वकर्म और चारित्रमोहनीयकर्म का उदय ही बन्ध का कारण है, शेष कर्मों का उदय बन्ध का कारण नहीं है। कहा भी है—“सभी औदयिकभाव बन्ध के कारण नहीं हैं। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग ये चार औदयिकभाव बन्ध के कारण हैं।” धवल पु० २ पु० ९। मात्र औदयिकभाव बन्ध का कारण नहीं, यदि वह मोहनीयकर्म उदयसहित है तो बन्ध हाता है अन्यथा बन्ध नहीं होता है। [प्रवचनसार गाथा ४१। जयसेन आचार्य की टीका]

—जं. ग. 28-3-63/IX/ प्यारेलाल

भावबन्ध का उपादान कारण

शंका—“भावबन्ध के विवक्षित समय से अनन्तरपूर्ववर्ती क्षणवर्ती योग-कषायरूप आत्मा की पर्याय विशेष को भाव बन्ध का उपादान कारण कहा है।” अनन्तरपूर्ववर्तीक्षण से क्या आशय है ?

समाधान—जिन चेतनभावों से द्रव्यकर्म बँधते हैं वह भावबन्ध है।

“बद्धादि कर्म जेण तु जेदण भावेण भावबन्धो सो।”

अर्थ—जिस चेतनभाव से कर्म बँधता है वह भावबन्ध है।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चेतनभावों से कर्म बँधता है।

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥८।१॥ भोजशास्त्र

अर्थ—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग (ये चेतनभाव) कर्मबन्ध के कारण हैं।

वह कर्मबन्ध प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्ध के भेद से चार प्रकार का है। उनमें से प्रकृतिबन्ध व प्रदेशबन्ध का योग कारण है और स्थिति व अनुभागबन्ध का कषाय कारण है। श्री द्रव्यसंग्रह में कहा भी है—

पयङ्गिद्विवि अणुभागपदेश भेदाद् बहुविधो बन्धो ।

जोगा पयङ्गि पदेशा द्विविअणुभागा कसयवो ह्येति ॥३३॥

अर्थ—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन भेदों से द्रव्यबन्ध चारप्रकार का है। योगरूप चेतनभाव से प्रकृतिबन्ध व प्रदेशबन्ध होता है और कषायरूप चेतनभाव से स्थिति, अनुभागबन्ध होता है।

इससे सिद्ध होता है कि भावबन्ध में योग और कषायरूप भावों की मुख्यता है। प्रतिक्षण की योग-कषाय-रूप आत्मा की पर्याय भावबन्धरूप है। इसीलिए दसवें गुणस्थानतक प्रत्येक समय जीव के कर्मबन्ध होता रहता है।

विवक्षितक्षण से मिला हुआ पूर्वक्षण प्रथात् Just Before क्षण को अनन्तरपूर्ववर्तीक्षण कहते हैं।

—जै. म. 4-7-66/IX/ म. ला. जैन

मिथ्यात्वादि पृथक्-पृथक् भी बन्ध के कारण हैं

शंका—पाँच मिथ्यात्व, बारह अविरति, पच्चीस कषाय पन्द्रहयोग इन का समुदाय ही बन्ध का कारण है अथवा ये पृथक्-पृथक् भी बन्ध के कारण हैं ?

समाधान—पाँच मिथ्यात्व, बारह अविरति, पच्चीस कषाय और पन्द्रह योग ये पृथक्-पृथक् भी बन्ध के कारण हैं। चतुर्थगुणस्थान में असंयतसम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्वोदयाभाव हो जाने से बारह अविरति, पच्चीस कषाय और पन्द्रह योग इनसे बन्ध होता है। संयत के बारह अविरति का भी अभाव हो जाने से कषाय व योग से बन्ध होता है। छद्मस्थवीतराग व सयोगकेवली के कषाय का भी अभाव हो जाने से मात्र योग से बन्ध होता है। इस-प्रकार मिथ्यात्व, अविरति, कषाय व योग पृथक्-पृथक् भी बन्ध के कारण हैं।

—जै. म. 26-2-70/IX/ रो ला.

द्रव्य एवं भाव बंध के हेतु

शंका—आत्मा के अशुद्ध परिणाम ही द्रव्यकर्म के बंध के हेतु हैं, तब अशुद्धपरिणाम का कौन हेतु है ? यदि कहा जाय कि वह अशुद्धपरिणाम द्रव्यकर्म की संयुक्तता से होते हैं, क्योंकि यह उसके कर्म हैं, किन्तु जीव के अशुद्धपरिणाम तो प्रतिक्षण होते रहते हैं तो इनमें कौन-सा द्रव्यकर्म हेतु पड़ता है ?

समाधान—जीव के औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक औदयिक और पारिणामिक ये पाँचभाव हैं। त० सू० अ० २ सू० १ इनमें से औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिकभाव तो मोक्ष के कारण हैं; औदयिकभाव बंध के कारण हैं; पारिणामिकभाव न बंध के कारण हैं और न मोक्ष के कारण हैं। कहा भी है—

ओदइया बंधयरा उवसम ख्यमिस्सया य मोक्षयरा ।

भावो कु पारिणामिओ करणोभयवज्जिओ होदि ॥ ध० पु० ७ पृ० ९

अर्थ—औदयिकभाव बंध करने वाले हैं। औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिकभाव मोक्ष के कारण हैं तथा पारिणामिकभाव बंध और मोक्ष दोनों के कारण से रहित हैं।

“ओदइया बंधयरा त्ति वृत्ते ण सख्वेसिमोदइयाणं भावाणं गहणं गदि-जाविआदीणं पि ओदइयाभावाणं बंधकारणत्तप्पसंगा । जस्स अण्णय वदिरेगेहि णियमेण जस्सण्णय-वदिरेगा उवलंभन्ति तं तस्स कज्जमियरं स कारणं इदि णायारो मिच्छतावीणि चैव बंधकारणाणि ।” (ध. पु. ७ पृ. १०)

“औदयिकभाव बंध के कारण हैं, ऐसा कहने पर सभी औदयिकभावों का ग्रहण नहीं समझना चाहिये, क्योंकि वैया मानने पर गति, जाति आदि नामकर्मसम्बन्धी औदयिकभावों के भी बंध के कारण होने का प्रसंग था जायगा। जिसके अन्वय और व्यतिरेक के साथ नियम से जिसके अन्वय और व्यतिरेक पाये जावें वह उसका कार्य और दूसरा कारण होता है। इस न्याय से मिथ्यात्व आदि (मिथ्यात्व, कषाय) ही बंध के कारण हैं।”

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्ध-हेतवः ॥१॥ सकषायत्थाज्जीवः कर्मणो योग्यानुद्गलानादस्ते स बन्धः ॥२॥ (त० सू० अ० ८)

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बंध के कारण हैं। पूर्वकर्मोदय से जीव कषायसहित होता है अर्थात् ऐसा सकषायजीव कर्मों के योग्य नवीन पुद्गलों को ग्रहण करता है वह बंध है।

दसवैगुणस्थानतक कषाय का उदय निरंतर रहता है जिससे जीव निरंतर सकषाय होता रहता है और सकषाय होने के कारण उसके नवीनकर्मों का बंध प्रतिक्षण होता रहता है।

—जं. ग. 18-3-71/VII/टी. ला. जैन

सभी जीवों के अनादिकालीन बन्ध है जो कश्चित् असमान है

शंका—जीव के कर्म का सम्बन्ध अनादिकाल से है वह सब जीवों के एक-सा ही होता है या कम-ज्यादा ? अगर एक-सा ही होता है तो अनादि से चारों गतियाँ न होकर एक ही गति सिद्ध होती है और अगर कम-ज्यादा होता है तो इसका क्या कारण ?

समाधान—अनादिसम्बन्ध में यह प्रश्न ही नहीं होता कि सब जीवों के एक-से ही कर्मों का सम्बन्ध होता है या कम-ज्यादा। चारों गतियों के जीव अथवा सिद्धजीव निगोद से ही निकले हैं फिर भी वे अनादि से हैं।

अनादि से सिद्ध हैं और अनादि से ही चारों गतियों में जीव हैं। जीवों के वर्तमान में जो बंध पाया जाता है वह सादि है, सकारण है और नानाजीवों की अपेक्षा उसमें हीनाधिकता है।

—जं. सं. 19-3-5)/V/ भं. ला. जैन, कुषामन सिटी

जीव व पुद्गल मिश्र-भिन्न द्रव्यों का अनाविकालीन सम्बन्ध है, इसका उदाहरण

शंका—मोक्षमार्ग प्रकाशक के पृष्ठ ३३ पर शंका उठाई गई है कि जीवद्रव्य व पुद्गलद्रव्य जो न्यारे-न्यारे द्रव्य और अनावि से तिनिका सम्बन्ध ऐसे कैसे संभवे ? इसके समाधान में तिल-तेल, अल-बूध, सोना किट्टिका व तुष-कण का उदाहरण देकर समझाया गया है। पर वे उदाहरण तो पुद्गलद्रव्य के पुद्गलद्रव्य में ही हैं। शंका जीव व पुद्गल अलग-अलग द्रव्य की है। अतः पूरी तरह से समझ में नहीं बँठा। ऐसे ही जीव व पुद्गल अलग-अलग द्रव्यों का उदाहरण देकर समझावें।

समाधान—प्रत्यक्ष पदार्थों का उदाहरण दिया जाता है। तिलतेल, सोना किट्टिका आदि प्रत्यक्ष देखने में आते हैं, अतः इनका उदाहरण दिया गया है। उदाहरण एकदेश होता है, सर्वांग नहीं होता है। जीव और पुद्गल का सम्बन्ध है यह प्रत्यक्ष अनुभव में आ रहा है। यह सम्बन्ध यदि सादि होता तो सिद्ध भगवान के भी हो जाना चाहिये था। किन्तु सिद्ध भगवान के पुद्गल का सम्बन्ध होता नहीं अतः जीव-पुद्गल का सम्बन्ध अनादि का है। इसका उदाहरण जीव-पुद्गल ही है। जैसे राम-रावण युद्ध का उदाहरण राम-रावण युद्ध ही है। सर्वांग अन्य उदाहरण नहीं हो सकता है।

—जं. सं. 19-3-59/V/ भं. ला. जैन, कुषामनसिटी

जीव का कर्मों के साथ समवाय संबंध है

शंका—धवल सिद्धान्त ग्रन्थ पुस्तक १ पृष्ठ २३३ व २३४ पर लिखा है—'जीव के साथ कर्मों का समवायसंबंध होता है।' सो कैसे है ?

समाधान—जीव और कर्मों का अनादि काल से बंधनबद्ध संबंध है। इस बंधनबद्ध संबंध के कारण जीव और पुद्गल दोनों अपने-अपने स्वभाव से च्युत हो रहे हैं। कर्मोदय के कारण जीव विभावरूप परिणमन करता है। जीव में रागद्वेष होने पर पुद्गल द्रव्य-कर्मरूप परिणम जाता है। इसप्रकार के बंधनबद्ध संबंध को संयोगसंबंध तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि पृथक् प्रसिद्ध पदार्थों के मेल को संयोग कहते हैं। अयुतसिद्ध पदार्थों का एकरूप से मिलने का नाम समवाय है (ध० पु० १५ पृ० २४)। अतः जीव और कर्मों का समवायसंबंध है।

—जं. सं. 25-12-58/V/ क. दे. गया

(१) पुण्य बन्ध किससे होता है ?

(२) संक्लेश व विशुद्धि का लक्षण

शंका—“राग घातिकर्म की पापप्रकृति है अतः उससे पुण्यबंध नहीं हो सकता, पुण्यबंध तो विशुद्धरूप परिणामों से होता है।” क्या ऐसा सिद्धान्त आगम अनुकूल है ? संक्लेश और विशुद्धि का क्या लक्षण है ? भव्य जीवों के उत्कर्ष का कारण विशुद्धि है या संक्लेश है ?

समाधान—राग यद्यपि चारित्रमोहनीय घातियाकर्म का भेद है, और घातियाकर्म पापरूप है तथापि वह राग प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार का है। इनमें से प्रशस्तराग, घातियाकर्मरूप पापप्रकृति होने पर भी पुण्यबंध का कारण है। श्री कुन्बकुन्दाचार्य ने पंचास्तिकाय में कहा भी है—

रागो जस्त पसत्यो अणुकंपा संसिबो य परिणामो ।

चित्तमिह णत्थि कलुसं पुण्णं, जीवस्स आसवदि ॥१३५॥

—जिस जीव के प्रशस्तराग है, अनुकम्पायुक्त परिणाम हैं और चित्त में कलुषता (संक्लेश) का अभाव है उस जीव के पुण्य का आस्रव होता है।

इस गाथा में श्री कुन्बकुन्दाचार्य ने पुण्यास्रव के तीन कारण बतलाये हैं (१) प्रशस्तराग (२) अनुकम्पा (३) अकलुषता। इनमें से अकलुषता का स्वरूप बतलाते हुए श्री अमृतचन्द्राचार्य पंचास्तिकाय गाथा १३८ की टीका में निम्नप्रकार लिखते हैं।

“क्रोध-मानमायालोभानां तीव्रोदये चित्तस्य क्रोधः कालुष्यम् । तेषामेव संबोदये तस्य प्रसादोऽकालुष्यम् ।”

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि क्रोध, मान, माया, लोभ का तीव्रउदय कलुषता (संक्लेश) है और उन्हीं क्रोधादि कषायों का संबोदय अकलुषता है। कषायों का संबोदय अर्थात् अकलुषता पुण्यास्रव व बंध का कारण है। कहा भी है—

“तच्छ्वाकालुष्यं, पुण्यास्रवकारणं मृतं ।”

कषायों के संबोदयरूप अकलुषता (विशुद्धि) भी पुण्यास्रव एवं बंध का कारण है। प्रवचनसार में भी श्री कुन्बकुन्दाचार्य ने कहा है—

अप्पा उवओगप्पा उवओगो, णाणदंसणं मणिवो ।

सोवि सुहो असुहो वा उवओगो, अप्पणो हववि ॥१५५॥ (प्र० सा०)

टीका—ज्ञानदर्शनोपयोगधर्मानुरागरूपः शुभः विषयानुरागरूपो द्वेषमोहरूपश्चाशुभः । अशुद्धः सोपरागः । स तु विशुद्धिसंक्लेशरूपत्वेन द्वैविध्योद्भूतरागस्य द्विविधः शुभोऽशुभश्च ।

उवओगो जवि हि सुहो पुण्णं, जीवस्स संचयं जावि ।

असुहो वा तद्य पायं तेस्सिम भावे ण चयमत्थि ॥ १५६ ॥ (प्र० सा०)

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि ज्ञान-दर्शनमयी उपयोग यदि धर्मानुरागरूप है तो शुभ है यदि विषयानुराग है तो अशुभ है। अशुद्धोपयोग रागसहित होने के कारण विशुद्धि और संक्लेश से दो प्रकार का है। शुभोपयोग विशुद्धिरूप है और अशुभोपयोग संक्लेशरूप है।

प्रशस्तरागरूप शुभोपयोग अर्थात् विशुद्धि में कारण (आश्रय) का विपरीतता से प्रशस्तराग के फल-स्वरूप पुण्य में भेद हो जाता है। इस बात को श्री कुन्बकुन्दाचार्य तथा श्री अमृतचन्द्राचार्य ने इस गाथा व टीका में कहा है—

रागो पसस्यभूवो वस्यविसंसेण, फलवि विवरीदं ।

णाणासूमिगवाणिह बीजाणिव, सस्सकालमिह ॥२५५॥ (प्र० सा०)

छद्मस्थविहिवत्पुसु वदणि धमञ्जयणज्ञानदानरदा ।

ण लह्वि अपुणब्भावं भावं, सादप्पगं लह्वि ॥२५६॥ (प्र० सा०)

टीका—शुभोपयोगस्य सर्वज्ञव्यवस्थापितवस्तुषु प्रणिहितस्य पुण्योपचयपूर्वकोऽपुनर्भावोपलम्भः किलकलं, तत्तु कारणवैपरीत्याद्विपर्यय एव । तत्र छद्मस्थव्यवस्थापितवस्तुनि कारणवैपरीत्यं, तेषु व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरत-स्वप्रणिहितस्य शुभोपयोगस्यापुनर्भाव शून्य केवलपुण्यपसदप्राप्तिः फलवैपरीत्यं तत्पुण्यमनुजत्वम् ॥ २५६ ॥ प्रशस्तरागविपाकात् शुभोपयुक्ताः ॥ २५६ ॥

प्रशस्तराग के विपाक से होने वाला शुभोपयोग अथवा विशुद्धि वस्तुभेद से विपरीतरूप फलता है । यदि वह प्रशस्तरागरूप शुभोपयोग सर्वज्ञ वीतराग द्वारा कथित वस्तु में उपयुक्त है तो उसका फल पुण्यसंचय पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति है । यदि वह प्रशस्तरागरूप शुभोपयोग छद्मस्थ कथित वस्तु में उपयुक्त है और उसके अनुसार व्रत, नियम, अध्ययन, ध्यान, दान आदि की क्रिया भी करता है तो उसका फल मोक्षशून्य मात्र निरतिशयपुण्य की प्राप्ति है । जिससे सुदेव मनुष्यत्वपर्याय तो मिल जायगी, किन्तु मुक्ति नहीं होगी । इसप्रकार निमित्तकारण की विपरीतता से उपादान के फल (कार्य) में विपरीतता अवश्यम्भावी है ।

धवल अध्यात्मबंध में संक्लेश व विशुद्धि परिणामों का लक्षण इसप्रकार कहा है—

“को संक्लेशो नाम ? असावबंधजोगपरिणामो संक्लेशो नाम । का विसोहो ? सावबंध जोगपरिणामो ।”
ध० पु० ६ पृ० १८०

असाता के बंध योग्य परिणामों को संक्लेश कहते हैं । साता के बंध योग्य परिणामों को विशुद्धि कहते हैं ।

“सावबंधपाभोगकसाउवयद्वाणाणि विसोहो, असावबंधपाभोगकसाउवयद्वाणाणि संक्लेशोति ।”

ध० पु० ११ पृ० २०९

सातावेदनीय के बन्धयोग्य कषायोदय स्थानों को विशुद्धि कहते हैं और असातावेदनीय के बंधयोग्य कषायोदय स्थानों को संक्लेश ग्रहण करना चाहिये ।

“सावबंधया इवि उत्तो साव-धिरसुभ-सुस्वर-सुभग-आवेज्ज-जसकिति-उच्चगागोदानमट्टणं सुहपयडीणं परियत-साणीणं गहणं कायबंधं, अणोण्णाविणाभावित्तबंधादो । असावबंधया इवि उत्तो असाव-धिर-असुह-दुभग-दुस्वरअणावेज्ज-अजसगिति-णीचागोदं बंधयाणं गहणं कायबंधं, बंधेण अणोण्णाविणाभावित्तदंसापादो ।” ध० पु० ११ पृ० ३१२

साताबंध योग्य कहने पर साता, स्थिर, शुभ, सुस्वर, सुभग, आदेय, यशकीर्ति और उच्चमोत्र इन आठ परिवर्तमान प्रकृतियों का ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि इनके बंध में परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है । असाताबंध-योग्य कहने पर असाता, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयशकीर्ति और नीचमोत्र के बंध का ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि बंध की अपेक्षा उनका अविनाभाव संबंध है ।

सर्वज्ञ वीतराग कथित वस्तु में उपयुक्त प्रशस्तराग-शुभोपयोगरूप विशुद्धि भव्य जीवों के उत्कर्ष का कारण है । छद्मस्थ कथित वस्तु में उपयुक्त प्रशस्तरागरूप विशुद्धि और संक्लेश जीवों के उत्कर्ष का कारण नहीं है ।

—गौ. ग. 27-5-76/VI/ राजमल पंन

अबुद्धिपूर्वक बन्ध व उदय का स्वरूप, कारण तथा रोकने के उपाय

शंका—अबुद्धिपूर्वक बंध तथा उदय किसे कहते हैं। अबुद्धिपूर्वक बंध का कारण क्या है? जब इसका उदय होता है तो हमें इसकी अनुभूति या ज्ञान होता है या नहीं? आत्मा का इससे कितना सम्बन्ध है? इसे कैसे रोका जा सकता है जब कि बुद्धि का वहाँ उपयोग ही नहीं है?

समाधान—समयसार गाथा १७२ की टीका में कहा है कि जब तक ज्ञान सर्वोत्कृष्टभाव (केवलज्ञान अवस्था) को प्राप्त नहीं होता तब तक वह ज्ञान जघन्यरूप होता है। मोह के उदय के बिना ज्ञान की जघन्यता हो नहीं सकती इससे अबुद्धिपूर्वक मोह के उदय का सद्भाव पाया जाता है। पं० जयचन्वजी ने इस टीका के भावार्थ में 'अबुद्धिपूर्वक' के दो अर्थ किये हैं—

“आप तो करना नहीं चाहता और परनिमित्त से जबरदस्ती से हो, उसको आप जानता है। तो भी उसको अबुद्धिपूर्वक कहना चाहिये। दूसरा वह कि अपने ज्ञानगोचर ही नहीं, प्रत्यक्षज्ञानी उसे जानते हैं तथा उसके अविनाभावी चिह्न कर अनुमान से जानिये है उसे अबुद्धिपूर्वक जानना।” पं० राजमलजी ने भी गाथा १७२ के कलश की टीका में इसप्रकार लिखा है—“अबुद्धिपूर्वक परिणाम कहता पंचेन्द्रिय मन को व्यापार बिना ही मोहकर्म को उदय निमित्त पाय मोह, राग-द्वेषरूप अशुद्धविभावपरिणामरूप जीव असंख्यातप्रदेश परिणवे सो यह परिणाम जीव की जान में नहीं और जीव का साराको (अनुभव) नहीं।” समयसार गाथा १७२ की नीचे टिप्पणी दी है जिसका अर्थ भी यही है।

अबुद्धिपूर्वक बंध का कारण राग-द्वेष अथवा कषायभाव है। जब अप्रमत्तदशा में चारित्र्यमोह के मंदउदय से अबुद्धिपूर्वक रागद्वेष होता है तो उसका ज्ञान व अनुभव नहीं होता। रागद्वेष आत्मा के चारित्र्यगुण की वैभाविकपर्याय है अतः आत्मा का इससे तादात्म्य सम्बन्ध है, किन्तु त्रैकालिक तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध है।

अबुद्धिपूर्वक रागद्वेष के मेटिबे को निरंतरपने शुद्धस्वरूप को अनुभवे, शुद्धस्वरूप को अनुभव करने से सहज ही मिट जाय है।

—जै. सं. 2-1-58/VI/ लालचन्द नाहटा, केकड़ी

जघन्य रत्नत्रय कथञ्चित् बन्ध का कारण है

शंका—'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में देवों का कथन करते हुए लिखा है—

“बहुरि आयु बड़ी है। जघन्य दशहजारवर्ष, उत्कृष्ट इकतीससागर है। यार्त अधिक आयु का धारी मोक्षमार्ग पाए बिना होता नाहों।”

यहाँ पर प्रश्न यह है कि मोक्षमार्ग तो सत्यदर्शन-ज्ञान-चारित्र्य रत्नत्रयस्वरूप है, क्या रत्नत्रय भी देवायु के बंध का कारण है?

समाधान—देवायु पुण्यप्रकृति है। उसकी उत्कृष्टस्थिति तैतीससागर का बंध करनेवाला मनुष्य रत्नत्रय का धारी होना चाहिये। कहा भी है—

“देवायु. उक्क. द्विविबंध कस्स ? अण्णदरस्स पमत्तसंजदस्स सागार जागारसुबोधजोगजुत्तस्स तप्पाओग्ग-विसुद्धस्स उक्कत्तिसयाए आवाधाए उक्क. द्विविबंध. वट्ट. ।” महाबंध पु० २ पृ० २५६

अर्थ—देवायु के उत्कृष्ट स्थितिबंध का स्वामी कौन है ? श्रुतोपयोग से उपयुक्त, तत्प्रायोग्य विशुद्ध-परिणाम वाला है और उत्कृष्ट आबाधा के साथ उत्कृष्ट स्थितिबंध कर रहा है, अन्यतर प्रमत्तसंयत साधु देवायु के उत्कृष्ट स्थिति अर्थात् तैत्तिसागर स्थितिबंध का स्वामी है ।

प्रमत्तसंयतसाधु मोक्षमार्गी है इसीलिये 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में लिखा है कि ३१ सागर से अधिक आयु का घारी देव वही मनुष्य होगा जो मोक्षमार्गी है ।

यदि कहा जावे कि रत्नत्रय से बंध नहीं होता है, सो भी बात नहीं है, क्योंकि जघन्यरत्नत्रय से देवायु आदि पुण्यप्रकृतियों का बंध होना सम्भव है ।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा भी है—

सरागसंयमश्चैव सम्यक्त्वं देशसंयमः । इति देवायुषो ह्येते भवन्त्यास्त्रवहेतवः ॥४।४३॥ तत्त्वार्थसार
सरागसंयम, सम्यक्त्व और देशसंयम ये सब देवायु के आस्रव के कारण हैं ।

श्री कुन्बकुन्दाचार्य भी कहते हैं—

दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खममोत्ति सेविक्खाणि ।

साधुहिं इवं भणिदं तेहिं वु बंधो व मोक्खो वा ॥ १६४ ॥ (पं० का०)

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य मोक्षमार्ग है, इसलिये वे सेवने योग्य हैं ऐसा साधु पुरुषों ने कहा है । उन सम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य से बंध भी होता है और मोक्ष भी होता है ।

निर्जरा कर्मणां येन तेन वृत्तिस्तपो मतम् ।

कषायैतानि मिथ्याणि कषायैः स्वर्गहेतवः ॥३०७॥

निष्कषायाणि नाकस्य मोक्षस्य च हितैविणाम् ।

चसुण्डयमिदं धर्मं मुक्तेषु प्रापमङ्गलिभिः ॥३०९॥ महापुराण सर्ग ४७

अर्थ—जिससे कर्मों की निर्जरा हो ऐसी वृत्ति धारण करना तप कहलाता है । ये चारों ही (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य-तप) गुण यदि कषायसहित हों तो स्वर्ग के कारण हैं और कषायरहित हों तो आत्महित चाहनेवाले लोगों को स्वर्ग-मोक्ष दोनों के कारण हैं । ये चारों ही मोक्षमार्ग हैं और प्राणियों को बड़ी कठिनाई से प्राप्त होते हैं ।

जं. ग. 4-5-72/VII/ सुलतानसिंह

महाव्रत बन्ध के कारण नहीं हैं

शंका—सोनगढ़ के प्रचारक "सम्यक्त्वं च ।" इस सूत्र का अर्थ तो इसप्रकार करते हैं कि सम्यक्त्व देवायु का कारण नहीं है, अपितु उसके साथ जो राग है वह देवायु का कारण है, किन्तु जहाँ महाव्रत व तप का प्रकरण आता है वहाँ पर वे प्रचारक यह अर्थ करते हैं कि महाव्रत व तप आस्रव के कारण हैं, संवर-निर्जरा के कारण नहीं हैं । वे यह नहीं कहते कि महाव्रत व तप आस्रव का कारण नहीं है, किन्तु महाव्रत भावि के साथ जो राग है वह आस्रव का कारण है । इसप्रकार अर्थ करके क्या सोनगढ़ के प्रचारक चारित्र्यरूप धर्म का अवर्णवाद नहीं करते हैं ?

समाधान—विगम्बर महानाचार्य श्रीमद्गुमास्वामिविरचित त० सू० अ० ६ सू० २१ "सम्यक्त्वं च" में यह कहा गया है कि सम्यग्दर्शन देवायु के आस्रव का कारण है। इस सूत्रपर श्री पूज्यपाव, श्री अकलंकवेव, श्री विद्यानन्दादि महापुरुषों ने टीकार्यें रची हैं, किन्तु किसी भी आचार्य ने इस सूत्र का यह अर्थ नहीं किया कि सम्यक्त्व देवायु के आस्रव का कारण नहीं, किन्तु राग देवायु के आस्रव का कारण है। श्री विद्यानन्द आचार्य ने श्लोक-वार्तिक में इस सूत्र की टीका में लिखा है—

पृथक्सूत्रस्य निर्देशाद्धेतुर्बैमानिकायुषः ।
सम्यक्त्वमिति विशेषं संयमासंयमाविद्यत् ॥ ५ ॥

इस सूत्र का पृथक् निरूपण करने से सम्यक्त्व वैमानिक देवों की आयु का हेतु है, यह समझ लेना चाहिये जैसे कि संयमासंयम व सरागसंयम वैमानिकदेवों की आयु का आस्रव कराते हैं।

समयसार के टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी तत्त्वार्थसार में कहा है—

सरागसंयमश्चैव सम्यक्त्वं देशसंयमः ।
इति देवायुषो ह्येते भवन्त्यास्रवहेतवः ॥ ४३ ॥

सरागसंयम, सम्यक्त्व और देशसंयम ये देवायु के आस्रव के हेतु हैं। यहाँ पर भी सम्यक्त्व को देवायु के आस्रव का कारण कहा है—

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी समयसार में कहा है—

दंसणणान्णचरित्तं जं परिणमवे जहण्णभावेण ।
णान्णं तेण तु बज्झवि पुग्गल कम्मेष विविहेण ॥१७२॥

जब तक दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य जघन्यभावरूप परिणामते हैं तबतक उन जघन्यभावरूप परिणत दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य के कारण ज्ञानी जीव अनेक प्रकार के पुद्गलकर्मों से बँधता है।

इसप्रकार यथाख्यातचारित्र्य से पूर्वावस्था में अर्थात् दसवें गुरुस्थानतक सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र्य से बंध भी होता है और संवर-निर्जरा भी होती है। यथाख्यातचारित्र्य हो जाने पर साम्प्रदायिकआस्रव व बंध रुक जाता है; मात्र सातावेदनीय का ईर्यापथआस्रव होता है और संवर-निर्जरा विशेष होने लगती है।

यदि कहा जाय कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य तो मात्र मोक्ष के कारण हैं उनसे बन्ध सम्भव नहीं है सो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने पंचास्तिकाय में इसप्रकार कहा है—

दंसणणान्णचरित्तानि मोक्खमग्गो त्ति सेव्विदग्गानि ।
सायूहिं इवं भणिवं तेहिं तु बंधो व मोक्खो वा ॥१६४॥

सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र्य मोक्षमार्ग है इसलिये वे सेवन योग्य हैं, ऐसा साधुओं ने कहा है, परन्तु उन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य से बन्ध भी होता है व मोक्ष भी होता है।

यदि यह कहा जाय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य एक ही कारण से बन्ध और मोक्ष ऐसे दो कार्य सम्भव नहीं है सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि एक ही दीपक कज्जल (कालिमा) व प्रकाश दोनों का कारण देखा जाता है।

श्री पूज्यपादाचार्य ने कहा भी है—

“एकस्यानेककार्यदर्शनादग्निवत् । यथाऽग्निरेकोऽपि विकलेदनमस्माङ्गाराविप्रयोजन उपलभ्यते तथा तपो-
ऽभ्युदयकर्मक्षयहेतुरित्यत्र को विरोधः ।” (सर्वार्थसिद्धि ९-३)

अग्नि के समान एक ही कारण से अनेक कार्य देखे जाते हैं । जैसे अग्नि एक है तो भी उसके विकलेदन भस्म और अंगार आदि अनेक कार्य उपलब्ध होते हैं । वैसे ही सम्प्रकृत्य अभ्युदय (सांसारिक सुख) और कर्मक्षय इन दोनों का हेतु है, ऐसा मानने में कोई विरोध नहीं है ।

निर्जरा कर्मणां येन तेन वृत्तिस्तपो मतम् ।

चत्वार्येतानि मिश्राणि कषायः स्वर्गहेतवः ॥३०७॥

निष्कषयाणि नाकस्य मोक्षस्य च हितैषिणाम् ।

अतुष्टयमिदं वरमं मुक्तेषुऽप्रापमङ्गभिः ॥३०८॥ (महापुराण पर्व ४७)

जिससे कर्मों की निर्जरा हो ऐसी वृत्ति धारण करना तप कहलाता है । ये रत्नत्रय व तप चारों ही गुण यदि कषायसहित हों तो स्वर्ग के कारण हैं और यदि कषायरहित हों तो आत्महित इच्छुक पुरुषों को स्वर्ग-मोक्ष दोनों के कारण हैं ।

अथर्ववल् जैसे महान्ग्रन्थ के कर्ता श्री भगवत्पिण्डिनसेनाचार्य ने उपर्युक्त श्लोक में निष्कषाय, रत्नत्रय व तप को भी स्वर्ग का कारण कहा है, क्योंकि उपषांत-मोहजीव मरकर स्वर्ग में उत्पन्न होता है । सकषाय रत्नत्रय व तप स्वर्ग का कारण होने से देवायु के बन्ध का कारण है । इसीलिये श्री अमृतचन्द्राचार्य ने तत्त्वार्थसार में सराग-संयम को देवायु के बन्ध का कारण कहा है ।

यद्विशुद्धेः परंघाम यद्योगिजनजीवितम् ।

तदवृत्तं सर्वसाधयद्युऽदासैकसक्षणम् ॥११॥

अर्थ—जो विशुद्धता का उत्कृष्ट धाम है तथा योगीश्वरों का जीवन है और समस्त प्रकार की पापरूप प्रवृत्तियों से दूर रहना जिसका लक्षण है वह सम्यक्चारित्र है ।

पञ्चमहाव्रतमूलं समितिप्रसरं नितान्तमनवद्यम् ।

गुप्तिफलभारनञ्चं सन्मतिना कीर्तितं वृत्तम् ॥ ३ ॥

श्री बद्धमानस्वामी तीर्थंकर भगवान ने तेरहप्रकार का चारित्र कहा उस चारित्र के पंचमहाव्रत तो मूल है पंचसमिति प्रसर (फैलाव) है और तीन गुप्ति फल है ।

पञ्चव्रतं समिपंच गुप्तित्रयपावेन्नितम् ।

श्रीवीरववनोऽदीर्णधरणं चञ्चन्निर्मलम् ॥५॥

श्री वीर भगवान ने तेरहप्रकार का चारित्र कहा है—५ महाव्रत, ५ समिति और तीन गुप्ति ।

हिंसायामनृते स्तेये मंथुने च परिग्रहे ।

विरतिर्नत-मित्युक्तं सर्वसत्त्वानुकम्पकैः ॥६॥ ज्ञानार्णव सर्ग ८

समस्त जीवों पर दयालु तीर्थंकर भगवान ने हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पापों से विरति को महाव्रत कहा है ।

श्री कुन्वकुन्वाचार्य ने भी चारित्रपाहुड में कहा है—

साहति जं महल्ला आयरियं जं महल्लपुब्बेहि ।

जं च महल्लाणि तवो महल्लया इत्तेह साइं ॥ ३० ॥

अर्थ—महाव्रतों का श्रद्धान महापुरुष करते हैं, पूर्ववर्ती महापुरुषों ने इनका आचरण किया है और स्वयं भी महान् हैं अतः महाव्रत नाम सार्थक है ।

इन उपर्युक्त आर्षवाक्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाव्रत चारित्र है । समंतभद्राचार्य ने भी कहा है—

हिंसानृत्तचीर्येभ्यो भेषुनसेवापरिग्रहाभ्यां च ।

पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥४६॥ (२० क० आ०)

अर्थ—पाप की नालीस्वरूप हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा परिग्रह से विरत होना अर्थात् ये पंचव्रत सम्यग्ज्ञानी का चारित्र है ।

व्रत चारित्र है । चारित्र संबन्ध और निर्जरा का कारण है अतः महाव्रत भी संबन्ध-निर्जरा के कारण है । इसके विपरीत कथन करना अर्थात् महाव्रत को संबन्ध-निर्जरा का कारण न मानना धर्म और श्रुत का अवर्णवाद है ।

—जै. ग. 25-6-70/VII/ का. ना. कोठारी

भार्वलिंग महाव्रतरूप भाव बन्ध के कारण हैं या मोक्ष के ?

शंका—भार्वलिंगी महाव्रती छठे गुणस्थानरूप भाव बन्ध के कारण हैं या मोक्ष के ?

समाधान—जीव के शुभ, अशुभ तथा शुद्ध तीन प्रकार के परिणाम होते हैं । जीव के जिस समय जो परिणाम होते हैं उस समय वह जीव उन परिणामों से तन्मय होता है । कहा भी है—

परिणमविजेण दब्बं, तत्कालं तन्ममन्ति पण्णत्तं ।

तम्हा धम्मपरिणदो, आदा धम्मो सुखेदध्वो ॥८॥

जीवो परिणमवि जदा, सुहेण असुहेण वा पुहो असुहो ।

सुद्धेण तदा सुद्धो हव्वि, हि परिणामसम्भावो ॥९॥ प्रवचनसार

अर्थ—जिससमय जिसभाव से द्रव्य परिणमन करता है उस समय द्रव्य उसी भावमय हो जाता है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है । इस कारण धर्म से परिणत आत्मा धर्म जनना । जब यह जीव शुभ प्रथवा अशुभ परिणामों कर परिणामता है तब यह शुभ व अशुभ होता है । जब यह जीव शुद्धभावरूप परिणामता है तब शुद्ध होता है ।

इस गाथा ९ की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने इसप्रकार कहा है—“मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र इन तीन गुणस्थानों में जीव के तारतम्य से अशुभोपयोग होता है । उसके पश्चात् असंयतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत इन तीन गुणस्थानों में तारतम्य से शुभोपयोग होता है । उसके पश्चात् अप्रमत्त से क्षीणकषायगुणस्थानतक तारतम्य

से शुद्धोपयोग होता है। सयोगि व अयोगि इन दो गुणस्थानों में शुद्धोपयोग का फल है।”

उक्त आगमप्रमाणों से यह सिद्ध हुआ कि भावलिङ्गी महाव्रती प्रमत्तसंयत (छठे गुणस्थानवाले मुनि) के शुभोपयोग होता है। वह शुभोपयोग इन तीन (सम्यक्त्व, संयम व बुद्धि पूर्वक शुभराग) भावों से मिलकर बना है। यदि शुभोपयोग का अर्थ केवल शुभराग ही लिया जावे तो छठागुणस्थान नहीं बनता, क्योंकि छठेगुणस्थान में सम्यक्त्व व संयम अवश्य होता है। यद्यपि छठेगुणस्थानवाले मुनि के शुभोपयोग है, शुद्धोपयोग नहीं है और वह उस काल में शुभोपयोग से तन्मय है, किन्तु उसके प्रतिसमय संवर, निर्जरा होती है, क्योंकि उसके शुभोपयोग का अंश सम्यक्त्व व संयम मौजूद है। संवर व निर्जरा मोक्ष के कारण हैं।

छठेगुणस्थानवर्ती मुनि के शुभोपयोग का एक अंश शुभराग भी है, उसके कारण संयम की रक्षार्थ आहार, विहार, धर्मोपदेश, स्तुति, बंदना, पंचपरमेष्ठि गुणस्मरण आदि शुभ कार्यों में प्रवृत्ति भी होती है, किन्तु यह प्रवृत्ति विषय-कषायरूपी दुर्ध्यान-नाश का कारण संसारस्थिति को छेदने के लिये है। कहा भी है ‘संसारस्थितिबिच्छेद-कारणं, विषयकषायोत्पन्नदुर्ध्यानविनाशहेतुभूतं च परमेष्ठिसंबन्धिगुणस्मरणवानपूजादि कुर्युः।

(प. प्र. गा. ६१ टीका)

छठे गुणस्थानवाले के असम्पूर्ण रत्नत्रय है अतः उसके शुभराग भी है जिसके कारण उसके पुण्यबंध होता है वह बंध भी मोक्ष का उपाय है, संसार का उपाय नहीं है। कहा भी है—

“सम्मादिद्वोगुणं ण होइ संसार कारणं णियमा।

भोक्खत्सहोइ हेउं जइ वि णियाणं ण सो कुणइ ॥४०४॥ भावसंग्रह

असमघं भावयतो रत्नत्रयमस्तिकर्मबंधो यः।

स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥२११०॥ पुरुषार्थसिद्धयुपाय

अर्थ—सम्यग्दृष्टि के द्वारा किया हुआ पुण्य संसार का कारण कभी नहीं होता, यह नियम है। यदि सम्यग्दृष्टि द्वारा किये हुए पुण्य में निदान न किया जावे तो वह पुण्य नियम से मोक्ष का ही कारण है ॥ ४०४ ॥ भावसंग्रह। असम्पूर्ण रत्नत्रय को भावनेवाले के जो कर्मबंध है वह विपक्ष (राग) कृत है और मोक्ष का उपाय अवश्य है, बंध का उपाय नहीं है ॥ २११ ॥ पुरुषार्थ सिद्धयुपाय।

छठेगुणस्थान में निदान का अभाव है अतः छठेगुणस्थान में शुभराग के कारण जो पुण्यबंध होता है वह मोक्ष का ही कारण है ऐसा उपर्युक्त आगम में कहा है।

क. पा. पु. १ पृ. ६ पर भी कहा है ‘यदि शुभ और शुद्ध परिणामों से कर्मों का क्षय न माना जाय तो फिर कर्मों का क्षय हो नहीं सकता।’ (सुहृदुद्ध परिणामोर्हि कम्मवखया भावे तवखयाणुववत्तीवो ।)

छठेगुणस्थानवाले के भावमोक्ष के कारण हैं, क्योंकि वहाँ पर रत्नत्रय मोक्षमार्ग है।

—जें. सं. 9-1-58/VI/ रा. दा. कैराना

(१) अत बन्ध के कारण नहीं हैं

(२) सम्यग्दर्शन आदि से कदापि बन्ध नहीं होता; उनके साथ रहने वाला राग ही बन्ध का कारण है

संका—अत तो बंध के कारण हैं। जैनशास्त्रों में अत को ग्रहण करने का क्यों उपदेश दिया गया ?

समाधान—हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह से निवृत्त होना व्रत है। प्रतिज्ञा करके जो नियम लिया जाता है वह व्रत है। मनुष्य विचार करता है कि जो ये हिंसादिक परिणाम हैं वे पाप के कारण हैं। जो पाप-कार्य में प्रवृत्त होते हैं, उन्हें इसी भव में राजा दण्ड देते हैं और पापाचारी परलोक में दुःख उठाते हैं, इसप्रकार वह बुद्धि से समझकर हिंसादिक से विरत हो जाता है। स. सि. अ. ७ सू. १ की टीका।

पापों से निवृत्ति अथवा विरति तो बंध का कारण नहीं हो सकती। यदि पापों से निवृत्ति या विरति बंध का कारण माना जावे तो क्या पापों में प्रवृत्ति या रति संवर-निर्जरा का कारण होगी? सब पापों से निवृत्त होना सामायिक संयम नामक एक व्रत है। वही व्रत छेदोपस्थापना संयम की अपेक्षा पाँच प्रकार का है। दस धर्मों में से संयम भी एक धर्म है। चारित्र के पाँच भेदों में से प्रथम व द्वितीय भेद सामायिक चारित्र व छेदोपस्थापना चारित्र है। तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ९ में धर्म व चारित्र को संवर का कारण कहा है तो फिर व्रत बंध या आस्रव के कारण कैसे हो सकते हैं?

त. सू. अ. ८ सूत्र १ में मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को बंध का कारण कहा है। व्रत न तो मिथ्यादर्शनरूप हैं; न अविरतिरूप हैं, न प्रमादरूप न कषायरूप हैं और न योगरूप हैं, फिर व्रत बंध के कारण कैसे हो सकते हैं? बंध का कारण जो अविरति उसका प्रतिपक्षी व्रत है। जैसे बंध का कारण मिथ्यादर्शन का प्रतिपक्षी सम्यग्दर्शन बंध का कारण न होकर संवर व निर्जरा का कारण है उसीप्रकार बंध के कारणभूत अविरति का प्रतिपक्षी व्रत भी संवर और निर्जरा का कारण है।

त. सू. अ. ६ सूत्र २१ में सम्यक्त्व अर्थात् सम्यग्दर्शन को देवायु के आस्रव का कारण कहा है। उसका यह अर्थ है कि सम्यग्दर्शन के सद्भाव में कषाय व योग के कारण जो आयुर्कर्म का आस्रव होगा वह मात्र सौधर्म आदि विशेष देवों की आयु का आस्रव होगा। सम्यग्दर्शन तो स्वयं आस्रव या बंध का कारण नहीं है। कहा भी है—'जितने अंश से सम्यग्दर्शन है उतने अंश से बंध नहीं है जितने अंश से राग है उतने अंश से बंध होता है।' पुरुषार्थसिद्धयुपाय श्लोक २१२। इसीप्रकार त. सू. अ. ६ सूत्र १२ व २० में सराग संयम को साता वेदनीय व देवायु के बंध का कारण कहा है वहाँ पर भी संयम अर्थात् चारित्र को बंध का कारण कहने का अभिप्राय नहीं है, किन्तु संयम के होते हुए राग आदि के द्वारा जो वेदनीयकर्म व आयुर्कर्म का आस्रव होगा उसमें सातावेदनीय व देवायु का आस्रवबंध होगा। पुरुषार्थसिद्धयुपाय श्लोक २१४ व २१५ में कहा भी है—'जितने अंश से चारित्र है उस अंश से बंध नहीं है तथा जितने अंश से राग है उतने अंश से बंध होता है। योग से प्रदेशबंध तथा कषाय से स्थितिबंध होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र न योगरूप है न कषायरूप है अतः सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र से बंध नहीं होता।'।

तत्त्वार्थसूत्र अ० ७ में जो व्रत को पुण्यास्रव का कारण कहा है उसका यह अभिप्राय है कि व्रत के समय यदि अहिंसा, सत्यवचन और दी हुई वस्तु के ग्रहणरूप प्रवृत्ति होती है तो वह प्रवृत्ति बंध का कारण है। व्रत तो चौदहवें अयोगकेवली गुणस्थान में भी है, क्योंकि प्रमत्तसंयतगुणस्थान से आगे सब जीव संयत होते हैं। किन्तु चौदहवें अयोगकेवली गुणस्थान में आस्रव व बंध नहीं है, क्योंकि वहाँ व्रत का सद्भाव होते हुए भी प्रवृत्ति का अभाव है। अतः पापों से निवृत्ति या विरति बंध का कारण नहीं है, किन्तु प्रवृत्ति आस्रव का कारण है।

१. 'संयमानुवादेन संयताः प्रमत्तादयोगकेवल्यस्थाः।' स० सि० १।८

स. सि. भ. ७ सूत्र १ की टीका में यह शंका उठाई गई है कि व्रत आसव का कारण नहीं है, क्योंकि संवर के कारणों में इसका अन्तर्भाव होता है। इसका उत्तर देते हुए श्री पुण्यपादाचार्य ने कहा है—'यह कोई दोष नहीं, वहाँ निवृत्तिरूप संवर का कथन करेंगे और यहाँ प्रवृत्ति देखी जाती है। हिंसा, असत्य और अदत्तादान आदि का त्याग करने पर अहिंसा, सत्यवचन और दौ हुई वस्तु का ग्रहणआदिरूप क्रिया देखी जाती है। दूसरे ये व्रत गुप्तिप्रादिरूप संवर के अङ्ग हैं। जिस साधु ने व्रतों की मर्यादा करली है वह सुखपूर्वक संवर करता है।' स्वामिकातिकेयानुप्रेक्षा गाथा ९५ में भी कहा है—सम्यक्त्व, देशव्रत, महाव्रत, कषायों का जीतना और योगों का अभाव ये सब संवर के नाम हैं। सम्यग्दर्शन के होने पर मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायोदय का अभाव हो जाने से मिथ्यात्व के उदयसे बंधनेवाली १६ प्रकृति और अनन्तानुबन्धी के उदय से बंधनेवाली २५ प्रकृति इस प्रकार ४१ प्रकृतियों का संवर हो जाता है। देशव्रत के ग्रहण करने पर अपत्याख्यानावरण कषाय के उदय का अभाव हो जाने से, अपत्याख्यानावरण कषायोदय से बन्धनेवाली दस प्रकृतियों का संवर होजाता है। महाव्रत के ग्रहण करने पर प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय का अभाव हो जाने से प्रत्याख्यानावरण कषायोदय से बंधनेवाली चार प्रकृतियों का संवर हो जाता है। सर्वाथसिद्धि अध्याय ९ सूत्र १ की टीका। अतः षण्णव्रत व महाव्रत १० व ४ प्रकृति के संवर के कारण हैं।

समयसार गाथा २६४ में भी व्रतों को बन्ध का कारण नहीं कहा है, किन्तु 'व्रतों में जो अध्यवसान किया जाता है उससे पुण्यबन्ध होता है ऐसा कहा है^२। गाथा २६२ में भी कहा है निश्चयनय से जीव को मारो या मत मारो जीवों के कर्मबंध अध्यवसाय कर ही होता है यह ही बंध का संक्षेप है।'

नय के जानने वाले को अनेकान्त और स्याद्वाद के द्वारा अनेक कथनों का समन्वय कर लेना कोई कठिन नहीं है। कहा भी है—'तीर्थकरों और आहारक कर्मों का भी जो बंध सम्यक्त्व और चारित्र्य से आगम में कहा है वह भी नय वेत्ताओं को दोष के लिये नहीं है (पु० सि० उ० श्लो० २१७)। एकान्ती इस कथन में विपरीत धारणा कर लेते हैं।

—जं. ग. 25-1-64 / VII / कान्तिलाल

“मिथ्यात्वादि के सङ्भाव में भी रागादि न करें तो बन्ध नहीं होता” इसका स्पष्टीकरण

शंका—पंचास्तिकाय गाथा १४९ में लिखा है कि मिथ्यात्वादि कर्मों का सङ्भाव रहते हुए भी यदि जीव रागादि न करे तो बन्ध नहीं होगा, यह कैसे संभव है ?

समाधान—उपशमसम्यग्दृष्टि जीव उपशमश्रेणी चढ़कर जब उपशांतमोह स्थिरहवें गुणस्थान में पहुँचता है, तब उसके मिथ्यात्वकर्म, अपत्याख्यानावरणविकर्म (द्रव्यअसंयम), क्रोधादिकषायकर्म, योग का सङ्भाव तो है, किन्तु दर्शनमोहनीयकर्म व चारित्र्यमोहनीयकर्म का पूर्णरूप से उपशम हो जाने के कारण राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होता है, इसीलिये उसकी 'छद्मस्थवीतराग' संज्ञा है अतः उसके कर्मबंध प्रथत् स्थिति, अनुभागबंध नहीं होता है, क्योंकि सकषाय प्रथत् रागी-द्वेषी जीव ही कर्मों से बंधता है।

१. 'सम्मत्तां देशं वयं महत्स्यं तद् जज्जो कसायाणं ।

एदे संवरणामा जोगा भावो तद्वा चेव ॥ ६५ ॥

२. तद्वि अस्थोज्जे सत्त्वे बंधे अपरिग्गहत्तणे धेव ।

कौरड अण्णवसाणं जंतेण दु अण्णए पुण्णं ॥ २६४ ॥

इस उपशांतमोहल्लस्यस्थवीतराग रयारहवैगुणस्थान की प्रवस्था को ध्यान में रखकर श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पंचास्तिकाय गाथा १४९ की टीका में इसप्रकार लिखा है ।

“रागादिभावानामभावेद्रव्यमिध्यात्वासंयमकृपाययोगसद्भावोऽपि जीवा न बध्यन्ते” । रागादि भावों का अभाव होने से द्रव्यमिध्यात्व (मिध्यात्वकर्म), द्रव्य असंयम (अप्रत्याख्यानानावरणादि कर्म), द्रव्यकृपाय (क्रोधादिकर्म), द्रव्ययोग के सद्भाव (सत्त्व) में जीव बंधते नहीं हैं ।

दसवें गुणस्थानतक चारित्रमोहनीयकर्म का उदय रहता है, उस उदय के अनुरूप जीव के रागादिरूप परिणाम भी होते हैं और रागादि परिणामों के कारण जीव के बंध भी होता है । ऐसा संभव नहीं है कि द्रव्यमिध्यात्व का तो उदय हो और जीव के मिध्यात्वरूप भाव न हो । मिध्यात्वकर्मोदय होने पर जीव के मिध्यात्वभाव अवश्य होंगे, क्योंकि अपने फल को उत्पन्न करने में समर्थ जो कर्म की अवस्था है, वह उदय है । श्री अमृतचन्द्राचार्य ने गाथा ५३ की टीका में कहा भी है—

“यानि स्वफलसंपादनसमर्थकर्मवस्थालक्षणान्युदयस्थानानि ।”

दसवेंगुणस्थान में आत्मपरिणामों में विशुद्धता बहुत अधिक होती है और चारित्रमोहनीयकर्मोदय बहुत सूक्ष्म होता है तथापि उस सूक्ष्मलोभ कर्मोदय के अनुरूप उस शक्तिशाली सम्यग्दृष्टिजीव को सूक्ष्मलोभरूप परिणामन करना ही पड़ता है, इसीलिये इस दसवेंगुणस्थान का नाम सूक्ष्मसाम्पराय है ।

“यदि जीवगतरागाद्यभावेपि द्रव्यप्रत्ययोदयमात्रेण बंधो भवति तर्हि सर्वदेव बंध एव । कस्मात् ? संसारिणां सर्वदेव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वादिति ।” (श्री जयसेनाचार्यकृत टीका)

“यदि जीव के रागपरिणाम के अभाव में द्रव्यप्रत्ययोदय (द्रव्ययोगोदय) मात्र से बंध होने लगे तो सर्वदा बंध होगा, क्योंकि संसारीजीव के सर्वदा कर्मोदय रहता है ।” इसके आधार पर यदि कोई यह कहे कि मात्र मिध्यात्वादि कर्मोदय से बंध नहीं होता तो उसका ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि श्री जयसेनाचार्य ने स्वयं गाथा १५७ की उत्थानिका में इसप्रकार लिखा है कि मिध्यात्वादि कर्मोदय होने पर जीव के सम्यक्त्वादि गुणों का घात हो जाता है अर्थात् मिध्यात्वादि प्रगट हो जाते हैं ।

“अथ मोक्ष हेतुभूतानां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यानां जीवगुणानां वस्त्रस्य भलेनेव मिध्यात्वादिर्मणा प्रतिपक्षभूतेन प्रच्छादने दर्शयति ।”

अतः ‘द्रव्यप्रत्ययोदयमात्रेण’ से द्रव्ययोग का ग्रहण करना चाहिये, मोहनीयकर्मोदय को नहीं ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि मोहनीयकर्मोदय होने पर रागादिक अवश्य होंगे और कर्मबन्ध भी अवश्य होगा । मोहनीयकर्म के अतिरिक्त अन्य कर्मोदय से बंध नहीं होता है । कहा भी है—

“ओवद्वया बंधयरा त्ति वुत्तो ण सव्वेसिमोहइय्यणं भावाणं गहणं, गदि-जादिधावीणं वि ओवद्वयभावाणं बंधकारणत्तपसंगा । जस्स अण्णयवद्विरेगेहि णियमेण जस्सण्णयवद्विरेगा उवल्लंभंति तं तस्स कज्जमियरं च कारणं इवि णायवो मिच्छत्तावीणि चैव बंधकारणाणि ।” धवल ७ पृ० १० ।

ओदयिकभाव बन्ध के कारण हैं ऐसा कहने पर सभी ओदयिकभावों का ग्रहण नहीं समझना चाहिये, क्योंकि वैसा मानने पर गति, जाति आदि नामकर्मसम्बन्धी ओदयिकभावों के भी बंध के कारण होने का प्रसंग

आजायगा। 'जिसके अन्वय और व्यतिरेक के साथ नियम से जिसके अन्वय और व्यतिरेक पाये जावें वह उसका कार्य और दूसरा कारण होता है,' इस न्याय से मिथ्यात्वादिक ही बंध के कारण हैं।

“सकषायत्वाञ्जीवः कर्मणो योग्यानुद्गलानादत्ते स बन्धः।” त० सू० अ० ८ सू० २।

“कर्मणः इति हेतुनिर्देशः कर्मणो हेतुर्जीवः सकषायो भवति, नाकर्मस्य कषायलेपोऽस्ति।”

कर्मोदय से जीव कषाय सहित होता है। कषाय सहित होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है वह बंध है।

मोहनीयकर्मोदय होने से जीव के रागादिभाव होते हैं और रागादिभाव होने से जीव नवीनकर्मों को बाँधता है। इसप्रकार मोहनीयकर्मोदय बंध का कारण है अन्य कर्मोदय बंध के कारण नहीं हैं, क्योंकि स्मारह्वे आदि गुणस्थानों में अन्य कर्मोदय होने पर भी मोहनीयकर्मोदय न होने से बंध नहीं होता है। दसवें गुणस्थान तक मोहनीयकर्मोदय है जिससे रागादिभाव उत्पन्न होते हैं और कर्मबन्ध भी होता है।

—जै. ग. 30-3-72/VII/ देहरा तिजारा

शुभोपयोग से बन्ध के साथ-साथ संशर-निर्जरा भी होते हैं

शंका—‘शुभोपयोग मात्र-बंध का कारण है।’ क्या यह निश्चय का कथन है ?

समाधान—निश्चयनय की दृष्टि में जीव के न बन्ध है और न मोक्ष है। श्री कुन्बकुन्वाचार्य ने श्री समयसार ग्रंथ में कहा भी है—

जीवे कर्मं बद्धं पुद्गं चेदि व्यवहारणयभगिबं ।

शुद्धणयसस तु जीवे अबद्धपुद्गं ह्यह कर्मं ॥ १४१ ॥

अर्थात्—जीव में कर्म बद्ध है तथा स्पर्शता है ऐसा व्यवहारणय का वचन है जीव कर्मों से बद्ध नहीं ऐसा निश्चयनय का वचन है।

मुक्तश्चेत् प्राक्भवेद्बन्धो नो बन्धो मोचनं कथम् ।

अबधे मोचनं नैव मुञ्चेरथो निरर्थकः ॥

यदि जीव मुक्त है तो पहले इस जीव को बंध अवश्य होना चाहिये, क्योंकि यदि बंध न हो तो मोक्ष कैसे हो सकता है ? इसलिये अबद्ध (नहीं बंधे हुए) की मुक्ति नहीं हुआ करती। उसके तो मुञ्च (छूटने की वाचक) धातु का प्रयोग ही व्यर्थ है। अर्थात् कोई जीव पहले बंधा हुआ हो फिर छूटे तब वह मुक्त कहलाता है, उसीप्रकार जो जीव पहले कर्मों से बंधा हो उसी की मोक्ष होती है।

“बंधश्च शुद्धनिश्चयेन नास्ति तथा बंधपूर्वको मोक्षोऽपि । यदि पुनः शुद्धनिश्चयेन बंधो भवति तदासर्वदेव-बंध एव मोक्षो नास्ति।”

शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से बंध है ही नहीं, इसप्रकार शुद्धनिश्चयनय से बंधपूर्वक मोक्ष भी नहीं है। यदि शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा बंध होवे तो सदा ही बंध, होता रहे, मोक्ष ही न हो।

अतः निश्चयनय की दृष्टि में ‘शुभोपयोग बंध का कारण है’ यह कथन संभव नहीं है।

शुभोपयोग से मात्र बंध ही होता हो ऐसा एकान्त नहीं है । शुभोपयोग से संवर व निर्जरा भी होते हैं । धवल व जयधवल जैसे महान् ग्रंथों के कर्ता श्री बीरसेनाचार्य ने कहा भी है—

“सुहसुद परिणामेहि कम्मवखयाभावे तवखयाणुववत्तीवो । (ज० ध० पु० १ पृ० ६)

अर्थ—यदि शुभ परिणामों से और शुद्ध परिणामों से कर्मों का क्षय न माना जाय तो फिर कर्मों का क्षय हो ही नहीं सकता ।

“अरहंतणमोक्कारो संपहियबंधावो असंखेज्जगुण कम्मवखयकारओत्ति ।”

अर्थ—अरहंत नमस्कार तत्कालीन बंध की अपेक्षा असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा का कारण है ।

अरहंत णमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयत्तमवो ।

सो सव्वदुक्खमोक्खं पावइ अचिरेण कालेण ॥

अर्थ—जो विवेकी जीव भावपूर्वक अरहंत को नमस्कार करता है, वह अतिशीघ्र सब दुःखों से मुक्त हो जाता है अर्थात् मोक्षपद प्राप्त कर लेता है ।

धर्मध्यान शुभोपयोग है । उस धर्मध्यान के द्वारा दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयकर्म का क्षय होता है इसीलिये धर्मध्यान मोक्ष का कारण है ।

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुदमेव णायब्बं ।

असुहं च अट्टकहं सुहं धम्मं जिणवरिदेहि ॥७६॥ भावपाहुइ

अर्थ—शुभ, अशुभ और शुद्ध ये तीनप्रकार के भाव जानने चाहिये । धर्म-रीक्ष्यान अशुभ हैं और धर्म-ध्यान शुभ है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ।

“मोहणीयविणास्ते पुण धम्मज्जाणफलं, सुहमसांपरायचरिम्मसमए तस्स विणासुवलंभावो ।”

ध० पु० १३ पृ० ८१

अर्थ—मोहनीय का नाश करना धर्मध्यान का फल है, क्योंकि सूक्ष्मसांपरायणगुणस्थान के अन्तिमसमय में उसका विनाश देखा जाता है ।

“परे मोक्ष हेतु ॥९१२९॥” मोक्षशास्त्र

इस सूत्र में श्रीमदुमास्वामी आचार्य ने धर्मध्यान और शुक्लध्यान दोनों को मोक्ष का कारण बतलाया है ।

यदि शुभोपयोग से मात्र कर्मबंध ही होता और संवर-निर्जरा न होते तो धर्मध्यान, जो शुभोपयोगरूप है, मोक्ष का कारण न होता । अतः शुभोपयोग से मात्र बंध ही होता हो ऐसा एकान्त नहीं है, क्योंकि शुभोपयोग संवरनिर्जरा का भी कारण है ।

—जं. ग. 15-5-69/X/ सुमतपसाद

(१) शुभोपयोग बन्ध व संवर-निर्जरा दोनों का हेतु है

(२) शुद्धोपयोग से आस्रव भी होता है

शंका—शुभोपयोग से तो कर्मबन्ध होता है, उससे संवर, निर्जरा कैसे हो सकती है ? चतुर्थ भावि गुणस्थानों में जितने अंशों में शुभोपयोग है उससे ही उन गुणस्थानों में संवर, निर्जरा होती है, शुभोपयोग से तो मात्र बन्ध ही होता है, ऐसा क्यों न माना जावे ?

समाधान — श्री कृन्दकृन्दाचार्य ने शुद्धोपयोग का लक्षण इस प्रकार कहा है—

सुखिविदपशत्यसुत्तो संजमतवसंजुवो विगवरगो ।

समणो समसुहदुखो, भणितो सुद्धोवभोगो त्ति ॥१४॥ प्रवचनसार

जिस मुनि ने पदार्थों को, सूत्रों को भलीभाँति जान लिया है, जो संयम-तप से युक्त है, वीतराग है और जिसको सुख दुःख समान है, ऐसा मुनि शुद्धोपयोगरूप होता है ।

इस गाथा से इतना स्पष्ट हो जाता है कि मुनि के ही शुद्धोपयोग हो सकता है, श्रावक के शुद्धोपयोग नहीं हो सकता है और वह मुनि (समस्तरागाविशेष रहिस्वाद्धीतरागः) बुद्धिपूर्वक समस्त रागादि दोषों से रहित होने के कारण, वीतरागी होना चाहिये ।

“निविकल्पसमाधिकाले तु निश्चयेनेति तवेव च नामान्तरेण परमसाम्यमिति तवेव परमसाम्यं पर्यायानामान्तरेण शुद्धोपयोगलक्षणः आमभ्यापरनामा मोक्षमार्गो ज्ञातव्य इति ।”

(प्रवचनसार गाथा २४२ जयसेना० पृ० १८३)

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य की एकाग्रता निश्चय से निविकल्पसमाधि में होती है उसीका नाम परम साम्य है और वह साम्य ही शुद्धोपयोग का लक्षण है । वह साम्य ही आमभ्य है अथवा मोक्षमार्ग है । इस कथन से इतना और स्पष्ट हो जाता है कि ‘शुद्धोपयोग’ निविकल्पसमाधि में होता है और निविकल्पसमाधि मुनि के ही होती है ।

“सर्वपरित्यागः परमोपेक्षा संयमो वीतरागचारित्र्यं शुद्धोपयोग इति यावदेकार्यः ।” प्रवचनसार पृ. ५१२ ।

सर्वपरित्याग (अंतरंग व बहिरंग समस्त परिग्रह का पूर्णरूपेण बुद्धिपूर्वक परित्याग), परमोपेक्षा-संयम, वीतराग-चारित्र्य और शुद्धोपयोग ये एकार्थवाची हैं । अर्थात् अपहृतसंयम या सरागचारित्र्य में शुद्धोपयोग नहीं हो सकता है । जब सरागचारित्र्य वाले के शुद्धोपयोग नहीं हो सकता तब एकदेशसंयत व असंयत के शुद्धोपयोग कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ।

“अथ प्राभूत शास्त्रे तान्येव गुणस्थानानि संक्षेपेण शुभाशुभशुद्धोपयोगरूपेण कथितानि । कथमिति चेत् ? मिथ्यात्व-सासादन मिथ्यगुणस्थानत्रये तारतम्येना शुभोपयोगः, तवनन्तरमसंयतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्तसंयतगुण-स्थानत्रये तारतम्येन शुभोपयोगः, तवनन्तरमप्रमत्तादिकोणकषायान्तगुणस्थानषट्के तारतम्येन शुद्धोपयोगः तवनन्तरं सयोगिजिनगुणस्थानद्वये शुद्धोपयोगफलमिति भावार्थः ॥१९॥ प्रवचनसार

प्राभूतशास्त्र में उन शुभ, अशुभ व शुद्धोपयोग का संक्षेपरूप कथन १४ गुणस्थानों की अपेक्षा किया गया है, जो इस प्रकार है—मिथ्यात्व, सासादन और मिथ्य इन तीनगुणस्थानों में तारतम्य में घटता हुआ अशुभोपयोग है । असंयतसम्यग्दृष्टि, देशविरत तथा प्रमत्तसंयत इन तीन गुणस्थानों में तारतम्य से बढ़ता हुआ शुभोपयोग है । प्रमत्त से लेकर क्षीणकषाय तक छह गुणस्थानों में तारतम्य से बढ़ता हुआ शुद्धोपयोग है । सयोगिजिन और अयोगिजिन इन दो गुणस्थानों में शुद्धोपयोग का फल है ।

इस आर्षवाक्य से स्पष्ट है कि प्रथमोपशमसम्यक्त्वोत्पत्ति के समय चौथे गुणस्थान के प्रारम्भ में तथा पाँचवें व छठे गुणस्थानों में त्रुटों के कारण प्रतिसमय जो निर्जरा होती है वह शुभोपयोग का ही फल है, क्योंकि इन तीन गुणस्थानों में शुद्धोपयोग नहीं होता है, जैसा कि उपर्युक्त आर्षप्रमाणों में कहा गया है ।

चौथे, पाँचवें, छठे इन तीनगुणस्थानों में सम्यक्त्व तथा सम्यक्त्व व व्रतों के साथ-साथ बुद्धिपूर्वक राग भी है। अतः इस भिन्नभाव को शुभोपयोग कहा गया है, इससे बंध भी होता है और संवर, निर्जरा भी होती है। यदि कहा जाय कि एक ही कारण से दो भिन्न-भिन्न विपरीतकार्य नहीं हो सकते हैं सो ऐसा एकान्त भी नहीं है, क्योंकि घी के दीपकरूप एक ही कारण से प्रकाश व अंधकाररूप धूम्र एक ही समय में दो विपरीत कार्य उत्पन्न होते हुए दिखाई देते हैं। कहा भी है—

“तपसोऽभ्युदय हेतुत्वाग्निर्जराङ्गत्वाभाव इति चेत् न एकस्यानेककार्वाचरन्मदर्शनात् ।” [रा० वा० १।३।४]

यहाँ पर शंकाकार कहता है कि तप से तो पुण्यबंध होकर इन्द्र आदि के सांसारिकसुख मिलते हैं, जैसा कि परमात्मप्रकाश २।७२ में ‘इं वत्तश्च वि तवेण’ द्वारा कहा है; फिर तत्त्वार्थसूत्र “तपसा निर्जरा च ॥१।३॥” अर्थात् तप से संवर निर्जरा होती है ऐसा क्यों कहा गया है? आचार्य कहते हैं कि ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि एक कारण से अनेक कार्य पाये जाते हैं अर्थात् तप से इन्द्रादि पद का कारण पुण्यबंध भी होता है और संवर-निर्जरा भी होती है।

धर्मध्यान शुभोपयोग है जैसा कि श्री कुन्वकुन्वाचार्य ने भाषपाहुड़ में “सुहृ धम्मं जिणवर्दिहि” पद द्वारा कहा है। इस शुभोपयोगरूप धर्मध्यान से संवर-निर्जरा भी होती है, इसीलिये तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ९ में “परे मोक्षहेतु ॥२९॥” सूत्र द्वारा शुभोपयोगरूप धर्मध्यान को मोक्ष का कारण कहा है। अर्थात् शुभोपयोगरूप धर्मध्यान से संवर व निर्जरा होती है इसीलिए मोक्ष का कारण बतलाया गया है।

श्री वीरसेनाचार्य भी जयघवल में कहते हैं—

“सुहृदुदपरिणामेहि कम्मश्चयामावे तक्खयाणुववत्तीवो ।” [पु० १ पृ० ६]

अर्थ—यदि शुभपरिणामों से और शुद्धपरिणामों से कर्म का अर्थ न माना जाय तो फिर कर्मों का अर्थ हो नहीं सकता है।

प्रथमोपशमसम्यक्त्व से पूर्व पाँच लब्धियाँ होती हैं। उनमें से पाँचवीं जो करणलब्धि है, उसमें प्रतिसमय असंख्यातगुणी-असंख्यातगुणी कर्मों की निर्जरा होती है और उसके पश्चात् चतुर्थ आदि गुणस्थानों में कर्मों की निर्जरा होती है वह शुभोपयोग से ही होती है, क्योंकि शुद्धोपयोग तो सातिशयअप्रमत्तसंयत-सातवें गुणस्थान से होता है अथवा ग्यारहवें गुणस्थान से होता है। यदि शुभोपयोग से निर्जरा न मानी जाय तो करणलब्धि में निर्जरा के अभाव में सम्यक्त्वोत्पत्ति के अभाव का प्रसंग आ जायगा जिससे मोक्ष का भी अभाव हो जायगा।

शुभोपयोग मिश्रित परिणाम होने के कारण विशिष्ट पुण्यबंध व संवर-निर्जरा इन दोनों का कारण होता है।

यदि कहा जाय कि शुभोपयोग में जितने अंशों में सम्यक्त्व व चारित्र है उतने अंशों में संवर, निर्जरा होती है और जितने अंशों में राग है उतने अंशों में बंध होता है, क्योंकि सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्र मोक्ष के ही कारण हैं बंध के कारण नहीं हैं, तथा राग-द्वेष बन्ध का ही कारण है, संवर-निर्जरा का कारण नहीं है। सो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा एकान्तनियम नहीं है।

यद्यपि शुद्धनिश्चयनय से सम्यग्दर्शन-चारित्र संवर व निर्जरा के कारण हैं और राग बंध का कारण है तथापि तीर्थंकर आदि कुछ ऐसी विशिष्ट कर्म-प्रकृतियाँ हैं जिनके बन्ध में सम्यक्त्व अथवा सम्यक्त्व व चारित्र कारण होते हैं तथा विशिष्ट प्रशस्तराग भी मोक्ष का परम्परा कारण हो जाता है।

द्वादशांगसूत्रों के एकदेश का ज्ञान गुरुपरम्परा से श्री धरसेनाचार्य को प्राप्त हुआ था। श्री धरसेनाचार्य से यह ज्ञान श्री पुष्पबन्त व श्री भूतबलि को प्राप्त हुआ था, जिन्होंने उन द्वादशांगसूत्रों को लिपिबद्ध कर दिया और शास्त्र का नाम षट्खण्डागम रखा। इस षट्खण्डागम के छठे खण्ड महाबन्ध में मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग को कर्मप्रकृतियों के बन्ध का कारण कहा है, किन्तु आहारकद्रिक और तीर्थंकर इन तीनप्रकृतियों के लिये, मिथ्यात्व आदि को बन्ध का कारण न कहकर, सम्प्रदर्शन आदि को बन्ध का कारण कहा है। वे द्वादशांग के सूत्र इसप्रकार हैं—

“आहारदुग्गं संजमपचचयं । तित्थयरं सम्मसपचचयं ।” (म. बं. पु. ४ पृ. १८६)

द्वादशांग के इन सूत्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्प्रदर्शन व संयम विनिष्ट-कर्म-प्रकृतियों के लिये बन्ध का भी कारण है, इसीलिये इन प्रकृतियों के बन्ध का कारण मिथ्यात्वादि को नहीं कहा गया है। द्वादशांग के सूत्रों का अनुसरण करते हुए श्री कुन्वकुन्वाचार्य ने भी कहा है—

सामष्णपचचया खलु चउरो भण्णति बंधकत्तारो ।

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा ॥१०९॥ (समयसार)

बन्ध के करनेवाले सामान्यरूप से चारप्रत्यय (कारण) कहे गये हैं। वे चार प्रत्यय मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग जानने चाहिए।

जह्मा बु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि ।

अणत्तां णाणगुणो तेण बु सो बंधगो भणिवो ॥ १७१ ॥

वंसणणाणचरित्तां ज परिणमदे जहण्णभावेण ।

णाणो तेण बु मज्झदि पुग्गल कम्मेण विविहेण ॥ १७२ ॥ (समयसार)

यद्यपि समयसार गथा १०९ में मिथ्यात्वादि को बन्ध का कारण कहा है, किन्तु सम्प्रदर्शन सम्प्रज्ञान और सम्प्रक्चारित्र भी जब तक जघम्यभाव से परिणमते हैं अर्थात् अपनी उत्कृष्टदशा को प्राप्त नहीं होते हैं तबतक उनसे भी बन्ध होता है।

वंसणणाणचरित्ताणि मोक्षमग्गो त्ति सेविवव्वाणि ।

साधूहि इवं भणिदं तेहि बु बन्धो व मोक्खो वा ॥ १६४ ॥ पंचास्तिकण्य

दर्शन, ज्ञान, चारित्र मोक्षमार्ग हैं इसलिए वे सेवनयोग्य हैं ऐसा साधुओं ने कहा है। उन दर्शन-ज्ञान-चारित्र से बन्ध भी होता है और मोक्ष भी होता है। इसप्रकार एककारण से दोकार्य बतलाये हैं। श्री समंतभद्राचार्य ने रत्नकरण्ड भावकाचार में निम्न प्रकार कहा है—

देशयामि समीचीनं, धर्मं कर्मनिवर्हणम् ।

संसारदुःखतः सत्त्वान्, यो धरत्युत्तमे सुखे ॥ २ ॥

संस्कृत टीका—‘उत्तमे सुखे स्वर्गापवर्गादि प्रभवे सुखे, स धर्म इत्युच्यते ।’

मैं समंतभद्राचार्य समीचीनधर्म को कहता हूँ। वह धर्म कर्मों का नाश करनेवाला है तथा प्राणियों को जन्म-मरणरूपी दुःखों से छुड़ाकर उत्तमसुख अर्थात् स्वर्ग व मोक्ष सुख में रखने वाला है।

यहाँ पर भी धर्म को पुण्यबन्ध के द्वारा स्वर्गसुख को देनेवाला और कर्मों के नाश से मोक्षसुख को देनेवाला बतलाया गया है ।

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामवं मोक्षवं चैव ओंकाराय नमो नमः ॥

बिन्दु संयुक्त ओंकार का योगिजन नित्यध्यान करते हैं । वह ओंकार पुण्यबन्ध के द्वारा सांसारिकसुख का तथा मोक्षसुख का देनेवाला है । इसलिये ओंकार के लिये नमस्कार हो ।

चत्वार्येतानि मिथ्याणि कषायैः स्वर्गहेतवः ॥३०७॥

निष्कषयाणि नाकस्य मोक्षस्य च हितैषिणाम् ।

चतुष्टयमिव वर्त्म मुक्तेर्बुध्नापमङ्गिभिः ॥ ३०८ ॥ महापुराण पर्व ४७

श्री पं० यशपालजी कृत अर्थ—“चारों ही गुण (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य-तप) यदि कषायसहित हों तो (पुण्यबन्ध होने से) स्वर्ग के कारण है और कषायरहित हों तो आत्महित चाहनेवाले लोगों को स्वर्ग और मोक्ष दोनों के कारण हैं । ये चारों ही मोक्षमार्ग हैं और प्राणियों को बड़ी कठिनाई से प्राप्त होते हैं ।” यहाँ पर कषाय-रहित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य-तप ये चारों स्वर्ग के कारण हैं, यह बात ध्यान देने योग्य है ।

तत्त्वाथंसूत्र में यद्यपि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गः ॥११॥ सूत्र द्वारा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य को मोक्षमार्ग तथा “मिथ्यादर्शनाधिरतिप्रभावकषाययोगा बंधहेतवः ॥ ८११ ॥” सूत्र द्वारा मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग को बंधका कारण कहा है तथापि अस्माय छद्म में, जहाँपर आस्रव के विशेष कारणों का कथन है, वहाँ पर सूत्र २१ में सम्यक्त्व तथा सूत्र २४ में दर्शनविशुद्धि आदि को भी बंध का कारण कहा है ।

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय के कर्त्ता श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी तत्त्वाथंसार में इसप्रकार कहा है—

सरागसंयमश्चैव सम्यक्त्वं देशसंयमः ।

इति देवायुषो हृद्यते भवन्त्यास्रवहेतवः ॥४१३॥

विशुद्धिर्वर्गनस्योच्चैस्तपस्यागौ च शक्तितः ।

नाम्नस्तीर्थंकरत्वस्य भवन्त्यास्रवहेतवः ॥ ४१४-५२ ॥

सरागसंयम, सम्यग्दर्शन, देशसंयम ये देवायु के आस्रव के कारण हैं ॥ ४३ ॥ सम्यग्दर्शन की उत्कृष्ट-विशुद्धता, शक्ति अनुसार तप व त्याग इत्यादि सोलह तीर्थंकर नामकर्म प्रकृति के आस्रव के कारण हैं ॥४६-५२ ॥ यहाँ पर सम्यग्दर्शन के साथ या सम्यग्दर्शन की उत्कृष्ट विशुद्धता तथा तप व त्याग के साथ राग विशेषण नहीं लगाया है ।

यदि कहा जाय कि तीर्थंकर व आहारकट्टिक के बन्ध का कारण मात्रराम है, सम्यक्त्व व चारित्र्य तीर्थंकर-प्रकृति व आहारकट्टिक के बंध के कारण नहीं हैं, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि नयशास्त्र तथा द्वादशांग-सूत्रों से विरोध आता है । तीर्थंकर का बन्ध सम्यग्दर्शन के सद्भाव में होता है और सम्यग्दर्शन के अभाव में तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध नहीं होता है । तीर्थंकरप्रकृति के बन्ध का सम्यक्त्व के साथ अन्वय-व्यतिरेक सुघटित हो जाने से कार्य-कारणभाव सिद्ध हो जाता है ।

“अन्वय-व्यतिरेक-समधिगम्यो हि सर्वत्र कार्यकारण-भावः । तौ च कार्यप्रति कारण-व्यापार-सव्यपेक्षा-वेद्योपपद्यते कुलालस्येव कलशप्रति । यथा कुलालस्य कलशं प्रत्यन्वयव्यतिरेकत्वं वर्तते, यतः सति कुलाले कलशस्यो-त्पत्तिर्जायते, अन्वया न जायते । व्यापारस्यव्यपेक्षो यथा ।” (प्र० रत्नमाला)

सर्वत्र कार्य-कारणभाव अन्वय-व्यतिरेक से जाना जाता है । सो ये दोनों (अन्वय और व्यतिरेक) कार्य के प्रति कारण के व्यापार की अपेक्षा में ही घटित होते हैं । जैसे कि कुम्भकार का घट के प्रति अन्वय-व्यतिरेक पाया जाता है । कुम्भकार होने पर ही कलश की उत्पत्ति होती है और कुम्भकार के अभाव में कलश की उत्पत्ति नहीं होती है । (प्रमेय रत्नमाला पृ० १८५)

“अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि हेतुफलभावः सर्वम् ।” (मूलाराधना पृ० २३)

जगत् में पदार्थ का सम्पूर्ण कार्य-कारणभाव अन्वय-व्यतिरेक से जाना जाता है । इस अन्वय-व्यतिरेक की दृष्टि से ही श्री अमृतचन्द्राचार्य को पुरुषार्थसिद्धयुपाय श्लोक २१८ में सम्यक्त्व और चारित्र्य को तीर्थंकर व आहारकशरीर के बन्ध के लिए उदासीन अर्थात् अप्रेरक कारण स्वीकार करना पड़ा । जब भी अमृतचन्द्राचार्य स्वयं तत्त्वार्थसार में बंध के प्रति सम्यक्त्व की हेतुता (कारणता) स्वीकार कर चुके हैं फिर पुरुषार्थसिद्धयुपाय में वे उसका विरोध कैसे कर सकते थे ।

यद्यपि पुत्र की उत्पत्ति माता व पिता दो के संयोग से होती है, न मात्र माता से पुत्रोत्पत्ति होती है और न मात्र पिता से पुत्रोत्पत्ति होती है, किन्तु जब वह पुत्र अपने पितामह (बाबा) के यहाँ रहता है तो वह अपने पिता का पुत्र कहलाता है और जब वही पुत्र अपने नाना के यहाँ चला जाता है तो वह अपनी माता का कहलाता है । (यथा स्त्री-पुरुषाभ्यां समुत्पन्नः पुत्रोविषक्षावशेन देववत्तायाः पुत्रोयं केचन वदन्ति, देववत्तस्य पुत्रोऽयमिति केषन वदन्ति बोधो नास्ति (समयसार पृ० १०१) इसीप्रकार सम्यक्त्व और राग दोनों के संयोग से तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध होता है और चारित्र्य व राग इन दोनों के संयोग से आहारकशरीर का बन्ध होता है । मात्र राग से या मात्र चारित्र्य व सम्यक्त्व से बन्ध नहीं होता है । इनप्रकृतियों के बन्ध कारणों में कहीं पर राग को गौण करके सम्यक्त्व व चारित्र्य को मुख्य करके कथन कर दिया जाता है और कहीं पर सम्यक्त्व व चारित्र्य को गौण करके राग को मुख्य करके कथन कर दिया जाता है । नयवेत्ताओं के लिये इन दोनों कथनों में कोई विरोध नहीं है । कहा भी है—

सम्यक्त्वचारित्र्याभ्यां तीर्थंकराहारकर्मणो बन्धः ।

योऽप्युपदिष्टः समये न नयविवां सोऽपि दोषाय ॥२१७॥ पुरुषार्थ सिद्धयुपाय

द्वादशांग में अथवा तत्त्वार्थसारादि शास्त्रों में जो यह उपदेश दिया गया है कि तीर्थंकरप्रकृति व आहारक-शरीरप्रकृति का बन्ध सम्यक्त्वचारित्र्य से होता है, वह उपदेश भी नयवेत्ताओं को दोष के लिये नहीं है ।

तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध सम्यक्त्व व राग दोनों से होता है और आहारकद्विक का बन्ध संयम व राग इन दो से होता है, न मात्र राग से या मात्र सम्यग्दर्शन व संयम से बन्ध नहीं होता है, क्योंकि दोनों से ही उत्पन्न होने वाले कार्य की उनमें से एक के द्वारा उत्पत्ति का विरोध है ।

“बोहितो सेवुपुज्यमाणकञ्जस्त तत्थेवकावो समुत्पत्ति विरोहावो ।” (धवल पु० ८ पृ० ८३)

वीतराग निर्विकल्प समाधि में बुद्धिपूर्वक राग का अभाव हो जाने से वहाँ पर जो बन्ध होता है वह कर्मोदयवशा से उत्पन्न हुए प्रबुद्धिपूर्वकराग से होता है । वीतरागसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य से बन्ध नहीं होता है । इसी दृष्टि से पुरुषार्थसिद्धयुपाय में श्लोक २११ से २२२ तक कथन किया गया है ।

वर्निमात्मनिश्चितिरात्म परिज्ञानमिष्यते बोधः ।

स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ॥२१६॥ पुरुषार्थसिद्धयुपाय

अपनी आत्मा का विनिश्चय सम्यग्दर्शन, आत्म-परिज्ञान सम्यग्ज्ञान और आत्मा में स्थिरतारूप सम्यक्-चारित्र्य ऐसे बीतराग-निर्विकल्परूप शुद्धरत्नत्रय से बन्ध कैसे हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता है । यह शुद्धनय का कथन है ।

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः ।

स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षापायो न बन्धनोपायः ॥२१७॥

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।

येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१८॥

येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।

येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१९॥

येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।

येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१४॥ (पुरुषार्थ सिद्धयुपाय)

असम्पूर्ण रत्नत्रय की भावना करनेवाले के जो शुभकर्म का बन्ध है, वह बन्ध विपक्ष-कृत अर्थात् सम्पूर्ण रत्नत्रय से विपक्ष असमग्र रत्नत्रयकृत होने से अवश्य ही मोक्ष का उपाय है, बन्ध (संसार) का उपाय नहीं है, यह कथन अशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से है । विकलरत्नत्रय से जो पुण्यबन्ध होता है वह मोक्ष का कारण है, संसार का कारण नहीं है ।

सम्माविद्धी पुण्यं न होइ संसार कारणं नियमा ।

मोक्षस्त होइ हेउ' जइ वि नियमाणं न सो कुणई ॥४०४॥ (भावसंग्रह)

जितने अंश से सम्यग्दर्शन है उतने अंश से बन्ध नहीं, जितने अंश से ज्ञान है उतने अंश से बन्ध नहीं, जितने अंश से चारित्र्य है उतने अंश से बन्ध नहीं तथा जितने अंश से राग है उतने अंश से बंध होता है । यह कथन शुद्धनय की दृष्टि से है ।

जिस बीतरागनिर्विकल्परुद्ध (पूर्ण) रत्नत्रय का कथन श्लोक २१६ में है उसी शुद्धदृष्टि से श्लोक २१२-२१४ में कथन है, अन्यथा 'सत्त्वार्थसार' के कथन से अर्थात् स्ववचन से विरोध आजायगा । वि० जैन आचार्यों के बचनों में परस्पर विरोध होता नहीं है ।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय गाथा २२० के अर्थ पर विचार किया जाता है—

रत्नत्रयमिह हेतुनिर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य ।

आत्मवति यत् पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ॥२२०॥

शुद्धरत्नत्रय निर्वाण का ही कारण है अन्य का कारण नहीं है । जो पुण्य का आत्मव होता है, यह शुभोपयोग अर्थात् असमग्ररत्नत्रय का अपराध है ।

“एकदेशपरित्यागस्तथा चापहतसंयमः सरागचारित्रं शुभोपयोग इति यावदेकार्थः । सर्वपरित्यागः परमो-पेशासंयमो बीतरागचारित्रं शुद्धोपयोग इति यावदेकार्थः ।” (प्रवचनसार पृ० ५५२)

एकदेश परित्याग, अपहृतसंयम, सरागचारित्र, शुभोपयोग ये एकार्यवाची शब्द हैं। सर्व परित्याग परमो-
पेक्षा संयम वीतराग चारित्र शुद्धोपयोग ये एकार्यवाची शब्द हैं।

वीतरागनिर्विकल्पसमाधिकाल में सर्व रागद्वेषपरित्यागरूप जो वीतरागरत्नत्रय है वह शुद्धोपयोग है और
सविकल्पावस्था में जो एकदेश रागद्वेष परित्यागरूप सरागरत्नत्रय है वह शुभोपयोग है।

शुद्धोपयोगरूप रत्नत्रय की उत्तम दशा है। और शुभोपयोगरूप-रत्नत्रय जघन्यरत्नत्रय है। समयसार
गाथा १७२ में जघन्यरत्नत्रय से बंध का होना बतलाया है। जघन्यरत्नत्रय शुभोपयोगरूप है अतः बंध को शुभोप-
योग का अपराध बतलाया है। यदि प्रशस्तराग को ही शुभोपयोग कहा जावे तो शुभोपयोग का लक्षण अपहृत-
संयम या सरागचारित्र नहीं हो सकता था।

प्रथमोपशमसम्यक्त्व के सम्मुख करणलब्धि में प्रथमोपशमसम्यक्त्वोपत्तिकाल में तथा पंचम, षष्ठगुण-
स्थान में जो प्रतिमय असंख्यतगुणी कर्मनिर्जरा होती है वह भी शुभोपयोग का फल है। स्वस्थानअप्रतसंयत के
शुभोपयोगरूप धर्मध्यान से निर्जरा होती रहती है। इस प्रकार शुभोपयोग से संवर-निर्जरा भी तथा बंध भी दोनों
परस्पर विरुद्ध कार्य होने में कोई बाधा नहीं है। कहा भी है—

एकस्मिन् समवायावस्थन्त विरुद्धकार्ययोरपि हि ।

इह बहति धृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोऽपि रुढिमितः ॥२२१॥ [पु. सि. उ.]

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि शुद्ध धी जलाने का कारण नहीं है उसीप्रकार पूर्णरत्नत्रय भी बंध का
कारण नहीं है। प्रणि के संयोग से जब धी का स्पर्शगुण विकारी हो जाता है अर्थात् उष्ण हो जाता है तो उस
धी से जलाने का व्यवहार (कार्य) देखा जाता है। उसीप्रकार मोहनीयकर्मोदय के संयोग से रत्नत्रय जब असम-
प्रता को प्राप्त हो जाता है अर्थात् जघन्यभाव को प्राप्त हो जाता है तो वह जघन्यरत्नत्रय बंध का भी कारण
हो जाता है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य गृहस्थ के प्रशस्तराग को परम्परामोक्ष का कारण बतलाते हैं—

“स्फटिकसम्पर्कणाकंतेजस इबंधसां रागसंयोगेन शुद्धात्मनोऽनुभवात्क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च
मुख्यः।” प्रवचनसार पृ० ६०१।

जैसे ईंधन को स्फटिक के संपर्क से सूर्य के तेज का अनुभव होता है और इसलिए वह क्रमशः जल उठता
है, उसीप्रकार गृहस्थ को राग के संयोग से शुद्धात्मा का अनुभव होता है और इसलिए वह राग क्रमशः परमनिर्वाण-
सौख्य का कारण होता है। ऐसा आचार्य ने प्रवचनसार में कहा है।

विधूतमसौ रागस्तपः श्रुतनिबन्धनः ।

संध्याराग इवाकंस्य जन्तोरेभ्युवधाय सः ॥१२३॥ आत्मानुशासन

अन्धकार को नष्ट कर देने वाले प्राणी के जो तप और शास्त्र विषयक अनुराग होता है वह सूर्य की
प्रभातकालीन लालिमा के समान है उससे स्वर्ग व मोक्ष होता है।

इसप्रकार यह एकांत नहीं है कि राग से बंध ही होता है और रत्नत्रय से बंध नहीं होता है। आशा है
विद्वत् मण्डल शांत चित्त से द्वादशांग के सूत्रों पर जो ‘महाबंध’ में लिपिबद्ध है, विचार करने की कृपा करेंगे।

इस सम्बन्ध में निम्नलिखित गाथाएँ ध्यान देने योग्य हैं क्योंकि इनमें शुद्धात्मध्यान से, शुद्धोपयोग से, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य, कषायनिग्रह, इन्द्रियनिरोध, प्रवचनअभ्यास, इनसे पुण्यबंध भी होता है और मोक्षसुख भी मिलता है, ऐसा बतलाया गया है ।

जिणवर मएण जोई क्षाणे क्षाएइ सुद्धमप्पाणं ।
जेण लहइ णिस्वाणं लहइ किं तेण सुर लोयं ॥२०॥
जो जाइ जोयण सयं वियहे रोक्केण लेचि गुदभारं ।
सो किं कोसइ पि ह्ण सक्कए जाहु भुवणयले ॥२१॥ मोक्षपाहुइ

इन दो गाथाओं द्वारा श्री कुन्वकुन्दाचार्य ने बतलाया है—जो योगी ध्यान में जिनेन्द्रदेव के मतानुसार शुद्धात्मा का ध्यान करता है, वह स्वर्गलोक को प्राप्त होता है, सो ठीक ही है कि जिस ध्यान से निर्वाण प्राप्त हो सकता है उसध्यान से क्या स्वर्ग लोक प्राप्त नहीं हो सकता ? अर्थात् अवश्य प्राप्त हो सकता है, क्योंकि जो मनुष्य बहुत भारी भार को एक दिन में सो योजन ले जाता है तो वह क्या प्राप्ता कोश भी नहीं ले जा सकता ? अवश्य ही ले जा सकता है ।’

संपउजवि णिस्वाणं देवासुर भय्यरावविहरेहि ।
जीवस्स चरिसावो बंसणाणप्पहाणावो ॥ ६ ॥ प्रवचनसार

श्री कुन्वकुन्दाचार्य कहते हैं—सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान की प्रधानतायुक्त चारित्र्य से जीवों को देवेन्द्र, असुरेन्द्र षक्रवर्ती की विभूतियों के साथ निर्वाण भी प्राप्त होता है ।

पुण्णस्सासवभूवा अणुक्कंपा सुद्धओ व उवजोओ ।
विचरीओ पावस्स ह्ण आवसहेउं वियाणाहि ॥ ५२ ॥

कषायपाहुइ पृ० १ पृ० १०५

अणुक्कंपा सुद्धओओ वि य पुण्णस्स असवकुवारं ।
तं विचरीवं आसववारं पावस्स कम्मस्स ॥५२४॥ मूलाराधना

संस्कृत टीका—“सुद्धओओगो शुद्धश्च प्रयोगः परिणामः ।”

यहाँ पर शुद्धोपयोग से पुण्यकर्मआप्तव बतलाया गया है ।

सम्मत्तेण सुदेस य विरवीए कसायणिग्गहगुरोहि ।
जो परिणवो स पुण्णो तत्विचरीदेण पावं तु ॥४७॥ मूलाचार

संस्कृत टीका—“सम्यक्स्वाधिकारणेन यः कर्मबन्धः स पुण्यमिच्छुच्यते ।”

यहाँ पर श्री कुन्वकुन्दाचार्य ने बतलाया है—सम्यग्दर्शन, श्रुत, व्रत, कषायों का निग्रह, इन्द्रियनिरोध से जो कर्मबंध होता है वह पुण्यकर्म है ।

तत्तो चेव सुहाइं सयसाइं थेव मणुथ छयराणं ।
उम्मूलियट्टकम्मं फुड सिद्धसुहं पि पवयणावो ॥४९॥ धवल पृ० १ पृ० ५९

अर्थ—प्रवचन के अभ्यास से देव, मनुष्य और विद्याधरों के सर्वसुख प्राप्त होते हैं तथा सिद्धसुख भी प्राप्त होता है ।

—वै. ग. 5 व 12-10-72/IX-X-VI-IX/रो ला. खंन

शुभोपयोग (शुभपरिणति) से बन्ध के साथ संवर व निर्जरा भी होती है

शंका—शुभ भावकर्म निर्जरा में कारण नहीं होते ऐसा क्यों ?

समाधान—शुभभावों से कर्मनिर्जरा भी होती है । यदि शुभभावों से कर्मनिर्जरा न हो तो कभी मोक्ष नहीं हो सकता है । अनादिमिथ्यादृष्टि जब प्रथमोपशमसम्यक्त्व के अभिमुख होता है तो उसके क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य, करण ये पाँच लक्षियाँ होती हैं । अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिष्टसिक्करण के भेद से करण-लक्षि तीनप्रकार की है । उनमें से अपूर्वकरण और अनिष्टसिक्करण इन दो करणलक्षि में गुणश्रेणी निर्जरा, स्थितिखंडन और अनुभागखण्डन होता रहता है । कहा भी है—

गुणसेढीगुणसंकम द्विद्विरसखंडा अपुक्वकरणाधो ।

गुणसंकमरणेण समा मिस्ताणं पूरणोत्ति हवे ॥५३॥ (लक्षिसार)

अपूर्वकरण के प्रथमसमय से लेकर जबतक सम्यक्त्वमोहनीय मिश्रमोहनीय का पूर्णकाल है तबतक गुण-श्रेणीनिर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थितिखंडन, अनुभागखंडन ये चार आवश्यक होते हैं ।

अतः यहाँ पर मिथ्यादृष्टि के गुण श्रेणी निर्जरा के कारण शुभोपयोग अर्थात् शुभभाव ही हो सकते हैं, क्योंकि मिथ्यादृष्टि के शुद्धोपयोग अर्थात् शुद्धभाव नहीं हो सकता है । और अशुभभाव संवर व निर्जरा का कारण होता नहीं । यदि शुभभाव को निर्जरा का कारण न माना जाय तो अनादिमिथ्यादृष्टि के प्रथमोपशमसम्यक्त्व की उत्पत्ति नहीं होने से कर्मों का क्षय अर्थात् मोक्ष हो नहीं सकता । कहा भी है—

“सुह—सुद्ध परिणामेहि कम्मवखयाभावे तवखयाण्णवत्तीवो ।” [जयधवल पु० १ पृ० ६]

यदि शुभपरिणामों से और शुद्धपरिणामों से कर्मों का क्षय न माना जाय तो फिर कर्मों का क्षय हो ही नहीं सकता ।

धर्मध्यान शुभोपयोग है । श्री कुन्वकुन्दाचार्य ने भी कहा है—

भावं तिविहपयारं सुहात्रुहं सुद्धमेव णायध्वं ।

असुहं च अट्टहं सुह धम्मं जिणवरिदेहि ॥ ७६ ॥

जिनवरदेव ने भाव तीनप्रकार कहा है—शुभ, अशुभ और शुद्ध । यहाँ अशुभभाव तो आर्त्तरीद्र ये ध्यान हैं और शुभ है सो धर्मध्यान है ।

धर्मध्यानरूप शुभपरिणामों में ही मोहनीयकर्म का क्षय करने की सामर्थ्य है । कहा भी है—

“मोहनीय विणासो पुण धम्मज्झाणफलं, सुहुमसांपरायच्चरिमसमय तस्स विणासुवलंभाधो ।”

धवल पु० १३ पृ० ८१

मोहनीय का विनाश करना धर्मध्यान का फल है, क्योंकि सूक्ष्मसांपरायणगुणस्थान के अंतिमसमय में उसका विनाश होता है ।

हसिलिये श्रीमदुमास्थामी आचार्य ने “परे मोक्षहेतू ॥२९॥” सूत्र द्वारा धर्मध्यान को मोक्ष अर्थात् कर्मक्षय का कारण बतलाया है ।

दि० जैन प्राचीन आचार्यों का इतना स्पष्ट कथन होने पर जो शुभभाव को मात्र बंध का ही कारण मानते हैं कर्मनिर्जरा का कारण नहीं मानते, उनके मत में मोक्ष कभी प्राप्त हो ही नहीं सकता, क्योंकि शुद्धभाव तो मोहनीयकर्म के अभाव में ही सम्भव है, क्योंकि मोहनीयकर्म के अभाव में ही वीतरागभाव होता है ।

सुविद्विषयत्यमुत्तो संजमतव संजशो विगदरागो ।

समणो समसुहदुखो भणिशो सुद्धोवओगो ति ॥१४॥ प्रवचन०

जिन्होंने पदार्थों को और सूत्रों को भले प्रकार जान लिया है, जो संयम और तप युक्त हैं, जो विगतराग हैं और जिनके सुख—दुःख समान हैं ऐसे श्रमण को शुद्धोपयोगी कहा है । अर्थात् जिनके राग की कशिका भी विद्यमान है वे शुद्धोपयोगी नहीं हैं, शुभोपयोगी हो सकते हैं ।

जिस जीव के मिथ्यात्व और कषाय दोनों पाप विद्यमान हैं । उसके शुभ भाव अर्थात् आत्मकल्याणरूप भाव नहीं होते । सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व पाप का अभाव हो गया है अतः उसके शुभोपयोग होता है । जिसके मिथ्यात्व और कषाय दोनों पापों का अभाव हो गया है ऐसे वीतरागसम्यग्दृष्टि के शुद्धोपयोग होता है ।

—जं. ग. 11-9-69/VII/ बस्यत्कृमात्

कथंचित् अत्रत सम्यग्दृष्टि अबन्धक है

शंका—अत्रत सम्यग्दृष्टि के बन्ध नहीं होता है, ऐसा ‘समयसार’ ग्रंथ में कहा है सो कैसे ?

समाधान—आगम में अनेक दृष्टियों से कथन हैं । जहाँ पर सम्यग्दृष्टि को अबन्ध कहा है वहाँ पर यह समझना चाहिए कि सम्यग्दृष्टि के अनन्तसंसार का कारण ऐसा बन्ध नहीं होता, क्योंकि उसके मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धीकषाय का उदय न होने से मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धीचतुष्क का बन्ध नहीं होता है । इन पाँच प्रकृतियों के अतिरिक्त उसके अन्य छत्तीसप्रकृतियों का भी बन्ध नहीं होता है, क्योंकि उनकी बन्धव्युच्छित्ति पहले और दूसरे गुणस्थान में हो जाती है । सम्यग्दृष्टि के केवल ४१ प्रकृति का बन्ध नहीं होता है । शेष प्रकृतियों का बन्ध तो अपने-अपने गुणस्थान अनुसार प्रतिसमय दसवेंगुणस्थान के अन्ततक होता रहता है । सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान तक सम्यग्दृष्टि सर्वथा अबन्धक नहीं है । अत्रत सम्यग्दृष्टि को सर्वथा अबन्धक मानना आगमविरुद्ध है । अनन्तसंसार का कारण ऐसा बन्ध सम्यग्दृष्टि के नहीं होता है, इस अपेक्षा से कहीं-कहीं पर अत्रतसम्यग्दृष्टि को अबन्धक कहा है ।

—जं. सं. 2-8-56/VI/ मो ला. उटसेया

‘द्रव्यमोह’ व “भावमोह” से अग्निप्राय

शंका—प्रवचनसार गाथा ४५ की तात्पर्यवृत्ति टीका में श्री जनसेनाचार्य ने लिखा है—“द्रव्यमोहोदयेषि सति यवि शुद्धात्मभावनाबलेन भावमोहेन न परिणमति तवाबन्धो न भवति ।”

यहाँ पर ‘द्रव्यमोह’ से ‘सम्यक्त्व प्रकृति’ और ‘भावमोह’ से ‘मिथ्यात्व’ ग्रहण करना चाहिये या अन्य कुछ गूढ़ रहस्य है ? किसका बन्ध नहीं होता है ?

समाधान—दर्शनमोहनीयकर्म की तीनप्रकृतियाँ हैं—(१) मिथ्यात्वप्रकृति, (२) सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति, (३) सम्यक्त्वप्रकृति । कहा भी है—

“तत्र दर्शनमोहनीयं श्रिभेदम्-सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं तदुभयमिति । तत्र यस्योदयात् सर्वज्ञप्रणीतमार्गपराङ्मुखस्तत्त्वार्थश्रद्धाननिरस्तसुको हिताहितविचारासमर्थो मिथ्यादृष्टिर्भवति तन्मिथ्यात्वम् । तत्रैव सम्यक्त्वं शुभपरिणामनिरस्तस्वरसं यद्योवासीन्ध्येनाबस्थितमात्मनः श्रद्धानं न निरुणद्धि, तद्वेदयमानः पुण्यः सम्यग्दृष्टिरित्यभिधीयते । तत्रैव-मिथ्यात्वं प्रक्षालन विशेषात्क्षीणमवशक्ति कोद्रववत्सामिश्रुद्धस्वरसं तदुभयमित्याख्यायते । सम्यङ्-मिथ्यात्वमिति यावत् । यस्योदयाद्वात्मनोऽर्धशुद्धमवकोद्रवोवतोपयोगापादितमिश्रपरिणामवदुभयात्मको भवति परिणामः ।”

सर्वार्थसिद्धि ८१९ ।

अर्थ—दर्शनमोहनीय के तीनभेद हैं—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व । जिसके उदय से यह जीव सर्वज्ञप्रणीत मार्ग से विमुख, तत्त्वार्थों के श्रद्धान करने में निरस्तसुक, हिताहित का विचार करने में असमर्थ ऐसा मिथ्यादृष्टि होता है, वह मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय है । वही मिथ्यात्व जब शुभपरिणामों के कारण अपने स्वरस विपाक को रोक देता है और उदासीनरूप से अवस्थित रहकर आत्मा के श्रद्धान को नहीं रोकता है तब वह सम्यक्त्व दर्शनमोहनीय है । इस सम्यक्त्व दर्शनमोह के उदय का वेदन करनेवाला सम्यग्दृष्टि कहा जाता है । वही मिथ्यात्व प्रक्षालन विशेष के कारण क्षीणाक्षीण मदशक्ति वाले कोदों के समान अर्धशुद्ध स्वरस वाला होने पर तदुभय कहा जाता है । इसी का दूसरा नाम सम्यग्मिथ्यात्व है । इसके उदय से अर्धशुद्ध मदशक्ति वाले कोदों और जोदन के उपयोग से प्राप्त हुए मिश्र परिणाम के समान उभयात्मक परिणाम होता है ।

प्रवचनसार गाथा ४५ की टीका में जो ‘द्रव्यमोह’ पद आया है, सोनगढ़ वाले यद्यपि उसका अर्थ मिथ्यात्व प्रकृति करते हैं, तथापि उनका ऐसा अर्थ करना आगम अनुकूल नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्व के उदय में यह जीव सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग से विमुख रहता है तथा तत्त्वार्थों के श्रद्धान करने में निरस्तसुक रहता है । अतः मिथ्यात्व प्रकृति के उदय में शुद्धात्म भावना सम्भव ही नहीं है ।

अतः ‘द्रव्यमोह’ से सम्यक्त्व प्रकृति दर्शन मोहनीय कर्म ग्रहण करना चाहिये । मंत्र शक्ति के द्वारा निर्विष किया हुआ विष जैसे मारने वाला नहीं होता है, वैसे ही शुभ परिणामों के द्वारा जब मिथ्यात्व का स्वरस विपाक रुक कर सम्यक्त्व प्रकृति रूप हो जाता है तो वह सम्यक्त्व का घातक नहीं होता है । अतः इस सम्यक्त्व प्रकृति दर्शन मोहनीय कर्मोदय का वेदन करने वाला जीव वेदक सम्यग्दृष्टि होता है ।

“कथमेवस्स कम्मस्स सम्मत्तवचणो ? सम्मत्तसहचारावो ।” धवल पु० १३ पु० ३५८ ।

अर्थ—इस दर्शनमोह कर्म की सम्यक्त्व संज्ञा कैसे है ? सम्यग्दर्शन का सहचारी होने से इस दर्शनमोह द्रव्यकर्म की सम्यक्त्व संज्ञा है ।

वेदक सम्यक्त्व के काल में मिथ्यात्व व मिश्र प्रकृति का स्त्रमुख उदय नहीं होता है, किन्तु संक्रमण द्वारा सम्यक्त्व प्रकृति रूप परमुख उदय होता रहता है । इसलिये आत्मा भावमोह अर्थात् मिथ्यात्व रूप नहीं परिणमन करती है ।

मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से होने वाले १६ प्रकृति-बंध तथा अनन्तानुबन्धी के उदय से होने वाला २५ प्रकृति-बंध अर्थात् निम्न ४१ प्रकृतियों का बंध नहीं होता है ।

मिथ्यात्व, नपुंसकवेद, नरकायु, नरकगति, एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, हृष्यकसंस्थान, असंप्राप्तानुपाटिका संहनन, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वो आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्तक और साधारण शरीर, यह १६ प्रकृति कर्म हैं जो मिथ्यात्वोदय से बंधते हैं ।

निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्थानगृद्धि, अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ, स्त्रीवेद, तिर्यंचायु, तिर्यंचगति, मध्य के चार संस्थान, मध्य के चार संहनन, तिर्यंचगति प्रायोग्यानुपूर्वो, उद्योत, अप्रसस्त विहायोगति, कुशंग, दुःस्वर, अनादेय और नीच गोत्र इन २५ कर्म प्रकृतियों का बंध अनन्तानुबन्धी कषायोदय में होता है ।

इस सम्यक्त्व प्रकृति रूप द्रव्य मोह के उदय से सम्यग्दर्शन में शिथिलता व अस्थिरता आ जाती है । कहा भी है—

“सम्मत्तस्स सिद्धिलभादुपाययं अचिरतकारणं च कम्मं सम्मत्तंणाम ।” सम्यक्त्व में शिथिलता का उत्पादक और उसकी अस्थिरता का कारणभूत कर्म सम्यक्त्व प्रकृति दर्शनमोह है ।

ऐसा सम्भव नहीं है कि किसी भी द्रव्यमोह का उदय हो और उसके अनुरूप आत्म-परिणाम न हो । निर्विकल्प समाधि में स्थित साधु के भी दसवें गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ कर्मोदय के अनुरूप सूक्ष्म साम्पराय रूप परिणाम होते हैं । ऐसा नहीं है कि वह उच्चकोटि का साधु सूक्ष्म लोभोदय में न जुड़े और सूक्ष्म कषाय रूप न परिणाम कर पूर्ण अकषाय हो जाय । चारित्र्य मोहोदय के अभाव में ही जीव ग्यारहवें आदि गुणस्थानों में अकषाय होता है ।

—जै. ग. 18-1-73/V/ अ. सुश्रीलाल देसाई

अव्रती सम्यक्त्वकी के बन्ध, संवर व निर्जरा किस-किस कषाय की होती है

शंका—अव्रतसम्यग्दृष्टि के किस कषाय का संवर होता है । किस जाति की कषाय की निर्जरा होती है और किस जाति की कषाय का पुण्य तथा पाप का बंध होता है ?

समाधान—अव्रतसम्यग्दृष्टिजीव के चार अनन्तानुबन्धी क्रोध, अनन्तानुबन्धी मान, अनन्तानुबन्धी माया, अनन्तानुबन्धी लोभ, और नपुंसकवेद का संवर होता है । अव्रतसम्यग्दृष्टि जब अनन्तानुबन्धी कषाय की विसंयोजना करता है तब उसके अनन्तानुबन्धी चौकड़ी की पूर्ण निर्जरा होती है । अन्य अवस्था में अनन्तानुबन्धी कषाय की स्तिबुक संक्रमण द्वारा निर्जरा करता है । अव्रतसम्यग्दृष्टि के सातिशय पुण्यबंध होता है ‘शुभोपयोगस्य पुण्योपचयपूर्वकोऽपुनर्भाबोपलम्भः ।’ अर्थात्—शुभोपयोग का फल पुण्यसंचयपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति है । अव्रतसम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धी कषाय का उदयाभाव हो जाने से अनन्तसंसार का कारण ऐसा पापबंध नहीं होता । तथा २५ पापप्रकृतियों का संवर (बंधव्युच्छिन्त) हो जाने के कारण भी तीव्रपाप का बंध नहीं होता । कहा भी है—

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि ।

दुष्कुलविकृताः पापयुर्वरिद्रतां च द्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥ (र. क. धा.)

अर्थ—जो जीव सम्यग्दर्शन करि शुद्ध है ते अव्रतहितहू नारकीपणा, तिर्यंचपणा, नपुंसकपणा स्त्रीपणा कू नहीं प्राप्त होय है । अर नीचकुल में जन्म अर विकृत नहीं होय तथा अल्प आयु का धारक अर दरिद्रीपना कू नहीं प्राप्त होय है ।

—जै. सं. 6-6-57/ ... / जै. श्या. म. कुवामनसिटी

स्वरूपावलम्बन के काल में भी कर्म अवश्य निमित्त बनता है

शंका—‘समयसारबंधव’ की भूमिका में पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री ने लिखा है—‘कर्मोदय का अवलम्बन न कर अपने स्वरूप का अवलम्बन करे तो कर्म निमित्त नहीं बन सकता है।’ इस पर प्रश्न होता है—क्या मोहनीय का अवलम्बन न हो तो बन्ध भी नहीं होना चाहिये ? किन्तु प्रथम गुणस्थान से वशम गुणस्थान तक कोई ऐसा समय नहीं है, जिसमें कर्म बंध नहीं होता हो ।

समाधान—श्री भगवदुमास्वामिप्रणीत ‘तत्त्वार्थसूत्र’ एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें प्रायः सर्व जैन सिद्धान्तों का सार भरा हुआ है । इसीलिये दि० जैन समाज में इसका बहुत प्रचार है, ऐसा कोई भी गुरुकुल, विद्यालय या पाठशाला नहीं जिसमें छात्रों को ‘तत्त्वार्थसूत्र’ का अध्ययन न कराया जाता हो । जिन्होंने स्वयं संस्कृत विद्यालय में अध्ययन किया हो और उसके पश्चात् ४०-५० वर्ष से विद्यालय में अध्यापन करा रहे हों, उनको ‘तत्त्वार्थसूत्र’ विशेषज्ञ होना चाहिये । उसी ‘तत्त्वार्थसूत्र’ के आधार पर इस विषय का विचार किया जाता है ।

“विपाकोऽनुभवः ॥ २१ ॥ स यथानाम ॥ २२ ॥ ततश्च निर्जरा ॥ २३ ॥ अध्याय ८ ।

संस्कृत टीका—“विशिष्टो विविधो वा पाक उदयः विपाकः, यो विपाकः स अनुभव इत्युच्यते । स अनुभवः प्रकृतिफलं जीवस्य भवति । कथम् ? यथानाम प्रकृतिनामानुसारेण । तेन ज्ञानावरणस्य फलं ज्ञानाभावो सविकल्पस्यापि । एवं सर्वत्र सविकल्पस्य कर्मणः फलं सविकल्पं ज्ञातव्यम् । दर्शनावरणस्य फलं दर्शनशक्तिप्रच्छादनता । मोहनीयस्य फलं मोहोत्पादनम् । आयुषः फलं भवधारणलक्षणम् । ततस्तस्माद्द्विपाकादनश्चरमात्मने पीडानुग्रहवानानन्तरं दुःखसुखवानानन्तरं निर्जरा भवति ।”

‘वि’ अर्थात् विशेष और विविध, ‘पाक’ अर्थात् कर्मों के उदय या फल देने को अनुभव कहते हैं । प्रकृति के नाम के अनुसार वह अनुभव अर्थात् प्रकृतिफल जीव के होता है । ज्ञानावरणकर्म के फल से ज्ञान का अभाव होता है । आत्मा की दर्शनशक्ति को प्रच्छादन करना दर्शनावरण का फल है । आत्मा में मोह को उत्पन्न करना मोहनीयकर्म का फल है । भव में रोके रखना आयुर्कर्म का फल है । कर्म की विपाक (फल देने) के पश्चात् अर्थात् आत्मा का भला-बुरा करके अथवा सुख-दुःख देकर कर्म की निर्जरा हो जाती है ।

इसी बात को श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी कहा है—

“स्वफलसंपादनसमर्थकर्मवित्यालक्षणाद्युदयस्थानानि ।” समयसार ।

विपाकः प्रागुपात्तानां यः शुभाशुभकर्मणाम् ।

असाधनुभवो ज्ञेयो यथानाम भवेच्च सः ॥ तत्त्वार्थसार

अपक श्रेणी में कर्मों का अय करनेवाले जीव के सर्वोत्कृष्ट स्वरूप का अवलम्बन होता है और वसवें गुणस्थान में मोहनीयकर्म सूक्ष्म होता है, किन्तु सूक्ष्ममोहनीयकर्म भी उस स्वस्वरूप का अवलम्बन करनेवाली आत्मा को सूक्ष्मकषाय उत्पन्न कराता है । इसीलिये इस गुणस्थान का नाम सूक्ष्मसाम्पराय रखा गया है । श्री अमृतचन्द्राचार्य ने इस सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान का स्वरूप इस प्रकार कहा है—

सूक्ष्मत्वेन कषायानां शमनात्क्षयणात्तथा ।

स्यात्सूक्ष्मसांपरायो हि सूक्ष्मलोभोदयानुगः ॥ २७ ॥ तत्त्वार्थसार

श्री पं० पद्मलालजी कृत अर्थ—जो कषायों के उपशमन अथवा क्षरण करने के कारण उनकी सूक्ष्मता से सहित है वह सूक्ष्मसाम्पराय नामक गुणस्थानवर्ती कहलाता है । इस गुणस्थान में रहनेवाला जीव सिर्फ संज्वलन-लोभ के सूक्ष्म उदय से युक्त होता है ।

सुबकोसुभयवत्थं, होवि अहा सुहमरायसंजुत्तं ।

एवं सुहमकसाओ सुहमसरागोत्तिगादव्वो ॥ ५८ ॥ [मो० जी०]

जिसप्रकार धुले हुए कसूमी वस्त्र में लालिमा सूक्ष्म रह जाती है, उसी प्रकार जो जीव अत्यन्त सूक्ष्मराम-लोभ कषाय से युक्त है उसको सूक्ष्मसाम्परायनामक दशमगुणस्थानवर्ती कहते हैं ।

‘गोममदसारकर्मकाण्ड’ में इस दसवें गुणस्थान में १७ प्रकृतियों का बंध बतलाया है, क्योंकि वहाँ पर सूक्ष्मसंज्वलनलोभ के उदय से सूक्ष्मराग हांता है ।

“पञ्चानां ज्ञानावरणानां यशः कीर्तेरुर्ध्वगोत्रस्य पञ्चानामन्तरायाणां च मन्दकषायान्त्राणां सूक्ष्मसाम्प-
रायो बन्धकः । तदभावाद्बुत्तरत्रतेषां संवरः ।” (सर्वार्थसिद्धि ९।१)

श्री पं० कूलचन्दजी कृत अर्थ—मन्दकषाय के निमित्त से भ्रात्रव को प्राप्त होनेवाली पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, यशःकीर्ति, उर्ध्वगोत्र और पाँच अन्तराय इन सोलहप्रकृतियों का सूक्ष्मसाम्परायजीव बंध करता है, अतः मन्दकषाय का अभाव होने से आगे इनका संवर होता है ।

बारहवें क्षीणमोहगुणस्थान में ‘कर्मादय का अवलम्बन नहीं है, अपने स्वरूप का अवलम्बन है’ फिर भी केवलज्ञान के अभाव के लिये ज्ञानावरणादिकर्म निमित्त बने हुए हैं । श्री अरहंत भगवानु की विहार आदि क्रिया में नाम कर्म तथा शरीर स्थित रहने में अर्थात् ऊर्ध्वगमन स्वभाव का घात करने में आयुर्कर्म निमित्त कारण हैं । कुन्बकुन्वाचार्य ने कहा भी है—

“गुणफला अरहंता तेसि किरिया पुणो हि ओवइया ।”

अरहंत भगवान की क्रिया निश्चय से औदयिकी हैं अर्थात् कर्मादय से होती हैं ।

आउस्स खयेण पुणो जिण्णात्तो होइ सेसपयडीणं ।

पच्छा पावइ सिग्घं लोयगं समयमेत्तेण ॥ १७६ ॥ नियमसार

आयुर्कर्म के क्षय से शेष प्रकृतियों का सम्पूर्ण नाश होता है, फिर वे शीघ्र समयमात्रमें लोकाग्रमें पहुँचते हैं ।

“आयुष्यवेदनीयोदययोर्जावोर्ध्वगमनसुखप्रतिबन्धकयोः सत्वात् ।” (धवल १।४७) जीव के ऊर्ध्वगमन-स्वभाव का प्रतिबन्धक आयुर्कर्म है ।

अत्रती सम्यक्स्वी आत्मा को अबन्धक मानना बन्ध तत्त्व विषयक भूल है

शंका—कानजीस्वामी के अभिनन्दन ग्रंथ पृ० १६२ पर श्री रामजीसाई ने लिखा है कि “अविरतसम्यग्दृष्टि के कषायों की प्रवृत्ति नहीं होने से अबन्ध है और द्रव्यलिंगी के कषाय होने से बन्धरूप है ।” क्या यह कथन ठीक है ? यदि ठीक है तो मिश्रगुणस्थान में भी अनन्तानुबन्धी व मिथ्यात्व का भी अभाव है अतः वहाँ भी अबन्ध मानना पड़ेगा जो कि किसी को भी इष्ट नहीं है ।

समाधान—अविरतसम्यग्दृष्टि के कषायों में प्रवृत्ति नहीं है, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'अविरत' शब्द ही कषायों में प्रवृत्ति का द्योतक है। कहा भी है—

गो इन्द्रियेसु विरदो, गो जीवे थावरे तसे दापि ।

गो सदृहदि जिखुत्तं सम्माइद्वी अविरदो सो ॥ २९ ॥ गो० जी०

अर्थ—जो इन्द्रियों के विषयों से तथा त्रस-स्थावरजीवों की हिंसा से विरक्त नहीं है, किन्तु जिनबाणी पर श्रद्धा करता है वह अविरतसम्यग्दृष्टि है।

चारित्रं णस्थि जदो अविरद अंतेसु ठालेसु ॥१२॥ गो० जी०

अर्थ—अविरतसम्यग्दृष्टि अर्थात् चतुर्थगुणस्थानतक चारित्र (संयम) नहीं होता है।

श्री कुन्वकुन्दाचार्य, श्री अमृतचन्द्राचार्य तथा श्री जयसेनाचार्य 'प्रवचनसार' गाथा २३७ में कहते हैं कि असंयत अर्थात् अविरत का श्रद्धान अर्थात् सम्यग्दर्शन व्यर्थ है, क्योंकि वह निर्वाण को प्राप्त नहीं कराता है।

“सदृहमाणो अत्थे असंजदा वा ण णिव्वावि ॥ २३७ ॥” प्रवचनसार

संस्कृत टीका—“असंयतस्य च यथोदितात्मतत्त्वप्रतीतिरूपश्रद्धानं यथोदितात्मतत्त्वानुभूतिरूपं ज्ञानं वा किं कुर्यात् ।”

यथा प्रदीपसहितपुरुषः स्वकीयपौरुषबलेन कूपपतनाद्यदि न निवर्तते तदा तस्य श्रद्धानं प्रदीपो दृष्टिर्वा किं करोति न किमपि । तथायं जीवः श्रद्धानज्ञानसहितोऽपि पौरुषस्थानीयचारित्रबलेन रागादिविकल्परूपावसंयमाद्यादि न निवर्तते तदा तस्य श्रद्धानं ज्ञानं वा किं कुर्यात् किमपीति ।”

अर्थ—पदार्थों का श्रद्धान करनेवाला सम्यग्दृष्टि भी यदि असंयत हो तो निर्वाण को प्राप्त नहीं होता है। आत्मतत्त्व प्रतीतिरूप श्रद्धान तथा यथोक्त आत्मतत्त्व की अनुभूतिरूप ज्ञान असंयत के क्या करेगा ? अर्थात् असंयत के आत्मतत्त्व का श्रद्धान व ज्ञानरूप सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान निरर्थक है। जैसे दीपक को रखनेवाला स्वांला पुरुष अपने पुरुषार्थ के बल से कूपपतन से यदि नहीं बचता है तो उसका श्रद्धानरूप दीपक व दृष्टिरूप ज्ञान कुछ भी कार्यकारी नहीं हुआ तैसे ही यह जीव सम्यक्श्रद्धान व ज्ञानसहित भी है, परन्तु पौरुष के स्थानभूत चारित्र के बल से रागद्वेषादि विकल्परूप असंयम (अविरति) भाव से यदि अपने को नहीं बचाता है तो सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान क्या हित कर सकते हैं कुछ भी नहीं कर सकते।

यहाँ पर यह स्पष्ट कर दिया है कि नित्र आत्मतत्त्व की श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन व निज्ज्ञानानुभूतिरूप सम्यग्ज्ञान भी हो, किन्तु चारित्र न हो तो उस अविरतसम्यग्दृष्टिजीव का सम्यग्दर्शन व ज्ञान निरर्थक है। अविरत-सम्यग्दृष्टि यदि उपवास आदि तप भी करे तो वह भी उपकारी नहीं है क्योंकि तप के द्वारा जितनी कर्म निर्जरा होगी, अविरति के कारण उससे अधिक बन्ध हो जाता है। श्री कुन्वकुन्दाचार्य तथा श्री वसुनन्दि सिद्धान्त स्रकवर्ती ने कहा भी है—

सम्मादिद्विस्स वि अविरदस्स ण तवो महागुणो होवि ।

होदि ह् हत्थिण्हाथं चुंबच्छिद कम्मं त तस्स ॥ १०।५२ ॥ मूलाचार

संस्कृत टीका—“अपगतात्मकमणो बहुतरोपादानमसंयमनिमित्तस्येति प्रदर्शनाय हस्तिस्नानोपन्यासः । चुंब-च्छिदः कर्मेव एकत्र वेष्टयत्यन्यत्रोद्वेष्टयति, तपसा निर्जरयति कर्मासंयमसाधेन बहुतरं गुह्णाति कठिनं च करोतीति ।”

अर्थ— अविरत (व्रतरहित) सम्यग्दृष्टि का तप महोपकारक नहीं है, क्योंकि तप के द्वारा जितना कर्म आत्मा से छूटता है उससे बहुत कर्म असंयम से बंध जाता है ऐसा अभिप्राय निवेदन के लिये हस्तिस्नान का दृष्टान्त है। चुंदच्छिद (लकड़ी में छेद करने वाला बर्मा) का एक पार्श्व भाग रज्जु से मुक्त होता है तो दूसरा पार्श्वभाग रज्जु से दृढ़ वेष्टित होता है, वैसे ही तप से अविरतसम्यग्दृष्टि कर्म की निर्जरा करता है, परन्तु अविरत-भाव के कारण उस निर्जरा से अधिक बहुतर कर्मों का ग्रहण होता है तथा वह कर्मबंध अधिक दृढ़ भी होता है।

इस प्रकार श्री कृष्णकुन्वाचार्य और उनके टीकाकार श्री अमृतचन्द्रादि आचार्यों ने यह स्पष्टरूप से बतलाया है कि अविरतसम्यग्दृष्टि का अज्ञान व ज्ञान लाभदायक नहीं है, क्योंकि निर्जरा से अधिक कर्मबंध होता है। श्री गौतमगणधर ने भी द्वादशांग के 'महाकर्मप्रकृतिप्राप्त' में कहा है—

“जेते बंधगा णम तेसिसिमो णिहेसो । गवियाणुवाधेण णिरयगदीएणेइया बंधा । तिरिक्खाबंधा । देव बंधा । मणुसा बंधा वि अत्थि, अबंधा वि अत्थि ।”

अर्थ—जो वे बंधक जीव हैं उनका यहाँ निर्देश किया जाता है। गतिमार्गाणा के अनुवाद से नरकगति में नारकीजीव बंधक हैं, तिर्यंच बंधक हैं, देव बंधक हैं, मनुष्य बंधक भी हैं, प्रबंधक भी हैं।

यहाँ पर श्री गौतम गणधर ने यह बतलाया है कि अविरतसम्यग्दृष्टि चतुर्थगुणस्थानतक के सर्व नारकी, सर्वदेव तथा संयतासंयत पंचम गुणस्थान तक के सर्व तिर्यंच बंधक ही हैं, कोई भी नारकी, देव या तिर्यंच प्रबंधक नहीं हैं। मनुष्यों में बंधक भी हैं, प्रबंधक भी हैं। श्री बीरसेनाचार्य बतलाते हैं कि कौन मनुष्य बंधक हैं और कौन अबन्धक हैं—

“मिच्छसासंजमकषायक्षोमाणं बन्धकारणाणं सव्वेसिमज्जोगिम्हि अभावा अजोगिणो अबंधया । मेसा सव्वे-मण्युसा बंधया, मिच्छसादिवन्धकारणासंजुत्तादो ।”

अर्थ—कर्मबंध के कारणभूत मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग हैं। अयोगकेवली चौदहवें गुणस्थान में इन सब बन्ध कारणों का अभाव होने से अयोगीजिन अबन्धक हैं, शेष सब मनुष्य बन्धक हैं, क्योंकि मिथ्यात्वादि बन्ध कारणों से संयुक्त पाये जाते हैं।

ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थानों में छद्मस्थवीतरागी के और तेरहवें गुणस्थान में सयोगकेवली के यद्यपि मिथ्यात्व, अविरत और कषाय इन बन्ध-कारणों का अभाव हो गया है तथापि बन्ध के कारण योग का सद्भाव होने से वे भी बन्धक हैं। कहा भी है—

“जे कम्मबन्धया वे बुविहा—इरियावहबंधया सांपराइयबन्धया चेवि । तत्थ जे इरियावहबन्धया ते बुविहा—छद्मत्था केवलियो चेवि । जे छद्मत्था ते बुविहा—उवसंतकसाया खीणकसाया चेवि । न सांपराइयबन्धया ते बुविहा—सूहमसांपराइया बादरसांपराइया चेवि ।”

अर्थ—जो कर्मों के बन्धक हैं, वे दो प्रकार के हैं—ईर्ष्यापथबंधक और साम्परायिकबंधक। इनमें से जो ईर्ष्यापथबंधक हैं वे दो प्रकार के हैं—छद्मस्थ और केवली। जो छद्मस्थ ईर्ष्यापथबंधक हैं वे दो प्रकार के हैं—उपशान्तकषाय—ग्यारहवें गुणस्थानवाले और क्षीणकषाय—बारहवें गुणस्थानवाले। जो साम्परायिकबंधक हैं वे दो प्रकार के हैं—सूक्ष्मसाम्परायिक और बादरसाम्परायिक।

संयतसम्यग्दृष्टि के अविरति, कषाय और योग इन तीन बंध के कारणों का सद्भाव है फिर असंयत-सम्यग्दृष्टि अबन्धक नहीं हो सकता। यदि अविरतसम्यग्दृष्टि को अबंधक माना जायेगा तो उपर्युक्त द्वादशांग के सूत्रों से विरोध प्रा जायगा।

यस्य रागोऽणुमात्रेण विद्यतेऽन्यत्र वस्तुनि ।

आत्मतत्त्व-परिज्ञानी बध्यते कलिर्लेरपि ॥ १४७ ॥ योगसार प्राभृत

अर्थ—जिसके पर-वस्तु में अणुमात्र अर्थात् अतिसूक्ष्म भी राग विद्यमान है, वह आत्मतत्त्व का ज्ञाता होने पर भी कर्मप्रकृतियों से बंधता है ।

इस पद्य में श्री अमितभति आचार्य ने यह बतलाया है कि जो योगी (मुनि) आत्मतत्त्व का परिज्ञाता तो है, परन्तु पर-वस्तु में बहुत सूक्ष्मराग भी रखता है तो वह अवश्य कर्मबंधन से बंध को प्राप्त होता है, मात्र सम्यग्दर्शन कर्मबंध रोकने में समर्थ नहीं है, उसके लिये रागद्वेष के प्रभावरूप सम्यक्चारित्र का होना भी जरूरी है ।

चतुर्थगुणस्थानवाले अविरतसम्यग्दृष्टि के लेशमात्र भी चारित्र नहीं है और रागद्वेष की बहुलता है अतः वह कर्मों से अवश्य बंधता है । अविरतसम्यग्दृष्टि के कर्मबंध नहीं होता है ऐसा कहना एक बड़ी भारी भूल है ।

दंसणणाणचरित्तं जं परिणमवे जहण्णभावेण ।

पाणी तेण दु बज्जवि पुम्मलकम्मेण विवहेण ॥ १७२ ॥ समयसार

अर्थ—जब तक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय जघन्यभाव से परिणमता है, तबतक ज्ञानी (मुनि) भी नानाप्रकार के पुद्गलकर्मों से बंधता है ।

इस गाथा में बतलाया गया है कि यथाख्यातचारित्र से पूर्व सम्यग्दृष्टिमुनि के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जघन्यभाव से परिणमते हैं अतः उस मुनि के पुद्गलकर्मों का साम्परायिकबंध होता रहता है । अविरतसम्यग्दृष्टि के तो चारित्र भी नहीं है, उसके तो कर्मों का बंध होना अवश्यभावी है । अविरतसम्यग्दृष्टि अवंधक नहीं हो सकता है ।

दंसणणाणचरित्ताणि मोक्षमगो सि सेविवन्वाणि ।

साधुहि इवं मणिवं तेहि दु बंधो व मोक्खो वा ॥ १६४ ॥ पंचास्तिकाय

अर्थ—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है इसलिये वे सेवने योग्य हैं । ऐसा साधुओं ने कहा है । परन्तु उन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से बंध भी होता है और मोक्ष भी होता है ।

इस गाथा में भी श्री कुन्वकुन्वाचार्य ने बतलाया है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र यद्यपि मोक्षमार्ग है तथापि जबतक वे जघन्यभाव से परिणमते हैं उन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से साम्परायिक कर्मबंध होता है । अविरत-सम्यग्दृष्टिके तो मात्र सम्यग्दर्शनज्ञान है और वह भी जघन्यभाव से परिणत है उसके तो साम्परायिक कर्मबंध अवश्य होता है ।

जो श्री गौतमगणधर ने द्वादशांग के 'महाकर्मप्रकृतिप्राभृत' में कहा है इसी को भी कुन्वकुन्वादि आचार्यों ने कहा है । फिर भी यदि कोई अविरतसम्यग्दृष्टि के कर्मबंध स्वीकार नहीं करता तो यह उसकी भूल है ।

—जं. ग. 31-5-70/VII/ २। ला. मित्रल

(१) बन्ध होने पर स्वतंत्रता नष्ट होकर परतन्त्रता उत्पन्न हो जाती है

(२) शरीर परमाणुरूप नहीं, स्कन्धरूप है

हांका—सोमगढ़ से प्रकाशित 'ज्ञानस्वभाव-ज्ञेयस्वभाव' पुस्तक के पृ० ७१ पर लिखा है—“शरीरादिक का प्रत्येक परमाणु स्वतंत्ररूप से परिणमित हो रहा है, उसे कोई ब्रह्म बल के ऐसा तीनकाल में भी नहीं हो

सकता ।” किन्तु इसके विपरीत भी पं० टोडरमलजी ने लिखा है—“कबहूँ तो जीव की इच्छा के अनुसार शरीर प्रवर्तते हैं । कबहूँ शरीर की अवस्था के अनुसार जीव प्रवर्तते हैं । कबहूँ जीव अन्यथा इच्छारूप प्रवर्तते हैं, पुद्गल अन्यथा अवस्थारूप प्रवर्तते हैं । इहाँ ऐसा जानना, जैसे वीर्यपुरुषनिके इकबंडी बेड़ी है । तहाँ एक पुरुष गमनावि किया चाहै अर दूसरा भी गमनावि करे तो गमनावि होय सकै, बोजनिविषं एक बैठि रहै तो गमनावि होय सके नाहीं अर बोजनिविषं एक बलवान होय तो दूसरे को भी घीस लेजाय । तैसे आत्मा के अर शरीराविकरूप पुद्गल के एक क्षेत्रावगाहरूप बंधान है तहाँ आत्मा हलनचलनावि किया चाहै अर पङ्गलु तिस शक्ति करि रहित हुआ हलनचलन न करे वा पुद्गलविषं शक्ति पाइए है आत्मा की इच्छा न होय तो हलनचलनावि न होय सकै । बहुदि इनि विषं पुद्गल बलवान होय हाले-चाले तो ताकी साथि बिना इच्छा भी आत्मा आवि हाले चाले ।” प्रश्न यह है कि शरीर क्या परमाणुरूप है या स्कन्धरूप है ? और शरीर का परिणमन किस रूप हो रहा है ?

समाधान—श्री उमास्वामी आचार्य ने “अणवः स्कन्धाश्च ॥५१२५॥” सूत्र द्वारा यह बतलाया है कि पुद्गलद्रव्य दो प्रकार का है अथवा पुद्गल की दो पर्यायें हैं एक अणुरूप और दूसरी स्कन्धरूप । इसी बात को श्री कुन्वकुन्वाचार्य ने नियमसार में कहा है—

“अणुखंडवियप्येण तु पोगलदध्वं ह्वेइ दुवियप्यं ।”

परमाणु और स्कन्ध के भेद से पुद्गलद्रव्य दो प्रकार का है ।

अणुगिरावेषखो जो परिणामो सो सहावपञ्जावो ।

खंडसकृदेण पुणो परिणामो सो विहावपञ्जावो ॥२८॥ [नियमसार]

संस्कृत टीका—परमाणुपर्यायः पुद्गलस्य शुद्धपर्यायः । स्कन्धपर्यायः स्वजातीयबन्धलक्षणलक्षितत्वाद-शुद्धः इति ।

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि अणुद्रव्य निरपेक्ष होने से परमाणुरूप पर्याय पुद्गल की स्वभावपर्याय अर्थात् शुद्धपर्याय है । स्वजातीयबंध के कारण स्कन्धरूप पर्याय पुद्गल को विभावपर्याय अर्थात् अशुद्धपर्याय है ।

श्री अमृतचन्द्राचार्य भी ‘तत्त्वार्थसार’ के तीसरे अधिकार में कहते हैं—

द्व्यणुकाद्याः क्लिप्तान्ताः पुद्गलानामनेकधा ।

सन्त्यचिसमहास्कन्धपर्यन्ता बन्धपर्यायाः ॥ ७६ ॥

अर्थ—द्व्यणुक को आदि करके अचित्तमहास्कन्धपर्यन्त पुद्गल की अनेकप्रकार की बंधपर्यायें हैं । शरीर-बंधरूप स्कन्धपर्याय हैं । जब पुद्गल की शरीररूप स्कन्धपर्याय होती है उससमय परमाणुरूप पर्याय का अभाव रहता है, क्योंकि पर्यायें क्रमवर्ती होने से एककाल में एक ही पर्याय विद्यमानरूप रहती है । एककाल में एकद्रव्य की एक से अधिक द्रव्यपर्याय विद्यमान नहीं रह सकती । अतः शरीररूप स्कन्धपर्याय में परमाणुरूप पर्याय की विद्यमानता और उसकी स्वतंत्रता का स्वप्न देखना उचित नहीं है ।

शरीर पुद्गल की बंधरूप पर्यायें हैं । श्री उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५ में “बंधेऽधिको पारिणामिको च ॥ ३७ ॥” इस सूत्र द्वारा यह बतलाया है कि बंध होने पर जो अधिक गुणवाला है वह पारिणामिक अर्थात् परिणमन कराने वाला होता है ।

“यथा आर्द्रो गुडः अधिकमधुररसः स पारिणामिकः तदुपरि ये रष्यावय पतन्ति ते भावान्तरम् तेषामुपादानं क्लिप्तो गुडः करोति, अन्येषा रेष्यादीनां स्वगुणमुत्पाद्यति परिणामयतीति पारिणामिकः, परिणामक एव पारिणामिकः ।” तत्त्वार्थवृत्ति पृ० २०६ ।

जैसे अधिक मधुररसवाला गीला गुड़ पारिणामिक (परिणामन कराने वाला) होता है उस गीले गुड़ पर जो घूल आदि गिरती है वे घूल-कण भावान्तर अर्थात् गुड़रूप परिणाम जाते हैं गीला गुड़ उन घूल-कण को ग्रहण करके अपने गुणरूप अर्थात् मधुररसरूप परिणामाता है इसलिये गीला गुड़ परिणामक अर्थात् पारिणामिक है । जैसे वह अधिक गुणवाला गुड़ पारिणामिक परिणामन करानेवाला होता है उसीप्रकार अन्य भी अधिकगुण वाले अल्प गुणवाले को परिणामाते हैं ।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी 'तत्त्वार्थसार' में कहा है—

बन्धेऽधिकगुणो यः स्यात्सोऽन्यस्यपारिणामिकः ।

रेणोरधिकमाधुर्यो दृष्टः क्लिप्तस्य गुडो यथा ॥ ७५ ॥ [तत्त्वार्थसार]

बंध होने पर जो अधिक गुणवाला है वह हीन गुणवाले को अपने रूप परिणाम लेता है । जैसे अधिक मिठास से युक्त गीला गुड़ घूल को अपनेरूप परिणामाता हुआ देखा जाता है ।

अतः सोनगढ़ वालों की यह मान्यता कि 'शरीरादिक का प्रत्येक परमाणु स्वतंत्ररूप से परिणामित हो रहा है, उसे कोई दूसरा बदल दे ऐसा तीनकाल में भी नहीं हो सकता, उपयुक्त आगम से विरुद्ध है । बन्ध हो जाने पर स्वतन्त्रता नष्ट हो जाने से परतंत्र हो जाता है । शरीर भी पुद्गल की बंधरूप स्कन्ध पर्याय है ।

जं. ग. ४-२-७३/VII & VIII/ सुलतानसिंह

दो अमूर्तिक द्रव्यों का बन्ध (संबन्ध) नहीं होता

शंका—दो अथवा दो से अधिक अमूर्तिक द्रव्यों के परस्पर सम्बन्ध होने पर क्या कोई तीसरी अमूर्तिक वस्तु उत्पन्न हो सकती है, जिस प्रकार कि मूर्तिक परमाणुओं के परस्पर बन्ध से विभिन्न मूर्तिक वस्तुओं का उद्भव होता है ।

समाधान—दो अमूर्तिक द्रव्यों का परस्पर बन्ध नहीं होता अतः तीसरी अमूर्तिक वस्तु के उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता । श्री प्रवचनसार गाथा ९३ की टीका में कहा भी है—अनेकद्रव्यात्मकंश्चप्रतिपत्तिनिबन्धनो द्रव्यपर्यायः । स द्विविधः, समानजातीयोऽसमानजातीयश्च । तत्र समानजातीयो नाम यथा अनेकपुद्गलात्मको द्वघणु-कस्त्व्यणुकः इत्यादि असमानजातीयो नाम यथा जीवपुद्गलात्मको देवो मनुष्य इत्यादि ।

अर्थ—अनेक द्रव्यात्मक एकता की प्रतिपत्तिका कारणभूत द्रव्यपर्याय है । वह दो प्रकार है— (१) समानजातीय (२) असमानजातीय । समानजातीय वह है जैसे कि अनेक पुद्गलात्मक द्वि-अणुक, त्रिघणुक इत्यादि । असमानजातीय वह है जैसे कि जीव पुद्गलात्मक देव, मनुष्य इत्यादि—नोटः—यहाँ पर दो या अधिक अमूर्तिक द्रव्यात्मक एकता की प्रतिपत्ति को कारणभूत ऐसी कोई द्रव्यपर्याय नहीं कही है । पुद्गल की पुद्गल के सम्बन्ध से तथा जीवपुद्गल के सम्बन्ध से दो प्रकार की ही द्रव्यपर्याय कही गई है, तीसरे प्रकार की कोई द्रव्य-पर्याय नहीं कही है । अतः दो अमूर्तिक द्रव्यों के सम्बन्ध से कोई द्रव्यपर्याय उत्पन्न नहीं होती ।

—जं. सं. ६-९-५६/VI/ वी. एल. पद्म मुजालपुर

संवर तत्त्व

संवर निर्जरा के हेतु

शंका— संवर और निर्जरा करने के लिये क्या-क्या करना होगा ? उसके लिये क्या-क्या आवश्यक है ?

समाधान— संवर और संवरपूर्वक निर्जरा ये दोनों मोक्षमार्ग हैं, क्योंकि बंध के कारणों का अभाव तथा निर्जरा इन दोनों के द्वारा समस्तकर्मों का अत्यन्त क्षय हो जाना ही तो मोक्ष है। कहा भी है—

“बंधहेत्वाभावनिर्जाराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥२॥” (त० सू० अ० १०)

बंध के हेतु (कारण) के अभाव ही का नाम संवर है। जिन-जिन प्रकृतियों के बंध के हेतु का अभाव हो जायगा उन-उन प्रकृतियों का संवर हो जायगा, जैसे मिथ्यात्वोदय से सोलह प्रकृतियों का बंध होता है और अनन्तानुबंधी कषायचतुष्क के उदय में २५ प्रकृतियों का बंध होता है। सम्यग्दर्शन हो जाने पर मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषायचतुष्क के उदय का अभाव हो जाने के कारण, उनके हेतु से बंधने वाली ४१ प्रकृतियों का बंध रुक जाता है अर्थात् संवर हो जाता है। इसीप्रकार अन्य कषायोदय तथा योग इनके अभाव में भी संवर हो जाता है।

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच बंध के कारण हैं जैसा तत्त्वार्थसूत्र अष्टम अध्याय में कहा है—

“मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः ॥ १ ॥”

जब ये पाँच बंध के कारण हैं तो उनके प्रतिपक्षी 'सम्यग्दर्शन, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग' मोक्ष के कारण होने चाहिये अर्थात् संवर और निर्जरा के कारण हैं। श्री विद्यानन्द स्वामी ने श्लो. वा. अ. ८ सूत्र १ की टीका में कहा है—

तद्विपर्ययतो मोक्षहेतवः पंचसूत्रिताः ।
सामर्थ्यादत्र नातोस्ति विरोधः सर्वथा गिराम् ॥ ३ ॥

अर्थ— मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इनसे उल्टे सम्यग्दर्शन, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग ये पाँच मोक्ष के कारण कहे गये हैं। यहाँ पर यह अर्थ सामर्थ्य से निकलता है, इसमें कोई विरोध नहीं है। ऐसा दिव्यध्वनि में कहा गया है।

सम्यग्दर्शन हो जाने पर ४१ प्रकृतियों का संवर हो जाता है। देशप्रत हो जाने पर दस प्रकृतियों का, महाप्रत होने पर चार प्रकृतियों का, अप्रमत्त होने पर ६ प्रकृतियों का, अकषाय होने पर ५९ प्रकृतियों का और अयोग होने पर एक प्रकृति का संवर हो जाता है। इसप्रकार सम्यग्दर्शनादि पाँच कारणों के द्वारा समस्त १२० बंधयोग्य प्रकृतियों का संवर हो जाता है।

अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य ये तीनों संवर और निर्जरा के कारण हैं। तत्त्वार्थसूत्र प्रथम अध्याय में कहा भी है—

‘सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥’

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता मोक्षमार्ग है, अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के द्वारा संवर और निर्जरा होती है। सम्यग्दर्शन और चारित्र की प्राप्ति का उपाय निम्नप्रकार है—

जब तक यथार्थ ज्ञान, ध्यान की प्राप्तिरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न हुई हो तब तक तो जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है ऐसे जिन-वचनों का सुनना, धारण करना तथा जिनवचन के कहने वाले भी जिन-गुरु की भक्ति, जिनबिंब का दर्शन इत्यादि व्यवहार मार्ग में प्रवृत्त होना प्रयोजनवान है और जिसके ध्यान ज्ञान तो हुआ तथा साक्षात् प्राप्ति न हुई तब तक पूर्व कथित कार्य, परद्रव्य का आज्ञास्वन छोड़नेरूप अणुव्रत महाव्रत का ग्रहण समिति, गुप्ति, पंचपरमेष्ठो का ध्यानरूप प्रवर्तन, उसीतरह प्रवर्तन वालों की संगति करना और विशेष जानने के लिये शास्त्रों का अभ्यास करना इत्यादि व्यवहारमार्ग में आप प्रवर्तना तथा अन्य को प्रवर्तना ऐसे व्यवहारनय का उपदेश अंगीकार करना प्रयोजनवान है। व्यवहारनय को कश्चित् असत्यार्थ कहा गया है। यदि सब असत्यार्थ जानकर छोड़ दें तो शुभोपयोगरूप व्यवहार छोड़े और शुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति हुई नहीं इसलिये उलटा अशुभोपयोग में आकर छष्ट हुआ यथा कश्चित् स्वेच्छारूप प्रवर्तन तब नरकाविगति तथा परम्परा निगोव को प्राप्त होकर संसार में ही भ्रमण करता है। इस कारण साक्षात् शुद्धनयका विषय जो शुद्ध आत्मा उसकी प्राप्ति जबतक न हो तबतक व्यवहारनय भी प्रयोजनवान है। ऐसा स्याद्वादमत में भी गुरु का उपदेश है।

(समयसार पृ० २७ रायचन्द्र ग्रन्थमासा)

इसी बात को भी अमृतचन्द्र आचार्य निम्न कलश के द्वारा कहते हैं—

उभयनयविरोध एवंसिनि स्यात्पदांके,
जिनवचसि रमते ये स्वयं वांतमोहा।
सपवि समयसारं ते परं ज्योतिश्चक्रे,
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षंत एव ॥ ४ ॥

पं० जयचन्द्रजी कृत अर्थ—निश्चय-व्यवहाररूप जो दो नय उनके विषय के भेद से आपस में विरोध है। उस विरोध के दूर करनेवाला स्यात्पद कर चिह्नित जो जिन भगवान का वचन, उसमें जो पुरुष रमते हैं—प्रचुर प्रीतिसहित अभ्यास करते हैं वे पुरुष बिना कारण अपने आप मिथ्यात्व कर्म के उदय का वमनकर इस अतिशयरूप परमज्योति प्रकाशमान शुद्धआत्मा को मीत्र ही अवलोकन करते हैं। कौसा है समयसाररूप शुद्धआत्मा ? नवीन नहीं उत्पन्न हुआ है—पहिले कर्म से आच्छादित था वह प्रगट ध्यक्तरूप हो गया है। फिर कौसा है—सर्वथा एकान्तरूप कुनय की पक्षकर खंडित नहीं होता, निर्बाध है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये निश्चय या व्यवहार के एकान्त पक्ष का त्यागकर अर्थात् किसी भी एक नय का सर्वथा एकान्तपक्ष ग्रहण नहीं करके स्याद्वादमयी जिनवचनरूप आर्षग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए तथा जिन-गुरु (निग्रन्थगुरु) व जिनदेव के दर्शन और भक्ति करनी चाहिये।

अथवा पंचमहाव्रत, तीन गुप्ति, पाँच समिति, दस धर्म, द्वादश अनुप्रेक्षा; बाईस परिषदों को जीतना, पाँच पापों के त्यागरूप चारित्र और अंतरंग व बहिरंग तप द्वारा संवर व निर्जरा होती है। कहा भी है—

वदसमिदोगुत्तीओ धम्माणुपेहा परिषहजओ य ।

चारिस्सं बहुभेया णायग्वा भाव संवरविसेसा ॥३५॥ (वृ० इ० सं०)

अर्थ—पाँच व्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा बाईस परीषह—जय तथा अनेक प्रकार का चारित्र्य इस तरह ये सब भावसवर के विशेष भेद जानने । इनसे द्रव्यसंवर होता है ।

—जै. ग. 13-8-64/IX/ वसंतकुमार

प्रतिमाधारी एवं आर्थिकाओं के संवर में विशेषता

शंका—फरवरी १९६६ के 'सन्मति संदेश' में पृ० १२ पर यह प्रश्न है कि "जितना संवर पहली प्रतिमा वाले के होता है उतना ही संवर आगे की प्रतिमा वालों के व आर्थिकाओं के होता है सो कैसे ?" इसके उत्तर में श्री पं० कूलचन्वजी ने यह लिखा है कि "पाँचवें गुणस्थान में चारित्र्यसम्बन्धी विशुद्धि में तारतम्य है, सबके एक समान विशुद्धि नहीं होती । इसलिए उत्तरोत्तर संवर में भी विशेषता जान लेनी चाहिये ।" असुर्ग गुणस्थान में ४१ प्रकृतियों का संवर है और इसमें मनुष्यगति आदि वस प्रकृतियों के मिल जाने से पाँचवें गुणस्थान में ५१ प्रकृतियों का संवर होता है । अब प्रश्न यह है क्या प्रथम प्रतिमा में ५१ प्रकृतियों से कुछ कम प्रकृतियों का संवर रहता है और ग्यारहवीं प्रतिमा में या आर्थिकाओं के ५१ से अधिक प्रकृतियों का संवर होता है ?

समाधान—मिथ्यात्वकर्म से १६ प्रकृतियों का आस्रव होता है, अनन्तानुबन्धी कषाय से २५ प्रकृतियों का आस्रव होता है और अप्रत्याख्यानानवरणकषाय से १० प्रकृतियों का आस्रव होता है । दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व कर्पोदय का अभाव है, इसलिये मिथ्यात्वकर्मसम्बन्धी १० प्रकृतियों का आस्रव न होने से दूसरे गुणस्थान में १० प्रकृतियों का संवर है । तीसरे व चौथे गुणस्थानों में मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धीकषाय इनका उदय नहीं है, अतः इन दोनों गुणस्थानों में मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धीसम्बन्धी ४१ प्रकृतियों का आस्रव नहीं होता है, अर्थात् तीसरे और चौथे गुणस्थानों में ४१ प्रकृतियों का संवर है । पाँचवें गुणस्थान में अर्थात् प्रथम प्रतिमा से ग्यारहवीं प्रतिमा तक सभी प्रतिमाओं में अप्रत्याख्यानानवरणकषाय का उदय भी नहीं रहता अतः इन सब प्रतिमाओं में अप्रत्याख्यानानवरणकषायसम्बन्धी १० प्रकृतियों का आस्रव भी नहीं होता । पंचमगुणस्थानवर्ती सभी प्रतिमा वालों के तथा आर्थिकाओं के ५१ प्रकृतियों का ही संवर होता है, हीनाधिक प्रकृतियों का संवर नहीं होता है । घवल्ल पु० ८ सूत्र ७ व ८ तथा १५, १६, १७, १८ में इन प्रकृतियों के नाम का निर्देश है ।

यद्यपि पंचम गुणस्थान में प्रति प्रतिमा उत्तरोत्तर विशुद्धता बढ़ती जाती है, जिसके कारण स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध में अंतर पड़ता है तथापि संवरसंबन्धी ५१ प्रकृतियों की संख्या में कोई विशेषता नहीं है ।

—जै. ग. 4-4-66/IX/ ट. ला. जैन

निर्विकल्प ध्यान के बिना भी संवर-निर्जरा

शंका—क्या निर्विकल्प ध्यान के बिना संवर तथा निर्जरा नहीं होती ?

समाधान—शुभ परिणामों से भी कर्मों का संवर व निर्जरा होती है । कहा भी है—

'सुह-सुदपरिणामेहि कम्मखयाभावे तक्खयाणुववत्तीवो ।' जयघवल्ल पु० १ पृ० १

अर्थ—यदि शुभ और शुद्ध परिणामों से कर्मों का क्षय (निर्जरा) न माना जाय तो फिर कर्मों का क्षय हो नहीं सकता ।

'अरहंतणमोक्षकारी संपहिंबंधावो असंखेज्जगुणकम्मबन्धकारओ त्ति तत्त्व वि पुणीणं पवुत्तिप्पसंगादो ।'

अथधवल पु० १ पृ० ९

अर्थ—अरहंत—नमस्कार तत्कालीनबन्ध की अपेक्षा असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा का कारण है, इसलिये उसमें भी (अरहंत-भक्ति में भी) मुनियों की प्रवृत्ति होती है ।

इन आगमवाक्यों से सिद्ध है कि निर्विकल्पध्यान के बिना भी अरहंतभक्ति आदि के द्वारा भी कर्मों का संवर व निर्जरा होती है ।

—जै. ग. 4-1-68/VII/ श्र. कृ. बड़जात्या

(१) संवर का स्वरूप, हेतु, आस्रव के हेतु

(२) गुप्ति आदि से पुण्य व पाप दोनों का संवर

शंका—आस्रव के निरोध को संवर कहते हैं । क्या बन्ध के निरोध को भी संवर कह सकते हैं ? यदि हाँ तो दोनों में कौन अधिक ठीक है ? संवर का कारण गुप्ति, समिति, धर्म, परोक्षहृजय व चारित्र्य कहा है । सो क्या ये पुण्य आस्रव के भी कारण हैं ? यदि नहीं तो पुण्यास्रव का कौन कारण है ? यदि हाँ तो संवर और पुण्य आस्रव के एक ही कारण कैसे होते हैं ?

समाधान—आस्रव के निरोध को संवर कहते हैं । मोक्षशास्त्र अ० ६ सूत्र १ । बन्ध के निरोध को बन्ध-व्युच्छिन्ति कहते हैं । आस्रवपूर्वक बन्ध होता है । संवर हो जाने पर बन्ध-व्युच्छिन्ति तो बिना कथन किये भी सिद्ध हो जाती है । सात तत्त्वों में इसी कारण संवर तत्त्व कहा है । गुप्ति आदि संवर के कारण हैं । जिस कर्मोदय से जिन-जिन प्रकृतियों का बन्ध होता है उस-उस प्रकृति के उदय के अभाव में उससे बंधने वाली प्रकृतियों का संवर हो जाता है । जैसे मिथ्यात्वोदय से १६ प्रकृतियों का और अनन्तानुबन्धीचतुष्क के उदय से २५ प्रकृतियों का बन्ध होता था । इनके उदय के अभाव में १६ व २५ प्रकृतियों का संवर व बन्ध-व्युच्छिन्ति ही जाती है । मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धीचतुष्क का अभाव पुण्यप्रकृतियों के आस्रव के कारण नहीं है । जिस-जिस गुणस्थान में जो कषाय व योग है वह आस्रव का कारण है और जितनी कषाय का अभाव है वह संवर व निर्जरा का कारण है । गुप्ति आदि कषायों के अभाव स्वरूप हैं, अतः वे संवर का कारण हैं, किन्तु उस समय जो कषाय व योग हैं वे पुण्यास्रव के कारण हैं । दसवें गुणस्थान तक पुण्य व पाप दोनों प्रकार की प्रकृतियों का आस्रव होता रहता है । ११ वें १२ वें १३ वें इन तीन गुणस्थानों में केवल सातावेदनीयरूप पुण्यप्रकृति का आस्रव होता है; क्योंकि वहाँ पर कषायोदय का अभाव है । गुप्ति आदि से मात्र पापप्रकृतियों का संवर होता हो सो भी बात नहीं, किन्तु देवायु व देवगति आदि पुण्यप्रकृतियों का भी संवर सातवें, आठवेंगुणस्थान में होता है । पाँचवें गुणस्थान में मनुष्यायु व मनुष्यगति आदि छह पुण्य प्रकृतियों का संवर होता है और चौथे गुणस्थान में तिर्यंचायुर्गुण्यप्रकृति का संवर हो जाता है ।

—जै. ग. 9-1-64/IX/ र. ला. जैन

सविकल्पपावस्था में भी संवर तत्त्व सम्भव है

शंका—संवर तत्त्व क्या सविकल्प अवस्था में भी संभव है ?

समाधान—सविकल्प अवस्था में भी संवरतत्त्व संभव है । मिथ्यात्व कर्मोदय से जिनप्रकृतियों का आस्रव होता था, सासादनादि गुणस्थानों में मिथ्यात्वोदय के अभाव में उनका संवर हो जाता है । इसीप्रकार अनन्तानु-बन्धी आदि कर्मोदय के कारण जिन कर्मप्रकृतियों का आस्रव होता है, उन-उन कर्मोदय के अभाव में उन-उन प्रकृतियों का संवर हो जाता है ।

“मिथ्यादर्शनप्राधान्येन यत्कर्म आस्रवति तस्मिन्निरोधाच्छेपे सासादनसम्यग्दृष्ट्यावो तत्संवरो भवति । किं पुनस्तत् ? मिथ्यात्वानुसकवेद नरकायुर्मरकगत्येकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिदृष्ट संस्थानासम्प्राप्तासृपाटिकासंहनननरकगतिप्रायोग्यानुपुष्यतिपस्थावरसूक्ष्मपर्याप्तकासाधारणशरीरसंज्ञक षोडशप्रकृति लक्षणम् ।” सर्वार्थसिद्धि १।१ ।

अर्थ— मिथ्यादर्शन की प्रधानता से जिन कर्मों का आस्रव होता है, उनका मिथ्यादर्शन के प्रभाव में सासादन आदि शेष गुणस्थानों में संवर होता है। मिथ्यात्व, नपुंसकवेद, नरकायु, नरकगति, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, दृष्टसंस्थान, असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्तक और साधारणशरीर इन सोलह कर्मप्रकृतियों का दूसरे आदि गुणस्थानों में संवर होता है।

निदानिद्रा आदि २५ प्रकृतियों का आस्रव अनन्तानुबन्धीकर्मोदय से होता है। तीसरे आदि गुणस्थानों में अनन्तानुबन्धी उदयाभाव में इन २५ कर्म प्रकृतियों का संवर हो जाता है अर्थात् सम्यग्मिथ्यादृष्टि तीसरे गुणस्थान में और असंयतसम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान में (१६ + २५) ४१ कर्मप्रकृतियों का संवर होता है।

दूसरे, तीसरे, चौथे गुणस्थानों में सविकल्पअवस्था होते हुए भी संवरतत्त्व पाया जाता है।

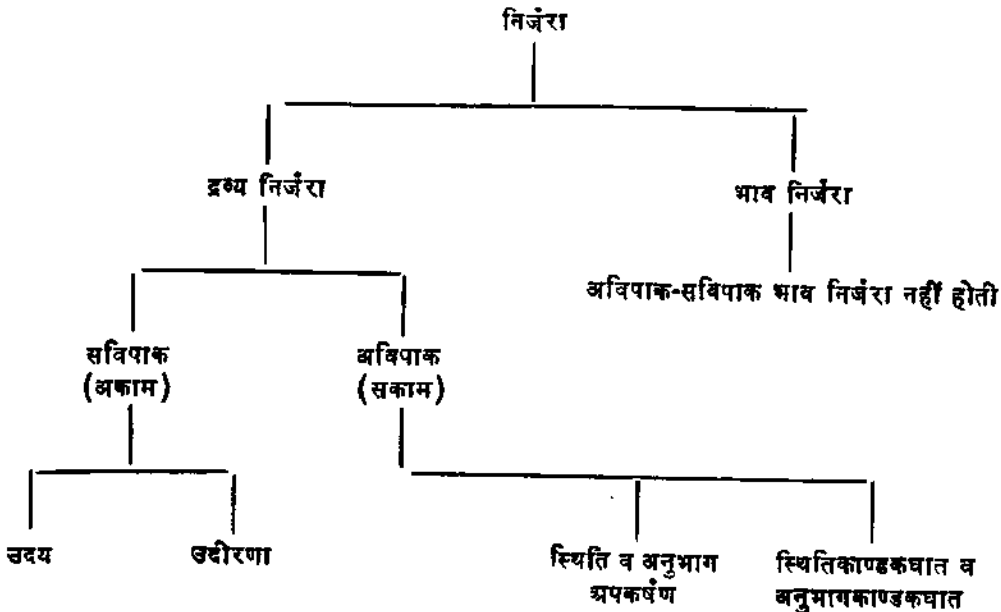
—जं. ग. 2-11-72/VII/ टोपनलाल

निर्जरातरव

निर्जरा के भेदोपभेदों का विवेचन

शंका—द्रव्यनिर्जरा के कितने भेद होते हैं ? सविपाक-अविपाक किसके भेद हैं, द्रव्यनिर्जरा के वा भाव-निर्जरा के ? क्या भावनिर्जरा के सविपाक-अविपाक भेद नहीं किये जा सकते हैं ? स्थितिकाण्डकघात तथा अनु-भागकाण्डक से संजात निर्जरण किसमें अन्तर्भूत किया जा सकता है ? ध्वल पु० १२।४६८ पर जो कथन है वह अतिशयविशुद्धियुक्त मिथ्यात्वियों की अपेक्षा है। यहाँ ‘अतिशयविशुद्धियुक्त’ से क्या अभिप्राय ?

समाधान—निम्नलिखित विवरण से एतद्विषयक स्पष्टीकरण हो जायगा—



ध्वत्स पु० १२ पृ० ४६८ पर जो निर्जरा का कथन है वह सम्यग्दृष्टि तथा घतिशयविशुद्धियुक्त, अर्थात् सम्यक्त्व के अभिमुख मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा कथन है। सम्यक्त्व के अभिमुख मिथ्यादृष्टि के प्रायोग्यलब्धि में ४६ प्रकृतियों का संवर हो जाता है। तथा अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण (करणलब्धि) में अविपाकद्रव्यनिर्जरा विशुद्धपरिणामों द्वारा होती है। अन्य मिथ्यादृष्टियों के उदय व उदीरणा द्वारा सविपाकनिर्जरा होती है।

—पत्र 27-4-74/...../ ज. ला. जैन भीण्डर

अविपाक निर्जरा का स्वरूप, उत्पत्ति—गुणस्थान तथा द्रव्यनिर्जरा के भेदों के विवेचन

शंका—अविपाक भाव निर्जरा किसे कहते हैं ? कौन से गुणस्थान से चालू होती है ?

समाधान—आत्मा के जिन भावों अर्थात् परिणामों के द्वारा अनुदय प्राप्त कर्मों का गालन किया जाता है, उन परिणामों को अविपाकनिर्जरा कहते हैं। इन परिणामों में तप की मुख्यता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य, द्वादश अनुप्रेक्षा, परीषहजय, उपसर्ग-जय, विषय-कषाय-जय आदि भावों के द्वारा अविपाकनिर्जरा होती है, स्वामि-कातिकेयानुप्रेक्षा गा० १०६ से ११४।

यह निर्जरा प्रथमोपशमसम्यक्त्व के अभिमुख जीव के अपूर्वकरण से प्रारम्भ होती है। कहा भी है—

“प्रथमोपशमसम्यक्त्वोत्पत्तौ करणत्रय परिणाम चरमसमये वर्तमानविशुद्धिविशिष्ट-मिथ्यादृष्टेः आपुर्वजित ज्ञानावरणादि सप्तकर्मणा यद्गुणभ्रंणिनिर्जराद्रव्यम्।”

इस मिथ्यादृष्टि के विशिष्ट विशुद्ध परिणाम अविपाकनिर्जरा के कारण हैं। इस अविपाक निर्जरा में कर्म निर्जरा रस होकर भड़ते हैं।

शंका—सविपाकनिर्जरा और अविपाकनिर्जरा ये दो भेद द्रव्यनिर्जरा और भावनिर्जरा इन दोनों के हैं या किसी एक के ?

समाधान—सविपाकनिर्जरा और अविपाकनिर्जरा ऐसे दो भेद द्रव्यकर्म-निर्जरा के हैं। कहा भी है—
“निर्जरा वेदना विपाक इत्युक्तम्। सा द्वेषा अबुद्धिपूर्वा कुशलमूला चेति। तत्र नरकाविषु कर्मफलविपाकजा अबुद्धि-पूर्वा, सा अकुशलानुबन्धी परिषहजये कृते कुशलमूला, सा शुभानुबन्धा निरनुबन्धा चेति।” त. राज. ९।७।७।

वेदना के विपाक को निर्जरा कहते हैं। निर्जरा दो प्रकार की है (१) अबुद्धिपूर्वा (२) कुशलमूला। नरकादि गतियों में कर्मफल विपाक से होनेवाली अबुद्धिपूर्वा निर्जरा होती है, जिससे अकुशल (अकल्याणकारी कर्म) का बंध होता है। परीषहजय आदि से कुशलमूला (कल्याणकारी) निर्जरा होती है, जो शुभ का बंध कराती है या बंध बिलकुल ही नहीं कराती।

“पूर्वाजितकर्म परित्यागो निर्जरा। सा द्विप्रकारा वेदितव्या। कुतः ? विपाकजेतरा चेति। तत्र चतुर्गता-अनेकजातिविशेषावसृणिते संसारमहार्थवे चिरं परिस्रमतः शुभाशुभस्य कर्मण औदयिकभावोदीरितस्य क्रमेण विपाक-कालप्राप्तस्य धरय यथा सबसद्वैद्यतान्धतरविकल्पबद्धस्य तस्य तेन प्रकारेण विद्यमानस्य यथानुभवोदयावतिल्लोतोऽनु-प्रविष्टस्यारब्धफलस्य स्थितिक्षयाबुदयागतपरिभुक्तस्य या निवृत्तिः सा विपाकजा निर्जरा। यत्कर्मप्राप्तविपाककाल-सौपरक्रमिक क्रियाविशेषसामर्थ्यावनुवीर्णं बलावुवीर्यं उदयावर्तिल प्रवेश्य वेद्यते भाष्यप्रसविपाककत्वसा अविपाकनिर्जरा। (रा० वा० ८।२३) ‘तपसा हि अभिनवकर्मसंबन्धाभावः पूर्वोपचितकर्मक्षयश्च अविपाकनिर्जराप्रतिज्ञानात्।”

रा० वा० ९।३।

पूर्वोपाजितकर्म का ऋजुजाना निर्जरा है। वह निर्जरा दो प्रकार की है (१) विपाकजा (२) अविपाकजा। चतुर्गन्तिमहासागर में चिर परिभ्रमणशील प्राणी के शुभाशुभ कर्मों का औदयिकभावों से उदयावलि में यथाकाल प्रविष्ट होकर, जिसका जिसरूप से बन्ध हुआ है उसका उसी रूप से स्वाभाविक क्रम से फल देकर स्थिति समाप्त करके, निवृत्त हो जाता विपाकजा निर्जरा है। जिन कर्मोंका उदयकाल नहीं आया है, उन्हें भी तप विशेष आदि से बलात् उदयावलि में लाकर पका देना अविपाक निर्जरा है। जैसे कि कच्चे आम या पनसफल को प्रयोग से पका दिया जाता है। तप के द्वारा तूतन कर्मबन्ध रककर पूर्वोपचित कर्मों का क्षय भी होता है, क्योंकि तप से अविपाक-निर्जरा होती है।

इसप्रकार जो कर्म अपने उदयकाल में उदय में आकर फल देकर ऋजु जाता है, वह विपाकजा निर्जरा है। यह विपाकजा निर्जरा सब संसारीजीवों के अबुद्धिपूर्वक होती है और इससे अकल्याणकारी कर्मों का बन्ध होता है। तप आदि के द्वारा जो कर्म उदयकाल से पूर्व उदय में लाकर निर्जरा को प्राप्त करा दिये जाते हैं, वह अविपाकजा निर्जरा है। यह अविपाकनिर्जरा बुद्धिपूर्वक होती है और कुशलमूला है, क्योंकि इस निर्जरा से या तो शुभकर्म का बन्ध होता है या बन्ध नहीं होता। विपाकजा निर्जरा अबुद्धिपूर्वक होती है अतः उसमें आत्मा के तप आदिक भाव कारण नहीं होते हैं। अविपाकजा निर्जरा में आत्मा के तप आदि भाव कारण पड़ते हैं, अतः भावनिर्जरा अविपाक-निर्जरा है। किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार से विपाक और अविपाकनिर्जरा का कथन पाया जो इसप्रकार है—

प्रक्षयः पाकजातायां पक्वस्यैव प्रजायते ।

निर्जारायानपक्वायां पक्वापक्वस्य कर्मणः ॥२॥ योगसार प्राभृत

विपाकजा निर्जरा में पके हुए कर्मों की निर्जरा (क्षय) होती है। अविपाकजा निर्जरा में पके हुए और बिना पके हुए कर्मों की निर्जरा होती है।

अविपाकनिर्जरा में, पक्वकर्म और अपक्वकर्म, इन दोनों प्रकार के कर्मों का रस (अनुभाग) निर्जीर्ण कर दिया जाता है अतः उसको अविपाकनिर्जरा कहा है, किन्तु पक्वकर्म की अपेक्षा वह अविपाकनिर्जरा अविपाक भी है, क्योंकि कर्म यथाकाल उदय में आ रहा है।

—जै. ग. 31-10-74/X/ ज. ला. जैन श्रीण्डर

गुणश्रेणीनिर्जरा अविपाक निर्जरा है

शंका— गुण श्रेणी में जो द्रव्य निर्जरा होती है, क्या वह अविपाकनिर्जरा है ?

समाधान— गुणश्रेणी निर्जरा में अनुभाग क्षय होकर प्रदेश (द्रव्य) निर्जरा होती है अतः असंख्यातगुण-श्रेणीनिर्जरा में अविपाकनिर्जरा संभव है। कहा भी है—

“विसोहीहि अनुभागकखण पवेस णिज्जरा ।” ध० पु० १२ पृ० ७९ ।

विशुद्धियों के द्वारा अनुभागक्षय होता है और उससे प्रदेशनिर्जरा होती है। इसके निम्नलिखित ११ स्थान हैं—

सम्मुत्पत्ती वि य सावय विरवे अणंतकम्मसे ।

वंसणमोहकखण कसय उवसामए य उवसंते ॥७॥

खवए य खीणसोहे जिरणे य नियमा सवे असंखेजजा ।

(१) सम्पत्कृत्वात्पत्ति (२) श्रावक, (३) महाव्रती, (४) अनन्तानुबन्धोकषाय का विसंयोजक, (५) दर्शन-मोहक्षपक, (६) चारित्र्यमोह उपशामक, (७) उपशान्त कषाय, (८) क्षपक, (९) क्षीणमोह, (१०) स्वस्थान जिन, (११) योगनिरोध में प्रवृत्त जिन, इन ग्यारह स्थानों में उत्तरोत्तर असंख्यातगुणीनिर्जरा होती है। यह अविपाक-निर्जरा है।

—ज. ग. 19-9-74/X/ ज. ला. जैन, भीण्डर

अविपाक और सविपाक निर्जरा का स्वरूप

शंका—अकाम और सकामनिर्जरा का क्या स्वरूप है? सविपाक और अविपाकनिर्जरा में से किसभेद में शामिल हो सकती है?

समाधान—काम का ग्रथ इच्छा है और पूर्वकाल में बंधे हुए कर्मों का झड़ना निर्जरा है। अतः जो कर्म बिना इच्छा के झड़ते हैं वह अकामनिर्जरा है। जो कर्म इच्छापूर्वक तप आदि के द्वारा निर्जीएँ किये जाते हैं वह सकाम निर्जरा है। सविपाकनिर्जरा को अकामनिर्जरा कहते हैं और अविपाकनिर्जरा को सकामनिर्जरा कहते हैं, क्योंकि अविपाकनिर्जरा इच्छापूर्वक तप आदि के द्वारा की जाती है और सविपाक निर्जरा में कर्म बिना इच्छा यथाकाल झड़ते जाते हैं। कहा भी है—

चिरबद्धकम्मणिबहं जीव पवेसा तु जं च परिगलइ ।

सा णिज्जरा पडत्ता बुविहा सविपक्क अविपक्का ॥१५७॥

सयमेव कम्मगलणं इच्छारहियाण होइ सत्ताणं ।

सविपक्क णिज्जरा सा अविपक्क उवायखवणावो ॥१५८॥ (नयचक्र)

चिरकाल से बंधे हुए कर्मों का जीवप्रदेश से जो परिगलन है वह निर्जरा कही गई है। सविपाक और अविपाक के भेद से वह निर्जरा दो प्रकार की है।

जीवों के इच्छारहित जो कर्मों का स्वयमेव गलना है वह सविपाकनिर्जरा है। जो उपाय द्वारा कर्मों की निर्जरा की जाती है वह अविपाकनिर्जरा है। उपाय इच्छा पूर्वक होता है।

फलटन से प्रकाशित कुन्वकुन्वस्वामी विरचित 'भूलाचार' में भी लिखा है—

पुब्बकम्मसउणं तु णिज्जरा सा पुणो ह्वे बुविहा ।

पठमा विवागजावा विदिया अविवागजावा य ॥५८॥

कालेण उवाएण य पचंति जघा वणफविफलाणि ।

तथ कालेन तवेण य पचंति कवाणि कम्मणि ॥५९॥

पृष्ठ १४६ पर अर्थ इसप्रकार लिखा है—पूर्वकाल में बंधे हुए कर्म का आत्मा से थोड़ा-थोड़ा जो निकल जाना उसको निर्जरा कहते हैं। इस निर्जरातत्त्व के दो भेद हैं। पहली विपाकनिर्जरा तथा दूसरी अविपाकनिर्जरा। उदय होने पर जो कर्मानुभव जीव को आता है उसको सविपाकनिर्जरा कहते हैं। अनुभव के बिना तपश्चरणादि कारणों के द्वारा कर्म का विनाश होना यह अविपाकनिर्जरा का लक्षण है ॥ ५८ ॥

द्रव्यनिर्जरा के विपाकजा और अविपाकजा ऐसे दो भेद हैं । विपाकजा का अकामनिर्जरा ऐसा भी नाम है । तथा अविपाकजा निर्जरा को सकामनिर्जरा भी कहते हैं । योग्यकाल में कर्म का उदय होकर उसकी निर्जरा होती है उसको विपाकजा अकामनिर्जरा कहते हैं तथा तपश्चरणादिक उपायों से अपक्वकर्म को पक्वावस्था में लाकर उसका एक देश नष्ट होना वह सकामनिर्जरा है । इनको औपक्रमिकनिर्जरा भी कहते हैं । पहिली को विपाकनिर्जरा अनौपक्रमिकनिर्जरा ऐसा भी कहा जाता है । इन दो निर्जराओं का स्पष्टीकरण उदाहरण द्वारा किया जाता है—जैसे आम्रफल, पनसफल वगैरह की पक्वता अर्थात् मधुररसादि परिणति योग्यकाल में होती है तथा पुरुष प्रयत्न से भी वह की जाती है । तथा ज्ञानावरणादिकर्म योग्य समय पर उदयावलि में आकर फल देने लगता है । जिसकाल में जो कर्मफल देने योग्य हैं उसीकाल में उसका उदय होकर फल प्राप्ति होना यह विपाकनिर्जरा है । और जो कर्म तपोबल से तथा सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र के बल से उदयावलि में लाकर उपभोगा जाता है वह अविपाकनिर्जरा है । मुमुक्षु लोगों को शुभाशुभ परिणामों के अभाव से कर्मों का संवर होकर शुद्धोपयोग युक्त तप से अविपाकनिर्जरा होती है । तथा इतर लोगों को योग्यकाल में कर्म उदय में आकर अपना सुख-दुःखादि रस देकर निर्जीण होता है वह सविपाक निर्जरा है ।

—पौ. ग. 3-9-70/VI/ ब. छोटेलाल

अव्रतीसम्यक्त्व की अविपाकनिर्जरा कब होती है, इसका विवेचन

शंका—सम्यग्दृष्टि के बिना तप के क्या अविपाकनिर्जरा संभव है ?

समाधान—सम्यग्दृष्टि के बिना तप के भी व्रत धारण करने से तथा अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना व दर्शनमोह के क्षणों के समय तीनकरण द्वारा अविपाकनिर्जरा संभव है । कहा भी है—

“सम्यग्दृष्टिश्चावक विरतान्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशांतमोहक्षपकक्षीणमोहजिनः क्रमशोऽसंख्येय-गुणनिर्जराः ॥ ४५ ॥” (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ९)

मिच्छादो सहिद्वी असंख गुणकम्म-णिज्जरा होवि ।

तत्तो अखुवधधारी तत्तो य महक्वई णाणी ॥१०६॥

पदम-कसाय-खउण्हं विओजओ तह य खवय सीलो य ।

वंसण-मोह-तियस्स य तत्तो उवसमग-वत्तारि ॥ १०७ ॥

खवगो य खीण-मोह सजोइ-णाहो तहा अजोईया ।

एदे उव्वारि उव्वारि असंख गुण-कम्म-णिज्जराया ॥१०८॥ (स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा)

मिथ्यादृष्टि अनिवृत्तिकरण के चरमसमय में जो निर्जरा होती है उससे असंख्यातगुणी निर्जरा सम्यक्त्वो-त्पत्ति के समय होती है । उससे असंख्यातगुणी अनुव्रतधारी के, उससे असंख्यातगुणी महाव्रती के, उससे असंख्यात-गुणी अतन्तानुबन्धी का विसंयोजन करनेवाले के, उससे असंख्यातगुणी दर्शनमोहनीय की क्षणों करनेवाले के कर्म-निर्जरा होती है ।

“असंखेज्जगुणाए सेडीए कम्मणिज्जरणहेडू ववं णाम ।” (घवल पु० ८ पृ० ८३)

असंख्यातगुणतश्चेणी से कर्मनिर्जरा के कारण व्रत हैं ।

इसप्रकार व्रत के द्वारा निर्जरा होते हुए भी तप के द्वारा विशेष निर्जरा होती है, इसीलिये 'तपसा निर्जरा च ॥ ९।३ ॥' अर्थात् तप से निर्जरा होती है, ऐसा सूत्र है ।

—जे. ग. 30-3-72/VII/ देहरा तिजारा

असंयत सम्यक्त्वो को नित्यनिर्जरा नहीं होती

शंका—चौथे गुणस्थान में अविपाकनिर्जरा कुछ समय होती है और हरसमय सविपाकनिर्जरा है यह किस तरह से है ? पाँचवें गुणस्थान में प्रतिसमय होनेवाली गुणश्रेणी निर्जरा का सम्यग्दर्शन तो चौथे गुणस्थान में भी है फिर वहाँ (चौथे गुणस्थान में) प्रत्येकसमय गुणश्रेणी निर्जरा क्यों नहीं है ?

समाधान—मिथ्यात्व अवस्था से जब जीव सम्यक्त्व अवस्था को प्राप्त होता है, तब सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के पश्चात् परिणामों की विशुद्धता के कारण एक अन्तर्मुहूर्तक असंख्यातगुणश्रेणी निर्जरा होती रहती है । इसको अविपाकनिर्जरा भी कह सकते हैं, क्योंकि प्रतिसमय असंख्यातगुणाद्रव्य, उपरितन निषेकों से अपकर्षण करके उदयावली में व उसके बाहिर के एक अन्तर्मुहूर्त के निषेकों में दिया जाता है इस द्रव्य का अनुभाग भी कृश हो जाता है । सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के एक अन्तर्मुहूर्त पश्चात् यह असंख्यातगुणश्रेणीनिर्जरा नहीं होती । इसीप्रकार पंचमगुणस्थान के प्रथम अन्तर्मुहूर्त में असंख्यातगुणीनिर्जरा होती है । चतुर्थगुणस्थान में संयम का अभाव होने के कारण संयमसम्बन्धी गुणश्रेणीनिर्जरा नहीं होती, किन्तु असंयम के कारण उसकी सब धार्मिक क्रिया भी गजस्तानवत् अथवा मथेनी की रज्जु के समान होती है । मूलाचार समयसार अधिकार गाथा ४९ व उसकी संस्कृत टीका में इस प्रकार कहा है—'अविरतसम्यग्दृष्टि के कर्मांश निर्जीण होने पर भी असंयम के द्वारा पुनः बहुत कर्मांश को ग्रहण करता है । गजस्तान इष्टान्त का यह अभिप्राय है कि जितना कर्म आत्मा से छूटता है उससे बहुततर कर्म असंयम से जीव को बंध जाता है । मथेनी के इष्टान्त का भी यह अभिप्राय है कि जितनी कर्मनिर्जरा हुई असंयम-भाव से उससे अधिक कर्मों का ग्रहण हो जाता है ।' पाँचवें गुणस्थान में संयम का एकदेश प्रगट हो जाता है अतः उसके प्रतिसमय गुणश्रेणीनिर्जरा होती रहती है ।

—जे. सं. 11-12-58/V/ रामदास कंटारा

असंयतसम्यग्दृष्टि के निर्जरा (गुणश्रेणीनिर्जरा) का अभाव

शंका—असंयतसम्यग्दृष्टि के जो प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जरा होती है वह चारित्र के बिना कैसे संभव है ?

समाधान—मिथ्यादृष्टिजीव जब प्रथमोपशमसम्यग्दर्शन को ग्रहणकर असंयतसम्यग्दृष्टि होता है उसके प्रथम अन्तर्मुहूर्त में असंख्यातगुणी निर्जरा होती है, किन्तु असंयत सम्यग्दृष्टि के सर्वकाल में असंख्यातगुणीनिर्जरा नहीं होती है । जितना कर्म फल देकर झुड़ता है, असंयमभाव के कारण उससे अधिक कर्मबंध हो जाता है । श्री कुन्द-कुन्दाचार्य ने मूलाचार में कहा भी है—

सम्मादिदृस्स वि अविरदस्स ण तवो महागुणो होवि ।

होवि हु हत्थिग्हाणं चुंबच्छिवकम्म तं तस्स ॥१०।४९॥

श्री वसुनन्दि आचार्य कृत संस्कृत टीका—“अपगतात्कर्मणो बहुतरोपादानमसंयमनिमित्तस्येति प्रवर्तनाय हस्तिस्नानोपन्यासः । चुंबच्छिवः कर्मबन्ध—एकत्र वेष्टयत्यन्यत्रोद्वेष्टयति तपसा निर्जरयति, कर्मासंयमभावेन बहुतरं गृह्णाति कठिनं च करोतीति ।

अविरतसम्यग्दृष्टि का तप महोपकारक नहीं है, उसका तप गजस्नान तथा दर्मा (काष्ठ में छेद करने का यंत्र) के समान है। जितना कर्म तप के द्वारा आत्मा से छूट जाता है उससे बहुत कर्म असंयम के कारण जीव के बंध जाता है; ऐसा अभिप्राय बतलाने के लिये हस्तिस्नान का दृष्टान्त है। दर्मा का एक पार्श्वभाग रज्जु से दृढ़ वेष्टित होता है और दूसरा पार्श्वभाग मुक्त होता है वैसे ही तप से असंयतसम्यग्दृष्टि कर्म की निर्जरा करता है परन्तु असंयमभाव उससे (निर्जरा से) अधिक बहुतरकर्म ग्रहण किया जाता है तथा वह कर्म अधिक बढ़ भी होता है।

इस आर्ष वाक्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि असंयतसम्यग्दृष्टि के तप के द्वारा भी असंख्यातगुणीनिर्जरा नहीं होती है, क्योंकि असंयमभाव के कारण उसके बहुत और बढ़कर्म बंध होता रहता है।

—जौ. ग. ४-१-७०/VII/ रो. ला. जैन

असंयत के नित्य निर्जरा नहीं होती

शंका—क्या सर्वावसिद्धि, नवम अध्याय, सूत्र ४५ का यह अभिप्राय है कि चतुर्थ आदि गुणस्थानों में प्रतिसमय गुणभेगिनिर्जरा होती रहती है ?

समाधान—मोक्षशास्त्र अ० ६।४५ में असंख्यातगुणश्रेणिनिर्जरा के स्थानों का कथन है। वह ध्वस पु० १२।७८ गाथा ७ व ८ के आधार पर लिखा गया है। वहाँ पर गाथा ८ में "तत्त्विवरीदो कालो" से स्पष्ट हो जाता है कि सूत्र ४५ में मात्र इन स्थानों को प्राप्त होने के समय में होनेवाली गुणश्रेणिनिर्जरा का कथन है।

चतुर्थगुणस्थानमें प्रथमोपशमसम्यक्त्व के समय, अनन्तानुबन्धीक्षाय की विसंयोजना के समय अथवा दर्शनमोह की क्षपणा के समय असंख्यातगुणश्रेणिनिर्जरा होती है; किन्तु व्रतों के अभाव में प्रतिसमय असंख्यातगुणश्रेणिनिर्जरा नहीं होती है। पाँचवें आदि गुणस्थानों में व्रत का सङ्भाव होने के कारण प्रतिसमय गुणभेगिनिर्जरा होती रहती है। कहा भी है—

असंखेजगुणाए सेडोए कम्मणिज्जरणहेव्व ववं णाम । (ध० ८।८३)

अर्थ—व्रत कर्मों की असंख्यातगुणश्रेणिनिर्जरा का कारण है।

—पद्मावली / ज. ला. जैन, भीण्डट

संयत से असंयत के असंख्यातगुणी निर्जरा

शंका—तत्त्वार्थसूत्र, गोम्मटसार आदि ग्रन्थों में क्रम से असंख्यातगुणीनिर्जरा के ग्यारहस्थान बतलाये हैं। उनमें तीसरा स्थान विरत अर्थात् मुनि का है और पाँचवाँ स्थान क्षायिकसम्यग्दृष्टि का है। यहाँ पर अविरत क्षायिक सम्यग्दृष्टि का ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि विरत से अविरत के अधिक निर्जरा संभव नहीं है। अतः मुनि क्षायिकसम्यग्दृष्टि ग्रहण करना चाहिये ?

समाधान—विरत (महाव्रती) तीसरा स्थान है उससे असंख्यातगुणी निर्जरा चौथे स्थान में अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करनेवाले के है और उससे असंख्यातगुणी निर्जरा पाँचवें स्थान में दर्शनमोहनीय की क्षपणा करनेवाले के है। त० सू० अ० ९ सूत्र १।४५ तथा गो० जीव० गा० ६६-६७ में चौथे स्थान और पाँचवें स्थान में असंयत-सम्यग्दृष्टि संयतासंयत या संयत में से किसी भी अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करनेवाले अथवा दर्शनमोहनीय की क्षपणा करने वाले पुरुष के विरत (महाव्रती) से असंख्यातगुणी निर्जरा संभव है। कहा भी है—

“संस्थानसंज्ञवडवकस्सगुणसेडिगुणागारादो असंज्ञवसम्माविद्धिसंज्ञवासंज्ञवसंवेतु अणंताणुबंधि विसंयोजए तस्स जह्णगुणसेडिगुणगारो असंखज्जगुणो ।” ध० पु० १२ पृ० ८२ ।

अर्थ—स्वस्थानसंयत के उत्कृष्ट गुणश्रेणि-गुणकार की अपेक्षा असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत जीवों में से विसंयोजना करनेवाले जीव का जघन्यगुणश्रेणीगुणकार असंख्यातगुणा है । इसीप्रकार दर्शनमोहनीयकर्म की क्षपणा करनेवाले के विषय में जानना चाहिये ।

अनंतानुबंधी की विसंयोजना में अनन्तानुबंधी प्रकृतियों का और दर्शनमोहनीयकर्म के द्रव्य का सत्त्व से क्षय होता है इसलिये चौथे व पाँचवें स्थान में महाव्रती की अपेक्षा असंख्यातगुणी निर्जरा कही है ।

—जं. ग. 26-6-67/IX/ रतनलाल

सातिशयमिध्यात्वी की गुणश्रेणिनिर्जरा से समकृती के असंख्यातगुणी निर्जरा

शंका—क्या अविरतसम्यग्दृष्टि की सातिशयमिध्यादृष्टि की अपेक्षा असंख्यातगुणीनिर्जरा होती है ?

समाधान—सातिशय मिध्यादृष्टि की अपेक्षा अविरतसम्यग्दृष्टि अर्थात् प्रथमोपशमसम्यग्दृष्टि की प्रथम अन्तमुहूर्त में असंख्यातगुणी निर्जरा होती है । हरि० पु० सर्ग ६४ श्लोक ५२ व ५३ में कहा भी है—“सर्वप्रथम संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक भव्यजीव जब करणलब्धि से युक्त हो, अंतरंगशुद्धि की वृद्धिगत करता है तब उसके बहुत कर्मों की निर्जरा होती है । उसके बाद जब यह जीव प्रथमोपशमसम्यक्त्व की प्राप्ति के योग्य कारणों के मिलने पर सम्यग्दृष्टि होता है तब उसके पूर्वस्थान की अपेक्षा असंख्यातगुणीनिर्जरा होती है ।” अविरतसम्यग्दृष्टि के प्रथम अन्तमुहूर्त के पश्चात् यह निर्जरा एक जाती है ।

शंका—क्या सातिशय मिध्यादृष्टि के मिध्यादृष्टि की अपेक्षा असंख्यातगुणी निर्जरा होती है ?

समाधान—साधारण मिध्यादृष्टि की अपेक्षा अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरणवाले सातिशयमिध्यादृष्टि के असंख्यातगुणीनिर्जरा होती है । अपूर्वकरण के प्रथमसमय में वह गुणश्रेणी आयाम बनाता है । उस गुणश्रेणी आयाम के प्रथमसमय में वह जितना द्रव्य देता है उससे असंख्यातगुणा वह द्वितीयसमय में देता है इसप्रकार गुणश्रेणी आयाम के अन्तसमय तक देता है । यह गुणश्रेणी आयाम अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के काल से कुछ अधिक होता है । इसप्रकार प्रतिसमय असंख्यातगुणा—असंख्यातगुणा द्रव्य अपकर्षणकर इस गलितावशेषगुणश्रेणीआयाम में देता है (ल० सा० गाथा ५३, ७३, ७४ तथा ध० पु० ६ पृ० २२४-२२७) । जब गुणश्रेणी आयाम के निषेक उदय में आते हैं उसकाल में प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जरा सातिशयमिध्यादृष्टि के होती है ।

—जं. ग. 4-4-63/IX/ भाषितलाल

अविपाकनिर्जरा का हेतु, संवरपूर्वकत्व तथा गुणस्थान सम्बन्धी विवेचन

शंका—अविपाकनिर्जरा का कारण तप ही है या और कुछ भी ? यह निर्जरा संवरपूर्वक ही होती है या संवर के बिना भी ? संवर होने पर होती ही है या नहीं भी ? कौन से गुणस्थान से आरम्भ होती है ?

समाधान—अविपाकनिर्जरा का मुख्य कारण तप है । इसलिये त० सू० अ० ९ में ‘तपसा निर्जरा च ॥३॥’ अर्थात् तप से अविपाकनिर्जरा होती है, ऐसा पृथक् सूत्र लिखा है ।

कालेण उवाएण य पञ्चति जघा वणफक्किलाणि ।

तध कालेण तवेण य पञ्चति कदाणि कम्माणि ॥ ५।४९ ॥ मूलाचार

श्री कुन्वकुन्वाचार्य ने इस गाथा में तप के द्वारा अविपाकनिर्जरा बतलाई है। श्री वसुनन्दि सिद्धान्त-चक्रवर्ती आचार्य ने इसकी टीका में “सम्यक्त्वज्ञानचारित्रतपोभिः कृतानि कर्माणि पश्यन्ते विनश्यन्ति च्वस्तीभवन्तीत्यर्थः । अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप इनके द्वारा कर्मों की निर्जरा होती है, ऐसा कहा है। अर्थात् तप के अतिरिक्त सम्यग्दर्शन-ज्ञान व चारित्र भी अविपाकनिर्जरा के कारण हैं। यह बात तत्त्वार्थसूत्र के निम्नलिखित सूत्र से भी सिद्ध होती है।

“सम्यग्दृष्टिभावकविरतान्त वियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशाम्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमसोऽसंख्ये-यगुणनिर्जराः ॥४५॥”

इस सूत्र से यह भी ज्ञात होता है कि प्रथमोपशमसम्यक्त्व से पूर्व करणलब्धि में अविपाकनिर्जरा होती है, उससे असंख्यातगुणी प्रथमोपशमसम्यक्त्वोत्पत्ति के समय होती है। अनन्तानुबन्धीकषाय की विसंयोजना का समय तथा दर्शनमोह की क्षपणा के समय जो करणलब्धि होती है उससे भी अविपाकनिर्जरा होती है। चारित्र के बिना एक अन्तर्मुहूर्त पश्चात् यह अविपाकनिर्जरा रुक जाती है। कुछ अधिक तैत्तिसागर प्रविरतसम्यग्दृष्टि का काल है, किन्तु चारित्र के बिना अविपाकनिर्जरा नहीं होती है।

सा पुण बुविहा सेया सकालपत्ता तवेण कयममाणा ।

चावुगदीणं पढमा वयजुताणं हवे विविधा ॥ १०४ ॥ स्वा० का० अ०

वह निर्जरा दो प्रकार की है—एक स्वकालप्राप्त निर्जरा और दूसरी तप के द्वारा की जानेवाली अविपाकनिर्जरा। पहली विपाकनिर्जरा चारों गति के जीवों के होती है और दूसरी निर्जरा व्रतजीवों के होती है। श्री पं० कंलाशचन्द्रजी इसके अनुवाद में लिखते हैं—“दूसरे प्रकार की निर्जरा व्रतधारियों के ही होती है।”

“मिच्छावो सद्विद्वो असंखगुणकम्मणिज्जरा होदि ।” (स्वा० का० अ०)

टीका—“प्रथमोपशमसम्यक्त्वोत्पत्ती करणत्रयपरिणामस्वरमसमये वर्तमानविशुद्धविशिष्ट मिथ्यादृष्टेः आयुर्वर्जितज्ञानाधरणाविसत्कर्मणां यद्गुण क्षेणनिर्जराव्रथं ।”

इससे सिद्ध होता है कि सातिशयमिथ्यादृष्टि के भी प्रथमोपशमसम्यक्त्व से पूर्व करणलब्धि के द्वारा अविपाकनिर्जरा होती है।

घडियाजलं व कम्मे अणुसमयमसंखगुणियसेदीए ।

णिज्जरमारो संते वि महध्वईणं कुदोपावं ॥६०॥ जयधवल पु० १

यहाँ पर यह बतलाया है कि महाव्रतियों के प्रतिसमय घटिका यंत्र के जल के समान असंख्यातगुणित श्रेणीरूप से कर्मों की निर्जरा होती रहती है।

व्रत व तप के अतिरिक्त जिनेन्द्रभक्ति भी अविपाकनिर्जरा का कारण है। कहा भी है—

“अरहंतणमोकारो संपहिय बंधावो असंखेज्जगुणकम्मवक्षयकारओत्ति ।” अघधवल पु० १ पृ० ९

अर्थ—अरहंत नमस्कार तत्कालीन बन्ध की अपेक्षा असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा का कारण है।

यह निर्जरा मात्र भावपूर्वक भक्ति के काल में ही होती है। व्रत-धारियों के प्रतिसमय अविपाकनिर्जरा होती है।

अविपाकनिर्जरा संवरपूर्वक होती है, संवर के बिना नहीं होती है—

संवरेण बिना साधोर्नास्ति पातक-निर्जरा ।

नूतनशुभः प्रवेशोऽस्ति सरसो रिक्तता कुतः ॥ ६ ॥ योगसार

संवर के बिना अविपाकनिर्जरा नहीं बनती। जब नये जल का प्रवेश हो रहा है तब सरोवर की रिक्तता कैसे बन सकती है? नहीं बन सकती।

“मोक्षकारणं या संवरपूर्विका संव ग्राह्या ।” (द्रव्यसंग्रह भा० ३६ टीका)

मोक्ष के प्रकरण में जो संवरपूर्वक निर्जरा है उसी को ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि वही मोक्ष का कारण है।

एकदेशव्रत पंचमगुणस्थान में होते हैं, अतः पाँचवें गुणस्थान से प्रतिसमय होने वाली अविपाकनिर्जरा प्रारम्भ हो जाती है। मात्र एक अन्तमुहूर्त तक होने वाली अविपाकनिर्जरा सातिश्रयमिथ्यादृष्टि व असंयतसम्यग्दृष्टि के भी होती है।

—जै. ग. 10-12-70/VI/ ट. ला. जैन

सविपाक द्रव्य निर्जरा से समुत्पादित कषाय भाव सविपाक भावनिर्जरा नहीं कहलाते

शंका—सविपाक द्रव्यनिर्जरा के समय जो कषायभाव उत्पन्न होकर नष्ट (निर्मोर्ण) होते हैं, क्या उन कषायभावों के नष्ट होने को सविपाक भावनिर्जरा नहीं कह सकते ?

समाधान—बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ३६ में ‘कम्म पुग्गलं जेष भावेण सडडि’ इन शब्दों द्वारा भावनिर्जरा का स्वरूप इसप्रकार बतलाया है कि—आत्मा के जिनभावों से पुद्गल द्रव्यकर्म भड़ते हैं, आत्मा के वे परिणाम भाव निर्जरा हैं। द्रव्यकर्म के उदय में आकर भड़ने से आत्मा में जो कषयादिक औदयिकभाव उत्पन्न होते हैं वे तो बन्ध के कारण हैं, क्योंकि ‘ओदइया बन्धयरा’ अर्थात् औदयिकभाव बन्ध करनेवाले हैं ऐसा आर्षवाक्य है। द्रव्य-कर्मोदय से होने वाले आत्मा के औदयिकभाव द्रव्यकर्मनिर्जरा में कारण नहीं हैं, अतः औदयिकभावों को भावनिर्जरा की संज्ञा नहीं दी गई।

—जै. ग. 21-11-74/VIII/ ल. ला. जैन, भीण्डर

“कोटि जनम तप तपे, ज्ञान विनु कर्म भरे जे . . .”

शंका—‘कोटिजनम तप तपे, ज्ञान विन कर्म शरे जे ।’ इसमें ‘ज्ञान विन’ का अर्थ मिथ्यादृष्टि और ‘तप’ का अर्थ आस्तप कर दिया जाय तो क्या हानि है।

समाधान—शंकाकार के अनुसार शब्दों का प्रर्थ करने पर इसका अर्थ यह होगा—“बालतप के द्वारा मिथ्यादृष्टि जीव करोड़जन्म में जितनी कर्मनिर्जरा करता है उतनी कर्मनिर्जरा सम्यग्दृष्टि त्रिगुप्ति अर्थात् निर्विकल्पसमाधि के द्वारा एकक्षण में कर देता है।” अर्थात् “मिथ्यादृष्टि की बालतप के द्वारा एक जन्म की निर्जरा को करोड़ से गुणित करने पर जो कर्मनिर्जरा का प्रमाण प्राप्त होता है, वह निर्विकल्पसमाधि अर्थात् क्षपकश्रेणी की एकसमय की निर्जरा के बराबर है।”

इसप्रकार अर्थ करने पर सिद्धांत से बाधाएँ आती हैं। प्रथम तो यह है कि मिथ्यादृष्टि के बालतप द्वारा आंशिक अविपाक कर्मनिर्जरा मानने पर, मिथ्यादृष्टि का बालतप उपादेय हो जायेगा, क्योंकि सिद्धान्त में निर्जरा-तत्त्व उपादेय माना गया है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने जब असंयतसम्यग्दृष्टि के तप को गुणकारी नहीं बतलाया है, तो मिथ्यादृष्टि जो नियम से असंयत होता है, उसका बालतप कैसे गुणकारी हो सकता है ? अर्थात् अविपाकनिर्जरा का कारण नहीं हो सकता है।

किसी भी दि० जेनाचार्य ने मिथ्यादृष्टि के बालतप द्वारा अविपाक कर्मनिर्जरा का कथन नहीं किया है। बालतप के द्वारा मिथ्यात्वप्रकृति का दृढ़ बंधन होता है और अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है।

इसप्रकार मिथ्यादृष्टि के बालतप के द्वारा अविपाकनिर्जरा का निषेध हो जाने पर प्रश्न यह होता है कि सम्यग्दृष्टि जिसको सम्यग्ज्ञान है उसको 'ज्ञान विन' या प्रज्ञानी कैसे कहा जा सकता है ? सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान होते हुए भी जबतक क्रोधादि कषायों से निवृत्त नहीं होता है उससमय तक उसके पारमार्थिक सच्चे भेदविज्ञान की सिद्धि नहीं होती है। इस अपेक्षा से श्री अमृतचन्द्राचार्य ने तथा श्री जयसेनाचार्य ने उसको अज्ञानी भी कह दिया है। जैसे कोई स्वाँखा मनुष्य प्रकाश के होते हुए भी कूप में गिरता है तो उसको अंधा कहा जाता है श्री अमृतचन्द्रजी ने समयसार की टीका में कहा है—

“इत्थेयं विशेषदर्शनेन यद्वैवायमात्मास्त्रयोर्भेदं जानाति तद्वै क्रोधादिभ्य आस्त्रवेभ्यो निवर्तते, तेभ्योऽनिवर्तमानस्य पारमार्थिकतद्भेदज्ञानासिद्धेः। ततः क्रोधाद्यास्त्रवनिवृत्त्यधिनाभाविनो ज्ञानमात्रावेवाज्ञानजस्य पौद्गलिकस्य कर्मणो बंधनिरोधः सिद्ध्येत् किं च यदिदमात्मास्त्रयोर्भेदज्ञानंतत्किम् ज्ञानं किं वाज्ञानं ? यद्यज्ञानं तदा तदभेदज्ञानात् तस्य विशेषः। ज्ञानं चेत् किमास्त्रवेषु प्रवृत्तं किं वास्त्रवेभ्यो निवृत्तं ? आस्त्रवेषु प्रवृत्तं चेत्तदपि तद्भेदज्ञानात् तस्य विशेषः। यत्त्वात्मास्त्रयोर्भेदज्ञानमपि नास्त्रवेभ्यो निवृत्तं भवति तज्ज्ञानमेव न भवति।”

इस तरह आत्मा और आस्त्रों के तीन विशेषणोंकर भेद देखने से जिस समय भेद जान लिया उसी समय क्रोधादिक आस्त्रों से निवृत्त हो जाता है। उनसे (क्रोधादि आस्त्र भावों से) जबतक निवृत्त नहीं होता, तबतक उस आत्मा के पारमार्थिक सच्चे भेदविज्ञान की सिद्धि नहीं होती। इसीलिये यह सिद्ध हुआ कि क्रोधादिक आस्त्रों की निवृत्ति में अविनाभावी जो ज्ञान उसी से अज्ञान कर हुआ जो पौद्गलिक कर्मों का बंध, उस बंध का निरोध होता है। यहाँ यह विशेष जानना—आत्मा और आस्त्र का भेद है वह अज्ञान है कि ज्ञान ? यदि अज्ञान है तो आस्त्र से अभेद हुआ। यदि ज्ञान है तो आस्त्रों में प्रवर्तता है कि उनसे निवृत्तिरूप है ? यदि आस्त्रों में प्रवर्तता है तो वह ज्ञान आस्त्रों से अभेदरूप प्रज्ञान ही है। तथा जो आत्मा और आस्त्रों का भेद ज्ञान है, वह भी आस्त्रों से निवृत्त न हुआ तो वह ज्ञान ही नहीं।

इसका तात्पर्य यह है कि भेदज्ञान हो जाने पर भी यदि क्रोध आदि भावों से निवृत्त नहीं हो जाता तो वह अज्ञानी है, क्योंकि सम्यग्ज्ञान और श्रद्धान होने पर भी वह क्रोधादि में प्रवर्तता है। इसप्रकार श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी सम्यग्ज्ञानी को प्रज्ञानी कहा है। पारमार्थिक ज्ञानी वही है जो निर्विकल्पसमाधि में स्थित होकर क्रोधादिक आस्त्रभावों से निवृत्त होता है। (अजमेर समयसार पृ० १९)

श्री जयसेनाचार्य ने भी 'अज्ञानिनां निर्विकल्पसमाधिस्त्रदानां' शब्दों द्वारा निर्विकल्पसमाधि से रहित को अज्ञानी कहा है इसीप्रकार समयसार गाथा १६१ की टीका में भी कहा है—“त्रिगुणसमाधिलक्षणाभेदज्ञानाद्वाहा

ये ते व्रतनियमान् धारयंतः, शीलानि तपश्चरणं च कुर्वाणा अपि मोक्षं न लभन्ते । कस्मादिति चेत् ? येन कारणेन पूर्वोक्त भेदज्ञानाभावात् परमार्थबाह्यास्तेन कारणेन ते भवन्त्यज्ञानिनः ।”

जो त्रिगुप्तिरूप समाधि लक्षण जिसका ऐसे भेदविज्ञान से रहित हैं वे व्रत व नियम को धारण करने पर भी तथा शील व तपश्चरण को करते हुए भी मोक्ष को प्राप्त नहीं होते क्योंकि उनके पूर्वोक्त (त्रिगुप्तिरूप समाधि लक्षणवाला) भेदविज्ञान का अभाव है । उक्त भेदविज्ञान के अभाव के कारण वे परमार्थ बाह्य हैं इसलिये वे अज्ञानी हैं ।

यहाँ पर भी श्री जयसेनाचार्य ने त्रिगुप्तिरूप समाधि अथवा निर्विकल्पसमाधि से रहित को अज्ञानी कहा है उसके तप को साक्षात् मोक्ष का साधन नहीं बतलाया है ।

इतना ही नहीं, उनके तप को बालतप और व्रत को बालव्रत कहा है—

“परमात्मस्वभावे स्थिता वीतरागस्वसंवेदनज्ञानरता पुण्यास्तपोधनानिर्वाणं प्राप्नुवन्ति स्वभंते इत्यर्थः । परमात्मस्वरूपे अस्थितो रहितो यस्तपश्चरणं करोति व्रतादिकं च धारयति तत्सर्वं बालतपश्चरणं बालव्रतं ब्रुवन्ति कथयन्ति कं ते ? सर्वज्ञाः कस्मात् ? इति चेत् पुण्यपापोदयजनितसमस्तेन्द्रिय सुखदुःखाधिकारपरिहारपरिणताभेदरत्न-त्रयलक्षणेन विशिष्टभेदज्ञानेन रहितत्वाद् इति ।”

परमात्मस्वभाव में स्थित रहनेवाले अर्थात् वीतराग स्वसंवेदनज्ञान में लीन मुनि तपोधन ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं । जो परमात्मस्वभाव में स्थित नहीं हैं । (वीतराग स्वसंवेदनज्ञान में लीन नहीं है) समस्त इन्द्रिय-जनित सुख-दुःख के अधिकार से रहित अभेदरत्नत्रय (निर्विकल्पसमाधि) लक्षणवाले विशिष्ट भेदविज्ञान से रहित होने के कारण, उनका तप करना व व्रत धारण करना वह सब बालतप व बालव्रत है, ऐसा सर्वज्ञ ने कहा है—

श्री जयसेनाचार्य की दृष्टि में जो वीतरागनिर्विकल्पसमाधि से रहित है वह अज्ञानी (ज्ञान विन) है और उसका तप बालतप है । इसी दृष्टि से श्री जयसेनाचार्य ने प्रवचनसार में इसप्रकार कहा है—

“अथपरमात्मज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां भेदरत्नत्रयरूपाणां मिलापकेऽपि यदभेदरत्नत्रयात्मकं निर्विकल्प-समाधिलक्षणमात्मज्ञानं निश्चयेन तदेव मुक्तिकारणमिति प्रतिपादयति । निर्विकल्प समाधिरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मक-विशिष्टभेदज्ञानाभावावज्ञानी जीवो यत्कर्म क्षपयति भयशतसहस्रकोटिभिः, तत्कर्म ज्ञानी जीवस्त्रिगुप्तिगुप्तः सन् क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेणेति । तदाया—बर्हिर्विषये परमाणमाभ्यासबलेन यत्सम्यक्परिज्ञानं तथैवश्रद्धानं व्रताद्यनुष्ठानं चेति श्रयं, तत् त्रयाधारेणोत्पन्नं सिद्धजीवविषये सम्यक्परिज्ञानं ।

श्रद्धानं तद्गुणस्मरणानुकूलमनुष्ठानंचेति श्रयं तत्त्रयाधारेणोत्पन्नं विशदाखंडकज्ञानाकारे स्वशुद्धात्मनि परिच्छित्तिरूपं सविकल्पज्ञानंस्वशुद्धात्मोपादेयभूतरुचिर्विकल्परूपं सम्यग्दर्शनम् तत्रैवात्मनि रागादिविकल्पनिवृत्तिरूपं सविकल्पचारिप्रमिति श्रयम् । तत् त्रयप्रसादेनोत्पन्नं यन्निरविकल्पसमाधिरूपं निश्चयरत्नत्रयलक्षणं विशिष्टस्वसंवेदन-ज्ञानं तदभावावज्ञानी जीवो बहुभयकोटिभिर्यत्कर्म क्षपयति तत्कर्मज्ञानी जीवो पूर्वोक्तज्ञानगुणसद्भावात् त्रिगुप्तिगुप्तः सन्नुच्छ्वासमात्रेण लीलयैव क्षपयतीति ।”

आगे कहते हैं कि परमाणम ज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान तथा संयमीपना इन भेदरूप रत्नत्रय के मिलाप होने पर भी जो अभेदरत्नत्रयस्वरूप निर्विकल्पसमाधिमाय आत्मज्ञान है वही निश्चय से मोक्ष का कारण है । निर्विकल्पसमाधि-रूप निश्चयरत्नत्रयात्मक विशिष्ट भेदज्ञान के अभाव के कारण जो जीव अज्ञानी है वह जितने कर्मों को एकलाख

करोड़भव के द्वारा क्षय करता है, त्रिगुप्ति से गुप्त ज्ञानी जीव उतने कर्मों को उच्छ्वासमात्र में क्षय कर देता है। तद्यथा—परमागम के अभ्यास के बल से बाह्य पदार्थों का जो सम्यग्ज्ञान होता है तथा उन्हीं का जो श्रद्धान होता है व्रत आदिरूप चारित्र्य पाला जाता है, इन तीनों में रतनत्रय के आधार से सिद्ध परमात्मा के स्वरूप में सम्यग्ज्ञान-श्रद्धान और उनके गुणस्मरण अनुकूल चारित्र्य होता है। इन तीनों के आधार से, निर्मल-ग्रन्थ-एक ज्ञानाकार निज शुद्धात्मा में जाननेरूप सविकल्पज्ञान तथा शुद्धात्मा ही ग्रहण करने योग्य है 'ऐसी रचि सो सविकल्परूप सम्यग्दर्शन और इसी आत्मस्वरूप में रागादि विकल्परहित ऐसा सविकल्पचारित्र्य उत्पन्न होता है। इस सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य के प्रसाद से निविकल्पसमाधिरूप निश्चयरतनत्रय लक्षणवाला विशिष्ट स्वसंवेदनज्ञान उत्पन्न होता है। इस निविकल्पसमाधिरूप निश्चयरतनत्रयात्मक विशिष्ट स्वसंवेदनज्ञान के अभाव के कारण अज्ञानीजीव करोड़ोंभव के द्वारा जिसकर्म का क्षय करता है, पूर्वोक्त ज्ञानगुण के सद्भाव के कारण त्रिगुप्ति में गुप्त ज्ञानी जीव उसकर्म को लीलाभात्र से उच्छ्वासमात्र में क्षय कर देता है।'

असंयतसम्यग्दृष्टि से असंख्यातगुणीनिर्जरा अणुव्रती श्रावक के होती है अर्थात् असंख्यातबार सम्यग्दर्शन को ग्रहण करने से असंयत के जितनी कर्मों की निर्जरा होती है, उतने कर्मों की निर्जरा सम्यग्दृष्टि एकबार अणुव्रत धारण करने से कर देता है। इसीप्रकार असंख्यातबार अणुव्रत को धारण करने से सम्यग्दृष्टि जितनी निर्जरा करता है उतनी कर्मनिर्जरा उस सम्यग्दृष्टि के एकबार महाव्रत धारण करने से हो जाती है। अर्थात् श्रावक से असंख्यात-गुणीनिर्जरा महाव्रती के होती है। असंख्यातबार महाव्रत धारण करने में जितनी कर्मनिर्जरा होती है उतनी कर्म-निर्जरा एक उच्छ्वासमात्र में निविकल्पसमाधि अर्थात् श्रेणी में हो जाती है। अर्थात् निविकल्पसमाधि से रहित महाव्रती के असंख्यातगुणी निर्जरा निविकल्पसमाधि में होती है।

लगातार करोड़ोंभव तक मिथ्यादृष्टि के भी कुतप संभव नहीं है। कुतप के प्रभाव से देवायु का बध होता है। एक मनुष्यभव में कुतप के पश्चात् मरकर देव होगा और देवों में कुतप संभव नहीं है। देवगति से चयकर मनुष्य हो तो कुतप संभव हो सकता है यदि अन्यमति में चला गया तो वहाँ पर भी कुतप संभव नहीं है। मनुष्य के भी बचपन में कुतप संभव नहीं है। करोड़ोंभव तक मनुष्य मरकर मनुष्य ही होता रहे ऐसा होना भी कठिन है। अतः मिथ्यादृष्टि के भी लगातार करोड़ोंभव तक कुतप संभव नहीं है बीच-बीच में व्युच्छेद होगा ही। एक जीव असंख्यातबार सम्यग्दर्शन धारण कर सकता है तथा असंख्यातबार अणुव्रत धारण कर सकता है। असंयत-सम्यग्दृष्टि और श्रावक के निविकल्पसमाधि नहीं हो सकती है। अतः असंयतसम्यग्दृष्टि या श्रावक के तप के साथ जितनी कर्मनिर्जरा होती है उससे असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा निविकल्पसमाधि में उच्छ्वासमात्र में हो जाती है। अथवा असंख्यातभवों में सम्यग्दर्शन को उत्पन्न करने से या असंख्यातभवों में अणुव्रत को धारण करके तप से जितनी कर्मों की निर्जरा होती है उतनी निर्जरा निविकल्पसमाधि में त्रिगुप्ति के द्वारा उच्छ्वासमात्र में हो जाती है। इससे सिद्धान्त में कोई बाधा नहीं आती है।

—जं. म. 3-5-73/VII/ ट. ला. जैन

दान से मिथ्यात्व की निर्जरा नहीं होती

शंका—साधारण संज्ञी पंचेन्द्रियपर्याप्त मिथ्यात्वजीव वर्षपृथक्त्व की आयु हो जाने पर यदि विशुद्ध परिणामों से दान देवे तो क्या उसके अविपाक द्रव्यनिर्जरा नहीं होगी ?

समाधान—आत्मा के कम से कम ऐसे विशुद्ध परिणाम जो सम्यक्त्व को उत्पन्न कर देवे, उन विशुद्ध परिणामों के द्वारा जो द्रव्यकर्म निर्जीर्णरस होकर खिरते हैं, उन द्रव्यकर्मों के भङ्गने को अविपाक द्रव्यनिर्जरा कहा

गया है। साधारण मिथ्यात्वीजीव के ऐसे विशुद्धपरिणाम, जो द्रव्यकर्मों को निर्जीर्णरस कर दें, नहीं होते हैं अतः उसके अविपाकद्रव्यनिर्जरा संभव नहीं है। इसके लिये तत्त्वार्थ राजवातिक अध्याय १, सूत्र ४ वार्तिक १९ की टीका, देखनी चाहिये।

—जं. ग. 5-12-74/VIII/ ज. ला. जैन, भीण्डर

अविपाक निर्जरा पुण्य भाव नहीं है

शंका—आपने लिखा है कि आत्मा के जो परिणाम (अविपाकनिर्जरा के नाम से पुकारे जानेवाली) द्रव्यनिर्जरा के कारण हैं उनको भावनिर्जरा कहते हैं। शंका—अविपाक निर्जरा तो पुण्यभाव से होती है, उसको भावनिर्जरा कैसे कहा जा सकता है। पुण्यभाव से तो पुण्यबन्ध पड़ता है और भावनिर्जरा तो स्वभावभाव है। पुण्यभाव को स्वभावभाव कहना कहाँ तक सत्य है? आप ही सोचिये।

भावनिर्जरा तो चारित्र्यगुण की अंश में शुद्ध अवस्था है और चारित्र्यगुण में श्रद्धा तथा ज्ञानगुण का अभाव है। तब श्रद्धा (दर्शन) तथा ज्ञान से निर्जरा मानना कहाँ तक योग्य है? खुलासा करें।

समाधान—अविपाकनिर्जरा पुण्यभाव नहीं है। अविपाकनिर्जरा को शुभभाव लिखा हो ऐसा मेरे देखने में नहीं आया। अविपाकनिर्जरा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य से होती है, यह तीनों धारमा के निजभाव हैं। भावनिर्जरा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से भी गौणरूप से होती है। असंयतसम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबंधी चौकड़ी की विसंयोजना के लिए जो तीन करणरूप परिणाम होते हैं उनके कारण निर्जरा होती है। अतः ये तीन करणरूप परिणाम निर्जरा के हेतु होने से भावनिर्जरा कहलाते हैं। इसीप्रकार जब असंयतसम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व मिश्र और सम्यक्त्वप्रकृतियों की अपणा होती है उससमय भी तीन करणरूप परिणाम होते हैं जो निर्जरा के हेतु हैं। अतः उक्त तीन करणरूप परिणाम भी निर्जरा हैं। इसप्रकार असंयतसम्यग्दृष्टि के भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से भावनिर्जरा गौणरूप से होती है।

—जं. स. 7-6-56/VI/ क. दे. गया

सम्यक्त्व की भोग भी निर्जरा का कारण ?

शंका—सम्यग्दृष्टि के भोगनिर्जरा का कारण बतलाया है। यहाँ भोग से भोगोपभोग की सामग्री से अभिप्राय है या कर्म का उदय आना? क्या उससमय लेशमात्र भी बन्ध नहीं होता?

समाधान—वीतरागसम्यग्दृष्टि के भोग निर्जरा के कारण हैं ऐसा समयसार में कहा गया है—

उपभोगमिदियेहि द्वाणमचेदणण मिदराणं ।

जं कुणवि सम्मविद्वो तं, सध्वं णिज्जरणिमिरं ॥१९३॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव जो इन्द्रियोंकरि चेतन और अचेतन द्रव्यों का उपभोग करता है वे सब ही निर्जरा के निमित्त हैं।

इसकी टीका में श्री १०८ अभूतचन्द्राचार्य लिखते हैं—“वीतरागस्योपभोगो निर्जरायार्थः ।” अर्थात्—वीतराग के उपभोग निर्जरा के लिये हैं।

इसी गायत्र की टीका में श्री जयसेनाचार्य लिखते हैं—“अत्राह शिष्यः रागद्वेषमोहाभावे सति निर्जरा-कारणं ऋणितं सम्यग्दृष्टेस्तु रागादयः संति, ततःकथं निर्जराकारणं भवतीति । अस्मिन्पूर्वपक्षे परिहारः । अत्र ग्रंथे वस्तुवृत्त्या वीतरागसम्यग्दृष्टेर्ग्रहणं ।” अर्थात्—शिष्य पूछता है कि—राग-द्वेष-मोह का अभाव निर्जरा का कारण कहा गया है, किन्तु सम्यग्दृष्टि के रागादि होते हैं उसके निर्जरा कैसे हो सकती है ? आचार्य उत्तर देते हैं कि इस समयसार ग्रंथ में वास्तव में वीतरागसम्यग्दृष्टि को ग्रहण करना चाहिये (इस समयसार ग्रंथ में वीतरागसम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से कथन है) ।

इससे सिद्ध है कि वीतरागसम्यग्दृष्टि के भोगसामग्री में राग नहीं है, अतः वीतरागता के कारण निर्जरा होती है, किन्तु सरागीजीव के भोगसामग्री में राग है अतः राग के कारण उसके बंध भी होता है ।^१

—जै. ग. 14-10-65/X/ अ. पन्नालाल

मोक्षतरव

नित्यनिगोद से निकलकर सीधे मनुष्य बनकर मोक्ष की प्राप्ति

शंका—ऐसा कथन कहाँ मिलेगा जिससे यह सिद्ध हो सके कि नित्यनिगोद से निकलकर जीव सीधा मनुष्य होकर केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष जा सकता है ?

समाधान—“अनादिकाले मिथ्यात्वोद्योत्रे कालित्यनिगोदपर्यायमनुभूय भरतचक्रिणः पुत्रा भूत्वा भद्रविवर्द्ध-नादयस्त्रयोविंशत्यधिकनवशतसंख्याः पुरुषेषुपावमूले श्रुतधर्मसाराः समोरोपितरत्नत्रयाः अल्पकालेनैव सिद्धाः संप्राप्ता-नंतज्ञानादिस्वमावाश्वशब्दान्निरस्त-द्रव्य-भाव-कर्मसंहृतपश्च ।” (मूलाराधना पृ० ६६)

अर्थ—अनादिकाल से मिथ्यात्व का तीव्र उदय होने से अनादि काल पर्यंत जिन्होंने नित्य निगोद पर्याय का अनुभव लिया था ऐसे १२३ जीव निगोद पर्याय छोड़कर भरत चक्रवर्ती के भद्र विवर्धनादि नाम धारक पुत्र उत्पन्न हुए थे । उनको आदिनाथ ऋषिबान् के समयसरण में द्वादशांग वाणी का सार सुनने से वैराग्य हो गया । ये राजपुत्र इसी भव में त्रसपर्याय को प्राप्त हुए थे । इन्होंने जिनदीक्षा लेकर रत्नत्रयााराधना से अल्पकाल में ही मोक्ष लाभ लिया ।

—जै. ग. 12-12-66/VII/ र. ला. जैन, मेरठ

सिद्धों की अवगाहना के प्रमाण में दो मत

शंका—तिलोपण्णत्ती भाग २ पृ० ८७३ श्लोक ६ में सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना ५२५ धनुष जघन्य ३॥ हाथ बतलाई है, किन्तु गायत्रा ११ में उत्कृष्ट अवगाहना ३५० धनुष जघन्य ३ हाथ बतलाई है, ऐसा क्यों ?

१. सम्यग्दृष्टि की महिमा दिखायने को जे तीव्रबंध के कारण भोगादिक प्रसिद्ध थे, तिन भोगादिक को होते संते भी श्रद्धान्नायित के बल तें मन्दबन्ध होने लगा; ताको तौ गिन्या नाहीं अउ तिसही बल तें निर्जटा विप्रेष होने लागी; तातें उपचार तें भोग को भी बन्ध का कारण न कहद्या; निर्जटा का कारण कहा विचार किए भोग निर्जटा के कारण होय, ताँ तिसको छोड़ि सम्यग्दृष्टि मुनिपद का ग्रहण काहें को कर्त ?

मो० मा० प्र० अ० = पृ० ४१६

समाधान—इस विषय में दो मत हैं। कुछ आचार्य तो चरमशरीर की प्रवगाहना से किंचित् ऊन सिद्धों की प्रवगाहना का कथन करते हैं। अन्य आचार्य चरमशरीर की प्रवगाहना का दो तिहाई (३/२) सिद्धों की प्रवगाहना का कथन करते हैं। शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना ५२५ घनुष है अतः सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना ५२५ घनुष बतलाई। ५२५ घनुष का दो तिहाई (३/२) ३१० घनुष होता है, अतः दूसरे आचार्य ने सिद्धों की उत्कृष्ट प्रवगाहना ३१० घनुष बतलाई। इसीकार जघन्य अवगाहना ३ हाथ का ३ भाग ३ हाथ होता है। तिलोपपण्णत्ती में उक्त दोनों मतों का उल्लेख है। इससमय केवली श्रुतकेवली का अभाव यहाँ पर है, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि इन दोनों में कौनसा सत्य है।

—जै. ग. 25-7-66/IX/ अ. सधिवदानम्द

कुम्हारचक्र तथा मुक्तों की ऊर्ध्वगति में एकदेश साम्य है

शंका—सर्वोत्सिद्धि पृ० ४७० पृ० २० “इसीप्रकार संसार में स्थित आत्मा ने मोक्ष की प्राप्ति के लिये जो अनेक बार प्रणिधान किया है उसका अभाव होने पर भी उसके आवेशपूर्वक मुक्तजीव का गमन निश्चित होता है।” प्रश्न यह है कि मोक्ष के लिये जो प्रयत्न किया उसका आवेश क्या रहता है? कुम्हार का चक्र तो लगातार चली क्रिया करता रहता है, किन्तु इस दृष्टान्त में यह बात नहीं, तब इसका क्या तात्पर्य है?

समाधान—पूर्वप्रयोग के लिये कुम्हार-चक्र का दृष्टान्त देकर यह बतलाया गया है कि चक्र के भ्रमण का कारण जो डंडा उसके न रहने पर भी अथवा हट जाने पर भी जिसप्रकार चक्र घूमता है उसीप्रकार मोक्ष के प्रणिधान का अभाव हो जाने पर भी जीव मोक्ष के लिये गमन करता है। यहाँ पर मात्र भ्रमण के कारण का अभाव हो जाने पर भ्रमण का होना, इतना दृष्टान्त और दार्ष्टान्त की समानता ग्रहण करनी। यदि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त सर्वथा समान हो जाय तो दृष्टान्त ही दार्ष्टान्त हो जायगा। कहा भी है—

“न हि सर्वोदृष्टान्तधर्मो दार्ष्टान्तिके भवितुमर्हति। अन्यथा दृष्टान्त एव न स्यादिति।”

प्रमेयरत्नमाला २।२।

अर्थ—दृष्टान्त का सर्व ही धर्म तो दार्ष्टान्त विषय होय नहीं, जो सर्व ही धर्म मिले तो दृष्टान्त नहीं, दार्ष्टान्त ही होय है।

अतः कुम्हारचक्र और मुक्तजीवों की ऊर्ध्वगति इन दोनों में एकदेश समानता है सर्वथा समानता नहीं है।

—जै. ग. 27-12-65/VIII/ द. ला. जैन

सिद्ध भी कथंचित् सुखी कथंचित् सुखी नहीं, कथंचित् मुक्त कथंचित् अमुक्त

शंका—अनेकान्त तो खिचड़ीवाद है। क्या जीव भी कथंचित् अजीव हो सकता है? क्या सिद्ध भगवान् कथंचित् ‘सुखी’ और कथंचित् ‘सुखी नहीं’ हैं? क्या सिद्ध भगवान् कथंचित् मुक्त कथंचित् अमुक्त हैं? यदि जीव सर्वथा जीव ही है, सिद्ध भगवान् सर्वथा सुखी ही हैं और मुक्त ही हैं तो फिर ‘क्रमबद्ध पर्याय’ को सर्वथा मानने में एकान्त मिथ्यात्व क्यों कहते हो? ‘वस्तु ऐसी भी है और ऐसी नहीं भी है’ इसप्रकार का खिचड़ीवाद जैनमत में नहीं है।

समाधान— एक जीवद्रव्य में 'प्रमेयत्व' 'वस्तुत्व' 'अगुरुलघुत्व' 'अमूर्तत्व' 'जीवत्व' 'चेतनत्व' 'अस्तित्व' आदि अनेक धर्म हैं। प्रत्येक धर्म का लक्षण भिन्न है। अतः भिन्न-भिन्न गुणों की अपेक्षा से एक ही द्रव्य को 'आत्मा' 'प्राणो' 'सत्त्व' 'भूत' 'जीव' आदि अनेक संज्ञाएँ दी गई हैं। भिन्न धर्मों की दृष्टि से ही सिद्ध भगवान की 'सहस्रनाम स्तोत्र' में एक हजार नामों द्वारा स्तुति की गई है। अतः 'जीवत्व' धर्म की अपेक्षा से जो द्रव्य 'जीव' है वह ही द्रव्य अन्य धर्मों की अपेक्षा से अजीव है। यदि अन्य धर्मों की अपेक्षा से भी उस द्रव्य को जीव स्वीकार किया जावेगा तो अन्य धर्म भी 'जीवत्व' धर्मरूप हो जाने से संकरदोष का प्रसंग आजायगा अथवा अन्य धर्मों के अभाव का प्रसंग आजायगा। और 'अस्तित्व' आदि अन्य धर्मों के अभाव में द्रव्य के अभाव का प्रसंग आजायगा। अतः एक ही आत्मा कथंचित् जीव है और कथंचित् अजीव है अर्थात् जीव-अजीव स्वरूप है। श्री अकलंकदेव ने स्वरूप-सम्बोधन में कहा भी है—

प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा चिदात्मकः ।

ज्ञानदर्शनतस्तस्माच्चेतनाचेतनात्मकः ॥ ३ ॥

अर्थात्—प्रमेयत्वादिक धर्मों की अपेक्षा से वह परमात्मा अचेतनरूप है और ज्ञानदर्शन की अपेक्षा से चेतनरूप भी है। दोनों अपेक्षाओं से चेतन-अचेतन स्वरूप है। इसीप्रकार आत्मद्रव्य जीव भी है और अजीव भी है।

सिद्धभगवान कथंचित् सुखी भी हैं और कथंचित् सुखी नहीं भी हैं। अतीन्द्रिय आत्मिक सुख की अपेक्षा सिद्ध भगवान सुखी हैं, किन्तु इन्द्रियजनित सुख से रहित होने के कारण वे ही सिद्ध भगवान सुखी नहीं भी हैं। कहा भी है—

जसोवएण जीवो सुहं व पुक्खं व दुविहमणुमवई ।

तसोदयवखएण दु सुह पुक्ख विवज्जिओ होई ॥

अर्थात्—जिसके उदय से जीव सुख और दुःख इन दोनों का अनुभव करता है, उसके उदय का क्षय होने से वह सुख और दुःख दोनों से रहित हो जाता है।

सिद्धभगवान मुक्त भी हैं और अमुक्त भी हैं। यदि सर्वथा मुक्त माना जायगा तो ज्ञान आदि से भी मुक्त हो जाने के कारण द्रव्य के अभाव का प्रसंग आजायगा और यदि सर्वथा अमुक्त माना जावे तो द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से भी मुक्त न होने के कारण 'सिद्धत्व' के अभाव का प्रसंग आ जायगा। अतः सिद्ध भगवान कथंचित् मुक्त कथंचित् अमुक्त हैं। कहा भी है—

मुक्तामुक्तैकरूपो यः कर्मभिः संबिदादिना ।

अक्षयं परमात्मानं ज्ञानमूर्तिं नमामि तम् ॥ १ ॥ स्वरूप संबोधन

मंगलाचरण करते हुए आचार्य श्री अकलंकमठ कहते हैं कि जो अविनश्वर ज्ञानमूर्ति परमात्मा ज्ञान-वरणादि द्रव्यकर्मों से, रागादिक भावकर्मों से व शरीर आदि नोकर्मों से मुक्त है और सम्यग्ज्ञान आदि स्वाभाविक-गुणों से प्रमुक्त है उस परमानंदमय परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ।

इसीप्रकार किसी अपेक्षा नियमित (क्रमबद्ध पर्याय) और किसी अपेक्षा से अनियमित (अक्रमबद्ध पर्याय) है।

अनेकान्त खिचड़ीवाद नहीं है जैसा कि शास्त्रीजी ने कहा है। अनेकान्त वस्तुस्वरूप है। वस्तुस्वरूप को खिचड़ीवाद कहना शास्त्रीजी को कहाँ तक शोभा देता है। जिसप्रकार पीलिया रोग वाले को सफेद वस्तु भी पीली

दिलाई देती है, उसीप्रकार एकान्तमिथ्यात्व से प्रसित प्राणी को अनेकान्तात्मक वस्तु भी एकान्त ही दिखाई देती है। ऐसे प्राणी के लिये स्याद्वाद से मुद्रित जिनघाणी परम औषधि है। यदि वह एकान्तवाद से दूषित श्रुतरूपी कुपथ का सेवन करेगा तो संसाररूपी रोग बढ़ता ही जावेगा।

—जं. ग. 13-12-62/X/ डी. एल. ब्राह्मी

मात्र आत्मयोग्यता से ही मोक्ष मानना एकान्त मिथ्यात्व है

शंका—क्या मात्र आत्मयोग्यता से ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है या अनुकूल बाह्य निमित्तों की भी आवश्यकता है ?

समाधान—मात्र आत्मयोग्यता से ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है, ऐसा एकान्तनियम नहीं है। मोक्षप्राप्ति के लिये अनेक कारणों में से एक कारण आत्मयोग्यता भी है। कार्य की सिद्धि अनेक कारणों से होती है एक कारण से कार्य की सिद्धि नहीं होती।^१ जितने भी भव्यजीव हैं उन सबमें मोक्षप्राप्ति की योग्यता है। कहा भी है—'जो जीव सिद्धत्व अर्थात् सर्वकर्म से रहित मुक्तिरूप भवस्था के पाने के योग्य हैं वे भव्यसिद्ध हैं।'^२ इसी के विशेषार्थ में पं० फूलचन्दजी ने १९३९ में लिखा है—'सिद्ध अवस्था की योग्यता रखते हुए भी तदनुकूल सामग्री के नहीं मिलने से सिद्ध पद की प्राप्ति नहीं होती है।' यदि मात्र आत्मयोग्यता से ही मोक्षप्राप्ति होती तो सब ही भव्य जीव मोक्ष में होते और संसार में भव्यों का अभाव हो जाने से अभव्यों के अभाव का प्रसंग आ जायगा। इसप्रकार संसारी जीवों के अभाव से मुक्त जीवों के अभाव का भी प्रसंग आ जायगा क्योंकि समस्त पदार्थ अपने प्रतिपक्षसहित उपलब्ध होते हैं इस नियम के अनुसार प्रतिपक्ष के अभाव में विवक्षित पदार्थ का भी अभाव हो जायगा (ध० पु० १४ पृ० २३४; ज० ध० पु० १ पृ० ५२-५३)।

मुक्तिप्राप्ति के लिये आत्मयोग्यता के साथ-साथ मनुष्यपर्याय, द्रव्य पुरुषवेद, वज्रवृषभनाराचसंहनन, उत्तम कुल आदि द्रव्य, क्षेत्र, काल और सम्यग्दर्शनादि भाव की भी आवश्यकता है। अष्टसहस्री कारिका ऋषि में भी कहा है कि देव और पुरुषार्थ दोनों से मोक्ष की सिद्धि होय है। अतः मात्र उपादान की योग्यता से कार्य की सिद्धि मानने वालों के एकान्त मिथ्यात्व का दूषण आता है। जैनधर्म का मूल सिद्धान्त अनेकान्त है। उसको नहीं छोड़ना चाहिये। मात्र आत्म-योग्यता से मुक्ति मानने पर स्त्री (महिला) की मुक्ति का निषेध नहीं हो सकेगा, जिनके पूर्व संस्कार महिला-मुक्ति के हैं वे ही संस्कारवश मात्र आत्मयोग्यता से मुक्ति मानते हैं।

—जं. ग. 5-12-63/IX/ पञ्जालाल

म्लेच्छों के मोक्ष का अभाव

शंका—म्लेच्छ उसी भव से मोक्ष जा सकता है या नहीं ?

समाधान—कर्मभूमिज म्लेच्छ दो प्रकार के हैं। पाँच म्लेच्छ खंडों में उत्पन्न होने वाले म्लेच्छ और आर्य-खण्ड में उत्पन्न होनेवाले शक, यवन आदि म्लेच्छ। आर्यखण्ड के म्लेच्छ तो मुनिदीक्षा के भी योग्य नहीं हैं, क्योंकि आर्यखण्ड के चार वर्णों में से उत्तम तीनवर्ण वाले दीक्षा के योग्य हैं [प्रवचनसार] म्लेच्छ खण्ड में उत्पन्न होने-

१. "सामग्री जनिका, नैक कारणं" (रा. या. अ. ५ सू. १७)

२. "सिद्धत्तणस्स जोग्गं जे जीवा ते हवति भवसिद्धा । [ध. पु. १ पु. १५१ तथा गो. जी. ५५८]

वाले म्लेच्छमनुष्य चक्रवर्ती के साथ आर्यखण्ड में आवें और म्लेच्छ राजाओं का चक्रवर्ती आदि के साथ विवाहादि संबंध पाइए है तिनके दीक्षा का ग्रहण संभवे है । [ल० सा० गाथा १६५ की संस्कृत टीका]

इन म्लेच्छ के भी ऐसे उत्कृष्टसंयम लब्धिस्थान नहीं होते जो उसी भव से मोक्ष हो सके । ऐसा लब्धि-सार गाथा १९५ की संस्कृत टीका से प्रतीत होता है । विद्वत्मंडल इस पर विशेष विचारने की कृपा करें ।

—जै. ग. 5-12-66/VIII/ २. ला. जैन

गणधरों के तद्भव मोक्षगामी होने का नियम नहीं

शंका—क्या गणधर तद्भव मोक्षगामी ही होते हैं ?

समाधान—सभी गणधरों के तद्भव मोक्षगामी होने का नियम नहीं है ।

—जै. ग. 23-5-63/ / पो. मनोहरलाल

६ मास ८ समय के ६०८ वें भाग में एक जीव की मुक्ति का नियम नहीं

शंका—६ महिने ८ समय में ६०८ जीव निगोद से निकलते हैं और इतने समय में इतने ही जीव मोक्ष जाते हैं, यह नियम है । यह ६ महीना ८ समय का काल कब से कब तक का है । अर्थात् कब से आरम्भ होकर चलता है अर्थात् उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी आदि कोई काल आरम्भ होने के साथ या और किसी प्रकार । यदि ऐसा न हो और कभी का ६ महीना ८ समय माना जाय तब तो ६ महिने ८ समय के पूरे काल में बराबररूप से विभक्त समयों में मोक्ष होना व निगोद से निकलना होना चाहिये ?

समाधान—छह महिने और आठसमय की गणना अनादिकाल से चली आ रही है । छहमहिने आठसमय की ऐसी संख्या है कि जिससे एकवर्ष या कल्पकाल पूरा विभाजित नहीं होता । अतः छहमहिने यह नहीं जान सकता कि छह महिने और आठसमय काल किस समय प्रारम्भ हुआ और किस समय समाप्त होगा । किन्तु मात्र छहमहिने के न जानने से, आर्षग्रंथ का कथन भूठ या अप्रमाण नहीं हो सकता । जिसप्रकार हम यह नहीं जानते कि अमुक निश्चित समय हमको दर्शनोपयोग होता है या इससमय ही रहा है तो क्या दर्शनोपयोग का अभाव है ? दर्शनोपयोग अवश्य है, किन्तु हमारा ज्ञान इतना कम है कि हम उसको नहीं जान सकते ।

श्री गौतम गणधर ने दिव्यध्वनि के आधार पर द्वादशाङ्ग में नानाजीवों की अपेक्षा मोक्ष जाने का उत्कृष्ट अन्तर छह महिना कहा है और निरंतर मोक्ष जाने का उत्कृष्ट काल ८ समय कहा है अतः छहमहिने आठसमय का काल ६०८ बराबर भागों में विभक्त नहीं है । कहा भी है—

चतुर्हं खवगणं अजोगिकेवलीणमतरं केवचिरं कालादो होवि, णाणाजीवं पडुच्च जहण्णेण एगसमयं ॥१६॥
उक्कस्सेण छम्मासं ॥१७॥ ध० पु० ५ पृ० २०-२१ ।

अर्थ—चारों क्षपक और अयोगिकेवली का अन्तर कितने काल होता है ? नानाजीवों की अपेक्षा जघन्य से एकसमय होता है और उत्कृष्ट अन्तरकाल छहमास होता है ।

“अट्टसमयाहिय-ख-मासभन्तरे खवगसेडि पाओगगा अट्टसमया ह्वन्ति ।” [ध० पु० ३ पृ० ९२]

अर्थ—आठसमय अधिक छह महीने के भीतर निरन्तर क्षपकश्रेणी के योग्य आठसमय होते हैं। साधु-पुरुषों के लिये आर्षग्रन्थ ही चक्षु हैं। उसी के आश्रय पर कुछ कहा जा सकता है मात्र मन की कल्पनाओं पर आर्ष-वाक्यों का विरोध नहीं होना चाहिये।

—जं. ग. 27-12-65/VIII/ र. ला. जैन

६ मास ८ समय में ६०८ या ५९२ जीव मोक्ष जाते हैं

शंका—६०८ जीवों के ६ महीने ८ समय में नियम से मोक्ष में जाने और इतने ही जीवों का नित्य निगोद से निकलने का कथन कहाँ पाया जाता है ? क्या यह संख्या निश्चित है या इसमें होन अधिकता भी हो सकती है ?

समाधान—श्री ज० घ० पु० ४ पृ० १०० पर कहा है कि छहमहीना आठसमय में छहसौआठ जीव जाते हैं और उतने ही जीव नित्यनिगोद से निकलते हैं। क्योंकि आर्य के अनुसार व्यय होता है।

“आयाणुसारिव्यसादो । अट्टुत्तरछस्सवजीवेषु चहुगदिणिगोदेहितो णिव्वाणं गवेसु णिव्वणिगोदेहितो चहुपदिणिगोवेसु एत्तिया च्चैव जीवा अट्टसमयाहियेच्छम्मासंतरेण पविस्संति स्सि परमगुह्ववेसादो ।”

ज० घ० पु० ४ पृ० १००

किन्तु श्री यतिवृषभाचार्य के मतानुसार ५९२ जीव ६ महीना आठसमय में मोक्ष जाते हैं।

तीवसमयाण संखे पणसयवाणउदिरवसंगुणिवं ।

अउसमयाधिये छम्मासय भजिवं णिव्ववा सव्वे ॥४॥२९६०॥ (ति० प०)

अर्थ—अतीतकाल के समयों की संख्या को पाँचसौ बानवें रूपों से गुणित करके उसमें आठ समय अधिक छहमासों के समयों का भाग देने पर लब्धराशि प्रमाण सब मुक्तजीवों की संख्या है।

यह तो निश्चित है कि छह महीने आठसमय में ६०८ या ५९२ जीव नित्यनिगोद से निकलकर व्यवहार-राशि में आवेंगे किन्तु, यह निश्चित नहीं है कि विवक्षित छह महीना आठ समय में अमुक-अमुक जीव नित्यनिगोद से निकलेंगे और न इसप्रकार का कथन आर्षग्रन्थों में पाया जाता है।

—जं. ग. 4-1-68/VII/ शं. कु. बड़जात्या

संहनन मोक्ष में साधक

शंका—यदि संहनन की कमीवाले को वैराग्य आ जाता है। तो उसको मोक्ष क्यों नहीं होता।

समाधान—सब प्राणी सुख की इच्छा करते हैं। वह सुख स्पष्टतया मोक्ष में है, वह मोक्ष सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रस्वरूप रत्नत्रय के सिद्ध होने पर होता है। वह रत्नत्रय दिगम्बरसाधु के होता है। उक्त साधु की स्थिति शरीर के निमित्त होती है।^१ लोक में मोक्ष के कारणीभूत जिस रत्नत्रय की स्तुति की जाती है

१. सर्वो वाञ्छति सौख्यमेव तनुभूतन्मोक्ष एव स्फुटम् ।

हृष्टवादिद्वय एव सिध्यति स तन्निग्रन्थ एव स्थितम् ।

तद्युक्तिर्वपुषोऽस्य वृत्तिरभ्रनात्तदीयते आयकैः;

कालेयिलश्टतटेऽपि मोक्षपदवीप्रायस्ततोऽर्तते ॥८॥ [पद्ममन्दिपंक्तिरिति अ.७]

बहु मुनियों के द्वारा शरीर की शक्ति से धारण किया जाता है ।^१ सम्यग्दर्शन संज्ञी अर्थात् मनवाले के ही होता है प्रसंज्ञी जीव के सम्यग्दर्शन नहीं होता ।^२ द्रव्यमन के बिना भावमन होता नहीं (ध. पु. १ पृ. २६०) । इसप्रकार शारीरिक शक्ति तथा द्रव्यमन भी मोक्ष प्राप्ति में सहकारीकारण है । अन्तर्मुहूर्त की स्थितिवाले ध्यान के लिये भी उत्तमसंहनन की आवश्यकता कही गई है ।^३ अतः जिसके संहनन की कमी है उसके वैराग्य तो हो सकता है, किन्तु शक्ति के अभाव में कारण शुद्धात्मस्वरूप में स्थित नहीं रह सकता, अतः उसको मोक्ष नहीं होता । कहा भी है—
 “विशिष्ट संहननावि शक्त्यभावात्प्रितरं तत्र स्थानुं न शक्नोति ।” “संहननाविशक्त्याभावाच्छुद्धात्मस्वरूपं स्थानुम-
 शक्यत्वाद्धर्तमानभवे पुण्यबंध एव, भवान्तरे तु परमात्मभावनास्थिरत्वे सति नियमेन मोक्षो भवति ॥” (पंचास्तिकाय
 गाथा १७० और १७१ पर श्री जयसेनाचार्य की टीका) अर्थात्—संहननादि की शक्तिके अभाव के कारण शुद्ध
 आत्मस्वरूप में स्थित होने के लिये अशक्य होने से वर्तमानभव में पुण्यबंध करके भवान्तर में नियम से मोक्ष जाता
 है । यद्यपि संहनन पुद्गलविपाकी कर्मप्रकृति है तथापि सर्वोत्कृष्ट संहनन बिना मोक्ष नहीं जा सकता । अतः
 संहननकी कमी मोक्ष के लिये बाधक कारण है ।

—जं. ग. / / अ. पन्नालाल

छहों संस्थानों से मोक्ष

शंका—छहों संस्थानों में से कौनसे संस्थान से मोक्ष है ? क्या वामनसंस्थान से भी मोक्ष है ?

समाधान—छहों संस्थान का उदय तेरहवेंगुणस्थान तक है क्योंकि संस्थाननामकर्मपुद्गलविपाकी है ।
 तेरहवेंगुणस्थान के अन्त में छहोंसंस्थानों की उदयव्युच्छिति होजाती है (गो. क. गाथा २७१ टीका) । चौदहवें-
 गुणस्थान में किसी भी संस्थान का उदय नहीं रहता और मोक्ष चौदहवेंगुणस्थान से होता है । तेरहवेंगुणस्थान में
 जब छहोंसंस्थानों में से किसी भी एक संस्थान का उदय संभव है तो वामनसंस्थान का उदय भी हो सकता है ।
 किन्तु उससे शरीर में इतना सूक्ष्म वामनपना होता है कि शरीर विडरूप नहीं हो जाता । कर्म का प्रनुभव उदय
 है । (प्राकृत पंचसंग्रह पृ० ६७६) । कर्म फल देने के समय में 'उदय' संज्ञा को प्राप्त होता है (जयधवल
 पु० १ पृ० २९१) ।

—जं. ग. 4-7-63/IX/ अ. मुखदेव

सिद्धों में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य

शंका—सिद्धों में भी उत्पाद, व्यय, ध्रुव कहा जाता है । व्यय किसप्रकार है ?

समाधान—सिद्धजीव द्रव्य की शुद्ध अवस्था है । उस शुद्धअवस्था में जीवद्रव्य भी तो है ही । द्रव्य का
 लक्षण 'सत्' कहा गया है और 'सत्' को उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यस्वरूप कहा है (त. सू. अध्याय ५ सूत्र २९, ३०) ।
 अतः सिद्धअवस्था में भी जीव के अगुरुलघुगुण द्वारा प्रतिसमय परिणामन होता रहता है । जिसके कारण प्रतिसमय

१. मोक्षस्य कारणमभिष्टुतमत लोके तद्धार्यते मुनिभिर्दण्डलात्तदज्ञात् । [पं. पं. २/१२ पूर्वार्ध]

२. एडंदिद्या बीडंदिद्या तीडंदिद्या वडंदिद्या अडण्णिणपिचिदिद्या एकम्मि चय मिच्छाडडिठगुणट्ठाणे ॥३६॥

[धयल १/२६१]

३. उत्तमसंहनमस्यैकाग्रचित्तानिरोधो ध्यानमागतमुहूर्तात् । [त. सू. ६/२७]

पूर्व-पूर्व पर्याय का व्यय और नवीन-नवीनपर्याय का उत्पाद होता रहता है। यह परिणामन शुद्ध होने के कारण सद्यपरिणामन होता है। आत्मा में प्रतिसमय जानने की क्रिया होती रहती है। अथवा ज्ञेयपदार्थों में प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय होता रहता है अतः केवलज्ञान में भी ज्ञेयों की अपेक्षा प्रतिसमय परिणामन (उत्पाद, व्यय) होता रहता है (प्र. सा. गा. १९, श्री जयसेनाचार्य की टीका; ज. ध. पु. १ पृ. ५१ व ५५ बृहद्ब्रह्मसंह पृ. ४६ संस्कृत टीका) पूर्व-पूर्व पर्याय के व्यय की अपेक्षा सिद्धों में भी प्रतिसमय उत्पाद व व्यय सिद्ध हो जाता है।

—ज. ग. 13-6-63/IX/ ब्र. सुखदेय

शुद्धात्मा में योगशक्ति का अभाव

शंका —योग आत्मा की शक्ति है और शक्ति का कभी अभाव होता नहीं है। अतः मुक्तजीवों में भी योग-शक्ति होना चाहिये ?

समाधान—सिद्धों में योगशक्ति नहीं है, क्योंकि आत्म-परिस्पन्दरूप क्रिया का अभाव है। सिद्धों में तो निष्क्रियत्वशक्ति है। श्री समयसार में भी कहा है—“सकलकर्मोपरमप्रवृत्तात्मप्रदेशैर्नोपैच्छरूपानिष्क्रियत्वशक्तिः।” अर्थात् समस्तकर्मों के उपरम से प्रवृत्त आत्मप्रदेशों की निष्पन्दता स्वरूप निष्क्रियत्वशक्ति है। इसका अभिप्राय यह है कि कर्मों के कारण आत्मप्रदेशों में परिस्पन्द होता था, कर्मों का अभाव हो जाने पर मुक्तआत्मा में स्वाभाविक-निष्क्रियत्वशक्ति प्रगट हो जाती है। सिद्धों में जब निष्क्रियत्वशक्ति है तो योगशक्ति अर्थात् क्रियावतीशक्ति नहीं हो सकती। यहाँ पर भी परिस्पन्द को क्रिया कहा है।

गो० जीवकाण्ड में निम्नलिखित गाथा आई है; जिसके आधार पर मुक्तजीवों में योगशक्ति कही जाती है।

पुद्गलविवाई देहोदयेण मणवयण—काय—जुत्तस्स।

जीवस्स जा हु सत्ती कम्मगमकारणं जोगो ॥

अर्थात्—पुद्गलविपाकी शरीरनामकर्मोदय से, मन, वचन, काययुक्त जीव की उसशक्ति को योग कहते हैं जो कर्मों के आगमन में कारण है।

इस गाथा में “मन, वचन, काय से युक्त जीव की शक्ति है” इस पदपर से स्पष्ट कर दिया कि यह शक्ति संसारीजीव की है, मुक्तजीव की नहीं है, क्योंकि मुक्तजीव मन, वचन, काययुक्त नहीं होते हैं। “पुद्गलविपाकी नामकर्म के उदय से” इस पद से यह स्पष्ट करा दिया कि संसारी जीव की यह शक्ति स्वाभाविक शक्ति नहीं है, किन्तु कर्मोदयकृत है। क्योंकि जहाँ तक शरीर नामकर्म का उदय रहता है वहाँ तक अर्थात् तेरहवेंगुणस्थान तक कर्मों के आगमन में कारणरूप शक्ति अर्थात् योग रहता है। चौदहवें गुणस्थान में शरीरनाम कर्मोदय का अभाव हो जाता है अतः इस शक्तिरूप उपयोग का भी अभाव हो जाता है। इसी प्रकार मुक्त जीवों में भी कर्मों के आगमन में कारणरूप शक्ति का अभाव है। श्री कुम्बकुन्दादि आचार्यों ने मुक्त जीवों में योगशक्ति का सद्भाव नहीं बतलाया है। आर्षग्रन्थ के आधार के बिना मुक्तजीवों में योगशक्ति कहना उचित प्रतीत नहीं होता। सिद्ध भगवान में चारित्र्य का अभाव और योग का सद्भाव मानना कहाँ तक ठीक है? विद्वान इस पर गम्भीरता से विचार करें।

—ज. ग. 28-2-66/IX/ र. ला. जैन

मोक्षमार्ग में अवलम्बन

शंका—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य की एकतारूप जो मोक्षमार्ग है वह किसके अवलम्बन से होता है ? क्या पारिणामिकभाव के अवलम्बन से होता है ?

समाधान—सात तत्त्वों के श्रद्धान व ज्ञान से सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है कहा भी है 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥ 'जीवाजीवास्त्रबन्ध-संबन्ध-निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम् ॥ ४ ॥ (मो. शा. प्रथम अध्याय) इसीप्रकार समयसार में भी कहा है—

‘भूयश्चेणाधिगदा जीवाजीवा य पुष्पपावं च ।
आसवसंबन्धरणिञ्जर बंधोमोक्खो य सम्मत्तं ॥ १३ ॥’

नियमसार गाथा ५ में भी कहा है—

‘अत्तागमतकृष्णं सहहणाधो हवेद्द सम्मत्तं ।’

बृहद्ब्रह्मसंग्रह में भी कहा है—

जीवाजीसद्गृहणं सम्मत्तं क्वमत्पणो तं तु ।
दुरभिनियेस—विमुक्कं णाणं सम्मं खु होवि सवि जम्हि ॥४१॥

इसप्रकार से जीवादि सात तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है और वह सम्यग्दर्शन निश्चय से आत्मा का ही परिणाम है अतः निश्चय से आत्मा ही सम्यग्दर्शन है और दुरभिनियेस (संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय) से रहित सम्यग्ज्ञान है ।

बृहद्ब्रह्मसंग्रह गाथा ४५ व ३६ में चारित्र्य का लक्षण कहा है । निश्चयसम्यक्चारित्र्य का लक्षण इसप्रकार कहा है—‘संसार के कारणों को नष्ट करने के लिये जानी जीव के जो बाह्य और अन्तरंग क्रिया का निरोध है वह निश्चयचारित्र्य है ।’ चारित्र्य में भी ध्यान की मुख्यता है क्योंकि कर्मों को विशेष निर्जरा ध्यान से होती है । इस ध्यान में किसका अवलम्बन होता है ध्येय क्या होता है ? इस विषय में बृहद्ब्रह्मसंग्रह गाथा ५५ में कहा है जिस किसी पदार्थ का ध्यान करते हुए साधु जब निस्पृहवृत्ति (समस्त इच्छारहित) होते हुए एकाग्रचित्त होते हैं तब उनका वह ध्यान निश्चयध्यान होता है ।’ घ. पु. १३ पृ ७० पर ध्येय का कथन करते हुए कहा है कि ‘जिनदेव, द्वारा सपदिष्ट नौ पदार्थ, बारह अनुप्रेक्षा, श्रेणी आरोहण विधि, तेईस वर्गणायें, पांच परिवर्तन, प्रकृति, प्रवेश, स्थिति, अनुभाग अथवा यह लोक ध्यान के आलम्बन से भरा हुआ है, क्योंकि क्षणिक मन से जिस-जिस वस्तु को देखता है वह-वह वस्तु ध्यान का आलम्बन होती है ।’ आज्ञाविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय ये सब धर्मध्यान हैं । मात्र पारिणामिकभाव के आलम्बन से ध्यान होता है, ऐसा एकान्त नहीं है, किन्तु नीचली अर्थात् प्रारम्भिक अवस्था में आत्मा के शुद्ध स्वरूप अर्थात् परमात्मा के स्वरूप को ध्येय बनाना चाहिये, क्योंकि वहां पर अन्य ध्येयों में रागादि की उत्पत्ति की सम्भावना है ।

पारिणामिकभाव तो न बन्ध का कारण है और न मोक्ष का कारण है । क्योंकि पारिणामिकभाव अनादि-अनन्त होने से नित्य हैं । नित्य में अर्थ-क्रिया बनती नहीं । स्पष्ट है कि प्रथमक्रिया क्रमशः या युगपत् होती है और क्रम तथा योगपद्य नित्य में बनते नहीं । पारिणामिकभाव न शुद्ध हैं, न ही अशुद्ध हैं, क्योंकि वह नित्य हैं । नित्य होने से न वह कारण है और न कार्य है । कहा भी है—

ओदइया बंधयरा उखसम खय-मिस्सया य मोखयरा ।

भावो कु पारिणामिओ करणोभय-वज्जियो होवि ॥३॥

अर्थ—ओदयिकभाव बंध करनेवाले हैं; ओपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिकभाव मोक्षके कारण हैं, तथा पारिणामिकभाव बन्ध और मोक्ष दोनों के कारण से रहित हैं (ध. पु. ७ पृ. ९)

इस सबका सार यह है कि रागभाव बन्ध का कारण है और वीतरागता मोक्ष का कारण है। कहा भी है—

रत्तो बंधावि कम्मं मुंचवि जीवो विराग संपत्तो ।

एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेषु मा रज्ज ॥१५०॥ (समयसार)

अर्थात्—रागी कर्मों को बांधता है, वीतरागी कर्मों से छूट जाता है, यह जिन भगवान का उपदेश है।

—जै. ग. 23-5-63/IX/ प्रो. मनोहरलाल जैन

सिद्धों में किस कर्म के क्षय से कौनसे गुण का प्रादुर्भाव होता है ?

शंका—किस कर्म के क्षय से कौनसा गुण सिद्धों में प्रगट होता है ? सिद्धों में अवगाहनस्व नामका गुण किस कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है ? और उसका क्या कार्य है ?

समाधान—श्री अमृतचन्द्राचार्य ने 'तत्त्वार्थसार' के मोक्षतत्त्व वर्णन के श्लोक ३७-४० में कर्मक्षय की अपेक्षा सिद्धों के गुणों का कथन किया है।

ज्ञानावरणहानान्ते, केवलज्ञानशालिनः ।

दर्शनावरणच्छेदादुद्यत् केवलदर्शनाः ॥३७॥

वेदनीयसमुच्छेदावध्याबाधत्वमाभिताः ।

मोहनीयसमुच्छेदात्सम्यक्त्वममलं भिताः ॥३८॥

आयुः कर्मसमुच्छेदात्, परमं सौक्ष्म्यमाभिताः ।

नामकर्मसमुच्छेदादवगाहनशालिनः ॥ ३९ ॥

गोत्रकर्मसमुच्छेदात्सदाऽगौरव लाघवाः ।

अन्तरायसमुच्छेदादनन्तवीर्यमाभिताः ॥४०॥

इन श्लोकों में यह बतलाया गया है—ज्ञानावरणकर्म के नाश से केवलज्ञान, दर्शनावरण के नाश से केवलदर्शन, वेदनीयकर्म के नाश से अवध्याबाध, मोहनीयकर्म के नाश से सम्यक्त्व, आयुर्कर्म के नाश से सौक्ष्म्य, नामकर्म के नाश से अवगाहन, गोत्रकर्म के नाश से अगुणलघु और अन्तरायकर्म के नाश से अनन्तवीर्य इसप्रकार आठकर्मों के नाश से सिद्धों में आठ गुण होते हैं। यह कथन परमात्मप्रकाश गाथा ६१ की टीका में भी है। तथा ध. पु. ७ पृ. १४ पर भी है।

सिद्धों में अवगाहनगुण नामकर्म के क्षय से होता है। इसका कार्य अनन्तानन्तसिद्धों को अवगाह देना है। उस क्षेत्र में स्थित एकेन्द्रियजीवों को तथा पुद्गल आदि पाँचद्रव्यों को अवगाहन देना। किन्तु समस्त जीवों को समस्त पुद्गलों को, सम्पूर्ण धर्मद्रव्य को, सम्पूर्ण अधर्मद्रव्य को, समस्त कालद्रव्यों को, सम्पूर्ण आकाशद्रव्य को अवकाश देने में असमर्थ होने के कारण सिद्धों का अवगाहनहेतुत्व लक्षण नहीं कहा गया है। आकाशद्रव्य सम्पूर्ण

और समस्त द्रव्यों को अवगाहन देता है, इसलिये आकाशद्रव्य का अवगाहनहेतुत्व लक्षण कहा गया है। सिद्धों में इन आठगुणों के अतिरिक्त अन्य भी अनन्तगुण हैं। जैसे—अकषायत्व, धीतरागता, निर्नामता आदि।

—जै. ग./...../...../.....

शंका—सिद्धों में सुख किस कर्म के अभाव से होता है ?

समाधान—इस सम्बन्ध में कोई एकान्त नियम नहीं है।

श्री पद्मनन्दि आचार्य ने मोह के क्षय से सिद्ध भगवान में सुख स्वीकार किया है—‘सौख्यं च मोहक्षयात् ।’

संस्कृत टीका—‘सिद्धानां सौख्यं वर्तते । कस्मात् ? मोहक्षयात् ।’

अर्थ—मोहनीय कर्म के क्षय से सुख प्रगट होता है। सिद्ध भगवान के मोह का क्षय हो जाने से सुख वर्तता है।

श्री भूतसागर आचार्य ने भी कहा है—‘निर्वाणसुखम् तत्सुखं मोहक्षयात् ।’

अर्थात्—निर्वाणसुख मोहक्षय से होता है।

सुख का लक्षण अनाकुलता है (अनाकुलत्वलक्षणं सौख्यं)। रागद्वेष अर्थात् कषाय से आकुलता होती है। चारित्रमोह का क्षय हो जानेपर रागद्वेष कषाय का अभाव हो जाने से अनुकूलता स्वयमेव हो जाती है। इस अपेक्षा से चारित्रमोह के क्षय से सुख प्रगट होता है, ऐसा आर्षंवाक्य है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने ‘स्वभावप्रतिघाताभावहेतुकं हि सौख्यं’ अर्थात् सुख का कारण स्वभाव (ज्ञान-दर्शन) के घातक (ज्ञानावरण-दर्शनावरण) कर्मों का क्षय है, ऐसा सुख का लक्षण किया है। अतः इनके तथा श्री कुम्भकुम्भाचार्य के मतानुसार चारों घातियाकर्मों के क्षय से सुख होता है, क्योंकि जहाँ पर स्वभाव का घात है वहाँ पर सुख नहीं हो सकता।

अव्याबाधगुण की अपेक्षा, वेदनीयकर्म के क्षय से सुख उत्पन्न होता है, क्योंकि वेदनीयकर्म सुख गुण का प्रतिबन्धक है।

‘आयुष्यवेदनीयोक्षययोर्जोष्वर्ध्वगमनप्रतिबन्धकयोः सत्त्वात् ।’

अर्थात्—ऊर्ध्वगमनस्वभाव का प्रतिबन्धक आयुर्कर्म का उदय और सुखगुण का प्रतिबन्धक वेदनीयकर्म का उदय अरिहंतों के पाया जाता है।

जस्सोदण जीवो सुहं व दुषखं व बुविहमणुहवइ ।

तस्सोदयवखणण बु जायवि अप्पत्थणंतसुहो ॥

अर्थ—जिस वेदनीयकर्म के उदय से जीव सुख और दुख इसप्रकार की दो अवस्थाओं का अनुभव करता है, उसी वेदनीयकर्म के क्षय से आत्मस्थ अनन्तसुख उत्पन्न होता है।

‘सिद्धानाम् अक्षयम् इन्द्रियउत्पन्नम् सुखं दुःखं न । कस्मात् ! वेदनीयकर्मविरहात् नाशात् ।।’

अर्थात्—सिद्ध भगवान के इन्द्रियजनित सुखदुःख नहीं है, क्योंकि वेदनीयकर्म का क्षय हो गया है।

इसप्रकार भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से सुखोत्पत्ति के विषय में अनेक कथन हैं जो वास्तविक हैं। जो मोह के क्षय से सुख नहीं मानता उसने ‘स्याद्वाद’ को नहीं समझा।

—जै. ग. 6-2-67/IX/.....

कथंचित् चारों गतियों से सिद्धि

शंका—तत्त्वार्थसूत्र दसमअध्याय में गति आदि की अपेक्षा आठ भेद कैसे सम्भव हैं, क्योंकि सिद्ध तो मात्र मनुष्यगति से होते हैं ?

समाधान—द्रव्याधिकनय की अपेक्षा न तो बंध है, न मोक्ष है, न मनुष्य आदि गति है। व्यवहारनय की अपेक्षा बंध, मोक्ष आदि सब अवस्थाएँ हैं। मनुष्यगति नशमकर्म के उदय से जीव और पुद्गल इन दोनों द्रव्यों की जो असमानजाति द्रव्यपर्याय उत्पन्न होती है, वह मनुष्यगति है। मनुष्यगति में ही तप होता है। मनुष्यगति में ही समस्त महाव्रत होते हैं, मनुष्यगति में ही शुक्लध्यान होता है और मनुष्यगति से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है (स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २९९)। भूतनय (भूतपूर्व प्रज्ञापननय) की दृष्टि से अनन्तर गति की अपेक्षा केवल मनुष्यगति से सिद्ध होता है, किन्तु एकान्तरगति की अपेक्षा चारों गतियों से सिद्ध होते हैं; क्योंकि, किसी भी गति से मनुष्य होकर सिद्ध हो सकता है। प्रत्युत्पन्नदृष्टि से सिद्धगति में सिद्ध होते हैं (रा० बा० अ० १० सूत्र ९ वार्तिक ४)।

अनेकान्तदृष्टि से आगम में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि आगम में कथन अनेकान्तदृष्टि से है।

—जे. ग. 10-10-63/IX/ गुलजारीलाल

साक्षात् और परम्परा मोक्षमार्ग

शंका—संसार और मोक्ष का क्या कारण है ?

समाधान—राग-द्वेष संसार के कारण हैं और वीतरागता मोक्ष का कारण है, श्री कुम्भकुम्भाचार्य ने भी कहा है—

रत्तोबंधवि कम्मं मुंचवि जीवो विरागसंपत्तो ।

एसो जिणोवबेसो तम्हा कम्मेषु मा रज्ज ॥१५०॥ सवयसार

अर्थ—रागी जीव तो कर्म को बाँधता है तथा बंधन को प्राप्त हुआ जीव कर्म से छूट जाता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। यह जिन भगवान का उपदेश है। इस कारण कर्मों में प्रीति मत करो, रागी मत होओ।

श्री अमृतचन्द्राचार्य इसकी टीका में लिखते हैं—

“य खलु रत्तोऽवश्यमेव कर्म बध्नीयात् विरक्त एव मुच्येतेश्यमागमः ।”

अर्थ—जो रागी है वह अवश्य कर्मों को बाँधता ही है और विरक्त है वही कर्मों से छूटता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है, ऐसा यह आगम का वचन है।

रत्तोबंधवि कम्मं मुच्चवि कम्मेषि रागरहित्त्वात्पा ।

एसो बंधसमाप्तो जीवाणं जाण जिच्छवदो ॥१७८॥ प्रवचनसार

अर्थ—रागी आत्मा कर्मों को बाँधता है और रागरहित आत्मा कर्मों से मुक्त होता है। यह जीवों के बंध का संक्षेप कथन है, ऐसा निश्चय से जान।

तम्हा णिब्भुविकाभो रागं सवत्थ कुणदि मा किञ्चि ।

सो तेण बीदराणो भवियो भवसायरं तरदि ॥१७२॥ (पंचास्तिकाय)

अर्थ—इसलिये मोक्षाभिलाषी जीव सर्वत्र किञ्चित् भी राग न करो । ऐसा करने से वह भव्य जीव वीतरागी होकर भवसागर से तिरता है ।

इसकी टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—

“साक्षात्मोक्षमार्गपुरस्सरो हि वीतरागत्वम् ।”

अर्थात्—साक्षात्मोक्षमार्ग में सचमुच वीतरागता ही प्रयत्न है ।

शंका—पंचास्तिकाय गाथा १७२ की टीका में श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने वीतरागता को साक्षात् मोक्षमार्ग कहा है तो क्या उसका प्रतिपक्षी परम्परा मोक्षमार्ग भी है । यदि परम्परा मोक्षमार्ग नहीं तो साक्षात् मोक्षमार्ग भी नहीं हो सकता, क्योंकि ‘सर्वे सप्रतिपक्ष है’ ऐसा सिद्धान्त है । वह परम्परा मोक्षमार्ग क्या है ?

समाधान—साक्षात् मोक्षमार्ग का प्रतिपक्षी परम्परा मोक्षमार्ग है । श्री अमृतचन्द्राचार्य ने इस परम्परा-मोक्षमार्ग का कथन किया है । जो इसप्रकार है—

“अहंदादिभक्तिरूपपरसमयप्रवृत्तेः साक्षान्मोक्षहेतुत्वाभावेऽपि परम्परया मोक्षहेतुत्वसद्भावद्योतनमेतत् ।”

सपयत्थं तित्थयरं अभिगवब्भुद्धिस्स सुत्तरोइस्स ।

दूरतरं णिव्वाणं संजमतव संपओत्तस्स ॥ १७० ॥ (पंचास्तिकाय)

“यः खलु मोक्षार्थमुद्यतमनाः समुपाजिताचिन्त्यसंयमतपोभारोऽप्यसंभावित-परम-वैराग्य-भूमिकाधिरोग्ण-समर्थप्रभुशक्तिः पिञ्जनलज्जतूलन्यासन्यायेन नवपदार्थैः सहाहंदादिश्चिरुपा परन्तमयप्रवृत्ति परित्यक्तुं नोत्सहते, स खलु न नाम साक्षान्मोक्षं सभते सुरलोकादिक्लेशप्राप्तिरूपया परम्परया तमवाप्नोति ।”

अर्थ—अहंतादि की भक्तिरूप पर-समय प्रवृत्ति में साक्षात् मोक्षमार्ग का अभाव होने पर भी परम्परा मोक्षमार्ग के सद्भाव का द्योतन करते हैं—

गाथार्थ—संयतप संयुक्त होने पर भी, नव-पदार्थ तथा तीर्थंकर के प्रति जिसका झुकाव है और जिनसूत्रों में जिसको प्रीति है, वह जीव अभी निर्वाण से दूर है । अर्थात् वह परम्परा से निर्वाण को प्राप्त करेगा ।

टीकाार्थ—जो जीव वास्तव में मोक्ष के लिये उद्यमी है श्रीर अचिन्त्य संयम व तप का धारक है फिर भी परम वैराग्य को प्राप्त करने में असमर्थ है इसलिये नवपदार्थ तथा अहंतादि की प्रीतिरूप पर-समय प्रवृत्ति को त्याग नहीं सकता, वह जीव वास्तव में साक्षात् मोक्ष को प्राप्त नहीं करता अर्थात् उसी भव से मोक्ष नहीं जाता, किन्तु देवलोक आदि की परम्परा द्वारा निर्वाण को प्राप्त कर लेता है ।

श्री जयसेनाचार्य ने भी इस गाथा की उत्थानिका में कहा है—

“अथाहंदादि-भक्तिरूपपरसमयप्रवृत्तशुद्धस्म साक्षान्मोक्षहेतुत्वाभावेऽपि परम्परया मोक्षहेतुत्वं द्योतयत् ।”

अर्थात्—अहंत् आदि भक्ति साक्षात् मोक्षमार्ग नहीं है, किन्तु परम्परा मोक्ष का कारण है ।

संपञ्जवि णिञ्जाणं देवासुर मण्ण्यरायजिहवेहि ।

जीवस्स चरित्तवो वंसणणाणप्पहाणावो ॥६॥ (प्रवचनसार)

अर्थात्—दर्शन और ज्ञान की मुख्यतासहित चारित्र्य से जीव को इन्द्र, असुरेन्द्र और चक्रवर्ती प्रादि की सम्पदासहित निर्वाण मिलता है ।

श्री जयसेनाचार्य भी इसकी टीका में लिखते हैं—

“सरागचारित्रात् पुनर्देवासुरमनुष्यराजविभूतिजनको मुख्यवृत्त्याविशिष्ट पुण्यबन्धो भवति, परम्परा-निर्वाणचेति ।”

अर्थ—सरागचारित्र्य से मुख्यरूप से विशिष्टपुण्य बंध होता है जिससे देवेन्द्र, असुरेन्द्र और चक्रवर्ती की विभूति मिलती है तथा परम्परासे निर्वाण मिलता है ।

“तपोधनाः शेषतपोधनानां वैयावृत्यं कुर्वाणा सन्तः कायेन किमपि निरवद्यवैयावृत्यं कुर्वन्ति । वचनेन धर्मोपदेशं च शेषमौषधास्रपानादिकं गृहस्थानामाधीनं तेन कारणेन वैयावृत्यरूपो धर्मो गृहस्थानां मुख्यः तपोधनानां गौणः । द्वितीयं च कारणं निधिकारविच्छिन्नभस्कारभावना-प्रतिपक्षभूतेन विषयकषायनिमित्तोत्पन्नेनार्तरीद्रध्यानद्वयेन परिणतानां गृहस्थानामात्ममाश्रितनिश्चयधर्मस्यावकाशो नास्ति वैयावृत्यादि धर्मेण बुध्यमानवञ्चना भवति तपोधन-संसर्गेण निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गोपवेशलाभो भवति । ततश्च परंपरया निर्वाणं लभंत इत्यभिप्रायः ।”

[प्रवचनसार गाथा २५४ टीका]

अर्थ—शेष तपोधन की वैयावृत्ति करनेवाला मुनि काय से पापरहित वैयावृत्ति का कार्य करता है और वचन से धर्मोपदेश देता है । औषधि और भोजन आदि गृहस्थों के आधीन है । इसलिये मुनियों के वैयावृत्ति गौण है और गृहस्थों के मुख्य है । विषय-कषाय के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले आर्त-रीद्र खोटे ध्यान से बचने के लिए तथा मुनियों के संसर्ग से निश्चय व व्यवहार मोक्षमार्ग के उपदेश के लाभ के लिये भी गृहस्थ वैयावृत्ति करता है । इसलिये वैयावृत्ति से परम्परा निर्वाण की प्राप्ति होती है ।

“सम्यक्त्वपूर्वकः शुभोपयोगो भवति तदा मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धो भवति परम्पराया निर्वाणं च । नो पुण्यबन्ध-मात्रमेव ।” [प्रवचनसार गाथा २५५ की टीका]

अर्थ—सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग से मुख्यपने पुण्यबंध होता है, किन्तु परम्परा से निर्वाण की प्राप्ति होती है, मात्र पुण्यबंध नहीं होता ।

इन आर्थ वाक्यों से सिद्ध है कि पूर्व अवस्था में रत्नत्रय साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं है, किन्तु परम्परा से मोक्ष का कारण है ।

शंका—वीतरागता को मोक्ष का साक्षात् कारण बतलाया वीतरागता, रत्नत्रय और सम्यक्चारित्र्य में क्या अन्तर है या ये तीनों एक ही हैं ?

समाधान—वीतरागता, रत्नत्रय और सम्यक्चारित्र्य इन तीनों का एक ही अभिप्राय है । श्री कुन्वकुन्दाचार्य ने कहा भी है—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्धिद्वो ।

मोहखोह-विहीणो परिणामो अप्पणो ह्नु तन्नो ॥७॥ प्रवचनसार

अर्थ—चारित्र्य वास्तव में धर्म है, ऐसा श्री सर्वज्ञदेव ने कहा है। साम्य मोह-क्षोभरहित आत्मा का परिणाम है।

इसकी टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने साम्यरूप चारित्र्य का लक्षण इसप्रकार कहा है—

‘साम्यं तु दर्शनचारित्र्यमोहनीयव्यथापादितसमस्तमोहक्षोभाभावावत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणामः ।’

अर्थ—दर्शनमोहनीय तथा चारित्र्यमोहनीय के उदय से उत्पन्न होने वाले समस्त मोह और क्षोभ के अभाव के कारण अत्यन्त निर्विकार ऐसा जीव का परिणाम साम्य अर्थात् वीतरागता है।

श्री पंचास्तिकाय गाथा १५४ की टीका में भी कहा है—

‘रागादिपरिणामाभावनिन्दितं तच्चरितं; तदेव मोक्षमार्गं इति । तत्र यस्त्वभावावस्थितास्तित्वरूपं परमावावस्थितास्तित्वव्यावृत्तवेनात्यन्तमनिन्दितं तदत्र साक्षान्मोक्षमार्गत्वेनावधारणीयमिति ।’

अर्थात्—रागादिपरिणाम के अभाव के कारण जो अनिन्दित है वह चारित्र्य है, वही मोक्षमार्ग है। स्वभाव में अवस्थित अस्तित्वरूप चारित्र्य, जो कि परभावों में अवस्थित अस्तित्व से भिन्न होने के कारण अत्यन्त अनिन्दित है, वह साक्षात् मोक्षमार्गरूप से अवधारणा है।

वीतरागचारित्र्य में ही बंध के हेतु (राग-द्वेष) का अभाव है और इससे ही कर्मों की निर्जरा होती है इसीलिये वीतरागचारित्र्य को साक्षात् मोक्ष मार्ग कहा गया है।

श्री उमास्वामि ने कहा भी है—

अन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मबिप्रसोक्षो मोक्षः ॥१०॥२॥

अर्थ—बंध हेतुओं के अभाव और निर्जरा से सब कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है।

शंका—पूर्ण वीतरागता कौनसे गुणस्थान में हो जाती है ?

समाधान—मोहनीयकर्म रागद्वेष की उत्पत्ति में मुख्य कारण है। बारहवें क्षीणमोहगुणस्थान में मोहनीय-कर्म का क्षय हो जाने से रागद्वेष का अभाव हो जाने के कारण पूर्ण वीतरागता हो जाती है। इसीलिये प्रथमसार गाथा ७ की टीका में और पंचास्तिकाय गाथा १५४ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने लिखा है कि ‘मोहनीयकर्म से उत्पन्न होने वाले समस्त मोह क्षोभ (रागद्वेष) के अभाव के कारण जीव के अत्यन्त निर्विकार परिणाम होते हैं। और वह परिणाम ही चारित्र्य है तथा मोक्षमार्ग है।

शंका—जब क्षीणमोह गुणस्थान में पूर्ण वीतरागचारित्र्य हो जाता है तो उसी समय मोक्ष क्यों नहीं हो जाती ?

समाधान—यह सत्य है कि वीतरागता अथवा साम्यभाव की पूर्णता क्षीणमोह गुणस्थान में हो जाती है और यह वीतरागता ही साक्षात् मोक्ष का कारण है। जैसा कि श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पंचास्तिकाय गाथा १७२ में कहा है—

‘साक्षान्मोक्षमार्गपुरस्सरो हि वीतरागत्वम् ।’

अर्थात्—साक्षात् मोक्षमार्ग में सच्चमुच वीतरागता ही अग्रसर है।

फिर भी उसको अशरीर अवस्था उत्पन्न करने के लिये सहकारीकारणों की और बाधककारणों के अभाव की अपेक्षा रहती है। कहा भी है—

‘क्षीणकषाये दर्शन-चारित्रयोः क्षायिकत्वेपि मुक्त्युत्पादने केवलापेक्षित्वस्य सुप्रसिद्धत्वात् ।’

श्लो० वा० पृ० ४८७ प्र० पु०

अर्थात्—क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान की आदि में सम्यक्त्व और चारित्र क्षायिक हो जाने पर भी मुक्तिरूप कार्य की उत्पत्ति करने में केवलज्ञान की अपेक्षा रहती है, यह भले प्रकार प्रसिद्ध है।

मनुष्यायु की शेष स्थिति मुक्तिरूप कार्य की उत्पत्ति में बाधककारण है। केवलज्ञान के हो जाने पर भी वीतरागचारित्र में मुक्तिरूप कार्य की उत्पत्ति करने की शक्ति मनुष्यायु के शेष-स्थिति-काल द्वारा बाधित हो रही है जो आयु के अन्तिम समय में अथवा चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगी जिनेन्द्र के अन्तिम समय में बाधक कारणों का अभाव हो जाने पर अपना कार्य अर्थात् मुक्ति को उत्पन्न कर देता है।

तेनायोगिज्जिनस्यान्त्यक्षणवर्ति प्रकीर्तितम् ।

रत्नत्रयमशेषाद्यविघातकरणं ध्रुवम् ॥ ४७ ॥ (श्लो० वा० प्र० पु० पृ० ४८९)

इसलिये अयोगीजिन के चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम-समयवर्ती रत्नत्रय सम्पूर्ण कर्मों का विघात करने वाला कहा गया है।

केवलज्ञान आदि सहकारी कारणों से अथवा बाधककारणों के अभाव से बारहवेंगुणस्थान के क्षायिकचारित्र के अविभागी प्रतिच्छेदों में अथवा क्षायिकचारित्र में कोई वृद्धि नहीं होती है, जैसा कि कहा भी है—

“क्षायिकभावानां हानिर्नापि वृद्धिरिति ।”

अर्थ—क्षायिकभावों के हानि भी नहीं होती और वृद्धि भी नहीं होती।

भावों में हानि-वृद्धि का कारण प्रतिपक्षीकर्म है अतः कर्म का अय हो जाने पर क्षायिक भाव में हानि-वृद्धि नहीं होती। इस अपेक्षा से बारहवें गुणस्थान में वीतरागचारित्र की पूर्णता हो जाती है। फिर भी वह, सहकारी कारणों के अभाव में और बाधक कारणों के सद्भाव में अनन्तर समय में मुक्तिरूप कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता, इसलिये साक्षात् कारण की अपेक्षा चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समयवर्ती वीतरागचारित्र को समर्थ कारण अथवा साक्षात् कारण कहा गया है। उससे पूर्व का रत्नत्रय परम्पराकारण अथवा असमर्थकारण है। इन दोनों कथनों में कोई विवाद नहीं है, क्योंकि मात्र विवक्षा भेद है। दोनों ही कथन अपनी अपनी विवक्षा से यथार्थ हैं।

शंका—जब सभी जीवों के बारहवेंगुणस्थान में पूर्णवीतरागचारित्र हो जाता है तो सभी जीवों को समान काल के पश्चात् ही मोक्ष हो जाना चाहिये था, किन्तु कुछ तो अन्तर्मुहूर्त पश्चात् ही मुक्त हो जाते हैं और कुछ आठ वर्ष कम एक कोटि पूर्व पश्चात् मोक्ष को प्राप्त होते हैं और कुछ इन दोनों के मध्यकालों में मुक्त होते हैं। इस काल की भिन्नता से यह ज्ञात होता है कि तेरहवेंगुणस्थान में सभी जीवों के वीतराग-परिणाम समान नहीं होते। तेरहवेंगुणस्थान में वीतराग-परिणामों की विभिन्नता से यह सिद्ध होता है कि बारहवें-गुणस्थान में वीतराग-चारित्र पूर्ण नहीं होता।

समाधान—बारहवें आदि तीनों गुणस्थानों में सभी जीवों के वीतरागपरिणाम समान होते हैं, उनमें विभिन्नता नहीं है क्योंकि वीतरागता में विभिन्नता का कारण मोहनीयकर्म था, जिसका बारहवेंगुणस्थान के प्रथम-समय में अभाव हो जाता है।

बारहवेंगुणस्थान में पूर्ण वीतरागभाविकचारित्र हो जाने पर भी मुक्तिकाल में जो विभिन्नता पाई जाती है उसमें वीतरागपरिणामों की हीनाधिकता कारण नहीं है । किन्तु मुक्तिकाल की विभिन्नता का कारण मनुष्यायु का शेष स्थितिकाल है ।

शंका—मोक्ष का साक्षात् कारण क्या है ?

समाधान—मोक्ष का साक्षात् कारण निश्चयनय से चौदहवें गुणस्थान के अन्तिमसमय का रत्नत्रय है, किन्तु व्यवहारनय से उससे पूर्व का रत्नत्रय भी मोक्ष का कारण है; स्याद्वादियों को इसमें कोई विवाद नहीं है । श्री विद्यानन्द आचार्य ने कहा भी है—

रत्नत्रितयरूपेणयोगकेवलिनोतिमे—

अरु विवर्तते ह्येतद्व्याधयं निश्चिन्तान्नायात् ॥ ६४ ॥

व्यवहारनयाभित्या स्थितेऽप्रागेव कारणम् ।

मोक्षस्येति विवादेन पर्याप्तम् तत्त्ववेदिनाम् ॥ ९५ ॥ (श्लो. वा. १।१)

“ज्ञेयपदार्थाः प्रतिक्षणं भङ्गत्रयेण परिणमन्ति तथा ज्ञानमपि परिच्छिद्यपेक्षया भङ्गत्रयेण परिणमति ।”
[प्रवचनसार पृ० २५ रायचन्द्र ग्रंथमाला]

अर्थ—ज्ञेयपदार्थ प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनरूप से परिणमन करते हैं उसी के अनुसार अर्थात् ज्ञेयों के परिणमन को जानने की अपेक्षा से ज्ञान भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य इन तीनरूप परिणमन करता है ।

येन येनोत्पादव्ययध्रौव्यरूपेण प्रतिक्षणं ज्ञेयपदार्थाः परिणमन्ति तत्परिच्छिद्यत्वाकारेणानिहितवृत्त्या सिद्धज्ञानमपि परिणमति । बृहद्ब्रह्मसंग्रह गाथा १४ टीका ।

अर्थ—ज्ञेयपदार्थ अपने जिस-जिस उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप से प्रतिसमय परिणमते हैं उन-उन के जानने-रूप आकार से निरिच्छुकवृत्ति से (बिना इच्छा के) सिद्धों का ज्ञान भी परिणमता है ।

“ण च णाणवित्सेसबुवारेण उपञ्जमाणस्स केवलणानंसस्स केवलणानत्तं फिट्ठवि, पमेयवसेण परिणत्तमाण-सिद्ध-जीवणानंसानं पि केवल-णाणत्ताभावप्पसंगादी ।” ज. ध. पु. १ पृ. ५१ ।

अर्थात्—यदि केवलज्ञान के अंश मतिज्ञानादि ज्ञान विशेषरूप से उत्पन्न होते हैं, इसलिये उनमें केवल-ज्ञानत्व नहीं माना जा सकता है तो प्रभेय के वश से सिद्धजीवों के भी ज्ञानांशों में परिवर्तन देखा जाता है, अतः उन अंशों में भी केवलज्ञानत्व नहीं बनेगा ।

पदार्थों के परिणमन के आधार से केवलज्ञान का परिणमन होता है इसीलिये केवलज्ञान को पदार्थों की सहायता की आवश्यकता है इसके अतिरिक्त इन्द्रियादि की सहायता की आवश्यकता नहीं है । इसी बात को श्री वीरसेनस्वामी ने कहा है—

“आत्मार्थव्यतिरिक्तसहायनिरपेक्षत्वाद्वा केवलमसहायम् ।” ज. ध. पु. १ पृ. २३ ।

उपर्युक्त सर्वज्ञवाणी के विरुद्ध जो अभ्यमतों की तरह केवलज्ञान के आधेन पदार्थों का परिणमन मानता है वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता, क्योंकि सर्वज्ञवाणी पर उसकी श्रद्धा नहीं है ।

—जै. म. 15-4-65/29-4-65/VII/—

नव केवल लब्धि

शंका—श्री पं० बोलतरामजी कृत भाषा स्तुति में 'नव केवल लब्धि रमा धरंत ।' लिखा है । ये नौ केवल लब्धियाँ कौन-कौन सी हैं ?

समाधान—१. केवलज्ञान, २. केवलदर्शन, ३. क्षायिकसम्यक्त्व ४. क्षायिकचारित्र, ५. अनन्तदान, ६. अनन्तलाभ, ७. अनन्तभोग, ८. अनन्तउपभोग, ९. अनन्तवीर्य; ये नौ केवल लब्धियाँ हैं । कहा भी है—

“ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥ २।४ ॥” मोक्षशास्त्र ।

अर्थ—क्षायिक भाव के नौ भेद हैं—क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिकउपभोग, क्षायिकवीर्य, क्षायिकसम्यक्त्व और क्षायिकचारित्र ।

श्री सर्वार्थसिद्धि टीका में श्रीपूज्यपावस्वामी ने भी कहा है—

‘सूत्र में च’ शब्द सम्यक्त्व और चारित्र के ग्रहण करने के लिये प्राया है । ज्ञानावरणकर्म के अत्यन्तक्षय से क्षायिककेवलज्ञान होता है । इसीप्रकार दर्शनावरणकर्म के अत्यन्तक्षय से क्षायिककेवलदर्शन होता है । दानान्तरायकर्म के अत्यन्तक्षय से अनन्त प्राणियों के समुदाय का उपकार करनेवाला क्षायिकअभयदान होता है । समस्त लाभान्तरायकर्म के क्षय से कवलाहार क्रिया से रहित केवलियों के क्षायिकलाभ होता है जिससे उनके शरीर को बलप्रदान करने में कारणभूत, दूसरे मनुष्यों को असाधारण परम शुभ और सूक्ष्म ऐसे अनन्त परमाणु प्रतिसमय सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं । समस्त भोगान्तरायकर्म के क्षय से अतिशय वाले क्षायिकअनन्तभोग का प्रादुर्भाव होता है, जिससे कुसुमवृष्टि आदि आश्चर्य विशेष होते हैं । समस्त उपभोगान्तराय के नष्ट हो जाने से अनन्त क्षायिक उपभोग होता है, जिससे सिंहासन, चमर और तीनछत्र आदि विभूतियाँ होती हैं । वीर्यान्तरायकर्म के अत्यन्तक्षय से क्षायिकअनन्तवीर्य प्रगट होता है । पूर्वोक्त सात प्रकृतियों (मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व अनन्तानुबन्धी-क्रोध-मान-माया-लोभ) के अत्यन्त विनाश से क्षायिकसम्यक्त्व होता है । इसीप्रकार चारित्रमोहनीयकर्म के अत्यन्त विनाश से क्षायिकचारित्र होता है ।’

सिद्धों के भी क्षायिक लब्धियाँ

शंका—ये नव केवल लब्धि अरहंत भगवान की हैं, किन्तु सिद्ध भगवान में ये नव केवल लब्धि नहीं पाई जाती हैं । “ओपशमिकादिभयत्वानां च ।३। अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानवर्णनसिद्धत्वैभ्यः ॥४॥” श्लो० शा० अ० १० अर्थात् ओपशमिकादि भावों से मध्यस्थ तक भावों का अभाव होने से मोक्ष होता है, पर केवल सम्यक्त्व केवलज्ञान केवलदर्शन और सिद्धत्वभाव का अभाव नहीं होता । इन सूत्रों से भी स्पष्ट है नौ केवललब्धि में से सिद्धों में मात्र तीनलब्धि रहती हैं । केवलज्ञान के साथ अनन्तवीर्य भी लिया जा सकता है क्योंकि ज्ञान और वीर्य का अविनाभावी सम्बन्ध है, किन्तु क्षायिक चारित्र-दान-लाभ भोग-उपभोग तो किसी भी अपेक्षा नहीं ग्रहण हो सकते । सिद्धों में मात्र चार केवललब्धि होती हैं, इससे अधिक किसी भी आचार्य ने नहीं कही हैं, सिद्धों के गुण निम्न प्रकार कहे हैं—

सम्यक्दर्शन ज्ञान, अगुहलघु अवगाहना ।
सूक्ष्म वीरजवान, निराबाध गुण सिद्धके ॥

तथा गोममतसार जीवकांड में भी सिद्धों के सिद्धगति, केवलज्ञान; केवलदर्शन, क्षायिकसम्यक्त्व और अनाहारक; ये पाँच मार्गणा होती हैं, शेष मार्गणा नहीं होती, ऐसा कहा है। इन सब प्रमाणों से सिद्ध होता है कि सिद्धों में क्षायिकचारित्र, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिकउपभोग ये पाँच लब्धि नहीं होती; शेष चार क्षायिक लब्धियाँ होती हैं और अरहंत भगवान में नौ क्षायिक लब्धि होती हैं; अर्थात् सिद्धों से अरहंतों में अधिक क्षायिकलब्धि होने के कारण ही सिद्धों से पूर्व अरहंतों को नमस्कार किया है। क्या यह ठीक नहीं है ?

समाधान—शंकाकार ने परमार्थ नहीं समझा है इसीलिये सिद्ध भगवान में चारित्र आदि पाँच क्षायिकलब्धियों का अभाव बतलाया है। घातिया कर्मों के क्षय से जो नौ क्षायिकलब्धियाँ प्रगट हुई हैं वह आत्मा का निजभाव हैं अर्थात् स्वभाव हैं, उनका सिद्ध भगवान में कैसे अभाव हो सकता है। जो कर्म क्षय को प्राप्त हो गया है उसकी पुनः सत्ता संभव नहीं है, और बिना सत्ता के कर्मोदय हो नहीं सकता और प्रतिपक्षी कर्मोदय के बिना क्षायिक भाव का अभाव नहीं हो सकता।

“ण क्विवाणं पुणरुपपत्ती, णिच्छुअणं पि पुणो संसारित्पसंगावो ।” (ज० घ० पु० ५ पृ० २०७)

अर्थात्—क्षय को प्राप्त हुई प्रकृतियों की पुनः उत्पत्ति नहीं होती, यदि होने लगे तो मुक्त हुए जीवों का पुनः संसारी होने का प्रसंग उपस्थित होगा।

बिना प्रतिपक्षी कर्मोदय के यदि सिद्ध भगवान में क्षायिकचारित्र आदि का अभाव माना जावे तो क्षायिकसम्यक्त्व-ज्ञान-दर्शन-वीर्य का भी अभाव क्यों न मान लिया जाय ? इस प्रकार सिद्ध भगवान् में सभी गुणों का अभाव मान लेने पर जीवत्व के अभाव का प्रसंग आजायगा। सिद्धभगवान में क्षायिकचारित्रलब्धि के अभाव होने का कोई हेतु भी नहीं दिया है और बिना कारण के चारित्र आदि का अभाव होता नहीं है।

“परापेक्षो परिणामित्वमन्यथा तवभावात् ॥ ६।६४ ॥” परीक्षामुख

अर्थात्—दूसरे सहकारी कारणों की अपेक्षा रखने पर परिणामीपना प्राप्त होता है अन्यथा कार्य नहीं हो सकेगा।

इससे सिद्ध होता है कि सिद्ध भगवान् में चारित्र का अभाव नहीं है।

शंकाकार ने मोक्षशास्त्र अध्याय १० का सूत्र, ‘अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धस्वैभ्यः ॥ ४ ॥ उद्घृत किया है सो यह सूत्र देशामर्शक है। जिसप्रकार ‘तालप्रलंब’ एक वनस्पति के नाम से समस्त वनस्पतिकायिक का ग्रहण हो जाता है, उसीप्रकार केवल सम्यक्त्व-ज्ञान-दर्शन के नामोस्लेख से शेष छह क्षायिककेवललब्धियों का भी ग्रहण हो जाता है। श्री अकलंकदेव ने कहा भी है—

“अनन्तवीर्यविनिवृत्ति-प्रसङ्ग इति चेत्; न, अत्रैवान्तर्भावात् ॥ ३ ॥” रा० वा० १०।४।

अर्थात्—केवल सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, सिद्धत्व के कहने से क्षायिकअनन्तवीर्य आदि की निवृत्ति का प्रसंग आजायगा ? ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इन क्षायिकसम्यक्त्व-ज्ञान-दर्शन में शेष क्षायिकलब्धियों का अन्तर्भाव हो जाता है, अर्थात् ग्रहण हो जाता है।

सिद्ध भगवान के जो सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, अगुल्लघु, अवगाहना, सूक्ष्म, निराबाध, आठ गुण कहे हैं। वे आठ कर्मों के अभाव की अपेक्षा कहे हैं। मोहनीयकर्म सम्यक्त्व और चारित्र दो गुणों को घातता है। कर्मोदय सामान्य सिद्धत्वभाव को घातता है।

“कर्मोद्ययसामान्यापेक्षोऽसिद्धः औद्ययिकः ।” सर्वार्थसिद्धि २।६ ।

अर्थ—कर्मोद्यय सामान्य की अपेक्षा से असिद्धत्वभाव होता है, इसलिये औद्ययिक है ।

मोक्षशास्त्र अध्याय १० सूत्र ४ में भी सिद्धभगवान के क्षायिकसिद्धत्व भाव का उल्लेख है, किन्तु उपयुक्त आठ भावों में भी नहीं गिनाया है ।

इष्ट छत्तीसो आदि में जो आठ गुणों का कथन है वह भी देशामर्शक है । इन आठ के अतिरिक्त अन्य भी अनन्त गुण सिद्ध भगवान में पाये जाते हैं, जैसे क्षायिकचारित्र सिद्धत्व, ऊर्ध्वगमन, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिकउपभोग आदि ।

श्री बीरसेनाचार्य प्राचीन गाथाओं को उद्धृत करते हुए कहते हैं—

“एवस्स कम्मस्स खएण सिद्धान्नेसो गुणो समुप्पणो त्ति जाणावणट्टमेवाओ गाहाओ एत्थ परुविज्जंति—

मिच्छत्त-कसायासंजमेहि जस्सोदएण परिणमइ ।

जीवो तस्सेव खयात्तव्विवरोदे गुणे लहइ ॥७॥

विरियोवभोग-भोगे बाले लाभे जवुदयवो विग्घं ।

पंचविहलद्धि जुत्तो तवकम्मखया हवे सिद्धो ॥११॥

अर्थ—इस कर्म के क्षय से सिद्धों के यह गुण उत्पन्न हुआ है, इस बात का ज्ञान कराने के लिये ये गाथायें यहाँ प्ररूपित की जाती हैं—

जिस मोहनीयकर्मोद्यय से जीव मिथ्यात्व, कषाय और असंयमरूप से परिणमन करता है, उसी मोहनीयक्षय से इनके विपरीत गुणों को अर्थात् सम्यक्त्व अकषाय और संयम को प्राप्त कर लेता है ॥ ७ ॥

जिस अन्तरायकर्म के उद्यय से जीव के वीर्य, उपभोग, भोग, दान और लाभ में विघ्न उत्पन्न होता है, उसी कर्म के क्षय से सिद्ध पंचविध लब्धि से संयुक्त होते हैं ॥ ११ ॥

इन आर्षवाक्यों से सिद्ध भगवान में क्षायिकचारित्र और क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकउपभोग, क्षायिकभोग सिद्ध हो जाते हैं । इन आर्षगाथाओं का अन्य ग्रन्थों से विरोध भी नहीं है, क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व में क्षायिकचारित्र का और क्षायिकवीर्य में क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग और क्षायिकउपभोग का अन्तर्भाव हो जाता है ।

गोमटसार जीवकांड में सिद्धभगवान के सिद्ध गति, केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकसम्यक्त्व और अनाहारक इन पाँच मार्गणाओं का तो उल्लेख किया है, किन्तु संयम आदि मार्गणा का निषेध किया है इसका कारण यह नहीं है कि सिद्धभगवान में क्षायिकचारित्र नहीं होता, किन्तु इसका कारण निम्नप्रकार है—

द्वादशाङ्ग में गतिमार्गणा के नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, देवगति और सिद्धगति ऐसे पाँच भेद किये हैं । वह सूत्र निम्न प्रकार है—

‘आवेसेण गविषाणुवावेण अस्थि णिरयगवी, तिरिक्खगवी, मणुसगवी, देवगवी, सिद्धगवी, चेवि ॥ २४ ॥’

[व. खं. जीव. सत्प्र.]

अर्थ—आदेश धर्मात् मार्गणाप्ररूपणा को अपेक्षा गत्यानुवाद से नरकगति, तिर्यचगति, मनुष्यगति, देवगति और सिद्धगति है ।

क्योंकि गतिमार्गणा का एक भेद सिद्धगति भी है अतः सिद्धभगवान में गतिमार्गणा का उल्लेख है ।

जाणाणुवादेण अत्थि मदिअण्णाणी सुव-अण्णाणी विभंगणाणी, आभियणिबोहियणाणी, सुदणाणी, ओहि-णाणी मणपउजवणाणी केवलणाणी चेदि ॥ ११५ ॥

अर्थ—ज्ञानमार्गणा के अनुवाद से मतिअज्ञानी, श्रुताज्ञानी, विभंगज्ञानी, आभिनिबोधक ज्ञानी श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी जीव होते हैं ।

ज्ञानमार्गणा के आठ भेदों में से केवलज्ञान भी एक भेद है जो क्षायिक ही होता है और सिद्धभगवान में केवलज्ञान होता है, इसलिये सिद्धभगवान में ज्ञानमार्गणा का कथन किया गया है ।

दंसणाणुवादेण अत्थि चमखुदंसणी अचखुदंसणी ओधिदंसणी केवलदंसणी चेदि ॥ १३१ ॥

अर्थ—दर्शनमार्गणा के अनुवाद से चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन के धारण करने-वाले जीव होते हैं ॥ १३१ ॥

यहाँ भी केवलदर्शन की अपेक्षा से सिद्धभगवान के दर्शनमार्गणा कही गई है ।

सम्मत्तानुवादेण अत्थि सम्माइट्ठी खइयसम्माइट्ठी वेवगसम्माइट्ठी उअसम-सम्माइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मा-मिच्छाइट्ठी मिच्छाइट्ठी चेदि ॥ १४४ ॥

अर्थ—सम्यक्त्वमार्गणा के अनुवाद से सम्यग्दृष्टि, क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि, उपशमसम्यग्दृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टिजीव होते हैं ॥ १४४ ॥

सम्यक्त्वमार्गणा के क्षायिकसम्यक्त्व आदि छह भेदों में से क्षायिकसम्यक्त्व सिद्धभगवान के पाया जाता है इसलिये सम्यक्त्वमार्गणा का अस्तित्व कहा गया है ।

आहाराणुवादेण अत्थि आहारर अणाहारर ॥ १७५ ॥

अर्थ—आहारमार्गणा के अनुवाद से आहारक और अनाहारकजीव होते हैं ॥ १७५ ॥

सिद्धभगवान अनाहारक हैं, अतः उनमें आहारकमार्गणा का भी कथन संभव है ।

उपर्युक्त पाँच मार्गणाओं में से प्रत्येक का एक भेद सिद्धभगवान में पाया जाता है अतः उनके अस्तित्व का उल्लेख किया गया है किन्तु शेष ९ मार्गणाओं के अवांतर भेदों में से कोई भी भेद सिद्धभगवान में नहीं पाया जाता है अतः शेष मार्गणाओं का निषेध किया गया है । जैसे संयममार्गणा के अनुवाद से १-सामायिकशुद्धि संयत, छेदोपस्थापनाशुद्धि संयत, परिहारशुद्धि संयत, सूक्ष्मसांपरायशुद्धि संयत, यथाख्यातविहारशुद्धि संयत, ये पाँच प्रकार के संयत तथा संयतासंयत और असंयत जीव होते हैं । संयममार्गणा के उपर्युक्त सात भेदों में से क्षायिकसंयम कोई भेद नहीं है और नवकेवललब्धि में क्षायिकचारित्र है, अतः सिद्धभगवान में संयममार्गणा का निषेध किया गया । जिसप्रकार सम्यक्त्वमार्गणा का अवांतर भेद क्षायिकसम्यक्त्व है उसप्रकार संयममार्गणा के अवांतर भेदों में से

ध्यायिकसंयम कोई भेद नहीं है। यदि ध्यायिकसंयम अवान्तर भेद होते हुए, सिद्धभगवान के संयममार्गणा का निषेध होता तो यह निष्कर्ष निकालना संभव था कि सिद्धभगवान में ध्यायिकसंयम नहीं होता।

सिद्धभगवान व अरहन्त भगवान में तबकेवललब्धि की अपेक्षा कोई भेद नहीं है। बीरसेनाचार्य ने भी श्री सिद्धभगवान तथा श्री अरिहंतों में गुणकृत भेद की चर्चा करते हुए कहा है—

“अस्त्वेवमेव न्यायप्राप्तत्वात् । किन्तु सलेपनिर्लेपत्वाभ्यां देशभेदाच्च तयोर्भेद इति सिद्धम् ।”

[धवल पु० १ पु० ४७]

अर्थ—यदि ऐसा है तो रहो, अर्थात् अरिहंत और सिद्धों में गुणकृत भेद सिद्ध नहीं होता है तो मत होओ, क्योंकि वह न्याय संगत है। फिर भी सलेपत्व और निर्लेपत्व की अपेक्षा उन दोनों परमेष्ठियों में भेद है।

यदि दोनों परमेष्ठियों में गुणकृत भेद नहीं है, मात्र सलेपत्व और निर्लेपत्व की अपेक्षा भेद है तो सर्व-प्रकार के कर्मलेप से रहित श्री सिद्धपरमेष्ठी के विद्यमान रहते हुए अघातियाकर्मों के लेप से युक्त श्री अरिहंतों को आदि में नमस्कार क्यों किया जाता है ?

इस प्रश्न का उत्तर श्री बीरसेनाचार्य ने इस प्रकार दिया है—

‘नैव दोषः गुणाधिक सिद्धेषु श्रद्धाधिक्यनिबन्धनत्वात् । असत्पहंस्याप्तागमपदार्थाविगमो न भवेदस्मादादी-
नाम्, संजातश्चैतत्प्रसादादित्युपकारापेक्षया दादावहंभ्रमस्कारः क्रियते ।’ [ध० पु० १ पु० ५३] ।

अर्थ—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि सबसे अधिकगुणवाले सिद्धों में श्रद्धा की अधिकता के कारण श्री अरिहंतपरमेष्ठी ही हैं, अर्थात् श्री अरिहंतपरमेष्ठी के निमित्त से ही अधिक गुणवाले सिद्धों में सबसे अधिक श्रद्धा उत्पन्न होती है। यदि श्री अरिहंतपरमेष्ठी न होते तो हम लोगों को आप्त, आगम और पदार्थों का परिज्ञान नहीं हो सकता था, किन्तु श्री अरिहंतपरमेष्ठी के प्रसाद से हमें इस बोध की प्राप्ति हुई है, इसलिये उपकार की अपेक्षा भी आदि में अरिहंतों को नमस्कार किया जाता है।

न पक्षपातो दोषाय शुभपक्षवृत्तेः श्रेयोहेतुत्वात् । अद्वैतप्रधाने गुणीभूतद्वैतेद्वैतनिबन्धनस्य पक्षपातस्थानु-
पपत्तेश्च । आप्तश्रद्धाया आप्तागमपदार्थविषयश्रद्धाधिक्यनिबन्धनत्वस्यापनार्थं वार्हतामादौ नमस्कारः ।’

[धवल पु० १ पु० ५४]

अर्थ—यदि कोई कहे कि इसप्रकार आदि में अरिहंतों को नमस्कार करना तो पक्षपात है ? इसपर आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसा पक्षपात दोषोत्पादक नहीं है, किन्तु शुभपक्ष में रहने से वह कल्याण का ही कारण है तथा द्वैत को गौण करके अद्वैत की प्रधानता से किये गये नमस्कार में द्वैतमूलक पक्षपात बन भी तो नहीं सकता है। आप्त की श्रद्धा से ही आप्त आगम और पदार्थों के विषय में दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न होती है, इस बात को सिद्ध करने के लिये भी आदि में अरिहंतों को नमस्कार किया गया है।

—जौ. ग. 24-6-65/VI-VII/

निश्चयव्यवहार मोक्षमार्ग का स्वरूप

शंका—निश्चय मोक्षमार्ग तेरहवें—चौदहवें गुणस्थान में होता है और व्यवहारमोक्षमार्ग चौथे से बारहवें के शुद्ध भाव को कहते हैं। क्या यह ठीक है ?

समाधान—निश्चय व व्यवहार मोक्षमार्ग का स्वरूप श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव ने बृहद्ब्रह्मसंग्रह में इस-प्रकार कहा है—

सम्मद्वंसणणाणं चरणं मोक्षस्स कारणं जाणे ।

व्यहारा णिच्छयवो, तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥ ३९ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (इन तीनों के समुदाय) को व्यवहारनय से मोक्ष का कारण जानो । सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्रमयी निज आत्मा को निश्चय से मोक्ष का कारण जानो । ३९॥

संस्कृत टीका—श्री वीतराग सर्वज्ञदेव कथित छहद्ब्रह्म, पाँचअस्तिकाय, साततत्त्व और नवपदार्थों का सम्यक्श्रद्धानज्ञान और व्रतादिरूप आचरण, इन विकल्पमयी व्यवहार मोक्षमार्ग है । निज निरंजन शुद्ध-बुद्ध आत्म-तत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान तथा आचरण में एकाग्र परिणतिरूप निश्चय-मोक्षमार्ग है । अथवा स्वशुद्धात्मभावना का साधक व बाह्य पदार्थ के आश्रित व्यवहारमोक्षमार्ग है । मात्र स्वानुभव से उत्पन्न व रागादिविकल्पों से रहित सुखानुभवनरूप निश्चयमोक्षमार्ग है । अथवा धातुपाषाण से सुवर्ण प्राप्ति में अग्नि के समान जो साधक है, वह तो व्यवहारमोक्षमार्ग है तथा सुवर्ण समान निर्विकार निज-आत्मा के स्वरूप की प्राप्तिरूप साध्य वह निश्चयमोक्ष-मार्ग है ॥ ३९ ॥ (टीका)

पुनः निश्चयमोक्षमार्ग का स्वरूप बृहद्ब्रह्मसंग्रह में इसप्रकार कहा है—

रणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं, सुइत्तु अणववियहि ।

तम्हा तत्तियमइउ होवि हु मुक्खस्स कारणं आदा ॥४०॥

अर्थ—आत्मा को छोड़कर अन्यद्रव्य में रतनत्रय नहीं रहता, इसकारण रतनत्रयमयी वह आत्मा ही निश्चय से मोक्ष का कारण है ॥ ४० ॥

संस्कृत टीका—जो रतनत्रय हैं वे शुद्धआत्मा के सिवाय अन्य घट, पटादि बाह्यद्रव्यों में नहीं रहते, इस कारण अभेद से वह आत्मा ही सम्यग्दर्शन है । वह आत्मा ही सम्यग्ज्ञान है, वह आत्मा ही सम्यक्चारित्र है तथा वही निज आत्मतत्त्व है । इस प्रकार कहे हुए लक्षणवाले निजशुद्धात्मा को ही मुक्ति का कारण जानो ॥ ४० ॥

इसप्रकार बृहद्ब्रह्मसंग्रह की गाथा ३९ व ४० से स्पष्ट हो जाता है कि गुण-गुणी के भेदरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र व्यवहारमोक्षमार्ग है और गुण-गुणी के अभेदरूप 'आत्मा' निश्चयमोक्षमार्ग है । संस्कृत टीकाकार ने अन्य दृष्टियों से भी व्यवहार व निश्चयमोक्षमार्ग का कथन किया है ।

श्री कुन्वकुन्दाचार्य ने भी पाँचअस्तिकाय में निश्चयव्यवहार मार्ग का कथन इस प्रकार किया है—

धम्मावो सहहणं सम्मत्तां णाणमंगपुञ्जगदं ।

चेट्ठा तवंहि चरिया व्यवहारो मोक्खमग्गो त्ति ॥ १६० ॥

णिच्छयणयेण भणिवो तिहि तेहि समाहिबो हु जो अप्पा ।

ण कुणवि किच्चिन्नि अण्णं ण सुयदि सो मोक्खमग्गो त्ति ॥१६१॥

अर्थ—धर्मास्तिकायादि का श्रद्धान सो सम्यक्त्व अङ्ग पूर्वसम्बन्धी ज्ञान और तप में चेष्टा सो चारित्र इसप्रकार व्यवहारमोक्षमार्ग है ॥१६०॥ जो आत्मा वास्तव में इन तीनों (सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र) से समाहित

(तन्मयी) है तथा अन्य कुछ भी करता नहीं है या छोड़ता नहीं है, वह आत्मा निश्चय से मोक्षमार्ग कहा गया है ॥ १६१ ॥

जिसको सम्यग्दर्शन होगा उसको पंचास्तिकाय, छहद्रव्य, साततत्त्व और नवपदार्थों का श्रद्धान प्रवश्य होगा । अतः पंचास्तिकाय आदि के श्रद्धान की अपेक्षा सम्यग्दर्शन का कथन करना व्यवहारसम्यग्दर्शन है, क्योंकि यह पराश्रित कथन है । किन्तु वह सम्यग्दर्शनरूप जो भाव है, उसका आत्मा से तादात्म्य सम्बन्ध है । अतः आत्मा ही सम्यग्दर्शन है, ऐसा कथन निश्चयनय से सम्यग्दर्शन है, क्योंकि यह स्वाश्रित है । इसीप्रकार सम्पत्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के विषय में जानना । सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र व्यवहारमोक्षमार्ग है और तन्मयी आत्मा निश्चय-सम्यग्दर्शन है । निश्चय और व्यवहाररूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र लक्षणवाला मोक्षमार्ग आत्मा को मोक्षपद प्राप्त कराता है । कहा भी है—

सम्यक्त्व-चारित्र-बोध-लक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः ।

मुख्योपचाररूपः प्रापयति परमपदं पुण्यम् ॥ २२२ ॥ (पु० सि० उ०)

—जै. ग. 14-11-63/VIII-IX/ सटनाटाम जैन

निश्चय मोक्षमार्ग साध्य एवं व्यवहार मोक्षमार्ग साधन है

शंका—भेद-व्यवहार का आशय छुड़ाने के हेतु 'आत्मधर्म' पत्रिका में कहा गया है—“निश्चय को मुख्य कहना ठीक नहीं है, किन्तु मुख्य को निश्चय कहना ठीक है ।” क्या यह ठीक है ?

समाधान—साध्य-साधन के भेद से मोक्षमार्ग निश्चय (मुख्य) व्यवहार (उपचार) दो प्रकार का है । श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने कहा भी है—

निश्चयव्यवहाराभ्यां, मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः ।

तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥२॥ तत्त्वार्थसार उपसंहार

अर्थ—निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा मोक्षमार्ग दो प्रकार का है । उनमें पहला अर्थात् निश्चयमोक्षमार्ग साध्यरूप है और दूसरा अर्थात् व्यवहारमोक्षमार्ग उसका साधन है ।

“न चंतद्विप्रतिषिद्धं निश्चयव्यवहारयोः साध्यसाधनभावत्वात् सुवर्णं—सुवर्णपाषाणवत् । अतः एवोभनया-पत्ता पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तनेति ।” पंचास्तिकाय गाथा १५९ टीका ।

निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग में परस्पर विरोध आता हो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि सुवर्ण और सुवर्णपाषाण की भाँति निश्चय-व्यवहार को साध्य साधनपना है । जिनभगवान की तीर्थप्रवर्तना दोनों नयों के प्राचीन है ।

सम्यक्त्व बोध चारित्रलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः ।

मुख्योपचाररूपः प्रापयति परं पदं पुण्यम् ॥ २२२ ॥ पुण्यार्थसिद्धिउपाय

इसप्रकार यह निश्चय और व्यवहाररूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र लक्षणवाला मोक्षमार्ग आत्मा को परमात्मपद प्राप्त कराता है ।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने तथा उनके टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्य ने निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग के भेद से मोक्षमार्ग दो प्रकार का बतलाया है। निश्चयमोक्षमार्ग साध्यरूप है और व्यवहारमोक्षमार्ग साधनरूप है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने स्वयं निश्चयमोक्षमार्ग को मुख्य मोक्षमार्ग कहा है और व्यवहारमोक्षमार्ग को उपचार मोक्षमार्ग कहा है।

—जै. ग. 6-1-72/VII/.....

(१) सम्यग्दर्शन आदि तीनों की युगपत्ता से ही मोक्ष सुख सम्भव है

(२) प्रकरणवश कहीं सम्यग्दर्शन की, कहीं ज्ञान की और कहीं चारित्र की मुख्यता रहती है

शंका—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है ? इन तीनों में किसकी मुख्यता है ?

समाधान—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनों की एकता मोक्षमार्ग है। इन तीनों में से किसी एक के अभाव में मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। कहा भी है—

ण हि आगमेण सिञ्जति सदृहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु ।

सदृहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिष्वादि ॥ २३७ ॥ प्रवचनसार

श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका—

“अद्वानशून्येनागमजनितेन ज्ञानेन तदविनाभाविना अद्वानेन च संयमशून्येन न तावत्सिद्धयति ।”

यहाँ पर श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने तथा श्री अमृतचन्द्राचार्य ने यह स्पष्ट कर दिया है—आगमजनित ज्ञान यदि अद्वानशून्य है तो उस ज्ञान से सिद्धि नहीं होती है। आगम-ज्ञान और उसका अविनाभावी अद्वान इन दोनों से भी यदि संयम (चारित्र) शून्य है तो मुक्ति नहीं होती है।

‘अतः एतवायाति परमागमज्ञानतत्त्वार्थअद्वान संयतत्त्वानां मध्ये द्वयेनेकेन वा निर्वाणं नास्ति किन्तु त्रयेणेति ।’

अर्थ—इससे यह बात सिद्ध हुई कि परमागमज्ञान तत्त्वार्थअद्वान तथा संयमपना इन तीनों में से मात्र एक से व केवल दो से निर्वाण हो नहीं सकता, किन्तु तीनों से ही मोक्ष होता है।

जहाँ पर ज्ञानरहित व्रतादिक की भर्त्सना की गई है वहीं पर चारित्ररहित ज्ञान-अद्वान की भी भर्त्सना की गई है।

हृतं ज्ञानं क्रिया हीनं हला चाज्ञानिनां क्रिया ।

धावन् किलान्धको वग्धः पश्यन्नपि च पङ्कजः ॥ त० रा० बा०

चारित्र के बिना सम्यग्ज्ञान किसी काम का नहीं है। जब सम्यग्ज्ञान किसी काम का नहीं है तब उसका सहचारी सम्यग्दर्शन भी चारित्र के बिना किसी काम का नहीं है। जैसे वन में आग लग जाने पर स्वांला लंगड़ा मनुष्य उस आग से बच जाने का मार्ग तो जानता है और यह श्रद्धा भी है कि इस मार्ग से जाने पर अग्नि की दाह से बच सकूँगा, परन्तु चलनेरूप क्रिया (आचरण) नहीं कर सकता इसलिये अग्नि में जलकर नष्ट हो जाता है।

उसीप्रकार संसाररूप वन में रागद्वेषरूप आग लग रही है। असंयत सम्यग्दृष्टि को रागद्वेषरूप आग से बचने के मार्ग का ज्ञान भी है, श्रद्धान भी है, किन्तु चारित्ररूप क्रिया न करने से रागद्वेष की अग्नि में जलता रहता है और संसार में नानाप्रकार के कष्ट उठाता हुआ दुःखी रहता है।

वन में आग लग जाने पर अंधा पुरुष जहाँ-तहाँ दौड़नेरूप क्रिया तो करता है, किन्तु यथार्थ मार्ग का ज्ञान न होने से आग से बच नहीं सकता, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि व्रतादिरूप क्रिया तो करता है, किन्तु मोक्षमार्ग का यथार्थज्ञान व श्रद्धान न होने से राग-द्वेषरूप आग से बच नहीं सकता और संसार में नानाप्रकार के दुःख सहता है।

इसप्रकार चारित्ररहित असंयतसम्यग्दृष्टि की और द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि की एक सी दशा है।

संसार में राग-द्वेषरूप ज्वाला से बचने का उपाय मात्र एक सम्यक्चारित्र है। श्री समस्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्ड भावकाचार में कहा भी है—

“रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः।”

अर्थात्—साधु पुरुष राग द्वेष को दूर करने के लिये सम्यक् चारित्र को धारण करता है। चारित्र के बिना मात्र सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान से राग-द्वेष दूर नहीं होते हैं। सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के बिना सम्यक्चारित्र नहीं हो सकता। अतः तीनों की युगपत्ता से ही मोक्षसुख की प्राप्ति होती है। फिर भी कहीं पर सम्यग्दर्शन की मुख्यता से कथन है और कहीं पर सम्यग्ज्ञान की मुख्यता से कथन है और कहीं पर सम्यक्चारित्र की मुख्यता से कथन है।

—जौ. ग. 18-2-71/VIII/ सुलतानसिंह

रत्नत्रय (तीनों मिलकर) ही मोक्ष के मार्ग हैं

शंका—“सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः” यह सूत्र है। ये तीनों भिन्न-भिन्नरूप से मोक्षमार्ग हैं या इन तीनों की एकता मोक्षमार्ग है ?

समाधान—‘सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः’ इस सूत्र में ‘मोक्षमार्गः’ शब्द एक वचन है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनों की एकता मोक्षमार्ग है।

“मार्ग इति चैकवचननिर्देशः समस्तस्य मार्ग भावज्ञापनार्थः। तेन व्यस्तस्य मार्गत्वनिवृत्तिः कृता भवति। अतः सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रमित्येतत् त्रितयं समुचितं मोक्षस्य साक्षात्मार्गं वेदितव्यः।”

सर्वार्थसिद्धि।

सूत्र में मार्गः इस प्रकार जो एकवचनरूप से निर्देश किया है वह सब मिलकर मोक्षमार्ग है, इस बात को जताने के लिये क्रिया गया है। इससे प्रत्येक में मार्गपना है, इस बात का निराकरण हो जाता है। अतः सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष का साक्षात् मार्ग हैं ऐसा जानना चाहिये।

प्रवचनसार में श्री श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—

“आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां योगपद्यस्यैव मोक्षमार्गत्वं नियम्यते।”

भागमज्ञान (सम्यग्ज्ञान), तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्व की युगपत्तावाले को ही मोक्षमार्गत्व होने का नियम सिद्ध होता है ।

—जै. ग. 15-6-72/VII/ रो. ला. मित्तल

मोक्षमार्ग हेतु ज्ञान [भावश्रुतज्ञान] अत्यावश्यक है

शंका—कहा जाता है 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गः' किन्तु भीमकेवली को अक्षरमात्र का ज्ञान नहीं था । यदि यह बात (सम्यग्ज्ञान) अनिवार्य होती तो भीमकेवली को केवलज्ञान क्यों हुआ ? अतः मोक्षमार्ग के लिये मात्र सम्यग्दर्शन आवश्यक है ।

समाधान—अक्षर या शब्द का ज्ञान द्रव्यश्रुतज्ञान होता है । पदार्थ का ज्ञान भावश्रुतज्ञान होता है । जैसे तिर्यंच को यह शब्द ज्ञान नहीं कि यह मेरी संतान है और यह मेरा मित्र है और यह मेरा शत्रु है फिर भी संतान के प्रति संतानरूप प्रवृत्ति, मित्र के प्रति मित्ररूप प्रवृत्ति और शत्रु के प्रति शत्रुरूप प्रवृत्ति होती है । इस प्रवृत्ति का मूल कारण भावश्रुतज्ञान है । शब्द ज्ञान के बिना भी भावश्रुतज्ञान होता है । ऐसा ही "मोक्षमार्गप्रकाशक" ग्रन्थ में कहा है—“जीव अजीवादिक का नामादिक जानो वा मति जानी, उनका स्वरूप यथार्थ पहिचान श्रद्धान किये सम्यक्त्व हो है । तातैं तुच्छ ज्ञानी तिर्यंच आदि सम्यग्दृष्टि हैं, सो जीवादि का नाम न भी जाने हैं तथापि उनका सामान्यपने स्वरूप पहिचान श्रद्धान करे हैं । तातैं उनको सम्यक्त्व की प्राप्ति हो है । जैसे कोई तिर्यंच अपना वा औरनिका नामादि तो नहीं जाने, परन्तु आप ही विषं आपी माने है, औरनिको पर माने है; तैसे तुच्छज्ञानी जीव अजीव का नाम न जानैं, परन्तु जानादि स्वरूप आत्मा है, तिस विषं आपी माने है और शरीरादि को पर माने है । ऐसा श्रद्धान जाके हो है, सो ही जीव अजीव का श्रद्धान है । जैसे सोई तिर्यंच सुखादिक का नामादिक न जाने है; तथापि सुख अवस्था को पहिचान ताके अर्थ आगामी दुःख का कारण को पहिचान ताको त्यागे है । बहुरि जो दुःख का कारण बनि रह्या है, ताके अभाव का उपाय करे है । तुच्छज्ञानी मोक्ष आदि का नाम न जाने, तथापि सर्वथा सुखरूप मोक्ष अवस्था को श्रद्धान करि ताके अर्थ आगामी बंधकारण रागादि को त्यागे है । बहुरि जो संसार दुःख का कारण है, ताको शुद्ध भाव करि निर्जरा किया चाहे है ।” इससे सिद्ध होता है कि शब्दज्ञान बिना भावज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है । ऐसा ही बृहद्ब्रह्मसंह गीया ५७ की टीका में कहा—“यदि शिवभूति मुनि पांचसमिति और तीनगुप्तियों का कथन करनेवाले द्रव्यश्रुत को जानते थे तो उन्होंने 'मा तूसह मा कूसह' इस एक पद को क्यों नहीं जाना । इसी कारण से जाना जाता है कि पांच समिति और तीनगुप्तिरूप आठ प्रवचनमातृका प्रमाण ही उनके भावज्ञान था और द्रव्यश्रुत कुछ भी नहीं था ।” अतः 'सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गः' इस सूत्र में ज्ञान शब्द से भाव श्रुतज्ञान ग्रहण करना चाहिये न कि द्रव्यश्रुत (शब्दश्रुत) ज्ञान । जीव, अजीव आदि सात तत्त्वों के ज्ञान के बिना अथवा स्वपर के भेदज्ञान बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती । कहा भी है—

'भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धाये किल केचन ।

अस्थेवा भावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥' (स. स. संघर अधि.)

अर्थ—जो कोई सिद्ध हुए हैं वे इस भेदविज्ञान से ही हुए हैं और जो कर्म से बंधे हैं वे इसी भेदविज्ञान के अभाव से बंधे हैं । यद्यपि सम्यग्दर्शन तत्त्वज्ञान पूर्वक होय है, किन्तु ज्ञान को सम्यक् विशेषण सम्यग्दर्शन होने पर ही होय है, ज्ञान का सम्यक्त्व व मिथ्यात्व विशेषण सम्यग्दर्शन व मिथ्यादर्शन की सहचरता से होय है । अथवा जो जीवादि पदार्थों का यथार्थ श्रद्धान उस स्वभाव से ज्ञान का परिणामना वह तो सम्यग्दर्शन है और उसी तरह जीवादि पदार्थों का ज्ञान उस स्वभाव कर ज्ञान का होना वह सम्यग्ज्ञान है तथा जो रागादि का त्यागना उस स्वभावकर

ज्ञान का होना वह सम्यक्चारित्र्य है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य ये तीनों ही ज्ञान के परिणामन में आ जाते हैं। इसकारण अभेद विवक्षा में ज्ञान ही परमार्थरूप मोक्ष का कारण सिद्ध हुआ। समयसार गाथा १५५ की टीका।

—जं. सं. 26-2-59/V/ क्षु. कीर्तिसागर

सापेक्ष पर्यायदृष्टि से मोक्षमार्ग सम्भव है

शंका—क्या पर्यायदृष्टि से मोक्षमार्ग सम्भव है ?

समाधान—जो वस्तु जिसरूप से है उस वस्तु का उसीरूप से श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। आलापपद्धति सूत्र ९५ में कहा है कि वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है।

“सामान्यविशेषात्मकं वस्तु ॥ ९५ ॥

सामान्य-विशेषात्मक वस्तु में ‘सामान्य’ को द्रव्य कहते हैं और विशेष को पर्याय कहते हैं। श्री पूज्यवादाचार्य ने कहा भी है—

“द्रव्यं सामान्यमुत्सर्गः अनुवृत्तिरित्यर्थः । तद्विषयो द्रव्याधिकः । पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थः । तद्विषयः पर्यायाधिकः ।” सर्वार्थसिद्धि १।३३ ।

द्रव्य का अर्थ सामान्य, उत्सर्ग और अनुवृत्ति है। इस सामान्य को विषय करनेवाला नय अथवा दृष्टि द्रव्याधिकनय अथवा द्रव्यदृष्टि है। पर्याय का अर्थ विशेष अपवाद और व्यावृत्ति है। इस विशेष को विषय करनेवाला पर्यायाधिकनय अथवा पर्यायदृष्टि है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी इसीप्रकार कहा है—

अनुप्रवृत्तिः सामान्यं द्रव्यं चकार्यवाचकाः ।
नयस्तद्विषयो यः स्याज्ज्ञेयो द्रव्याधिको हि सः ॥ ३६ ॥
व्यावृत्तिश्च विशेषश्च पर्यायश्चैकवाचकाः ।
पर्यायविषयो यस्तु स पर्यायाधिक मतः ॥ ४० ॥

(तत्त्वार्थसार प्रथमाधिकार)

अनुप्रवृत्ति, सामान्य और द्रव्य ये तीनों शब्द एकार्थवाची हैं। जो नय द्रव्य को विषय करता है वह द्रव्याधिकनय अर्थात् द्रव्यदृष्टि है। व्यावृत्ति, विशेष और पर्याय ये तीनों शब्द एकार्थवाची हैं। जो नय पर्याय को विषय करता है वह पर्यायाधिकनय अर्थात् पर्यायदृष्टि है।

द्रव्यदृष्टि में पर्यायों गौण होने से जीव न संसारी है और न मुक्त है, क्योंकि संसारी और मुक्त ये दोनों पर्याय हैं। अतः द्रव्यदृष्टि में मोक्ष और मोक्ष-मार्ग, ये दोनों पर्याय संभव नहीं हैं। इसीप्रकार श्रद्धागुण की मिथ्या-दर्शन व सम्यग्दर्शन ये दोनों पर्याय हैं। समयसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में कहा भी है—

“शुद्धद्रव्याधिकनयेन शुभाशुभपरिणमनाभावात् न भवत्यप्रमत्तः प्रमत्तश्च । प्रमत्तशब्देन मिथ्यादृष्ट्याविप्रमत्ता-
तानि षड्गुणस्थानानि, अप्रमत्तशब्देन पुनरप्रमत्ताद्ययोग्यान्ताम्यष्टगुणस्थानानि गृह्यन्ते ।”

स. सा. पु० ७ अजमेर से प्रकाशित ।

शुद्धद्रव्याधिकनय से जीव में शुभ या अशुभरूप परिणमन करने का अभाव है, इसलिये जीव न तो प्रमत्त ही है और न अप्रमत्त ही है। मिथ्यादृष्टिगुणस्थान से लेकर प्रमत्तविरत गुणस्थान तक छह गुणस्थानों में जीव की जो अवस्था है वह प्रमत्त अवस्था है। अप्रमत्तविरत गुणस्थान से लेकर अयोग केवली गुणस्थानतक आठ गुणस्थानों में जीव की जो पर्यायें हैं वे अप्रमत्त अवस्था है। इसप्रकार द्रव्यदृष्टि में न बंधमार्ग है और न मोक्षमार्ग है। यह पर्यायदृष्टि में ही संभव है, जैसा कहा भी है—

पादुम्भवदि य क्षणो पञ्जओ, पञ्जओ वयदि अणो ।

दव्वस्स तं पि दव्वं एव पण्हं ण उप्पणं ॥ प्र. सा. गा० १०३

“प्रादुर्भवति च जायते अन्यः कश्चिद्दर्शान्तज्ञानसुखाविगुणास्पदभूतः शाश्वतिकः परमात्मावाप्तिरूपः स्वभावद्रव्यपर्यायः पर्यायो व्येति विनश्यति अन्यः पूर्वोक्तमोक्षपर्यायाद्भिन्नो निश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूप-स्यैव मोक्षपर्यायस्योपादानकारणभूतः, तदपिशुद्धद्रव्याधिकनयेन परमात्मद्रव्यं नैव नष्टं न चोत्पन्नम् ।”

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि पर्यायदृष्टि से जीव की अनन्तज्ञान-सुख आदि गुणवाली शाश्वतिक मुक्तावस्थारूप स्वभावद्रव्यपर्याय उत्पन्न होती है और उस मुक्तावस्था (पर्याय) से भिन्न निश्चयरत्नत्रयात्मक निर्विकल्पसमाधिरूप तथा मोक्षपर्याय की उपादान कारण ऐसी मोक्षमार्गपर्याय का व्यय (नाश) होता है, किन्तु द्रव्याधिकदृष्टि से जीवद्रव्य न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है।

अर्थात् द्रव्यदृष्टि में न मोक्ष है और न मोक्षमार्ग है तथा न सम्यग्दृष्टि है और न मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि ये सब पर्यायें हैं।

“यद्यपि शुद्धात्मरुचिपरिच्छित्तिनिश्चलानुभूति लक्षणस्य संसारावसानोत्पन्न कारण समयसारपर्यायस्य विनाशो भवति, तथैव केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारपर्यायस्योत्पादश्च, भवति तथाप्युभयपर्यायपरिणतात्म द्रव्यत्वेन ध्रौव्यत्वं पदार्थत्वादिति ।” (प्र. सा. गा. १८ टीका)

शुद्धात्मा की रुचिरूप सम्यक्शुद्धान, उसी का सम्यग्ज्ञान तथा उसी की अनुभूति में निश्चलत्वरूप चारित्र्य; इस रत्नत्रयमय लक्षण को रखनेवाले संसार के अंत में होनेवाले कारणसमयसाररूप मोक्षमार्गपर्याय का यद्यपि नाश होता है और उसीप्रकार केवलज्ञान आदि की प्रगटत्वरूप कार्यसमयसाररूप मोक्षपर्याय का उत्पाद होता है तो भी दोनों ही पर्यायों में रहनेवाले आत्मद्रव्य का ध्रौव्यपना रहता है।

यहाँ पर भी यही बतलाया गया है कि पर्यायदृष्टि में ही मोक्षमार्गपर्याय का व्यय और मोक्षपर्याय का उत्पाद संभव है। द्रव्यदृष्टि में, उत्पाद व व्यय न होने के कारण न मोक्ष है और न मोक्षमार्ग है।

उप्पत्तीव विणासो दव्वस्स य णत्थि अत्थि सव्भावो ।

विगमुप्पादधुवत्तं करेति तस्सेव पञ्जायाः ॥११॥ (पं० का०)

टीका—“द्रव्यार्थापिणायामनुत्पादमनुच्छेदं सत्स्वभावमेवद्रव्यं । तदेव पर्यायार्थापिणायं सोत्पादं सोच्छेदं चावबोद्धव्यम् ।”

द्रव्यदृष्टि से द्रव्य को उत्पादरहित, विनाशरहित सत्स्वभाव वाला जानना चाहिये, किन्तु पर्यायदृष्टि से उत्पादवाला, विनाशवाला जानना चाहिये।

“ज्ञानावरणाविभावाःद्रव्यकर्मपर्यायाः सुष्ठु संश्लेषरूपेणानादिसंतानेन बद्धास्तिष्ठन्ति तावत्, यदा कालादि-
लब्धिवशाद्भेदाभेद रत्नत्रयात्मकं व्यवहारनिश्चयमोक्षमार्गैर्लभते तदा तेषां ज्ञानावरणादि भावानां द्रव्यभावकर्मरूप-
पर्यायाणामभावं विनाशं कृत्वा पर्यायाधिकनयेनाभूतपूर्वसिद्धो भवति, द्रव्याधिकनयेन पूर्वमेव सिद्धरूप इति वार्तिकं ।”
(पं. का. गा. २० की ता. वृ टीका)

इस संसारीजीव का अनादिप्रवाहरूप से ज्ञानावरणादि आठों कर्मों के साथ संश्लेषरूप बंध चला आ रहा है । जब कोई भव्यजीव कालादि लब्धि के वश से भेदरत्नत्रयस्वरूप व्यवहारमोक्षमार्ग को और अभेदरत्नत्रयस्वरूप निश्चयमोक्षमार्ग को प्राप्त करता है तब वह भव्यजीव उन ज्ञानावरणादि कर्मों की द्रव्य और भावरूप अवस्थाओं का नाशकरके पर्यायदृष्टि से सिद्धभगवान हो जाता है । वह सिद्धपर्याय पूर्व में कभी प्राप्त नहीं हुई थी, उस सिद्ध-पर्याय को प्राप्त कर लेता है । द्रव्यदृष्टि से तो पहिले से ही यह जीव स्वरूप से ही सिद्धरूप है । अर्थात् द्रव्यदृष्टि में मोक्षमार्ग संभव नहीं है ।

एकांत पर्यायदृष्टि से बौद्धमतरूप दूषण आता है और एकान्त द्रव्यदृष्टि से सांख्यमतरूप दूषण आता है, क्योंकि 'क्षणिककांतरूपं बौद्धमतं नित्यकांतरूपं सांख्यमतं ।' ऐसा आर्षवचन है । 'जैनमते पुनः परस्परसापेक्ष-द्रव्यपर्यायस्वास्ति दूषणं ।' किन्तु जैनमत में परस्पर सापेक्ष द्रव्यदृष्टिपर्याय दृष्टि मानने से कोई दूषण नहीं आता ।
“यद्यपि शुद्धनिश्चयेन शुद्धो जीवस्तथापि पर्यायाधिकनयेन कथंचित्परिणामित्वे सत्यनादिकर्मोदयवशाद्गामाद्यु-
पाधिपरिणामं गृह्णाति स्फटिकवत् । यत्र पुनरेकान्तेनपरिणामी भवति तदोपाधि परिणामो न घटते ।”
अजमेर से प्रकाशित समयसार पृ० ३०१ ।

यद्यपि शुद्धनिश्चयनय से जीव शुद्ध है फिर भी पर्यायदृष्टि से कथंचित् परिणामीपना होनेपर अनादिकाल से बाराप्रवाहरूप से चले आये कर्मोदय के वश से यह जीव स्फटिक पाषाण के समान ही रागादिरूप उपाधि परिणाम को ग्रहण करता है । यदि द्रव्यदृष्टि के एकान्त से यह जीव अपरिणामी ही हो तो इस जीव का रागादि उपाधिरूप परिणाम कभी घटित नहीं हो सकता है । जब एकान्तद्रव्यदृष्टि में इस जीव के रागादि परिणाम घटित नहीं हो सकते तो मोक्षमार्ग भी घटित नहीं हो सकता ।

“पर्यायाधिकनयविभागैर्देतमनुष्याविरूपैर्विनश्यति जीवः । न नश्यति कैश्चिद्द्रव्याधिकनय विभागैः ।
यस्मादेवं नित्यानित्यस्वभावं जीवरूपं ।”

यह जीव पर्यायदृष्टि से देव, मनुष्य आदि पर्यायों के द्वारा विनाश को प्राप्त होता है । द्रव्यदृष्टि से जीव नाश को प्राप्त नहीं होता है । इसप्रकार जीव नित्य अनित्यस्वभाववाला है । द्रव्य दृष्टि से जीव नित्य अपरिणामी है और पर्याय दृष्टि से अनित्य परिणामी है । जो एकांत से जीव को नित्य अपरिणामी मानते हैं वे सांख्यमतवालों के समान मिथ्यादृष्टि हैं ।

“स जीवो मिथ्यादृष्टिरनाहृतो ज्ञातव्यं । कथं मिथ्यादृष्टिः ? इति चेत् यदैकान्तेन नित्यकूटस्थोऽपपरिणामी
टंकोत्कीर्णः सांख्यमतवत् ।”

जो एकांतद्रव्यदृष्टि से जीव को नित्य कूटस्थ अपरिणामी और टंकोत्कीर्ण मानता है तो वह सांख्यमतवालों के समान मिथ्यादृष्टि है अर्हंतमत का मानने वाला नहीं है ।

यद्यपि द्रव्यदृष्टि से सर्व जीव एक समान हैं उनमें कोई भेद नहीं है तथापि पर्यायदृष्टि से जीव तीनप्रकार का है । श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षप्राप्त में कहते हैं—

तिपयारो सो अप्पा परमंतर बाहिरो दु वेहीणं ।
 तत्थ परो झाइज्जइ अंतो बाएण चयहि बहिरप्प ॥ ४ ॥ (मोक्षप्राप्तुत)
 बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सबंदेहिषु ।
 उपेयात्तत्र परमं मध्योपायात् बहिस्त्यजेत् ॥ ४ ॥ (समाधितंत्र)

सर्वप्राणियों में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इसप्रकार तीनप्रकार की आत्मा है । आत्मा के उन तीन भेदों (पर्यायों) में से बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्मा के उपाय से परमात्मा प्रवस्था का ध्यान करो । उस परमात्मारूप पर्याय के ध्यान से जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

तं सव्वत्थवरिट्ठं, इट्ठं अमरासुरप्पहारोहि ।
 ये सद्धंति जीवा वेसि दुक्खाणि खीयंति ॥ १९-१ ॥ प्रवचनसार

“एवं निर्दोषपरमात्मभद्रावात्मोक्षो भवतीति कथनरूपेण तृतीयस्थले प्राया गता ।”

स्वगंवासी देव तथा भवनत्रिक के इन्द्रों से पूजनीय और सर्व पदार्थों में श्रेष्ठ ऐसे परमात्मा का जो भव्य-जीव श्रद्धान करते हैं उनके सब दुःख नाश को प्राप्त हो जाते हैं । इसतरह निर्दोष परमात्मा के श्रद्धान से मोक्ष होता है, ऐसा कहते हुए तीसरेस्थल में गाथा पूर्ण हुई ।

परमात्म प्रवस्था जीव की पर्याय है, उस परमात्मपर्याय के श्रद्धान व ध्यान को मोक्षमार्ग बतलाया गया है ।

श्री अमृतचन्द्राचार्य का निम्न कलश भी दृष्टव्य है—

परपरिणति हेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा—
 दधिरतमनुभाष्य ध्याप्तिकल्माषितायाः ।
 मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते—
 भवतु समयसार ध्यालययवानुभूतः ॥ ३ ॥

श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं—यद्यपि शुद्धदृश्यदृष्टि कर तो मैं शुद्ध हूँ चतन्व्यमात्र मूर्ति हूँ । परन्तु मेरी परिणति (पर्याय) मोहकर्म के उदय के कारण मैली रागादिरूप हो रही है । शुद्धात्मा की कथनीरूप जो यह समयसारग्रन्थ है, उसकी टीका करने का फल यह चाहता हूँ कि मेरी परिणति (पर्याय) रागादि से रहित होकर शुद्ध हो अर्थात् मेरे शुद्धस्वरूप की प्राप्ति हो ।

इस कलश में श्री अमृतचन्द्राचार्य की वर्तमान अशुद्धपर्याय पर दृष्टि रही है, जिसकी शुद्धि के लिये टीका रची गई है । यही मोक्षमार्ग है ।

तत्त्वार्थसूत्र में श्रीमदुमास्वामी आचार्य ने सम्यग्दर्शन का लक्षण इसप्रकार किया है—

“तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥ जीवाजीवास्त्रवधसंवरनिर्जराभोक्षास्तत्त्वम् ॥ ४ ॥

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है ।

यहाँ पर ‘पर्यायदृष्टि सिध्यादृष्टि’ के सिद्धांत को माननेवाला कहता है कि ‘जीव और अजीव इन दो द्रव्यों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है’ इसप्रकार सूत्र की रचना होनी चाहिये थी, क्योंकि आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तो पर्याय हैं । इसपर श्री अकलंकदेव उत्तर देते हैं—

“अनेकान्ताच्च । द्रव्याधिकपर्यायाधिकयोर्गुणप्रधानभावेन अपेक्षानपेक्षभेदात् जीवाजीवयोराल्पवादीनां स्यावन्तर्भावः स्यादन्तर्भावः । पर्यायाधिकगुणभावे द्रव्याधिकप्राधान्यात् आल्लवादिप्रतिनियतपर्यायार्थानपेक्षात् अनादि पारिणामिकचैतन्याचैतन्यादि द्रव्यार्थापेक्षाद् आल्लवादीनां स्याज्जीवेऽजीवे चान्तर्भावः । तथा द्रव्याधिकगुणभावे पर्यायाधिकप्राधान्याद् आल्लवादिप्रतिनियतपर्यायाधिकार्पणाद् अनादिपारिणामिकचैतन्याचैतन्यादिद्रव्यार्थाऽनपेक्षाद् आल्लवादीनां जीवाजीवयोः स्यादन्तर्भावः । तदपेक्षया स्यादुपदेशोऽर्थवान् ।” [त. रा. वा.]

वस्तुतः जीव, अजीव और आल्लव आदि में परस्पर भेद भी है और अभेद भी है ऐसा अनेकांत है, अतः अनेकांतदृष्टि से विचार करना चाहिये । पर्यायदृष्टि गौरव होने पर और द्रव्यदृष्टि की प्रधानता रहने पर अनादि पारिणामिक जीव और अजीवद्रव्य की मुख्यता होने से आल्लवादि पर्यायों की विवक्षा न होने पर उन आल्लव आदि पर्यायों का जीव और अजीव में अन्तर्भाव ही जाता है, अतः जीव और अजीव इन दो पदार्थों का श्रद्धान् सम्यग्दर्शन है । किन्तु जिससमय उन आल्लवादि पर्यायों को पृथक्-पृथक् ग्रहण करनेवाली पर्यायाधिकदृष्टि की मुख्यता होती है तथा द्रव्यदृष्टि गौरव होती है तब आल्लवादि पर्यायों का जीव और अजीव में अन्तर्भाव नहीं होता । अतः पर्यायदृष्टि से इन आल्लव आदि पर्याय का उपदेश सार्थक है निरर्थक नहीं है । अर्थात् आल्लव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन पर्यायों का श्रद्धान् सम्यग्दर्शन है, यह उपदेश पर्यायदृष्टि से यथार्थ है ।

एकान्त मिथ्या मतों का समूह अनेकान्त नहीं है, क्योंकि उनके मतों में नयों में परस्पर सापेक्षता नहीं है । कहा भी है—

ते सावेकखा सुणया गिरवेकखा ते वि दुष्णया ह्येति ।

सयल ववहार-सिद्धि सु णयादो होदि णियमेण ॥२६६॥ [स्वा. का. अ.]

संस्कृत टीका—“सापेक्षाः स्वविपक्षापेक्षा सहिताः ।”

जो नय सापेक्ष हों अर्थात् अपने विपक्ष की अपेक्षा करते हैं वे सुनय होते हैं । यदि नय निरपेक्ष हों अर्थात् विपक्ष की अपेक्षा से रहित हों तो दुर्नय होते हैं । द्रव्यदृष्टि यदि पर्यायदृष्टि सापेक्ष है तो सुदृष्टि है यदि द्रव्यदृष्टि पर्यायदृष्टि से निरपेक्ष है तो कुदृष्टि है ।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी कहा है—

एते परस्परापेक्षाः सम्यग्ज्ञानस्य हेतवः ।

निरपेक्षाः पुनः सन्तो मिथ्याज्ञानस्य हेतवः ॥ ५१ ॥ [त. सा. प्र. अ.]

ये नय यदि परस्पर सापेक्ष रहते हैं अर्थात् अपने विपक्ष की अपेक्षा रखते हैं तो सम्यग्ज्ञानके हेतु होते हैं और यदि निरपेक्ष रहते हैं अर्थात् अपने विपक्ष की अपेक्षा नहीं रखते हैं तो मिथ्याज्ञान के हेतु होते हैं । यदि द्रव्य दृष्टि पर्यायदृष्टि सापेक्ष है और पर्यायदृष्टि द्रव्यदृष्टि सापेक्ष है तो सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान की कारण है । यदि द्रव्यदृष्टि पर्यायदृष्टि निरपेक्ष है और पर्यायदृष्टि द्रव्यदृष्टि निरपेक्ष है तो मिथ्यादर्शन व मिथ्याज्ञान के कारण हैं ।

जिसप्रकार “न देवाः ।” इस सूत्र के आधार पर यदि कोई देवपर्याय का निषेध करने लगे तो वह विद्वान् नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसने पूर्वापर प्रकरण अनुसार सूत्र का अर्थ नहीं समझा । इसीप्रकार ‘मैं सुखी-दुःखी, मैं रंक राव’ छहठाला के इस वाक्य के आधार पर सम्पादक जैन सन्देश ‘पर्यायदृष्टि मिथ्यादृष्टि’ ऐसा सिद्धान्त बना लेवें तो यह उसकी भूल है, क्योंकि उन्होंने पूर्वापर प्रकरण पर दृष्टि नहीं दी । प्रकरण इसप्रकार है—

चेतन को है उपयोगरूप विनमूरति चिनमूरति अनूप ।
 पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतें न्यारी है जीव घाल ॥
 ताकों न जान खिपरीत मान, करि करं वेह में निज पिछान ।
 में सुखी-दुःखी में रंक राव, मेरो धन गृह गोधन प्रभाव ॥
 मेरे सुत तिय में सबलबीन, बेरूप सुभग मूरख प्रबीन ।
 तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाशमान ॥

जो कोई जीव के लक्षण उपयोग को स्वीकार नहीं करता, किन्तु शरीर को ही आपा मानता है, शरीर की उत्पत्ति से अपनी उत्पत्ति और शरीर के नाश से अपना नाश मानता है । शरीर के सुख में अपने आपको सुखी और शरीर के दुःख में अपने आपको दुःखी मानता है उसको यही पर मिथ्यादृष्टि कहा है । जिसको अपनी ज्ञान-निधि की खबर नहीं है, बाह्यनिधि के कारण अपने आपको रंक व राव मानता है, उसको यहाँ पर मिथ्यादृष्टि कहा है ।

छद्मद्वाला में पर्यायदृष्टि को मिथ्यादृष्टि नहीं कहा है बल्कि पर्यायदृष्टि का उपदेश दिया गया है और पर्यायदृष्टि से मुक्ति बतलाई है । वह कथन इसप्रकार है—

“यह मानुष परजाय, सुकुल सुनिधो जिनवानो ।
 इह विधि गये न मिलें, सुमणि ज्यों उदधि समानो ॥”
 “बहिरातमता हेय जानि तजि, अन्तर अतम हूजें ।
 परमातम को ध्याय निरन्तर, जो नित आनन्द पूजें ॥”

वज्रनाभि चक्रवर्ती पर्यायदृष्टि से विचार करते हैं—

“में चक्री पद पाय निरन्तर भोगे भोग घनेरे,
 तो भी तनिक भये नहीं पूर्ण, भोग मनोरथ मेरे ।”

इस पर्यायदृष्टि को रखते हुए भी वज्रनाभिचक्रवर्ती मिथ्यादृष्टि नहीं हुए ।

‘पर्यायदृष्टि मिथ्यादृष्टि’ यदि इस सिद्धांत को मान लिया जाय तो अनित्य, अशरण, संसार, अशुचि आदि भावनाओं का श्रद्धान करनेवालों के मिथ्यात्व का प्रसंग आ जायेगा, क्योंकि ये भावना पर्यायदृष्टि की अपेक्षा से संभव है । द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से अनित्य आदि भावना संभव नहीं है, क्योंकि द्रव्यदृष्टि में नित्यता स्वीकार की गई है ।

राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार ।
 मरना सबको एक बिन, अपनी अपनी बार ॥
 बल बल देई देवता, मात पिता परिवार ।
 मरती विरियां जीव को, कोई न राखनहार ॥
 बाम बिना निर्धन दुःखी, तृष्णावश धनवान ।
 कहुं न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान ॥

इसप्रकार पर्यायदृष्टि से श्रद्धा करनेवाला मिथ्यादृष्टि नहीं है, अपितु सम्यग्दृष्टि है ।

सामायिक पाठ में अपने दोषों की पर्यायदृष्टि से निम्नप्रकार आलोचना करनेवाला मिथ्यादृष्टि नहीं हो सकता वह तो सम्यग्दृष्टि है —

हा हा ! मैं कुछ अपराधी, ब्रह्म जीवन राशि विराधी ।
थावर की जतन न कीनी, उर में कठना नहीं लीनी ॥
एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा, विनिर्मलः साधिगम स्वभावः ।
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ता, न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः ॥

सामायिकपाठ के इस श्लोक में यह नहीं कहा गया कि द्रव्यदृष्टि से सम्यग्दृष्टि और पर्यायदृष्टि से मिथ्यादृष्टि । यहाँ पर यह बतलाया गया है कि मेरी आत्मा एक है और सदा शाश्वत है । यह द्रव्यदृष्टि से कथन है । मेरी आत्मा निर्मल और साधिगम है, यह स्वभावदृष्टि से कथन है । कर्मजनित औपाधिकभाव मेरे स्वभाव नहीं हैं और नाशवान हैं यह विभावपर्यायदृष्टि से कथन है ।

यहाँ पर द्रव्यदृष्टि से आत्मा सदा शाश्वत अर्थात् अनादि-अनन्त बतलाया गया है । आत्मा अनादिकाल से कर्मों से बंधी हुई है अतः शुद्ध नहीं है । अतः द्रव्याधिकनय का विषय शुद्ध या अशुद्धात्मा नहीं है, किन्तु शुद्ध व अशुद्ध विशेषणों रहित सामान्य आत्मा है । श्री देवतेन आचार्य ने आलाप पद्धति में कहा भी है—

“निजनिजप्रदेशसमूहेरखण्डवृत्त्या स्वभाव विभाव पर्यायान् द्रव्यति द्रोष्यति अदुद्रवदिति द्रव्यम् ।”

जो अपने-अपने प्रदेशसमूह के द्वारा अखण्डपने से अपनी-अपनी स्वभाव-विभावपर्यायों को प्राप्त होता है, होवेगा और हो चुका है, वह द्रव्य है ।

यदि द्रव्यदृष्टि का विषय शुद्धद्रव्य माना जाय तो वह विभावपर्यायों को प्राप्त नहीं हो सकता । अतः द्रव्यदृष्टि का विषय, शुद्धाशुद्ध विशेषणों से रहित सामान्य आत्मा है ।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी प्रवचनसार गाथा १० की टीका में ‘ऊर्ध्वतासामान्यलक्षणे द्रव्ये’ शब्दों द्वारा द्रव्य का लक्षण ऊर्ध्वतासामान्य बतलाया है ।

‘परापरविवर्तव्यापि द्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासाविषु ।’ परीक्षामुख

पूर्व और उत्तर पर्यायों में रहनेवाले द्रव्य को ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं । जैसे स्थान, कोश, कुशूल, घट आदि पर्यायों में मिट्टी रहती है ।

यदि द्रव्यदृष्टि के विषयभूत आत्मद्रव्य के साथ शुद्ध विशेषण लगा दिया जाये तो वह अशुद्धपर्यायों में नहीं रह सकेगा, किन्तु संसारी अशुद्धपर्याय में आत्मद्रव्य रहता है । अतः शुद्धाशुद्ध विशेषणों से रहित सामान्य आत्मा द्रव्यदृष्टि का विषय है ।

‘सामान्यनयेन हारल्लगदाममूत्रद्रव्यापि ।’ प्रवचनसार परिशिष्ट

सामान्यदृष्टि अर्थात् द्रव्यदृष्टि से आत्मा सर्व पर्यायों में व्याप्त होकर रहता है जैसे मोती की माला का डोरा माला के काले, पीले, शुक्ल वर्ण वाले सब दानों में व्याप्त होकर रहता है ।

यह सामान्य आत्मा जब शुद्धपर्याय को व्याप्त करके रहता है तब शुद्धपर्याय से तन्मय होने के कारण शुद्धात्मद्रव्य कहलाता है । जब अशुद्धपर्याय को व्याप्त करके रहता है, तब अशुद्धपर्याय से तन्मय होने के कारण अशुद्ध आत्मद्रव्य कहलाता है । श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार में कहा भी है—

परिणमदि जेण द्रव्यं तवकालं तम्मयं ति पणत्तं ।
 तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो सुल्लोयव्वो ॥८॥
 जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो ।
 सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसम्भावो ॥९॥

द्रव्य जिसकाल में जिसपर्याय से परिणमन करता है अर्थात् जिसपर्याय को व्याप्त करता है उसकाल में वह द्रव्य उसका रूप है ऐसा जिनेन्द्र द्वारा कहा गया है। इसलिये धर्मपर्याय को प्राप्त आत्मा को धर्मात्मा जानना चाहिए। जीव जब शुभपर्याय से परिणमन करता है अर्थात् शुभपर्याय को प्राप्त करता है, तब वह जीव स्वयं शुभ हो जाता है। वही जीव जब अशुभपर्याय से परिणमन करता है अर्थात् अशुभपर्याय को प्राप्त करता है तब वह जीव स्वयं अशुभ हो जाता है। जब वही जीव शुद्धभाव से परिणमन करता है अर्थात् शुद्धपर्याय को व्याप्त करके रहता है, तब वह जीव स्वयं शुद्ध हो जाता है, क्योंकि जीव परिणमन स्वभाववाला है। इन तीनों अवस्थाओं में रहनेवाला जो सामान्य आत्मद्रव्य है वह द्रव्यदृष्टि का विषय है। “तातं द्रव्यदृष्टि करि एक दशा है, पर्यायदृष्टि करि अनेक अवस्था हो है, ऐसा मानना योग्य है। सो शुद्ध-अशुद्धअवस्था पर्याय है। इस पर्याय अपेक्षा (संसारी व सिद्ध में) समानता मानिए सो यह मिथ्यादृष्टि है। तातं आपका द्रव्य पर्यायरूप अवलोकेंगे। द्रव्यकरि सामान्य स्वरूप अवलोकना, पर्यायकरि विशेष अवधारना। ऐसे ही चितवन किए सम्यग्दृष्टि हो है। जातं सांचा अवलोकें बिना सम्यग्दृष्टि कैसे नाम पावे” (मो. भा. प्र.)

श्री गौतमगणधर प्रथमोपशमसम्यक्त्व को उत्पन्न करनेवाले जीव की योग्यता का कथन इसप्रकार करते हैं—

उवसामेतो कम्हि उवसामेदि । चट्ठसु वि गदीसु उवसामेदि । चट्ठसु वि गदीसु उवसामेतो पंचिदिएसु उवसामेदि, णो एइंदिय विगल्लियेसु । पंचिदिएसु उवसामेतो सण्णीसु उवसामेदि, णो असण्णीसु । सण्णीसु उवसामेतो गम्भोवक्कतिएसु उवसामेदि, णो सम्मुच्छिमेसु । गम्भोवक्कतिएसु उवसामेतो पज्जत्तएसु उवसामेदि णो अपज्जत्तएसु । पज्जत्तएसु उवसामेतो सखेज्जवस्साउमेसु वि उवसामेदि, अंखेज्जवस्साउमेसु वि ॥ धवल पु. ६ पृ. २३८

अर्थ—दर्शनमोहनीयकर्म को उपशमाता हुआ यह जीव कहीं उपशमाता है ? चारों ही गतियों में उपशमाता है। चारों ही गतियों में उपशमाता हुआ पंचेन्द्रियों में उपशमाता है, एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियों में नहीं उपशमाता है। पंचेन्द्रियों में उपशमाता हुआ संज्ञियों में उपशमाता है, असंज्ञियों में नहीं उपशमाता है। संज्ञियों में उपशमाता हुआ गर्भोपक्रान्तिकों (गर्भजजीवों) में उपशमाता है, सम्मुच्छिर्मों में नहीं गर्भोपक्रान्तिकों में उपशमाता हुआ पर्याप्तकों में उपशमाता है, अपर्याप्तकों में नहीं, पर्याप्तकों में उपशमाता हुआ संख्यातवर्ष की आयुवाले जीवों में भी उपशमाता है और असंख्यातवर्ष की आयुवाले जीवों में भी उपशमाता है। अर्थात् उपशम-सम्यक्त्व उत्पन्न करता है।

गणधर ने सम्यक्त्वोत्पत्ति का यह सब कथन पर्यायदृष्टि से किया है। ‘पर्यायदृष्टि मिथ्यादृष्टि’ यदि यह सिद्धान्त होता तो गणधर महाराज पर्यायदृष्टि से क्यों कथन करते ?

श्री गुणधराचार्य कषायपाहुड में कहते हैं—

सव्वणिरय मवरोसु वीव-समुद्धे गुह जोदिस विमारो ।
 अभिजोग्ग - अणभिजोग्गे उवसामो होइ बोद्धव्वो ॥
 सागारे पट्टवगो णिट्टवगो मज्झिमो य भजियव्वो ।
 जोमे अणवरन्धिह्य जहणगो तेउलेस्साए ॥ [क. पा. ४३० व ४३२]

सर्व नरकों में, सर्वप्रकार के भवनवासी देवों में, सर्वद्वीप और समुद्रों में, सर्व व्यन्तरदेवों में, समस्त ज्योतिष्कदेवों में, विमानवासीदेवों में आभियोग्य जाति के और अनाभियोग्य जाति के देवों में दर्शनमोहनीय-कर्म का उपशम होता है। साकारोपयोग में वर्तमान जीव ही दर्शनमोहनीयकर्म के उपशमन का प्रस्थापक होता है, किन्तु निष्ठापक और मध्यम अवस्थावर्ती जीव भजितव्य है। तीनों योगों में से किसी एक योग में वर्तमान और तेजोलेश्या के जघन्य अंश को प्राप्त जीव दर्शनमोह का उपशामक होता है। अर्थात् उपशमसम्यक्त्व को उत्पन्न करता है। सम्यक्त्वोत्पत्ति का यह सब कथन भी पर्यायदृष्टि से किया गया है। इससे स्पष्ट है कि सापेक्ष पर्याय-दृष्टि से सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

द्रव्यदृष्टि से सामान्यदृष्टि, क्योंकि "सामान्यं द्रव्यं चकार्थवाचकाः।" तत्त्वार्थसार

"पर्यायदृष्टि से विशेषदृष्टि, क्योंकि विशेषश्च पर्यायश्चकार्थवाचकाः।" तत्त्वार्थसार

किन्तु सामान्य की अपेक्षा विशेष बलवान् होता है। कहा भी है—

"सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत्।"

सामान्य शास्त्र तँ विशेष बलवान् है, क्योंकि विशेष ही तँ नीक निर्णय हो है। इसीलिये कुन्दकुन्दाचार्य ने पंचास्तिकाय के मोक्षमार्ग प्ररूपक दूसरे अधिकार में जीवतत्त्व का पर्यायों की अपेक्षा विशेष कथन किया है। गाथा १०६ में संसारी व मोक्षपर्याय की अपेक्षा से जीवतत्त्व का कथन है। गाथा ११० से १२२ तक इन्द्रिय, गति, भव्य, अभव्य, कर्त्ता, भोक्ता आदि पर्यायों की अपेक्षा संसारीजीव का विशेष कथन है। जीवपदार्थ के कथन का उपसंहार करते हुए श्री कुन्दकुन्दाचार्य लिखते हैं—

एवमभिगम्य जीवं अणोर्हि वि पञ्जएहि बहुगेहि ।

अभिगच्छतु अज्जीवं णाणं तरिवेहि लिंगेहि ॥ १२३ ॥ (पंचास्तिकाय)

इसप्रकार अन्य भी बहुतसी पर्यायों द्वारा जीव को जानकर, ज्ञान से अन्य ऐसे जड़ लिंग द्वारा अजीव-पदार्थ को जानो ।

यदि द्रव्यदृष्टि सम्यग्दृष्टि तथा पर्यायदृष्टि मिथ्यादृष्टि ऐसा सिद्धान्त होता तो श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्ष-मार्गप्ररूपक अधिकार में जीवपदार्थ का पर्यायों की अपेक्षा क्यों कथन करते तथा श्री अनृतचन्द्राचार्य 'बहुभिः पर्यायैः जीवमधिगच्छेत् ।' अर्थात् बहुतपर्यायों द्वारा जीव को जानो ऐसी आज्ञा क्यों देते ?

यथार्थ दृष्टि से पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है। जिसकी मात्र सामान्य पर दृष्टि है, विशेष (पर्याय) पर दृष्टि नहीं है, वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है।

२७ मई १९७१ के जैनसन्देश के सम्पादकीय लेख में जो प्रवचनसार का उल्लेख है अब उसपर विचार किया जाता है।

उक्त सम्पादकीय लेख में प्रवचनसार गाथा १८९ की टीका का कुछ भाग उद्धृत किया गया है, किन्तु इस टीका का द्रव्यदृष्टि या पर्यायदृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं है और न इस टीका का मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि से कोई सम्बन्ध है, वह टीका इसप्रकार है—

“रागादिवरिणाम एवात्मनः कर्म, एवं पुण्यपापद्वैतम् । रागपरिणामस्यैवात्मा कर्ता तस्यैवोपादाता हाता चेत्येव शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको निश्चयनयः, यस्तु पुद्गलपरिणाम आत्मनः कर्म सः एव पुण्यपापद्वैतं पुद्गलपरिणाम-स्यात्मा कर्ता तस्योपादाता हाता चेति सोऽशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको व्यवहारनयः । उभावप्येतीतस्तः, शुद्धाशुद्धत्वेनो-भयथा द्रव्यस्य प्रतीयमानत्वात् । किन्त्वत्र निश्चयनयः साधकतमत्वावुपात्तः साध्यस्य शुद्धत्वेन द्रव्यस्य शुद्धत्वद्योतक-त्वाग्निश्चयनय एव साधकतमो न पुनरशुद्धत्वद्योतकोव्यवहारनयः ॥१८९॥” प्रवचनसार ।

यहाँ पर रागादि परिणामों को आत्मा के कर्म और आत्मा उन रागादि का कर्ता आदि है ऐसा कथन करनेवाले नय को शुद्धद्रव्य का निरूपण करनेवाला निश्चयनय कहा है । पौद्गलिक कर्म आत्मा के कर्म और आत्मा उन पौद्गलिक कर्मों का कर्ता आदि है ऐसा कथन करनेवाले नय को अशुद्धद्रव्य का निरूपण करनेवाला व्यवहार-नय कहा है ।

यहाँ पर शुद्धद्रव्य व निश्चयनय तथा अशुद्धद्रव्य व व्यवहारनय ये शब्द किस अभिप्राय से प्रयोग किये गये हैं, इसको समझने के लिये अध्यात्मनयों के स्वरूप का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है । अध्यात्मनयों का कथन इसप्रकार है—

“पुनरप्यध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते । तावन्मूलनयो द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च । तत्र निश्चयनयोऽभेदविषयो, व्यवहारो भेदविषयः । तत्र निश्चयो द्विविधः शुद्धनिश्चयोऽशुद्धनिश्चयश्च । तत्र निरुपाधिकगुणगुण्यभेदविषयकः शुद्ध-निश्चयो यथा केवलज्ञानादयो जीव इति । सोपाधिकविषयोऽशुद्धनिश्चयो यथा मतिज्ञानादयो जीव इति । व्यवहारो द्विविधः सदभूतव्यवहारोऽसदभूतव्यवहारश्चतत्रैकवस्तुविषयः सदभूतव्यवहारः । भिन्नवस्तुविषयोऽसदभूत व्यवहारः ।”

अर्थ—फिर भी अध्यात्मभाषा से नयों का कथन करते हैं । नयों के दो मूल भेद हैं, एक निश्चयनय और दूसरा व्यवहारनय । निश्चयनय का विषय अभेद है और व्यवहारनय का विषय भेद है । निश्चयनय दो प्रकार का है १. शुद्धनिश्चयनय, २. अशुद्धनिश्चयनय । उनमें से जो नय कर्मजनित रागादिविकार से रहित गुण-गुणी को अभेरूप से ग्रहण करता है वह शुद्धनिश्चयनय है । जैसे केवलज्ञानादिस्वरूप जीव है । जो नय कर्मजनित रागादि विकारसहित गुण और गुणी को अभेरूप से ग्रहण करता है वह अशुद्ध निश्चयनय है । जैसे मतिज्ञानादिस्वरूप जीव है व्यवहारनय दो प्रकार का है । १. सदभूतव्यवहारनय, २ असदभूतव्यवहारनय । एक वस्तु को विषय करनेवाला सदभूतव्यवहारनय है । भिन्न वस्तुओं को विषय करनेवाला असदभूतव्यवहारनय है ।

प्रवचनसार गाथा १८९ की टीका में जो आत्मा को रागादि परिणामों का कर्ता और रागादि परिणामों को कर्म कहा गया है, वह एक ही वस्तु में कर्ता कर्म के भेदरूप से कथन है अतः वह सदभूतव्यवहारनय का कथन है । पौद्गलिककर्म आत्मा के कर्म और आत्मा पौद्गलिक कर्मों का कर्ता है, यह कथन असदभूत व्यवहार का है, क्योंकि पुद्गल और आत्मा ये दो भिन्न वस्तु हैं । शुद्धनिश्चयनय का विषय तो रागादि विकारीभावों से रहित शुद्ध आत्मा है ।

श्री कुन्दकुन्वाचार्य ने तथा उनके टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्य ने निश्चय और व्यवहार इन दो ही शब्दों का प्रयोग किया है । भेद प्रति-भेदों का निर्देश नहीं किया है । जहाँ पर शुद्धनिश्चयनय को निश्चय कहा गया है, वहाँ पर शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा अशुद्धनिश्चयनय को व्यवहार कह दिया गया है । जहाँ पर असदभूतव्यवहारनय को व्यवहार कहा गया है, वहाँ पर असदभूतव्यवहार की अपेक्षा सदभूतव्यवहारनय को निश्चय कहा गया है ।

प्रवचनसार गाथा १८९ की टीका में 'शुद्धद्रव्य' का प्रयोजन निरुपाधि-आत्मद्रव्य से नहीं है, क्योंकि निरुपाधि-आत्मद्रव्य रागादि विकारीपरिणामों का कर्ता नहीं हो सकता है, किन्तु 'एकद्रव्य' से प्रयोजन है, क्योंकि रागादि परिणाम का कर्ता व कर्म दोनों एकद्रव्य की पर्यायें हैं। 'निश्चयनय' का प्रयोजन सद्भूतव्यवहारनय है, क्योंकि एकद्रव्य में कर्ता कर्म का भेद सद्भूतव्यवहारनय का विषय है। 'व्यवहारनय' का प्रयोजन असद्भूतव्यवहारनय से है, क्योंकि सोपाधि आत्मा और पौद्गलिककर्मों में अर्थात् दो भिन्न वस्तुओं में कर्ता-कर्म का सम्बन्ध बतलाना असद्भूतव्यवहारनय का विषय है।

इसप्रकार प्रवचनसार गाथा १८९ की टीका का द्रव्यदृष्टि व पर्यायदृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं है अतः द्रव्यदृष्टि व पर्यायदृष्टि की चर्चा में प्रवचनसार गाथा १८९ की टीका का उल्लेख करना अप्रासंगिक है।

२७ मई १९७१ के जैनसंदेश के सम्पादकीय लेख में प्रवचनसार गाथा ९४ का उल्लेख है। इस गाथा में 'जे षजयेसु णिरवा जीवा परसमयिग ति णिद्विटा।' जो यह कहा गया है, वह एकान्त पर्यायदृष्टिवालों की अपेक्षा से कथन है। जैसा कि श्री अमृतचन्द्राचार्य की टीका के 'निरगलैकान्तदृष्टयो' शब्दों से स्पष्ट है। सापेक्ष पर्यायदृष्टि-वाला भी मिथ्यादृष्टि है, ऐसा नहीं कहा गया है।

यदि द्रव्यदृष्टि भी निरपेक्ष पर्याय दृष्टि है तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। श्री जयसेनाचार्य ने प्रवचनसार गाथा ९३ की टीका में कहा है—

“षजयमूढा हि परसमया—एस्मादित्थंभूतद्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानमूढा अथवा नारकादिपर्यायरूपो न भवाम्यहमिति भेदविज्ञानमूढाश्च परसमया मिथ्यादृष्टयो भवन्तीति ।”

षजयमूढा हि परसमया अर्थात् जो इसप्रकार द्रव्य, गुण, पर्याय के यथार्थज्ञान से मूढ है, अथवा मैं नारकी आदि पर्यायरूप सर्वार्थ नहीं हूँ इसप्रकार भेदविज्ञान में मूढ है वह वास्तव में मिथ्यादृष्टि है।

अतः सापेक्ष द्रव्यदृष्टि सुदृष्टि, निरपेक्ष द्रव्यदृष्टि मिथ्यादृष्टि। सापेक्ष पर्यायदृष्टि सुदृष्टि, निरपेक्ष पर्यायदृष्टि मिथ्यादृष्टि।

प्रवचनसार गाथा १० में कहा भी है—

“णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो ।”

इस लोक में पर्याय के बिना पदार्थ नहीं है और पदार्थ के बिना पर्याय नहीं है। प्रदेश की अपेक्षा पर्याय और पर्यायी अपृथक् हैं।

अतः सापेक्ष पर्यायदृष्टि से मोक्षमार्ग संभव है।

—जं. ग. मई-जून 1973/ मुकुटलाल, बुलन्दशहर

भावस्त्री को मोक्ष सम्भव, द्रव्य स्त्री को नहीं

शंका—भावस्त्री को मोक्ष कहा गया है। यहाँ पर भावस्त्री से क्या प्रयोजन है ?

समाधान—जिन मनुष्यों का शरीर तो द्रव्यपुरुषरूप हो, किन्तु उनके स्त्रीवेद नोकषाय का उदय हो, ऐसी भावस्त्रियों को मोक्षगति सम्भव है। जिन मनुष्यों का शरीर भी द्रव्य स्त्रीरूप है। ऐसी स्त्रियों अर्थात् महिलाओं

को मोक्ष नहीं होता है, क्योंकि उनके उत्तमसंहनन का अभाव है तथा वे वस्त्र का त्याग नहीं कर सकतीं और वस्त्र का ग्रहण भाव असंयम का अविनाभावी है ।

अंतिमतिय संहणस्सुवओ पुण कम्मभूमिमहिलाणं ।
आविमतिगसंहडणं णत्थित्ति जिरोहि णिट्ठि' ॥ ३२ ॥ गो. क.

अर्थ—कर्मभूमियों की स्त्रियों के अन्त के तीन अर्द्धनाराचादि संहननों का ही उदय होता है । बज्रवृषभ-नाराचसंहनन आदि प्रथम तीनसंहनन कर्म-भूमिया स्त्रियों के नहीं होते हैं । ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ।

'न तासां भावसंयमोऽस्ति भावासंयमाविनाभावि वस्त्राद्युपादानान्यथानुषपत्ते ।' धवल पु. १ पृ. ३३३ ।

उन द्रव्यस्त्रियों के भावसंयम नहीं है, क्योंकि भावसंयम के मानने पर, उनके भाव असंयम का अविना-भावी वस्त्रादिक का ग्रहण करना नहीं बन सकता है ।

—जै. ग. 23-12-71/VII/ जै. म. जैन

निरन्तर मोक्ष जाने पर भी जीवराशि का कमी अभाव नहीं होगा

शंका—विदेहक्षेत्र से सवा आत्मा मुक्ति को जाने का क्रम सतत चालू है । अतः इस तरह मुक्ति जाने का क्रम चालू रहा तो एक दिन जगत् क्या जीव आत्मा से खाली नहीं हो जावेगा ?

समाधान—जीवों का प्रमाण अनन्तानन्त है । जिसमें से व्यय होने पर भी जिसका अन्त न हो उसको अनन्तानन्त कहते हैं, अन्यथा एक को भी अनन्त की संज्ञा हो जायेगी । षट्खण्डागम पुस्तक १, पृष्ठ ३९२ पर कहा भी है—'यदि सव्यय और निराय राशि को भी अनन्त न माना जावे तो एक को भी अनन्त के मानने का प्रसंग आ जायेगा । व्यय होते हुए भी अनन्त का अर्थ नहीं होता है, यह एकान्त नियम है ।' षट्खण्डागम पुस्तक ४, पृष्ठ ३३८ पर कहा है—'व्यय के होते रहने पर भी अनन्तकाल के द्वारा भी जो राशि समाप्त नहीं होती है, उसे महर्षियों ने 'अनन्त' इस नाम से विनिर्दिष्ट किया है ।'

—जै. सं. 30-1-58/VI/ म. रा. घोड़के; परली बंजनाथ

संसारि जीवराशि का कमी अभाव नहीं होगा

शंका—लोक में जीव अनन्तानन्त हैं फिर भी वे अपने प्रमाण में जितने हैं उतने ही हैं । नूतन जीव उत्पन्न नहीं होता है । इनमें से ६०८ जीव ६ माह ८ समय में निरन्तर मोक्ष जा रहे हैं जिसके कारण इन जीवों की संख्या में न्यूनता अवश्य पड़ेगी । इस क्रम से अनन्त कल्पकाल व्यतीत होनेपर संसार से जीवों का अभाव होना चाहिये ।

समाधान—यद्यपि जीव नूतन उत्पन्न नहीं होते और मोक्ष जाने से संसारि जीवों के प्रमाण में न्यूनता भी आती है, किन्तु जीवों का प्रमाण अनन्तानन्त होने से संसार से जीवों का कमी भी अभाव नहीं होगा । आय बिना व्यय होने पर भी जो राशि समाप्त न हो उसको अनन्तानन्त कहते हैं यदि ऐसा न माना जावे तो 'एक' संख्या को भी अनन्तानन्त होने का प्रसंग आ जावेगा । धवल पुस्तक १ पृ० ३९२, पुस्तक ४ पृ० ३३८ ।

—जै. सं. 27-11-58/V/ आ. कृ. जैन, बड़गांव (टीकमगढ़)

द्रव्यगुण पर्याय-गुण

द्रव्य व गुण

शंका—द्रव्य की सिद्धि गुणों के समुदाय से होती है या कैसे, क्योंकि गुणों के समुदाय को द्रव्य कहते हैं और ऐसा भी कहते हैं कि द्रव्य के आशय गुण हैं पर एकगुण में दूसरागुण नहीं है तो क्या गुण द्रव्य के आशय हैं या गुणों का समुदाय तो द्रव्य है ?

समाधान—द्रव्य का लक्षण 'सत्' कहा है । त० सू० ५।२९ । 'सत्' का लक्षण 'उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य' है सूत्र ३० । अतः द्रव्य की सिद्धि 'सत्ता' से अथवा एक ही समय में होनेवाले उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से होती है । द्रव्य तो अखण्ड है जिसमें प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होता है । ध्रौव्य अंश को गुण तथा उत्पाद, व्यय अंश को पर्याय कहते हैं । अतः द्रव्य को गुणपर्यायवाला कहा है । हर एक द्रव्य में अनन्त शक्तियाँ होती हैं, क्योंकि एक द्रव्य से नानाकार्य होते हुए देखे जाते हैं जैसे अग्नि के दाह, ताप, पाचन, प्रकाश आदि कार्य और ये शक्तियाँ कभी नष्ट नहीं होतीं । एक शक्ति दूसरी शक्तिरूप नहीं हो जाती और न एक शक्ति दूसरी शक्ति का कार्य करती है । अतः एक शक्ति में दूसरी शक्ति का अभाव है अथवा एक शक्ति अन्य दूसरी शक्ति से रहित है । इन शक्तियों का नाम गुण है । अतः मोक्षशास्त्र अ० ५ सूत्र ४९ में गुण का लक्षण द्रव्याश्रयानिर्गुणाः गुणाः कहा है । इन गुणों की और गुणों की सत्ता भिन्न-भिन्न नहीं है । जो द्रव्य के प्रदेश हैं वे ही प्रत्येक गुण के प्रदेश हैं, किन्तु संज्ञा, संख्या, लक्षण आदि की अपेक्षा से द्रव्य और गुण में भेद है । द्रव्य अवयवी और गुण अवयव है । अवयव-अवयवी से सर्वथा भिन्न नहीं होता है । इन अपेक्षाओं को रखकर यदि यह कहा जावे कि गुणों का समुदाय द्रव्य है तो कोई बाधा नहीं है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि प्रत्येकगुण की सत्ता भिन्न-भिन्न थी और इनको मिलाकर द्रव्य बना है जिस प्रकार ईंटों के मिलने से मकान बनता है ।

—जं. सं. 4-10-56/VI/ क. दे. गया

धर्म व गुण में अन्तर

शंका—धर्म और गुण में क्या अन्तर है ?

समाधान—वस्तु में गुण भी होते हैं और धर्म भी । गुण स्वभावभूत हैं । इनकी प्रतीति पर-निरपेक्ष होती है । धर्मों की प्रतीति परसापेक्ष होती है । पर्यायानुसार धर्मों का आविर्भाव व तिरोभाव यथासंभव होता रहता है । जीव में ज्ञानदर्शन, सुख, वीर्य आदि असाधारणगुण व वस्तुत्व, सत्त्व, प्रमेयत्व आदि साधारणगुणों की सत्ता और प्रतीति परनिरपेक्ष व स्वाभाविक है । छोटा-बड़ा, पितृत्व, पुत्रत्व, गुरुत्व-शिष्यत्व आदि धर्म-सापेक्ष है । यद्यपि इन धर्मों का सद्भाव जीव में है पर ज्ञान आदि के समान स्वरसतः गुण नहीं है । इसप्रकार गुण और धर्म में अन्तर है । गुणों को भी 'धर्म' शब्द के द्वारा कहा जा सकता है इसप्रकार गुण तो धर्म हो सकते हैं, किन्तु सभी धर्म गुण नहीं हो सकते ।

—जं. सं. 27-11-58/V/ कपूर्तीदेवी गया

गुणी व गुण में तादात्म्यता तथा कथञ्चित् भेदा भेद

शंका—गुणी में गुण सर्वांग में व्यापकरूप से रहते हैं या एक देश में ? यदि गुणी में गुण सर्वांग में व्यापक हैं तो गुण में गुणी व्यापक मानना पड़ेगा, गुण और गुणी में भिन्नता किसप्रकार है ?

समाधान—गुण और गुणी का तादात्म्यसम्बन्ध है । अतः गुणी में गुण सर्वांग व्यापक है । कहा भी है—

‘आत्मा हि समगुणपर्यायं द्रव्यम् इति वचनात् ज्ञानेन सहहीनाधिकत्व-रहितत्वेन परिणतत्वात्परिमाणः ।’
प्रवचनसार भा. २३ टीका ।

द्रव्य गुण और पर्याय के बराबर है हीनाधिक नहीं है इस आर्षवचन के अनुसार आत्मा अपने ज्ञान गुण से हीन अधिकरूप न होकर परिणमित होता है, अतः आत्मा ज्ञानप्रमाण है । यदि ज्ञान को आत्मा के बराबर न माना जाय तो हीन होने पर आत्मा के अचेतनपना आजायेगा । यदि अधिक माना जाय तो ज्ञान के अचेतनपना आजायेगा । श्री कुम्भकुन्दाचार्य ने भी इसी बात को कहा है—

पाणध्पमाणमादा ण ह्वदि जस्सेह तस्स सो आदा ।
हीणो वा अहिओ वा पाणावो ह्वदि युवमेव ॥२४॥
हीणो जदि सो आदा तण्णाणमवेदणं ण जाणादि ।
अहिओ वा पाणावो पाणेण विणा कह जाणादि ॥२५॥ प्र० सा०

इस जगत में जिसके मत में आत्मा ज्ञानप्रमाण नहीं है, उसके मत में वह आत्मा अवश्य ज्ञान से हीन हो अथवा अधिक होना चाहिये । यदि वह आत्मा ज्ञान से हीन हो तो वह ज्ञान अचेतन होने से नहीं जानेगा और यदि ज्ञान से अधिक हो तो ज्ञान के बिना अचेतन हो जाने से आत्मा कैसे जानेगा ?

गुणी में अनन्त गुण हैं अतः गुणी किसी भी एक गुण के आश्रय होकर नहीं रहता है, किन्तु गुण-गुणी के आश्रय होकर रहता है ।

द्रव्याध्वया निगुणा गुणाः ॥ ५।४१ ॥ [तत्त्वार्थसूत्र]

जो निरन्तर द्रव्य में रहते हैं और स्वयं अन्य गुणों से रहित हैं वे गुण हैं ।

“यद्यपि कथञ्चिद् व्यपदेशादिभेद-हेत्वपेक्षया द्रव्यावये, तथापि तदव्यतिरेका तत्परिणामाच्च ।”

[स. सि. ५।४२]

यद्यपि संज्ञा, संख्या, लक्षण तथा प्रयोजन की अपेक्षा गुण-गुणी में कथञ्चित् भेद है तथापि द्रव्य के परिणाम की अपेक्षा गुण-गुणी में भेद नहीं है ।

“गुण गुणीकोः प्रविभक्त प्रदेशत्वाभावात् ।” [प्रवचनसार भा० १०६ टीका]

गुण और गुणी में भिन्न प्रदेशत्व का अभाव है अर्थात् जो गुणी के प्रदेश हैं वे ही गुण के प्रदेश हैं ।

“एवमपि तयोरन्यत्वमस्ति तत्त्वक्षण सञ्जावात् ।” [प्रवचनसार भा० १०६]

गुण-गुणी में प्रदेश भेद न होने पर भी गुण-गुणी में अन्यत्व है, क्योंकि अन्यत्व का लक्षण असञ्जाव उनमें पाया जाता है ।

—जै. ग. 6-11-69/VII/ रो. ला. जैन

किसी भी गुण की एक समय में दो पर्याय नहीं होती

शंका—चेतनागुण की एकसमय में ज्ञान और दर्शनरूप दो पर्यायें होती हैं । इनमें से ज्ञान की प्रत्येकसमय में पाँच पर्यायें और दर्शन की चारपर्यायें होती हैं । अतः एक गुण की एकसमय में एकपर्याय होती है यह सिद्धान्त गलत है । (सोनगढ़ से प्रकाशित संद्वान्तिक चर्चा) ।

समाधान—आत्मा में ज्ञान और दर्शन ऐसे दो भिन्न-भिन्न गुण हैं । इन दोनों गुणों का कार्य प्रकाश करना है । अतः सामान्य से इन दोनों गुणों की चेतना संज्ञा दे दी गई । ज्ञान और दर्शनचेतना की पर्यायें नहीं हैं किन्तु चेतना के भेद हैं । ज्ञान यद्यपि एक गुण है किन्तु ज्ञानावरणकर्म के कारण उसके पाँच भेद हो जाते हैं । जैसे कमरे में प्रकाश एक ही है, किन्तु दीवार में चार खिड़कियों के द्वारा आने के कारण वह प्रकाश चारप्रकार का हो जाता है । दीवार हट जाने पर पूर्ण प्रकाश है और वह प्रकाश एकप्रकाररूप हो जाता है । दीवार के कारण जितना भ्रंशकार था वह भी समाप्त हो जाता है । इसीप्रकार ज्ञानावरण कर्म के क्षय हो जाने पर केवलज्ञान एक-प्रकाररूप रह जाता है । चार खिड़कियों में से जिस-जिस खिड़की के कपाट बन्द हो जाते हैं उन-उन खिड़कियों में से प्रकाश आना बन्द हो जाता है और शेष खिड़कियों के आगे पड़वा लगा होने के कारण भ्रंश प्रकाश आता है । यदि पड़वा गहरा होता है, तो प्रकाश अल्पतर हो जाता है ।

इसीप्रकार मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ये चार खिड़कियाँ उस ज्ञानावरणरूप दीवार में हैं । इनके द्वारा छद्मस्वावस्था में ज्ञान होता है । इन चार खिड़कियों में से यदि अवधिज्ञान या मनःपर्यय-ज्ञान या दोनों के सर्वघातिया स्पर्धकोदयरूप कपाट बन्द हैं तो इनके द्वारा ज्ञान नहीं होगा । मतिज्ञान और श्रुत-ज्ञान के सर्वथा सर्वघातियास्पर्धकोदयरूप कपाट बन्द नहीं होते, किन्तु देशघातिस्पर्धकोदयरूप पर्दा पड़ा हुआ है । उस पड़वे की विभिन्नता के कारण मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में भी विभिन्नता हो जाती है । ज्ञान के मतिज्ञान आदि चारों भेद कर्मकृत हैं, स्वाभाविक नहीं हैं । स्वाभाविक तो एक केवलज्ञान है ।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा भी है—

जीवो उवओगमओ, उवओगो णाणवंसणो होई ।
 णाशुवओगो दुविहो, सहावणाणं विभावणाणं त्ति ॥१०॥
 केवलमिदियरहियं, असहायं तं सहावणाणं त्ति ।
 सण्णाणिवर वियप्पे विहावणाणं हवे दुविहं ॥११॥
 सण्णाणं चउ भेयं, मदिमुद ओही तहेव मण पज्जं ।
 अण्णाणं तिवियप्पं मदिआइ भेद दो चेव ॥१२॥
 तह दंसणउवओगो, ससहावेदर—वियप्पवो दुविहो ।
 केवलमिदियरहियं तं सहावमिदि भणिदं ॥१३॥
 चवखु अचवखू ओही तिण्णवि भणिदं विभावदिच्छित्ति ॥१४॥ [नियमसार]

जीव उपयोगमय है । उपयोग ज्ञान और दर्शन के भेद से दोप्रकार का है । ज्ञानोपयोग दोप्रकार का है, एक स्वभावज्ञान, दूसरा विभावज्ञान अतीन्द्रिय असहाय जो केवलज्ञान है सो स्वभावज्ञान है । सम्यग्ज्ञान और मिथ्या ज्ञान के भेद से विभावज्ञान उपयोग दोप्रकार का है । मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय के भेद से सम्यग्ज्ञानोपयोग चारप्रकार का है । कुमति, कुश्रुत, कुभवधि के भेद से मिथ्या ज्ञानोपयोग तीनप्रकार का है । इसीप्रकार दर्शनोपयोग

भी दोप्रकार का है, एक स्वभाव दूसरा विभाव । अतीन्द्रिय और असहाय केवलदर्शनस्वभाव दर्शनोपयोग है । चक्षु, अचक्षु और अवधि दर्शन के भेद से विभावदर्शनोपयोग तीनप्रकार का है ।

इसप्रकार ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के कर्मकृत भेदों में से प्रत्येक भेद एक-एक वैभाविकगुण हो जाता है । प्रत्येक भेद की एकसमय में एक ही पर्याय होती है, किसी भी भेद की एकसमय में दोपर्याय नहीं होती है । ज्ञानावरण और दर्शनावरणकर्मों का क्षय हो जाने से स्वाभाविकज्ञान और स्वाभाविकदर्शन एक-एकरूप हो जाता है । कर्मकृत भेदों का अभाव हो जाता है । जैसे एक बड़े कमरे की दीवारों के द्वारा विभाजन करने पर प्रत्येक भाग एक भिन्न कमरा बन जाता है । एक ही समय में उनमें से किसी भाग में अंधकार हो सकता है और दूसरे भाग में प्रकाश हो सकता है । अंधकार और प्रकाशरूप ये दो पर्याय क्या उस बड़े कमरे की हैं ? ये परस्पर विरोधी दोनों पर्याय उस बड़े कमरे की नहीं हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न भागों की हैं । इन दोनों पर्यायों को एक ही बड़े कमरे की कहना महान भूल है । अतः एकगुण की एकसमय में एक ही पर्याय होती है यह निर्विवाद सिद्धान्त है जो कुयुक्ति के द्वारा खंडित नहीं हो सकता है । दीवारों के क्षय हो जाने पर वह बड़ा कमरा एकरूप हो जाता है, तब उस बड़े कमरे की एकसमय में एक ही पर्याय होगी, दो पर्याय नहीं हो सकतीं ।^१

—जै. ग. 24-6-76/VI/ ज. ला. जैन

शक्ति व व्यक्ति

शंका—जैनसंदेश में लिखा है—“द्रव्यशक्ति की व्यक्तता पर्यायशक्ति है ।” इस लक्षण में क्या आपत्ति है ?

समाधान—शक्ति का कार्यकारीरूप परिणत हो जाना शक्ति की व्यक्तता है । अन्य परमाणुओं के साथ बंध को प्राप्त होने पर परमाणु में स्कन्वरूप परिणमन करने की शक्ति की व्यक्तता है । शक्ति को व्यक्ति की शक्ति कहना कहाँ तक उचित है, आप स्वयं बिचार कर लें । मध्यजीव में मोक्ष जाने की शक्ति है । जब जीव मोक्ष को प्राप्त होता है तब उस द्रव्य-शक्ति की व्यक्ति होती है ।

—जै. ग. 7-2-66/IX/ र. ला. जैन, मेटठ

शंका—जैनसंदेश में अष्टसहस्री कारिका ४२ में से ‘सर्वथा’ शब्द पर टिप्पणी “शक्तिरूपेण द्रव्यपर्यायरूपेण वा ।” उद्धृत करते हुए लिखा है—“इससे स्पष्ट है द्रव्यशक्ति की व्यक्ति का नाम ही पर्यायशक्ति है ।” क्या इस टिप्पणी का यह अभिप्राय है ?

१. दि० २८-८-७४ को एक पत्र में श्री जवाहरलालजी को आपने लिखा था—जो स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा जाना जाय वह स्पर्शन गुण है । उस गुण के ४ भेद हैं । प्रत्येक भेद की दो पर्यायें होती हैं । चार प्रकार के स्पर्शन गुण की ४ पर्यायें एक समय में हो सकती हैं । ते चार पर्यायें एक गुण की नहीं हैं । सामान्य से घेतना गुण एक है । किन्तु उसके दो भेद हैं, अतः प्रत्येक भेद की भिन्न-भिन्न पर्यायें होंगी । सामान्य से मूर्तिक गुण एक है ? किन्तु उसके स्पर्शन, रस, गन्ध व वर्ण; ये चार भेद होते हैं । अतः चारों की पृथक्-पृथक् पर्यायें होंगी । क्या ये चारों एक मूर्तिक गुण की हैं या भिन्न-भिन्न दो भेदों की कल्पना की है ? एक गुण के प्रत्येक भेद की एक समय में एक ही पर्याय होगी, अन्यथा पर्याय का लक्षण बाधित हो जायगा [क्रमवर्तितः पर्यायः; न तु सहवर्तितः] सूक्ष्म तत्त्व तक पहुँच न होने के कारण इसप्रकार की अनेक भूलें होती हैं । “रतनचन्द्र मुख्तार”

समाधान—अष्टसहस्री पृ. १८८ टिप्पण नं. ५ 'सर्वथा' शब्द के स्पष्टीकरण के लिए है जो इस प्रकार है—
'शक्तिव्यक्तिरूपेण द्रव्यपर्यायरूपेण वा ।' 'यद्यसत् सर्वथा कार्यं' कारिका ४२ में 'सर्वथा' शब्द का अभिप्राय यह है कि जो कार्य शक्तिरूप से भी असत् है व्यक्तिरूप से भी असत् है, द्रव्यरूप से भी असत् है पर्यायरूप से भी असत् है वह कार्य सर्वथा असत् होता है । कारिका ४२ में सर्वथा शब्द का यह अभिप्राय नहीं है कि द्रव्यशक्ति की व्यक्ति का नाम ही पर्यायशक्ति है, क्योंकि यहाँ द्रव्यशक्ति व पर्यायशक्ति का प्रकरण ही नहीं है । द्रव्य शक्ति की व्यक्ति पर्यायशक्ति है, ऐसा नहीं कहा गया है और न यह सम्भव है । भव्यजीव में मोक्ष जाने की द्रव्यशक्ति है । जब वह मोक्ष पहुँच जाता है तो द्रव्यशक्ति व्यक्त होती है तो क्या मोक्ष पहुँचने पर मोक्ष जाने की पर्यायशक्ति उत्पन्न हुई ? ऐसा कोई नहीं कह सकता है ।

—जै. ग. 7-2-66/X/ ट. ला. जैन, मेरठ

स्कन्ध इन्द्रियग्राह्य होता है परमाणु नहीं । शब्द स्कन्धजन्य है

शंका—जैनसंवेश में लिखा है—“अतः परमाणु में शब्दरूप परिणत होने की शक्ति विद्यमान है, वही शब्द पर्यायरूप से व्यक्त होती है । इसी तरह परमाणु में इन्द्रिय ग्राह्य होने की भी योग्यता है । तभी तो स्कन्धरूप होने पर वे इन्द्रिय ग्राह्य होते हैं ।” इस कथन में क्या आपत्ति है ?

समाधान—पुद्गल की परमाणु और स्कन्ध दो पर्यायों हैं । पुद्गल की परमाणुरूप पर्याय सूक्ष्म-सूक्ष्म है जो परमावधिज्ञान का विषय भी नहीं है, किन्तु सर्वाधिज्ञान का विषय है ।

“परमाणुः सूक्ष्म-सूक्ष्मम्, यत्सर्वाधिधिविषयं तत्सूक्ष्मसूक्ष्ममित्यर्थः ।” स्वा. कार्त. पृ० १४० । इसलिये परमाणु इन्द्रिय ग्राह्य नहीं हो सकता । बंध के द्वारा परमाणुरूप पर्याय का व्यय होकर स्थूलस्कन्धपर्याय का उत्पाद होने पर वह स्कन्धपर्याय इन्द्रियगोचर होती है, परमाणु इन्द्रियगोचर नहीं होता है । उस स्कन्ध में पृथक्-पृथक् परमाणु इन्द्रियगोचर होते हों, ऐसा भी नहीं है । परमाणुरूप पर्याय में इन्द्रिय ग्राह्य होने की योग्यता नहीं है, किन्तु स्थूलस्कन्ध में इन्द्रियग्राह्य होने की योग्यता है और जो इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होने पर व्यक्त होता है ।

परमाणु में बंध के द्वारा भाषावर्गणारूप परिणत होने की शक्ति है । भाषावर्गणारूप स्कन्ध में शब्दरूप परिणामन करने की योग्यता है, किन्तु परमाणु में शब्दरूप परिणत होने की शक्ति नहीं है, क्योंकि शब्द स्कन्धजन्य है । (पंचास्तिकाय गाथा ७९) ।

—जै. ग. 7-2-66/X/ ट. ला. जैन, मेरठ

परमाणु भाषावर्गणारूप स्कन्ध का कारण

शंका—पंचास्तिकाय गाथा ७८ की टीका में आचार्य श्री अमृतचन्द्रसूरि परमाणु में शब्द को अव्यक्तरूप से भी नहीं मानते हैं । किन्तु गाथा ८१ की टीका में वे भी तथा आचार्य श्री जयसेन भी शक्तिरूप से शब्द का कारणभूत कहते हैं । इस सबका क्या तात्पर्य है ? इससे क्या यह सिद्ध नहीं होता कि परमाणु में शब्दरूप परिणामन करने की शक्ति है ?

समाधान—पंचास्तिकाय गाथा ७९ में स्पष्टरूप से कहा है कि “सद्दो खंधो व्यभवो, खंधो परमाणुसंग संघादो ।” अर्थात् शब्द स्कन्धजन्य है और स्कन्ध पुद्गलपरमाणुओं के समूह का संघात है । भाषावर्गणारूप स्कन्ध जिनमें शब्दरूप परिणामन करने की शक्ति है वे तो शब्द के अंतरंग कारण हैं जो समस्तलोक में व्याप्त हैं और तालु,

ओष्ठ, घंटा आदि स्कन्ध शब्द के बहिरंग कारण हैं। इन दोनों कारणों के मिलने से शब्द प्रगट होता है। एक-प्रदेशी परमाणु शब्द का न तो अंतरंग कारण है और न बहिरंग कारण है, किन्तु भाषावर्गणारूप स्कन्ध का कारण है, क्योंकि परमाणुसमूह का संघात ही तो भाषावर्गणारूप स्कन्ध है। अर्थात् परमाणु में भाषावर्गणारूप परिणमन करने की शक्ति है और भाषावर्गणा शब्द का अंतरंगकारण है। इस परम्परा से परमाणु को शब्द का कारण कहा गया है।

“परमाणुः शब्दस्कन्ध, परिणति-शक्ति-स्वभावात् शब्दकारणम् ।”

परमाणुसमूह भाषावर्गणारूपपरिणमन किये बिना प्रत्येक परमाणु पृथक्-पृथक् शब्दरूप परिणमन करने में अशक्य है इसीलिये गाथा ७८ की टीका में कहा है कि एकप्रदेशी परमाणु को अनेकप्रदेशात्मक शब्द के साथ एकत्व होने में विरोध है।

परमाणु एक प्रदेशात्मक होने से जलधारण करने में अशक्य है। किन्तु परमाणुसमूह का बंध होकर जब घटपर्षीयरूप परिणमन हो जाता है तो घट में जल धारण करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। घट में जल भर देने से घट की जलधारण शक्ति व्यक्त हो जाती है। घट में जल निकाल लेने पर जलधारणशक्ति तो रहती है, किन्तु शक्ति की व्यक्ति नहीं रहती है। घटपर्षीय नष्ट हो जाने पर जलधारण शक्ति भी नष्ट हो जाती है। घटपर्षीय उत्पन्न होने पर जलधारणशक्ति उत्पन्न होती है और जल भर देने पर जल धारण शक्ति की व्यक्तता होती है। यदि किसी की यह मान्यता हो कि एकप्रदेशी परमाणु में जलधारण की शक्ति है जो कि घटपर्षीयरूप उत्पन्न होने पर व्यक्त होती है तो उसने शक्ति और व्यक्ति का यथार्थ स्वरूप ही नहीं समझा।

—जं. ग. 7-2-66/IX/ २. ला. जैन

ज्ञानदर्शनगुण, उनकी पर्याय व उपयोग

शंका—ज्ञान और दर्शन क्या चेतनागुण की पर्याय हैं या चेतनागुण के दो भेद हैं? यदि ज्ञान और दर्शन को चेतना गुण के भेद मानकर दोनों को भिन्न गुण माना जावे तो छद्मस्थ अवस्था में ज्ञान और दर्शन दोनों युगपत् होने चाहिये थे, क्योंकि इनमें दोनों की कोई न कोई पर्याय प्रतिसमय रहनी चाहिये और यदि ज्ञान व दर्शन के चेतनागुण की पर्याय मानी जावे तो केवलीमगवान में ज्ञान व दर्शन युगपत् नहीं होने चाहिये, क्योंकि एकसमय में एक गुण की दो पर्याय नहीं हो सकतीं।

समाधान—ज्ञान और दर्शन ये दोनों जीव के स्वतन्त्र भिन्न-भिन्न गुण हैं। जीव के ये दो गुण ही ऐसे हैं जो चेतनारूप हैं अन्य गुण चेतनारूप नहीं हैं अतः इन ज्ञान व दर्शन दोनों गुणों को चेतना संज्ञा दी गई है। आठ-प्रकार के कर्मों में ज्ञानावरण और दर्शनावरण दो पृथक्-पृथक् कर्मों का निर्देश किया गया है। यदि ये दोनों पृथक् गुण न होते और एक चेतना गुण ही होता तो ज्ञानावरण और दर्शनावरण के स्थान पर एक चेतनावरण कर्म का निर्देश होता। अतः ज्ञान और दर्शन दो पृथक्-पृथक् गुण हैं।

इन दोनों गुणों का विषय भी भिन्न-भिन्न है। ज्ञान का विषय बाह्यपदार्थ है और दर्शन का विषय अंतरंग-पदार्थ है। ज्ञान साकार है और दर्शन निराकार है।

छद्मस्थ अवस्था में भी ज्ञान की क्षायोपशमिकपर्याय और दर्शन की क्षायोपशमिकपर्याय युगपत् पाई जाती है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञानादि रूप ज्ञान की क्षायोपशमिकपर्याय पाई जाती है। अचक्षुदर्शन-चक्षुदर्शनादिरूप दर्शनगुण

की पर्याय छद्मस्थ जीव के पाई जाती है। केवलीभगवान के ज्ञानगुण की क्षायिकपर्याय केवलज्ञानरूप और दर्शनगुण की क्षायिकपर्याय केवलदर्शनरूप एकसमय में एकसाथ पाई जाती है। केवलीभगवान के आवरणकर्म का सर्वथा क्षय हो गया है अतः उनके दर्शनीपयोग और ज्ञानोपयोग भी युगपत् होते हैं, किन्तु छद्मस्थ के आवरण कर्म का उदय है अतः उस उदय के कारण दोनों उपयोग एकसाथ न होकर क्रमशः होते हैं। परन्तु क्षायोपशमिकज्ञान और दर्शनलब्धिरूप से छद्मस्थावस्था में भी एक साथ होता है। विशेष के लिए घ. पु. १, ६, ७ व १३ देखना चाहिये।

—जं. ग. 20-6-63/IX/ प्रेमचन्द

ज्ञान गुण परप्रकाशक है

शंका—क्या ज्ञान स्व को नहीं जानता ? फिर इसे स्व-पर प्रकाशक कैसे कहा जाता है। स्पष्ट करें।

समाधान—ज्ञान साकार होता है। जैसे दर्पण में परपदार्थों का आकार तो पड़ता है, किन्तु स्व का आकार नहीं पड़ता। ज्ञान में स्व का आकार नहीं पड़ता, इसलिए वह स्व को नहीं जानता। दर्शन निराकार होता है। इसलिए बीरसेनाचार्य ने अन्तर्मुखचित्रप्रकाश को दर्शन तथा बहिर्मुखचित्रप्रकाश को ज्ञान कहा है। यदि ज्ञान स्व-पर प्रकाशक हो तो दर्शन के लिए कोई विषय नहीं रहता।

अन्यमत वालों ने दर्शन गुण नहीं माना है। अतः न्याय ग्रन्थों में भी दर्शन गुण का कथन नहीं किया गया। उन ग्रन्थों में ज्ञान को ही स्व-पर प्रकाशक कहा है। इसका विशेष कथन धवल पु० ७ में है।

—पृष्ठ 19-2-80/ ज. ला. जंन, भीण्डर

दर्शनगुण ही आत्मा को जानता है

शंका—ज्ञान स्वयं आत्मा को नहीं जानता, दर्शनगुण ही आत्मा को जानता है तो दर्शनगुण इसप्रकार से जानता है क्या कि यह मेरी आत्मा है, ये उसके गुण हैं, यह गुणी है, यह उसकी वर्तमानपर्याय है आदि-आदि। यानी दर्शनगुण का विषय 'स्व' है, सो तो ठीक है, परन्तु वह स्व को गुण-गुणी भेदरूप भी जान सकता है या नहीं। यदि हाँ तो, दर्शन का विषय 'विशेष' भी हुआ। तथा यदि गुण-गुणी का भेद करके दर्शन आत्मा को नहीं जाने तो फिर तो आत्मा के पूरे-पूरे ज्ञान का ही अभाव ठहरता है। क्योंकि आत्मा को ज्ञानगुण तो जानता है नहीं, ऐसा स्वीकार किया जा रहा है। किञ्च केवली की 'आत्मा को, आत्मपर्यायों को व अनन्त आत्मगुणों' को उनका दर्शनगुण जान रहा है या ज्ञानगुण ? जैन न्यायशास्त्रों में ज्ञान को स्वपरप्रकाशक कहा गया है तो फिर इस तरह तो जैन न्यायशास्त्र गलत हो गए, क्योंकि वास्तव में तो आत्मा का ज्ञान परप्रकाशक (पर-ज्ञाता) ही है तथा न्याय में कहा गया है स्व-पर प्रकाशक। यह उत्तर तो ठीक नहीं होगा कि अन्वयमतियों को समझाने के लिए ऐसा किया गया है, क्योंकि अन्वयमतियों को समझाने के लिए कहीं सिद्धान्त को गलत करके उनके सामने नहीं रखा जा सकता है ? ऐसा करने से तो हमारे श्रावक भी धमिल हो जाएंगे।

समाधान—जैनागम में शंकाकार के कथनानुसार ही कथन है। जैनागम का मुख्य अभिप्राय शिष्य को प्रतिबोध कराने का है, क्योंकि अन्वयमती आत्मा में दर्शनगुण है, ऐसा नहीं जानता। उसे समझाने के लिए चेतना-गुण को ज्ञानगुण के नाम से कहकर ज्ञान को स्व-पर प्रकाशक कहा गया है जैसे—बालकों या बाल-जनों को समझाने के लिए 'जो चलता है, बोलता है वह जीव है' ऐसा लक्षण कहा जाता है। जब वह कुछ प्रतिबुद्ध हो जाता है

तो जीव का अन्य लक्षण बताया जाता है। ऐसे ही अयोपशम, योग व लेश्या आदि के भिन्न-भिन्न लक्षण पारे जाते हैं।

धवल पुस्तक १ में पृ० १४७ पर कहा है "ततः सामान्यविशेषात्मकं बाह्यार्थं ग्रहणं ज्ञानं, तवात्मकस्वरूप-ग्रहणं दर्शनमिति सिद्धम्" अतः सामान्यविशेषात्मक बाह्यपदार्थ को ग्रहण करनेवाला ज्ञान है और सामान्यविशेषात्मक आत्मस्वरूप को ग्रहण करनेवाला दर्शन है। किन्तु ज्ञान सविकल्प है और दर्शननिविकल्प है अतः उसमें गुण-गुणी का भेद-विकल्प नहीं होता, जैसे केवलज्ञान द्रव्य-गुणों-पर्यायों को जानता तो है, किन्तु उसमें ऐसा विकल्प नहीं होता कि यह द्रव्य है, यह गुण है, यह पर्याय है। केवलज्ञान बाह्यपदार्थों को जानता है और केवलदर्शन आत्मा को जानता है ऐसा स्पष्ट कथन जयधवल पु० १, पृष्ठ ३०१ से ३१८ में गाथा संख्या १५ से २० में आया है। जयधवल पुस्तक एक के पृ० ३२५-३२६ पर तथा धवला पुस्तक ६ के पृष्ठ ३४ पर भी ऐसा कथन है।

जैन न्यायशास्त्रों में चेतना को ज्ञान कहकर ज्ञान को स्वपरप्रकाशक कहा गया है। जैसे जीव का लक्षण चेतना न कहकर ज्ञान कह देते हैं। चेतना का उसके मुख्य भेदज्ञान में उपचार किया गया है। चेतना ज्ञान-दर्शन-रूप है अतः चेतना स्व-पर प्रकाशक है। चेतना का उपचार ज्ञान में करने से ज्ञान भी स्व-पर प्रकाशक हो जाता है। निमित्त व प्रयोजन होने पर उपचार होता है। (आलाप पद्धति)। यहाँ अन्यमती को प्रतिबोध कराना प्रयोजन है; अतः चेतना का उपचार ज्ञान में करने से सिद्धान्त से कोई बाधा नहीं आती।

—पृष्ठ 1-3-80/ ज. ला. जैन, भीण्डर

दर्शनगुण का कार्य

शंका—दर्शन को स्वप्नाहक (आत्मग्राहक) धवल पु० १, ७ आदि में कहा है। तो क्या 'आत्मा का ज्ञान' दर्शनगुण की पर्याय है? क्या केवलदर्शनपर्याय आत्मा के समस्त गुणों व पर्यायों को जानती है और केवल-ज्ञान आत्मा को नहीं जानता है?

समाधान—'आन्तरिक आत्मज्ञान' दर्शनगुण की पर्याय है, क्योंकि वह अन्तर्मुख चित्प्रकाश है, किन्तु 'परीक्षासुख' आदि न्यायशास्त्रों में दर्शनगुण का कथन न होने से आत्मज्ञान को भी ज्ञानगुण की पर्याय कहा है।

केवलदर्शन आत्मा के सर्वगुण व सद्भावात्मक पर्यायों को जानता है। [धवल पु० १।३८५]^१

—पृष्ठ 21-4-80/ज. ला. जैन, भीण्डर

स्वकीय रागद्वेष दर्शन के विषय हैं

शंका—अपने स्वयं के रागद्वेषों का ज्ञान (स्वस्थ अवस्था में) ज्ञान गुण को होता है या दर्शन गुण को?

समाधान—अपने राग-द्वेष की जानकारी दर्शनगुण के द्वारा होगी, क्योंकि ज्ञान साकार होने से पर-पदार्थों को जानता है।

—पृष्ठ 6-5-80/ ज. ला. जैन, भीण्डर

१. 'ज्ञान आत्मा को नहीं जानता, दर्शन जानता है।' इस विषय को स्पष्ट समझने के लिए धवल १।३८५, ध. १।१४८; वृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ४४ की टीका, जयधवल १।३२६ आदि देखने चाहिए।

शंका—क्या ये कथन ठीक हैं ? (१) अपना ज्ञान स्वयं खुद ज्ञान को नहीं जानता (२) अपना ज्ञान स्वयं खुद अपनी आत्मा के सिवाय अन्य आत्माओं को जान सकता है

समाधान—धवलमतानुसार आपका कथन ठीक है ।

—पृष्ठ 22-6-80/ज. ला. जैन, भीण्डर

अनुजीवी व प्रतिजीवी, ऐसे गुणों के भेद आर्षं नहीं हैं

शंका—अनुजीवी गुण तथा प्रतिजीवी गुण; ऐसे गुणों के दो भेद पञ्चाध्यायी उत्तरार्ध ७४।३७९ में देखने में आते हैं । जैनसिद्धान्तप्रवेशिका में इसी का अनुसरण विदित होता है । श्लोकवार्तिक के हिन्दी-अनुवाद में भी प्रतिजीवीगुण व अनुजीवीगुण; ये शब्द देखने में आते हैं [श्लो० १।४।५३।१५८] परन्तु वह भी स्पष्ट है कि पञ्चाध्यायी का अथवा तदनुसर्ता का अनुसरण है । परन्तु किसी आर्षग्रन्थ में ये नाम देखने को नहीं मिलते हैं । तब क्या आचार्यों के ग्रन्थों से अप्रमाणित ये भेद ग्राह्य हैं अथवा नहीं; स्पष्ट करें ?

समाधान—अनुजीवी व प्रतिजीवी; ये आर्षशब्द नहीं हैं, किसी के मतशङ्कत हैं । हमें सदा आर्षवाक्यों को प्रमाण करना चाहिये ।

—पृष्ठाघार 22-10-79/ ज. ला. जैन; भीण्डर

- (१) नास्तित्वगुण का सद्भाव सिद्धों में कैसे ?
- (२) नास्तित्वस्वभाव अनन्तविध होता है ।
- (३) नास्तित्व; यह स्वभाव भी है तथा कथंचित् गुण भी ।
- (४) किसी भी आर्ष ग्रन्थ में प्रतिजीवी-अनुजीवी; ऐसे गुणों के भेद नहीं मिलते

शंका—सिद्धों के प्रतिजीवी गुण में नास्तित्वगुण कहा । संसार का नाश कर दिया इस अभिप्राय से नास्तित्वगुण कहा या किसी अन्य अभिप्राय से ?

समाधान—आर्षग्रन्थों में किसी भी गुण की 'प्रतिजीवी' ऐसी संज्ञा नहीं है और न गुणों के भेदों में से कोई 'प्रतिजीवी' ऐसा भेद है । अतः 'प्रतिजीवीगुण' यह संज्ञा आर्षग्रन्थानुकूल नहीं है ।

आर्षग्रन्थों में सामान्य-गुण व विशेष-गुण इसप्रकार गुण के दो भेद हैं । अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व ये द्रव्यों के सामान्यगुण हैं । ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व अवगाहनहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व ये द्रव्यों के विशेष गुण हैं । कहा भी है—

'अस्तित्वं वस्तुत्वं द्रव्यत्वं प्रमेयत्वं अगुरुलघुत्वं प्रदेशत्वं चेतनत्वमचेतनत्वं मूर्तत्वममूर्तत्वं द्रव्याणां दश सामान्य गुणाः । ज्ञानदर्शनसुखवीर्याणि स्पर्शरसगन्धवर्णाः गतिहेतुत्वं स्थितिहेतुत्वमवगाहनहेतुत्वं वर्तनाहेतुत्वं चेतन-त्वमचेतनत्वं मूर्तत्वममूर्तत्वं द्रव्याणां षोडश विशेषगुणाः ।' आलापपद्धति

इन गुणों में नास्तित्व का उल्लेख नहीं है, किन्तु सामान्य स्वभावों में नास्तित्व का उल्लेख है—

‘स्वभावाः कथ्यन्ते । अस्तिस्वभावः नास्तिस्वभावः नित्यस्वभावः अनित्यस्वभावः एकस्वभावः अनेकस्वभावः भेदस्वभावः अभेदस्वभावः भव्यस्वभावः अभव्यस्वभावः परमस्वभावः द्रव्याणामेकावश सामान्यस्वभावः । चेतन-स्वभावः अचेतनस्वभावः मूर्तस्वभावः अमूर्तस्वभावः एकप्रदेशस्वभावः अनेकप्रदेशस्वभावः विभावस्वभावः शुद्धस्वभावः अशुद्धस्वभावः उपचरितस्वभावः एते द्रव्याणां वश विशेषस्वभावाः । जीव पुद्गलयोरेकविंशतिः ।’ आलापपद्धति

यहाँ पर चेतनस्वभाव, अचेतनस्वभाव, मूर्तस्वभाव, अमूर्तस्वभाव ये चारों स्वभाव भी जीव और पुद्गल दोनों में होते हैं ऐसा कहा गया है । अर्थात् जीव में अचेतनस्वभाव व मूर्तस्वभाव तो किसी अपेक्षा संभव है, किन्तु अचेतनगुण और मूर्तगुण जीव में नहीं होते हैं । इसी प्रकार पुद्गल में किसी अपेक्षा चेतन व अमूर्त स्वभाव सम्भव है किन्तु चेतनगुण व मूर्तगुण सम्भव नहीं है ।

बंध की अपेक्षा जीव में अज्ञान औदयिक भावरूप अचेतन स्वभाव है और स्थूल परिणामन रूप मूर्तस्वभाव है ।

द्रव्य में पर चतुष्टय की अपेक्षा से नास्ति स्वभाव है । पर चतुष्टय अनन्त हैं इसलिये नास्तिस्वभाव भी अनन्त प्रकार का हो जाता है । द्रव्य में नास्ति स्वभाव पर की अपेक्षा से माना गया है अतः इसका गुणों में उल्लेख नहीं किया गया है । किन्तु नास्ति-स्वभाव द्रव्य में सदा रहता है इस अपेक्षा से इसको गुण भी कह दिया जाता है । जैसे प्रवचनसार गाथा ९५ की टीका में कहा गया है—

“गुणाः विस्तारविशेषाः, ते द्विविधाः सामान्यविशेषात्मकत्वात् । तत्रास्तित्वं नास्तित्वमेकत्वमन्यत्वं द्रव्यत्वं पर्यायत्वं सर्वगतत्वमसर्वगतत्वं सप्रदेशत्वमप्रदेशत्वं मूर्तत्वममूर्तत्वं सक्रियत्वमक्रियत्वं चेतनत्वमचेतनत्वं कर्तृत्वमकर्तृत्वं भोक्तृत्वमभोक्तृत्वमगुरुत्वमगुरुत्वं चेत्यादयः सामान्यगुणाः । अथगाहहेतुत्वं गतिनिमित्ता स्थितिकारणत्वे वर्तनायतनत्वं रूपाविमत्ता चेतनत्वमित्यादयो विशेषगुणाः ।”

यहाँ पर भी श्री अमृतचन्द्राचार्य ने ‘नास्तित्व’ को सामान्यगुण तो कहा है, किन्तु प्रतिजीवी गुण नहीं कहा है ।

नास्तिस्वभाव का लक्षण निम्नप्रकार कहा गया है—

“परस्वरूपेणाभावात् नास्तिस्वभावः” (आलाप पद्धति)

परस्वरूप से नहीं होना नास्तिस्वभाव है ।

नास्तिस्वभाव सामान्यस्वभाव होने से सब द्रव्यों में पाया जाता है, क्योंकि कोई भी द्रव्य परद्रव्यस्वरूप नहीं परिणमता । सिद्ध भी द्रव्य हैं और वे भी परद्रव्यस्वरूप नहीं होते, अतः उनमें भी नास्ति स्वभाव है ।

—जं. ग. 19-12-68/VIII/ मगनमाला

सुख गुण का आवारक कर्म मोहनीय अथवा वेदनीय है

शंका— फरवरी १९६६ के सम्मतिसंदेश में श्री प० कूलचन्द्रजी ने लिखा है कि “कोई एक कर्म सुख गुण का प्रतिपक्षी स्वीकार नहीं किया गया है ।” इस पर प्रश्न है कि सुखगुण का घातक क्या कोई एक कर्म नहीं है ?

समाधान— सुख का लक्षण अनाकुलता है । श्री अमृतचन्द्राचार्य ने प्रवचनसार गाथा १८ की टीका में ‘अनाकुलत्वलक्षणं सौख्यं’ शब्दों द्वारा सुख का लक्षण अनाकुलता बतलाया है । गाथा २६ व ५९ की टीका में भी अनाकुलता को सुख का लक्षण कहा है ।

आकुलता की उत्पादक इच्छा है और इच्छा चारित्र्यमोहनीय कर्मोदय से उत्पन्न होती है। अतः दिग्ग्वर जनाचार्यों ने मोहनीयकर्म के क्षय से सुख की उत्पत्ति होनी बतलाई है—

दृग्बोधो परमो तदावृत्तिहृतेः, सौख्यं च मोहक्षयात् ।

वीर्यं विघ्नविघाततोऽप्रतिहतं मूर्तिर्न नामक्षतेः ॥

आयुर्नाशवशात् जन्ममरणे गोत्रे न गोत्रं विना ।

सिद्धानां न च वेदनीयविरहा दुःखं सुखं चाक्षजम् ॥६॥ पद्य. पंच.

अर्थ—सिद्धों के दर्शनावरण के क्षय से उत्कृष्ट अर्थात् केवलदर्शन, ज्ञानावरण के क्षय से उत्कृष्ट अर्थात् केवलज्ञान, मोहनीयकर्म के क्षय से सुख, अन्तराय के विनाश से अनन्तवीर्य, नामकर्म के क्षय से मूर्तिका अभाव होकर अमूर्तत्व, आयुर्कर्म के नष्ट हो जाने से जन्म-मरण का अभाव होकर अवगाहनत्व, गोत्र कर्म के क्षीण हो जाने पर उच्च एवं नीच का अभाव होकर अगुरुलघुत्व, तथा वेदनीय कर्म के नष्ट हो जाने से इंद्रियजन्य सुख दुःख का अभाव होकर अभ्याबाध गुण प्रकट होता है ।

श्री तत्त्वार्थवृत्ति अध्याय ९ सूत्र ४४ की टीका में भी “तत्सुखं मोहक्षयात् ।” शब्दों द्वारा यह बतलाया है कि निर्वाणसुख मोह के क्षय से उत्पन्न होता है ।

इन आर्षवाक्यों से सिद्ध होता है कि मोहनीयकर्म के क्षय से आकुलता का अभाव होता है और अनाकुलता लक्षणवाला सुख उत्पन्न होता है । इसलिये मोहनीयकर्म सुखगुण का प्रतिपक्षी है । अनन्तज्ञान और अनन्तवीर्य प्रगट हो जाने पर अनाकुलतारूप सुख अनन्तसुख संज्ञा को प्राप्त हो जाता है । और वेदनीयकर्म के क्षय हो जाने पर इस सुख की अव्याबाध संज्ञा हो जाती है । इसीलिये कुछ आचार्यों ने वेदनीयकर्म के क्षय से सुखगुण बतलाया है ।

जसोदएण जीवो सुहं च दुक्खं व बुविहमणुहवइ ।

तसोवयक्खएण दु जायदि अत्पत्थणंतसुहो ॥६॥ घ. पु. ७ पृ. १४

अर्थ—जिस वेदनीयकर्म के उदय से जीव सुख और दुख इस दो प्रकार की अवस्था का अनुभव करता है, उसी कर्म के क्षय से आत्मस्थ अनन्तसुख उत्पन्न होता है ।

इसप्रकार दि० जैन आचार्यों ने तो मोहनीयकर्म अथवा वेदनीयकर्म को आत्मस्थ सुख का प्रतिपक्षी बतलाया है ।

—जें. ग. 11-4-66/IX/ट. ला. जैन मेटठ

१. वीर्य गुण से योग में कारण कार्य सम्बन्ध है

२. परमार्थतः योग श्रौतयिक है और उपचारतः क्षायोपशमिक

शंका—वीर्य आत्मा का स्वतन्त्रगुण है तब उसका योग से क्या सम्बन्ध है ?

समाधान—क्षायोपशमिकवीर्य की वृद्धि से योग में वृद्धि होती है, अतः क्षायोपशमिकवीर्य व योग में कारण-कार्य-सम्बन्ध है । कहा भी है—

“विरियंतराइयस्स सध्वघादिकह्याणमुवयाभावेण तेसि संतोवसमेण देसघादिकह्याणमुवएण सम्भुववावो लद्धखओवसमववएस्स विरियं वड्ढदि तं विरियं पप्प जेण जीवपदेसाणं संकोचविकोचो वड्ढदि तेण जोगो खओवसमिओ ति वुत्तो । विरियंतराइयखओवसम जणिदबलवड्ढि हाणीहितो जदि जीवपदेसपरिप्फंदस्स वड्ढिहाणीओ होति तो खोणंतराइयम्मि सिद्धे जोगबहुत्तं पसज्जवे ? ण खओवसमियवलावो खइयस्स बसस्स पुधत्तदंसणावो । ण च खओवसमियवलवड्ढि-हाणी-हितो वड्ढि-हाणीणं गच्छमाणो जीवपदेसपरिप्फंदो खइयवलावो वड्ढिहाणीणं गच्छदि, अहूपसंगावो । जदि जोगो वीरियंतराइय खओवसमजणिओ तो सजोगिम्मि जोगाभावो पसज्जवे ? ण. उवयारेणख-ओवसमियं भावं पत्तस्स ओइयस्स जोगस्स तत्थाभावविरोहाओ ।” (ध. पु. ७ पृ. ७५-७६)

अर्थ—वीर्यान्तरायकर्म के सर्वघातीस्पर्शकों के उदयाभाव से व उन्हीं स्पर्शकों के सत्त्वोपशम से तथा देशघातीस्पर्शकों के उदय से उत्पन्न होने के कारण क्षायोपशमिक कहलाने वाला वीर्य (बल) बढ़ता है तब उस वीर्य को पाकर अर्थात् उस वीर्य के कारण चूँकि जीवप्रदेशों का संकोच-विकोच बढ़ता है, इसलिये योग क्षायोपशमिक कहा गया है । यहाँ पर यह शंका होती है—यदि वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न हुए बल की वृद्धि और हानि से प्रदेशों के परिस्पंद की वृद्धि और हानि होती है, तब तो जिसके अन्तरायकर्म क्षोण हो गया है ऐसे सिद्ध जीव में योग की बहुलता का प्रसंग आता है ? आचार्य कहते हैं—सिद्ध जीव में योग की बहुलता का प्रसंग नहीं आता है, क्योंकि क्षायोपशमिकबल से क्षायिकबल निरन्तर भिन्न देखा जाता है, क्षायोपशमिकबल की वृद्धि-हानि से वृद्धि-हानि को प्राप्त होनेवाला जीवप्रदेशों का परिस्पन्द क्षायिकबल से वृद्धि-हानि को प्राप्त नहीं होता; क्योंकि ऐसा मानने से तो अतिप्रसंग दोष आ जायगा । पुनः शंका—यदि योग वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है तो सयोगिकेवली में योग के अभाव का प्रसंग आता है, आचार्य कहते हैं कि सयोगिकेवली में योग के अभाव का प्रसंग भी नहीं आता है । क्योंकि योग में क्षायोपशमिकभाव तो उपचार से माना गया है, असल में तो योग औदयिकभाव ही है और औदयिक योग का सयोगिकेवली में अभाव मानने में विरोध आता है ।

षट्खण्डागम में वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम के कारण ही योग को क्षायोपशमिकभाव कहा गया है, क्योंकि वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम से वीर्य में हानि-वृद्धि होती है और वीर्य की हानि-वृद्धि से योग में हानि-वृद्धि होती है, इसप्रकार योग और क्षायोपशमिकवीर्य में कार्य-कारणसम्बन्ध है ।

—जै. ग. 16-7-70/VII/ टो. ला.

योग जीव से कथंचित् अनन्य है, कथंचित् अन्य

शंका—२३ विसम्बर १९६५ के जैनसन्देश में समयसार गाथा १६४ के आधार पर यह कहा गया कि योग को इत्थप्रत्ययरूप और भावप्रत्ययरूप से अचेतन और चेतन कहा है । इसलिये योग जीवरूप होने से जीव की निजशक्ति है ।

समाधान—समयसार गाथा १६४ में ‘मिथ्यात्व, अविरति, कषाय ये चेतन और अचेतन के भेद से दो प्रकार के हैं और जीव के अनन्य परिणाम है’ यह कहा गया है । परन्तु यहाँ पर यह विचारणीय है कि जिसप्रकार उपयोग जीव का निजपरिणाम होने से अनन्यपरिणाम है क्या उसी प्रकार ये प्रत्यय भी जीव के अनन्य परिणाम हैं । श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने इसका विवेचन गाथा १०९ से ११५ तक किया है जो इस प्रकार है—

प्रत्यय अर्थात् बंध के कारण जो आस्रव वे सामान्य से चार बंध के कर्ता कहे हैं वे मिथ्यात्व अविरत कषाय और योग जानने और उनके फिर तेरह भेद अर्थात् तेरह गुणस्थान मिथ्यादृष्टि की आदि लेकर सयोगकेवली तक हैं । ये निश्चय ही अचेतन हैं, क्योंकि पुद्गलकर्म के उदय से हुए हैं । वे कर्म को करते हैं, उनका भोक्ता आत्मा

नहीं होता । ये प्रत्ययगुण (गुणस्थान) नाम वाले हैं, क्योंकि ये कर्म को करते हैं, इसकारण जीव तो कर्म का कर्ता नहीं है । ये गुण (गुणस्थान) ही कर्मों को करते हैं । जैसे जीव से उपयोग अनन्य (एकरूप) है । उसीतरह यदि क्रोध भी जीव से अनन्य हो जाय अर्थात् एकरूप हो जाय तो इसतरह जीव और अजीव के एकपत्ता प्राप्त हुआ । ऐसा होने से इस लोक में जो जीव है वही नियम से बैसा ही अजीव हुआ । ऐसे दोनों के एकरव होने में यह दोष प्राप्त हुआ । इसी तरह प्रत्यय, नोकर्म और कर्म इन दोनों में भी यही दोष जानना । अतः क्रोध अन्य है और उपयोगस्वरूप आत्मा अन्य है, जिस तरह क्रोध है उसीतरह प्रत्यय (मिथ्यात्व अविरति, कषाय व योग), कर्म और नोकर्म से भी आत्मा से अन्य है ।

यहाँ पर श्री कुन्वकुन्दाचार्य ने योगप्रत्यय को भी अचेतन कहा है, क्योंकि पुद्गल कर्मोदय से हुआ है और यह भी कहा कि यदि उपयोग के समान योग प्रत्यय को भी जीव से अनन्य मान लिया जाय तो जीव और अजीव के एकपत्ते का दूषण आ जायगा । अतः योगप्रत्यय आत्मा से अन्य ही है ।

योग पुद्गलकर्मोदयकृत औपाधिकभाव है और समयसार गाथा ५७ में जीव का और औपाधिकभावों या सम्बन्ध जल और दूध के समान बतलाया है और यह भी कहा है कि ये जीव के नहीं हैं क्योंकि जीव उपयोग गुणकर अधिक है ।

जल और दूध के सम्बन्ध के समान जीव और योगप्रत्यय का सम्बन्ध है इस अपेक्षा से योग जीव से कथंचित् अनन्य है तथा चिदाभास है । किन्तु योग का और जीव का त्रैकालिक तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है । ऐसा श्री कुन्वकुन्दाचार्य का कहना है ।

—जं. म. 14-2-66/IX/ ट. ला. जैन

अवगाहनगुण

शंका—अवगाहनशक्ति आकाश में है या और द्रव्यों में भी है । अगर केवल आकाश में है तो किस प्रकार से ? यदि अन्य द्रव्यों में भी है तो आकाश को स्थान देनेवाला क्यों बताया गया है ? अथवा आकाश का लक्षण अवकाशदान क्यों कहा है ?

समाधान—आकाश का लक्षण अवकाश देना है । कहा भी है—अवकाशदानजोगं जीवादीणं विद्याण आयासं—वृ० ब्र० सं० गाथा १९ जो जीवादि द्रव्यों को अवकाश देने वाला है उसे जितेन्द्रदेव द्वारा कहा हुआ आकाशद्रव्य जानो । अन्य द्रव्यों में द्रव्यों को अवकाश देने की शक्ति नहीं है । यदि कहा जावे कि 'धर्मद्रव्य' तथा 'अधर्म द्रव्य' में अन्य समस्त द्रव्यों को अवकाश देने की शक्ति है किन्तु 'अलोकाकाश' को अवकाश देने की शक्ति 'धर्मद्रव्य' तथा 'अधर्मद्रव्य' में भी नहीं है । अतः सर्वद्रव्यों को अवकाशदान आकाश का साधारणगुण है । प्रवचनसार गाथा १३३ की टीका में श्री अमृतचन्द्रस्वामी ने इसप्रकार कहा है—विशेषगुणो हि युगपत्सर्वद्रव्याणां साधारणावगाहहेतुत्वमाकाशस्य । तत्रैककालमेव सकलद्रव्यसाधारणावगाहसम्पादनमसंबन्धगतत्वादि शेषद्रव्याणाम-सम्भवदाकाशमधिगमयति । युगपत् सर्वद्रव्यो के साधारण अवगाह का हेतुत्व आकाश का विशेषगुण है । एक ही काल में समस्त द्रव्यों को साधारण अवगाह का सम्पादन (अवगाहहेतुस्वरूप लिंग) आकाश को बतलाता है, क्योंकि शेषद्रव्यों के सर्वगत न होने से ही उनके वह (अवगाह गुण) सम्भव नहीं है ।

—जं. सं. 14-3-57/ / ला. टा. दा. कौराना

शंका—सिद्धों में भी अवगाहन देने की शक्ति है, क्योंकि एक सिद्ध में अनन्त सिद्ध हैं, ऐसा शास्त्रों में कथन पाया जाता है ।

समाधान—सिद्धों में भी अवगाहन-दान शक्ति है ; जहाँ पर एक सिद्ध भगवान हैं, वहाँ पर अन्य छहद्रव्य भी हैं । किन्तु सिद्धों में अन्य समस्त द्रव्यों को अवगाहनदान की शक्ति नहीं है अतः सिद्धों का अवगाहनदान असाधारणगुण नहीं है ।

—जं. सं. 14-3-57/ / ला. टा. दा. कंरना

सिद्धों व निगोदजीवों में अवगाहना का हेतु

शंका—सिद्ध भगवान के आत्मप्रवेशों में अवगाहनगुण होने के कारण अनन्त सिद्ध समा जाते हैं, इसीतरह निगोदकीव के शरीर में अनन्त निगोदिया रहते हैं क्या उसमें भी अवगाहनगुण कारण हैं या दोनों में कौन से कारण हैं ? सिद्धभगवान के ओर निगोदिया के अवगाहनगुण में क्या अन्तर है ?

समाधान—नामकर्म के क्षय से स्वाभाविक अवगाहनगुण सिद्धों में होता है । संसारावस्था में शरीरनाम-कर्मोदय के कारण वह अवगाहनगुण आच्छादित रहता है ।

साधारणनामकर्मोदय के कारण एक निगोदशरीर में अनन्तानन्त जीव रहते हैं । कहा भी है—

‘घट्टनामात्मनामुपभोगहेतुत्वेन साधारणं शरीरं यतो भवति तत् साधारणशरीरनाम ॥’ स. सि. ८-११

अर्थात्—एक साधारणशरीर का बहुत जीव उपभोग करते हैं । जिस कर्म के निमित्त से यह साधारण शरीर होता है वह साधारणशरीरनामकर्म है ।

‘नि नियतां गां भूमिं क्षेत्रं दधातीति अनन्तानन्तजीवानाम् इति निगोषः साधारणजन्तवः ।’

—स्वा० का० गा० १५० की टीका

अर्थ—जो एक क्षेत्र में अनन्तानन्त जीवों को अवगाहन देते हैं उन्हें निगोदिया अथवा साधारणजीव कहते हैं ।

इसप्रकार सिद्धों में स्वाभाविक अवगाहनगुण के कारण एकक्षेत्र में अनन्तानन्त सिद्ध रहते हैं और निगोद-शरीर में साधारणशरीर नामकर्मोदय के कारण एकक्षेत्र में अनन्तानन्त जीव रहते हैं ।

—जं. ग. 8-2-68/IX/ घ. ला. सेठी

एक द्रव्य में अगुरुलघु गुण की संख्या

शंका—प्रत्येक द्रव्य में कितने अगुरुलघुगुण होते हैं ? क्या किसी द्रव्य में अनन्त अगुरुलघुगुण भी होते हैं ?

समाधान—प्रत्येक द्रव्य में एक ही अगुरुलघुगुण होता है । पंचास्तिकाय में जो अनन्त अगुरुलघुगुण लिये हैं वहाँ गुण से अभिप्राय अविभागप्रतिच्छेद का है । तत्त्वार्थसूत्र में भी द्रव्यधिकाविगुणानां तु [त० सू० ५।३६] इस सूत्र में ‘गुण’ शब्द आया है वह अविभागप्रतिच्छेद के लिये ही आया है ।

—पताघाट/17-2-80/ज. ला. जैन, भीष्ण्डर

१. अगुरुलघुगुण का स्वरूप एवं उसकी प्राप्ति का उपाय

२. संसार जीवों में अगुरुलघुगुण विभाव परिणमन किये हुए है

शंका—अगुरुलघुगुण क्या है और वह कैसे प्राप्त होता है ?

समाधान—श्री देवसेनाचार्य ने अगुरुलघुगुण का लक्षण आलापपद्धति में निम्नप्रकार कहा है—

‘सूक्ष्मा अवाग्मोचराः प्रतिक्षणं वर्तमाना आगमप्रमाणान् अगुरुलघुगुणाः ।’ आलापपद्धति

अगुरुलघुगुण सूक्ष्म है, वचन के अगोचर है, प्रतिक्षण परिणमनशील है आगमप्रमाण से जाना जाता है ।

यह अगुरुलघुगुण सामान्यगुण है सब द्रव्यों में पाया जाता है और इस अगुरुलघु के परिणमन के कारण शुद्धद्रव्यों में षड्वृद्धिरूप और षड्दानिरूप परिणमन पाया जाता है ।

पुद्गलपरमाणु के अतिरिक्त प्रत्येक शुद्धद्रव्य में प्रतिसमय जो स्वभावार्थपर्याय हो रही है वह अगुरुलघुगुण के कारण ही हो रही है, क्योंकि शुद्धद्रव्य के अन्य गुणों के अविभागप्रतिच्छेदों में हानि-वृद्धि नहीं होती है मात्र अगुरुलघुगुण के अविभागप्रतिच्छेदों में हानि-वृद्धि होती है और यही स्वभावार्थपर्याय है ।

‘गुणविकाराः पर्यायास्ते द्वेषा अर्थार्थजनपर्यायभेदात् । अर्थपर्यायास्ते द्वेषा स्वभावविभावपर्यायभेदात् । अगुरुलघुविकाराः स्वभावार्थपर्यायास्ते द्वादशधा षड्वृद्धिरूपाः षड्दानिरूपाः ।’ आलापपद्धति

गुणविकार को गुणपर्याय कहते हैं । अर्थपर्याय व व्यंजनपर्याय के भेद से वह दो प्रकार की है । स्वभाव-अर्थपर्याय और विभावअर्थपर्याय के भेद से अर्थपर्याय भी दो प्रकार की है । अगुरुलघुगुणविकार स्वभावार्थपर्याय है जो चारह प्रकार की है, क्योंकि उस अगुरुलघुगुण के अविभाग प्रतिच्छेदों में (अनन्तर्वेभाग, असंख्यातर्वेभाग, संख्यातर्वेभाग, संख्यातगुणी, असंख्यातगुणी और अनन्तगुणी) छह प्रकार की वृद्धि व छह प्रकार की हानि नियतक्रम से होती रहती है ।

संसारावस्था में जीव के कर्मोदय के कारण इस अगुरुलघुगुण का अभाव रहता है क्योंकि कर्मोदय के कारण ज्ञानादि गुणों में हानि-वृद्धिरूप परिणाम होता है । धवलश्रथ में कहा भी है—

‘अगुरुलघुअत्तं नाम जीवस्स साहावियमस्सि जे ण संसारावत्थाए कम्मपरतंतम्मि तस्साभावा । ण च महावविणासे जीवस्स विणासो, लक्खणविणासे लक्खविणास्स पाइयतादो । ण च णाण दंसणे मुच्चा जीवस्स अगुरु-लहुअत्तं लक्खणं, तस्स आयासावीसु वि उवलंमा ।’

अगुरुलघु जीव का स्वाभाविकगुण नहीं है, क्योंकि संसारावस्था में कर्म-परतंत्र जीव में स्वाभाविक-अगुरुलघुगुण का अभाव है । यदि कहा जाय कि स्वभाव का विनाश मानने पर जीव का विनाश प्राप्त होता है सो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि लक्षण का विनाश होने पर लक्ष्य का विनाश होता है ऐसा न्याय है, किन्तु ज्ञान-दर्शन को छोड़कर अन्य जीव का लक्षण नहीं है । अगुरुलघु भी जीव का लक्षण नहीं है, क्योंकि वह आकाश आदि अन्य द्रव्यों में भी पाया जाता है अतः अगुरुलघुगुण का अभाव हो जाने पर भी (विभावरूप परिणमन हो जाने पर भी) जीव का अभाव नहीं होता है । कर्मों का नाश करने पर स्वाभाविक अगुरुलघुगुण प्राप्त होता है ।

श्री अंकलंकवेव ने भी राजवातिक में कहा है—

‘मुक्तजीवानां कथमितिचेत् ? अनादिकर्मनोकर्मसंबन्धानां कर्मोदयकृतमगुरुलघुत्वम्, तदत्यन्तविनिवृत्ती तु स्वभाविकमाविर्भवति ।’

मुक्तजीवों के अगुरुलघुत्व कैसे सम्भव है ? संसारी जीवों के अनादिकाल से कर्म-नोकर्म का सम्बन्ध प्रवाह-रूप से चला आ रहा है, मुक्तजीवों के कर्म-नोकर्म उदयजनित अगुरुलघुत्व की अत्यन्तविनिवृत्ति हो जाने से स्वाभाविक-अगुरुलघुगुण का आविर्भाव हो जाता है ।

इसी बात को श्री भास्करनन्दि आचार्य ने भी कहा है—

‘मुक्तात्मानां तु कर्मकृतागुरुलघुत्वाभावेऽपि स्वभाविकं तदाविर्भवति ।’

—जै. ग. 22-10-70/VIII/ पद्मचंद्र

शंका—सोनगढ़ से प्रकाशित ‘लघुर्जनसिद्धान्तप्रवेशिका’ में अगुरुलघुगुण का स्वरूप इसप्रकार कहा है—
‘जिस शक्ति के कारण से द्रव्य में द्रव्यपना कायम रहता है, अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं होता है, एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता है और द्रव्य में रहने वाले अनन्तगुण बिखर कर अलग-अलग नहीं हो जाते हैं, उस शक्ति को अगुरुलघुत्वगुण कहते हैं ।’ इसका अभिप्राय क्या स्वरूप प्रतिष्ठित नहीं है जैसा कि समयसार की सत्तरहवीं शक्ति में कहा गया है ?

समाधान—आलापपद्धति सूत्र ९९ व श्लोक ५ में अगुरुलघुगुण का स्वरूप इसप्रकार कहा गया है—
‘अगुरुलघोर्भावोऽगुरुलघुत्वम् सूक्ष्मा अवागोचराः प्रतिक्षणं वर्तमाना आगमप्रमाण्यादश्रुपगम्या अगुरुलघुगुणाः ॥९९॥

सूक्ष्मं जिनोक्तिं तत्त्वं, हेतुभिर्नैव हन्यते ।

आज्ञासिद्धं तु तद्ब्रह्म, नान्यथावादिनो जिनाः ॥५॥

जो सूक्ष्म है, वचनों के अगोचर है, प्रतिसमय परिणमनशील है तथा आगमप्रमाण से जाना जाता है, वह अगुरुलघुगुण है ।

अगुरुलघुगुण चूँकि प्रतिसमय परिणमनशील है इसीलिए शुद्धद्रव्यों में षट्स्थानपतित वृद्धि-हानिरूप स्वभावपर्याय होती रहती हैं । श्री अभूतचन्द्राचार्य ने कहा भी है—

‘स्वाभावपर्यायो नाम समस्त द्रव्याणामात्मीयात्मीयागुरुलघुगुणद्वारेण प्रतिसमयसमुदीयमानषट्स्थानपतित-वृद्धिहानिनात्त्वानुभूतिः ।’

समस्त द्रव्यों में अपने-अपने अगुरुलघुगुणद्वारा प्रतिसमय प्रगट होने वाली षट्स्थानपतित हानि-वृद्धिरूप अनेकत्व की अनुभूति स्वभावपर्याय है ।

श्री अकलंकदेव ने भी कहा है—

‘यस्योदयादयस्तिपण्डित् गुरुत्वाप्राधः पतति न वाऽकंतूलवल्लघुत्वाद्द्वं गच्छति तद्गुरुलघुनाम । धर्माधी-नामजीवानां कथमगुरुलघुत्वमिति चेत् ? अनादिपारिणामिकागुरुलघुत्वगुणयोगात् मुक्तजीवानां कथमिति चेत् ? अनादिकर्मनोकर्मसंबन्धानां कर्मोदयकृतमगुरुलघुत्वम्, तदत्यन्तविनिवृत्ती तु स्वाभाविकमाविर्भवति ।’

—रा० वा० दा० ११११२

जिसके उदय से इतना भारी नहीं हो जाता कि लोहपिण्ड की तरह नीचे पृथिवी में घूमता चला जाय और इतना हल्का नहीं होता कि अर्कतुल (आखियों की रई) के समान इधर-उधर उड़ता फिरे। धर्म, अधर्म, आकाश, काल में अनादि स्वाभाविक अगुरुलघुगुण के कारण अगुरुलघुपना है। अनाविकाल से कर्म व नोकर्म से बन्धे हुए संसारी जीवों में कर्मोदयकृत अगुरुलघुपना है। कर्म-नोकर्म से अत्यन्त निवृत्त होने पर मुक्तजीवों में स्वाभाविक अगुरुलघुगुण का आविर्भाव हो जाता है।

समयसार में अगुरुलघुशक्ति का स्वरूप इसप्रकार कहा है—

‘षट्स्थानपतितवृद्धिहानिपरिणतस्वरूपप्रतिष्ठत्वकारणविशिष्टगुणात्मिका अगुरुलघुत्वशक्तिः ।’

स्वरूपप्रतिष्ठत्व में कारणरूप षट्स्थानपतितवृद्धिहानिवाली विशिष्टगुणस्वरूप अगुरुलघुत्वशक्ति है। अर्थात् यदि षट्स्थानपतितवृद्धिहानि न हो तो शुद्धद्रव्यों में परिणामन न होने से द्रव्य कूटस्थ हो जायगा। द्रव्य कूटस्थ होता नहीं, अतः षट्स्थानपतितवृद्धिहानि द्रव्यके स्वरूप-प्रतिष्ठत्व में कारण है। यहाँ पर यह नहीं कहा गया कि अगुरुलघु के कारण एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप या एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता, क्योंकि यह कार्य तो अस्तित्व गुण का है। लघुर्जनसिद्धान्तप्रवेशिका में ‘षट्स्थान पतितहानि-वृद्धि अगुरुलघुगुण का कार्य है’ ऐसा कथन नहीं है। अतः लघुर्जनसिद्धान्तप्रवेशिका में अगुरुलघुगुण का जो स्वरूप बतलाया गया है वह आशंभ्य अगुरुलघु नहीं है।

—जै. ग. 9-10-75/ट. ला. जैन; एम. फॉन.

सिद्धों में अगुरुलघुगुण

शंका—‘सिद्धों में गोत्रकर्म के नाश से अगुरुलघुगुण प्रकट होता है,’ यहाँ अगुरुलघु का क्या तात्पर्य है ? ‘अथप्र केवलसम्भवत्वज्ञानवर्णनसिद्धत्वेभ्यः’ सूत्र में सिद्धों के अगुरुलघुगुण का कोई जिक्र नहीं है, सिद्धों में अगुरुलघुगुण क्यों माना जाय ?

समाधान—प्रत्येक द्रव्य में अगुरुलघु साधारण गुण होता है जिसके द्वारा षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप परिणामन अर्थात् स्वभावार्थपर्याय शुद्धद्रव्यों में प्रतिसमय होती रहती है। कहा भी है—

“अस्तित्वं, वस्तुत्वं, द्रव्यत्वं, प्रमेयत्वं, अगुरुलघुत्वं, प्रदेशत्वं, चेतनस्वमचेतनत्वं, मूर्तत्वममूर्तत्वं द्रव्याणां दश सामान्यगुणाः प्रत्येकमष्टावष्टौ सर्वेषाम् । अगुरुलघुविकाराः स्वभावाद्यर्थपर्यायास्तेद्वादशधा षड्वृद्धिरूपाः षड्द्वानिरूपाः । सूक्ष्मा अवागोचराः प्रतिक्षणं वर्तमाना आगमप्रमाणादभ्युपगम्या अगुरुलघुगुणाः । आलापपद्धति

“स्वभावपर्यायो नाम समस्तद्रव्याणामात्मीयात्मीयागुरुलघुगुणद्वारेण प्रतिसमयसमुदीयमान षट्स्थानपतित-वृद्धिहानिनात्त्वानुभूतिः ।” प्रवचनसार गाथा ९३ टीका

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि अगुरुलघु सामान्यगुण है जो सूक्ष्म है, वचन के अगोचर है, जिसमें प्रतिसमय वर्तना होती रहती है तथा आगमप्रमाण से जाना जाता है। समस्त द्रव्यों में अपने-अपने अगुरुलघुगुण के द्वारा प्रतिसमय षट्स्थानपतित वृद्धिहानिरूप स्वभावार्थपर्याय होती रहती है।

संसारवस्था में द्रव्यकर्मबन्ध के कारण जीव अशुद्ध हो रहा है अतः उसमें स्वभाविक अगुरुलघुगुण का तिरोभाव हो रहा है, क्योंकि उसका विभावरूप परिणामन हो रहा है।

“अगुरुलघुश्रुतं नाम जीवस्त साहायियमस्थि चै ण, संसारावस्थाए कम्मपरसंतमि तस्साभावा ।”

धवल पु० ६ पृ० ५८

अगुरुलघुत्व जीव का स्वाभाविकगुण है ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि संसारावस्था में कर्म-परतन्त्र जीव में उस स्वाभाविक अगुरुलघुगुण का अभाव है ।

“मुक्तजीवानां कथमिति चेत् ? अनाविकर्मनोकर्मं सम्बन्धानां कर्मोदयकृतमगुरुलघुत्वम्, तदत्यन्तविनिवृत्तौ तु स्वाभाविकमाविर्भवति ।” (रा. वा. ८।११।१२)

ग्रनादि कर्म—नोकर्मबद्ध जीवों के अर्थात् संसारीजीवों के कर्मोदयजनित अगुरुलघुपना है । उस कर्मोदय-कृत अगुरुलघु से अत्यन्त निवृत्त हो जाने पर मुक्तजीवों के स्वाभाविकअगुरुलघुगुण का प्राविर्भाव होता है ।

“मुक्तजीवे षट्स्थानवृद्धि-हानि-वृद्धिहान्यपेक्षयाभङ्गत्रयमवबोद्धव्यमिति सूत्रतात्पर्यम् ।”

(प्रवचनसार गा० १८ टीका)

मुक्तजीवों में अगुरुलघुगुण में षट्स्थानवृद्धि-हानि की अपेक्षा उत्पाद, व्यय, धीव्य जानना चाहिये ऐसा सूत्र का तात्पर्य है ।

तत्त्वार्थसूत्र अ० १० सूत्र ४ में सिद्धों के समस्त गुणों के नाम नहीं दिये गये हैं मात्र कुछ गुणों का नाम देकर अन्यगुणों का संकेत किया गया है । श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने तत्त्वार्थसार में “गोश्रकर्मसमुच्छेदात्सवाजोरव-साधवाः ।” इन शब्दों द्वारा सिद्धों में अगुरुलघुगुण का कथन किया है ।

—जै. ग. 19-11-70/VII/ प्रां. कु. बड़जात्या

शंका—सिद्धों में अगुरुलघुगुण में हानि-वृद्धि की अपेक्षा या अन्य किन्हीं गुणों की अपेक्षा भेद किया जा सकता है या नहीं ?

समाधान—स्वाभाविक अगुरुलघुगुण में नियतक्रम अनुसार अविभागप्रतिच्छेदों में हानि-वृद्धि होती रहती है । अतः सिद्धों में अगुरुलघुगुण में हानि-वृद्धि की अपेक्षा से कोई भेद नहीं है । सिद्धों में अन्य गुणकृत भेद भी नहीं है, क्योंकि सभी गुण शुद्ध स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त हो गये हैं । क्षेत्र, काल व अवगाहना संबंधी भेद है । पूर्व-पर्याय की अपेक्षा सिद्धों में भेद किया जा सकता है जिसका कथन स. सि. अ १० सूत्र ६ की टीका में किया गया है । वह सूत्र निम्नप्रकार है—“क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साधवाः ।”

—जै. ग. 1-4-71/VII/ ट. ला. जैन

अगुरुलघुगुण में एक ही समय में पूरी षट्स्थान पतित वृद्धि हानि नहीं हो सकती

शंका—आत्मा में एक अगुरुलघुगुण भी है, जिसमें प्रति समय षट्स्थानपतितहानि-वृद्धि होती है तथा यह स्वभावपर्याय है, सिद्धों में भी होय है । इसके विषय में पं० बीपचन्द्रजी शाह ने विद्विलासनामक पुस्तक के पृ० ८६ पर लिखा है—“षट्गुणी वृद्धि-हानि एकसमय में सधै है ।” इसमें मुझे शंका है कि अशुद्ध जीव में स्वभावपर्याय कैसे संभव है ? एक ही समय में षट्स्थान-हानि और षट्स्थानवृद्धि अर्थात् छहप्रकार की हानियाँ और छहप्रकार की वृद्धियाँ एक ही अगुरुलघुगुण की बारह पर्यायों एक ही समय में कैसे संभव हैं ?

समाधान—आत्मा में जो अगुरुलघुगुण है वह स्वाभाविकगुण है, किन्तु संसारावस्था में कर्मपरतन्त्रजीव में उस स्वाभाविकअगुरुलघुगुण का अभाव है। जैसा कि ध्रुवल ५० ६ में कहा है—

“अगुरुत्वलघुत्वं नाम जीवस्स साहायियमसिधे च न, संसारावस्थाए कम्मपरतंतम्मि तत्साभावा ।” [५० : ५८] इसका भाव ऊपर कहा जा चुका है।

मुक्त (सिद्ध) जीवों में इस स्वाभाविकअगुरुलघुगुणका आविर्भाव होता है। जैसा कि कहा गया है—

“मुक्तजीवानां कथमिति चेत् ? अनादिकर्मनोकर्मसंबंधानां कर्मोपकृतमगुरुलघुत्वम्, तदत्यन्तविनिवृत्तौ तु स्वाभाविकमाविर्भवति ।” [रा. वा. अ. ८ सूत्र ११ वार्तिक १२ श्लोका]

अनादिकाल से कर्म व नोकर्म से बद्ध जीवों के (संसारी जीवों के) कर्मोदय के द्वारा किया हुआ अगुरुलघुत्व होता है। कर्मोदय से अत्यन्त मुक्त हुए जीवों के (सिद्धों के) स्वाभाविक अगुरुलघुत्व आविर्भूत हो जाता है अर्थात् स्वाभाविक अगुरुलघुगुण के द्वारा अगुरुलघुत्व होने लगता है।

इस अगुरुलघुगुण में छहप्रकार की वृद्धि और छहप्रकार की हानि होती है, (१) अनन्तभाग-वृद्धि, (२) असंख्यातभाग-वृद्धि, (३) संख्यातभाग-वृद्धि, (४) संख्यातगुण-वृद्धि, (५) असंख्यातगुण-वृद्धि, (६) अनन्तगुण-वृद्धि। (७) अनन्तभाग-हानि, (८) असंख्यातभाग-हानि, (९) संख्यातभाग-हानि, (१०) संख्यातगुण-हानि, (११) असंख्यातगुण-हानि, (१२) अनन्तगुण-हानि। इन बारहप्रकार की वृद्धि-हानि में से एकसमय में अपने नियतक्रम से एक ही प्रकार की वृद्धि या हानि होगी। एक ही समय में छहों प्रकार की वृद्धि-हानि का होना सम्भव नहीं है। छहोंप्रकार की वृद्धि का नियतक्रम इसप्रकार है—

“हेट्ठाट्ठाणपरव्वणाए अणंतभागव्वमहियं कंढयं गंतूण असंखेज्जभागव्वमहियंट्ठाणं ॥ २१५ ॥ किं कंढयवमाणं ? अंगुलस्स असंखेज्जविभागो । असंखेज्जभागव्वमहियं कंढयं गंतूण संखेज्जभागव्वमहियं ट्ठाणं ॥ २१६ ॥ संखेज्जभागव्वमहियं कंढयं गंतूण संखेज्जगुणव्वमहियं ट्ठाणं ॥ २१७ ॥ संखेज्जगुणव्वमहियं कंढयं गंतूण असंखेज्जगुणव्वमहियं ट्ठाणं ॥ २१८ ॥ असंखेज्जगुणव्वमहियं कंढयं गंतूण अणंतगुणव्वमहियं ट्ठाणं ॥ २१९ ॥ अणंतभागव्वमहियाणं कंढयवग्गं कंढयं च गंतूण संखेज्जभागव्वमहियट्ठाणं ॥ २२० ॥ असंखेज्जभागव्वमहियाणं कंढयवग्गं कंढयं च गंतूण संखेज्जगुणव्वमहियट्ठाणं ॥ २२१ ॥ संखेज्जभागव्वमहियाणं कंढयवग्गं कंढयं च गंतूण असंखेज्जगुणव्वमहियट्ठाणं ॥ २२२ ॥ संखेज्जगुणव्वमहियाणं कंढयवग्गं कंढयं च गंतूण अणंतगुणव्वमहियं ट्ठाणं ॥ २२३ ॥ संखेज्जगुणस्स हेट्ठवो अणंतभागव्वमहियाणं कंढयघणो वेकंढयवग्गा कंढयं च ॥ २२४ ॥ असंखेज्जगुणस्स हेट्ठवो असंखेज्जभागव्वमहियाणं कंढयघणो वेकंढयवग्गा कंढयं च ॥ २२५ ॥ अणंतगुणस्स हेट्ठवो संखेज्जभागव्वमहियाणं कंढयघणो वेकंढयवग्गा कंढयं च ॥ २२६ ॥ असंखेज्जगुणस्स हेट्ठवो अणंतभागव्वमहियाणं कंढयवग्गावग्गो तिण्णिकंढयघणा तिण्णिकंढयवग्गा कंढयं च ॥ २२७ ॥ अणंतगुणस्स हेट्ठवो असंखेज्जभागव्वमहियाणं कंढयवग्गावग्गो तिण्णिकंढयघणा तिण्णिकंढयवग्गा कंढयं च ॥ २२८ ॥ अणंतगुणस्स हेट्ठवो अणंतभागव्वमहियाणं कंढयो पंचहेट्ठो चत्तारिकंढयवग्गा वग्गा छकंढयघणा चत्तारिकंढयवग्गा कंढयं च ॥ २२९ ॥

[ध. पु. १२ पृ. १९३-२०२]

अवस्ततस्थान प्ररूपणा में अनन्तभागवृद्धि काण्डकप्रमाण जाकर असंख्यातभागवृद्धि का स्थान होता है ॥ २१५ ॥ अंगुल का असंख्यातभाग काण्डक का प्रमाण है। काण्डकप्रमाण असंख्यातभागवृद्धि जाकर संख्यातभाग वृद्धि का स्थान होता है ॥ २१६ ॥ काण्डकप्रमाण संख्यातभागवृद्धि जाकर संख्यातगुणवृद्धि का स्थान होता है ॥ २१७ ॥ काण्डकप्रमाण संख्यातगुणवृद्धि जाकर असंख्यातगुणवृद्धि का स्थान होता है ॥ २१८ ॥ काण्डकप्रमाण

असंख्यातगुणवृद्धि जाकर अनन्तगुणवृद्धि का स्थान उत्पन्न होता है ॥ २१९ ॥ काण्डक का वर्ग और एक काण्डक प्रमाणवार अनन्तभागवृद्धियों के होने पर एकवार संख्यातभागवृद्धि होती है ॥ २२० ॥ काण्डकवर्ग व एक काण्डकवार असंख्यातभागवृद्धियों के होने पर एकवार संख्यातगुणवृद्धि होती है ॥ २२१ ॥ काण्डक वर्ग और एक काण्डकवार संख्यातभागवृद्धियों के होने पर एकवार असंख्यातगुणवृद्धि होती है ॥ २२२ ॥ काण्डकवर्ग और एक काण्डकवार संख्यातगुणवृद्धियों के होने पर एकवार अनन्तगुणवृद्धि का स्थान होता है ॥ २२३ ॥ संख्यातगुणवृद्धि के नीचे, काण्डक का घन + दो काण्डकवर्ग + एक काण्डक इतनी बार अनन्तभागवृद्धियाँ होती हैं ॥ २२४ ॥ एक बार असंख्यात गुणवृद्धिस्थान के नीचे, काण्डकघन + काण्डकवर्ग + काण्डक, इतनी बार असंख्यातभागवृद्धि होती है ॥ २२५ ॥ अनन्त-गुणवृद्धिस्थान के नीचे, एक काण्डक घन + दो काण्डकवर्ग + एक काण्डक, इतनी बार संख्यातभागवृद्धि होती है ॥ २२६ ॥ असंख्यातगुणवृद्धि के नीचे, एक काण्डकवर्ग का वर्ग + तीन काण्डकघन + तीनकाण्डक वर्ग + एककाण्डक, इतनी बार अनन्तभागवृद्धि होती है ॥ २२७ ॥ अनन्तगुणवृद्धि के नीचे, एक काण्डकवर्ग का वर्ग + तीन काण्डकघन + तीन काण्डक वर्ग + एक काण्डक, इतनी बार असंख्यातभागवृद्धि होती है ॥ २२८ ॥ अनन्तभागवृद्धि के नीचे, काण्डक की घात ५ + चार काण्डकवर्ग का वर्ग + छह काण्डकघन + चार काण्डकवर्ग + एक काण्डक, इतनी बार अनन्तभागवृद्धि होती है ॥ २२९ ॥

उपसंहार—एक षट्स्थानपतितवृद्धि में घनरजगुणवृद्धि एक बार, असंख्यातगुणवृद्धिकाण्डक (भंगुल का असंख्यातवाँभाग) प्रमाणवार (सूत्र २१९), संख्यातगुणवृद्धि काण्डकवर्ग और एक काण्डकप्रमाणवार होती है (सूत्र २२३), संख्यातभागवृद्धि एक काण्डकघन + दो काण्डकवर्ग + एक काण्डकप्रमाणवार होती है (सूत्र २२६), असंख्यातभागवृद्धि एक काण्डकवर्ग का वर्ग + तीन काण्डकघन + तीन काण्डकवर्ग + एक काण्डकप्रमाणवार होती है (सूत्र २२८) अनन्तभागवृद्धि काण्डकघात ५ + चार काण्डक वर्ग का वर्ग + छह काण्डकघन + चार काण्डक वर्ग + एक काण्डकप्रमाण-वार होती है ।

इसीप्रकार छह हानिस्थान के विषय में जान लेना चाहिये । ये सब हानि व वृद्धि असंख्यात समयों में होती है । सिद्धान्त के विरुद्ध एकसमय में षट्स्थानवृद्धि व हानि का कथन उचित नहीं है । अनार्ष-ग्रन्थों में सिद्धान्त-विरुद्ध कथनों की संभावना रहती है । अतः आर्षग्रन्थों का स्वाध्याय करना उचित है । अनार्ष पुस्तकों को पढ़ने से सिद्धान्त विरुद्ध धारणा बन जाती है, जैसा कि प्रायः देखा जाता है ।

—जै. ग. 12-2-76/VI/ ज. ला. जैन

आत्मा में वैभाविक शक्ति नहीं; स्वाभाविक शक्ति है

शंका—आत्मा में स्वाभाविकशक्ति है या वैभाविकशक्ति है या दोनों शक्तियाँ हैं ?

समाधान—आत्मा में वैभाविकशक्ति तो है नहीं, क्योंकि किसी भी दि० जैनाचार्य ने आत्मा में वैभाविक-शक्ति का कथन नहीं किया है । समयसार की आत्मव्याप्ति संस्कृत टीका के अन्त में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने आत्मा की ४७ शक्तियों का कथन किया है, उसमें भी वैभाविकशक्ति का कथन नहीं किया गया, किन्तु निम्न स्वाभाविक शक्तियों का कथन पाया जाता है—

“सकलकर्मकृतज्ञातृत्वमात्रातिरिक्तपरिणामकरणोपरमात्मिका अकतृत्वशक्तिः । सकलकर्मकृत, ज्ञातृत्वमात्रा-तिरिक्तपरिणामानुभवोपरमात्मिका अभोक्तृत्वशक्तिः । सकलकर्मोपरमप्रबुद्धात्मप्रवेशनैव्यवस्था निष्क्रियत्वशक्तिः ॥”

अकर्तृत्वशक्ति, अभोक्तृत्वशक्ति, निष्क्रियत्वशक्ति ये स्वाभाविकशक्ति हैं, इनके विपरीत क्रियावती आदि वैभाविकशक्ति का कथन आर्षग्रन्थों में नहीं पाया जाता है। कर्मोदय के कारण इन शक्तियों का विपरीत परिणाम सम्भव है। जैसा कि श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—

“यतः परिणामस्वभावत्वेनात्मनः सप्तार्चिः संगतं तोयमिवावश्यं भावविकारत्वतलौकिकसंघातसंघतोऽप्यसंयत एव स्यात् ।”

क्योंकि आत्मा परिणामस्वभाववाला है इसलिये लौकिकसंग से विकार अवश्यम्भावी है अतः संयत भी असंयत हो जाता है। जैसे अग्नि के संयोग से जल उष्ण हो जाता है।

इसप्रकार आत्मा में स्वाभाविकशक्ति तो है, किन्तु वैभाविकशक्ति या क्रियावतीशक्ति नहीं है।

—दो. ग. 1-1-76/VIII/.....

अशुद्ध जीव में पर्यायरूप वैभाविक शक्ति होती है; द्रव्यरूप नहीं

शंका—समयसार के अन्त में ४७ शक्तियों का कथन है। वे शुद्धजीव की ही शक्तियाँ हैं या संसारी की भी? विभावरूप परिणामन करने की शक्ति भी कोई विशेष होती है क्या?

समाधान—४७ शक्तियाँ प्रत्येक जीव में हैं। उनमें से कुछ ऐसी शक्तियाँ हैं जो संसारीजीव के प्रगट नहीं हुईं। श्री अरहंत भगवान व सिद्धभगवान के प्रगट हो गई हैं जैसे सर्वदर्शिस्व शक्ति, सर्वज्ञत्वशक्ति। कुछ ऐसी शक्तियाँ हैं जो मात्र श्री सिद्धभगवान के व्यक्त हैं जैसे अमूर्तत्वशक्ति।

विभावरूप परिणामन करने की शक्ति अर्थात् वैभाविकशक्ति पर्यायशक्ति है। जो अशुद्ध जीव के होती है। जीव की अशुद्ध अवस्था का अभाव होने पर वैभाविकशक्ति का भी अभाव हो जाता है। कहा भी है—

“अव्यजीव की अशुद्धपरिणति को अशुद्धशक्ति कारण कहना हो तो उसे जीव के विभावपरिणाम की या अशुद्धजीव की शक्ति कहना होगा, क्योंकि उसके विभावों का अभाव होते ही उसकी अशुद्धि का भी अभाव हो जाता है। दूसरी बात यह है कि जिसप्रकार शुद्धशक्ति की अभिव्यक्ति हो जाने पर वह पारिणामिक नित्य होने से काल-द्रव्य के निमित्त से उसका शुद्ध परिणामन होता रहता है, उसीप्रकार अशुद्धि का अभाव होने पर भी अशुद्धशक्ति जीव के साथ तादात्म्यसम्बन्ध को प्राप्त हुई होने से जीव की शुद्धावस्था में भी जीवाश्रित रहती है। ऐसा माना तो जीव की शुद्ध अवस्था में भी उस शक्ति का कालद्रव्य के निमित्त से अशुद्धपरिणामन होता ही रहेगा, किन्तु शुद्ध जीव के अशुद्धपरिणामन का सद्भाव न शास्त्र सम्मत है और न युक्ति सिद्ध है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अशुद्ध वने हुए अव्यजीव की अशुद्धशक्ति अनाविस्तांत है, वह अशुद्धजीव के विभावपरिणाम की शक्ति है, शुद्धजीव की नहीं है।” (फलटन नगरस्थ श्री वृषभनाथ दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित समयसार पृ० १२५)

—ज. ग. 4-2-71/VII/ कस्तूरचन्द्र

वैभाविकशक्ति तथा वैभाविकगुण

शंका—वैभाविकशक्ति तथा वैभाविकगुण में क्या अन्तर है? क्या ये दोनों पदार्थों में नित्यरूप से रहते हैं? क्या वैभाविकगुण निश्चररूप से द्रव्य में रहता है और वैभाविकशक्ति अनित्यरूप से रहती है?

समाधान—आर्षग्रन्थों में वैभाविकगुण या वैभाविकद्रव्यशक्ति का कथन नहीं है, यदि अनार्षग्रन्थों में ऐसा कथन हो तो वह उससमय तक माननीय नहीं हो सकता जब तक कि उसका समर्थन किसी आर्षवाक्य के द्वारा न हो जावे। अनार्षग्रन्थ में यदि एक भी कथन सिद्धांतविरुद्ध पाया जाता है तो उसके ग्रन्थ कथन को भी श्रद्धादृष्टि से नहीं देखा जा सकता, जब तक यह सिद्ध न हो जावे कि वह कथन आर्षानुकूल है। वैभाविकगुण तो ही नहीं सकता है, क्योंकि द्रव्य के शुद्धस्वभाव के अनुसार द्रव्य का परिणमन होने पर वैभाविकगुण निरर्थक हो जायगा। वैभाविकद्रव्यशक्ति भी नहीं हो सकती है किन्तु अशुद्धद्रव्य की पर्यायशक्ति हो सकती है। द्रव्य के शुद्ध हो जाने पर उस वैभाविकपर्यायशक्ति का अभाव हो जाता है।

आत्मा में क्रियावतीशक्ति नहीं है, किन्तु निष्क्रियत्वशक्ति है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार के अन्त में ४७ शक्तियों का कथन किया है उसमें २३ वीं निष्क्रियत्वशक्ति है। निष्क्रियत्वशक्ति का स्वरूप इस-प्रकार है—

‘सकलकर्मापरमप्रवृत्तात्मप्रदेशनेष्पंक्षरूपा निष्क्रियत्वशक्तिः ।’

समस्त कर्मों के उपशमसे प्रवृत्त आत्मप्रदेशों की निस्पन्दता स्वरूप निष्क्रियत्वशक्ति है। जब तक शरीरनामकर्मोदय रहता है उसके निमित्त इस निष्क्रियत्वशक्ति का क्रियारूप (प्रदेश परिस्पन्दरूप) विभावपरिणमन होता है। कर्मों का क्षय हो जाने पर निष्क्रियत्वशक्ति का निस्पन्दता स्वाभाविकस्वरूप हो जाता है।

यदि श्री अमृतचन्द्राचार्य की वैभाविकद्रव्य शक्ति की मान्यता इष्ट होती तो ४७ शक्तियों में वैभाविकशक्ति का भी अवश्य कथन करते। इससे स्पष्ट है कि वैभाविकशक्ति की मान्यता श्री अमृतचन्द्राचार्य को इष्ट न थी।

अनन्त पुद्गलपरमाणुओं का परस्पर बंध से घटपर्याय उत्पन्न होने पर उसमें जलधारणरूप पर्यायशक्ति उत्पन्न होती है, किन्तु घट के नष्ट होने पर जलधारणरूप पर्यायशक्ति भी नष्ट हो जाती है। उसीप्रकार जीव और पुद्गल के परस्परबंध से विभावरूप परिणमनशक्ति है, मुक्त हो जाने पर विभावपरिणमनरूप वैभाविकपर्यायशक्ति का भी अभाव हो जायगा।

—जौ. म. 6-1-72/VII/.....

सिद्धों में भोक्तृत्व का सद्भाव कैसे ?

शंका—त. रा. वा. अध्याय २ सूत्र ७ वातिक १३ में ‘भोक्तृत्व’ को जीव का साधारण पारिणामिकभाव कहा गया है। इस भाव का सद्भाव सिद्धों में कैसे सम्भव है ?

समाधान—सिद्धभगवान् प्रतिसमय अध्यावाधसुख को भोगते हैं इसलिये सिद्धों में भोक्तृत्व पारिणामिकभाव है। भव्यसिद्धिक पारिणामिकभाव का तो, साक्षात् सिद्ध हो जाने पर, अभाव हो जाता है, क्योंकि वे अब होने वाले सिद्ध नहीं हैं, किन्तु सिद्ध हो चुके हैं।

—पतावार/ज. ला. जैन; भीण्डर

साधारण संसारी जीव के अस्तित्व वस्तुत्वादि गुण अशुद्ध परिणमन करते हैं

शंका—मिथ्यादृष्टि अर्थात् साधारण संसारीजीव के निम्नगुण क्या शुद्धरूप परिणमन करते हैं—(१) अस्तित्व अर्थात् सत्ता गुण, (२) वस्तुत्व, (३) प्रवेशत्व, (४) अगुहलघुत्व, (५) प्रमेयत्व, (६) अकार्य-कारणत्व, (७) नित्यत्व, (८) गुणत्व ?

समाधान—गुण का लक्षण इसप्रकार है—

“द्रव्याभ्रया निर्गुणा गुणाः” मोक्षशास्त्र ५/४१ ।

जो द्रव्य के आभ्रय हों प्रीर स्वयं निर्गुण हों वे गुण हैं । पर्यायाश्रित गुण नहीं होते, क्योंकि पर्याय कादाचित्क होती है । तत्त्वार्थवृत्ति में कहा भी है—

“ये नित्यं द्रव्यमाश्रित्य वर्तन्ते त एव गुणा भवन्ति न तु पर्यायाभ्रयगुणा भवन्ति, पर्यायाश्रिताः गुणाः कादाचित्काः कदाचित् भवा वर्तन्ते इति ।” इसका भाव ऊपर कहा गया है ।

(१) अस्तित्व अर्थात् सत्गुण का लक्षण इसप्रकार है—“उत्पादव्ययघ्नोऽध्ययुक्तं सत् ॥ ५।२९ ॥ संसारी चतुर्भूति में भ्रमण के कारण विकारीपर्यायों का उत्पाद व व्यय हो रहा है । श्री कुन्वकुन्वाचार्य ने कहा भी है—

परणारयतिरियसुरा पञ्जाया ते विभावमिदि भणिदा ।

कम्मोपाधि विवजिजय पञ्जाया ते सहावमिदि भणिदा ॥ १५ ॥ नियमसार

मनुष्य, नारक, तिर्यंच, देव ये विभावपर्यायों हैं तथा कर्मरहित जो पर्याय है वह स्वभावपर्याय है यदि कहा जाय कि पर्याय अशुद्ध है किन्तु द्रव्य तो शुद्ध है सो भी कहना उचित नहीं है, क्योंकि द्रव्य ने ही तो अशुद्धपर्यायरूप परिणमन किया है, और उससमय वह द्रव्य उस अशुद्धपर्याय से तन्मय है ।

परिणमवि जेण दब्बं, तवकालं तम्मयं स्ति पणत्तं ।

तस्सा धम्मपरिणयो, आदा धम्मो सुणीयस्वो ॥ ८ ॥ प्रवचनसार

द्रव्य जिससमय में जिसपर्याय से परिणमन करता है, उससमय वह द्रव्य उसपर्यायरूप है ऐसा श्री जिनेन्द्र-देव ने कहा है । इसलिये धर्मपरिणत आत्मा को धर्म जानना चाहिये । अतः संसारी जीव का सत्तागुण विभावरूप हो रहा है ।

(२) वस्तुत्वगुण का लक्षण इसप्रकार है—“वसन्ति द्रव्यगुणपर्याया अस्मिन्निति वस्तु ।” स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. २४२ की टीका । जिसमें द्रव्यगुणपर्याय बसते हैं (रहते हैं) वह वस्तु है । संसारी जीव का द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों विकारी अर्थात् अशुद्ध हो रहे हैं अतः वस्तुत्वगुण भी अशुद्ध परिणमन कर रहा है ।

(३) प्रदेशत्वगुण—संसारीजीव के प्रदेशों में निरन्तर संकोच-विकोच होता रहता है । कभी संसारीजीव अधिकक्षेत्र में व्याप्त होकर रहता है, कभी स्तोकक्षेत्र व्याप्त कर रहता है अतः प्रदेशत्वगुण अशुद्ध हो रहा है, क्योंकि ‘प्रदेशत्वं क्षेत्रत्वं’ ऐसा श्री देवसेनाचार्य ने आलापपद्धति में कहा है ।

(४) अगुरुलघुत्व—अगुरुलघुत्वगुण का आविर्भाव सिद्धों में होता है, संसारावस्था में तो कर्मोदय के द्वारा अगुरुलघुत्व होता है । कहा भी है—“मुक्तजीवानां कथमिति चेत् ? अनाविकर्मनो कर्मसंबन्धानां कर्मोदयकृतमगुरुलघुत्वम्, तवत्यन्तविनिवृत्तौ तु स्वाभाविकमाविर्भवति ।” [२।० वा० ८।१।१।१२] अतः संसारीजीव के अगुरुलघुत्वगुण भी अशुद्ध हो रहा है ।

(५) प्रमेयत्व—मिथ्यादृष्टिजीव को स्व का यथार्थ बोध नहीं होता है अतः स्वज्ञान का विषय न होने से यद्यपि प्रमेयत्वगुण को अशुद्ध कहा जा सकता है तथापि स्वाभाविकज्ञान का विषय होने की अपेक्षा अशुद्ध नहीं भी कहा जा सकता है । मिथ्यादृष्टिजीव अशुद्ध होने के कारण अशुद्धरूप ही प्रमेय होगा ।

(६) अकार्य-कारणत्व धर्म है, गुण नहीं है। द्रव्याधिकनय की अपेक्षा प्रत्येकद्रव्य अकार्य व अकारण है, किन्तु पर्यायाधिकनय की अपेक्षा कार्य-कारण भी है। द्रव्य पूर्वपर्यायसहित कारण है और उत्तरपर्याय कार्य है। स्वामिकातिक्रियानुप्रेक्षा में कहा भी है—

पुष्टपरिणामजस्तं कारण, भावेण वट्टदे वव्वं ।

उत्तरपरिणामजुव तं चिय, कज्जं हवे गियमा ॥ २२२ ॥

(७) नित्यत्व भी धर्म है, गुण नहीं है। द्रव्यदृष्टि से द्रव्य नित्य है, किन्तु पर्यायाधिकनय से द्रव्य अनित्य है। श्री कुम्भकुन्द आचार्य ने कहा भी है—

उप्यत्तो व विणासो वव्वस्स. य णत्थि अत्थि सब्भावो ।

विगमुप्पावधुवत्तं करंति, तस्सेव पज्जाया ॥ ११ ॥ पंचास्तिकाय

टीका—“द्रव्यार्थापेक्षायामनुत्पादमनुच्छेदं सस्त्वभावमेव द्रव्यं, तदेव पर्यायार्थापर्यणयां सोत्पावं सोच्छेवं चावबोद्धव्यम् ।”

द्रव्य का उत्पाद या विनाश नहीं है सद्भाव (नित्य) है। उसी की पर्यायें उत्पाद, विनाश और ध्रुवता को करती रहती हैं। इसलिये द्रव्याधिकनय से द्रव्य उत्पादरहित, विनाशरहित, सत् (नित्य) स्वभाववाला जानना चाहिये। और वही द्रव्य पर्यायाधिकनय से उत्पादवाला तथा विनाशवाला (अनित्य) जानना चाहिये।

(८) गुणत्व कोई गुण नहीं है। आलापपद्धति सूत्र ९ व ११ में सामान्य गुणों व विशेष गुणों का कथन है। उसमें ‘गुणत्व’ भी कोई गुण है, ऐसा कथन नहीं पाया जाता है। द्रव्य गुणवान है ऐसा कथन तो आर्ष-ग्रन्थों में पाया जाता है, किन्तु गुणत्व भी कोई स्वयं पृथक् गुण है। ऐसा आर्षग्रन्थों में देखने में नहीं आया है।

—जै. ग. 26-2-76/VIII/ ण. ला. जैन, भीण्डर

मिथ्यातवी के समस्त गुण अशुद्ध परिणामन ही करते हैं

शंका—सम्पादक सन्मत्तिसंदेश ने लिखा है कि “समस्त संसारियों के अनन्तबैभागप्रमाण गुण शुद्ध भी हैं, बाकी सब गुण अशुद्ध हैं।” क्या संसारी मिथ्यादृष्टि जीवों के गुण शुद्ध हो सकते हैं ?

समाधान—संसारी मिथ्यादृष्टि जीव के सभी भाव अशुद्ध होते हैं। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार आत्मलयाति में कहा भी है—“सर्वेष्वज्ञानमया अज्ञानिनो भावाः ।” अज्ञानी मिथ्यादृष्टि के सर्वभाव (द्रव्य, गुण, पर्याय) अज्ञानमय अर्थात् अशुद्ध होते हैं। यदि शंकाकार यह लिख देता कि मिथ्यादृष्टि के कौन-कौन गुण शुद्ध होते हैं तो विशेष विचार हो सकता था। सन्मत्तिसंदेश भी मेरे पास नहीं है। मात्र शंका के आधार पर उत्तर दिया गया है।

—जै. ग. 22-4-76/VIII/ जै. एल. जैन

- (१) संसारी जीवों के केवलज्ञान का अभाव है
- (२) मतिश्रुत केवलज्ञान के कथंचित् अंश हैं
- (३) वेदक सम्यक्त्व, राग आदि पर्यायें हैं

शंका—क्या संसारी जीवों के केवलज्ञान की अभी औद्यिकपर्याय चल रही है ? क्या मतिश्रुतज्ञान केवलज्ञान के अंश हैं ? यदि हैं तो किस अपेक्षा से ? क्या क्षयोपशमसम्यक्त्व व चारित्ररूप हैं, अथवा पर्यायरूप ? विस्तृत समझाइये ।

समाधान—जैसे स्पर्श गुण एक है, किन्तु उसके ८ भेद हैं । उनमें से ४ भेद एक साथ रहते हैं । औदारिकशरीरवर्गणा, वैक्रियिकशरीरवर्गणा और आहारकशरीरवर्गणा तो आठस्पर्श वाली होती है; किन्तु तैजस, भाषा, मन व कार्मणवर्गणा ४ स्पर्शवाली होती है । [धवल पु० १४ पृ० ५५५-५५९] इसीप्रकार ज्ञान के ५ भेद हैं । उनमें से ४ ज्ञानों की क्षायोपशमिकपर्याय तथा केवलज्ञान की औद्यिकपर्याय होती है । क्षायोपशमिक ज्ञान तभी तक सम्भव है जब तक कि ज्ञानावरणकर्म है, किन्तु इस कर्म का क्षय हो जाने पर क्षायिक-केवलज्ञान की क्षायिक-पर्याय प्रकट होती है तथा ज्ञान की क्षायोपशमिकपर्याय नष्ट हो जाती है । ज्ञान के ये पाँच भेद भेदविवक्षा से हैं । अभेदविवक्षा में ज्ञान एक है । छद्मस्यभवस्था में उसके कुछ अविभागप्रतिच्छेद प्रकट रहते हैं । और शेष अविभाग-प्रतिच्छेदों पर आवरण रहता है । निमोदिया लब्धपर्याप्तक के सर्वज्ञघन्य ज्ञान के जितने अविभागप्रतिच्छेद प्रकट हैं वे पूर्णज्ञान के अविभागप्रतिच्छेदों के अंश हैं । वे ही बढ़ते-बढ़ते पूर्णज्ञान (केवलज्ञान) के अविभागप्रतिच्छेद हो जायेंगे । जैसे द्वितीया का चन्द्रमा बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमा का चन्द्रमा हो जाता है उसी प्रकार यहाँ भी ज्ञातव्य है । जैसे द्वितीया का चन्द्र पूर्णिमा के चन्द्र का अंश है उसी प्रकार अविभागप्रतिच्छेदों की अपेक्षा सूक्ष्मलब्धपर्याप्तक का पर्यायज्ञान भी केवलज्ञान का अंश है । केवलज्ञान मंगलरूप है; इसलिये उसका अंशपर्यायज्ञान भी मंगलरूप है । क्षायोपशमिकज्ञान व क्षायिकज्ञान की अपेक्षा पर्यायज्ञान केवलज्ञान का अंश नहीं है ।

गुण अनादि-अनन्त हैं, ऐसा भी एकान्त नियम नहीं है । स्वाभाविक अगुरुलघुगुण का संसारी जीव के अभाव पाया जाता है । जिसका कि आठों कर्मों का क्षय होने पर आविर्भाव होता है ।

[राजवातिक अ० ८ सूत्र ११ वा० १२ एवं धवल पु० ६१५८]

अविभागप्रतिच्छेदों की अपेक्षा मतिज्ञान आदि पूर्ण ज्ञान के अंश हैं । इस अपेक्षा से ये गुण हैं । क्षायोप-शमिकज्ञान की दृष्टि से ये विभावपर्यायें हैं । इसीप्रकार क्षायोपशमिकसम्यक्त्व व क्षायोपशमिकचारित्र भी विभाव-पर्यायें हैं, विभावगुण नहीं । जैसे कि राग-द्वेष गुण नहीं हैं, किन्तु चारित्रगुण की विभावपर्यायें हैं ।

क्षायोपशमिकज्ञान की अपेक्षा मतिज्ञान आदि ज्ञानगुण की विभावपर्यायें हैं, क्योंकि इनमें देशवातिकर्मोदय की अपेक्षा है । इस दृष्टि से ये गुण नहीं हैं । अविभागप्रतिच्छेद की अपेक्षा ये स्वभाव [गुण] हैं, क्योंकि पूर्णज्ञान के अंश हैं ।

पार्वग्रन्थों में जितना भी कथन है वह सब किसी न किसी अपेक्षा को लिए हुए है । कोई विवक्षित कथन किस अपेक्षा से है, वह अपनी बुद्धि से समझने की बात है ।

—पृष्ठ 9-10-80/I-II/ ज. ला. जैन, भीण्डर

ज्ञेयत्व अथवा प्रमेयत्व

शंका—ज्ञेयत्व और प्रमेयत्व में शब्द भेद है या भाव (अर्थ) भेद भी है ?

समाधान—ज्ञान को ही प्रमाण कहा है । 'मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् । तत्प्रमाणे ॥ १० ॥' (मोक्षशास्त्र अध्याय १) । अर्थ—मति, श्रुत, अवाधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान हैं । वे पाँचों ही प्रमाण हैं । ज्ञान है सो ही प्रमाण है (परीक्षामुख अध्याय १ सूत्र १) । ज्ञान का जो विषय उसको 'ज्ञेय' कहते हैं और प्रमाण का जो विषय उसको 'प्रमेय' कहते हैं । ज्ञान और प्रमाण में जब भेद नहीं तो उसके विषय में भी भेद कैसे हो सकता है । यहाँ पर संशय विभ्रम, विमोहरहित ज्ञान से प्रयोजन है । (अतः ज्ञेयत्व व प्रमेयत्व में मात्र शब्द भेद है, अर्थ भेद नहीं) ।

—जै. सं. 22-1-59/V/ घा. ला. जैन, अलीगढ़ (टोंक)

पर्याय-सामान्य

परमाणु में शब्दरूप परिणत होने की शक्ति नहीं

शंका—'जैनसंदेश' में लिखा है—'अतः परमाणु में द्रव्यरूप से शब्दरूप परिणत होने की शक्ति विद्यमान है । यही द्रव्यशक्ति है ।' क्या यह कथन ठीक है ?

समाधान—एकप्रदेशी परमाणु में शब्दरूप परिणत होने की शक्ति विद्यमान नहीं है, किन्तु अनन्त परमाणुओं के साथ बंध को प्राप्त होकर भाषावर्णारूप स्कन्ध में परिणत हो जाने की शक्ति है । भाषावर्णारूप स्कन्ध में शब्दरूप परिणमन करने की शक्ति है जो बहिरंग कारणों के मिलने पर व्यक्त होती है अर्थात् भाषावर्णारूप शब्दरूप परिणम जाती है । श्री कुम्भकुम्भाचार्य ने भी लिखा है "सहो खंघ्र्यभबो" अर्थात् शब्द स्कन्धजन्य है ।

—जै. ग. 7-2-66/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

जीव की विभावशक्ति पर्यायरूप तथा अनित्य है

शंका—क्या जीव में विभावशक्ति नित्य है, क्योंकि वह अनादि है ?

समाधान—जीव में जो विभावशक्ति है वह अनित्य है क्योंकि पर्यायशक्ति है, द्रव्यशक्ति नहीं है । जबतक जीव कर्म से बंधा हुआ है अर्थात् अशुद्ध अवस्था है तभी तक जीव में विभावरूप परिणमन करने की शक्ति है । द्रव्यकर्म से मुक्त हो जाने पर जब जीव की शुद्धअवस्था हो जाती है तब जीव में विभावरूप परिणमन करने की शक्ति भी नहीं रहती है ।

पुगलविवाहवेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस ।

जीवस्स जा हु सत्तो कम्मगमकारणं जोगो ॥२१६॥ (जीवकाण्ड)

अर्थात् पुद्गलविवाकी शरीर-नामकर्म के उदय से मन, वचन, काय से युक्त जीव के कर्मों के ग्रहण करने की शक्ति योग है, अर्थात् क्रियावतीशक्ति है ।

किन्तु शरीरनामकर्म के अभाव में और समस्तकर्म क्षय हो जाने से स्वाभाविक निष्क्रियत्व शक्ति व्यक्त हो जाती है । कहा भी है—

"सकलकर्मोपरमप्रवृत्तात्मात्म प्रवेशनैःखंघ्र्यरूपा निष्क्रियत्वशक्तिः ।" (समयसार आश्रमख्याति)

कर्मबन्ध अनादि का है इसलिये वैभाविकशक्ति भी अनादि से है । किन्तु कर्मों का क्षय हो जाने पर वैभाविकशक्ति का भी अभाव हो जाता है ।

—जं. ग. 24-7-67/VII/ ज. प्र. म. कु.

विभाव नाम की कोई भिन्न द्रव्य-शक्ति नहीं है, यह पर्यायशक्ति है

शंका—गुणों में विभावरूप परिणमन होता है विभावशक्ति से । तो विभावनामकी शक्ति गुणों से भिन्न है या गुणों में ही विभावरूप परिणमन होने की शक्ति है ।

समाधान—जबतक द्रव्यशुद्ध है उसके गुण भी शुद्ध हैं और उस शुद्धद्रव्य का परिणमन तथा उसके गुणों का परिणमन भी शुद्ध होता है अर्थात् स्वभावपरिणमन होता है । बंधदशा में द्रव्य अशुद्ध हो जाता है, क्योंकि उसका दूसरे द्रव्य से मेल अर्थात् बंध हो गया है । अशुद्धद्रव्य का विभावपरिणमन होता है और उसके गुणों का भी विभावपरिणमन होता है कहा भी है—

“शुद्धपरमाणो वर्णाद्वयः स्वभावगुणाः । द्व्यशुक्कादिस्कन्धे वर्णाद्वयो विभावगुणाः । शुद्ध परमाणुरूपेणावस्थानं स्वभावद्रव्यपर्यायः वर्णाद्विभ्यो वर्णान्तराविपरिणमनं स्वभावगुणपर्यायः । द्व्यशुक्कादिस्कन्धरूपेण परिणमनं विभावद्रव्यपर्यायः । तेज्ज्वेव द्व्यशुक्कादिस्कन्धेषु वर्णान्तराविपरिणमनं विभावगुणपर्यायः ।” पंचास्तिकाय गाथा ५ ।

अर्थात्—शुद्ध परमाणु में जो वर्णादिगुण हैं वे स्वभावगुण हैं । द्वि-अणुकादि स्कन्धों में जो वर्णादिगुण हैं वे विभावगुण हैं । शुद्धपरमाणुरूप स्वभावद्रव्यपर्याय है । और उसके गुणों में परिणमन स्वभाव गुणपर्याय है । द्विअणुक आदि स्कन्ध विभावद्रव्यपर्याय हैं और उन स्कन्धों के गुणों में परिणमन विभावगुणपर्याय है ।

विभावनाम की कोई भिन्न द्रव्यशक्ति नहीं है । दूसरे द्रव्य के साथ बन्ध हो जाने पर द्रव्यशुद्ध हो जाता है और उसमें विभावनामकी पर्यायशक्ति उत्पन्न हो जाती है । बंध का अभाव-हो जाने पर वह विभावशक्ति भी समाप्त हो जाती है ।

—जं. ग. 12-6-67/IV/ मू. घ शास्त्री

कथंचित् व्यंजन पर्याय अविनाशी है

शंका—व्यंजनपर्याय को यदि चिरकाल स्थित रहने वाली मान ली जावे तो द्रव्य में प्रतिसमय उत्पाद, व्यय, प्रीव्य कैसे संभव होगा ?

समाधान—द्रव्य में अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय दो प्रकार की पर्यायें होती हैं । उनमें से अर्थपर्याय समयवर्ती अर्थात् एकसमय की स्थितिवाली होती है । इस अर्थपर्याय की अपेक्षा द्रव्य में प्रतिसमय उत्पाद व व्यय होता रहता है । व्यंजनपर्याय चिरकाल तक रहनेवाली होती है । कोई-कोई व्यंजनपर्याय नाशवान भी नहीं होती, अनादि-अनन्त कालतक रहती है । श्री जयसेनाचार्य ने पंचास्तिकाय गाथा १६ की टीका में कहा भी है—

“तत्रार्थपर्यायाः सूक्ष्माः क्षणक्षयिणस्तथावागोचराविषया भवन्ति । व्यंजनपर्यायाः पुनः स्थूलाश्चिरकालस्थायिनो वागोचराश्छप्रत्यदृष्टिविषयाश्च भवन्ति । समयवर्तिनोऽर्थपर्याया भव्यते चिरकालस्थायिनो व्यंजनपर्याया भव्यते ।”

अर्थात्—‘अर्थपर्यायि’ सूक्ष्म होती हैं, क्षण-क्षण में नाशवान्, वचन के अगोचर और छद्मस्थ की दृष्टि का विषय नहीं होतीं । ‘व्यंजनपर्यायि’ स्थूल होती हैं, चिरकाल तक रहनेवाली, वचनगोचर और छद्मस्थ की दृष्टि का विषय होती हैं । एक-समयवाली पर्याय को अर्थपर्याय कहते हैं और चिरकालतक रहनेवाली पर्याय को व्यंजन-पर्याय कहते हैं ।

“ ण च विद्यंजनपञ्जायस्स सत्त्वस्स विणासेण होदब्बमिद्वि णियमो अस्थि, एयंतवाक्कप्पसंगादो ।”

धम्मल पु० ७ पृ० १७८ ।

अर्थात्—सभी व्यंजनपर्यायों का अवश्य नाश होना चाहिये, ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से एकास्तवाद का प्रसंग आजायगा ।

—जै. ग. 17-1-66/VIII/ ल. घ. जैन

अर्थपर्याय का लक्षण

शंका—अर्थपर्याय का क्या लक्षण है ?

समाधान—‘अर्थपर्यायाः सूक्ष्माः क्षणक्षयिणस्तथावागोचराविषया भवन्ति ।’ पंचास्तिकाय गाथा १६ शी जयसेनाचार्य की टीका । अर्थपर्याय सूक्ष्म होती है, क्षण-क्षण में नाश को प्राप्त होने वाली है । वचन के अगोचर है और किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है । अर्थात् एक समयवर्ती पर्याय को अर्थपर्याय कहते हैं ।

—जै. ग. 18-6-64/IX/ ब. लाभानन्द

(१) उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त द्रव्य

(२) पर्याय-पर्यायों के भेद एवं मेरु आदि पर्यायों को नित्यानित्यात्मकता का प्रदर्शन

शंका—मोक्षशास्त्र अध्याय ५ सूत्र ३० में “उत्पाद व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्त्वं” कहा है । द्रव्य जो है ध्रौव्य-रूप है, किन्तु पर्याय को अपेक्षा उत्पाद और व्यय होते हुए ही ध्रौव्य है । जो वस्तु की पर्याय उत्पन्न होती है उसका विनाश भी होता है, लेकिन जो अनादिनिघन तथा अनन्तान्त काल से ध्रौव्य है उसमें उत्पाद और व्यय किस अपेक्षा से समझा जाय ? उत्पाद किस पर्याय का होता है और व्यय किस पर्याय का होता है ? जैसे कि सूर्य चन्द्रमा और विमानादिक, द्वीप, समुद्रादिक, अकृत्रिमचैत्यालय प्रतिमादिक अनादि से हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे, तो इनमें कौनसी पर्याय की उत्पत्ति होती है और कौनसी पर्याय का व्यय होता है ?

समाधान—दिव्यध्वनि में भगवान का उपदेश दो नयों के अधीन हुआ है (१) द्रव्याधिक नय (२) पर्यायाधिकनय । इसी बात को श्री पंचास्तिकाय गाथा ४ की टीका में श्री असृतचन्द्राचार्य ने कहा है—

“द्वौ हि नयो भगवता प्रणीतौद्रव्याधिकः पर्यायाधिकश्च । तत्र न खल्वेकनयायत्तादेशना किंतु तदुभयायत्ता ।”

अर्थ—भगवान ने दो नय कहे हैं—द्रव्याधिक और पर्यायाधिक । वहाँ (दिव्यध्वनि में) कथन एक नय के अधीन नहीं होता, किन्तु दोनों नयों के अधीन होता है ।

द्रव्य नित्य—अनित्यात्मक है । द्रव्याधिकनय का विषय द्रव्य की नित्यता है और पर्यायाधिकनय का विषय द्रव्य की अनित्यता है ।

उत्पञ्जति विद्यंती य भाषा णियमेण पज्जवणयहस ।

वववद्वियस्स सव्वं सदा अणुप्पणमविण्ढुं ॥ ८ ॥ धवल पु० १ पृ० १३

अर्थ—पर्यायाधिकनय की अपेक्षा पदार्थ नियम से उत्पन्न होते हैं और नाश को प्राप्त होते हैं, किन्तु द्रव्याधिकनय की अपेक्षा सर्वपदार्थ सदा अनुत्पन्न और अविनष्ट स्वभाववाले हैं ।

जो अपनी पर्यायों को प्राप्त हो वह द्रव्य है । श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने पंचास्तिकाय गाथा ९ में कहा भी है—

“ववियवि गच्छदि ताइं ताइं सवभावपज्जयाइं जं ।

ववियं तं भणंते अणणभूवं तु सत्तावो ॥ ९ ॥

अर्थात्—जो उन-उन अपनी पर्यायों को द्रवित होता है प्राप्त होता है उसे द्रव्य कहते हैं और वह सत्ता से अनन्यभूत है ।

द्रव्य अपनी पर्यायों से अनन्य है, इसीलिये द्रव्य अपनी पर्यायों के प्रमाणस्वरूप है ।

पज्जयविज्जुदं दध्वं ववव विज्जुसा य पज्जया णत्थि ।

वोण्हं अणणभूवं भावं समणा परूवेति ॥ १२ ॥ पंचास्तिकाय

अर्थ—पर्यायों से रहित द्रव्य और द्रव्य से रहित पर्यायों नहीं होतीं, दोनों का अनन्तभाव है, ऐसा श्रमण अर्थात् महाश्रमण सर्वज्ञदेव ने कहा है ।

एय-ववियस्मि जे अत्थपज्जया वयण-पज्जया थावि ।

तीदाणागय-भूदा ताववियं तं वुवइ वव्वं ॥

अर्थ—एकद्रव्य में अतीत, अनागत और वर्तमानरूप जितनी अर्थपर्यायों और व्यंजनपर्यायों हैं तत्प्रमाण वह द्रव्य होता है ।

“अर्थव्यंजनपर्यायरूपेण द्विधा पर्याया भवन्ति । तत्रार्थपर्यायाः सूक्ष्मा क्षणक्षयिणस्तथावागोचराविषया भवन्ति । व्यंजनपर्यायाः पुनः स्थूलाश्चिरकालस्थायिनो वागोचराश्लक्ष्यस्य दृष्टिविषयाश्च भवन्ति । एते विभावरूपा व्यंजनपर्याया जीवस्य नरनारकादयो भवन्ति, स्वभावव्यंजनपर्यायो जीवस्य सिद्धरूपः । अशुद्धार्थपर्याया जीवस्य षट्स्थानगतकषायहानिवृद्धिविशुद्धिसंक्लेशरूपशुभाशुभलेश्यास्थानेषु ज्ञातव्याः । पुद्गलस्य विभावार्यपर्याया द्व्यणुकाविस्कन्धेषु वर्णान्तराविपरिणमनरूपाः । विभावव्यंजनपर्यायाश्च पुद्गलस्य द्व्यणुकाविस्कन्धेष्वेव चिरकालस्थायिनो ज्ञातव्याः । शुद्धार्थपर्याया अगुरुलघुक गुणवद्भट्टानिवृद्धिरूपेण पूर्वमेव सर्वद्रव्याणां कथिताः । एकसमय-वर्तिनोऽर्थपर्याया भण्यंते चिरकालस्थायिनो व्यंजनपर्याया भण्यंते ।” पंचास्तिकाय गाथा १६ टीका ।

अर्थात्—अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय के भेद से पर्यायों दो प्रकार की होती हैं । अर्थपर्याय सूक्ष्म है, क्षण-क्षण में नाश को प्राप्त होनेवाली है तथा वचन के अगोचर है । व्यंजनपर्याय स्थूल है, चिरकाल तक रहनेवाली है, वचनगोचर है तथा सूक्ष्मस्य के इन्द्रिय का विषय है । जीव की विभावव्यंजनपर्यायों नर, नारक आदि हैं और सिद्धरूप जीव की स्वभावव्यंजनपर्याय है । जीव की अशुद्ध अर्थपर्याय, विशुद्ध और संक्लेशरूप बुध-अशुभलेश्यास्थानों में कषाय की षट्स्थानवर्तित हानि-वृद्धिरूप जानना चाहिये । द्व्यणुकादि स्कन्धों में वर्णान्तर आदि परिणमनरूप पुद्गल की विभाव अर्थपर्याय है । पुद्गल की द्व्यणुक आदि स्कन्धरूप चिरकालतक रहनेवाली पर्याय पुद्गल की

विभावव्यंजनपर्याय जाननी चाहिये । अगुणलघुकगुण की षट्स्थानपतित हानि-वृद्धिरूप सर्वद्रव्यों की शुद्धअर्थपर्याय है । एकसमयतक रहनेवाली अर्थपर्याय है और चिरकाल तक रहनेवाली व्यंजनपर्यायें हैं ।

सभी व्यंजनपर्यायों का नाश अवश्य होना चाहिये, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर एकान्तवाद (एकान्तमिथ्यात्व) का प्रसंग आ जायगा । कहा भी है—

“ण च वियंजनपञ्जायस्स सव्वस्स विणासेण होइव्वमिदि णियमो अत्थि, एयंतवावप्प संगारो ।”

धवल पु० ७ पृ० १७८

इसलिये अनादि-अनन्त और सादि-अनन्त भी व्यंजनपर्यायें होती हैं, जैसे मेरु आदि पुद्गल की अनादि-अनन्त व्यंजनपर्यायें हैं और ‘सिद्ध’ जीव की सादि-अनन्तपर्याय है अर्थात् कर्मों के क्षय से सिद्धपर्याय उत्पन्न होती है, अतः वह सादि है । किन्तु सिद्धपर्याय का व्यय (नाश) नहीं होता इसलिये अनन्त है ।

“अनादिनित्यपर्यायाधिको यथा पुद्गलपर्यायो नित्यो मेवादिः । सादिनित्यपर्यायाधिको यथा सिद्धपर्यायो नित्यः ।” (आलापपद्धति)

यद्यपि व्यंजनपर्याय की अपेक्षा मेरु आदिरूप पुद्गल नित्य है तथापि अर्थ पर्याय की अपेक्षा उसमें प्रतिक्षण परिणामन हो रहा है । क्योंकि अर्थपर्याय सूक्ष्म है और बचन-अपोचर है, अतः उसका कथन होना सम्भव नहीं है ।

—जं. ग. 11-8-66/VII/ म. ला जैन

अर्थपर्याय तथा व्यञ्जनपर्याय का आगमोक्त स्वरूप

शंका—‘जैन सिद्धान्तप्रवेशिका’ पृ० ३५ व ३६ पर अर्थपर्याय व व्यंजनपर्याय का स्वरूप बतलाया है कि प्रदेशत्वगुण के विकार को व्यंजनपर्याय व अन्य समस्त गुणों के विकार को अर्थपर्याय कहते हैं । ऐसा ही कथन स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा पृ. ५७ पर किया है । क्या ये कथन ठीक हैं ?

समाधान—स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा पृ० ५७ पर भी पं० कैलाशचन्द्रजी ने प्रदेशत्व गुण के विकार को व्यंजनपर्याय और अन्य शेष गुणों के विकार को अर्थपर्याय कहते हैं, जो यह लिखा है वह उनका निजीमत है । मूलगाथा या संस्कृत टीका में ऐसा कथन नहीं है । इसीप्रकार पृ० १५३ पर भी पं० कैलाशचन्द्रजी ने अपनी कल्पना से कथन किया है । स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा के संस्कृत टीकाकार भी शुभचन्द्राचार्य ने तो अर्थपर्याय का लक्षण निम्नप्रकार बतलाया है—

“अर्थपर्यायः सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी उत्पादव्ययलक्षणः । सूक्ष्मप्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थसंज्ञकः इतिवचनात् ।”

स्वा० का० अ० गा० २७४ टीका

सूक्ष्म, प्रतिक्षण नाश होनेवाली उत्पाद-व्यय लक्षणवाली अर्थपर्याय है । आचार्य भी वसुनन्दि ने भी कहा है—

सुहृमा अवापविस्था खणखड्गो अत्था पञ्जया विट्ठा ।

वञ्जनपञ्जाया पुण भूला गिरगोयरा चिरविबत्था ॥२५॥ वसुनन्दि भावकाचार

—अर्थपर्याय सूक्ष्म है, ज्ञान का विषय है और क्षण-क्षण में नाश को प्राप्त होती रहती है । व्यंजनपर्याय स्थूल है, शब्दगोचर है, अर्थात् शब्दों द्वारा कही जा सकती है और चिरस्थायी है ।

श्री शुभचन्द्राचार्य ने भी ज्ञानार्थव में कहा है—

मूर्तो व्यंजनपर्यायो वाग्मस्योऽनश्वरः स्थिरः ।
सूक्ष्मः प्रतिक्षणव्यंसी पर्यायश्चायंसंज्ञिकः ॥ ६।४५ ॥

व्यंजनपर्याय मूर्तिक है, वचन के गोचर है, अनश्वर है, स्थिर है । अर्थपर्याय सूक्ष्म है क्षणविद्यंती है ।

श्री जयसेनाचार्य ने भी कहा है—

“तत्रार्थपर्यायाः सूक्ष्माः क्षणक्षयिणस्तथाऽवागोचराऽविषया भवन्ति । व्यंजनपर्यायाः पुनः स्थूलाश्चिरकाल-
स्थायिनो वाग्मोचराश्छद्यस्यदृष्टिविषयाश्च भवन्ति । समयवर्तिनोऽर्थपर्याया भव्यन्ते चिरकालस्थायिनो व्यंजनपर्याया
भव्यन्ते इति कालकृतो भेदः ।” (पंचास्तिकाय गा० १६ की टीका)

अर्थपर्याय सूक्ष्म है, प्रतिक्षण नाश होनेवाली है तथा वचन के अगोचर है । व्यंजनपर्याय स्थूल होती है, चिरकालतक रहनेवाली है, वचनगोचर व ग्रन्थज्ञानी के दृष्टिगोचर भी होती है । अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय में कालकृत भेद है, क्योंकि एकसमयवर्ती अर्थपर्याय है और चिरकालस्थायी व्यंजनपर्याय है ।

स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा पृ० ५७ व पृ० १५३ पर हिन्दी टीका में अर्थपर्याय व व्यंजनपर्याय का लक्षण जो श्री पं० कौलाशचन्द्रजी ने लिखा है वह उनका अपना मत है, जो आर्षवचनानुकूल नहीं है ।

—छं. ग. 2-3-72/VI/ कःतूरघन्द जैन

अर्थ पर्याय एवं व्यंजन पर्याय का स्वरूप एवं भेद

शंका—अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय का क्या-क्या लक्षण है ? शुद्धजीवद्रव्य में और अशुद्धजीवद्रव्य में कौनसी अर्थपर्याय है और कौनसी व्यंजनपर्याय है ?

समाधान—पर्याय दो प्रकार की है १ अर्थपर्याय २ व्यंजनपर्याय ।

“पर्यायास्ते द्वे धा अर्थव्यंजनपर्याय भेदात् ॥ १५ ॥” (आलापपद्धति)

सुहुमा अवायविसया खणखण्डणो अस्थपञ्जया विट्ठु ।

व्यंजनपञ्जया पुण सुत्ता गिरगोयरा चिरविद्यथा ॥ २५ ॥ वसुनन्दि भावकाचार

पर्याय के दो भेद हैं (१) अर्थपर्याय (२) व्यंजनपर्याय । इनमें अर्थपर्याय सूक्ष्म है, प्रत्यक्षज्ञान का विषय है, शब्दों से नहीं कही जा सकती और क्षण-क्षण में नाश को प्राप्त होती रहती है, किन्तु व्यंजनपर्याय स्थूल है, शब्दगोचर है और चिरस्थायी है ।

“तत्रार्थपर्यायाः सूक्ष्माः क्षणक्षयिणस्तथाऽवागोचरा विषया भवन्ति । व्यंजनपर्यायाः पुनः स्थूलाश्चिरकाल-
स्थायिनो वाग्मोचराश्छद्यस्यदृष्टिविषयाश्च भवन्ति । समयवर्तिनोऽर्थपर्याया भव्यन्ते चिरकालस्थायिनो व्यंजनपर्याया-
भव्यन्ते इति कालकृत भेदः ।” पंचास्तिकाय गा. १६ टीका

अर्थपर्याय सूक्ष्म है प्रतिक्षण नाश होने वाली है तथा वचन के प्रगोचर है और व्यञ्जनपर्याय स्थूल होती है चिरकाल तक रहनेवाली, वचनगोचर व अल्पशानी के दृष्टिगोचर होती है। अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्यायों में कालकृत भेद है, क्योंकि समयवर्ती अर्थपर्याय है और चिरकालस्थायी व्यञ्जनपर्याय है।

मूर्तो व्यञ्जनपर्यायो वागम्योऽनश्वरः स्थिरः ।

सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थसंज्ञिकः ॥६४५॥ जानानं व

अर्थ—व्यञ्जनपर्याय मूर्तिक है, वचनगोचर है, अविनश्वर है, स्थिर है, किंतु अर्थपर्याय सूक्ष्म है और क्षणविध्वंसी है।

‘अर्थपर्यायास्ते द्वेधा स्वभावविभावपर्यायभेदात् ॥१६॥’ आलापपद्धति

अर्थपर्याय दो प्रकार की होती हैं १. स्वभावपर्याय २. विभावपर्याय।

द्व्यगुणाण सहावा पज्जायं तह विहावो ऐयं ।

जीवे जीवसहावा ते वि विहावा ह् कम्मकदा ॥१९॥ (नयचक्र)

द्रव्यपर्याय व गुणपर्याय दोनों स्वभाव व विभाव के भेद से दो प्रकार की हैं। जीव में जीवत्व स्वभाव-पर्याय और कर्मकृत विभावपर्याय है।

‘कम्मोपाधिबिबज्जिय पज्जाया ते सहावमिदिभणिवा ।’ (नि. सा. गा. १५)

जो पर्याय कर्मोपाधि से रहित हैं वे स्वभावपर्याय हैं।

‘अगुरुलघुविकाराः स्वभावार्थपर्यायाः ।’

शुद्धद्रव्य में जो अगुरुलघुगुण का परिणाम है वह स्वाभाविक अर्थपर्याय है।

संसारावस्था में इस स्वाभाविक अगुरुलघुगुण का अभाव है इसलिये संसारावस्था में अगुरुलघुगुणकृत स्वभावपर्याय नहीं होती है। कहा भी है—

‘अगुरुत्वल्लुअत्तं णाम जीवस्स साहावियमत्थि चे ण संसारावत्थाए कम्मपरतंतम्मि तस्साभावा ।’

—धवल पु. ६ पु. ५८

अर्थ—अगुरुलघुत्व तो जीव का स्वाभाविक गुण है, वह नामकर्म की प्रकृति कैसे हो सकता है? नहीं, क्योंकि संसारावस्था में कर्मपरतन्त्र जीवके उस स्वाभाविक अगुरुलघुगुण का अभाव है।

लेश्या में प्रतिसमय षट्स्थानगत हानि या वृद्धि होती रहती है, यह जीव की विभावअर्थपर्याय है। कहा भी है—

‘विभावार्थपर्यायः षड्विधाः मिथ्यात्वकषायरागद्वेषगुण्यपावरूपाऽव्यवसायाः ॥१८॥’ आलापपद्धति

अर्थ—विभावअर्थपर्याय छह प्रकार की हैं १. मिथ्यात्व २. कषाय ३. राग ४. द्वेष ५. पुण्य ६. पावरूप छह अव्यवसाय हैं। अर्थात् संसारी जीव में मोहनीयकर्मोदय के कारण जो प्रतिसमय परिणमन होता है वह जीव की विभावअर्थपर्याय है।

‘अशुद्धार्थपर्याया जीवस्य षट्स्थानगतकषायहानिदृष्टि विशुद्धसंक्लेशरूपशुभाशुभलेश्यास्थानेषु जातव्याः ।’

—पंचास्तिकाय गाथा १६ टीका

अर्थ—कषायों की षट्स्थानगत हानि-दृष्टि विशुद्ध या संक्लेशरूप शुभ-अशुभ लेश्याओं के स्थानों में जीव की विभावअर्थपर्यायें जाननी चाहिये ।

द्रव्य और गुण इन दोनों की स्वभाव और विभाव दोनों प्रकार की पर्यायें होती हैं ।

‘व्यञ्जन पर्यायास्ते द्वेषा स्वभावविभावपर्यायभेदात् ।’

स्वभावव्यञ्जनपर्याय और विभावव्यञ्जनपर्याय के भेद से व्यञ्जनपर्याय दो प्रकार की है ।

‘विभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायाश्चतुर्विधा नरनारकादिपर्याया अथवा चतुरशीतिलक्षायोन्यः ॥१९॥’ आलापपद्धति
नर, नारकादिरूप चार प्रकार की अथवा चौरासीलाख योनिरूप जीव की विभावद्रव्यव्यञ्जनपर्याय है ।

‘विभावगुणव्यञ्जनपर्यायान्त्यादयः ॥२०॥’ आलापपद्धति

अर्थ—मतिज्ञानादिक जीव की विभावगुणव्यञ्जनपर्याय है ।

‘स्वभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायाश्चरमशरीरात् किञ्चिन्न्यूनसिद्धपर्यायाः ॥२१॥’ आलापपद्धति

अर्थ—अन्तिमशरीर से कुछ कम जो सिद्धपर्याय है वह जीव की स्वभावद्रव्यव्यञ्जनपर्याय है ।

‘स्वभावगुणव्यञ्जनपर्याया अनन्तचतुष्टयरूपा जीवस्य ॥२२॥’ आलापपद्धति

अर्थ—अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तधीर्य इस अनन्तचतुष्टयरूप जीव की स्वभावगुणव्यञ्जन पर्याय है ।

—ज. ग. 31-7-69/V/.....

शुद्ध द्रव्यों में स्वभावव्यञ्जनपर्याय विषयक ऊहापोह

शंका—शुद्धद्रव्यों में व्यञ्जनपर्याय होती है या नहीं ? आलापपद्धति में तो ‘व्यञ्जनेन तु सम्बद्धो अन्धो द्वो जीवपुद्गलो’ कहकर धर्मादिक के व्यञ्जनपर्याय का निषेध किया है । परन्तु जैनसिद्धांत प्रवेशिका में व्यञ्जनपर्याय की जो परिभाषा की है उसके अनुसार तो धर्मादिक के भी स्वभावव्यञ्जनपर्याय सिद्ध हो जाती है, क्योंकि धर्मादिक द्रव्यचतुष्टय का अपना नियत आकार अवश्य है । इसलिये सभी शुद्धद्रव्यों में भी स्वभावव्यञ्जनपर्याय सिद्ध हो जाती है ? ‘अभव्य’ गुणपर्याय है या द्रव्यपर्याय ? शुद्ध द्रव्यों में अर्थापर्याय का हेतु क्या है ?

समाधान—प्रवचनसार गाथा १३ की श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका तथा पंचास्तिकाय गाथा १६ की श्री जयसेनाचार्य कृत टीका से स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्यव्यञ्जनपर्याय विभावरूप ही होती है, क्योंकि समान जातीय और असमानजातीय द्रव्यव्यञ्जनपर्याय विभावरूप है । इसीलिये चार शुद्धद्रव्यों में विभावद्रव्यपर्याय अर्थात् द्रव्यव्यञ्जनपर्याय का निषेध किया है । इन ४ शुद्ध द्रव्यों में स्वभावव्यञ्जनपर्याय होती है, ऐसा किसी भी ग्रन्थ में नहीं कहा गया है । परमात्मप्रकाश अ० २ गाथा २८ की टीका में भी स्वभावव्यञ्जनपर्याय नहीं कही गई । अभव्य अनादि-अनन्त व्यञ्जनपर्याय है, किन्तु यह विभावगुण पर्याय है । शुद्धद्रव्यों में अगुरुलघुगुण के कारण स्वभाव अर्थ-पर्याय होती है ।

—पृष्ठ 25-11-79/ ज. ला. जैन, भीण्डर

ज्ञान सम्बन्धी विभाव गुण अर्थ पर्याय

शंका—अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त किसी वस्तु का मतिज्ञान (मतिज्ञानोपयोग) होता है, यह विभावगुणव्यंजनपर्याय है; क्योंकि छप्परखों के अन्तर्मुहूर्त बिना मात्र एक समय में विवक्षित वस्तु से उपयोग नहीं हटता। इसी विभाव-गुणव्यंजनपर्याय के अन्तर्मुहूर्त कालरूप अवधि में जो प्रतिसमय (केवली गम्य) मतिज्ञान का सूक्ष्म परिणमन है वह विभावगुण अर्थपर्याय ही हुई; मेरे खयाल से तो यह ठीक है। कृपया समाधान करें।

समाधान—प्रतिसमय नवीन-नवीन देशघाती मतिज्ञानावरणकर्म का उदय होने की अपेक्षा अर्थपर्याय (गुणअर्थपर्याय) घटित हो जाती है।

—पृष्ठ 25-11-79/ज. ला. जैन, भीषडर

द्रव्यपर्याय एवं गुणपर्याय के दो-दो भेद

शंका—आलापपद्धति की टीका के पृ० ५२ पर लिखा है—‘द्रव्यपर्यायों और गुणपर्यायों दोनों ही अर्थ एवं व्यंजनपर्याय के भेद से दो-दो प्रकार की होती हैं। इन पर्यायों का कथन सूत्रकार स्वयं करेंगे।’ इस कथन के अनुसार द्रव्यपर्याय के भी दो भेद होते हैं—१. द्रव्यव्यंजनपर्याय २. द्रव्यअर्थपर्याय। परन्तु आलापपद्धति में द्रव्यअर्थपर्याय का कथन नहीं है। द्रव्यव्यंजनपर्याय का कथन तो है, क्योंकि द्रव्यपर्याय व्यंजनपर्यायरूप होती है। द्रव्यअर्थपर्याय का कथन आलापपद्धति में कहाँ पर है ?

समाधान—आलापपद्धति गाथा संख्या १ में श्री देवसेनाचार्य ने अर्थपर्याय का कथन किया है। गाथा इसप्रकार से है—

अनाद्यनिधने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम् । उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले ॥१॥

अनादि-अनन्त द्रव्य में अपनी-अपनी पर्यायों प्रतिक्षण (प्रतिसमय) उत्पन्न होती रहती हैं और विनशती रहती हैं जैसे जल में लहरें उत्पन्न होती रहती हैं और विनशती रहती हैं। ‘जलकल्लोल’ द्रव्यपर्याय है तथा ‘द्रव्ये स्वपर्यायाः’ द्रव्य में अपनी-अपनी पर्याय; इन वाक्यों से स्पष्ट हो जाता है कि गाथा १ में द्रव्यपर्याय का कथन है। ‘प्रतिक्षणं उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति’ अर्थात् वे पर्यायों प्रतिक्षण (प्रतिसमय) उत्पन्न होती हैं और विनशती रहती हैं, यह वाक्य अर्थपर्याय का द्योतक है क्योंकि एकसमयवर्ती पर्याय अर्थपर्याय होती है और चिरस्थाधीपर्याय व्यंजनपर्याय होती है।

समयवर्तिनीऽर्थपर्याया भव्यन्ते, चिरकालस्थायिनो व्यंजनपर्याया भव्यन्ते। पं० का० गाथा १६। किन्तु इतनी भूल हुई कि टीका में यह अभिप्राय स्पष्ट नहीं किया गया।

द्रव्य का लक्षण उत्पाद, व्यय, धीव्य है। आलापपद्धति सूत्र ६ और ७ इसप्रकार हैं—

सद्द्रव्यलक्षणम् ॥६॥ उत्पादव्ययधीव्ययुक्तं सत् ॥७॥

यदि प्रतिसमय द्रव्य का उत्पाद-व्यय न हो तो द्रव्य के अभाव का प्रसंग आ जाएगा। द्रव्य का प्रतिसमय उत्पाद-व्यय होना ही अर्थ द्रव्यपर्याय को सिद्ध करता है। सुदर्शनमेरु आदि पुद्गलद्रव्य भी अनादि-अनन्त व्यञ्जन-द्रव्यपर्याय हैं, किन्तु प्रतिसमय उसमें से कुछ परमाणु निकलते रहते हैं और नवीन परमाणु आते रहते हैं, यह अर्थद्रव्यपर्याय है।

—पदाचार/ज. ला. जैन, भीषडर

पर्याय तथा द्रव्य का लक्षण

शंका—‘जैनसिद्धान्तप्रवेशिका’ में गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं और गुणों के विकार को पर्याय कहते हैं; ऐसा लिखा है। यह लक्षण ठीक है क्या ?

समाधान—तत्त्वार्थ सूत्र में ‘सद्द्रव्यलक्षणम् ॥२९॥ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥३०॥ गुणपर्ययवद्द्रव्यम् ॥३१॥’ द्रव्य के ‘सत्’, ‘उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य’ ‘गुण-पर्यायवाला’ ये तीन लक्षण दिये हैं। श्री कुन्वकुम्हाचार्य ने पंचास्तिकाय गाथा १० में भी ये ही तीनों लक्षण दिये हैं। तथा

गुणो द्रव्यविधानं स्यात् पर्यायो द्रव्य विक्रिया ।

द्रव्यं ह्युत्सिद्धं स्यात्समुदायस्तयोद्धोः ॥६/६॥ तत्त्वार्थसार

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी इस श्लोक में गुण और पर्याय इन दोनों के समूह को द्रव्य कहा है। प्रवचनसार गाथा ९३ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने द्रव्यपर्याय व गुणपर्याय दो प्रकार की पर्यायें बतलाई हैं। गुणों के समूह को द्रव्य और गुणविकार को पर्याय कहने से द्रव्यपर्याय छूट जाती है।

गुणों के बिना द्रव्य नहीं हो सकता और द्रव्य के बिना गुण नहीं हो सकते हैं इस अपेक्षा से गुण के समूह को द्रव्य कहा जा सकता है। गुण विकार को गुणपर्याय कहते हैं। सामान्य पर्याय का लक्षण ‘क्रमवर्ती’ है। ‘क्रमवर्तिनः पर्यायाः’ (आलापपद्धति)। ‘व्यतिरेको विशेषश्च भेदः पर्यायवाचकाः।’ अर्थात् व्यतिरेक, विशेष, भेद ये पर्याय के वाचक शब्द हैं—तत्त्वार्थसार। विद्वान् इस पर विशेष प्रकाश डालने की कृपा करेंगे।

—जै. ग. 1-4-71/VII/ ट. ला. जैन, मेरठ

विभावरूप गुण नहीं होता, विभावरूप तो पर्याय होती है

शंका—गुण तो अनादि-अनन्त हैं फिर संसारावस्था के विभागगुणों का मोक्ष अवस्था में नाश क्यों हो जाता है, क्योंकि मतिज्ञानादि गुणों का मोक्ष में तो नाश माना है ही। तब तो फिर गुण अनादि-सन्त हुए ना ? न कि अनादि अनन्त।

समाधान—विभागगुण नहीं होते। विभावपर्याय हैं।

—पृष्ठ 6-5-80/ ज. ला. जैन, भीण्डर

क्रमाक्रमवर्ती पर्यायों से अभिप्राय

शंका—क्रमवर्तीपर्याय और अक्रमवर्तीपर्याय से क्या अभिप्राय है ?

समाधान—‘गुणपर्ययवद्द्रव्यम् ।’ अर्थात् द्रव्य गुणपर्यायवाला है।

‘सहस्रबो गुणाः, क्रमवर्तिनः पर्यायाः’ ॥९२॥ (आलापपद्धति) अर्थात् द्रव्य के साथ रहनेवाला गुण है और क्रम से होनेवाली पर्याय है।

अक्रमवर्ती का अर्थ है क्रम से न हो अर्थात् सहस्रवर्ती हो अतः अक्रमवर्ती से गुण का ग्रहण होता है। परिणाम दो प्रकार के हैं—अनादि परिणाम और सादि परिणाम।

‘परिणामो द्विधा भिद्यते। अनाविरादिमाश्चेति। तत्रानादि घर्मादीनां गत्युपग्रहादिः। आविमारश्च बाह्य-प्रत्ययापावित्तोत्पादः।’ रा. वा. ५।४२।३

द्रव्य का परिणमन दो प्रकार का है । अनादिपरिणमन, दूसरा आदिपरिणमन । धर्मादि द्रव्यों का गति-उपग्रह आदि जो गुण है वह अनादिपरिणमन है । बाह्य निमित्तों के कारण जो उत्पन्न होता है अर्थात् जो पर्याय उत्पन्न होती है और व्यय (नाश) होती है वह आदिमान परिणमन है । इस कथन से भी यह ज्ञात होता है कि अनादिपरिणमन अर्थात् क्रमवर्तीपर्याय गुण है । और क्रम-क्रम से उत्पन्न होने वाली अर्थात् आदिमान् परिणमन क्रमवर्तीपर्याय है ।

—जं. ग. 18-12-75/VIII/—

एक समय में एक गुण की एक ही पर्याय होती है

शंका—एकसमय में एकगुण की एक ही पर्याय होती है । क्या यह अकाट्य निरपवाद नियम है ।

समाधान—पर्याय क्रमवर्ती होती है और गुण सहवर्ती होते हैं । अतः एकद्रव्य में एकसमय में अनेकगुण युगपत् रहते हैं, किन्तु पर्याय एक ही होगी, क्योंकि पर्याय क्रमवर्ती है सहवर्ती नहीं है । अतः यह अकाट्य निरपवाद नियम है कि एकगुण को एकसमय में एक ही पर्याय होगी । गुण की पर्याय का लक्षण इसप्रकार है—

‘गुणविकाराः पर्यायाः ॥१५॥ क्रमवर्तिनः पर्यायाः ॥१६॥ (आलापपद्धति) क्रमभाविनः पर्यायाः । (नयचक्र) पर्येति समये समये उत्पन्नविनाशं च गच्छतीति पर्यायः । (स्वा. का. टीका)’

गुण का विकार पर्याय है । क्रम-क्रम से होनेवाली पर्याय है । अथवा जो समय-समय में उत्पन्न हो और विनाश को प्राप्त हो वह पर्याय है ।

—जं. ग. 29-1-76/VI/ जं. ला. जैन, भाण्डर

रागादि भाव और विकल्प भाव में अन्तर

शंका—रागादिभाव और विकल्पभावों में क्या अन्तर है ?

समाधान—रागादि भाव विकल्परूप ही हैं । जैसे कहा भी है—

‘अभ्यन्तरे सुखहं दुःखहमिति हर्षविषादकारणं विकल्प इति ।’ (वृ. द्र. सं. गा. ४१ टीका)

अन्तरंग में ‘मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ’ इसप्रकार का हर्ष-विषाद विकल्प है ।

‘विषयानन्दरूपं स्वसंवेदनं रागसम्बन्धित्तविकल्परूपेण सविकल्पम् ।’

विषयानन्दरूप जो स्वसंवेदन है वह राग के जानने रूप विकल्पस्वरूप होने से सविकल्प है ।

बृहद्ब्रह्मसंप्रहृ गाथा ४२ की टीका में ‘सम्मथ्णानं साकारं’ की व्याख्या इसप्रकार की है—

‘सम्यग्ज्ञानं भवति । तच्च कथंभूतं ? घटोऽयं पटोऽयमित्यादि ग्रहणव्यापाररूपेण साकारं सविकल्पं व्यवसायात्मकं निश्चयात्मकमित्यर्थः ।’

यहाँ पर घट-पट आदि के निश्चयात्मक जाननेरूप को साकार ज्ञानोपयोग है उसको भी विकल्प कहा है । दर्शन को निर्विकल्प कहा है, उसकी अपेक्षा ज्ञान को सविकल्प कहा गया है ।

—जं. ग. 2-12-71/VIII/ रो. ला. मित्तल

अनुभूति ज्ञान की पर्याय है

शंका—अनुभूति किसको कहते हैं ?

समाधान—चेतना अथवा ज्ञान को अनुभूति कहते हैं । कहा भी है—

“चेतयते अनुभवन्ति उपलभते विबन्तीत्येकार्थाश्चेतनानुभूत्युपलब्धिदेवनामैकार्थत्वात् ।”

पंचास्तिकाय गा० ३९ टीका

अर्थ—चेतना है, अनुभव करता है, उपलब्ध करता है और वेदना है ये एकार्थ हैं, क्योंकि चेतना, अनुभूति; उपलब्धि और वेदना का एक अर्थ है ।

“ज्ञेयज्ञातृत्वत्वतथानुभूतिलक्षणेन ज्ञानपर्यायेण ।” प्रवचनसार गा० २४२ टीका ।

ज्ञेयत्व और ज्ञातृत्व की तथा प्रकार अनुभूति जिसका लक्षण है वह ज्ञानपर्याय है । इसप्रकार श्री अमृतचन्द्राचार्य ने चेतना को अनुभूति कहा है ।

चेतन्यमनुभूतिः स्यात् सा क्रियारूपमेव च ।

क्रिया मनोवचःकायेष्वन्विता वर्तते ध्रुवम् ॥ ६ ॥ आलापपद्धति

टिप्पण—“अनुभूतिर्जीवाजीवादि पदार्थानां चेतनमात्रम् ।”

यहाँ पर भी श्रीमद्देवसेन आचार्य ने चेतन्य की अनुभूति कहा है । यह अनुभूति ज्ञान की पर्याय है ।

—जै. ग. 23-7-70/VII/ रो. ला. मित्तल

एक पर्याय दूसरी बार नहीं उत्पन्न होती । प्रागभाव, प्रध्वंसभाव तथा अत्यन्ताभाव की परिभाषा

शंका—क्या द्रव्य में अनादि से भूतकाल में जो पर्यायें अभी तक उत्पन्न नहीं हुईं ऐसी नवीन-नवीन पर्यायों की प्रतिसमय उत्पत्ति होती है या ये पर्यायें दुबारा भी उत्पन्न हो सकती हैं ? यदि ऐसा है तो स्वाभिकतिकेयानु-प्रेक्षा की गाथा २४३ व २४४ से भारी विरोध पैदा होता है क्या ?

समाधान—प्रतिसमय नवीन-नवीन पर्यायें उत्पन्न होती हैं । जो पर्यायें उत्पन्न हो चुकी हैं उनका तो प्रध्वंस होकर अभाव हो चुका है, वे पर्यायें पुनः उत्पन्न नहीं हो सकती हैं किन्तु उनके सङ्ग पर्यायें उत्पन्न हो सकती हैं । द्रव्य की एक पर्याय का दूसरी पर्याय में अत्यापोह अर्थात् इतरेतराभाव है, अन्यथा प्रतिनियत द्रव्य की सभी पर्यायें सर्वात्मक हो जायेंगी अर्थात् एकद्रव्य की विभिन्न पर्यायों में कोई भेद नहीं रहेगा । श्री समन्तभद्राचार्य ने देवागम स्तोत्र में इसप्रकार कहा है—

कार्य-द्रव्यमनादि स्यात्प्रागभावस्य निह्वये ।

प्रध्वंसस्य च घर्मस्य प्रध्वयेऽनन्तातां व्रजेत् ॥ १० ॥

सर्वात्मकं तत्रैकं स्यादव्याऽपोहं-ध्यतिक्रमे ।

अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्यते सर्वथा ॥ ११ ॥

पर्याय के उत्पन्न होने के पूर्व में जो अभाव है वह प्रागभाव है । इस प्रागभाव को न मानने पर घट-पटादि पर्यायें अपने-अपने स्वरूप लाभ (उत्पाद) के पूर्व में भी सद्भावरूप से विद्यमान ही रहनी चाहिये ।

प्रागभाव को न मानने पर घटादि पर्यायों के अनादि हो जाने का प्रसंग आ जाता है जो इष्ट नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष से विरोध आता है ।

पर्याय का विनाश प्रध्वंसाभाव है । इस प्रध्वंसाभाव को स्वीकार न करने पर घटादि पर्यायों का उत्पाद होने के पश्चात् कभी विनाश (व्यय) न होने से उनके अनन्तत्व का प्रसंग आता है । परन्तु ऐसा है नहीं क्योंकि घटादि पर्यायों का अपने-अपने उत्पाद के पूर्व में और विनाश (व्यय) के पश्चात् अवस्थान (सद्भाव) देखा नहीं जाता है ।

एकद्रव्य की एकपर्याय का उसकी दूसरी पर्याय में जो अभाव है, वह इतरेतराभाव है । इस इतरेतराभाव को न मानने पर प्रतिनियत की सभी पर्यायें सर्वात्मक हों जाती हैं ।

एकद्रव्य में दूसरे द्रव्यों के असाधारण गुणों का जो त्रैकालिक अभाव है वह अत्यन्ताभाव है । जैसे पुद्गल-द्रव्य में चैतन्यगुण का अभाव है । इसको न मानने पर एकद्रव्य का दूसरे द्रव्य में तादात्म्यसम्बन्ध हो जाने से चैतन्य-अचेतनद्रव्यों की कोई व्यवस्था नहीं रहेगी ।^१

—जं. ग. 18-6-70/V/ का. ना. कोठारी

शुद्ध गुण की पर्याय एक-अनेक भी होती हैं तथा एक भी ?

शंका—गुण की शुद्ध पर्याय एक होती है या अनेक ? यदि अनेक होती हैं तो कौनसे गुण की शुद्धपर्याय अनेक होती हैं ?

समाधान—हर एक गुण की शुद्धपर्याय एक भी होती है और अनेक भी होती हैं । अनेकान्त से दोनों कथन घटित हो जाते हैं ।

—जं. ग. / /

भव्यत्व व अभव्यत्व आत्मा के गुण हैं या पर्याय ?

शंका—भव्यत्व व अभव्यत्व आत्मा के गुण हैं या पर्याय ? यदि गुण हैं तो उक्त पर्यायें शुद्ध या अशुद्ध; कौनसी हैं ? यदि पर्यायें हैं तो किस गुण की पर्यायें हैं तथा वे शुद्धपर्यायें हैं या अशुद्धपर्यायें ?

समाधान—‘सिद्धपर्याय’ जीव की स्वभावव्यञ्जनपर्याय है । श्री जयसेनाचार्य ने पंचास्तिकाय में गाथा १६ की टीका में कहा भी है—‘स्वभावव्यञ्जनपर्यायो जीवस्य सिद्धरूपः ।’ संसारावस्था में जीव की ‘असिद्धपर्याय’ विभावव्यञ्जन पर्याय है । जीव की असिद्धपर्याय का काल दो प्रकार का है—अनादि-अनन्त और अनादि-सान्त । जिन जीवों के असिद्धपर्याय का काल अनादि-सान्त है वे भव्य हैं और जिनके अनादि-अनन्तकाल है वे अभव्य हैं । कहा भी है—अधाइकम्मच्चउष्कोदयजणिदमसिद्धत्तं णाम । तं दुविहं—अणादि अपज्जवसिदं अणादिसपज्जवसिदं चेदि । तस्य जेसिमसिद्धत्तमणादि-अपज्जवसिदं ते अभव्वा णाम । जेसिमवरं ते भव्यजीवा ।

अर्थ—चार-अघातिकर्मों के उदय से उत्पन्न हुआ असिद्धभाव है । वह दो प्रकार का है—अनादि-अनन्त और अनादि-सान्त । इनमें से जिनके असिद्धभाव अनादि-अनन्त है वे अभव्यजीव हैं और जिनके दूसरे प्रकार का है वे भव्यजीव हैं । [धवला पु० १४ पत्र १३] असिद्धपर्याय जीव की व्यञ्जनपर्याय है, अतः उस व्यञ्जनपर्याय

१. धवला १५।२६-३० तथा जयधवला १।२५१ भी देखें । ... सं०

का काल [भव्य व अभव्य] भी व्यंजनपर्याय है। कहा भी है—“अभव्यभावो नाम विद्यंजणपज्जाओ, तेस्सेवस्स विणासेण होदव्वमण्णहा दव्वत्तप्पसंगाओ त्ति ? होकु विद्यंजणपज्जाओ, ण च विद्यंजणपज्जायस्स सव्वस्स विणासेण होदव्वमिदि णियमो अस्थि, एयंतवाइप्पसंगाओ । ण च ण विणस्सवि त्ति दव्वं होवि, उप्पाय-ट्ठि-वि-संगसंगयस्स दव्वभावव्भुवगमाओ ।” [धवला ७।१७८]

शंका—अभव्यभाव जीव की एक व्यंजनपर्याय का नाम है, इसलिये उसका विनाश अवश्य होना चाहिए, नहीं तो अभव्यत्व के द्रव्य होने का प्रसंग आ जायगा ?

समाधान—अभव्यत्व जीव की व्यंजनपर्याय भले ही हो, पर सभी व्यंजनपर्याय का नाश अवश्य होना चाहिए। ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से एकान्तवाद का प्रसंग आ जायगा। ऐसा भी नहीं है कि जो वस्तु विनष्ट नहीं होती वह द्रव्य होनी ही चाहिए, क्योंकि जिसमें उत्पाद-व्यय और धीव्य पाये जाते हैं उसे द्रवरूप से स्वीकार किया गया है।^१

—जं. सं. 20-6-57/ / श्री दि० जैन स्याध्याय मण्डल, कुवामन

(१) भव्यभाव व अभव्यभाव पर्याय हैं।

(२) सदा मोक्ष जाते रहने पर भी अक्षय अनन्त होने से भव्यों का अभाव नहीं होता।

शंका—निश्चयनय में जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व, पारिणामिकभाव किस रूप में हैं ? आत्मा-आत्मा को समान बताते हुए भी उनकी शक्ति में भव्यत्व अभव्यत्व को विभेद रेखा क्यों डाली गई है ? भव्यों के मोक्षमग्न उपरान्त क्या सभी अभव्य नहीं रह जावेंगे।

समाधान—निश्चयनय की अपेक्षा से ‘शुद्ध चैतन्यरूप जो जीवत्व है’ वह अविनश्वर होने के कारण शुद्ध-पारिणामिकभाव कहा जाता है। निश्चय की अपेक्षा से भव्यत्व-अभव्यत्वभाव ही नहीं हैं, क्योंकि ये दोनों पर्याय के आश्रित होने से पर्यायार्थिक (व्यवहार) नय की अपेक्षा पारिणामिकभाव कहे जाते हैं। (वृ० द्रव्यसंग्रह गाथा १३ टीका)। द्रव्यार्थिक (निश्चय) नय की अपेक्षा भव्य व अभव्य दोनों जीवों में शक्ति समान है (वृ० द्रव्य-संग्रह गाथा १४ की टीका) किन्तु पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा भव्य में केवलज्ञानादि व्यक्त हो जावेंगे और केवल-ज्ञानादि जो अभव्य में शक्तिरूप से हैं, व्यक्त नहीं होंगे। भव्यत्व व अभव्यत्वभाव गुण या शक्ति नहीं है, किन्तु व्यंजनपर्याय है। श्री षट्खंडागम पुस्तक ७ पुष्ठ १७८ पर कहा है ‘अभव्यत्वजीव की व्यंजनपर्याय भले ही हो, पर सभी व्यंजनपर्याय का अवश्य नाश होना चाहिये, ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर एकान्तवाद का प्रसंग आ जायगा। ऐसा भी नहीं है कि जो वस्तु विनष्ट नहीं होती वह द्रव्य ही होनी चाहिये, क्योंकि जिसमें उत्पाद धीव्य और व्यय पाये जाते हैं उसे द्रवरूप से स्वीकार किया गया है।’

जीव में भव्य व अभव्य का भेद द्रव्यदृष्टि से नहीं है और न शक्ति की अपेक्षा से भव्य-अभव्य का भेद है। पर्यायदृष्टि से जीवों के भव्य व अभव्य ऐसे दो भेद हैं। पर्याय अनेक होती हैं। पर्याय की अपेक्षा से अनेक भेद हैं। जैसे संसारी व मुक्त; अस व स्थावर; एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तेन्द्रिय, चौन्द्रिय, पंचेन्द्रिय; नारकी, तिर्यंच, मनुष्य व देव; इत्यादि।

१. नोट—भव्यत्व व अभव्यत्व दोनों अनुद्धर्यंजनपर्याय हैं।

भव्यजीवों का प्रमाण अनन्त है । और अनन्त वही कहलाता है जो संख्यात या असंख्यातप्रमाणराशि के वध्य होने पर भी अनन्तकाल से भी समाप्त नहीं होता है । कहा भी है—व्यय के होते रहने पर भी अनन्तकाल के द्वारा भी जो राशि समाप्त नहीं होती, उसे महर्षियों ने 'अनन्त' इस नाम से विनिर्दिष्ट किया है । (षट्खंडागम पुस्तक ४ पृष्ठ ३३८) । भव्यजीव अनन्त होते हैं । सान्तराशि को अनन्तपना नहीं बन सकता, क्योंकि सांत को अनन्त मानने में विरोध आता है । यदि सव्यय और निराय राशि को भी अनन्त न माना जावे तो एक को भी अनन्त मानने का प्रसंग आ जायगा । व्यय होते हुए भी अनन्त का क्षय नहीं होता है, यह एकान्तनियम है, (षट्खंडागम पुस्तक १ पृष्ठ ३९२) । इस आगम प्रमाण से यह सिद्ध हो गया कि मोक्ष जाते हुए भी भव्यजीवों का अन्त नहीं होगा । अतः संसार में भव्य तथा अभव्यजीव सदा बने रहेंगे । इन दोनों में से किसी एक का कभी भी व्युच्छेद नहीं होगा ।

—जं. सं. 2-1-58/V/ ला. च. नाहटा

भव्यभाव व अभव्यभाव पर्याय हैं, गुण नहीं

शंका—२० जून १९५७ के जैनसंदेश में भव्य व अभव्यभाव को पर्याय बताया है, किन्तु सोनगढ़ से प्रकाशित मोक्षशास्त्र में पृ० २२७ पर भव्यत्व व अभव्यत्वभाव को अनुजीवी गुण कहा है । फिर उक्त जैनसंदेश में किये गये समाधान में आगम से विरोध क्यों आता है ?

समाधान—२० जून १९५७ के जैनसंदेश में किये गये उक्त समाधान में 'षट्खंडागमरूपी महान्ग्रन्थ द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि भव्यत्व-अभव्यत्वभाव पर्याय हैं गुण नहीं हैं ।' किसी आचार्यरचित ग्रन्थ में 'भव्यत्व व अभव्यत्वभाव को अनुजीवी गुण कहा हो' भेरे देखने में नहीं आया है । सोनगढ़ से प्रकाशित मोक्षशास्त्र टीका में भव्यत्व व अभव्यत्वभाव को अनुजीवीगुण कहा है, किन्तु वहाँ पर भी किसी दिग्ग्वर जैनाचार्य रचित ग्रन्थ का प्रमाण नहीं दिया है । सोनगढ़ की मोक्षशास्त्र टीका में अनेक ऐसी बातें लिखी गई हैं जो दिग्ग्वर जैनाचार्यों के मत से विरुद्ध हैं । अतः उक्त टीका को आगम कहना उचित नहीं है ।

श्री समयसार की टीका में भी श्री जयसेनाचार्य ने भी भव्यत्व-अभव्यत्वभाव को गुण नहीं माना है । वहाँ इसप्रकार कहा है—

'दशप्राणरूपं जीवत्वं भव्याभव्यत्वद्वयं तत्पर्यायार्थिक नयाश्रितत्वावशुद्धपारिणामिकभावसंज्ञामिति ।'

अर्थ—दशप्राणरूपी जीवत्वभाव, भव्यत्वभाव व अभव्यत्व ये तीनों अशुद्धपारिणामिकभाव हैं, क्योंकि ये भाव पर्यायार्थिकनय के आश्रित हैं । (गाथा ३२० पर तात्पर्यवृत्तिः टीका पृष्ठ ४२३ रायचन्द्र प्रथमाला) ।

वृहद्भव्यसंग्रह गाथा १३ की संस्कृत टीका में भी इसप्रकार कहा है—'कर्मजनित दशप्राणरूपं जीवत्वं भव्यत्वम् अभव्यत्वं चैतित्रयं, तद्विनश्वरत्वेन पर्यायश्रितत्वात्पर्यायार्थिकसंज्ञत्वावशुद्धपारिणामिकभावं उच्यते ।'

अर्थ—कर्म से उत्पन्न दशप्रकार के प्राणरूप जीवत्व, भव्यत्व तथा अभव्यत्व ये तीनों विनाशशील होने के कारण पर्याय के आश्रित होने से पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा अशुद्धपारिणामिकभाव कहे जाते हैं ।

इन उपर्युक्त दो आख्यात्मिकग्रन्थों के आधार से भी यह सिद्ध होता है कि भव्यत्व व अभव्यत्वभाव पर्याय हैं । यदि ये दोनों मात्र गुण होते तो इनको विनाशशील न लिखते । अभव्यत्वभाव विनाशशील होते हुए भी उसका विनाश नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक पर्याय का विनाश अवश्य होना चाहिये ऐसा एकान्त नहीं है (षट्खंडागम पुस्तक ७ पृष्ठ १७८) । भव्यत्वभाव का अभाव होता है ऐसा मोक्षशास्त्र अध्याय १० सूत्र ३ में श्रीमकुमास्वामी आचार्य ने कहा है, तथा राजवातिक टीका में श्री अकलंकदेव ने भी इसीप्रकार कहा है । अतः भव्यत्व-अभव्यत्वभाव गुण नहीं हैं ।

यदि भव्यत्व व अभव्यत्वभाव को गुण माना जावे तो द्रव्य की संख्या छह न रहकर सात हो जावेगी अर्थात् द्रव्य को सातप्रकार का मानना पड़ेगा । जिसप्रकार धर्म और अधर्मद्रव्य में सब गुण तो एकसार अर्थात् बराबर हैं, किन्तु मात्र एक गुण में अन्तर है । एक में गतिहेतुत्वगुण है दूसरे में स्थितिहेतुत्व गुण है । एक गुण के भिन्न होने से भिन्न-भिन्न जाति के दो द्रव्य जैनागम में माने गये हैं । इसप्रकार भव्य और अभव्य में समस्त गुण एकसार अर्थात् बराबर होते हुए भी एक में भव्यत्व गुण मानने से और दूसरे में उससे भिन्न अभव्यत्वगुण मानने से इनको भिन्न दो जाति के द्रव्य मानने पड़ेंगे, क्योंकि 'गुण विशेष से द्रव्यविशेष जानना चाहिये' ऐसा आगमवाक्य है (प्रवचनसार गाथा १३४, तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति) ।

श्रीमान् सिद्धान्तमहोदधि तर्करत्न पं० माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य ने 'भव्य' शब्द का निरुक्ति-अर्थ इसप्रकार किया है—“भविष्या, सिद्धी जेति” “भवितुं योग्यो भव्यः” इसप्रकार 'भू' धातु से 'यत्' प्रत्यय कर भविष्य योग्यता अनुसार बनाया गया शब्द ही भव्य को अन्तःसहित कर रहा है, क्योंकि सिद्धि हो जाने पर भव्यता मरकर भूतता उपज चुकी है । (जैनदर्शन सोलापुर, १० जनवरी १९५८ गृष्ठ ५) यदि 'भव्यत्व' को शक्ति भी स्वीकार किया जावे तो यह पर्यायशक्ति या अनित्यशक्ति है । नित्य या द्रव्यत्वशक्ति नहीं है ।

इसप्रकार २० जून १९५७ के जैन-संदेश में प्रकाशित समाधान में जो लिखा गया है वह आगमानुकूल है; यदि उसका सोनगढ़ मोक्षशास्त्र टीका से विरोध आता है तो आये, क्योंकि उक्त टीका आगम अनुकूल नहीं है ।

—जं. सं. 31-7-58/7-8-58/V/ हुलासचन्द

शुद्ध द्रव्यों में अर्थपर्याय का अस्तित्व

शंका—क्या शुद्धद्रव्यों में भी निरन्तर अर्थपर्यायरूप परिवर्तन होता रहता है ? विस्तार से स्पष्ट करें ।

समाधान—शुद्धद्रव्यों में भी अर्थपर्याय होती है, अन्यथा द्रव्य कूटस्थ हो जायगा और उत्पाद-व्यपारहित हो जाने से द्रव्य के अभाव का प्रसंग आयगा । शुद्धद्रव्यों में अगुरुलघुगुण के द्वारा प्रतिसमय नियतक्रम से षट्स्थान-पतित हानि-वृद्धिरूप परिणमन होता रहता है । यदि एकगुण में भी परिणमन होता है तो द्रव्य में परिणमन होना अवश्यम्भावी है, क्योंकि द्रव्य और गुण का त्रैकालिक तादात्म्य-सम्बन्ध है । यही कथन आलापपद्धति, प्रवचनसार गाथा ९३ तथा पंचास्तिकाय गाथा ५ एवं १६ की जयसेनाचार्य कृत टीका में है ।

—पृ. 16-11-79/ ज. ला. जैन, भीण्डर

(१) परिस्पन्द व क्रिया कथंचित् भिन्न हैं

(२) सिद्धों व परमाणुओं में गति सम्भव है, पर परिस्पन्द नहीं

शंका—क्रिया तथा परिस्पन्द में क्या अन्तर है ? गति तथा परिस्पन्द में क्या अन्तर है ? पुद्गलपरमाणु में किसरूप क्रिया होती है ? परिस्पन्दरूप या मात्र गतिरूप अथवा उभयस्वरूप ? सिद्धों की ऊर्ध्वगति में परिस्पन्द होता है या नहीं ?

समाधान—क्रिया तथा परिस्पन्द कथंचित् एक है, कथंचित् भिन्न है । इसीप्रकार गति व परिस्पन्द के विषय में जानना चाहिए । सुदर्शनमेरु तथा अकृत्रिम चंद्र-चंद्रयालयों में गतिरूप क्रिया तो नहीं होती, परन्तु प्रदेश-परिस्पन्द होता है । पुद्गलपरमाणु में गतिरूप क्रिया होती है, किन्तु प्रदेश-परिस्पन्द नहीं होता, क्योंकि वह एक-प्रदेशी है । पंचास्तिकाय में लिखा है—जीवानां सक्रियत्वस्य बहिरंगसाधनं कर्मनोरुर्ध्वपरिचयरूपाः पुद्गला इति

ते पुद्गलकरणाः । तदभावाद्भिन्निक्रमस्य सिद्धानाम् [पं० का० ९८ टीका] । समयसार में कहा है—सकलकर्मो-परमप्रवृत्तात्मप्रदेशानैवंपंखरूपा निष्क्रियत्वशक्तिः [सं० सार; आ० श्या०, परिशिष्ट, शक्ति सं० २३] इससे जाना जाता है कि सिद्धों के प्रदेश-परिस्पन्द नहीं होता; परन्तु ऊर्ध्वगमन तो प्रथमसमयवर्ती सिद्ध के है ही । घबला में भी कहा है—सिद्धों की ऊर्ध्वगति में परिस्पन्द नहीं होता । घ. पु. ७ पृ. १७, १८, ७७ तथा पु० १० पृ० ४३७ ।

—पृष्ठ 8-1-79/ज. ला. जैन; भीण्डट

सम्यग्दर्शन व ज्ञान पर्याय चारित्र बिना भी उत्पन्न होती हैं

शंका—तत्त्वार्थसूत्र में “सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि भोक्षमागं:” सूत्र है । यहाँ जिस सम्यग्ज्ञान का उल्लेख है, क्या वह सम्यग्ज्ञान चारित्र के अभाव में संभव है ? क्या जैनाचार्यों को यह मान्य रहा है कि किसी चारित्रहीन व्यक्ति को सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त हो जाता है ?

समाधान—एक नहीं अनेक महान् विगम्बरचार्यों का मत रहा है कि चारित्रहीन अर्थात् चारित्ररहित व्यक्ति को सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो जाता है । असंख्यात नारकी, तिर्यंच और देव ऐसे हैं जिनको सम्यग्दर्शन-ज्ञान तो प्राप्त है, किन्तु चारित्र नहीं है अर्थात् चारित्रहीन हैं । सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी भोगभूमिया मनुष्य भी चारित्रहीन अर्थात् चारित्ररहित हैं ।

असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानवाले के सम्यग्ज्ञान तो है, क्योंकि सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान युगपत् होते हैं, किन्तु सम्यक्चारित्र नहीं होता है । सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान युगपत् होते हैं अतः असंयत-सम्यग्दृष्टि कहने से असंयतसम्यग्ज्ञानी का भी ग्रहण हो जाता है । श्री अकलंकदेव ने राजवातिक में कहा भी है—

“युगपदात्मलाभे साहचर्यादुभयोरपि पूर्वस्वम्, यथा साहचर्यात् पर्वतनारदयोः, पर्वतग्रहणेन नारदस्य ग्रहणं नारदग्रहणेन वा पर्वतस्य तथा सम्यग्दर्शनस्य सम्यग्ज्ञानस्य वा अन्यतरस्यात्मलाभे चरित्रमुत्तरं भजनीयम् ।”

न्यायविवाकर श्री पं० पन्नालालजी कृत अर्थ—“सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान इन दोनों का एक ही काल में आत्म-लाभ है । तातें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान इन दोनों को पूर्वपना है । जैसे साहचर्यतें पर्वत और नारद इन दोऊ-निका एक के ग्रहण से ग्रहणपता होय है । पर्वत के ग्रहण करि नारद का ग्रहण होय है, अर नारद का ग्रहण करि पर्वत का ग्रहण होय है साहचर्य हेतु तें एक के ग्रहण तें दोऊनिका ग्रहण होय है । तैसे ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान इन दोऊनिका साहचर्य संबन्धतें एक के ग्रहण किये तिन दोऊनिका ग्रहण होय है यातें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान इन दोऊनिका या इन दोऊनि में से एक का आत्म-लाभ कहने पर उत्तर जो चारित्र सो भजनीय है ।”

न्यायतीर्थ श्री पं० गजाधरलालजी तथा न्यायालंकार श्री पं० मखनलालजी द्वारा कृत अर्थ—“पर्वत और नारद दोनों एकसाथ रहते हैं इसलिये उनका साहचर्यसम्बन्ध है । पर्वत के ग्रहण करने पर नारद का और नारद के ग्रहण करने पर पर्वत का भी ग्रहण हो जाता है । उसी प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों एकसाथ उत्पन्न होते हैं, इसलिए उनका भी साहचर्यसंबन्ध है । सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान इन दोनों में से किसी एक के होने पर सम्यक्चारित्र भजनीय है । इस रीति से ‘पूर्वस्य’ इस एकवचन निर्देश से सम्यग्दर्शन का भी ग्रहण हो सकता है और साहचर्यसम्बन्ध से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों का भी ।

कविबर श्री पं० दौलतरामजी ने भी छहदाला में कहा है—

सम्यक्साथी ज्ञान होय पं भिन्न आराधो ।
लक्षण श्रद्धा जान दुहमें भेद अबाधो ॥
सम्यक् कारण जान ज्ञान कारज है सोई ।
युगपद् हीतं हू प्रकाश बीपकतें होइ ॥ २।४ ॥

जिसको छहढाला का भी बोध है वह यह नहीं कह सकता कि शास्त्रों में असंयतसम्यग्दृष्टि का तो उल्लेख है असंयतसम्यग्ज्ञानी का उल्लेख नहीं है। साहचर्य हेतु से असंयत-सम्यग्दृष्टि कहने से ही असंयतसम्यग्ज्ञानी का ग्रहण हो जाता है।

“सम्यग्ज्ञानी होइ बहुरि विद्दु चारित्र लीजें ।” इन शब्दों द्वारा श्री पं० वीलतरामजी ने छहढाला में यह स्पष्ट कर दिया कि जब तक दृढ़ चारित्र नहीं लेता तबतक वह सम्यग्ज्ञानी असंयतसम्यग्ज्ञानी है।

“सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्याणि मोक्षमार्गः ।” इस सूत्र द्वारा यह बतलाया गया है जो जीव सम्यग्दृष्टि व सम्यग्ज्ञानी तो है, किन्तु सम्यक्चारित्र्यो नहीं है वह निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकता। कहा भी है—

“असंयतस्य च यथोक्तात्मतत्त्वप्रतीतिरूपश्रद्धानं यथोक्तात्मतत्त्वानुभूतिरूपज्ञानं वा किं कुर्यात् । ततः संयमशून्यात् श्रद्धानात् ज्ञानाद्वा नास्ति सिद्धिः ।” (प्रवचनसार माथा २३७ टीका)

यथोक्त आत्मतत्त्व की प्रतीतिरूप श्रद्धान या यथोक्त आत्मतत्त्व की अनुभूतिरूप ज्ञान असंयत को क्या करेगा ? इसलिये संयमशून्य आत्मश्रद्धान (सम्यग्दर्शन) व आत्मज्ञान (सम्यग्ज्ञान) से सिद्धि (मुक्ति) नहीं होती।

णाणं चरित्तहीणं लिगगहणं च दंसणविहणं ।

संजमहीणो य तवो जइ खरइ गिरत्थयं सव्वं ॥ ५ ॥ शीलपाहुड

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने बतलाया है कि चारित्रहीन (चारित्ररहित) सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन रहित (सम्यग्ज्ञानरहित) मुर्निर्लिग (द्रव्यचारित्र) और संयम हीन (संयमरहित) तप ये तीनों निरर्थक हैं, क्योंकि इन तीनों में से किसी को भी मोक्ष प्राप्त नहीं होगा।

इसी बात को श्री अकलंकदेव ने कहा है—

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया ।

धावन् किलान्धको वग्धः पश्यन्नपि च पङ्गुलः ॥

न्यायतीर्थ श्री पं० गजाधरलालजी तथा न्यायालंकार श्री पं० मखनलालजी कृत अर्थ—“चारित्र के बिना ज्ञान किसी काम का नहीं, जब ज्ञान किसी काम का नहीं तब उसका सहचारी दर्शन (सम्यग्दर्शन) भी किसी काम का नहीं। जिस तरह वन में आग लग जाने पर उसमें रहनेवाला लंगड़ा मनुष्य नगर को जानेवाले मार्ग को जानता है, ‘इस मार्ग से जाने पर अग्नि से बच सकूंगा’ इस बात का उसे श्रद्धान भी है, परन्तु चलनेरूप क्रिया नहीं कर सकता, इसलिये वहीं जलकर नष्ट हो जाता है। ज्ञान (और दर्शन) रहित क्रिया भी निरर्थक है। जिसतरह वन में आग लग जाने पर उसमें रहनेवाला अंधा जहाँ-तहाँ दौड़नेरूप क्रिया करता है, किन्तु उसको नगर में जानेवाले मार्ग का ज्ञान नहीं और न उसको यह श्रद्धान ही है कि अमुक मार्ग नगर में पहुँचाने वाला है, इसलिये वह वहीं जलकर नष्ट हो जाता है। इस रीति से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों ही माक्षमार्ग हैं।”

यहाँ पर 'ज्ञान' शब्द से सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान इन दोनों को ग्रहण किया गया है, क्योंकि इन दोनों में साहचर्य है ।

इन आर्षग्रन्थों से यह स्पष्ट हो जाता है कि चारित्रहीन अथवा (चारित्ररहित) के भी सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान होता है अथवा चारित्र के अभाव में भी वह सम्यग्ज्ञान होता है जिसका तत्त्वार्थसूत्र में कथन है । इन आर्षग्रन्थों की दि० जैनाचार्यों द्वारा रचना हुई है, अतः दि० जैनाचार्यों को यह मान्य रहा है कि 'किसी चारित्रहीन (चारित्ररहित) व्यक्ति को भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो जाता है । किन्तु वह सम्यग्ज्ञान पारमार्थिक नहीं है । श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा भी है—

“यदा एव अयं आत्मास्त्रयोः भेदं जानाति तदा एव क्रोधादिभ्यः आस्त्रवेभ्यः निवर्तते तेभ्यः अनिवर्तमानस्य पारमार्थिक तद्भेद विज्ञानासिद्धेः ।”

प्रसंगतसम्यग्ज्ञानी का सम्यग्ज्ञान होते हुए भी पारमार्थिक ज्ञान नहीं है, इसीलिये श्री कुम्भकुम्भाचार्य ने शीलपाहुड़ गाथा ५ में तथा श्री अकलंकदेव ने 'हृतं ज्ञानं क्रियाहीनं' इन शब्दों द्वारा उस सम्यग्ज्ञान को भी निरर्थक बतलाया है । श्री अमृतचन्द्राचार्य ने तो उस सम्यग्ज्ञान को अज्ञान ही कह दिया है, क्योंकि वह रागादि आस्त्रों से निवृत्त नहीं है ।

“यत् तु आत्मास्त्रयोः भेदज्ञानं अपि न आस्त्रवेभ्यः निवृत्तं भवति तत् ज्ञानं एव न भवति ।”

—जं. ग. 2-7-70/VII/ ज्ञानध्द, देहली

उत्पाद व्यय निरपेक्ष नहीं होते

शंका—श्री कानजी स्वामी अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० १६६ पर शंका-समाधान के अन्तर्गत लिखा है कि प्रत्येक द्रव्य के उत्पाद, व्यय, द्रौढ्य निरपेक्ष होते हैं, क्या यह ठीक है ?

समाधान—श्री जिनसेनाचार्य ने उत्पाद और व्यय का लक्षण इसप्रकार बतलाया है—

“अभूत्वाभाव उत्पादो भूत्वा चाभवने व्ययः ।”

अर्थात्—जो पर्याय पहले नहीं थी उसका उत्पन्न होना उत्पाद है । किसी पर्याय का उत्पन्न होकर नष्ट हो जाना 'व्यय' है । ऐसा श्री आदिनाथ भगवान ने दिव्यध्वनि में कहा है । (आविपुराण पं० २४ श्लोक ११०)

यहाँ पर पर्याय की अपेक्षा उत्पाद व व्यय बतलाया है । यदि उत्पाद व व्यय को निरपेक्ष अर्थात् अहेतुक माना जायगा तो पर्याय के नित्यपने का प्रसंग आ जायगा, क्योंकि श्री विद्यानन्द आचार्य ने 'आप्तपरीक्षा' में कहा है—“सतो हेतुरहितस्य नित्यत्वव्यवस्थितेः ।” अर्थात्—जिसका कोई कारण (हेतु) नहीं होता और मौजूद है वह नित्य व्यवस्थित किया गया है ।

इसीलिये श्री स्वामीसमंतभद्र आचार्य ने आप्तमीमांसा कारिका २४ में कहा है—

“नेकं स्वस्मात् प्रजायते ।”

श्री पं० जयचन्द्रजी कृत टीका—‘आप ही तैं आपकी उत्पत्ति हूँ नाहीं होय । तथा उपजना बिनसना एक ही के आप ही तैं अन्य कारण बिना होय नाहीं ।’

प्रमेघरत्नमाला अध्याय ४ सूत्र १ की टीका में भी कहा है—

“तत्रान्यानपेक्षत्वं तावदसिद्धम्, घटाद्यभावस्य मुद्गरादिध्यापारन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् । तत्कारण-
स्वीपपत्तेः ।”

श्री पं० जयचन्द्रजी कृत अर्थ—नाश (व्यय) विषय अन्य की अपेक्षातः रहितपणा हेतु कक्षा सो असिद्ध है
जाते घटादिक का अभाव (व्यय) के मुद्गर आदि के व्यापार का अन्वय व्यतिरेक का अनुसारीपणातः तिसके अभाव
(घट के व्यय) के प्रति कारणपणा है । मुद्गर की दिये घट फूटे, न दे तो न फूटे है ।

श्री स्वामिसमन्तभद्राचार्य ने आध्यात्मिमासा में कहा है—

अहेतुकत्वाभावात् हिंसाहेतुर्न हिंसकाः ।”

श्री पं० जयचन्द्रजी कृत अर्थ—क्षणक्षय एकान्तवादी नाश (व्यय) को अहेतुक कहे हैं । जो वस्तु दिनसे
है सो स्वयमेव बिना हेतु दिनसे (व्यय होय) है । सो ऐसा कहते है तो जो हिंसा करने वाला हिंसक है सो हिंसा
का हेतु न ठहरया ।

इसप्रकार यह बतलाया है कि यदि पर्याय का व्यय अहेतुक माना जायगा तो हिंसारूप पाप का अभाव
हो जायगा ।

श्री पूज्यपादाचार्य ने श्री सर्वार्थसिद्धि अध्याय ५ सूत्र ३० की टीका में कहा है—

“उभयनिमित्तवशाद्भावान्तरावाप्तिरुत्पादनमुत्पादः ।”

अन्तरंग और बहिरंग निमित्त के वश से जो नदीन अवस्था की उत्पत्ति वह उत्पाद है ।

“तथा पूर्वभावविगमनं व्ययः ।”

उसीप्रकार अर्थात् अन्तरंग और बहिरंग निमित्त के वश से पूर्व अवस्था के निकल जाने को अर्थात् नाश
को व्यय कहते हैं ।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि उत्पाद और व्यय बहिरंग निमित्तों की भी अपेक्षा रखता है । बहिरंग निमित्त
दो प्रकार के हैं—सामान्य व विशेष । सभी उत्पाद और व्ययों में सामान्य बहिरंग निमित्त कालद्रव्य है और प्रत्येक
उत्पाद व व्यय के लिये विशेष निमित्त भिन्न-भिन्न हैं । कहा भी है—

“धर्मादीनां द्रव्याणां स्वपर्यायनिवृत्तिं प्रति स्वात्मनेव वर्तमानानां बाह्योपग्रहाद्विना तद्द्रव्यभावात्तत्प्रवर्तनो-
पलक्षितः काल इति कृत्वा वर्तना कालस्वीपकारः । को निजर्थः ? वर्तते द्रव्यपर्यायस्तस्य वर्तयिता कालः ।”

(स. सि. ५:२२)

अर्थ—यद्यपि धर्मादिकद्रव्य अपनी-अपनी नदीनपर्याय के उत्पन्न करने में स्वयं प्रवृत्त होते हैं तो भी वह
उत्पत्ति बाह्य सहकारीकारण के बिना नहीं हो सकती इसीलिये उसे प्रवर्तनेवाला काल है, ऐसा मानकर वर्तना
काल का उपकार कहा है । निजर्थ क्या है ? द्रव्य की पर्याय बदलती है और उसे बदलनेवाला काल है ।

पंचास्तिकाय गाथा २३ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी कहा है—

“इह हि जीवानां पुद्गलानां च सत्तास्वभावत्वावस्ति प्रतिक्षणमुत्पादव्ययघ्नौघ्यैकवृत्तिरूपः परिणाम । स खलु सहकारिकारणसङ्गावे इष्टः । यस्तु सहकारीकारणं स कालः । तत्परिणामान्यथानुपपत्तिगम्यमानत्वावनुक्तोऽपि निश्चयकालोऽस्तीति निश्चीयते ।”

इस जगत् में वास्तव में जीवों को और पुद्गलों को सत्तास्वभाव के कारण प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय घ्नौघ्य की एक वृत्तिरूप परिणाम वर्तता है । वह उत्पाद, व्ययरूप परिणाम वास्तव में सहकारी कारण के सङ्गाव में दिखाई देता है । उस उत्पाद, व्ययरूप परिणाम में जो सहकारीकारण है वह काल है । जीव और पुद्गल के उत्पाद-व्ययरूप परिणाम की सहकारिकारण के बिना उत्पत्ति नहीं हो सकती इस अन्वया अनुपपत्तिद्वारा ‘काल’ जाना जाता है ।

परीक्षामुख में भी कहा है—

“समर्थस्य करणे सर्ववोत्पत्तिरनपेक्षत्वात् ॥ ६६३ ॥

संस्कृत टीका—“निरपेक्षसमर्थतत्त्वस्य कार्यजनकत्वे सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसङ्गस्य बुनिवारत्वात् ॥”

यदि घट आदि विशेष पर्यायरूप कार्य का उत्पाद व व्यय निरपेक्ष माना जायगा तो निरंतर घट की उत्पत्ति होनी चाहिये, क्योंकि घटरूप उत्पाद अन्य की अपेक्षा नहीं रखता, किन्तु घट को निरंतर उत्पत्ति नहीं होती, अतः वह कुम्भकार आदि की अपेक्षा रखता है ।

—जं. म. 4-6-70/VII/ टो. ला. मितल

(१) एक द्रव्य की पर्याय द्रव्यान्तर की पर्याय की निमित्तकर्ता होती है ।

(२) पुण्य विष्टा नहीं है

शंका—सोनगढ़ से प्रकाशित श्री समयसार में प्रारम्भिक मंगलाचरण इसप्रकार है—भग्यजीवमनः प्रतिबोधकारकं पुण्यप्रकाशकं पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री समयसारनामधेयं अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्री सर्वज्ञदेवास्तदुत्तर-ग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य आचार्यश्री कुन्दकुन्दाचार्य-वेवविरचितं” इस पर यह शंका उत्पन्न होती है श्री समयसार शास्त्र तो पौद्गलिक है जब है वह भव्य जीवों को प्रतिबोध करनेवाला कैसे हो सकता है ? पुण्य तो विष्टा है जिसको जानो पुरुष दूर से ही छोड़ देते हैं फिर पुण्य को प्रकाश करनेवाले श्री समयसारशास्त्र की स्वाध्याय क्यों करनी चाहिये पुण्य प्रणाशक शास्त्र की स्वाध्याय करनी चाहिये ? पुद्गलमयी शास्त्र के कर्ता श्री सर्वज्ञदेव तथा गणधरदेव तथा उसके रचनेवाले श्री कुन्दकुन्दाचार्य जो चेतन हैं; कैसे हो सकते हैं ? पुद्गलमयी शास्त्र का कर्ता तो पुद्गल होना चाहिये, न कि चेतनमयी जीवद्रव्य । प्रारम्भिक मंगलाचरण में जो इसप्रकार कहा गया है, वह क्या वास्तविक है या मात्र लोगों को बहकाने के लिये लिखा गया है ? यदि वास्तविक है तो ऐसा क्यों कहा जाता है कि एकद्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य की पर्याय की कर्ता नहीं है ? यदि अवास्तविक है तो जिस शास्त्र के प्रारम्भिक मंगलाचरण में ही अवास्तविकता है तो उस ग्रन्थ में अवास्तविकता क्यों नहीं होगी ?

समाधान—भी समयसार शास्त्र यद्यपि पुद्गलमयी जड़ है तथापि प्रक्षर, शब्द, पद और वाक्यों का समूह है। अर्थ और शब्द में वाच्य और वाचकसम्बन्ध है। कहा भी है—“जिसप्रकार प्रमाण, प्रदीप, सूर्य, मणि, चन्द्रमा आदि घट-पट आदि प्रकाशभूत पदार्थों से भिन्न रहकर भी उन पदार्थों के प्रकाशक देखे जाते हैं, उसीप्रकार शब्द अर्थ से भिन्न होकर भी अर्थ का वाचक होता है। जयधवल पु० १ पृ० २४१।” “बाह्य शब्दात्मक निमित्तों से क्रम से जो वर्णज्ञान होता है और जो अक्रम से स्थित रहते हैं उनसे उत्पन्न होनेवाले पद और वाक्यों से अर्थ-विषयक ज्ञान की उत्पत्ति देखी जाती है—जयधवल पु० १ पृ० २६८।” “शब्द से पद की सिद्धि होती है पद की सिद्धि से उसके अर्थ का निर्णय होता है, अर्थनिर्णय से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है। और तत्त्वज्ञान से परमकल्याण होता है।”—धवल पु० १ पृ० १०। पद वाक्यों से पदार्थों का बोध होता है अतः निमित्त कर्त्ता की अपेक्षा भी समयसार शास्त्र ‘भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारक’ (भव्यजीवों को प्रतिबोध करनेवाला) है। पदार्थ के बोध से तत्त्वज्ञान होता है और उस तत्त्वज्ञान से परमकल्याण होता है अतः समयसारशास्त्र पुण्यप्रकाशक है। व्यवहारनय से यह सब कथन वास्तविक है, क्योंकि दो भिन्न द्रव्यों का परस्पर सम्बन्ध उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय का विषय है। यदि उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय को सर्वथा अवास्तविक माना जाय या पंचाध्यायी ग्रन्थ को प्रामाणिक मानकर नया-भास माना जावे तो समयसारशास्त्र ‘भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारक व पुण्यप्रकाशक’ नहीं हो सकता।

‘पुण्य’ विष्ठा नहीं है। किसी भी आचार्य ने ‘पुण्य’ के लिये विष्ठा जैसे अपवित्र शब्द का प्रयोग नहीं किया, किन्तु जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होती है वह पुण्य है (स० सि० अ० ६ सूत्र ३)। आत्मा को पवित्र करनेवाला पुण्य ज्ञानीजीवों के लिये त्याज्य कैसे हो सकता है? आत्मा की पवित्रता को नष्ट करनेवाले शास्त्रों की स्वाध्याय ज्ञानीजन कैसे करेंगे ?

‘वाक्य’ स्वयं यह बतला रहा है कि मेरा ‘वक्ता’ अर्थात् कर्त्ता कोई अवश्य होना चाहिये। यदि पुद्गल को कर्त्ता माना जावे तो पुद्गल तो जड़ है वह प्रमाणभूत नहीं हो सकता, अतः समयसारशास्त्र को प्रमाणता प्राप्त नहीं होगी। किन्तु समयसारशास्त्र प्रामाणिक है, अतः उसका कर्त्ता भी प्रमाण अर्थात् ज्ञान होना चाहिये। कहा भी है—‘वचन ज्ञान का कार्य है।’ ध० पु० १ पृ० ३६८। ज्ञान जीव के आश्रय से रहता है अतः समयसारशास्त्र के मूलग्रन्थ कर्त्ता सर्वज्ञदेव, उत्तरग्रन्थ कर्त्ता भी गणधरदेव और रचयिता श्री कुन्वकुन्वाचार्यदेव हैं क्योंकि वे समय-सारशास्त्र के निमित्तकर्त्ता हैं। निमित्त कर्त्ता असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि आगमप्रमाण से निमित्त-कर्त्ता सिद्ध है। कहा भी है—‘शास्त्र को प्रमाणता को दिखलाने के लिये कर्त्ता का प्ररूपण किया गया है, क्योंकि वक्ता की प्रमाणता से ही वचन में प्रमाणता आती है ऐसा न्याय है।’ (ध० पु० १ पृ० ७२)।

जैसे दर्पण में मयूर का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। वह प्रतिबिम्ब मयूर का है या दर्पण की स्वच्छता का विकार है। उपादान की दृष्टि से देखा जावे तो वह प्रतिबिम्ब दर्पण की स्वच्छता का विकार है; अन्यथा पत्थर आदि में भी प्रतिबिम्ब हो जाना चाहिये था। किन्तु वह प्रतिबिम्ब मयूर के निमित्त से हुआ है, मयूर के अभाव में प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता। जिसके होने पर जो होता है और जिसके बिना जो नियम से नहीं होता वह उसका कार्य और दूसरा कारण होता है ध० पु० १२ पृ० २८८-२८९, आप्तपरीक्षा ४०-४१। प्रतिबिम्ब का परिणमन भी मयूर के परिणमन के अधीन है। अतः प्रतिबिम्ब का कर्त्ता मयूर है। जिसकी सहायता या कर्तृत्व से कोई वस्तु बने, वह निमित्त-कारण है (संस्कृत-शब्दार्थ-कोस्तुभ)। शास्त्ररचनारूप परिणमन भी सर्वज्ञदेव तथा श्री गणधर-देव तथा कुन्वकुन्वाचार्य के ज्ञान के अनुसार हुआ है अतः वे ग्रन्थकर्त्ता हैं। यह वास्तविक है। कथन-मात्र नहीं है या अवास्तविक नहीं है। अनेकान्त में यह सब सत्य है।

क्रियावती शक्ति परमाणु में है, पर सिद्धों में नहीं

शंका—क्या पुद्गल परमाणु और सिद्धों में भी क्रियावतीशक्ति होती है ?

समाधान—क्रिया का लक्षण परिस्पन्दन है अथवा परिस्पन्दनरूप पर्याय को क्रिया कहते हैं । श्री अमृत-चन्द्राचार्य ने कहा है—

“परिस्पन्दनलक्षणा क्रिया ।” प्र. सा. गा. १२६ टीका

“परिस्पन्दनरूपपर्यायः क्रिया ।” पं. का. गाथा ९८ टीका

प्रदेश—परिस्पन्दनरूप पर्याय अशुद्धजीवों और पुद्गलों में ही होती है अतः क्रियावतीशक्ति अशुद्धजीवों और पुद्गलों में होने से यह पर्यायशक्ति है, द्रव्यशक्ति नहीं है । शुद्धजीव में निष्क्रियत्वशक्ति है । श्री अमृतचन्द्रा-चार्य ने कहा भी है—

“सकलकर्मोपरमप्रवृत्तात्मप्रदेशानेष्वंघरूपा निष्क्रियत्वशक्तिः ।” (स. सा. आत्मश्रयाति)

अर्थ—समस्त कर्मों के उपरम से प्रवृत्त आत्मप्रदेशों की निस्पन्दतास्वरूप निष्क्रियत्वशक्ति है ।

“जीवानां सक्रियत्वस्य बहिरंगसाधनं कर्मनोकर्मोपचयरूपाः पुद्गला इति ते पुद्गलकरणाः । तदभावात्सिद्ध-क्रियात्वं सिद्धानाम् । पुद्गलानां सक्रियत्वस्य बहिरंगसाधनं परिणामनिर्वर्तकः काल इति ते कालकरणाः । न च कर्मावीनामिव कालस्याभावः । ततो न सिद्धानामिव निष्क्रियत्वं पुद्गलानामिति ।” (पं. का. गाथा ९८ टीका)

अर्थ—जीवों के सक्रियपने का बहिरंग साधन कर्म-नोकर्म का संचयरूप पुद्गल है, इसलिये जीव पुद्गल करणवाले हैं । उसके अभाव के कारण सिद्धों के निष्क्रियपना है । पुद्गलोंको सक्रियपने का बहिरंग साधन परिणाम निष्पादक काल है, इसलिये पुद्गल काल करण वाले हैं ! कर्मावि की भाँति काल का अभाव नहीं होता, इसलिये सिद्धों की भाँति पुद्गलों को निष्क्रियपना नहीं होता ।

पुद्गल परमाणु यद्यपि एकप्रदेशी है तथापि वह बन्ध को प्राप्त हो सकता है, इसलिये उसको अस्तिकाय कहा है । इसी अपेक्षा से वह सक्रिय भी है ।

अभ्यज्यजीव की अशुद्धपरिणति को अशुद्धशक्तिकारणक कहना हो तो उसे जीव के विभाव परिणाम की या अशुद्धजीव की शक्ति कहना होगा, क्योंकि उसके विभावभावों का अभाव होते ही उसकी अशुद्धि का भी अभाव हो जाता है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि अशुद्ध बने हुए अभ्यज्यजीव के अशुद्धशक्ति अनादि-सांत है । वह अशुद्धअभ्य-जीव के विभावपरिणाम की शक्ति है, शुद्धजीव की नहीं है । (पं० मोतीलाल जैन द्वारा सम्पादित समयसार)

इससे स्पष्ट हो जाता है कि क्रियावतीशक्ति अर्थात् योगशक्ति शुद्धजीवों में नहीं है, क्योंकि योग विभाव-पर्यायरूप शक्ति है ।

—पं. ग. 6-5-71/VII/ मुस्तानसिंह

अज्ञान पर्याय किस द्रव्य तथा गुण को है ? जीव को विभिन्न अवस्थाओं में उसका अस्तित्व

शंका—अज्ञान क्या है ? कौन से द्रव्य तथा गुण को पर्याय है ? उसको गुणस्थानों पर घटाकर बतलाइये ।

समाधान—मिथ्यात्वसहित क्षायोपशमिकज्ञान को भी अज्ञान कहते हैं और ज्ञानावरणकर्म के उदय से ज्ञान के अभाव को भी अज्ञान कहते हैं (मो. भा. अ. २, सू. ५ व ६) । 'अज्ञान' जीवद्रव्य व ज्ञानगुण की पर्याय है । पहले और दूसरे गुणस्थान में दोनों प्रकार का अज्ञान है । चौथे से बारहवें गुणस्थानतक ज्ञानावरणकर्मोदय से होने-वाला अज्ञान है । चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्वोदय का अभाव है अतः वहाँ से मिथ्याज्ञानरूपी अज्ञान का अभाव है । तेरहवें गुणस्थान में ज्ञानावरण का क्षय हो जाने से सर्वथा अज्ञान का अभाव है ।

—जं. सं. 6-3-58/VI/ गु. घ. ग्राह, लङ्करवाले

(१) विचार तथा अनुभव ज्ञानगुण की पर्यायें हैं

(२) पाँच भावों में जड़-चेतनरूप विभाजन

शंका—ता० २३-८-५६ के जैनसंदेश में आपने भाव को परिणाम (पर्याय) सिद्ध किया है । फिर विचार एवं अनुभव (Thoughts and feelings) क्या हैं ? विचारों एवं परिणामों में क्या अन्तर है ? दोनों के क्या कारण हैं ? रागद्वेषभाव एवं परिणाम में क्या अन्तर है ? भाव जड़ है या चेतन ? पाँच प्रकार के भावों में कौन से जड़ हैं कौन से चेतन ?

समाधान—विचार एवं अनुभव (Thoughts and feelings) छद्मस्थ अवस्था में ज्ञानगुण की पर्याय हैं । हर एक द्रव्य व गुण की पर्याय को परिणाम कहते हैं, किन्तु विचार ज्ञानगुण की पर्याय है । अन्तरंग में परिणामनशक्ति बाह्य में कालद्रव्य इसके कारण है । रागद्वेषभाव चारित्र्यगुण की वैभाविकपर्याय है जो कि चारित्र्यमोहनीय द्रव्यकर्म के उदय होने पर अवश्य होती है । परिणाम व्यापक है और रागद्वेषभाव व्याप्य हैं । भाव जड़ भी हैं और चेतन भी हैं ; अचेतनद्रव्य के सर्वभाव जड़रूप हैं । चेतनद्रव्य के भाव चेतन भी हैं, किसी अपेक्षा से कुछ भाव अचेतन भी हैं । शंकाकार ने पाँचभावों के नाम नहीं लिखे कि उसका कितन पाँचभावों से प्रयोजन है । पारिणामिक जीवत्वभाव व क्षायिकभाव, क्षयोपशमिक व औपशमिकभाव चेतना है । भव्यत्व, अभव्यत्व व औदयिकभाव चेतन भी हैं और जड़ भी हैं ।

—जं. सं. 2-1-58/VI/ ला. घ. नाहटा

निगोदपर्याय कर्मभार (कर्मोदय) से हुई है

शंका—आत्मधर्म वर्ष १ अक २ पृष्ठ ३३ पर श्री कानजीस्वामी इस प्रकार लिखते हैं—“सिद्ध वा निगोद हरेक आत्मा अपने स्वचतुष्टय से अस्तिरूप है और कर्म के चतुष्टय का वामें अभाव है । निगोद जीव की अत्यन्त हीन पर्याय है सो उनकी अपना स्वकाल के कारण से ही है कर्मभार से नहीं है, ऐसा जो कोई न माने तो उनमें अस्ति-नास्ति धर्म ही सिद्ध नहीं होगा ।’ श्री कानजी स्वामी का ऐसा कहना क्या आगमअनुकूल है ?

समाधान—आत्मा की स्वभाव और विभाव दो प्रकार की पर्याय होती हैं, उनमें से सिद्धरूप स्वभावपर्याय है और नर, नारकादि विभावपर्याय है (पंचास्तिकाय गाथा ५ व १६ तात्पर्यवृत्ति) । परद्रव्य के संबंध से निवृत्त होने के कारण ही नर, नारकादि पर्याय अशुद्ध हैं । श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा भी है—‘सुरनारकतिर्यङ्मनुष्य-लक्षणाः परद्रव्यसंबन्धनिवृत्तत्वाद्दशुद्धाश्चेति’ (पंचास्तिकाय गाथा १६ टीका) जीव की देव, मनुष्य, तिर्यच व नरकपर्याय गतिनामा नामकर्म तथा आयुर्कर्म के उदय से होती हैं; जैसा कि पंचास्तिकाय गाथा ११८ की टीका में तथा प्रवचनसार गाथा ११८ की टीका में कहा है—‘देवगतिनाम्नो देवायुषश्चोदयद्देवाः मनुष्यगतिनाम्नो मनुष्या-

युवश्चोदयान्मनुष्याः । तिर्यग्गतिनाम्नस्तिर्यगायुषश्चोदयान्तिर्यञ्चः । नरकगतिनाम्नो नरकायुषश्च उदयान्सारकाः । अमी मनुष्यादयः पर्याया नामकर्मनिर्वृत्ताः सन्ति तावत् ।' निगोद भी तिर्यंचपर्याय है जो तिर्यंगति नामकर्म व तिर्यंगायुकर्म के उदय से होती है जैसा कि श्री पंचास्तिकाय व प्रवचनसारग्रंथ से स्पष्ट है । श्री कानजी स्वामी का यह कहना कि 'आत्मा की निगोदपर्याय कर्मभार से नहीं है' कैसे आगमानुकूल हो सकता है ? कर्मोदय से जीव की निगोदपर्याय मानने से अस्ति-नास्ति आदि सप्तभंगी के सिद्धान्त में कोई बाधा नहीं आती । यदि कर्मोदय से जीव की निगोदपर्याय मानने से अस्ति-नास्ति के सिद्धान्त में बाधा आती होती तो आचार्यश्री प्रवचनसार व पंचास्तिकाय में ऐसा उपदेश क्यों देते ? श्री कानजीस्वामी की युक्ति भी आगम विरुद्ध है ।

—जं. सं. 15-1-59/V/ सो. अ. ग्राह, कलोल (गुजरात)

पर्याय अहेतुक नहीं होती

शंका—श्री कानजीस्वामी ने आत्मधर्म वर्ष ८ अंक ३ पृष्ठ ५२ पर इसप्रकार लिखा है—“प्रवाह का वर्तमान अंश है सो वह अपने अंश से ही है । समय-समय का अंश अहेतुक है, सब पदार्थों का त्रिकाल का वर्तमान हरेकअंश निरपेक्षसत् है । वर्तमानपरिणाम पूर्वपरिणाम का व्ययरूप है, इसलिये वर्तमानपरिणाम को पूर्वपरिणाम की अपेक्षा ही रही नहीं तो फिर परपदार्थ के कारण से उसमें कुछ भी हो जाय, यह बात ही कहाँ रही ।” क्या प्रत्येक समय की पर्याय का उत्पाद अहेतुक है ? क्या उत्तरपर्याय पूर्वपर्याय की अपेक्षा रखती है अर्थात् पूर्वपर्याय-सहित द्रव्य उत्तरपर्याय को कारण है या नहीं ?

समाधान—उत्पन्न होनेवाला वर्तमान हरेकअंश (पदाय) कार्य है । कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति कहीं भी नहीं हो सकती, क्योंकि वैसा होनेपर अतिप्रसंग दोष आता है (व. खं. घ. पु. १२ पृ. ३८२) जो कार्य होता है वह कारण के बिना नहीं हो सकता (आप्तपरोक्षा पृष्ठ २४७) । कारण के अभाव में कार्य (पर्याय) की अनुत्पत्ति है (अष्टसहस्री पृष्ठ १५९) । उपजना व वित्तशाना एक ही के आप ही ते अन्य कारण बिना होय नाहीं (आप्तमीमांसा कारिका २४ वं० जयचन्दजी कृत भाषा टीका) अतः इन आगमप्रमाणों से सिद्ध है कि हरेक समय के अंश का उत्पाद (सत) अहेतुक नहीं है ।

पूर्वपर्याय की अपेक्षा से ही उत्तरपर्याय की उत्पत्ति होती है । जैसे पीपल में पूर्व ६३ पुट आजाने के पश्चात् ही ६४ वीं पुट आ सकती है । यदि पीपल में पूर्व ६३ पुट न दी जावे तो ६४ वीं पुटवाली चरपराहट की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती । यदि ६४ वीं पुटवाली चरपराहट ६३ वीं पुट की अपेक्षा नहीं रखती तो पीपल में प्रथम पुट देने पर ही ६४ वीं पुट वाली चरपराहट क्यों उत्पन्न नहीं हो जाती । आगम में भी कहा है—‘पूर्वपरिणामसहित द्रव्य है सो कारणरूप है बहुरि उत्तरपरिणाम युक्त द्रव्य है सो कार्यरूप नियमकरि है ।’ स्वामिकातिकेयानुप्रेक्षा माथा २२२ । वर्तमानपरिणाम केवल पूर्वपर्याय की ही अपेक्षा नहीं रखता, किन्तु बाह्य सहकारीकारणों की भी अपेक्षा रखता है । कहा भी है—‘बाह्यसहकारीकारण और अंतरंगउपादानकारण से कार्यकी सिद्धि होय है (अष्टसहस्री पृष्ठ १५९) ।

स्फटिकमणि स्वयं शुद्ध है वह स्वयं लाल, पीला आदिरूप परिणमने में असमर्थ है, किन्तु लाल, पीले आदि परद्रव्य का संयोग होने पर वह स्फटिकमणि लाल, पीलीरूप परिणमती है । यह प्रत्यक्ष देखने में आता है । श्री समयसार गाथा २७८ में भी श्री १०८ कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है—‘जैसे स्फटिकमणि आप शुद्ध है वह ललाई आदि रंगस्वरूप आप तो नहीं परिणमती, परन्तु वह दूसरे लाल, काले आदि द्रव्यों से ललाई आदि रंगस्वरूप परि-

णमाई जाती है। अतः परपदार्थ के कारण से भी परिणाम पर असर पड़ता है और उसके अनुकूल परिणामन भी हो जाता है।

—जं. सं. 22-1-59/V/सो. अ. ग्राह कलोल, गुजरात

क्रमबद्धपर्याय

(नियतिवाद)

क्रमबद्ध पर्याय

शंका—द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है या अक्रम भी ? एकगुण की एकसमय में एक ही पर्याय होती है या अधिक भी ? यदि नहीं होती तो एक स्पर्श गुण की एक समय में दो पर्याय होती हैं जैसे शीत, स्निग्ध या रूक्ष, उष्ण । और प्रत्यक्ष देखते भी हैं जो आम १० दिन बाव पकता है वह आम पाल आदि में बवा देने से समय से पहले भी तैयार हो जाता है, इसलिए पर्याय क्रमपूर्वक ही होती है, यह समझ में नहीं आता ।

समाधान—द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रम से ही होती है, क्योंकि सहभावी को गुण और क्रमभावी को पर्याय कहा है, किन्तु प्रत्येक पर्याय का काल नियत है या अनियत, इस विषय में एकांत नहीं है। श्री प्रवचनसार ग्रंथ की श्रीमद्वैतचन्द्रसूरिकृत तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति के अन्त में परिशिष्टरूप से ४७ नयों का कथन किया है। उन ४७ नयों में से ३० वें कालनय का कथन इसप्रकार किया है—कालनयेन निवाद्यदिवसानुसारिपच्यमान सहकारफलवत्समया-यत्सिद्धिः ॥ ३० ॥ अर्थ—आत्मद्रव्य कालनय से जिसकी सिद्धि समयपर आधार रखती है, गर्मी के दिनों के अनुसार पकनेवाले आम्रफल की भाँति है। ३१ वें अकालनय का कथन इसप्रकार है—अकालनयेन कृत्रिमोष्णपच्यमान सहकारफलवत् समयानायत्सिद्धिः ॥ ३१ ॥ अर्थ—आत्मद्रव्य अकालनय से जिसकी सिद्धि समय पर आधार नहीं रखती, कृत्रिम गर्मी से पकाये गये आम्रफल की भाँति है। वस्तुस्वरूप अनेकान्तात्मक है अतः एकांत पक्ष का आग्रह करना उचित नहीं है। गोम्मतसार कर्मकाण्ड में कहा है—

जत् जवा जेण जहा, जस्स य णियमेण होदि तत्तु तवा ।

तेण तहा तस्स हवे, इधि वादो णियद्विवावो दू ॥ ८८२ ॥

अर्थ—जो जिस समय, जिससे, जैसे, जिसके नियम से होता है, वह उस समय, उससे, तैसे, उसके ही होता है। ऐसे नियम से सब वस्तुओं का मानना उसे नियतिवाद कहते हैं। (यह गाथा एकांत मिथ्यात्व के भेद कहते हुए कही है।) वस्तुस्वरूप नित्यानित्यात्मक होते हुए भी वैराग्य बढ़ाने के लिए अनित्यभावना कही है, नित्यभावना नहीं कही है। इसीप्रकार वस्तुस्वरूप नियत (कालनय), अनियत (अकालनय) होते हुए भी स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा में इसप्रकार कहा है—

जं जस्स जम्मिदेसे, जेण विहारोण तम्मिकालम्मि ।

णावं जिरोण णियवं, जम्मव अहव भरणं वा ॥ ३२१ ॥

तं तस्स तम्मि देसे, तेण विहारोण तम्मि कालम्मि ।

को सक्कइ चालेदुं, इंदो वा अह जिणियो वा ॥ ३२२ ॥

अर्थ—जो जिस जीव के जिस देश विषय, जिस काल विषय, जिस विधान कर, जन्म तथा मरण सर्वज्ञदेव ने जाना है, सो तिस प्राणी के तिस ही देश में, तिस ही काल में, तिस ही विधान करि नियम तै होय है, ताको इन्द्र तथा जिनेन्द्र कोई भी निवार नहीं सके है । भाषा के कवि ने भी कहा है—

जो जो देखी बीतराय ने, सो सो होसी बीरा रे ।

अनहोनी कबहू नाहि होती, काहे होत अधीरा रे ॥

जो स्पर्शन इन्द्रिय का विषय हो अथवा जो स्पर्श किया जाता है वह स्पर्श गुण है । (षट्छण्डागम १।२३८) शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष, नर्म, कठोर, हलका, भारी स्पर्श के द्वारा जाने जाते हैं । अतः भिन्न-भिन्न होते हुए भी इनको एक स्पर्शनगुण में गर्भित किया है । एक स्पर्शनगुण होते हुए भी कार्य भिन्न-भिन्न हैं अतः प्रत्येक की भिन्न-भिन्न पर्याय है । जिसप्रकार चेतना एक गुण होते हुए भी उसके ज्ञान और दर्शन दो भिन्न-भिन्न कार्य दिखाई देते हैं । अतः ज्ञान और दर्शन की पर्याय भी पृथक्-पृथक् है । इसी कारण कहीं-कहीं पर तो ज्ञान और दर्शन को भी गुण मान लिया है । एकगुण की एकसमय में एक ही पर्याय होती है और स्पर्शन या चेतना गुण के द्वारा इसमें व्यभिचार भी नहीं आता, क्योंकि उनके द्वारा एकसाथ अनेक कार्य होते हुए दिखाई देते हैं ।

—जै. सं. 31-5-56/VI/ क. दे. गया

क्या हमारी परिणति केवलज्ञान के आधीन है ?

शंका—जैसा केवलज्ञानी ने देखा है वैसा ही हम करेंगे । क्या हमारी परिणति केवलज्ञान के आधीन है ?

समाधान—केवलज्ञान का द्रव्य, गुण और पर्यायों के साथ ज्ञेयज्ञायकसम्बन्ध है अर्थात् द्रव्य, गुण व पर्याय ज्ञेय हैं और केवलज्ञान उनका ज्ञायक है । द्रव्य, गुण और पर्यायों के साथ केवलज्ञान का कार्यकारणसम्बन्ध नहीं है । अंतरंग व बाह्य कारणों से कार्य होता है । जैसे अंतरंग व बाह्य कारण होंगे वैसा ही कार्य होगा; अतः यह सिद्ध हुआ कि हमारी परिणति बाह्य और अंतरंग कारणों के आधीन है । हमको बाह्य अंतरंग कारण उत्तम मिलाने चाहिये जिससे हमारी परिणति उत्तम हो ।

—जै. सं. 25-7-57/ / व. प्र. सरायगी; पटना

- (१) नियति विषयक कथन गोम्मतसार में या कार्तिकेयानुप्रेक्षा में परस्पर अविरोध है
- (२) जीव पुरुषार्थ द्वारा अपने जन्म-मरण को टाल सकता है
- (३) कथंचित् नियति है, कथंचित् अनियति

शंका—तारीख २६-९-५७ के जैनसंदेश में नियतिवाद, सर्वज्ञ सम्बन्धी प्रश्नों का समाधान किया है उसमें नियतिवाद का निम्नस्वरूप बताया है—जो जिससमय, जिससे, जैसे, जिसके, नियम से होता है वह, उससमय, उससे, उसके वैसा होता है । ऐसा नियम से ही सब वस्तु को मानना उसे नियतिवाद कहते हैं । फिर लिखा है कि इसप्रकार की भ्रष्टा करनेवाला गृहीतमिथ्यादृष्टि है । अतः इसप्रकार नियति की भ्रष्टा नहीं करनी चाहिये ।

जिससे नियतिवाद कहकर मिथ्यादर्शन बताया है उसे ही स्वामी कार्तिकेय ने सम्यग्दर्शन कहा है । 'जं जस्स जम्मिदेषे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि । णावं जिणेण णियवं जम्म वा अह्व मरणं वा ॥ ३२१ ॥ तं तस्स

तन्मिथेसे तेण बिहाणेण तन्मिथ्यासन्मि को सककइ चालेदुं इंदो अह जिणिबो वा ॥ ३२२ ॥ ऐसा निश्चय करनेवाले को ही सम्यग्दृष्टि कहते हैं, संशय करने वाले को मिथ्यादृष्टि—‘एवं जो णिरुत्तयवो जाणवि वट्वाणि सव्व पञ्जाए । तो सद्धिट्ठो सुद्धो जो संकवि सो हु कुद्धिट्ठो ॥ ३२३ ॥

उपर्युक्त जैनसंदेश के उत्तर में इससे विरोध लक्षित होता है, क्योंकि नियतिवाद का लक्षण तो श्री पंच-संग्रह और गोम्मटसार से बताया है और उसे षट्खंडागम में मिथ्यात्व घोषित किया है। इसलिये विरोध यह आया है। उपर्युक्त माथा से जैसा नियतिवाद का स्वरूप बताया है वैसा ही स्वरूप सिद्ध होता है। फिर आचार्य ने इसकी श्रद्धा करनेवाले को सम्यग्दृष्टि और शंका करनेवाले को मिथ्यादृष्टि बताया है? ऐसा क्यों?

केवलीभगवान सब द्रव्यों की त्रैकालिक सबपर्यायों को जानते हैं तो हम उसमें कुछ भी परिवर्तन कर सकते हैं या नहीं। अगर हाँ तो उनका ज्ञान सम्यक् नहीं रहेगा और नहीं तो फिर नियतिवाद ठहर जायगा या नहीं जो कि समाधान के शब्दों में गृहीतमिथ्यात्व है। ऐसी स्थिति में सर्वज्ञता भी यथार्थ सिद्ध नहीं होती।

समाधान—शंकाकार को यह भ्रम हो गया कि ‘नियतिवाद’ का स्वरूप जो पंचसंग्रह व गोम्मटसार ग्रंथों में कहा गया है, किन्तु उनग्रन्थों में नियतिवाद को मिथ्यात्व नहीं कहा है। जैनसंदेश २६-९-५७ में समाधान के प्रारंभ में लिखा है—‘पंचसंग्रह ग्रंथ के प्रथम परिच्छेद को गाथा ३०८ से ३१७ तक मिथ्यात्व का कथन है। गृहीतमिथ्यात्व के श्रेणियों में से ‘नियति’ मिथ्यात्व भी है जिसका स्वरूप गाथा ३१२ में इसप्रकार दिया है।’ समाधान के इन शब्दों से स्पष्ट है कि ‘पंचसंग्रह’ ग्रंथ में भी नियतिवाद को मिथ्यात्व कहा है। समाधान के इन शब्दों से इसीप्रकार गोम्मटसार कर्मकांड में कहा है। यह सिद्ध है कि गोम्मटसार में भी नियति को मिथ्यात्व कहा है। शंकाकार का यह कहना—‘उत्तर में इससे विरोध लक्षित होता है, क्योंकि नियतिवाद का लक्षण तो श्री पंचसंग्रह और गोम्मटसार से बताया है और उसे मिथ्यात्व षट्खंडागम से घोषित किया है। इसलिये विरोध यह आया है।’ कहाँ तक उचित है स्वयं शंकाकार विचार कर लें। यदि पंचसंग्रह व गोम्मटसार से उक्त प्रकरण देख लिया जाता तो संभवतः शंकाकार का बहुत कुछ समाधान हो जाता।

२६-९-५७ के जैनसंदेश में समाधानरूप से जो लिखा गया है वह श्री पंचसंग्रह, गोम्मटसार, कर्मकांड व षट्खंडागम के शब्द लिखे गये हैं। श्री अमितगति आचार्य ने तथा श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ति ने ‘नियति’ को स्पष्ट शब्दों में मिथ्यात्व कहा है। उन्हीं आचार्यों के शब्द समाधान में लिखे गये हैं।

मूल प्रश्न यह रह जाता है कि पंचसंग्रह गाथा ३१२ व गो० क० गा० ८८२ का और स्वामि कातिकेयानु-प्रेक्षा की गाथा ३२१-३२२-३२३ का परस्पर विरोध क्यों है? इस प्रश्न का समाधान भी २६-९-५७ के जैनसंदेश में गौणरूप से दिया हुआ है फिर भी संक्षेप से पुनः विचार किया जाता है।

जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय (मिथ्यात्व) हैं, क्योंकि परसमयों (मिथ्यास्वियों) का वचन सर्वथा (अपेक्षारहित) कहा जाने से वास्तव में मिथ्या है और जैनों का वचन कथंचित् (अपेक्षासहित) कहा जाने से वास्तव में सम्यक् है (प्रवचनसार परिशिष्ट, गो० क० गाथा ८९४-८९५)। जिसप्रकार द्रव्य ‘नित्या-नित्यात्मक’ है। यदि अनित्यनिरपेक्ष द्रव्य को सर्वथा नित्य माना जावे तो मिथ्यादृष्टि है। यदि अनित्यसापेक्ष द्रव्य को नित्यता में संदेह या शंका की जावे तो मिथ्यादृष्टि है। इसीप्रकार अभ्यनयसापेक्ष वस्तु को ‘नियतिस्वरूप’ माननेवाला सम्यग्दृष्टि है और शंका (संदेह) करनेवाला मिथ्यादृष्टि है। अभ्यनय निरपेक्ष वस्तु को ‘नियतिस्वरूप’ माननेवाला मिथ्यादृष्टि है।

जीवों का मरण आयुकर्म के क्षय से होता है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। तू (अन्य कोई भी द्रव्य या जिनेन्द्र) पर जीवों के आयुकर्म को तो हरता नहीं है तो तूने (या अन्य किसी ने) उनका मरण कैसे किया। गाथा २४८ जीव आयुकर्म के उदय से जीते हैं ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं। तू (या अन्य कोई भी) जीवों को आयु-कर्म तो नहीं दे सकता तो तूने (या अन्य किसी ने) उनका जीवन कैसे किया? गाथा २५१। सभी जीव कर्म के उदय से सुखी दुःखी होते हैं तू (या अन्य कोई) कर्म देता नहीं तो तू (या अन्य कोई) उन्हें दुःखी-सुखी कैसे कर सकता है? ॥ गाथा २५४ ॥ जो यह मानता है मैं (या अन्य कोई) पर जीवों को मार, बचा सकता है, दुःखी या सुखी कर सकता है वह अज्ञानी है। गाथा २४७-२५०, २५३, (समवसार) भव, क्षेत्र, काल और पुद्गलद्रव्य का आश्रय लेकर कर्मउदय में आता है (क० पा० सु० पृ० ४६५)।

इन उपर्युक्त आगमकथनों का यह अभिप्राय है कि—'जिनेन्द्रदेव ने ऐसा कहा है या देखा है कि जिस क्षेत्र (देश) जिस काल और जिस पुद्गल द्रव्य को आश्रय लेकर उदय में आने वाले कर्म द्वारा जिस जीव के जो मरण, जीवन, सुख या दुःख होता है उस क्षेत्र काल और द्रव्य के आश्रय से उदय में आनेवाले कर्म के फल-स्वरूप जीवन-मरण सुख या दुःख को अन्य कोई भी यहाँ तक इन्द्र या जिनेन्द्र भी निवार (टाल) नहीं सकते, क्योंकि, कोई एक किसी अन्य को कर्म नहीं दे सकता। जो ऐसा श्रद्धान करता है वह सम्प्रदृष्टि है और जो इसमें शंका करता है अर्थात् यह मानता है कि मैं या इन्द्र अथवा जिनेन्द्र कर्म दे सकते हैं और सुखी दुःखी कर सकते हैं, जिला या मार सकते हैं वह मिथ्यादृष्टि है।

श्री स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३१८-३२३ में कुदेवपूजन खंडन के लिये यह कहा है कि—कोई भी अन्य जीव को लक्ष्मी नहीं दे सकता और न उपकार कर सकता है, क्योंकि, शुभ अशुभ (पुण्य-पाप) कर्म उपकार या अपकार करते हैं। यदि भक्ति या पूजा करने से व्यन्तरदेव लक्ष्मी देता है तो घर्म क्यों किया जावे ॥ ३१९-३२० ॥ इसके पश्चात् गाथा ३२१ व ३२२ में इस विषय को पुष्ट करने के लिये कहते हैं कि व्यन्तरदेव की तो बात ही क्या, इन्द्र या जिनेन्द्र भी जीव के सुख, दुःख जीवन या मरण टालने में समर्थ नहीं हैं, गाथा ३२३ में यह कहा कि इसप्रकार की श्रद्धा करनेवाला सम्प्रदृष्टि है और जो इसमें शंका करके यह मानता है कि व्यन्तरदेव मुझको लक्ष्मी या सुख आदि दे सकते हैं वह मिथ्यादृष्टि है। गाथा ३१८-३२३ में एक ही प्रकरण है जिसका 'नियति' से कुछ सम्बन्ध नहीं है। गाथा ३२१-३२२ में 'नियति' का कथन नहीं है, क्योंकि इन दो गाथाओं में यह निषेध नहीं किया गया कि जीव स्वयं भी अपने पुरुषार्थ द्वारा अपने जन्म-मरण सुख को नहीं निवार सकता; किन्तु अन्य कोई नहीं टाल सकता यह कहा गया है। अतः स्वामिकार्तिकेय गाथा ३२१-३२३ का पंचसंग्रह आदि ग्रन्थों से विरोध नहीं है।

श्री राजवार्तिक में भी इसीप्रकार कहा है—'भव्य के नियमितकाल करि ही मोक्ष की प्राप्ति है ऐसा कहना भी अनवधारणरूप है जातै कर्म की निर्जरा को काल नियमरूप नहीं है यातै भव्यनि के समस्त कर्म की निर्जरापूर्वक मोक्ष की प्राप्ति में काल का नियम नहीं सभन्ने है। कोई भव्य तो संख्यातकाल करि मोक्ष प्राप्त हो गये और कोई असंख्यातकाल करि और कोई अनन्तकाल करि सिद्ध होयगे बहुरि अन्य कोई भव्य है ते अनन्तानन्त-काल करि के भी सिद्ध न होयगे। ताते नियमितकाल ही करि भव्य के मोक्ष की उत्पत्ति है ऐसा कहना युक्त नहीं, ऐसा जानना। नियमितकाल ही करि मोक्ष है यह कहना युक्त नहीं। निश्चय करि जो सर्वकार्य प्रतिकाल इष्ट प्रत्यक्ष के विषयस्वरूप अथवा अनुमान के विषयस्वरूप बाह्य-प्राभ्यंतर कारण के नियम का विरोध आवे (श्री १० वा० अ० १, सूत्र ३, पृ० ११५-११६ हस्तलिखित पं० पन्नालाल न्यायदिवाकरकृत अनुवाद)

यदि यह भी मान लिया जावे कि भी स्वानिकातिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३२१-३२२ में 'नियत' का कथन है तो वह अग्र्यमय सापेक्ष 'नियति' का कथन है। एकान्त या सर्वध्यानियति का कथन नहीं है। इसप्रकार भी स्वानिकातिकेयानुप्रेक्षा के कथन में विरोध नहीं है।

केवलज्ञानी, अनन्तज्ञानी, क्षायिकज्ञानी या सर्वज्ञ ये सब पर्यायवाची नाम हैं। जो सर्वद्रव्यों की सर्वपर्यायों को युगपत् एकसमय में जानते हैं और जिनके ज्ञान से बाहर कुछ शेष नहीं रहा वे सर्वज्ञ हैं। सर्वज्ञ का यह लक्षण प्रायः सभी दि० जैनग्रन्थों में पाया जाता है और सर्वज्ञ की सिद्धि भी नाना हेतुओं द्वारा की गई है फिर ऐसा कौन दि०-जैन होगा जो सर्वज्ञ के अस्तित्व को स्वीकार न करे।

इस सर्वज्ञता की आड़ में अनेकों युक्तियों द्वारा दि० जैनागम के मूल सिद्धान्तों का खंडन किया जा रहा है तथा एकान्त का पोषण किया जा रहा है। जो इसप्रकार है—

पर्यायों की संततिअपेक्षा अथवा द्रव्यदृष्टि से प्रत्येकद्रव्य अनादि-अनन्त है, क्योंकि असत् का उत्पाद नहीं और सत् का ध्वय (नाश) नहीं होता (पंचास्तिकाय गाथा ११-१५)। किन्तु निम्न युक्ति के बल पर सर्वज्ञता की आड़ में द्रव्य को पर्याय संतति अपेक्षा भी आदि सांत सिद्ध किया जा रहा है, जो आगम विरुद्ध है। वह युक्ति इस प्रकार है—सर्वज्ञ ने प्रत्येक द्रव्य की सर्वपर्यायों को जान लिया है और वे सब पर्याय क्रमबद्ध हैं। कोई भी पर्याय सर्वज्ञ के ज्ञान से बाहर रही नहीं। अतः क्रमबद्धता में पड़ी हुई आदि व अन्त की पर्याय को सर्वज्ञ ने जान ली। इसलिये प्रत्येक द्रव्य सादि-सान्त ही है, अनादि-अनन्त किसी भी अपेक्षा से नहीं है। यदि सर्वज्ञ ने आदि व अन्त की पर्याय को नहीं जाना तो सर्वज्ञता का अभाव होता है। द्रव्य को अनादि-अनन्त कहनेवाले सर्वज्ञता का लोप करते हैं।' ऐसा इस युक्ति के बल पर कहा जाता है, किन्तु उनकी यह युक्ति आगम विरुद्ध है।

सर्वज्ञ ने भी द्रव्य को अनादि-अनन्त कहा है और अनादि-अनन्तरूप से जाना है। यदि द्रव्य को सर्वथा सादि-सांत मान लिया जावे तो यह प्रश्न होता है कि विवक्षित द्रव्य का उत्पाद सत् पदार्थ से हुआ या असत् से। यदि असत् का उत्पाद होने लगे तो अव्यवस्था हो जावेगी। यदि अन्य सत् पदार्थ से विवक्षितद्रव्य का उत्पाद हुआ तो उस अन्य सत् पदार्थ का किसी अर्थ सत् पदार्थ से उत्पाद माना जावेगा। इसप्रकार अनवस्था दोष आ जावेगा। इस युक्ति के बल से भी द्रव्य पर्याय-संतति-अपेक्षा अनादि-अनन्त सिद्ध होता है। इसप्रकार द्रव्य को कथंचित् अनादि अनन्त कहनेवाले सर्वज्ञता का लोप करनेवाले नहीं हैं।

दूसरी कुयुक्ति इसप्रकार है—'सर्वज्ञ ने समस्त आकाशद्रव्य को जान लिया है तो आकाशद्रव्य का अन्त भी जानना चाहिये। आकाशद्रव्य का अन्त जान लेने पर आकाशद्रव्य अनन्त न होकर सान्त हो जाता है। यदि आकाशद्रव्य का अन्त नहीं जाना तो सर्वज्ञता का अभाव हो जाता है।' इस युक्ति के बल पर यह कहा जाता है कि आकाशद्रव्य को अनन्त कहनेवाले सर्वज्ञता को स्वीकार नहीं करते, किन्तु उनकी यह युक्ति आगमानुकूल न होने से कुयुक्ति है। कहा भी है सूत्रविरुद्ध युक्ति होती नहीं है, क्योंकि वह युक्त्याभासरूप होगी।

(ष० खं० पु० ९ पृ० ३२)

सर्वज्ञ ने आकाशद्रव्य को अनन्तरूप से जाना है और आगम में भी आकाशद्रव्य अनन्त कहा गया है। यदि आकाशद्रव्य को सान्त मान लिया जावे तो यह प्रश्न होता है, आकाश के पश्चात् (बाहर) क्या है? यदि कुछ है तो वह सातवाँ द्रव्य कौनसा है। इसप्रकार सातवें द्रव्य के पश्चात् बाहर आठवाँ और आठवें के पश्चात् नौवाँ आदि कहना पड़ेगा। जिससे अनवस्था दोष आता है। अतः आकाशद्रव्य अनन्त है यह सिद्ध हो जाता है। आकाशद्रव्य को अनन्त कहनेवाले सर्वज्ञता को अस्वीकार करनेवाले नहीं हैं।

इसीप्रकार सर्वज्ञता की आड़ में ऐसी युक्तियों द्वारा नियतिवाद की सिद्धि की जा रही है। उस नियति को भी अनियतगति आचार्य ने पंचसंग्रह में गृहीतमिथ्यात्व कहा है। 'नियति' जिसको पंचसंग्रह में गृहीतमिथ्यात्व कहा है उसका स्वरूप गाथा ३१२ में इसप्रकार दिया है—'जब जैसे जहाँ जिस हेतु से जिसके द्वारा जो होना है, तभी, तैसे ही, वहाँ ही उसी हेतु से उसी के द्वारा वह होता है। यह सर्व नियति के आधीन है। दूसरा कोई कुछ भी नहीं कर सकता।' नियति की सिद्धि के लिये जो युक्तियाँ दी गई हैं वे आगमविरुद्ध होने से युक्त्याभास हैं।

(ष० ख० पु० ९ पृ० ३२)

सर्वज्ञभगवान ने पदार्थ को 'नियति-अनियतिस्वरूप' देखा है। श्री प्रवचनसार में भी नियतिनय और अनियतिनय दोनों नयों का कथन है। यदि सर्वथा 'नियति' स्वीकार करली जावे तो पुरुषार्थ का अभाव हो जायगा और उपदेश निरर्थक हो जावेगा। पुरुषार्थ व उपदेश के निरर्थक हो जानेपर मोक्षमार्ग का अभाव हो जायगा। दुराचार फैल जावेगा। दुराचारी का स्पष्ट यह उत्तर होगा कि इसमें मेरा क्या दोष, सर्वज्ञ के ज्ञान में ऐसा ही भूलका था। मैं उसको अन्यथा कैसे कर सकता था? प्रायश्चित्त आदि का अभाव हो जावेगा। सर्वथा नियति स्वीकार करने पर अनेकों दोषों का प्रसंग आ जायगा और आगम से विरोध हो जायगा।

केवलज्ञान सम्यग्ज्ञान है, प्रमाण है। केवलज्ञान से जैसा वस्तु का स्वरूप है उसीप्रकार से जाना, अन्यथा नहीं जाना। विवक्षितपर्याय अथवा प्रत्येकपर्याय की अपेक्षा द्रव्य अनित्य अर्थात् सादि-सान्त है, किन्तु पर्याय-संतति-अपेक्षा अथवा द्रव्यदृष्टिअपेक्षा द्रव्य अनादि-अनन्त अर्थात् नित्य है। इसीप्रकार केवली ने जाना है।

आकाशद्रव्य अखंड क्षेत्र की अपेक्षा अनन्त है, किन्तु प्रत्येक प्रदेश की अपेक्षा सान्त है। केवलज्ञानी ने भी आकाशद्रव्य को इसीप्रकार जाना है।

नियतिनय, कालनय, स्वभावनय, देवनय की अपेक्षा से 'नियति' है; किन्तु अनियतिनय, अकालनय, अस्वभावनय और पुरुषार्थनय की अपेक्षा 'अनियति' है। ऐसा ही वस्तुस्वरूप केवलज्ञानी अर्थात् सर्वज्ञ ने देखा है।

—जं. सं. 6/13-2-58/VI/ बंशीधर ब्राह्मी, कलकत्ता

केवली का भाविज्ञत्व विषयक प्रपञ्च

शंका—केवली के पास कोई मनुष्य जाकर यह पूछे कि—मेरी यह बंब मुष्टि कितनी देर में खुलेगी तो केवली क्या निश्चित उत्तर देंगे? जबकि मुष्टि का खोलना और बन्द करना उस मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है। स्याद्वादी केवली क्या भविष्य का अपेक्षाकृत उत्तर नहीं देते? अगर भविष्य को निश्चित मान लिया जाता है तो फिर मनुष्य का पुरुषार्थ क्या अर्थ रखता है? किसी अदृष्ट निश्चितशक्ति के अनुसार ही मनुष्य को प्रवर्तना पड़ता है या मनुष्य कुछ स्वतंत्र भी है? शराब के पीने से नशा चढ़ता है या शराब को पीना ही था और नशे को चढ़ना ही था इसलिये नशा चढ़ता है? अगर केवली के भविष्यज्ञान को अपेक्षाकृत निश्चित मान लिया जाय तो क्या बाधा है? जैसे किसी की आयु ६० वर्ष की निश्चित होने पर भी अकालमृत्यु पहिले भी संभव हो सकती है। उत्तरपुराण पर्व ७६ में बताया है कि—गौतम गणधर ने श्रेणिक के पूछने पर कहा 'अगर तुम इन मुनि को अन्तमु'हूर्त के पहिले जाकर संबोधित कर लोगे तो मुक्त हो जायेंगे, नहीं तो नरक जा सकते हैं। इससे भविष्यज्ञान के विषय में हमें किन निष्कर्षों की सूचना मिलती है? क्या केवली के भविष्यज्ञान में प्रतिसमय की पर्याय निश्चित है? अगर है तो फिर उपदेश संयमादि व्यवहार क्यों? और मनुष्य को व्यर्थ पुरुषार्थ करने की भी जरूरत क्या? ऐसी हालत में अनाचार की प्रवृत्ति क्यों संभव नहीं? ज्ञान में पर्यायों का झलकना दूसरी बात है पर बिना विकल्प के दूसरों

को लक्ष्य करके उन्हें बताना किस तरह संभव है ? तिलोपपण्णती अधिकार ४ गाथा ८०८ और ९२६ में बताया है कि 'समवसरण स्थित वापिकाओं के जल में और भगवान के प्रभामण्डल में अबलोकन करने पर मनुष्यों को अपने सातभ्रवों का दर्शन हो जाता है ।' अगर ऐसी बात है तो फिर भव जानने के लिये श्रोता प्रश्न ही क्यों करते हैं और भगवान भी उत्तर क्यों देते हैं ? समवसरण वापिकाओं में और प्रभामण्डल में जो भव दिखाई देते हैं वे किसरूप में दिखते हैं उनकी क्या सब सूत-भविष्य की पर्याय दिखती हैं ? वे क्रम से दिखती हैं या एक साथ ? आदि । एतद् विषयक सब बातों का पूर्ण स्पष्टीकरण करें ।

समाधान—केवलीभगवान के मोहनीयकर्म का अभाव हो जाने से इच्छा का भी अभाव है अतः प्रश्न के पश्चात् उत्तर देने की इच्छा न होने से केवलीभगवान उत्तर नहीं देते । फिर भी प्रथमानुयोग में जो यह कथन आता है कि 'केवलीभगवान ने उत्तर दिया' उसका यह अभिप्राय है कि—भगवान की दिव्यध्वनि के बीजाक्षर, अतिशय के कारण प्रश्नकर्ता के कानों में प्रवेश करते समय प्रश्न के उत्तरस्वरूप परिणम जाते हैं अथवा दिव्यध्वनि के निमित्त से प्रश्नकर्ता के ज्ञान का क्षयोपशम ऐसा हो जाता है कि उसको अपने प्रश्न का उत्तर स्वयं समझ में आ जाता है । अतः मुष्टिसंबंधी केवली भगवान कोई उत्तर नहीं देंगे । केवली स्याद्वादी अवश्य हैं, किन्तु भविष्य का अपेक्षाकृत या किसी प्रकार भी उत्तर देना संभव नहीं है । भविष्य को सर्वथा निश्चित या नियत मान लिया जावे तो मनुष्य का पुरुषार्थ निरर्थक हो जावेगा । मनुष्य स्वतंत्र भी है । कर्म के तीव्र उदय में परतंत्र है, किन्तु मंदउदय में पुरुषार्थ द्वारा भविष्य में उदय में आने वाले कर्म का संक्रमण, स्थितिघात, अनुभागघात कर सकता है । शराब को पीने से नशा चढ़ता है, न कि शराब को पीना ही था और नशा चढ़ना ही था । 'केवली का भविष्य-संबंधी ज्ञान अपेक्षाकृत है' ऐसा कथन आगम में नहीं पाया जाता । बाह्यकारणों के मिलने पर और आयुर्कर्म की लदीरणा होने पर कर्मभूमिज मनुष्यों व तिर्यचों की अकालमृत्यु हो सकती है । उत्तरपुराण पर्व ७६ के प्रकरण का केवली से कोई सम्बन्ध नहीं है । किन्तु पर्व ७२ श्लोक १८० में कहा है—'बारह वर्ष के बाद मदिरा का निमित्त पाकर यह द्वारावतीपुरी द्वीपायन के द्वारा निर्मूल नष्ट हो जायेगी ।' यह ही कथन हरिवंशपुराण इकसठवाँ सर्ग श्लोक २२-२३ में है । केवली को भविष्य का ज्ञान नियति-अनियतिरूप से है ।

श्री गौतमगणधर ने सर्वाविधि व विपुलमति मनःपर्ययज्ञान के द्वारा श्री श्वेतवाहनमुनि के विषय में यह तो बतला दिया कि—बाह्यकारणों के मिलने से इनके अन्तःकरण में तीव्र अनुभागवाले ऋषिरूपाय के स्पर्धकों का उदय हो रहा है । संकलेशरूप परिणामों से उनके तीन अशुभ लेश्याओं की वृद्धि हो रही है । जो मन्त्री आदि प्रतिकूल हो गये हैं उनमें हिंसादि सर्वप्रकार के निग्रहों का चिंतन करते हुए वे संरक्षणानन्द नामक रौद्रध्यान में प्रविष्ट हो रहे हैं । किन्तु भविष्य के विषय में यह कहा—यदि अब आगे अन्तर्मुहूर्त तक उनकी ऐसी ही स्थिति रही तो वे नरकप्राय का बंध करने के योग्य हो जावेंगे ।' (उत्तरपुराण पर्व ७६ श्लोक २१-२३) इस कथन से यह विदित होता है कि भविष्य की पर्याय सर्वथा नियत नहीं है अथवा श्री गौतमगणधर भविष्य के लिये 'यदि' शब्द का प्रयोग न करते । जिसप्रकार श्री गौतमस्वामी ने भूत व वर्तमान के लिये निश्चितरूप से उत्तर दिया था उसीप्रकार भविष्य के लिये निश्चितरूप से उत्तर न देकर अपेक्षाकृत उत्तर दिया । यद्यपि उनको अवधि व मनःपर्ययज्ञान के द्वारा अनेक भवों का तथा भविष्यसम्बन्धी औदयिक, सायोपशमिक व औपशमिकभावों का ज्ञान था ।

केवली को जब सब पर्यायों का ज्ञान है अतः भविष्य की प्रत्येक समय की पर्याय का भी ज्ञान है । किन्तु भविष्य की पर्याय नियत भी हैं अनियत भी हैं, अतः जिसरूप से भविष्य की पर्याय हैं उसीरूप से उन पर्यायों का केवली को ज्ञान है । पर्याय सर्वथा नियत नहीं है अतः उपदेश व संयमादि का व्यवहार है । यदि पर्यायों को सर्वथा

नियत मान लिया जावे तो उपदेश, संयमादि व पुरुषार्थ की निरर्थकता व अनाचार की प्रवृत्ति संभव है। भगवान की वाणी बिना इच्छा के निकलती है अतः उसमें किसी व्यक्ति विशेष का लक्ष्य नहीं होता।

ति० प० अ० ४ गाथा ८०८ व ९२६ में जो सातभवों के दिखने का कथन है, उसका अभिप्राय यह है—वापिकाजल व भामंडल में सातभव लिखे नहीं रहते, किन्तु भगवान की निकटता के कारण वापिकाजल व भामण्डल में इतना अतिशय हो जाता है कि उनके अवलोकन से अपने सात भवों के ज्ञान का क्षयोपशम हो जाता है। स्थूल-रूप से सातभवों के ज्ञान का क्षयोपशम हो जाने पर भी जिसका उस क्षयोपशम की तरफ उपयोग नहीं जाता या जो सूक्ष्मरूप से जानना चाहता है वह प्रश्न कर लेता है और दिव्यध्वनि के सुनने से उसका स्वयमेव समाधान हो जाता है। भगवान के मोहनीयकर्म का अभाव हो जाने से वे इच्छापूर्वक किसी के प्रश्न का उत्तर नहीं देते।

—जं. सं. 27-2-58/VI/ र. ला. कटारिया, केकड़ी

सृष्टि की आदि तथा अनन्त राशि के अन्त को असत्त्व के कारण केवलो नहीं जानते

शंका—सृष्टि अनादि है और इसका कभी अन्त नहीं होगा। मनुष्य ज्ञान की अपेक्षा से अनादि है या सर्वज्ञ-ज्ञान की अपेक्षा से भी अनादि है? सृष्टि की आदि को सर्वज्ञ जानते हैं अथवा नहीं जानते। अनन्त का अंत सर्वज्ञ जान लेते हैं या नहीं? सर्वज्ञ के ज्ञान की अपेक्षा 'अनन्त' सान्त है या अनन्त ही है?

समाधान—'सृष्टि' अनादि है' इसमें शंकाकार को विवाद नहीं है, क्योंकि सृष्टि को आदि मानने में अनेक प्रश्न उठते हैं, जैसे—क्यों बनी? किसने बनाई? किससे बनाई? कहाँ बनाई? कब बनाई? इत्यादि। इन प्रश्नों का उत्तर देने से फिर प्रश्न होते हैं—जिसने बनाई उसको किसने बनाया? जिस पदार्थ से बनी वह पदार्थ किससे बना? इन प्रश्नों के उत्तर पर पुनः ये ही प्रश्न हो जायेंगे इसप्रकार अनवस्था दोष आजायगा। अतः 'सृष्टि संततिअपेक्षा अनादि है' यह निर्विवाद सिद्ध है।

केवलज्ञान सम्यग्ज्ञान है और प्रमाण है। सम्यग्ज्ञान उसको कहते हैं—जो ज्ञान पदार्थ को जैसा का तैसा जानता हो, न न्यून जानता हो, न अधिक जानता हो और संशय विपरीत अनध्यवसाय से रहित हो (२० क० ध्या० श्लो० ४२) अतः केवलज्ञान भी पदार्थ को संशय, विभ्रम, भ्रिमोह से रहित जैसे का तैसा जानता है। सृष्टि भी एक पदार्थ है जिसको केवलज्ञान संशय, विपरीत और अनध्यवसाय से रहित जानता है। सृष्टि अनादि है। यदि केवलज्ञानी सृष्टि को आदि रूप से जान ले तो उसका ज्ञान विपरीत ज्ञान हो जायगा और केवलज्ञान में सम्यग्ज्ञान के लक्षण का अभाव होने से मिथ्याज्ञान हो जावेगा। मिथ्याज्ञान होने से अप्रमाणिक हो जायगा।

बहुत से यह मानते हैं कि 'केवलज्ञानी सृष्टि की आदि को जानता है। यदि केवलज्ञानी सृष्टि की आदि को न जाने तो 'सर्वज्ञता' का अभाव हो जायगा। 'सृष्टि अनादि है' ऐसा छद्मस्थों की अपेक्षा से कहा गया है, सर्वज्ञ की अपेक्षा से तो सृष्टि सादि है।" किन्तु उसका ऐसा कहना सर्वज्ञता को नहीं स्थापित करता अपितु खंडित करता है, क्योंकि सृष्टि को सादि मानने से अनवस्थादोष आजावेगा और सर्वज्ञ का ज्ञान विपरीत ज्ञान हो जाने से सम्यग्ज्ञान नहीं रहेगा। छद्मस्थ व सर्वज्ञ दोनों की अपेक्षा से सृष्टि अनादि है। सृष्टि का अनादिपना संतति की अपेक्षा से है। संतति की अपेक्षा सृष्टि का आदि ही नहीं है, तो सर्वज्ञ सृष्टि की आदि को कैसे जान सकते हैं?

औपचारिक अनन्त का अन्त तो सर्वज्ञ जानते हैं, क्योंकि वह राशि सान्त है। छद्मस्थ के ज्ञान का विषय न होने से और मात्र केवलज्ञान का ही विषय होने से उस सान्त राशि को भी उपचार से अनन्त कहा गया है;

क्योंकि वह अनन्तमयी केवलज्ञान का विषय है। जो राशि व्यय होते रहने पर भी समाप्त नहीं होती वह राशि वास्तविक अनन्त है। ऐसी अनन्तराशि का अन्त है ही नहीं। जिस राशि का अन्त है ही नहीं उस राशि के अन्त को सर्वज्ञ कैसे जान सकते हैं। कुछ सज्जन ऐसा कहते हैं कि 'सर्वज्ञ वास्तविक (अक्षय) अनन्तराशि के अन्त को भी जानते हैं, अन्यथा सर्वज्ञता का अभाव' हो जायगा।' किन्तु उनका ऐसा कहना, सर्वज्ञता के अभाव को सिद्ध करता है। जिस राशि का अन्त नहीं है, उस राशि के अन्त को केवलज्ञान जानता है' इस कथन से 'केवलज्ञान' मिथ्याज्ञान हो जायगा। अक्षय अनन्त राशि सर्वज्ञ और छद्मस्थ दोनों की अपेक्षा से 'अनन्त' है; 'सान्त' नहीं है। सर्वज्ञता के अभाव के भय से वस्तुस्वरूप का अन्यथा कथन करना उचित नहीं है। इस अन्यथा कथन में नियतिवाद का कथन भी गमित है।

—जं. सं. 6-11-58/V/ सिरमेल जैन

(१) कथंचित् पर्याय क्रमबद्ध कही जा सकती है

(२) क्रमबद्धपर्याय सर्वथा पूर्वनिश्चयानुसार नहीं होती

शंका—विभाव या भावबन्ध क्या यह क्रमबद्धपर्याय है ?

समाधान—विभाव या भावबन्ध (भावकर्म) पर्याय हैं। पर्याय क्रम से होती हैं, एकगुण की एकसमय में एक से अधिक पर्याय नहीं है अतः पूर्व पर्याय का नाश (व्यय) और उत्तरपर्याय का उत्पाद प्रतिसमय होता रहता है। पर्याय क्रमवर्ति हैं। अतः पर्याय (विभाव) इस अपेक्षा से क्रमबद्ध कही जा सकती है।

शंका—क्रमबद्धपर्याय क्या पूर्व निश्चयानुसार होती है ?

समाधान—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य, सिद्धजीव में अगुरुलघुगुण व कालद्रव्य के निमित्त से जो प्रतिसमय शुद्ध परिणमन होता है यह नियत है। अपने नियत क्रमानुसार होता रहता है, किन्तु यह नियम विभावपर्याय में सर्वथा लागू नहीं होता है, क्योंकि विभाव पर्याय में कालद्रव्य के अतिरिक्त अनेक बाह्यकारण होते हैं। उन सब बाह्यकारणों व अंतरंग कारण के मिलने पर ही कार्य की उत्पत्ति होती है, अन्यथा नहीं। (आप्त-परीक्षा कारिका ६ की टीका) कार्य का क्रम, अक्रम, कारण के क्रम, अक्रम अनुसार है—'कारण क्रमाक्रमानुविधायित्वाकार्य क्रमाक्रमस्थ ।' कार्य का होना, न होना विलम्ब से होना व जल्दी होना सब कारण के व्यापार पर निर्भर है—'तद् ध्यापाराश्रितं हि तद्भावावभावावित्त्वम् ।' परीक्षामुख ३१५६। अतः विभाव पर्याय सर्वथा पूर्व निश्चयानुसार होती है ऐसी बात नहीं है। यदि क्रमबद्धपर्याय को सर्वथा पूर्व निश्चयानुसार मान ली जावे तो तत्त्वोपदेश व्रत, संयम, तप, औषधि सेवन, सर्प-सिंह घादि से बचना सब व्यर्थ हो जायगा। अकालमृत्यु भी सिद्ध नहीं हो सकेगी। जिससे आगम से विरोध आ जायगा। श्री राजवातिक में इसप्रकार कहा है—'जैसे आम्र के पकने का नियमरूप काल है। ताते पहिले भी उपाय करि क्रिया का आरंभ होते सेते, आम्रफलादि के पकना देखिये है। तैसे ही प्रायु बंध के अनुसार नियमित मरणकाल ते पहिले उशीरणा के बल से आयुकर्म का घटना होय है। जैसे वैद्यकशास्त्र के जानने में चतुर वैद्य, चिकित्सा में अतिनिपुण, वायु आदि रोग का काल आए बिना ही पहिले वमन विरेचन आदि प्रयोग करि नहीं उदीरणा को प्राप्त भये श्लेष्मादिक का निराकरण करे है। बहुरि अकालमरण के धभाव के अर्थ रसायन के सेवन का उपदेश दे हे प्रयोग करे है। ऐसा न होय तो वैद्यकशास्त्र के व्यर्थपना उहरे। सो वैद्यकशास्त्र मिथ्या है नाहीं। याते वैद्यकशास्त्र की सामर्थ तें अकालमृत्यु है ऐसा सिद्ध होय है। वैद्यकशास्त्र का प्रयोग अकालमरण न होने के अर्थ भी प्रयोग करे हैं ।' (पं० पन्नालाल न्यायविवाकर कृत अनुवाद)। यदि मृत्यु का समय पूर्व निश्चित था तो

अकालमृत्यु औषध आदि के द्वारा कैसे टल सकती थी ? पर्याय का होना अथवा न होना बाह्य-प्राभ्यंतरकारणों पर निर्भर है । उन कारणों में 'काल' भी एक कारण है । इस विषय में पं० टोडरमलजी ने इसप्रकार लिखा है— 'तिन कारण विषे काललब्धि वा होनहार तो किछु वस्तु नाहीं । जिस काल विषे कार्य बर्न, सोई काललब्धि और जो कार्य भया सोई होनहार ।' (मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय ९) । श्री राजवातिकजी अध्याय १ सूत्र ३ की टीका में कहा है— 'निश्चय करि जो सर्वकार्य प्रतिकाल इष्ट होय तो, प्रत्यक्ष के विषय स्वरूप अथवा अनुमान के विषय स्वरूप बाह्य-प्राभ्यंतरकारण के नियम का विरोध आवे है । भाषाार्थ—कार्यमात्र का प्राप्तलाभ है सो बाह्य तथा प्राभ्यंतरकारण के निकट होते होय । ताते मोक्ष कार्य प्रतिकाल ही को कारण कहना यह नियम नाहीं संभवे है ।' इन प्रायमप्रमाणों से यह सिद्ध है क्रमबद्धपर्याय सर्वथा पूर्वनिश्चयानुसार नहीं होती ।

यदि क्रमबद्धपर्याय को सर्वथा पूर्व निश्चयानुसार मान लिया जावे तो नियतिवाद का प्रसंग आ जावेगा और नियतिवाद गृहीतमिथ्यात्व है । नियतिवाद का स्वरूप इसप्रकार है—'जब जैसे जहाँ जिस हेतु से जिसके द्वारा जो होना है, तभी तैसे ही तहाँ ही उसी हेतु से उसी के द्वारा वह होता है । दूसरा कोई कुछ भी नहीं कर सकता ।' जो ऐसा मानते हैं कि क्रमबद्धपर्याय पूर्व निश्चयानुसार होती है उनकी यह मान्यता मिथ्या है (पंचसंग्रह गाथा ३१२) और इस मान्यता का लोप करते हैं क्योंकि सर्वज्ञ ने काल व अकाल दोनों नयों का उपदेश दिया है ।

शंका—क्रमबद्धपर्याय क्या विभावभाव मानी गयी है ?

समाधान—पर्याय क्रम से होती है । पर्याय स्वभाव व विभाव दोनों प्रकार की होती हैं । क्रमबद्धपर्याय अर्थात् क्रम से होनेवाली पर्यायों ने केवल स्वभाव ही हैं और न केवल विभाव ही हैं अतः क्रमबद्धपर्याय को मात्र विभाव मानना उचित नहीं है ।

शंका—शास्त्रों में यह बतलाया है कि 'क्रमभाविनो पर्यायाः, सहभाविनो गुणाः' यानी पर्याय क्रमभावी है । क्या यह ठीक है और किस आधार पर होती है ?

समाधान—एक गुण या एक द्रव्य की पर्यायों क्रम से होती हैं यह कथन ठीक और भागमानुकूल है । प्रत्येक पर्याय अपने अनुकूल अतरंग व बहिरंग समर्थकारणों के मिलने पर होती है, कारणों के अभाव में नहीं होती । यदि अनुकूल समर्थकारण मिलेंगे तो पर्याय होंगी यदि कारण नहीं मिलेंगे तो पर्याय नहीं होगी । 'कारण के अभाव में कार्य (पर्याय) की उत्पत्ति नहीं होती' (व० ख० पु० १२ पृष्ठ ३८२; अष्टसहस्री पृष्ठ १५९) ।

—जै. सं. 20-11-58/V/ छोटालाल घेलाभाई गांधी; अंकलेखक

किसी भी शास्त्र से क्रम-नियत पर्याय की सिद्धि नहीं होती

शंका—श्री समयसार गाथा ३०८-३११ की टीका में इसप्रकार लिखा है—'जीवो ही तावत्क्रमनियमिता-त्मपरिणामरूपद्यमानो' जीव एव नाजीवः, एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामरूपद्यमानोऽजीव एव न जीवः ।' यहाँ पर 'क्रमनियमित' से क्या क्रमबद्धपर्याय अर्थात् प्रत्येक पर्याय का काल नियत है' ऐसा अर्थ निकलता है । श्री कानजीश्वामी इसके आधार पर 'क्रमबद्धपर्याय' अर्थात् नियति का उपदेश देते हैं । इसीप्रकार श्री प्र० सा० अ० २, गाथा ७ की टीका में आये हुए 'स्वावसरे स्वरूप पूर्वक्याभ्यामुत्पन्नोच्छन्मत्वात्सर्वत्र परस्परानुत्पत्ति' इन शब्दों से तथा गाथा २१ में आये हुए 'क्रमानुपाती स्वकाले प्रादुर्भावः' शब्दों से क्रमबद्धपर्याय का अभिप्राय निकालते हैं । उक्त शब्दों से 'क्रमबद्धपर्याय' की पुष्टि होती है क्या ?

समाधान—श्री समयसार गाथा ३०८-३११ की टीका में 'क्रमनियमित' शब्द का अर्थ क्रमवर्ती है, क्रमबद्ध नहीं है। पर्याय क्रमवर्ती होती हैं युगपत् नहीं होती अतः टीकाकार ने 'क्रमनियमित' शब्द दिया है। अथवा 'नियमित' शब्द 'क्रम' का विशेषण नहीं है किन्तु 'आत्मपरिणाम' का विशेषण है जैसा कि पं० जयचन्दजी के अर्थ से विदित होता है। पं० जयचन्दजी ने इस पंक्ति का अर्थ इस प्रकार किया है—'जीव है सो तो प्रथम ही और नियत निश्चित अपने परिणाम तिनिकरि उपजता संता जीव ही है, अजीव नहीं है।' ('नियमित' शब्द देने का प्रयोजन यह है कि जीव के परिणाम जीवरूप ही हैं अजीवरूप नहीं हैं।) पं० जयचन्दजी ने भावार्थ में भी कहा है—'सर्व-द्रव्यनि के परिणाम न्यारे न्यारे हैं' पं० जयचन्दजी के शब्द ज्यों के त्यों कलकत्ता से प्रकाशित समयसारप्राप्त में दिये हुए हैं। अतः श्री समयसार आत्मव्यपति गाथा ३०८-३११ से 'क्रमबद्धपर्याय अर्थात् एकान्तनियति' का सिद्धांत सिद्ध नहीं होता।

श्री प्रवचनसार गाथा ७ व २१ अध्याय २ की टीका से भी 'क्रमबद्ध पर्याय' की पुष्टि नहीं होती है। गाथा २१ में 'असत् उत्पाद' का कथन है। जिस काल में जो पर्याय उत्पन्न हुई है उससे पूर्वकाल में वह पर्याय आविद्यमान थी अतः असत् का उत्पाद है। जिसकाल में जो पर्याय अपने अनुकूल अंतरंग व बहिरंग कारणों से उत्पन्न होती है वह काल उस पर्याय का स्वकाल कहलाता है। यहाँ पर पर्याय के स्वकाल से यह अभिप्राय नहीं है कि प्रत्येक पर्याय का काल निश्चित है। गाथा ७ में यह बतलाया गया है—'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होने पर भी द्रव्य सत् रूप है। स्वभाव में निश्चय अवस्थित होने से द्रव्य सत् है। ध्रौव्य-उत्पाद विनाश की एकतारूप परिणाम द्रव्य का स्वभाव है। प्रवाहक्रम में प्रवर्तमान द्रव्य के सूक्ष्म-अंश परिणाम हैं वे परिणाम परस्पर व्यतिरेक (भिन्न-भिन्न भेद लिए हुए) हैं, अन्यथा प्रवाहक्रम नहीं हो सकता था। परिणामों की परस्पर व्यतिरेकता सिद्ध करने के लिए इन पंक्तियों में यह कहा गया है कि प्रत्येक परिणाम का अपना-अपना काल भिन्न है अतः प्रत्येक परिणाम अपने-अपने काल पर उत्पन्न होता है उससमय पूर्व परिणाम नाश हो जाते हैं। यदि उससमय पूर्वपरिणाम नाश न हो तो परिणामों में व्यतिरेकता नहीं हो सकती। यहाँ पर 'स्वावसरे' का अर्थ 'नियतकाल' नहीं है। अंतरंग और बहिरंग निमित्तों से जिस अवसर या काल में जो पर्याय प्रगट हो गई वह ही उसपर्याय का काल है। पं० टोडर-मलजी ने भी मोक्षमार्गप्रकाशक में ऐसा ही कहा है—'काललब्धि वा होनहार तो किछु वस्तु नाहीं। जिस काल विषे कार्य बनें सोई काललब्धि और जो कार्य भया सोई होनहार।' श्री प्रवचनसार के परिशिष्ट में श्री अमृतचन्द्रा-चार्यवेव ने कहा है 'आत्मद्रव्य अकालतय से जिसकी सिद्धि समय पर आधार नहीं रखती ऐसा है, कृत्रिम गर्मी से पकाये गये आम्रफल की भांति।'।

श्री भावार्थ अकलंकवेव ने भी श्री राजवातिक में इसीप्रकार कहा है—भव्य के नियमित काल करि ही मोक्ष की प्राप्ति है ऐसा कहना भी अनवधारणरूप है, जातौ कर्म की निर्जरा को काल नियमरूप नहीं है, भव्यनि के समस्त कर्म की निर्जरा पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति में काल का नियम नहीं संभवे है। कोई भव्य तो संख्यात काल करि मोक्ष प्राप्त हो गये, कोई असंख्यातकाल करि और कोई अनन्तकाल करि सिद्ध हो गये। बहुरि अन्य कोई भव्य हैं ते अनन्तकाल करि के भी सिद्ध न होंगये। ताते नियमितकाल ही करि भव्य के मोक्ष की उत्पत्ति है, ऐसा कहना युक्त नाहीं, ऐसा जानना। नियमितकाल ही करि मोक्ष है, यह कहना युक्त नहीं। निश्चय करि जो सर्वकार्य प्रतिकाल इष्ट होय तो प्रत्यक्ष के विषय स्वरूप अथवा अनुमान के विषय स्वरूप बाह्य आभ्यन्तर कारण के नियम का विरोध आवे (श्री राजवातिक अध्याय १, सूत्र ३ स्वर्गीय पं० पद्मालाल न्यायविवाकर कृत अनुवाक हस्तलिखित पृ० ११५-११६)। श्री राजवातिक अध्याय २ सूत्र ५३ की टीका में भी प्रश्नोत्तररूप इसप्रकार कहा है—'प्रश्न—आयु बंध में जितनी स्थिति पड़ी है, ताका अंतिम समय आये बिना मरण की अनुपलब्धि है, जातौ काल

आये बिना कार्य होय नहीं, ताँतें आयु के अपवर्तन कहना नहीं संभवे है ? उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है, जाँतें श्राद्धफल आदि की ज्यों अप्राप्तकाल वस्तु का उदीरणा करि परिणमन देखिए है । जैसे आम का फल पाल में दिये भीष्म पके है, तैसे कारण के वशतें, जितनी स्थिति को लिये आयु बाँध्या था, ताकी उदीरणा करि अपवर्तन होय पहले ही मरण हो जाय । चिकित्सा में अतिनिपुण वीद्य अकालमरण के अभाव के अर्थ रसायन के सेवन का उपदेश करे है, प्रयोग करे है, ऐसा न होय तो वीद्यशास्त्र के व्यर्थपणा ठहरे है किन्तु वीद्यशास्त्र मिथ्या है नहीं । अकालमृत्यु को दूर करने अर्थ चिकित्सा देखिये है ।” इन प्रागमप्रमाणों से स्पष्ट है कि प्रत्येक पर्याय का कोई नियतसमय हो ऐसा नहीं है, किन्तु बाह्य और अंतरंगकारणों के अनुसार कार्य की उत्पत्ति होती है । श्री समयसार व प्रवचनसार या उनके टीकाकार ने यह नहीं कहा कि प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येकपर्याय का काल नियत है, क्योंकि वे वीतराग गुरु थे अतः प्रागम विरुद्ध कैसे उपदेश दे सकते थे ।

—जं. सं. 15-1-59/V/ सोमचंद्र अमथालाल ग्राह कलोल (गुजरात)

उपयुक्त शंका के सम्बन्ध में पं० मुधालालजी रांधेलीय, न्यायतीर्थ, सागर द्वारा भेजा गया समाधान इसप्रकार है—सं०

समयसार गाथा ३०८ आत्मरूपाति टीका में ऐसा उद्धरण है । उसके अर्थ एवं रहस्य में कुछ विवाद सा है । श्री कानजीस्वामी और पण्डितवर्ग भिन्न-भिन्न अर्थ लगाते हैं । यद्यपि क्षायोपशमिकज्ञान में यह असम्भव नहीं है परन्तु सत्य वही है जो आगम और श्रुति से पुष्ट होकर अनुभव में उतर जाय । उसमें पक्षपात की गुंजायश नहीं रहती, न रहना चाहिये । बुद्धि का कोई ठेका नहीं है । आदि आदि ।

मेरी समझ में पूर्वोक्त वाक्यों का (शब्दों का) अर्थ इस तरह आता है कि जीवद्रव्य वा अजीवद्रव्य सभी का परिणमन (परिणाम या पर्याय) दो तरह का होता है (१) क्रमिक (२) नियमित । अर्थात् १ क्रमबद्ध (क्रमवर्ती) २ नियमबद्ध (नियमवर्ती) । सो क्रमबद्ध या क्रमिक उसे कहते हैं जो क्रम से हो याने भूत-वर्तमान-भविष्यत् (उत्पन्न-उत्पद्यमान-उत्पत्त्यमान) के रूप में हो । जैसाकि होता रहता है—शाश्वतिक है । और नियमबद्ध या नियमित उसे कहते हैं जो उसीद्रव्य का उसी में हो (नियत या निश्चित परिणामरूप) जैसे जीव-द्रव्य का जीव में, अजीवद्रव्य का अजीवद्रव्य में होता रहता है । अन्य का अन्य में नहीं । सो ऐसा उभयरूप परिणाम जीवद्रव्य में एवं अजीवद्रव्य में सदैव होना पाया जाता है । और निश्चय में स्वतः सिद्ध है । व्यवहार में परतः (निमित्त से) सिद्ध कहते हैं । बस, यही क्रमबद्ध या क्रमिक तथा नियमित या नियमबद्ध पर्याय का अर्थ है । न कि उसका अर्थ नियतवाद (नियतकाल) या एकांतवाद है, जैसाकि बहुधा बिना विचारे समझे, लोग यद्वातद्वा अर्थ कर देते हैं । मूल में शब्दभेद भी है—नियमितशब्द है, नियतशब्द नहीं है । यह तत्त्वविचार बड़ा गहन है, इसमें कठिनाई से प्रवेश होता है । सो जब यथार्थ में भीतर प्रवेश होता है तभी उसको स्याद्वादरूप मिलता है तथा एकांतवाद हट जाता है ।

नोट—इसी प्रकार समाधान प्रवचनसार की गाथा नं० ७, अध्याय २ तथा राजवातिक के उद्धरणों का भी समझना उपयुक्त होगा । इसके सिवाय नियतकाल मानने पर सबसे बड़ी हानि श्री कानजीस्वामी को ही होगी । इसलिये कि वे स्वयं निमित्तकारणों को अकिञ्चित्कर मानते हैं । उपादानकारण को ही मुख्य सर्गस्व कहते हैं । तब नियतकाल मानने पर कालद्रव्य भी निमित्तकारणरूप मुख्य सिद्ध हो जावेगा । एवं वह किञ्चित्कर ठहर जाएगा । इत्यादि दोषोत्पत्ति होगी ।

१. पूर्वपर्याय का स्यय व उत्तरपर्याय का उत्पाद लैकालिक क्रमरूप ।

क्रमबद्धपर्याय अथवा नियतिवाद एकान्त मिथ्यात्व है

शंका—श्री कानजीस्वामी ने वर्ष ८ अंक ३ के आत्मधर्म पृष्ठ ४९-५० पर इसप्रकार कहा है—‘अहो ! देखो तो सही ! क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में कितनी गंभीरता है ! द्रव्य की पर्याय परसे फिर जाती है यह बात तो है नहीं, परन्तु द्रव्य स्वयं अपनी पर्याय को क्रमबद्ध के नियम विशुद्ध फेरना चाहे तो भी वह फिर सकती नहीं।’ श्री कानजीस्वामी का उक्त कथन क्या समीचीन है ?

समाधान—श्री कानजीस्वामी का उपर्युक्त कथन सम्यक् नहीं है, किन्तु ‘नियतिवाद’ एकान्तमिथ्यात्व का पोषक है। श्री पंचसंग्रह में एकान्तमिथ्यात्व के कथन के प्रकरण में नियतिवाद एकान्तमिथ्यात्व का स्वरूप इसप्रकार कहा है—“जब जैसा जहाँ जिस हेतु से जिसके द्वारा जो होना है; तभी तैसे ही वहाँ ही उसी हेतु से उसी के द्वारा वह होता है। यह सब नियति के अधीन है। दूसरा कोई कुछ भी नहीं कर सकता।। ३१२।।” श्री कानजीस्वामी के क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्त में और नियतिवाद के सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं है मात्र शब्दभेद है। इसप्रकार के मिथ्यात्व के प्रचार से जीव पुरुषार्थहीन हो रहे हैं और उनका अकल्याण हो रहा है। एक सज्जन ने जो श्री कानजीस्वामी के भक्त हैं और क्रमबद्धपर्याय पर अटल श्रद्धा रखते हैं, श्री जिनमंदिर में श्राना छोड़ दिया। जब अन्य सज्जनों ने मंदिर में आने के लिए उनसे प्रेरणा की तो उत्तर यह मिला कि क्रमबद्धपर्याय के अनुसार सब कार्य होते हैं, मैं उसमें हेरफेर कैसे कर सकता हूँ।

—डॉ. सं. 22-1-59/V/ सो. अ. शाह, कलोल, गुजरात

(१) मोटर अपनी योग्यता से नहीं रुकती, किन्तु पेट्रोल के अभाव से रुकती है

(२) “सर्वज्ञ ने सबको जाना” इसका खुलासा

शंका—‘वस्तुविज्ञानसार’ में श्री कानजीस्वामी ने लिखा है कि मोटर पेट्रोल समाप्त होने के कारण नहीं रुकती है, अपितु मोटर रुकने की योग्यता उससमय होने से मोटर रुकती है। भगवानसर्वज्ञ के ज्ञान में भविष्य जैसा प्रतिबिम्बित होता है, वंसा ही भविष्य में होगा भी। उसमें परिवर्तन नहीं होगा। हमलोग भी मानते हैं कि भगवान के ज्ञान में जो प्रतिभासित हुआ है उससे भिन्न नहीं होगा। फिर कानजीस्वामी का विरोध क्यों ?

समाधान—संसार में प्रत्येक कार्य अपने अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कारणों के मिलने पर होता है। बिना कारण के कोई भी कार्य नहीं होता। यदि कारण के बिना कार्य होने लगे तो अतिप्रसङ्गदोष आ जायेगा। (व. ख. पु. १२, पृ० ३८२, आप्तपरीक्षा पृ० २४७, आप्तमीमांसाकारिका २१, अष्टसहस्री पृ० १५९)। यदि उपादानकारण ही कार्य में सहकारीकारण भी हो जावे तो लोक में जीव और पुद्गलमात्र दो ही द्रव्य रह जायेंगे; क्योंकि, चर्मादिद्रव्यों का जो गति आदि में सहकारीकारण है, क्या प्रयोजन रह जावेगा (पं० का० गा० २४ पर श्री जयसेनआचार्यकृत टीका) ? यदि उपादानकारण ही स्वयं अपना सहकारीकारण भी हो जावे तो दूसरा दोष यह आवेगा कि नित्य ही कार्य होता रहेगा, क्योंकि, उपादान और सहकारीकारणों के होने पर कार्य अवश्य होता है। अतः मोटर के चलने या रुकने में अन्य कोई सहकारीकारण नहीं है तो मोटर नित्य चलना चाहिए या रुका रहना चाहिए। कारण के सञ्चार में कार्य का होना कारण के व्यापार के अधीन है (प्रमेयकमलमार्तण्ड अ० ३, सूत्र ५९) जब मोटर चलती है तब मोटर में पेट्रोल अवश्य होता है और पेट्रोल के अभाव में मोटर नहीं चलती। इसप्रकार पेट्रोल का मोटर के चलने के साथ अन्वय-व्यतिरेक है। अन्वय और व्यतिरेकके द्वारा ही कार्यकारणभाव सुप्रतीत होता है (आप्तपरीक्षा पृ० ४०-४१)। यदि यह मान लिया जावे कि पेट्रोल के अभाव के कारण बिना ही मोटर रुकी

तो मोटर का रुकना अकारण हो गया । जिसका कोई कारण (हेतु) नहीं होता और मौजूद है वह नित्य होती है । सत् और कारणरहित को नित्य कहते हैं (आप्तपरीक्षा पृष्ठ ४) मोटर का रुकना पर्याय है अतः वह नित्य नहीं है । इसलिये मोटर के रुकने में पेट्रोल का अभाव है ।

योग्यता—मोटर रुकने की योग्यता रुकने से पूर्व में थी या मोटर रुकने के पश्चात् आई ? यदि मोटर में रुकने की योग्यता पूर्व में ही थी तो उस समय मोटर क्यों चलती रही ? यदि मोटर रुकने के पश्चात् योग्यता आई तो उस योग्यता ने क्या किया, क्योंकि मोटर तो पूर्व में ही रुक चुकी थी । यदि मोटर रुकने की योग्यता और मोटर का रुकना ये दोनों पर्याय एक साथ उत्पन्न हुईं तो एकद्रव्य की दो पर्याय एकसमय में नहीं होती । पर्याय क्रमवर्ती होती हैं । मोटर में रुकने की योग्यता नित्य होती है या अनित्य । यदि नित्य है तो मोटर नित्य ही रुकी रहनी चाहिए । यदि अनित्य है तो उस योग्यता का उत्पाद किस कारण से हुआ । यदि बिना कारण उत्पाद होने लगे तो 'गधे के सींग' के भी उत्पाद का प्रसंग आ जायेगा । ग्रथवा गेहूँ के बोलने पर जो उगने का प्रसंग आ जायेगा । अतः उत्पाद निःकारण नहीं होता । कहा भी है—'उभयनिमित्तवशाद्भावान्तरादाप्तित्वादनमुत्पादः ।' (स० सि० अ० ५, सू० ३० की टीका) । अर्थ—उभयनिमित्त (बाह्य-अभ्यन्तर ग्रथवा उपादान-निमित्त) वश से भावान्तर (नवीनभाव) की उत्पत्ति को उत्पाद कहते हैं । जिसका उत्पाद है उसका व्यय भी होता है । व्यय भी निःकारण नहीं होता (आप्तमीमांसाकारिका २४, पं० जयचन्द्रजीकृत भाषा टीका पु० ३४) । अतः मोटर में रुकने की योग्यता उत्पन्न हुई । वह भी बिना कारण नहीं हुई, किन्तु उसमें भी पेट्रोल का अभाव कारण हुआ । 'वस्तुभिज्ञानसर' में श्री कानजीस्वामी ने जो यह लिखा है कि 'मोटर पेट्रोल समाप्त होने के कारण नहीं रुकती है ।' यह लिखना आगम व युक्ति से विरुद्ध है एवं उपहास के योग्य है ।

सर्वज्ञ—सर्व प्रथम तो यह बात है कि सर्वज्ञ का ज्ञान पदार्थ के परिणमन में कारण नहीं है, किन्तु पदार्थ का परिणमन सर्वज्ञ के ज्ञान को कारण है (ज० घ० पु० १) पदार्थ का परिणमन सर्वज्ञ-ज्ञान के आधीन नहीं है, किन्तु प्रत्येकपदार्थ अपने-अपने अंतरंग व बहिरंग निमित्तों के आधीन परिणमता है । अतः 'सर्वज्ञज्ञान के कारण मोटर रुकी या मोटर में रुकने की योग्यता आई' ऐसा कहना कार्य कारणभाव की नासमझी है ।

सर्वद्रव्य को और उनकी सर्वपर्यायों को सर्वज्ञ व्यवहार अथवा उपचारण से जानता है, ऐसा आगम-वाक्य है और इसमें किसी को विवाद भी नहीं है । यदि यह माना जावे कि सर्वज्ञ सर्वद्रव्य और सर्वपर्यायों को नहीं जानता तो सर्वज्ञ का अभाव हो जायेगा, किन्तु 'सर्वज्ञ है' ऐसा हेतु द्वारा आगम में सिद्ध किया जा चुका है और सर्वज्ञ के अभाव का खण्डन किया गया है । केवलज्ञान, सम्पन्नज्ञान है अतः सर्वज्ञ पदार्थ को हीन अधिक नहीं जानते किन्तु जिसरूप पदार्थ है उसरूप ही जानते हैं । सर्व पदार्थ को जानने का यह अर्थ नहीं है कि सर्वज्ञ ने समस्त आकाशद्रव्य को जान लिया अर्थात् अलोकाकाश का अन्त जान लिया । क्योंकि अलोकाकाश अनन्त है उसको सांत्वरूप से सर्वज्ञ कैसे जान सकते हैं । इसप्रकार सर्वपर्यायों को जानने का भी यह अर्थ नहीं कि सर्वज्ञ प्रत्येकद्रव्य की सम्पूर्ण पर्याय को जान ले, क्योंकि, द्रव्य अनादि-अनंत है सम्पूर्णपर्याय जानने से द्रव्य सादि-सान्त हो जाता है । अतः सर्वज्ञ अनादि-अनंत पदार्थ को सादि सान्त्वरूप कैसे जान सकते हैं । ऐसा भी नहीं है कि आकाश छपस्थज्ञान की अपेक्षा अनंत है और सर्वज्ञज्ञान की अपेक्षा सान्त हो अथवा प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें छपस्थज्ञान की अपेक्षा अनादि-अनन्त हों, किन्तु सर्वज्ञज्ञान की अपेक्षा सादिसान्त हों । द्रव्य नित्य-अनित्य है सर्वज्ञ भी नित्य-अनित्यरूप से जानते हैं, मात्र नित्यरूप या मात्र अनित्यरूप ही नहीं जानते । इसीप्रकार काल व अकालनय की अपेक्षा पर्यायें नियत व अनियत हैं । सर्वज्ञ भी नियत-अनियतरूप से जानते हैं । सर्वज्ञज्ञान में पर्याय नियत हों ऐसा नहीं है । एकान्तनियति (अर्थात् जिससमय जो होता है उससमय वह अवश्य होगा उसमें कोई कुछ भी परिवर्तन नहीं कर

सकता) के सिद्धांत को जिनआगम में मिथ्यात्व कहा है (पञ्च० श्लो० ३१२, प्रथमअध्याय पृ० ११०; गो० क० गाथा ८८२) अतः ऐसी मान्यता कि 'सर्वद्वयों को भविष्य की सर्वपर्याय नियत हैं उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता' मनुष्य को पुरुषार्थहीन कर देती है। प्रत्येकमनुष्य अपने पुरुषार्थ द्वारा कर्मों को नाशकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। मोक्ष जाने का कोई काल नियत नहीं है। (रा. वा. अ. १, सूत्र ३ की टीका)

—जं. सं. 5-3-59/VI/ रामकलाश, पटना

- (१) पर्यायों कथंचित् नियत व कथंचित् अनियत हैं
- (२) परमाणु कथंचित् निरवयव तथा कथंचित् सावयव
- (३) "समय" कथंचित् निरवयव कथंचित् सावयव

शंका—जब केवलज्ञानी ने प्रत्येकद्रव्य की भविष्य व भूत की सब पर्यायों को जान लिया है तो केवलज्ञानी ने जिस समय जिसपर्याय को देखा है उससमय उसद्रव्य की वह पर्याय ही होगी। फिर सर्वथा क्रमबद्ध पर्याय मानने में क्या हानि है ?

समाधान—'क्रमबद्ध' पर्याय का शब्द किसी भी दि० जैन आगम में नहीं है। प्रायः सभी महान् आचार्यों ने यह कथन किया है कि केवलज्ञानी प्रत्येकद्रव्य की समस्तपर्यायों को जानते हैं, किन्तु फिर भी किसी आचार्य ने क्रमबद्धपर्याय का कथन क्यों नहीं किया ? आगम में 'नियति' का कथन अवश्य पाया जाता है जिसे केवलज्ञानी ने अपनी दिव्यध्वनि में एकान्तमिथ्यात्व कहा है। इस दिव्यध्वनि के अनुसार गणधर महाराज ने द्वादशांग की रचना की है, जिसके बारहवें दृष्टिवाद अंग के 'सूत्र' नामक अधिकांश के तीसरे अधिकांश में 'नियति' परमत्त का खंडन है।^१

इस 'नियति' का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—“जब जैसे जहाँ जिस हेतु से जिसके द्वारा जो होना है तभी जैसे ही, वहाँ ही, उसी हेतु से उसीके द्वारा वह होता है। यह सर्व नियति के अधीन है दूसरा कोई कुछ भी नहीं कर सकता। (संस्कृत पंचसंग्रह अ० १ श्लोक ३१२; गो० क० गा० ८८२; प्राकृत पंचसंग्रह पृ० ५४७ ।)

यदि केवलज्ञानी ने प्रत्येकद्रव्य की पर्यायों को सर्वथा 'नियतरूप' से देखा होता तो वे 'नियति' को एकान्त मिथ्यात्व क्यों कहते। इससे सिद्ध है कि केवलज्ञानी ने पर्यायों को कथंचित् नियतिरूप और कथंचित् अनियतिरूप देखा है।

यदि कहा जाय कि स्वामिकातिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३२१-३२२ में 'नियति' का उपदेश दिया गया है। सो यह भी ठीक नहीं है। वहाँ पर सम्यग्दृष्टि को व्यंतर आदि कुदेवों के पूजने के निषेध के लिये यह बतलाया गया है कि “कोई भी व्यंतर आदिक किसी जीव का उपकार या अपकार नहीं कर सकता, शुभ या अशुभकर्म ही जीव का उपकार या अपकार करते हैं। व्यंतर आदि यदि जीव को लक्ष्मी आदि दे सकते हैं तो फिर धर्माचरण के द्वारा शुभ कर्म से क्या लाभ ? (गाथा ३१६-३२०)। व्यंतर आदि क्षुद्रदेव ही नहीं किन्तु बड़े-बड़े इन्द्र या स्वयं जिनेन्द्र भी उस सुख-दुःख को टालने में असमर्थ हैं (गाथा ३२१-३२२)।^१ क्योंकि कोई भी अन्यजीव के कर्मों में

१. अट्टासी-अहियाटेसु घउणहमहियाटाणमत्थि णिहेत्तो । पठमो अबंधयाणं विदियो तेरासियाण बोद्धवो । तदियो य णियङ्ग-पवखे हवङ्ग पउत्थो ससम्यग्गिम् ।

परिवर्तन करने में असमर्थ है । किन्तु वह जीव स्वयं तो अपने कर्मों में शुभ या अशुभ परिणामों के द्वारा उत्कर्षण अथवा संक्रमणरूप परिवर्तन कर सकता है । अतः गाथा ३२१-३२२ में एक भी शब्द ऐसा नहीं लिखा गया कि जैसा जिनेन्द्र ने देखा है वंसा अवश्य होगा । क्योंकि स्वामिकांतिकेयाचार्य जानते थे कि ऐसा लिख देने से उस एकान्तनियति का प्रसंग आजायगा, जिस को द्वादशांग के दृष्टिवाद ग्रंथ में एकांतमिथ्यात्व कहा है । सम्यग्दर्शन परिणामों के द्वारा यह जीव अनन्तानन्त संसारपर्यायों को काटकर अर्थात् मिटाकर; अर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्र कर देता है (ध० पु० ७ पृ० ११, १४, १५; पं० का० गा० २० पर श्री जयसेनाचार्यकृत टीका ।^१)

किसी भी दि० जनागम में एकांतमिथ्यात्व का समर्थन नहीं मिलेगा । श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पंचास्तिकाय का मंगलाचरण करते हुए दूसरे श्लोक में कहा है कि जैनसिद्धान्तपद्धति का प्राण 'स्यात्कार' है तथा समयसार गाथा ५ की टीका में भी जिनागम 'स्यात्' पद से मुद्रित कहा है । फिर ऐसे जिनागम में सर्वथानियति (ऋमबद्ध-पर्याय) का समर्थन कैसे हो सकता है ।

यद्यपि परमाणु निरवयव है, क्योंकि वह भेदा नहीं जा सकता और न उससे छोटा कोई अन्य पुद्गलद्रव्य है फिर भी केवलज्ञान में प्रत्यक्षरूप से और श्रुतज्ञान में परोक्षरूप से वह परमाणु सावयवरूप से प्रतिभासित होता है, क्योंकि यदि परमाणु के उपरिम, अधस्तन भाग न हों तो परमाणु का ही ग्रमाव हो जायगा । विवक्षित परमाणु को पूर्व की ओर एक अन्य-परमाणु ने स्पर्श किया, पश्चिम की ओर दूसरे अन्य परमाणु ने स्पर्श किया, उत्तर की ओर तीसरे अन्य परमाणु ने स्पर्श किया, दक्षिण की ओर चौथे अन्य परमाणु ने स्पर्श किया, ऊपर की ओर अन्य पाँचवें परमाणु ने स्पर्श किया, नीचे की ओर अन्य छठे परमाणु ने स्पर्श किया । इसप्रकार एक ही विवक्षित परमाणु के छह विभिन्न भागों को छह भिन्न-भिन्न अन्य परमाणुओं ने स्पर्श किया है । ये भाग कल्पितरूप भी नहीं हैं; क्योंकि परमाणु में ये भाग उपलब्ध होते हैं । केवलज्ञान तथा श्रुतज्ञान में इन अणुओं के प्रतिभासमान होने पर भी क्या परमाणु सर्वथा सावयव होगया । यदि परमाणु को सर्वथा सावयव माना जायगा तो परमाणु को निरवयव कहनेवाले जिनागम से विरोध आवेगा । अतः परमाणु कथंचित् निरवयव और कथंचित् सावयव है और ऐसा ही केवलज्ञानी ने देखा है, क्योंकि वस्तु धनेकात्तात्मक है । (ध० पु० १४ पृ० ५६-५७) ।

यद्यपि 'समय' व्यवहारकाल का सबसे छोटा अंश होने से अविभागी है तथापि जब पुद्गलपरमाणु तीव्र-गति से उस एकसमय में चौदहराजु गमन करता है तब उस पुद्गलपरमाणु के चौदहराजु के असंख्यातप्रदेशों में से प्रत्येक प्रदेश को स्पर्श करने का भिन्न-भिन्नकाल अर्थात् 'समय' के अंश, केवलज्ञान में प्रत्यक्षरूप से और श्रुतज्ञान में परोक्षरूप से प्रतिभासमान होता है । केवलज्ञान में 'समय' के विभागी प्रतिभासमान हो जाने से क्या उक्त 'समय' सर्वथा विभागी होगया । यदि 'समय' को सर्वथा विभागी माना जावेगा तो अव्यवस्था हो जायगी तथा अविभागी कहनेवाले आगम से विरोध आवेगा । अतः 'समय' कथंचित् अविभागी, कथंचित् सविभागी है, ऐसा मानना सम्यक् अनेकान्त है ।

इसीप्रकार पर्यायों को भी कथंचित् नियतिरूप कथंचित् अनियतिरूप मानना सम्यक् अनेकान्त है और सर्वज्ञ ने भी इसीप्रकार देखा व जाना है ।

रा० वा० अ० १ सू० ३ की टीका में यह प्रश्न उठाया गया कि 'भव्यजीव धरने समय के अनुसार ही मोक्ष जायगा । यदि समय (नियतकाल) से पूर्व मोक्षप्राप्ति की संभावना हो तभी अधिगमसम्यक्त्व की सार्थकता

१; यथा वेणुदण्डो विषिन्न-चित्तप्रसालने कृते श्रुद्धो भवति तथा अयं जीवोपि।

हे ।' इसका उत्तर देते हुए महानाचार्य अकलंकदेव लिखते हैं—'भव्यों की कर्मनिअंरा का कोई समय निश्चित नहीं है और न मोक्ष का ही । अतः भव्य के मोक्ष के कालनियम की बात उचित नहीं है । यदि सबका काल ही कारण मान लिया जाय तो बाह्य और आभ्यन्तर कारण-सामग्री का ही लोप हो जायगा ।' श्री अकलंकदेव यह भी जानते थे कि 'केवलज्ञानी तीनकाल की पर्यायों को जानते हैं; जैसा कि उन्होंने रा० धा० अ० एक सूत्र २९ की टीका में कहा है, फिर भी उन्होंने यह स्पष्ट शब्दों में कहा कि 'भव्यजीव के मोक्षप्राप्ति का कोई समय निश्चित नहीं है ।' आगमवाक्य इतने स्पष्ट होने पर भी जो एकान्त क्रमबद्धपर्याय का डंका बजा रहे हैं वे विचार करें कि उनको दिग्म्बर जैनागम पर श्रद्धा है या नहीं ।

—जौ. ग. 29-11-62/VIII/ डॉ. एल. त्रास्वी

सर्वथा "क्रमबद्धपर्याय", यह मिथ्या एकान्त है

शंका—'वस्तु अनेकान्तात्मक ही है' यह भी तो एकान्त हुआ । भले ही आप अपने को अनेकान्तवादी कहते हों, वास्तव में तो आप भी एकान्तवादी हैं, फिर एकान्त को सर्वथा मिथ्या क्यों कहते हो ? सम्यगेकान्त का कथन भी तो श्री समन्तभद्राचार्य ने किया है । जिसप्रकार 'सर्वथा अनेकान्त है', इस एकान्त को सम्यगेकान्त कहते हो, उसीप्रकार सर्वथा क्रमबद्ध पर्याय को सम्यगेकान्त क्यों नहीं मान लेते ?

समाधान—प्रनेकान्त को सर्वथा एकान्तरूप कहना उचित नहीं है, क्योंकि अनेकान्त भी प्रमाण और नय से सिद्ध होता हुआ अनेकान्तरूप है, प्रमाण की अपेक्षा वह अनेकान्तरूप है और अपितनय की अपेक्षा एकान्तरूप भी है । बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र श्लोक १०३ ।

वस्तु प्रमाण की अपेक्षा नित्य-अनित्यरूप अनेकान्तात्मक है किन्तु वही वस्तु द्रव्याधिकनय की मुख्यता से नित्य ही है और पर्यायाधिकनय की मुख्यता से अनित्य ही है । प्रमाण सकलादेश और नय विकलादेश है । अतः नित्य-अनित्य उभयरूप प्रमाण का विषय है किन्तु केवल नित्य अथवा केवल अनित्य, यह नय का विषय है ।

प्रमाण की अपेक्षा वस्तु नित्य-अनित्यात्मक है यह तो अनेकान्त है, क्योंकि इसमें परस्पर दो विरोधी घटों का ग्रहण है । द्रव्याधिकनय की अपेक्षा वस्तु 'नित्य' ही है यह सम्यगेकान्त है, क्योंकि द्रव्याधिकनय का विषय मात्र 'नित्य' है अतः द्रव्याधिकनय 'अनित्यता' को ग्रहण करने में असमर्थ है । यदि द्रव्याधिक नय का विषय भी नित्य-अनित्य हो जाय तो प्रमाण व नय में कोई अन्तर नहीं रहेगा अथवा पर्यायाधिकनय का कोई विषय न रहने से पर्यायाधिकनय के अभाव का प्रसंग आवेगा । पर्यायाधिकनय का अभाव है नहीं, क्योंकि सर्वज्ञ ने दो नय कहे हैं—द्रव्याधिक और पर्यायाधिक (पंचास्तिकाय गाथा ४ समख व्याख्या टीका) । यदि द्रव्याधिकनय की अपेक्षा बिना 'द्रव्य नित्य ही है' ऐसा कहा जायगा तो वह मिथ्या एकान्त हो जायगा । इसीप्रकार बिना किसी अपेक्षा के 'पर्यायों क्रमबद्ध' अर्थात् नियत हैं ऐसा कहना भी मिथ्या एकान्त है सम्यगेकान्त नहीं है ।

यदि यह कहा जाय कि केवलज्ञान की अपेक्षा से पर्यायों क्रमबद्ध अर्थात् नियत हैं, सो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि केवलज्ञान प्रमाण है और प्रमाण सकलादेश है, उसकी अपेक्षा तो पर्यायों नियत-अनियत उभयात्मक होंगी, मात्र नियत (क्रमबद्ध) नहीं हो सकतीं । केवल नियत विकलादेश होने से नय का विषय है । पर्यायों को केवल नियत कहने के लिए किसी नय की शरण लेना होगा और यदि वह नय अपने प्रतिपन्नय से निरपेक्ष है तो वह

नय भी मिथ्या होगा। अतः सम्यगेकान्त के लिये भी अपितनय की अपेक्षा से नियत (क्रमबद्ध पर्याय) और अन-पितनय की अपेक्षा से अनियत (अक्रमबद्ध पर्याय) स्वीकार करना होगा।

अनियत (अक्रमबद्धपर्याय) निरपेक्ष नियत (क्रमबद्धपर्याय) मिथ्या एकान्त है। अतः मिथ्या एकान्त का दुराग्रह छोड़कर जैन धर्म के मूल सिद्धान्त अनेकान्त अथवा प्रतिपक्ष सापेक्ष सम्यगेकान्त की श्रद्धा ग्रहण करने से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है।

शंका—‘क्रमबद्धपर्याय’ पर्याय नाशवान है, ऐसा एकान्त है तो फिर पर्याय नियत (क्रमबद्ध) है ऐसा भी एकान्त क्यों नहीं मान लेते ?

समाधान—‘पर्याय नाशवान है’ ऐसा सर्वथा नहीं है अर्थात् ऐसा एकान्त नहीं है कि ‘पर्याय नाशवान है।’ कुछ पर्यायों ‘अनादि अनन्त’ हैं, जैसे अकृत्रिम चैत्यालय सुदर्शनमेरु आदि पुद्गल की पर्यायों, अभव्यत्व जीव की पर्याय। कुछ पर्यायों सादि-अनन्त भी हैं, जैसे सिद्धपर्याय आदि। कुछ पर्यायों सादि-सान्त हैं; उनमें से कुछ पर्यायों एक समयवर्ती हैं और कुछ पर्यायों संख्यात, असंख्यात या अनन्त समयवाली हैं। श्री बीरसेनाचार्य ने भी कहा है “अभव्यत्व जीव की व्यञ्जनपर्याय भले ही हो, पर सभी व्यञ्जनपर्याय का अवश्य विनाश होना चाहिये, ऐसा कोई नियम नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने से एकान्तवाद का प्रसंग आ जायगा।” (ध० पु० ७, पृ० १७८)

पर्याय का विनाश अवश्य होना चाहिये, जब ऐसा भी एकान्त नहीं है; फिर पर्यायों का क्रम नियत (क्रमबद्ध) होना चाहिये ऐसा एकान्त कैसे स्वीकार किया जा सकता है। जैन आगम में अपेक्षा बिना एकान्त को तो मिथ्याएकान्त कहा है। अनेकान्त जैनागम का प्राण है।

—जं. ग. 20-12-62/ / डॉ. एल. शास्त्री

क्रमबद्ध पर्याय मानने पर आने वाले दोषः—

- (१) व्यसन त्याग के उपदेश की अनावश्यकता
- (२) द्रव्यानुयोग व चरसानुयोग की व्यर्थता
- (३) अकालनय व अनियति नय का अभाव
- (४) अन्याय पोषण का प्रसंग
- (५) आलोचन प्रतिक्रमण आदि का अभाव

शंका—केवलज्ञानी ने जिसपदार्थ को जिससमय, जिसस्थान पर जिसकेद्वारा सेवन होना देखा है वह पदार्थ उसी समय उसीस्थान पर उसीके द्वारा अवश्य भोगा जायगा। उसको कोई भी निवारण करने में समर्थ नहीं है अर्थात् दाने-दाने पर मोहर है। तब मद्य, मांस, मधु आदि के त्याग से क्या लाभ? केवली ने हमारे द्वारा जिस-मद्य-मांस-मधु आदि का सेवन जिस समय जिस स्थान पर होना देखा है, उस मद्य मांस आदि का हमारे द्वारा उसी समय उसी स्थान पर सेवन अवश्य होगा। उस सेवन को हम त्याग के द्वारा निवारण नहीं कर सकते। हमारी सब परिणति केवलज्ञान के द्वारा नियत हो चुकी है फिर बाह्यवस्तु का तथा अन्तरंग रागद्वेष का त्याग करना हमारे वश में कैसे है ?

समाधान—शंकाकार ने त्याग न करने के लिये जो हेतु दिया है यद्यपि वह स्थूलदृष्टि से उचित प्रतीत होता है। किन्तु सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर उसमें कोई सार नहीं है। शंकाकार का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जावे तो चरणानुयोग का उपदेश निरर्थक हो जायगा। चरणानुयोग का ही नहीं, किन्तु द्वयानुयोग का उपदेश भी श्रक्तिचिन्तक हो जायगा, क्योंकि जिस जीव को जिससमय जिस स्थानपर सम्यग्दर्शन होना है, उस जीव को उसीसमय उसी स्थान पर सम्यग्दर्शन अवश्य होगा उससे पूर्व या उसके पश्चात् नहीं हो सकता।

पर्याय अनेकान्तस्वरूप है। पर्यायों में भी सर्वथा एकान्त घटित नहीं होता। यदि कहा जावे कि सब ही पर्यायों नाशवान हैं तो ऐसा भी एकान्त नहीं है क्योंकि पुद्गल की मेघ पर्याय अनादि-अनन्त है। सिद्ध पर्याय सादि-अनन्त है इत्यादि। कहा भी है—“अनादिनित्य पर्यायाधिको यथा पुद्गलपर्यायो नित्योमेर्बादिः। सादिनित्यपर्यायाधिको यथा सिद्धपर्यायो नित्यः !” (आलापपद्धति)। इसीप्रकार कालनय की अपेक्षा कार्य की सिद्धि समयपर निर्धारित है, जैसे आम्रफल गर्मी के दिनों के अनुसार पकता है, किन्तु अकालनय से कार्य की सिद्धि समयपर आधार नहीं रखती है, जैसे कृत्रिम गर्मी से आम्रफल पक जाता है (प्रवचनसार)। समवसरण के प्रभाव से अथवा किसी विशेषमुनि के आगमन से भी छहों ऋतु के फल-फल एकसाथ आ जाते हैं तथा जाति बंध विरोधी जीव भी परस्पर बंध-भाव छोड़कर एक स्थान पर प्रेम भाव से बैठ जाते हैं।

जिसप्रकार ‘कालनय’ ‘अकालनय’ हैं उसीप्रकार ‘नियतनय’ और ‘अनियतनय’ भी हैं। जैसे अग्नि के साथ उष्णता नियत है, किन्तु जल के साथ उष्णता अनियत है। जब कभी जल को अग्नि का संयोग मिलेगा तब जल उष्ण हो जावेगा; यदि अग्नि आदि का संयोग प्राप्त नहीं होगा तो जल उष्ण नहीं होगा, (प्रवचनसार)।

इसप्रकार आगमप्रमाण से जाना जाता है कि कोई पर्याय काल के अनुसार होता है कोई पर्याय अकाल में भी होजाती है। कोई पर्याय नियत है और कोई पर्याय अनियत है। यदि ऐसा न माना जावे तो ‘अनादि सिद्ध्यादृष्टि जीव तीनों करण करके प्रथमोपशमसम्यक्त्व प्राप्त होने के प्रथमसमय में अनन्तसंसार को छिन्नकर अर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्र संसार का काल कर लेता है।’^१ आगम से इस कथन को कैसे संगति बैठ सकती है? श्री पंचास्तिकाय गाथा २० की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने भी कहा है—‘जिसप्रकार नानाप्रकार के चित्रों से चित्रित वेणु दण्ड (बांस) को घोने से बांस शुद्ध हो जाता है उसीप्रकार नाना सांसारिकपर्यायों से चित्रित जीव भी उन सांसारिक पर्यायों को सम्यग्दर्शनादि के द्वारा नष्ट करके शुद्ध (सिद्ध) हो जाता है।’^२ श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी भावपाहुड़ गाथा ८२ में कहा है—‘जिनघर्म भाविभव मथन कहिए आगामी संसार का नाश करने वाला है। श्री मूलाचार अ० २ गाथा ७७ में भी कहा है—‘एकं पंडिवमरणं छिविवि जावीसयाणि बहुगारिण।’ अर्थात् जाते एकहू पंडितमरण है सो बहुत जन्म के सँकड़ेनि कू छेदे है।

इन आगमप्रमाणों से भी सिद्ध है कि जीव सम्यग्दर्शन आदि के द्वारा आगामी संसार का नाश कर अकाल में ही सिद्ध होजाता है। यदि यह कहा जावे कि मोक्ष तो अपने नियतकाल पर ही हुआ क्योंकि उस जीव के आगामीसंसार नहीं था सो ऐसा कहना उपयुक्त आगम से विरुद्ध है। इसी बात को आचार्य अकलंकदेव ने श्री राजवातिक प्र० अ० सूत्र ३ की टीका में कहा है—‘भव्यों की कर्मनिर्जरा का कोई समय निश्चित नहीं है। अतः भव्य के मोक्ष के कालनियम की बात उचित नहीं है जो व्यक्ति मात्र ज्ञान से या चारित्र्य से या दो से या तीन कारणों से मोक्ष मानते हैं उनके यहाँ कालानुसार मोक्ष होगा, यह प्रश्न ही नहीं होता। यदि सबका काल ही

१. ‘एवकेण अणादिय-निच्छादिट्टिणा तिण्ण करणाणि काट्ठण उयसपसम्मत्तं पडिवण्णपडमसमए अणंतो संसारो छिण्णो अद्धपोगलपरिवट्टिमत्तोकदो।’ (धयल पु. ५ पु. ११, १२, १४, १५, १६)

२. ‘यथा वेणुदण्डो विधित्त-चित्त-प्रक्षालने कृते शुद्धो भवति तथायं जीवोपि।’ (पंचास्तिकाय गा २० टीका)

कारण मान लिया जावे तो बाह्य और आन्तरिक-कारण-सामग्री का ही लोप हो जायगा ।' भी राजवार्तिक के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'कारण-कार्य' की दृष्टि में नियतिवाद का कोई स्थान नहीं है और 'नियतिवाद' की दृष्टि में 'कारणों' का कोई स्थान नहीं है । जैसे द्रव्याधिकनय की दृष्टि में 'अनित्यता' का कोई स्थान नहीं है और पर्यायाधिकनय की दृष्टि में 'नित्यता' का कोई स्थान नहीं है ।

आगम में जिसप्रकार कहीं पर द्रव्याधिकनय की मुख्यता से कथन है कहीं पर पर्यायाधिकनय की मुख्यता से कथन है उसीप्रकार आगम में कहीं पर 'नियतिवाद' की अपेक्षा से कथन है और कहीं पर कारण कार्य की अपेक्षा कथन है, किन्तु एकान्तपक्ष की दृष्टि कहीं पर नहीं है, क्योंकि दिगम्बर जैनागम में सर्वथा एकान्तपक्ष को एकान्तमिथ्यात्व कहा है । अतः 'दाने दाने पर मोहर' ऐसा सर्वथा एकान्त सिद्धान्त दिगम्बर जैनागम में कहीं पर भी नहीं कहा गया है । दिगम्बर जैनागम में तो सर्वज्ञ ने पदार्थ को अनेकान्तात्मक कहा है, और स्याद्वाद के द्वारा वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन किया है, इस आगम के विरुद्ध सर्वज्ञज्ञान के आधार पर सर्वथा एकान्त नियतिवाद की दृष्टि सम्यक् नहीं है ।

जिसने मद्य, मांस, मधु आदि को आत्मा के घातक भले प्रकार समझकर आत्महित के लिये इनका त्याग किया है उनको इन परिणामों द्वारा आगामी मद्य आदि सेवन की पर्याय नष्ट हो जाती है, जिसप्रकार सम्यग्दर्शन-रूप परिणामों के द्वारा अनन्तसंसार का नाश हो जाता है । इस सम्बन्ध में खदिरसार भील की कथा प्रथमानुयोग से जानी जा सकती है । जिसके मद्य, मांस, मधु आदि का त्याग है वे निर्मल बुद्धि वाले पुरुष जिनधर्म के उपदेश के पात्र होते हैं (पु० सि० उ० श्लो० ७४) । अर्थात् बिना मद्य, मांस, मधु आदि के त्याग किये सम्यग्दर्शन भी मनुष्य को नहीं हो सकता ।

सर्वज्ञ का फलितार्थ 'एकान्त नियतिवाद' को कहने से शिथिलाचार का पोषण होता है, जिससे धर्म की हानि होती है । सर्वज्ञ का फलितार्थ अनेकान्त है और अनेकान्त सर्वज्ञ ने उपदेश दिया है । शंकाकार ने जो एकान्त नियतिवाद (क्रमबद्धपर्याय) के आधार पर मद्य, मांस, मधु के त्याग का निषेध किया था । अनेकान्त दृष्टि द्वारा उसका खण्डन हो जाता है ।

—जं. ग. 19-12-63/IX/ पौनपुन्य

शंका—भारत पर आक्रमण के कारण संसार चीन को बुरा कहता है । हम जैन भी चीन की निन्दा करते हैं तो हमको क्या सर्वज्ञ की श्रद्धा है ? सर्वज्ञ के ज्ञान के अनुसार चीन का आक्रमण हुआ था सर्वज्ञज्ञान के विरुद्ध चीन का आक्रमण हुआ ? यदि सर्वज्ञज्ञान के अनुसार चीन का आक्रमण हुआ तो इसमें चीन का क्या दोष ? क्योंकि वह तो सर्वज्ञज्ञान के अनुसार परिणामन करने के लिये बाध्य था, अन्यथा परिणामन नहीं कर सकता था । इसमें चीन का क्या दोष ? जिसप्रकार अन्यमतवाले यह मानते हैं कि ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध पत्ता नहीं हिल सकता, उसीप्रकार हम यह मानते हैं कि सर्वज्ञज्ञान के विरुद्ध भी पत्ता नहीं हिल सकता । इन दोनों सिद्धान्तों का अभिप्राय एक है, मात्र कुछ शब्दों का अन्तर है ।

समाधान—पूर्व शंका नं० १ और इस शंका नं० २ का आधार एकान्त नियतिवाद [क्रमबद्धपर्याय] है । एकान्त नियतिवाद के बलपर इस शंका में अन्याय का पोषण है । जैनधर्म का मूलसिद्धान्त अनेकान्त है जिसमें नियतिवाद और अनियतिवाद दोनों की स्वीकारता है । अनियतिनिरपेक्ष 'नियति' और नियतिनिरपेक्ष 'अनियति' दोनों ही सर्वथा एकान्त होने से मिथ्या हैं । कहा भी है—ये सभी नय यदि परस्पर निरपेक्ष होकर वस्तु का निश्चय करते हैं तो मिथ्यादृष्टि हैं, क्योंकि एक दूसरे की अपेक्षा के बिना ये नय जिसप्रकार की वस्तु का निश्चय कराते हैं, वस्तु वैसी नहीं है (ज० घ० पु० १ पृ० २४५ ।)

सर्वज्ञदेव ने सर्वथा नियतिवाद को एकान्तमिथ्यात्व कहा है। कहा भी है—‘जिसका, जहाँ, जब, जिस-प्रकार, जिससे, जिसके द्वारा, जो होना होता है, तब, तहाँ, तिसका, तिसप्रकार, तिससे, तिसके द्वारा, वह होना नियत है; अन्य कुछ नहीं कर सकता’। यह सर्वथा नियतिवाद एकान्तमिथ्यात्व है (अमलगत पंचसंग्रह १।३१२; गो० सा० क० कां० गाथा ८८२, प्राकृतपंचसंग्रह पृ० ५४७)।

यदि चीन न्यायमार्ग को न छोड़ता तो भारत पर चीन का आक्रमण नहीं हो सकता था। सर्वज्ञज्ञान की प्राचीनता के कारण नहीं, किन्तु बुद्धि-पूर्वक चीन ने न्यायमार्ग छोड़ा है अतः वह निन्दा का पात्र हुआ। चीन न्याय-मार्ग को ग्रहण करने तथा छोड़ने में स्वतन्त्र था, नियति (क्रमबद्धपर्याय) की कोई पराधीनता नहीं थी। ‘नियति’ का सिद्धान्त किसी अपेक्षा से है, सर्वथा नहीं है। यदि नियति का सिद्धान्त अनियतिनिरपेक्ष होता तो शंकाकार की शंका उचित थी।

शंकाकार स्वयं विचार करे कि उक्त शंका कागज पर इसलिये लिखी गई कि उस कागज कलम तथा हाथ आदि का उसप्रकार का परिणमन उससमय ऐसा होना नियत था, या शंकाकार ने अपनी स्वतन्त्र इच्छा-पूर्वक उक्त शंकाओं को अपने पुरुषार्थ द्वारा लिख कर भेजा है।

शंका—श्री केवलीभगवान समस्त द्रव्यों की सर्वपर्यायों को जानते हैं, ऐसा आगम में कहा है। समस्त-पर्यायों के क्रम को भी जानते हैं कि अमुकपर्याय से पूर्व व पश्चात् अमुकपर्याय हुई थी और अमुकपर्याय होगी तभी तो वे भूत व भविष्यपर्यायों को बतला देते हैं। ऐसा होने से केवलीभगवान प्रत्येक पुद्गलद्रव्य की अनन्तानन्तकाल पूर्व अर्थात् प्रथमपर्याय को और अनन्तानन्त काल पश्चात् होनेवाली अर्थात् अन्तिमपर्याय को भी जानते होंगे; तो क्या किसी भी केवलीभगवान ने आज किसी भी द्रव्य की प्रथम और अन्तिमपर्याय का कथन किया है? समस्त-पर्यायों के क्रम के ज्ञाता श्रीकेवलीभगवान से किसी पुद्गलद्रव्य की प्रथमपर्याय व अन्तिमपर्याय का प्रश्न करे तो क्या वे बतला सकते हैं? इसीप्रकार प्रथम होनेवाले सिद्धजीव का क्या नाम या किस गति, क्षेत्र से तथा काल में सिद्ध हुए थे और अन्तिम सिद्ध कौन जीव होगा; क्या केवलीभगवान यह बतला सकते हैं?

समाधान—केवलीभगवान प्रत्येकद्रव्य को जानते हैं। द्रव्य में अतीत, अनागत और वर्तमानरूप जितनी अर्थपर्यायें और व्यंजनपर्यायें होती हैं, वह द्रव्य तत्प्रमाण है (गो० सा० जी० का० गाथा ५८२) अतः केवली प्रत्येकद्रव्य की समस्तपर्यायों को जानते हैं यदि केवली समस्त पर्यायों के समूह को न जानें तो वे द्रव्य को नहीं जान सकते। केवलज्ञान में ऐसा विकल्प सम्भव नहीं है कि अमुकपर्याय के पूर्व और पश्चात् कौन-कौन पर्याय होंगे, या हुई थी, इसप्रकार का विकल्प छद्मस्थ-ज्ञान में सम्भव है। इसलिए केवलज्ञान में यह भी विकल्प सम्भव नहीं है कि प्रथमपर्याय क्या थी और अन्तिमपर्याय क्या होगी। केवलज्ञानी प्रश्न सुनकर उत्तर देते हों, ऐसा भी सम्भव नहीं है क्योंकि केवलज्ञानी के इन्द्रियज्ञान का अभाव होने के कारण ‘सुनकर’ ऐसा कहना ही उचित नहीं है; दूसरे ‘इच्छा का अभाव होने के कारण ‘उत्तर देते हैं’ यह बात नहीं सिद्ध होती। इसीप्रकार समस्त सिद्धों को जानते हुये भी केवलज्ञान में यह विकल्प नहीं होता कि प्रथम सिद्ध कौन हुआ और अन्तिमसिद्ध जीव कौन होगा?

आगम में ऐसा कथन है कि ‘केवलीभगवान प्रथमपर्याय या अन्तिमपर्याय को अथवा प्रथमसिद्ध और अन्तिमसिद्ध को जानते हैं,’ मेरे देखने में नहीं आया। ‘केवलज्ञानी समस्त पर्यायों और समस्त सिद्धों को जानते हैं,’ ऐसा कथन आगम में अवश्य पाया जाता है। केवलीभगवान किसरूप से और किसप्रकार जानते हैं ये तो हम नहीं जानते, अतः केवलीभगवान ने जिस आगम का अर्थरूप से व्याख्यान किया है, जिसको गणधरदेव ने धारण किया है,

जो गुरुपरम्परा से चला आ रहा है, जिसका पहिले का वाच्य-वाचक भाव अभी तक नष्ट नहीं हुआ है और जो दोषा-वरण से रहित तथा निष्प्रतिपक्ष सत्य स्वभाववाले पुरुष के द्वारा व्याख्यान होने से श्रद्धा के योग्य है ऐसे आगम की आज भी उपलब्धि होती है। प्रमाणता को प्राप्त आचार्यों के द्वारा इसके अर्थ का व्याख्यान किया गया है, इसलिये उपलब्ध आगम प्रमाण है। (धवल १ पृ० १६६-१९७) अतः हमको आगम पर श्रद्धान कर अपना कल्याण करना चाहिये। साधु पुरुषों की चक्षु आगम है (प्रवचनसार गाथा २३४) और वह आगम 'स्यात्' शब्दरूपी अमृत से गभित होना चाहिये।

'द्रव्य नित्य भी है, अनित्य भी है, सादि भी है, अनादि भी है, अनन्त भी है, सान्त भी है, नियत भी है, अनियत भी है, काल भी है, अकाल भी है।' इत्यादि अनेकान्तरूप से आगम में कहा है। मात्र एकान्त 'नियति' या 'काल' आदि का किसी भी दि० जनागम में उपदेश नहीं पाया जाता। अतः हमको आगम वाक्यों पर श्रद्धान करना चाहिये।

शंका—किसी मनुष्य ने अत ग्रहण किये। उनमें अतिचार लगने पर वह विचार करता है कि 'केवल-ज्ञानी ने मेरी ऐसी पर्याय देखी थी अतः अभ्यथा हो नहीं सकती थी।' यह विचार कर अतिचार या अनाचार के विषय में आलोचना या प्रतिक्रमण नहीं करता। इसीप्रकार दूसरों के विषय में विचारकर वह दूसरों का स्थितिकरण भी नहीं करता। यदि कोई उस मनुष्य से आलोचना, प्रतिक्रमण या स्थितिकरण की बात भी करता है तो वह मनुष्य उत्तर देता है कि 'तुम सर्वज्ञ को नहीं मानते, अतः ऐसी बातें करते हो।' क्या उस मनुष्य का आलोचन-प्रतिक्रमण तथा स्थितिकरण न करना उचित है ?

समाधान—जो सर्वज्ञान के आधार पर अनियति-निरपेक्ष सर्वथा-एकान्त-नियतिवाद। (क्रमबद्धपर्याय) को मानते हैं वे ही उपरोक्त विचार कर आलोचन-प्रतिक्रमण तथा स्थितिकरण आदि नहीं करते, किन्तु अनेकान्त-वादी सम्यग्दृष्टि तो उस समय अनियतिनय के अनुसार उन कारणों की खोज करता है जिनकारणों से स्वयं को या पर को अतिचार आदि लगे हैं। आलोचन-प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान के द्वारा तथा उपदेशादि के द्वारा निज और पर का स्थितिकरण करता है। 'स्थितिकरण' सम्यग्दर्शन का अङ्ग है। अनियति सापेक्ष नियतिनय के द्वारा कथन सम्यगेकांत है। अनियति निरपेक्ष नियतिनय मिथ्याएकान्त है। जो अनेकान्त को मानता है वह केवलज्ञान को माननेवाला है, क्योंकि केवली ने अनेकान्त के उपदेश के द्वारा एकान्त का खण्डन किया है।

—जौ. ग. 26-12-63/IX/ प्रेमचन्द

कार्तिकेयानुप्रेक्षा की ३२१-२२-२३ वीं गाथाओं का खुलासा

शंका—स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३२१ व ३२२ को मिलाकर भी पं० जयचन्दजी ने इकट्ठा अर्थ किया है और गाथा ३२३ में लिखा है कि जो यह नहीं मानता कि जैसा जिनेन्द्रदेव ने देखा है वंसा ही होगा, ऐसा नियत है वह मिथ्यादृष्टि है। फिर आजकल गाथा ३२१-३२३ को मिलाकर अर्थ क्यों नहीं किया जाता है ? क्या ३२३ गाथा का ३२१ व ३२२ से सम्बन्ध नहीं है ? क्या गाथा ३२१ व ३२२ में सर्वज्ञ का लक्षण नहीं है ? यदि गाथा ३२१ व ३२२ का सम्बन्ध गाथा ३२३ से नहीं है तो किन गाथाओं से सम्बन्ध है ?

समाधान—भी पं० जयचन्दजी छाबड़ा ने स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३२१, ३२२ व ३२३ का इकट्ठा अर्थ नहीं किया है। गाथा ३२१ व ३२२ को मिलाकर अर्थ किया है और ३२३ का पृथक् अर्थ किया है। गाथा

३२१ व ३२२ में, व्यंतर आदि देवों की पूजा न करने के संस्कारों को रद्द करने के लिये सम्यग्दृष्टि क्या विचार करता है, सम्यग्दृष्टि के उन विचारों का कथन है। गाथा ३२३ में यह कहा है कि जो जिनागम अर्थात् सर्वज्ञ के आगम अनुसार ब्रह्मनिकी सर्वपर्यायों को जाने है, श्रद्धान करे है वह सम्यग्दृष्टि है। इसप्रकार गाथा ३२१ व ३२२ का सम्बन्ध गाथा ३२३ से नहीं है।

गाथा ३२१ व ३२२ में सर्वज्ञ का लक्षण नहीं है। श्री पं० जयचन्दजी की टीका प्रमाणस्वरूप तो उद्धृत की गई, किन्तु उस पर विचार नहीं किया गया। यदि उस पर विचार कर लिया जाता तो एकात्मनियतिवाद की दृष्टि समाप्त हो जाती। श्री पं० जयचन्दजी ने गाथा ३२१ व ३२२ के शीर्षक में लिखा है, 'प्राये सम्यग्दृष्टि के विचार होय सो कहे हैं।' इस शीर्षक के होते हुए यह कहना कि 'गाथा ३२१ व ३२२ में सर्वज्ञ का स्वरूप कहा गया है', ठीक नहीं है। गाथा ३२१ व ३२२ का सम्बन्ध गाथा ३२० से है क्योंकि गाथा ३२० में भी सम्यग्दृष्टि के विचारों का कथन है।

भक्तौ पुञ्जमाणो बितरदेवो विवेदि अविलष्ठी ।

तो कि धम्मं कीरदि एवं चितेइ सहिट्ठी ॥ ३२० ॥

श्री पं० जयचन्दजी कृत अर्थ—सम्यग्दृष्टि ऐसे विचार है जो 'व्यंतरदेव ही भक्ति करि पूज्या हुआ लक्ष्मी दे हे तो धर्म काहे कू' कीजिये।'

गाथा ३२०, ३२१ व ३२२ में सम्यग्दृष्टि के विचारों का कथन एक दृष्टि से है किन्तु सर्वथा ऐसा नहीं है, क्योंकि जैनधर्म का मूल सिद्धान्त 'अनेकान्त तथा सर्वसंप्रतिपक्ष' है। श्री अकलंकदेव तथा विद्यानन्दस्वामी ने देवों के प्रभाव का लक्षण इसप्रकार किया है—'क्रुद्ध होकर किसी को अनिष्ट प्राप्त करा देना शाप स्वरूप प्रभाव है और किसी के ऊपर प्रसन्न होते हुए इष्ट प्राप्त करा देना अनुग्रह नामक प्रभाव है।

'शापानुग्रहलक्षणः प्रभावः । शापोऽनिष्टापादनम्, अनुग्रह इष्टप्रतिपादनम् ।'

इन सर्वज्ञवाक्यों पर सम्यग्दृष्टि की दृढ़ श्रद्धा है, किन्तु व्यंतर देव की पूजा-निषेध के लिये वह उपयुक्त सर्वज्ञ वाक्य को गौण करके यह विचारता है कि व्यंतर आदि लक्ष्मी नहीं दे सकते, किन्तु धर्म करने से लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। श्री कुम्भकुम्भाचार्य ने भी प्रवचनसार गाथा ६ में कहा है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी धर्म से निर्वाण भी मिलता है तथा देवेन्द्र, असुरेन्द्र और चक्रवर्ती आदि की सम्पदा प्राप्त होती है। गाथा इसप्रकार है—

संपञ्जवि णिष्वाणं देवासुर मख्खयरायविहवेहि ।

जीवस्स चरित्तवो दसण पाणप्पहाणावो ॥ ६ ॥

सम्यग्दृष्टि यह भी जानता है कि सर्वज्ञदेव ने द्वादशों के दृष्टिवादनामक बारहवें अंग में यह कहा है— 'जिसका, जहाँ, जब, जिसप्रकार, जिससे, जिसके द्वारा जो होना है तब, तहाँ, तिसका, तिसप्रकार, उससे, उसके द्वारा वह होना नियत है, अन्य कुछ नहीं कर सकता ऐसी भाग्यता एकात्मिभ्यात्व है।' इस सर्वज्ञवाक्य पर सम्यग्दृष्टि की पूर्ण श्रद्धा है, किन्तु व्यंतरदेव की पूजा के निषेध को रद्द करने के लिए इस सर्वज्ञवाक्य को गौण करके वह सम्यग्दृष्टि नियतनय के अनुसार विचार करता है कि जो जिस जीव के, जिस देशविषय, जिस काल विषय, जिस विधानकरि, जन्म तथा भरण सर्वज्ञदेव ने जाणया है जो ऐसे ही नियमकरि होयगा, सो ही तिस प्राणी के, तिस ही देश में, तिस ही काल में तिस ही विधान करि नियमते होय है ताकू' इन्द्र तथा जिनेन्द्र तीर्थकरदेव कोई भी निवारि नहीं सके है।

कोई जीव गाथा ३२१ व ३२२ को पढ़कर नियतिवादी एकांतमिथ्यादृष्टि न बन जावे ऐसा विचारकर श्री स्वामी कार्तिकेय ने गाथा ३२३ व ३२४ में कहा कि 'जो सर्वज्ञ के आगमानुसार द्रव्य की सर्व पर्यायनिकी जाणूँ है, श्रद्धान करे है अथवा जो जिन वचन में श्रद्धा करे है जो जिनेन्द्रदेव ने कहा है वह सर्व ही है, भले प्रकार इष्ट करे हैं' वह सम्यग्दृष्टि है। सर्वज्ञ के आगम में पर्यायों को शुद्ध-अशुद्ध, स्वभाव-अस्वभाव काल-अकाल, नियत-अनियत अर्थ-व्यञ्जन इत्यादि सप्रतिपक्ष कहा है। सम्यग्दृष्टि की सप्रतिपक्षपर्यायों पर सर्वज्ञआगम अनुसार श्रद्धा है किन्तु प्रयोजनवश कहीं पर किसी को गौण और किसी को मुख्य कर लेता है। जैसे अनित्य, भ्रशरण आदि भावनाओं के समय द्रव्याधिक नय को गौण करके पर्यायाधिक नय की मुख्यता से, 'वस्तु को नाशवान, अपने आप को शरण रहित' आदि विचार करता है। सम्यग्दृष्टि को किसी एकांत का पक्ष नहीं होता, उसको स्याद्वादमयी सर्वज्ञवाणी अथवा आगम पर पूर्ण श्रद्धा होती है। इसलिये सम्यग्दृष्टि मानता है कि पर्यायें नियत भी हैं और अनियत भी हैं।

—जं. ग. 6-3-66/IX/

- (१) परस्पर विरुद्ध नययुगल के ग्रहण से अनेकांत होता है
- (२) अकालनय से कार्यसिद्धि समयाधीन नहीं है
- (३) गणधर देव ने भी अनियत पर्याय का कथन किया था

शंका—क्या "काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत (अदृष्ट) और पुरुष" इन पाँचों के मानने से अनेकांत होता है ? या काल अकाल, स्वभाव-अस्वभाव, नियति-अनियति, देव-पुरुषार्थ के मानने से अनेकांत होता है ?

समाधान—परस्पर विरुद्ध दो धर्मों को मानने से अनेकांत होता है। जो धर्म परस्पर विरुद्ध नहीं है ऐसे अनेकधर्मों के मानने से अनेकांत नहीं होता है। श्री कुन्वकुन्दाचार्य ने पंचास्तिकाय में 'सर्व सपञ्चिवच्छा' सिद्धांत का उपदेश दिया है अर्थात् 'सर्वप्रतिपक्षसहित है', ऐसा उपदेश भी कुन्वकुन्दाचार्य ने दिया है जिसका अनुसरण श्री अमृतचन्द्राचार्य तथा श्री बीरसेनादि आचार्यों ने किया है।

श्री प्रबचनसार में कालनय अकालनय, स्वभावनय-अस्वभाव नय, नियतिनय-अनियतिनय, देवनय-पुरुषार्थ नय, ईश्वरनय-अतीश्वरनय इसप्रकार परस्पर विरुद्धनयों का कथन है। यदि इन परस्पर विरुद्धनय युगलों में से किसी एक नय को तो माना जावे और उसकी प्रतिपक्षी दूसरी नय को स्वीकार न किया जाय तो एकांतमिथ्यात्व का प्रसंग आ जाता है। जैसे कांटा तो स्वभावनय से तीक्ष्ण है, किन्तु आलपिन तो स्वभावनय से तीक्ष्ण नहीं, उसमें तीक्ष्णता उत्पन्न की जाती है। अतः आलपिन अस्वभावनय से तीक्ष्ण है। यदि अस्वभावनय को स्वीकार न किया जाय तो आलपिन में तीक्ष्णता का अभाव मानना पड़ेगा। इसी प्रकार कोई कार्य अपने व्यवस्थित समयपर उत्पन्न होता है और किसी कार्य का काल व्यवस्थित नहीं होता है, किन्तु कारणों के द्वारा उत्पन्न किया जाता है। विशेष बाह्य कारणों से निरपेक्ष होने वाली मृत्यु का मृत्युकाल व्यवस्थित (निश्चित) है। किन्तु शस्त्रप्रहारदि कारणों से होनेवाली अपमृत्यु का मृत्युकाल शस्त्रप्रहार आदि के द्वारा उत्पन्न होता है। (श्लो० वा० २।५३)

इसलिये प्रबचनसार में कहा है कि कालनय से कार्य की सिद्धि समय के प्राधीन होती है, और अकालनय से कार्य की सिद्धि समय के प्राधीन नहीं है।

अतः 'काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत (अदृष्ट) और पुरुषार्थ' इन पाँचों की परस्पर सापेक्षता से अनेकांत नहीं होता, एकांतमिथ्यात्व ही रहता है। किन्तु काल अकाल की सापेक्षता से, स्वभाव-अस्वभाव की सापेक्षता से, नियति अनियति की सापेक्षता से, देव और पुरुषार्थ की सापेक्षता से अनेकांत होता है।

शंका—१७ जून १९६५ के जनसंदेश पृ० ९८ पर—

‘कालो सहाव णियई उध्वकय पुरिस कारणे गंता ।

मिच्छत्तं ते चेवा समासओ होति सम्मत्तं ॥

गाथा उद्धृत की गई है जिससे यह सिद्ध किया गया है कि जो काल, स्वभाव, नियति पूर्वकृत (अदृष्ट) और पुरुषार्थ इन पाँचों से कार्य की सिद्धि मानता है वह सम्यग्दृष्टि है और जो इन पाँचों में से किसी एक से कार्य की सिद्धि मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, क्या यह ठीक है ?

समाधान—यह ठीक नहीं है । इस गाथा का अभिप्राय यह है कि जो भ्रकाल से निरपेक्षकाल को, अस्वभाव से निरपेक्ष स्वभाव को, अनियति से निरपेक्ष नियति को, पुरुषार्थ से निरपेक्ष दैवको, दैवसे निरपेक्ष पुरुषार्थ से कार्य की सिद्धि (उत्पत्ति) मानता है वह एकान्त मिथ्यादृष्टि है और जो काल-भ्रकाल, स्वभाव-अस्वभाव, नियति-अनियति, दैव-पुरुषार्थको परस्पर सापेक्ष मानता है वह सम्यग्दृष्टि है ।

शंका—आर्ष ग्रंथों में अविष्य में होनेवाले २४ तीर्थंकरों का, पंचमकाल के अन्त में होनेवाले मुनि-आर्षिका श्रावक-श्राविका आदि का कथन पाया जाता है । क्या यह कथन असत्य है ? यदि सत्य है तो नियतिवाद सिद्ध हो जाता है । अनियति का कोई स्थान नहीं रहता ?

समाधान—जो सर्वथा अनियति मानता है ऐसे एकान्त-अनियतिवादी मिथ्यादृष्टि के लिये तो उपयुक्त आपत्ति आती है, किन्तु स्याद्वादी के लिये कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि वह तो नियतिवाद और अनियतिवाद दोनों को मानता है । भावी २४ तीर्थंकरों की तथा पंचमकाल के अन्त में होनेवाले मुनि आदि को पर्याय नियत हैं उनका आर्षग्रन्थों में कथन पाया जाता है, किन्तु जो पर्याय अनियत है उनका आर्षग्रन्थों में कथन होना असंभव है । इस हुंदावर्षिणी काल के पश्चात् जो हुंदावर्षिणी आयेगा उसमें प्रथमतीर्थंकर किसका जीव होगा यह कथन आर्षग्रन्थों में क्यों नहीं मिलता । इत्यादि ।

जो पर्याय अनियत होती है उन्हीं के साथ ‘यदि’ आदि शब्दों का प्रयोग होता है । जैसे कोई पूछे कि क्या तुम कल दिल्ली जाओगे ?’ यदि दिल्ली जाने की पर्याय नियत है तो यह उत्तर होगा कि ‘मैं कल दिल्ली जाऊँगा’ । यदि दिल्ली जाने की पर्याय अनियत है तो यह उत्तर होगा कि ‘यदि दिल्ली से सूचना न आई तो दिल्ली जाऊँगा ।’ चार ज्ञान के धारी श्री गौतमगणधर ने समवशरण में राजा श्रेणिक को निम्नप्रकार उत्तर दिया था, जिससे सिद्ध है कि पर्याय अनियत भी होती है ।

अतः परं मुहूर्तं चेदेव मेव स्थिति भजेत् ।

आयुषो नारकस्यापि प्रायोग्योऽयं भविष्यति ॥

अर्थ—यदि अब आगे अंतमुहूर्त तक उनकी ऐसी ही स्थिति रही तो वे नरकयु का बंध करने योग्य हो जावेंगे ।

जो मात्र एकांतनियतिवाद को मानने वाले हैं उनके अभिप्रायानुसार श्री गणधरदेव का उपयुक्त उत्तर ठीक नहीं बैठेगा ।

कोई पर्याय नियतनय से होती है जैसे अग्नि की उष्णपर्याय और कोई पर्याय-अनियति नय से होती है जैसे जल की उष्णपर्याय, क्योंकि यदि कारण मिलेंगे तो जल उष्ण हो जावेगा अन्यथा नहीं ।

शंका—जैनसन्देश में लिखा है कि भी सर्वार्थसिद्धि अध्याय ९ सूत्र ७ की टीका में धर्म का लक्षण नियति कहा है। फिर अनियतिनय क्यों माना जावे ?

समाधान—सर्वार्थसिद्धि अध्याय ९ सूत्र ७ में धर्म को 'नियति लक्षणः' कहा है वहाँ पर 'नियति' का अर्थ 'संयत' है अर्थात् धर्म का लक्षण 'संयम' है। 'निष्परिग्रहतालम्बनः' अर्थात् परिग्रहरहितपना उसका आलम्बन है इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि 'नियति' से संयत' ग्रहण करना चाहिये। इसका 'निश्चित' अभिप्राय लेना उचित नहीं है—प्रकरण विरुद्ध है।

शंका—यदि कोई मात्र 'नियति' माने और अन्य कारणों को न माने तो मिथ्यादृष्टि है, किन्तु नियति के साथ अन्य कारणों को भी माने वह सम्यग्दृष्टि है। जैसे कोई यह माने कि अग्नि के संयोग से अमुकजल की अमुक-समय में उष्णपर्याय का होना नियत है वह सम्यग्दृष्टि है क्योंकि उसने अग्नि के संयोग को कारण स्वीकार किया है।

समाधान—ऐसा कहना भी ठीक नहीं है ? विवक्षितसमय में विवक्षितजल के साथ अग्नि का संयोग होना नियत है या अनियत ? प्रथमपक्ष मानने पर तो कारण का मिलना भी नियत के आधीन ही रहा। इसलिये सब नियति के आधीन हैं ऐसा एकान्तनियतिवादमिथ्यात्व भा गया, दूसरा पक्ष मानने पर, जब अग्नि का संयोग होना अनियत है तो विवक्षितजल की विवक्षितसमय में उष्णपर्याय कैसे नियत हो सकती है ?

एक प्रश्न यह भी उत्पन्न होता है कि विवक्षितजल के साथ विवक्षितसमय में विवक्षितअग्नि का ही संयोग होगा या अविवक्षितअग्नि का ? यदि विवक्षितअग्नि का संयोग माना जावे तो कारण भी नियत होने से सब कुछ नियति के आधीन हो जाता है और एकान्तनियतिवाद का प्रसंग आ जाता है। यदि यह माना जाय कि किसी भी अग्नि का संयोग हो सकता है तो जल से अग्नि की संयोगरूप पर्याय अनियत हो गईं। इससे अनियतपर्याय सिद्ध हो जाती है।

शंका—एक सज्जन मनुष्य शांत बैठा हुआ है। एक गुंडे ने आकर उस सज्जन के लाठी मारदी। वह गुंडा विचार करता है कि इससमय मेरे हाथ के द्वारा इस लाठी की ऐसी पर्याय होना नियत थी तथा इस सज्जन के भी इस लाठी के द्वारा चोट लगना नियत था। मैं तो क्या इन्द्र या जिनेन्द्र भी इसको अभ्यथा करने में समर्थ नहीं थे, इसलिये मेरा क्या दोष ? क्या उसका ऐसा विचार करना उचित है ? क्या यह उस गुंडे की इच्छा पर निर्भर था कि वह उस सज्जन के लाठी मारे अथवा न मारे या क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्तानुसार वह गुंडा लाठी मारने के लिये मजबूर था ?

समाधान—गुंडे का ऐसा विचार करना कि "लाठी, हाथ और पिटनेवाले सज्जन की इससमय अपने-अपने कारणों के द्वारा इस-इसप्रकार की पर्याय होना नियत थी जिसको वह स्वयं, इन्द्र या जिनेन्द्र भी टाल नहीं सकते थे," उचित नहीं है; क्योंकि यह उस गुंडे की इच्छा पर निर्भर था कि वह उस निरपराधी सज्जन को लाठी मारे अथवा न मारे। वह गुंडा क्रमबद्धपर्याय (नियतिवाद) अनुसार लाठी मारने के लिये बाध्य भी नहीं था ऐसा मानने से सर्वज्ञता का भी खंडन नहीं होता, क्योंकि सर्वज्ञ ने हिंसा आदि पाँच पापों के त्याग का स्वयं उपदेश दिया है और जिनको सर्वज्ञवाणी पर श्रद्धा है वे एकदेश या सर्वदेश हिंसा आदि पापों का त्याग भी करते हैं। यदि किसी कारणवश स्वयं त्याग करने में असमर्थ हैं, तो जिन्होंने हिंसा आदि पापों का त्याग किया है उनकी अनुमोदना

करते हैं, निन्दा नहीं करते । जिनको सर्वज्ञवाणी पर श्रद्धा नहीं है और एकान्तनियतिवाद मिथ्यात्व की श्रद्धा है वे हिंसा आदि के त्यागरूप ब्रतों को हेय बतलाते हैं सर्वथा बंध के कारण बतलाते हैं ।

जिस सृजन के चोट लगी है उसको द्वेष दूर करने के लिए यही विचार करना चाहिये कि ऐसा ही होना नियत था इसमें अन्य किसी का कोई दोष नहीं है ।

— जे. ग. 13-3-67/VII/

(१) एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ता है

(२) नियतिवाद आगम में निषिद्ध है

शंका— श्री वादीभसिंहसूरि ने क्षत्रचूडामणि में कहा है कि रसायन के प्रयोग से लोहा भी सोना बन जाता है, किन्तु सोनगढ़सिद्धांत कहता है कि एक का दूसरे पर प्रभाव या असर नहीं पड़ता है । इन दोनों में कौन सिद्धांत ठीक है ?

समाधान— श्री वादीभसिंह सूरि को जो ज्ञान गुरुपरम्परा से प्राप्त हुआ था वही क्षत्रचूडामणि में लिखा गया है अतः उनके वाक्य कैसे अन्यथा हो सकते हैं ? सोनगढ़ वाले अविरत हैं । जिनके हिंसा, भूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह पापों का एकदेश भी त्याग नहीं है अतः उनका सिद्धांत कैसे सत्य हो सकता है ? श्री कुम्भकुम्भाचार्य ने प्रवचनसार में निम्नप्रकार कहा है—

रागो पसत्थभूदो वस्तुविसेसेण फलवि विवरीवं ।

णाणाभूमिगवाणिह बीजाणिव सस्सकालमिह ॥ २५५ ॥

संस्कृत टीका— यथैकेषामपि बीजानां भूमिर्वपरीत्याग्निरुत्तिर्वपरीत्यं । तथैकस्यापि प्रशस्तरागलक्षणस्य शुभोपयोगस्य पात्रर्वपरीत्यात्फलवैपरीत्यं कारणविशेषात् कार्यविशेषस्यावश्यं भावित्वात् ।

यथा जघन्यमध्यमोत्कृष्टभूमिवशेन तान्थेव बीजानि भिन्नभिन्नफलं प्रयच्छन्ति तथा स एव बीजस्थानीय शुभोपयोगो भूमिस्थानीय पात्रभूत वस्तुविशेषणं भिन्न-भिन्न फलं ददाति । तेन किं सिद्धम् । यदा पूर्वसूत्रकथितन्यायेन सत्यवत्वपूर्वकः शुभोपयोगो भवति तथा मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धो भवति परम्परा निर्वाणं च । नो चेत्पुण्य बन्ध-मात्रमेव ।”

इस गाथा व संस्कृत टीका में बतलाया गया है कि 'एक ही बीज होने पर भी यदि उसको जघन्यभूमि में बोया जायगा तो जघन्यभूमि के निमित्त के वश से उस बीज का फल निःकृष्ट होगा यदि उस बीज को मध्यम भूमि में बोया जाय तो मध्यमभूमि के निमित्त के वश से उसी बीज का फल मध्यम होगा । यदि उसी बीज को उत्कृष्ट भूमि में बोया जाय तो उत्कृष्टभूमि के निमित्त के वश से उसी बीज का फल उत्तम होगा, क्योंकि निमित्तकारण की विशेषता से कार्य में विशेषता अवश्यंभावी है । इसीप्रकार निमित्तभूत पात्रों की विशेषताओं से शुभोपयोग के फल में विभिन्नता हो जाती है । शुभोपयोग मात्र पुण्यबन्ध का कारण नहीं है, किन्तु परम्परा मोक्ष का कारण भी है ।

श्री कुम्भकुम्भाचार्य, श्री अमृतचन्द्राचार्य तथा श्री जयसेनाचार्य के उपर्युक्त वाक्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक का दूसरे पर प्रभाव या असर पड़ता है और जिससे कार्य में भी अन्तर पड़ना अवश्यंभावी है ।

इसी सम्बन्ध में प्रवचनसार की दूसरी गाथा निम्न प्रकार है—

तस्मात् समं गुणाद्वा समणो समणं गुणोर्हि वा अहियं ।

अधिबसदु तस्मि णिक्कं इच्छदि जदि बुक्खपरिमोक्खं ॥ २७० ॥

संस्कृत टीका—यतः परिणामस्वभावत्वेनात्मनः सप्तःचिः संगतं तोयमिवाधश्यंभावि विकारत्वात्लौकिक-संगात्संपतोऽप्यसंयत एव स्यात् । ततो दुःखमोक्षाधिना गुणः समोऽधिको वा भ्रमणः भ्रमणेन नित्यमेवाधिबसनीयः तथास्य शीतापचरककोणनिहितशीततोयवत् समगुणसंगाद्गुणरक्षा शीततरतुहिनशर्करासंपृक्तशीततोयवत् गुणाधिक-संगात् गुणवृद्धिः ॥ २७० ॥

इसप्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य तथा श्री अमृतचन्द्राचार्य ने बतलाया है—“जीव परिणामस्वभाववाला है इसलिये लौकिकजनों की संगति से विकार का होना अवश्यंभावी है अर्थात् संयत मनुष्य भी असंयत हो जाता है । जैसे अग्नि के संयोग से जल में विकार होना अवश्यंभावी है अर्थात् अपने शीतलस्पर्श को छोड़कर उष्ण हो जाता है । इसलिये सांसारिक दुःखों से मुक्ति चाहनेवाले श्रमण (मुनि) को (१) समानगुणवाले श्रमणों के साथ अथवा (२) अधिकगुणवाले श्रमण के साथ सदा ही निवास करना चाहिये । (१) जैसे शीतलघर के कोने में रखे हुए शीतलजल के शीतलगुण की रक्षा होती है, उसीप्रकार समान गुणवाले मुनियों की संगति से उसश्रमण के गुणों की रक्षा होती है (२) जैसे अधिक शीतल हिम (बरफ) के संपर्क से शीतलजल के शीतलगुण में वृद्धि होती है, उसी-प्रकार अधिक गुणवाले मुनियों की संगतिसे श्रमणके गुणों में वृद्धि होती है ।”

इस गाथा व टीका में श्री कुन्दकुन्दाचार्य तथा श्री अमृतचन्द्राचार्य ने तीन सिद्धान्त बतलाये हैं (१) एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ता है, (२) द्रव्य का परिणामन स्वभाव होने पर भी वह परिणामन किसप्रकार का हो वह निमित्ताधीन है अर्थात् निमित्त के कारण परिणामन में विशेषता का होना अवश्यंभावी है । (३) क्रमबद्धपर्याय अर्थात् एकांतनियतिवाद का निषेध, क्योंकि मुनि की इच्छा पर निर्भर है कि वह लौकिक जग की संगतिकर अपने संयमगुण का नाश कर देवे अथवा समान-गुणवालों की संगति करके संयमगुण की रक्षा कर लेवे, या अधिकगुण-वालों की संगति कर अपने संयम गुण में वृद्धि कर लेवे ।

इन गाथाओं से भी सिद्ध होता है कि परिणाम स्वभाववाला लोहा भी रसायन के प्रयोग अर्थात् संगति से सुवर्ण बन जाता है ।

—जं. ग. 14-5-70/IX/ रोजनलाल मित्तल

क्रमबद्ध-नियत पर्याय की मान्यता आगम-विरुद्ध है

टीका—जिसनी तीनों काल की पर्यायें हैं उतना ही द्रव्य है । वे पर्यायें क्रम से होती हैं अर्थात् एकके बाद दूसरी हुआ करती है । पर्यायें क्योंकि कालक्रमसे होती हैं, इसलिये वे नियत हैं अतः उनको क्रमबद्ध मानने में क्या हानि है ?

समाधान—पर्याय का लक्षण क्रमवर्ती है । ‘क्रमवर्तिनाः पर्यायाः’ आलापपद्धति । अखण्ड प्रदेशसमूहवाला द्रव्य पर्यायों को प्राप्त हुआ था, प्राप्त हो रहा है और प्राप्त होगा । कहा भी है—“निजनिज प्रवेशसमूहैरखण्डवृत्त्या-स्वभावविभावपर्यायान् द्रवति द्रोष्यति अबुद्रवविति द्रव्यम् ।” आलापपद्धति अर्थात् जो अपने-अपने प्रदेशसमूह के द्वारा अखण्डरूप से स्वभाव-विभाव पर्यायों को प्राप्त होता है, प्राप्त होगा और प्राप्त हुआ था वह द्रव्य है । इसी-

लिये द्रव्य को अपनी त्रिकालवर्ती पर्यायों के समूह के बराबर कहा गया है। किन्तु इतने मात्र से यह सिद्ध नहीं हो जाता कि पर्यायों नियत हैं या क्रमबद्ध हैं। इससे तो यह सिद्ध होता है कि पूर्व-पूर्व पर्यायों का व्यवय होता रहता है और उत्तर-उत्तर पर्यायों उत्पन्न होती हैं। अमुकसमय में अमुकपर्याय ही उत्पन्न होगी, ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं है, जो ऐसा नियम मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। कहा भी है—

यदा यथा यत्र यतोऽस्ति येन यत्, तदा तथा तत्र ततोऽस्ति तेन तत् ।

स्फुटं नियत्येह नियंत्र्यमाणं, परो न शक्तः किमपीह कर्तुम् ॥ ३१२ ॥ (पंचसंग्रह)

जिसका, जहाँ, जब, जिसप्रकार, जिससे, जिसके द्वारा, जो होना है, तब, तहाँ, तिसका, तिसप्रकार, उससे, उसके द्वारा वह होना नियत है, अन्य कुछ हेर फेर नहीं कर सकता। ऐसा जो मानता है वह एकान्त-मिथ्यादृष्टि है।

उत्तर पर्याय की उत्पत्ति अंतरंग और बहिरंग कारणों के आधीन है। द्रव्य में नानाप्रकाररूप परिणमन करने की शक्ति होने पर भी, जिसके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव मिल जायगा उस पर्यायरूप परिणमन होगा। उसको रोकने में कोई भी समर्थ नहीं है। कहा भी है—

कालाद्-लद्धि-जुता णाणा सत्तीहि संजुदा अत्था ।

परिणममाणा हि सयं ण सककदे को वि वारेदुं ॥ २१९ ॥ स्वामिकातिकेवानुप्रेक्षा

यहाँ यह बतलाया गया है कि द्रव्य में नानापर्यायरूप परिणमन करने की शक्ति है। जिसके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव मिल जायेंगे उस पर्यायरूप उसद्रव्य का परिणमन हो जायगा। अंतरंग और बहिरंग दोनों कारणों के मिल जाने पर उस पर्याय के उत्पाद को कोई नहीं रोक सकता है।

कुछ की ऐसी मान्यता है कि “जिसप्रकार सिनेमा के फिल्म की रील पर नानाचित्र क्रमशः बने रहते हैं और सिनेमा के पर्दे पर उन चित्रों का नियतक्रम से आविर्भाव व तिरोभाव होता रहता है और फिल्म उतनी ही है जितनी कि रील पर चित्रों की संख्या है। इसीप्रकार द्रव्य भी उतना ही है जितनी कि उसकी त्रैकालिकपर्यायों हैं जो कि द्रव्य के अन्दर विद्यमान हैं और अपने नियतक्रम से उन पर्यायों का आविर्भाव व तिरोभाव होता रहता है।” किन्तु उनकी यह मान्यता जैनसिद्धान्त के अनुकूल नहीं है। जैनसिद्धान्तमें पर्यायों का आविर्भाव व तिरोभाव स्वीकार नहीं किया गया है, किन्तु असत्-पर्याय का उत्पाद और सत्पर्याय का व्यय (नाश) माना गया है।

जदि दब्बे पउज्जाया वि विउज्जमाणा तिरोहिवा संति ।

ता उप्पत्ती विह्ला पडिपिहिदे देवदत्ते व्व ॥ २४३ ॥

सव्वाण पउज्जायाणं अविउज्जमाणाण होदि उप्पत्तो ।

कालाई-सद्धीए अणाइणिहणम्मि दब्बम्मि ॥ २४४ ॥

(स्वामिकातिकेवानुप्रेक्षा)

अर्थ—जिसप्रकार देवदत्त विद्यमान है, किन्तु पर्दे के पीछे छिपा हुआ है, पर्दा हटने पर प्रगट हो जाता है। उसी प्रकार द्रव्य में सर्व पर्यायों विद्यमान हैं किन्तु तिरोहित (छिपी) हैं। यदि ऐसा माना जाय तो ‘पर्यायों का उत्पाद होता है’ ऐसा कहना व्यर्थ हो जायगा। अनादि-निघन द्रव्य में कालादि (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव) के मिलने पर अविद्यमान (असत्) पर्यायों की उत्पत्ति होती है।

जैन सिद्धांत के अनुसार असत्पर्याय का उत्पाद होता है जो पर्यायों असत् रूप हैं उनका नियतक्रम या उनमें क्रमबद्धपना संभव नहीं है। इसीलिये जैन दर्शन में 'नियतिवाद' को एकान्त मिथ्यात्व कहा गया है।

अधीरता को दूर करने के लिये या कुदेव आदि की पूजा के निषेध के लिये कहीं-कहीं पर होनहार को मुख्य करके उसका उपदेश दिया जाता है, किन्तु इतने मात्र से 'नियतिवाद' का एकास्तनियम सिद्ध नहीं हो जाता है।

—जै. ग. 28-1-71/VII/ रो. ला. जैन

- (१) ज्ञेय का स्वरूप
- (२) ज्ञेयत्व द्रव्य में ही होता है
- (३) द्रव्य की कथंचित् त्रिकालिक पर्यायों से अभिन्नता
- (४) द्रव्य की प्रतिसमय कथंचित् पूर्णता
- (५) त्रिकालिक पर्यायों का द्रव्य में व्यक्तिगतः असद्भाव

शंका—ज्ञेय किसे कहते हैं ?

समाधान—जिसके आश्रय ज्ञेयत्व (प्रमेयत्व) गुण रहता है वह ज्ञेय है। जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य किसी भी ज्ञान (प्रमाण) का विषय श्रवण होता है वह ज्ञेयत्व (प्रमेयत्व) गुण है। कहा भी है—

“प्रमेयस्य भावः प्रमेयत्वम्, प्रमाणेन स्वपररूप परिच्छेद्यं प्रमेयम् ।” (आलापपद्धति)

जो स्व और परस्वरूप प्रमाण (ज्ञान) के द्वारा जानने के योग्य हो वह प्रमेय (ज्ञेय) है। उस प्रमेय (ज्ञेय) का भाव प्रमेयत्व (ज्ञेयत्व) है।

“प्रमाणगोचराः कीवादिपदार्थाः प्रमेयानि ।” (प्र० र० सा० पृ० ५)

यदि ज्ञेयत्व (प्रमेयत्व) गुण द्रव्य में न हो तो द्रव्य ज्ञान का विषय नहीं हो सकता।

शंका—गुण और पर्यायों भी तो ज्ञान के द्वारा जानी जाती हैं, अतः उनमें भी ज्ञेयत्व गुण होना चाहिये ? मात्र द्रव्य में ज्ञेयत्व गुण क्यों कहा गया ?

समाधान—दस सामान्य गुणों में पाँचवाँ प्रमेयत्व भी सामान्यगुण है। उन सामान्यगुणों के नाम निम्नप्रकार हैं—

“अस्तित्वं, वस्तुत्वं, द्रव्यत्वं, प्रमेयत्वं, अगुरुलघुत्वं, प्रवेशत्वं, चेतनत्वमचेतनत्वं, भूर्त्वात्मभूतत्वं, द्रव्याणां दश सामान्यगुणाः । (आलापपद्धति)

गुण द्रव्य के आश्रय रहता है, अन्य गुण व पर्याय के आश्रय से नहीं रहता है, क्योंकि गुण का लक्षण इसप्रकार है—

“द्रव्याश्रया निगुणा गुणाः ॥ ४१ ॥” (त० सूत्र अ० ५)

जो निरंतर द्रव्य में रहते हैं और गुणरहित हैं, वे गुण हैं।

यदि अन्यगुणों में प्रमेयत्व (ज्ञेयत्व) गुण माना जावे तो गुण के उपर्युक्त लक्षण में बाधा आती है, क्योंकि गुण का आश्रय द्रव्य है, एकगुण दूसरेगुण का आश्रय नहीं है। दूसरे गुण में अन्यगुण रहने से 'निर्गुणा गुणाः' व्यर्थ होता है। अतः प्रमेयत्व (ज्ञेयत्व) गुण के अतिरिक्त अन्य गुणों में प्रमेयत्व (ज्ञेयत्व) गुण नहीं रहता है।

यदि पर्याय के आश्रय ज्ञेयत्व (प्रमेयत्व) गुण को माना जायगा तो पर्याय प्रतिसमय उत्पन्न होती है और विनशती है (पर्यति समये समये उत्पादं विनाशं च गच्छतीति पर्यायः) अतः गुण के भी प्रतिसमय उत्पन्न होने और विनष्ट होने का प्रसंग आ जायगा, किन्तु 'सहसुबो गुणाः' गुण तो सदा द्रव्य के साथ रहते हैं अर्थात् गुण अन्वयी हैं।

"अन्वयिनो गुणा व्यतिरेकिनः पर्यायाः ।" (सर्वांशसिद्धि ५।३८)

प्रदेशत्व की अपेक्षा गुण और पर्याय द्रव्य से अभिन्न है अतः द्रव्य के ज्ञेय होनेपर उससे अभिन्न गुण और पर्याय भी ज्ञान का विषय बन जाती हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी पंचास्तिकाय में कहा है—

पञ्जयविजुदं द्रव्यं द्रव्यविजुत्ता य पञ्जया णट्ठि ।
दोहं अणणभूदं भावं समणा पळ्ठिवि ॥ १२ ॥
द्वेषेण विणा गुणा गुणोहि, द्रव्यं विणा ण संभवदि ।
अन्वदिरित्तो भावो, द्रव्यगुणाणं हवदि तस्हा ॥ १३ ॥

पर्याय से रहित द्रव्य और द्रव्य से रहित पर्याय नहीं होतीं। द्रव्य और पर्याय का अनन्यभाव है अर्थात् दोनों में भिन्नता नहीं है।

द्रव्य बिना गुण नहीं होते और गुणों के बिना द्रव्य नहीं होता। इसलिये द्रव्य और गुणों का अभ्यतिरिक्त (अभिन्न) भाव है।

पं० दरबारीलाल कोठियाजी ने भी लिखा है—“यथार्थ में गुण-कर्मादि द्रव्य के विभिन्न धर्म अथवा परिणमन मात्र हैं, वे स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं। वे द्रव्य के साथ ही उपलब्ध होते हैं, द्रव्य को छोड़कर नहीं और इसलिये वे द्रव्य के आश्रित हैं और द्रव्य के परतन्त्र हैं। पदार्थ तो ढोस और अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखनेवाला होता है। यदि गुणकर्मादि (पर्यायादि) द्रव्य से भिन्न पदार्थ हों तो 'अस्य द्रव्यस्य अयं गुणः' इस द्रव्य का यह गुण है, इत्यादि व्यपदेश नहीं हो सकता, क्योंकि उनका कोई नियामक नहीं है।”

शंका—क्या त्रैकालिकपर्यायों से द्रव्य की अभिन्नता है या मात्र एक पर्याय से ?

समाधान—द्रव्य का स्वभाव परिणमनशील है। त्रैकालिकपर्यायों में परिणमन करने के कारण त्रैकालिक-पर्यायों से अभिन्नता को प्राप्त होता है। क्योंकि द्रव्य से रहित पर्याय और पर्याय से रहित द्रव्य नहीं होता।

शंका—द्रव्य क्या एक समय में तीन काल की समस्त पर्यायों से अभिन्नता को प्राप्त होता है ?

समाधान—द्रव्य जिससमय में जिसपर्यायरूप परिणमन करता है उससमय उसपर्याय से तन्मयता को प्राप्त होने के कारण मात्र उसपर्याय से अभिन्नता को प्राप्त होता है। श्री कुन्वकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार में कहा भी है—

परिणमवि जेण दब्बं तक्कालं, तन्मय त्ति पण्णसं ।
तस्सा घम्मपरिणदो आदा, घम्मो मुल्लोयव्वो ॥ ८ ॥
जीवोपरिणमवि जवा सुहेण, असुहेण वा सुहो असुहो ।
सुद्धेण तवा सुद्धो हववि हि, परिणामसम्भावो ॥ ९ ॥

इन दो गाथाओं में यह बतलाया गया है कि द्रव्य जिससमय में जिसपर्यायरूप परिणमन करता है उससमय उसपर्यायरूप ही है ऐसा जितेन्द्र द्वारा कहा गया है। जब आत्मा घर्मपर्यायरूप परिणमन करता है, उससमय घर्मरूप पर्याय से तन्मय होने के कारण आत्मा को घर्मरूप जानना चाहिये। जीव जब शुभपर्यायरूप परिणमन करता है तब शुभरूप पर्याय से तन्मय होने के कारण जीव शुभरूप होता है। जीव जब अशुभपर्यायरूप परिणमन करता है तब अशुभपर्याय से तन्मय होने के कारण जीव अशुभरूप है जीव जब शुद्ध पर्यायरूप परिणमन करता है तब शुद्धरूप पर्याय से तन्मय होने के कारण जीव शुद्ध होता है, क्योंकि जीव परिणामनस्वभावी है।

श्री कुन्वकुन्दाचार्य की उपयुक्त गाथाओं से यह स्पष्ट है कि द्रव्य मात्र वर्तमानपर्याय से तन्मय होता है; शेषपर्यायों से उससमय तन्मय नहीं होता है, क्योंकि वर्तमानपर्याय के अतिरिक्त उससमय शेषपर्यायों का प्रध्वंसाभाव व प्रागभाव है अर्थात् अभाव है। इसीलिये श्री बीरसेनाचार्य ने वर्तमानपर्याय को ही अर्थ (ज्ञेय) कहा है। श्री बीरसेनाचार्य के वाक्य निम्नप्रकार हैं—

“वर्तमानपर्यायाणामेव किमिच्छन्तव्यमिच्छत इति चेत्, न, अर्थे परिच्छिद्यते इति न्यायतस्तत्रार्थव्योपलम्भात् तदनागततीतपर्यायेष्वपि समानमिति चेत्, न, तद्ग्रहणस्य वर्तमानार्थग्रहणपूर्वकत्वात् ।”

[ज० घ० पु० १ पृ० २२]

जो जाना जाता है उसे अर्थ (ज्ञेय) कहते हैं इस व्युत्पत्ति के अनुसार वर्तमानपर्याय में ही अर्थपना (ज्ञेयत्व) पाया जाता है। यदि यह कहा जाय कि व्युत्पत्ति के अनुसार जिसप्रकार वर्तमानपर्याय में अर्थपना (ज्ञेयत्व) पाया जाता है उसीप्रकार अनागत और अतीतपर्यायों में भी अर्थपना (ज्ञेयत्व) संभव है। आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अनागत और अतीतपर्यायों का ग्रहण वर्तमान अर्थ के ग्रहणपूर्वक होता है। अर्थात् अतीत और अनागत पर्यायों भूत शक्ति और भविष्यत् शक्ति रूप से वर्तमान अर्थ (ज्ञेय) में ही विद्यमान रहती हैं। अतः उनका ग्रहण वर्तमान अर्थ (ज्ञेय) के ग्रहणपूर्वक ही हो सकता है, इसलिये भूत और भविष्यत् पर्यायों को अर्थ (ज्ञेय) यह संज्ञा नहीं दी जा सकती है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान पर्याय ज्ञेय है किन्तु उसमें अन्य पर्यायों भूत शक्ति और भविष्यत् शक्ति रूप से विद्यमान हैं अतः वे पर्यायों भूत और भविष्यत् शक्ति रूप से जानी जाती हैं।

शंका—प्रत्येक समय में द्रव्य पूर्ण है या अपूर्ण ?

समाधान —प्रत्येक समयमें द्रव्य पूर्ण भी है और अपूर्ण भी है।

जिससमय में जो द्रव्य जिसपर्यायरूप परिणामन कर रहा है उससमय वह द्रव्य उस पर्याय से तन्मय है उसपर्याय से हीनाधिक नहीं है (प्रवचनसार गा० ८) । यदि द्रव्य को पर्याय से अधिक माना जाये तो पर्याय से रहित होने के कारण उस अधिक के द्रव्यत्व का अभाव हो जायगा, क्योंकि पर्याय के बिना द्रव्य नहीं रह सकता (पंचास्तिकाय गा० १२) । यदि द्रव्य को पर्याय से हीन माना जाय अर्थात् पर्याय को द्रव्य से अधिक तो उस अधिकपर्याय का भी, आश्रयभूत द्रव्य के अभाव होने से, अभाव हो जायगा (पंचास्तिकाय गाथा १२) । प्रत्येक समय में द्रव्य अपनी पर्याय से तन्मय होने के कारण पूर्ण है । जैसे १० ग्राम सुवर्ण कुण्डलपर्याय में उस कुण्डल पर्याय से तन्मय होने के कारण पूर्ण है और वही १० ग्राम सुवर्ण कड़ेरूप पर्याय में उस कड़ेरूप पर्याय से तन्मय होने के कारण १० ग्राम पूर्ण है, हीनाधिक नहीं है ।

यदि द्रव्य को प्रत्येक समय अपनी उससमय की पर्याय से सर्वथा तन्मय मानकर सर्वथा पूर्ण मान लिया जाय तो उस पर्याय का अभाव होने पर द्रव्य के भी अभाव का प्रसंग आयगा, किन्तु द्रव्य का अभाव होता नहीं है, क्योंकि उसपर्याय का व्यय होने पर द्रव्य अन्य नवीनपर्यायरूप परिणम जायगा और उस नवीनपर्याय से तन्मय हो जायगा ।

इसलिये द्रव्य का लक्षण निम्नप्रकार कहा गया है—

“द्रवति द्रोध्यति अद्रुद्बत् स्वगुण पर्यायान् इति द्रव्यम् ।” (स्वा० का० अ० गा० २४० टीका)

जो अपने गुण और पर्यायों को प्राप्त होता है वह द्रव्य है ।

एयद्वियस्मि जे अत्थपज्जया वयणपज्जया वा वि ।

तीदाणामवभूवा तावइयं तं हवइ वब्बं ॥ १०८ ॥

(अ० ध० पु० १ पृ० २५३)

एक द्रव्य में अतीत, अनागत और वर्तमानरूप जितनी अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय होती हैं, तत् प्रमाण वह द्रव्य होता है ।

प्रत्येकसमय में मात्र वर्तमानपर्याय सद्भावरूप विद्यमान रहती हैं और शेषपर्यायों असद्भावरूप अविद्यमान रहती हैं अतः प्रत्येक समय में द्रव्य कथंचित् अपूर्ण है ।

शंका—कुछ जैन भाई द्रव्य में त्रिकालिक पर्यायों की सद्भावरूप विद्यमानता मानते हैं और इसप्रकार प्रत्येक समय में द्रव्य को सर्वथा पूर्ण मानते हैं । क्या यह मान्यता ठीक नहीं है ?

समाधान—द्रव्य में त्रिकालिक पर्यायों की सद्भावरूप विद्यमानता जो भी मानते हैं वे जैनसिद्धान्त के माननेवाले नहीं हैं, किन्तु सांख्यमत के मानने वाले हैं । जैन सिद्धान्त में तो पूर्व पर्याय का व्यय और उत्तर पर्याय का उत्पाद बतलाया गया है ।

जदि दब्बे पज्जाया वि विज्जमाणा तिरोहिदा सति ।

ता उत्पत्ति विहला पडिपिहिदे देवदत्ते व्व ॥२४३॥ (स्वा० का० अ०)

टीका—अथ सांख्यवादयः एवं वदन्ति । द्रव्ये जीवद्विपवार्थे सर्वे पर्यायाः तिरोहिताः भाख्याविताः विद्यमानाः सन्ति ।

सम्भाषण परजयाणं अविज्जमाणाण होवि उप्पत्ती ।

कालार्ह-लद्धीए अणाह णिहणम्मि बब्बम्मि ॥ २४४ ॥ (स्वा० का० अ०)

टीका—अविद्यमानानाम् असतां द्रव्ये पर्यायानामुत्पत्ति स्यात् ।

सांख्यमतवाले ऐसा मानते हैं कि जीवादि द्रव्य में त्रिकालवर्ती सब पर्यायों सत् रूप विद्यमान रहती हैं, किन्तु ढकी हुई रहती हैं, जैसे सत् रूप विद्यमान देवदत्त कपड़े के पीछे ढका हुआ रहता है । इस पर आचार्य कहते हैं कि सांख्यमत में पर्याय की उत्पत्ति कहना निष्फल है अर्थात् सांख्य मतानुसार पर्याय का उत्पाद घटित नहीं होता है । अतः अनादिनिश्चन द्रव्य में योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव का लाभ होने पर अविद्यमान असत्पर्यायों की उत्पत्ति होती है अर्थात् उत्पाद होता है ।

सांख्यमत वाले त्रैकालिक पर्यायों को विद्यमान सत् रूप मानते हैं, किन्तु उनमें से एकपर्याय प्रकट रहती है और शेष पर्यायों तिरोहित रहती हैं । किन्तु जैनसिद्धान्त वर्तमान पर्याय के अतिरिक्त शेष पर्यायों का अभाव (प्रवृत्तसाभाव-प्रागभाव) मानता है । पूर्व पर्याय का व्यय (नाश) और अविद्यमान-असत् नवीन-पर्याय का उत्पाद मानता है । यह दोनों सिद्धान्तों में अन्तर है । अतः त्रैकालिकपर्यायों को विद्यमान-सत् मानकर द्रव्य को सर्वथा पूर्ण मानना ठीक नहीं है ।

—जं. ग. 18-11-71/VII/ अजितकुमार

“क्रमबद्धपर्याय” कोई वस्तु नहीं, पुरुषार्थ से कल्याण (मोक्ष) सम्भव है

शंका—यह दुर्लभ मनुष्यपर्याय व जिनवाणी श्रवण इत्यादिक निमित्त पाकर भी यह प्राणी अपना कल्याण क्यों नहीं करता है ? क्या इसमें कर्मोपदेय कारण है या पुरुषार्थ की कमी है या अभी कल्याण की क्रमबद्धपर्याय नहीं आई ?

समाधान—‘क्रमबद्ध पर्याय’ तो कोई वस्तु नहीं है और न आशंकाओं में क्रमबद्धपर्याय का उल्लेख है, यह तो मात्र मनचढन्त है ।

संज्ञी-पंचेन्द्रिय-पर्यायमनुष्य, इन्द्रियों की पूर्णता, ज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम जिनवाणी श्रवण इत्यादिक सामग्री जिसको प्राप्त हो उसके कर्म का तीव्र उदय तो संभव नहीं है । जिस संलग्नता से धनोपार्जन के लिए निरन्तर पुरुषार्थ किया जाता है, यदि उसी तत्परता के साथ आत्म-कल्याण के लिए पुरुषार्थ करे तो कल्याण हो सकता है । हम स्वयं तो आत्म-कल्याण के लिए यथार्थ पुरुषार्थ नहीं करते किन्तु काललब्धि, होनहार, क्रमबद्धपर्याय इत्यादि के भरोसे छोड़ देते हैं । बहुतों को तो ऐसी श्रद्धा बन गई है कि केवली ने हमारा आत्मकल्याण जब होना देखा है उससमय स्वयमेव हो जायगा । उसके पूर्व या पश्चात् करने में न हम स्वयं समर्थ हैं और न अन्य कोई समर्थ है । उपदेशक धर्मोपदेश देकर स्वयं अपना समय बरबाद करते हैं और दूसरों का बरबाद करते हैं ।

जिन मनुष्यों को यथार्थ तत्त्वोपदेश उपलब्ध है और उस उपदेश को धारण करने की योग्यता (ज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम) भी है, उन मनुष्यों का कर्मशत्रु सोया हुआ है (कर्म का मंदोदय है) यदि वे जिनवाणी रूपी शास्त्र का प्रयोग करें अर्थात् जिनवाणी के अनुसार श्रद्धान व आचरण करें तो वे कर्मशत्रु पर विजय प्राप्त कर सकते हैं । तीव्रवेग में नदी से पार होना यद्यपि दुःसाध्य है, किन्तु मन्दवेग में पार होना सरल है । यदि मंदवेग में

भी कोई पुरुषार्थ न करे तो इसमें उस भनुष्य का ही दोष है। वर्तमान में हमारे कर्मोदय मंद है। यदि हम जिनवाणी के उपदेशानुसार श्रद्धानुसार व आचरण करें तो संसार समुद्र से पार हो सकते हैं। यदि क्रमबद्धपर्यायि के भरोसे पड़े रहेंगे तो हमारा कल्याण होने वाला नहीं है। पुरुषार्थ की हीनता मुख्य कारण है और कर्मोदय गौण है। कहा भी है—

“यथा शत्रोः क्षीणावस्थां दृष्ट्वा कोऽपि धीमान् पर्यालोचयत्ययं मम हनने प्रस्तावस्ततः पौरुषं कृत्वा शत्रुं हन्ति तथा कर्मणामप्येकरूपावस्था नास्ति, हीयमानस्थित्यनुभागत्वेन कृत्वा यदा लघुत्वं क्षीणत्वं भवति तदा धीमान् मध्य निर्मल भावनाविशेषखङ्गेन पौरुषं कृत्वा कर्मशत्रुं हन्तीति ।” बृहद् द्रव्यसंग्रह गा० ३७ टीका

—जं. ग. 29-6-72/IX/ टो. ला. जैन

‘सर्वथा क्रमबद्धपर्यायि’, यह एकान्त मिथ्यात्व है

शंका—सोनगढ़ से प्रकाशित ज्ञानस्वभाव व ज्ञेयस्वभाव पुस्तक के पृ० ७ पर लिखा है—गोम्मटसार में नियतिवाद को मिथ्यात्व कहा है। जैसा होना होगा वैसा होगा, ऐसा कहकर स्वच्छन्द होकर मिथ्यात्व का पोषण करें, उसे नियतिवाद कहा है। यदि ज्ञान स्वभाव का निर्णय करके क्रमबद्धपर्यायि को समझें तो इस पुरुषार्थ से मिथ्यात्व और स्वच्छन्दता छूट जावे।

क्या यह लिखना ठीक है ?

समाधान—जिनवाणीरूप द्वादशांग के बारहवें दृष्टिवाद अंग के सूत्रनामक अर्थाधिकार में ३६३ मतों का पूर्वपक्षरूप से वर्णन है। इस सूत्र नामक अर्थाधिकार के अट्ठासी अधिकारों में से तीसरे अधिकार में ‘नियतिवाद’ एकान्त मिथ्यात्वका पूर्वपक्ष से कथन है। कहा भी है—

अट्ठासी अहियारेसु स्रउण्हमहि याराणमत्थ णिहेसो ।
पठमो अबंधयाणं विद्वियो तेरा सियाण बोद्धत्वा ॥ ७६ ॥
तदियो य णियइ-पक्खे हवदि चउत्थो ससमयम्मि ॥

सूत्रनामक अर्थाधिकार के अट्ठासी अधिकारों में से चार अधिकारों का नाम निर्देश मिलता है। उनमें पहला अधिकार अबन्धकों का, दूसरा त्रैराशिकवादियों का, तीसरा नियतिवाद का इसप्रकार ये तीन परमतों के अधिकार समझते चाहिये। चौथा अधिकार स्वसमय का प्ररूपक है।

जिस नियतिवाद एकान्तमिथ्यात्व का कथन पूर्वपक्षरूप से तीसरे अधिकार में है, उसका स्वरूप गोम्मटसार आदि ग्रन्थों में निम्नप्रकार कहा है—

जत्तु जडा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा ।
तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु ॥

जो, जिससमय, जिससे, जैसे, जिसके नियम से होता है, वह, उससमय, उससे, तैसे, उसके होता ही है। ऐसा नियम से सबके मानना, वह नियतिवाद एकान्तमिथ्यात्व है।

सोनगढ़सिद्धान्त में इस नियतिवाद एकान्तमिथ्यात्व को ही क्रमबद्धपर्याय के नाम से कहा गया है। यदि सोनगढ़वाले नियतिवाद अर्थात् क्रमबद्ध-पर्याय का प्रतिपक्षी अनियतवाद अर्थात् क्रमबद्धपर्याय को भी स्वीकार कर लेते तो एकान्तमिथ्यात्व का दूषण न आता, किन्तु सोनगढ़वाले तो सर्वथा नियतिवाद अर्थात् क्रमबद्धपर्याय को ही मानते हैं अतः उनकी क्रमबद्धपर्याय की मान्यता एकान्तमिथ्यात्व है, क्योंकि मिथ्यामतियों का वचन 'सर्वथा' कहा जाने से वास्तव में मिथ्या है और जैनों का वचन 'कथंचित्' कहा जाने से वास्तव में सम्यक् है। कहा भी है—

परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होवि सव्वहा वयणा ।

जइणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहुंवि वयणावो ॥ प्रवचनसार

इसका अर्थ ऊपर लिखा जा चुका है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने 'सव्यपयस्था सप्पडिववच्छा' अर्थात् सर्व पदार्थ सप्रतिपक्ष उपलब्ध होते हैं।' ऐसे सिद्धान्त का उपदेश दिया है जैसा मुक्तपर्याय का प्रतिपक्ष संसारपर्याय है। अभव्यपर्याय का प्रतिपक्ष भव्यपर्याय है। संसारपर्याय के अभाव में मुक्तपर्याय के अभाव का प्रसंग आता है। भव्यों के अभाव में अभव्यों के अभाव का प्रसंग आता है।

“जिह् अवीवकाले कवाचि वि तसपरिणामो ण पत्तो ते तारिसा अणंता जीवा णियमा अस्थि, अण्णहा संसारे भव्व जीवाणमभाववत्तीवो । ण चाभावो, तदभावे अभव्वजीवारणंणि अभाववत्तीवो । ण च तं पि, संसारीणमभाववत्तीवो । ण चेदं पि, तवभावे असंसारीणं पि अभावप्पसंगावो । संसारीणमभावे सते कथं असंसारीणमभावो ? बुच्चदे, तं जहासंसारीणमभावे सते असंसारिणो वि णत्थि, सव्वस्स सप्पडिववच्छस्स उवलंभणहाण्णवत्तीवो ।

अर्थ—जिन्होंने प्रतीतकाल में कदाचित् भी त्रसपर्याय प्राप्त नहीं की है वैसे अनन्त जीव नियम से हैं, अन्यथा संसार में भव्य जीवों का अभाव प्राप्त होता है, भव्यजीवों का अभाव है नहीं, क्योंकि उनका अभाव होने पर अभव्यजीवों का भी अभाव प्राप्त होता है। अभव्यजीवों का भी अभाव नहीं है, क्योंकि उनका अभाव होने पर संसारीजीवों का भी अभाव प्राप्त होता है। संसारीजीवों का भी अभाव नहीं है, क्योंकि संसारीजीवों का अभाव होने पर मुक्तजीवों के अभाव का प्रसंग आता है। संसारी जीवों का अभाव होने पर मुक्तजीव भी नहीं हो सकते, क्योंकि सब सप्रतिपक्ष पदार्थों की उपलब्धि अन्यथा बन नहीं सकती।

सादिपर्याय की प्रतिपक्षी अनादिपर्याय है। सान्तपर्याय की प्रतिपक्षी अनंतपर्याय है। सूक्ष्मपर्याय की प्रतिपक्षी बादरपर्याय है। प्रतिपक्षीपर्याय के अभाव में विवक्षितपर्याय के भी अभाव का प्रसंग आता है। धवल आगम में कहा भी है—

“जदि सुहुमणामकम्मं ण होव्वज, तो सुहुमजीवाणमभावो होव्वज । ण च एवं, सप्पडिववच्छापावे बादरणं पि अभावप्पसंगावो ।”

यदि सूक्ष्मनामकर्म न हो तो सूक्ष्मपर्यायवाले जीवों का अभाव हो जायगा, किंतु ऐसा है नहीं, क्योंकि बादरपर्याय की प्रतिपक्षी सूक्ष्मपर्याय के अभाव में बादरपर्याय वाले जीवों के अभाव का भी प्रसंग आता है।

यदि क्रमबद्धपर्याय को स्वीकार न किया जायगा तो उसके अभाव में, उसके प्रतिपक्षरूप क्रमबद्धपर्याय का भी अभाव हो जायगा और पर्याय का अभाव हो जाने पर द्रव्य का भी अभाव हो जायगा। द्रव्य के अभाव हो जाने पर सर्वशून्यवाद का प्रसंग आ जायगा, किंतु ऐसा है नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष से विरोध आता है।

सोनगढ़ का जो सर्वथा क्रमबद्धपर्याय का सिद्धांत है वह एकांतमिथ्यात्व है, क्योंकि सोनगढ़वाले क्रम-अवद्धपर्याय को स्वीकार नहीं करते हैं ।

दुनिवारनयानीकविरोधध्वंस नीषधिः ।

स्यात्कार जीविता जीयाज्जैनी सिद्धान्तपद्धतिः ॥

'स्यात्कार' जिसका जीवन है जो नयसमूह के दुनिवार विरोध का नाश करनेवाली नीषधि है ऐसी जैनी (जिनभगवान की) सिद्धान्तपद्धति जयवन्त हो ।

शंका—सोनगढ़ से प्रकाशित 'ज्ञान स्वभाव-ज्ञेय स्वभाव' पुस्तक के पृष्ठ २८० पर लिखा है—

"जिसप्रकार जीने की सीढ़ियाँ क्रमवार होती हैं, उसीप्रकार आत्मा असंख्यप्रवेशों में फैला हुआ एक है । उसके क्षेत्र का प्रत्येक अंश सो प्रवेश है । संपूर्ण द्रव्य का अस्तित्व प्रवाहरूप से एक है । उस प्रवाह के प्रत्येकसमय का अंश सो परिणाम है । उन परिणामों का प्रवाहक्रम जीने की सीढ़ियों की तरह क्रमबद्ध है । उनका क्रम आगे पीछे नहीं होगा ।"

पृ० २९२ पर लिखा है—'द्रव्य स्वयं अपनी पर्याय को उसटा—सीधा करना चाहे तो नहीं हो सकता ।"

पृ० २९४ पर लिखा है—'पूर्वपरिणाम का अभावरूप वर्तमानपरिणाम है, इसलिये पूर्व के संस्कार वर्तमान में नहीं आते और न पूर्व का विकार वर्तमान में आता है ।"

प्रश्न यह है कि प्रत्येक द्रव्य की पर्यायों का कोई नियतक्रम है जो सुनिश्चित है ?

समाधान—पर्याय दो प्रकार की हैं । एक स्वपर-सापेक्ष और दूसरी निरपेक्ष ।

"पञ्जाओ बुधियन्पो सपरावेवखो य गिरवेवखो ॥ १४ ॥" [नियमसार] जो पर्याय परनिरपेक्ष है वह स्वभाव पर्याय है । कहा भी है—

"अण्णगिरावेवखो जो परिणामो सो सहावपञ्जाओ ॥ २८ ॥" [नियमसार] वह स्वभावपर्याय अगुरुलघुगुण में षट्स्थानपतित हानिवृद्धि के कारण होती है । कहा भी है—

अगुरुलघुगा अणंता, समयं समयं समुद्भवा जे वि ।

दब्बाणं ते भणिया, सहावगुणपज्जया जाण ॥ २२ ॥ [नयच्छक्र]

अनन्त अविभागप्रतिच्छेदवाले अगुरुलघुगुण में प्रतिसमय हानि या वृद्धिरूप पर्याय उत्पन्न होती रहती है । वे द्रव्य की स्वभावगुणपर्याय कही गई हैं ।

"स्वभावगुणपर्याया अगुरुलघुकुणषट्हानिवृद्धिरूपाः सर्वद्रव्य साधारणाः । [पं० का० गा० १६ टीका]

अगुरुलघुगुण में षट्हानि षट्बुद्धिरूप सर्वद्रव्यों में साधारण स्वभावगुणपर्याय है ।

इस अगुरुलघुगुण में षट्हानिवृद्धि का सुनिश्चित नियतक्रम है । जैसे अंगुल के असंख्यातवैभागवार अनन्तवै-भागवृद्धि होने पर एकवार असंख्यातवै भाग वृद्धि होती है । पुनः अंगुल के असंख्यातवैभागवार अनन्तवैभागवृद्धि होने पर एकवार असंख्यातवैभागवृद्धि होती है । इसप्रकार पुनः पुनः असंख्यातवैभागवृद्धि होते हुए जब अंगुल के असंख्यातवैभागवार असंख्यातवैभागवृद्धियाँ हो जाती हैं तब एकवार संख्यातवै भाग वृद्धि होती है । इत्यादि ।

अगुरुलघुगुण में हानि-वृद्धि का सुनिश्चित नियतक्रम होने के कारण स्वभावपर्यायों का भी सुनिश्चित नियत क्रम है, किन्तु संसार अवस्था में कर्मपरतंत्र-जीवों में उस स्वाभाविक अगुरुलघुगुण का अभाव होने के कारण कर्मो-दयकृत अगुरुलघुत्व है। अतः संसारी जीवों में स्वाभाविक अगुरुलघुगुण के अभाव के कारण पर्यायों का भी सुनिश्चित नियतक्रम नहीं रहा। कहा भी है—

“संसारवस्थाए कम्मपरतंतमि तत्साभावा ।” [घवल पु० ६ पृ० ५८]

“अनादिकर्मनोकर्मसम्बन्धानां कर्मोदयकृतागुरुलघुत्वम्, तद्वत्पन्तविनिवृत्तौ तु स्वभाविकमाविर्भवति ।”

[राजवार्तिक अ० ८ सूत्र ११ वार्तिक १२]

जीने की सीढ़ियों का जो दृष्टान्त दिया गया है वह भी विषम है, क्योंकि जीने की सीढ़ियाँ सद्भावरूप हैं विद्यमान हैं, किन्तु द्रव्य में आगामी पर्यायों का अभाव है, वे अविद्यमान हैं। यदि आगामी पर्यायों का प्रागभाव (प्राक् + प्रभाव) न माना जाय तो उनका उत्पाद सिद्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि सञ्जाव का उत्पाद नहीं होता है। कहा भी है—

जदि द्रव्ये पञ्जाया वि विञ्जमाणा तिरोहिदा संति ।

ता उत्पत्ती विहसा पडिपिहिदे वेववेत्ते ध्व ॥ २४३ ॥

सञ्जाण पञ्जयाणं अविञ्जमाणाण होवि उत्पत्ती ।

कालाई-लढीए अणाइ-णिहणमि दधमि ॥ २४४ ॥ [स्वा. का. अ.]

संस्कृत टीका—“अनादिनिघने अविनश्वरे पदार्थे कालादितच्छया द्रव्यक्षेत्रकालभावलाभेन उत्पत्तिर्भवति उत्पादः स्यात् । किभूतानाम् अविद्यमानानाम् असतां द्रव्ये पर्यायाणामुत्पत्तिः स्यात् ।”

यदि द्रव्य में पर्यायों विद्यमान होते हुए भी ढकी हुई हैं तो उनकी उत्पत्ति निष्फल है। जैसे बस्त्र से ढके हुए देवदत्त का बस्त्र के हट जाने पर देवदत्त का आविर्भाव तो होता है, किन्तु उत्पत्ति (उत्पाद) नहीं होती है, क्योंकि देवदत्त तो विद्यमान था ही। अतः अनादिनिघन द्रव्य में बाह्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि के मिलने पर द्रव्य में अविद्यमान असत्पर्यायों की उत्पत्ति अर्थात् उत्पाद होता है।

जीने की सीढ़ियाँ विद्यमान स्वरूप हैं अतः उनमें क्रमबद्धता संभव है, किन्तु जो पर्यायों अविद्यमान-असद-रूप हैं और जिनकी उत्पत्ति बाह्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों के लाभ पर निर्भर है उनमें क्रमबद्धता संभव नहीं हो सकती है।

यदि कहा जाय कि ज्ञान में सर्व आगामी पर्यायों विद्यमान हैं सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो पर्याय स्वयं द्रव्य में विद्यमान स्वरूप नहीं हैं वे ज्ञान में भी विद्यमान स्वरूप नहीं हो सकती हैं, क्योंकि ज्ञान भूतार्थ का प्रकाश करनेवाला होता है।

“भूतार्थप्रकाशकं ज्ञानम् । अथवा सञ्जावविनिश्चयोपलम्भकं ज्ञानम् ।” [घवल पु. १ पृ. १४२ व १४३]

भूतार्थ अर्थात् स्वरूप अर्थ का प्रकाश करनेवाला ज्ञान होता है। अथवा सञ्जाव के विनिश्चय करनेवासे धर्म को ज्ञान कहते हैं।

अन्यूनमनतिरिक्तं यथातथ्यं विना च विपरोतात् ।

निसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमापमिनः ॥ ४२ ॥ [र. क. भा.]

जो ज्ञान न्यूनतारहित, अधिकतारहित, विपरीततारहित और सन्देहरहित जैसा का तैसा जानता है, शास्त्र के ज्ञाता पुरुष उसको सम्यग्ज्ञान कहते हैं। अतः जो पर्यायों द्रव्य में अविद्यमान-प्रसत्परूप हैं वे सम्यग्ज्ञान में विद्यमान-सत्परूप नहीं हो सकती हैं।

जो भावी पर्यायों द्रव्य में अविद्यमान असत्परूप हैं उनमें क्रमबद्धता नहीं हो सकती अर्थात् उनका नियत-क्रम नहीं हो सकता है। इसीलिये दृष्टिवाद भंग में नियतिवाद को एकान्तमिध्यात्व कहा है। जब तक अनियति को भी स्वीकार नहीं किया जायगा उस समय तक नियतिवाद अथवा पर्यायों की क्रमबद्धता में एकान्त मिध्यात्व का दोष दूर नहीं हो सकता है।

—जै. ग. 26-1-73/VIII & IX/ सुलतानसिंह

“क्रमबद्ध व नियत पर्याय” का सिद्धान्त आगम विरुद्ध है

शंका—श्री जयधवल टीका के आधार पर आपने यह लिखा और उसमें कि—‘सर्वज्ञ अतीत-अनागतपर्यायों को अविद्यमान होने से उन्हें वर्तमानपर्याययुक्त द्रव्य के आधार से जानते हैं, क्योंकि भूत-भविष्यत्पर्यायों को अंबंधना नहीं है।’ इससे यह बात सिद्ध की गई है कि सर्वज्ञज्ञान में भूत-भविष्यत्पर्यायों को अभाव्यात्मक होने से तद्रूप ही अर्थात् अभाव्यात्मकरूप से ही ज्ञात होती हैं।

अगर वर्तमान अर्थ के ग्रहणपूर्वक भूत-भविष्यत्पर्यायों का ज्ञान होता है तो यह ज्ञान तो ऐसा ही हुआ जैसे अवग्रह के ग्रहणपूर्वक ईहादिकज्ञान होते हैं तब यह केवलज्ञान प्रत्यक्ष कैसे माना जायगा ?

श्री जयधवल में शक्तिरूप से माना है तो शक्तिरूप में तो उसका आकार नहीं होता है वे शक्तिरूप पर्यायों वर्तमान में व्यक्तरूप से नहीं झलक सकती हैं।

किन्तु श्री प्रवचनसार जो श्री महावीरजी से टीका सहित प्रकाशित हुआ है उसकी गाथा क्र० ३७ से लेकर केवलज्ञान में प्राप्त हुये श्रेयों का कथन इसप्रकार है कि—केवलज्ञान में अतीत-अनागत-पदार्थ वर्तमान की तरह प्रत्यक्षरूप से प्रतिभासित होते हैं, जैसे चित्रपट में चित्र प्रतिभासित होते हैं। तो चित्रपट में चित्रों का आकार होता है तभी वे प्रतिभासित होते हैं इसीप्रकार केवलज्ञान में भी भूत-भावीपर्यायों का आकार वर्तमान की भाँति झलकता है, किन्तु श्रीजयधवल के अनुसार भूत-भावीपर्यायों का आकार ही जब बना नहीं फिर वे कैसे झलकते हैं और श्री प्रवचनसार के अनुसार अविद्यमानपदार्थ विद्यमान की तरह झलकते हैं इसका क्या मतलब है ?

विद्यमान की तरह झलकना तो यही हो सकता है जैसे विद्यमानपदार्थ का आकार बना हुआ है और वह केवलज्ञान में झलकता है। यदि ऐसा माना जावे तो भूत-भावीपर्यायों जो अनाकाररूप से हैं वे साकाररूप से कैसे ज्ञात होंगी ?

कृपया इसका ठीकप्रकार से स्पष्टीकरण करने का कष्ट करें ताकि शंका समाधान होकर हृदय स्वच्छ हो जाय।

समाधान—ज० घ० पु० १ पृ० २२ व २३ पर, श्री पं० कलाशचन्वजी व श्री पं० फूलचन्दजी बनारस ने अनुवाद करते हुए, इस प्रकार लिखा है—

प्रश्न—यदि विनष्ट और अनुत्पन्नरूप से प्रसत्पदार्थ में केवलज्ञान की प्रवृत्ति होती है तो खरविषाण में भी उसकी प्रवृत्ति होगी ? उत्तर—नहीं, क्योंकि खरविषाण का जिसप्रकार वर्तमान में सत्त्व नहीं पाया जाता है,

उसीप्रकार उसका भूतशक्ति और भविष्यत्शक्तिरूप से भी सत्त्व नहीं पाया जाता है। अर्थात् जैसे वर्तमानपदार्थ में उसकी अतीतपर्यायें, जो कि पहले हो चुकी हैं, भूतशक्तिरूप विद्यमान हैं और अनागतपर्यायें, जो कि आगे होनेवाली हैं, भविष्यत्शक्तिरूप से विद्यमान हैं, उसतरह खरविषाण—गधे के सींग यदि पहले कभी हो चुका होता तो भूतशक्तिरूपसे उसकी सत्ता किसी पदार्थ में विद्यमान होती, अथवा वह आगे होनेवाला होता तो भविष्यत्शक्तिरूप से उसकी सत्ता किसी पदार्थ में विद्यमान रहती, किन्तु खरविषाण न तो कभी हुआ है और न कभी होगा। अतः उसमें केवलज्ञान की प्रवृत्ति नहीं होती है। प्रश्न—जबकि अर्थ में भूतपर्यायें और भविष्यत्पर्यायें भी शक्ति रूपसे विद्यमान रहती हैं तो केवलवर्तमानपर्यायों को ही अर्थ क्यों कहा जाता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि 'जो जाना जाता है उसे अर्थ कहते हैं' इस व्युत्पत्ति के अनुसार वर्तमानपर्यायों में ही अर्थपना पाया जाता है। प्रश्न—यह व्युत्पत्त्यर्थ अनागत और अतीतपर्यायों में भी समान है। अर्थात् जिसप्रकार ऊपर कही गई व्युत्पत्ति के अनुसार वर्तमानपर्यायों में अर्थपना पाया जाता है उसीप्रकार अनागत और अतीतपर्यायों में भी अर्थपना सम्भव है? उत्तर—नहीं, क्योंकि अनागत और अतीतपर्यायों का ग्रहण वर्तमान अर्थ के ग्रहणपूर्वक होता है।

अर्थात् अतीत और अनागत—पर्यायें भूतशक्ति और भविष्यत्-शक्तिरूपसे वर्तमान अर्थ में ही विद्यमान रहती हैं। अतः उनका ग्रहण वर्तमानअर्थ के ग्रहण-पूर्वक ही हो सकता है, इसलिये उन्हें अर्थ यह संज्ञा नहीं दी जा सकती है। अथवा केवलज्ञान आत्मा और अर्थ से अतिरिक्त किसी इन्द्रियादिक सहायक की अपेक्षासे रहित है, इसलिये भी वह केवल अर्थात् असहाय है। इसप्रकार केवल अर्थात् असहाय जो ज्ञान है उसे केवलज्ञान समझना चाहिये।"

"तद्ग्रहणस्य वर्तमानार्थग्रहण पूर्वकत्वात् ।" अर्थात् अनागत और अतीतपर्यायों का ग्रहण वर्तमान अर्थ के ग्रहणपूर्वक होता है। इस वाक्य में पूर्वका अर्थ निमित्त या कारण है, क्योंकि वर्तमानपर्याय बिना भूत शक्तिरूप भूतपर्यायों का और भाविशक्तिरूप भविष्यत्पर्यायों का ग्रहण नहीं हो सकता है। कहा भी है—

"पूर्वं निमित्तं कारणमित्यनर्थान्तरम् ।" [स० सि० १।२०]

"मविपुश्वं सुदं, मविणारणेण बिणा सुवणाशुप्पसीए मशुवल्लंभावो ।" [ज० घ० पु० १ पु० २४]

इनका भाव ऊपर कहा जा चुका है। भूत और भविष्यत्पर्यायें अविद्यमान हैं, ऐसा भी स्वामिकातिकेय ने भी कहा है—

अवि द्रव्ये पञ्जामा वि विउज्जमाणा तिरोहिवा संति ।

ता उप्पत्ती विह्वला पडिपिहिदे देवदत्ते ष्व ॥ २४३ ॥

संस्कृत टीका—अथ सांख्यादयः एवं वदन्ति । द्रव्ये जीवादिपदार्थे सर्वे पर्यायाः तिरोहिताः आच्छादिताः विद्यमानाः सन्ति, त एव जायन्ते उत्पद्यन्ते, सर्वे सर्वत्र विद्यन्ते, इति तन्मतं समुत्पाद्य इवयति । द्रव्ये जीवपुद्गलादि-वस्तुनि पर्याया नरनारकादिवुद्ध्युदयः स्कन्धादयः परिणामा विद्यमानाः सद्द्रूपाः अस्तिरूपाः तिरोहिताः अन्तर्लीना अप्राबुद्धताः सन्ति विद्यन्ते यदि चेत् तर्हि पर्यायाणामुत्पत्तिः उत्पादः निष्पत्तिः विफला निष्फला निरर्थका भवति । पटपिहिते देवदत्ते इयं, यथा वस्त्राच्छादिते देवदत्ते तस्य देवदत्तस्य वस्त्रे उत्पत्तिर्न घटते यथा तथा सर्वे नरनारक-बुद्ध्युदयः पदार्थाः प्रकृतौ लीनाः तर्हि अंगुल्यप्रे हस्तिशतयूथं कथं न जायते इति दूषणसद्भावात् अविद्यमानाः पर्यायाः जायन्ते ॥ २४३ ॥

सव्वाण पञ्जयाणं अविज्जमाणाण होवि उप्पत्ती ।

कालाई लद्धीए अणाइ-णिहणम्मि दब्धम्मि ॥ २४४ ॥

संस्कृत टीका—सर्वेषां पर्यायाणां नरनारकाविपुद्गलादीनां द्रव्ये जीवादिवस्तुनि । किंभूते ? अनादिनिघने अविनश्चरे पदार्थे कालादिलब्धया द्रव्यक्षेत्रकालभवावलाभेन उत्पत्तिर्भवति उत्पादः स्यात् । किं भूतानाम् ? अविद्यमानानाम् असतां द्रव्ये पर्यायाणामुत्पत्तिः स्यात् । यथा विद्यमाने सृष्टद्रव्ये घटोत्पत्त्युचितकाले कुम्भकारादौ सत्येव घटादयः पर्याया जायन्ते तथा ॥ २४४ ॥

स्वामिकातिकेयानुप्रेक्षा में उपयुक्त दो गाथाओं तथा उन पर संस्कृत टीका के द्वारा यह बतलाया गया है कि जैसे वस्त्र से ढका हुआ देवदत्त अथवा पर्दे के पीछे बैठा हुआ देवदत्त वस्त्र या पर्दे के हटते ही प्रकट हो जाता है यदि उसीप्रकार द्रव्य में पर्यायों विद्यमान होते हुए भी ढकी हुई हैं तो उत्पाद अर्थात् पर्याय की उत्पत्ति निष्फल है, क्योंकि पर्दे के पीछे जिसप्रकार देवदत्त पहिले से ही विद्यमान था, इसीतरह सांख्यमतानुसार यदि द्रव्य में पर्याय पहले से ही विद्यमान है और पीछे प्रकट हो जाती है तो उसकी उत्पत्ति कहना उचित नहीं है । उत्पत्ति तो अविद्यमान की ही होती है । अतः अविनश्चर अनादिनिघन द्रव्य में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भवा और भाव के मिलने पर द्रव्य में अविद्यमान अर्थात् असत्पर्याय की उत्पत्ति होती है । उचित काल तथा कुम्हार आदि के द्वारा ही विद्यमान मिट्टी में असत् रूप घट आदि पर्याय की उत्पत्ति होती है । मिट्टी के पिंड घट, शिकोरा, गिलास आदि पर्यायों अक्षिरूप से हैं अर्थात् मिट्टी के पिंड में घट शिकोरा गिलास आदिरूप परिणमन करने की नानाशक्तियाँ विद्यमान हैं । वर्तमानपर्याय सहित द्रव्य और उसमें पड़ी हुई नानाशक्तियाँ ही सम्यग्ज्ञान का विषय हो सकती हैं । अविद्यमानपर्याय अर्थात् असत् रूप पर्याय का विद्यमान या सत् रूपसे ग्रहण नहीं हो सकता है । जो ज्ञान अविद्यमान को विद्यमान रूपसे, असत् को सत् रूपसे जानता है वह सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि जैसा पदार्थ था वसा नहीं जाना, अन्यथा जाना है ।

“सहभुधो गुणाः क्रमवतिनः पर्यायाः ।” [आलापपद्धति]

सदा साथ में रहनेवाले गुण हैं और क्रम-क्रम से होनेवाली पर्यायें हैं । पर्याय के इस लक्षण से भी स्पष्ट है कि द्रव्य में भूत और भाविपर्यायों विद्यमान रूप से या सद्भाव रूप से नहीं रहती हैं । भूतपर्यायों का प्रध्वंसाभाव है और भाविपर्यायों का प्रागभाव है । इसप्रकार द्रव्य में भूत और भावि दोनों पर्यायों का अभाव है । इस वस्तुस्थिति को ध्यान में रखते हुए प्रवचनसार की गाथाओं का अर्थ करना चाहिये ।

तत्कालिमेव सध्वे सदसम्भूदा हि पञ्जया तासि ।

वहृन्ते ते णारो विसंघो दध्वजादीण ॥ ३७ ॥ [प्रवचनसार]

उन समस्त द्रव्यों की सदभूत और असद्भूत सर्वपर्यायों, वर्तमानपर्याय के समान, विशेषरूप से ज्ञान में वर्तती हैं ।

इस गाथा में भी कुन्दकुन्दाचार्य ने दो प्रकार की पर्यायों का उल्लेख किया है । (१) सदभूत अर्थात् वर्तमानपर्याय, (२) असद्भूतपर्याय अर्थात् भूत व भाविपर्यायों । ये दोनों प्रकार की पर्यायें, वर्तमानपर्याय के समान, ज्ञान में वर्तती हैं । अर्थात् असद्भूतपर्यायों के लिये वर्तमानपर्याय की उपमा दी है । उपमा और उपमेय में एकदेश सदृशता होती है, सर्वथा सदृशता नहीं होती । यदि सर्वथा सदृशता हो जाय तो उपमा और उपमेय ऐसे दो भेद नहीं हो सकते हैं ।

जिसप्रकार वर्तमानपर्याय को, इन्द्रिय आदि की सहायता के बिना, केवलज्ञान जानता है, उसीप्रकार इन्द्रिय आदि की सहायता के बिना असद्भूतपर्यायों को भी जानता है। इतनी सद्गता की अपेक्षा 'तवकालिगेव' वर्तमानपर्याय 'इव' शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि केवलज्ञान (सम्यग्ज्ञान) जिसप्रकार वर्तमानपर्याय को सद्भूतरूपसे जानता है, उसी प्रकार असद्भूत (भूत-भावि) पर्यायोंको भी सद्भूतरूपसे जानता है। यदि ऐसा अर्थ किया जायगा तो वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं रहेगा, क्योंकि जैसा पदार्थ है उसको वैसा ही जाने वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है। कहा भी है—

अन्यूनमनतिरिक्तं, याथातथ्यं विना च विपरीतान् ।

निःसंवेहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमायमिनः ॥ ४२ ॥ [२० क० ध्या०]

जो न्यूनतारहित अधिकतारहित विपरीततारहित और सन्देहरहित जैसा का तैसा जानता है वह सम्यग्ज्ञान है, ऐसा शास्त्रों के ज्ञाता पुरुष कहते हैं।

प्रबचनसार गायथा ३७ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी पर्यायों के छह विशेषण दिये हैं (१) जितने तीनकाल के समय हैं उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें हैं, (२) वे पर्यायें क्रम से उत्पन्न होती हैं, (३) वे पर्यायें सद्भूत-असद्भूत के भेद से दो प्रकार की हैं, (४) वे दोनोंप्रकार की पर्यायें अत्यन्त मिश्रित हैं (५) किन्तु विशेष (भिन्न-भिन्न) लक्षण को धारण किये हुये हैं, (६) वर्तमानपर्याय इव (के समान) एक समय में ही ज्ञानमन्दिर में स्थिति को प्राप्त होती है अर्थात् जानी जाती हैं।

प्रथम विशेषण है—“जितने तीनकाल के समय हैं, उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें हैं।” तीनकाल अर्थात् भूत-वर्तमान-भावि-काल के समय हैं प्रत्येक द्रव्य की उतनी पर्यायें हैं। भूतकाल के समय अनादि-सान्त हैं अतः भूतकाल की पर्यायें भी अनादि-सान्त हैं। केवलज्ञान भी भूतकाल की पर्यायों को अनादि-सान्तरूप से जानता है, क्योंकि केवली ने भूतकाल के अनादित्व का उपदेश दिया है। भूतकाल की पर्यायों को प्रवाहरूप से अनादिरूप जानना ही सर्व भूतपर्यायों को जानना है। भूतकाल को या भूतपर्यायों को सादिरूप जानना तो अन्यथा जानना है। वर्तमानकाल सादि-सान्त है अतः वर्तमानपर्याय भी सादि-सान्त है। भाविकाल सादि अनन्त है अतः भाविपर्यायें भी सादि-अनन्त हैं। केवलज्ञान भी भाविपर्यायों को सादि-अनन्तरूप से जानता है। यदि सान्तरूप जाने तो अन्यथा जानना हो जावे।

दूसरा विशेषण है—“वे पर्यायें क्रमसे उत्पन्न होती हैं” अर्थात् जिसप्रकार समस्तगुण एकद्रव्य में एकसाथ रहते हैं उसीप्रकार समस्तपर्यायें या एकसे अधिक द्रव्यपर्यायें एकसाथ एक द्रव्य में नहीं रहती हैं। उन पर्यायों में से पूर्व-पूर्व पर्याय व्यय (नष्ट) होती रहती है और उत्तर-उत्तर पर्याय उत्पन्न होती रहती है। एक द्रव्य में एक-समय में एक ही द्रव्यपर्याय रहती है। केवलज्ञान भी पर्यायों को इसीप्रकार जानता है।

तीसरा विशेषण है—“वे पर्यायें सद्भूत व असद्भूत के भेद से दो प्रकार की हैं। अर्थात् वर्तमानपर्याय सद्भूत है और भूत व भाविपर्यायें असद्भूत हैं।

चौथा विशेषण है—“सद्भूत पर्याय और असद्भूतपर्यायें अत्यन्त मिश्रित हैं।” वर्तमानपर्याय, जो सद्भूत है, उस वर्तमानपर्याय में ही असद्भूत-भूतपर्यायें भूतशक्तिरूपसे पड़ी हुई हैं और असद्भूतभाविपर्यायें भी भविष्यत्-शक्तिरूपसे उस वर्तमानपर्याय में पड़ी हुई हैं। एक ही सद्भूत वर्तमानपर्याय में असद्भूतपर्यायें शक्तिरूप से होने के कारण सद्भूतपर्याय और असद्भूतपर्यायों को अत्यन्त मिश्रित कहा है।

पाँचवाँ विशेषण है—“वे सद्भूत और असद्भूतपर्यायों विशेष लक्षण को अर्थात् भिन्न-भिन्न लक्षण को धारण किये हुए हैं।” अर्थात् वर्तमानपर्याय सद्भूत होने से व्यक्तलक्षण को धारण किये हुए है। भूत व भाविपर्यायों असद्भूत होने से शक्तिलक्षण को धारण किये हुए हैं।

छठा विशेषण है—“वर्तमान पर्यायवत् एकसमय में ही ज्ञानमन्दिर में स्थिति को प्राप्त होती है।” जिस-प्रकार इन्द्रियादि की सहायता बिना सद्भूत वर्तमानपर्याय ज्ञानमन्दिर में स्थिति को प्राप्त होती हैं, उसीप्रकार इन्द्रियादि की सहायताबिना भूत और भाविसद्भूतपर्यायों भी, जो कि वर्तमानपर्याय में भूतशक्तिरूप और भविष्यत् शक्तिरूप से पड़ी हुई हैं, वर्तमानपर्याय के साथ-साथ ज्ञानमन्दिर में स्थिति को प्राप्त होती हैं। ‘इव’ शब्द से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सद्भूतपर्याय असद्भूत नहीं होजाती या असद्भूतपर्यायों सद्भूत नहीं हो जाती हैं। जो पर्याय जिसरूप है वह उसीरूप रहती है और वे पर्यायों अपने-अपने स्वरूप से ही ज्ञानमन्दिर में स्थिति को प्राप्त होती हैं अन्यस्वरूप से नहीं।

सद्भूत और असद्भूतपर्यायों का ज्ञानमन्दिर में स्थिति को प्राप्त होना अयुक्त नहीं है, उसके लिये श्री अमृतचन्द्राचार्य ने तीन दृष्टान्त दिये हैं (१) छद्मस्थ का ज्ञान, (२) चित्रपट (३) आलेख्याकार।

(१) छद्मस्थ अपने स्मृतिरूप परोक्षज्ञान के द्वारा असद्भूत भूतपर्यायों के आकारों का चितवन कर सकता है अथवा अनुमान परोक्षज्ञान के द्वारा भूत तथा भाविपर्यायों के आकार चितवन कर सकता है। क्या केवलज्ञान भी इसीप्रकार चितवन द्वारा भूत और भावि असद्भूतपर्यायों को जानता है? केवलज्ञान निर्विकल्प और सकलप्रत्यक्ष है। छद्मस्थ का मति—श्रुतज्ञान सविकल्प और परोक्ष है। कहा भी है—

“सविकल्पं मानस तच्छतुविधम्, मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकम् । निर्विकल्पं मनोरहितं केवलज्ञानमिति प्रमाणस्य श्रुत्पत्तिः ।” [आलापपद्धति]

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय में चारों ज्ञान सविकल्प हैं और केवल-ज्ञान निर्विकल्प है।

जिसप्रकार केवलज्ञानियों के सुख को समझाने के लिये यह कहा जाता है कि समस्त छद्मस्थजीवों के तीन काल के सुख को एकत्रित कर लिया जाय, वह सुख जितना हो उससे भी अनन्तगुणा सुख एकक्षण में केवलज्ञानी को है। छद्मस्थ का सुख इन्द्रियजनित है और केवलज्ञानियों का सुख अन्तीन्द्रिय है। दोनों सुखों की जाति भिन्न है। इन्द्रियजनित वास्तव में सुख नहीं सुखाभास है। इसीप्रकार छद्मस्थ का ज्ञान क्षायोपशमिक है सविकल्प है, किन्तु केवलज्ञान क्षायिक है और निर्विकल्प है। दोनों की जाति भिन्न है। क्षायिक-निर्विकल्पकेवलज्ञान भूत और भावि असद्भूतपर्यायों को जानता है, इसको समझने के लिये सविकल्प क्षायोपशमिकज्ञान का दृष्टान्त दिया है। दोनों के जानने में महान् अन्तर है।

दूसरा दृष्टान्त चित्रपट का दिशा गया है। चित्रपट मूर्तिक है, जड़ है उसपर चित्र बन सकता है। क्या अमूर्तिक चेतन्यमयो ज्ञान पर भी चित्र अर्थात् ज्ञेय का आकार बनता है? मूलाराधना में निम्नप्रकार कहा है—

“विषयाकारपरिणतिरात्मनो यदि स्याद्द्रूपरसगन्धस्पर्शाद्यात्मकतास्यात्तया च-‘अरसमरुवमगंधंअधसं चैवभा-गुणमसह’ । इत्यनेन विरोधः । विरुद्धश्च नीलपीतादिपरिणामो नैकत्र युज्यते । एकदा आकारद्वय संवेदनप्रसंगश्च । बाह्यस्यैकनीलादिविज्ञानगतमपरं ।”

यदि ज्ञान विषय (ज्ञेय) के आकार से परिणमेग तो वह स्पर्श, रस, गंध, वर्णत्मक होगा, ऐसी अवस्था हो जाने पर, समयसार में जो यह कहा गया है कि ‘आत्मा अरस है, अरूप है, अगंध है, अस्पर्श है, अमूर्तिक है,

अशब्द है, चेतनागुणयुक्त है' उससे विरोध हो जायगा । तथा एकपदार्थ में विच्छेद ऐसे नील व पीत परिणाम नहीं रह सकते हैं । एकसमय में दो आकारों के अनुभव का प्रसंग आवेगा अर्थात् एक बाह्यपदार्थ (ज्ञेय) का आकार और दूसरा ज्ञानाकार ऐसे दो आकारों के संवेदन का प्रसंग आवेगा ।

चित्रपट पर जो चित्र है वह चित्रपट की वर्तमानपर्याय है उसको देखकर परोक्षरूपसदृशप्रत्यभिज्ञान के द्वारा उस जैसे आकारवाली अन्वयपर्याय का ज्ञान हो जाता है । केवलज्ञान सदृशप्रत्यभिज्ञानरूप नहीं है । प्रत्यभिज्ञान इन्द्रियजनित क्षायोपशमिकज्ञान है और केवलज्ञान अतीन्द्रिय क्षायिकज्ञान है । दोनों ज्ञानों में महान अन्तर है । केवलज्ञान असद्रूपरूप भूत और भाविपर्यायों को जानता है, मात्र इतना समझाने के लिये चित्रपट का दृष्टान्त दिया गया है ।

तीसरा दृष्टान्त आलेख्याकार का है । वर्तमानरूप आलेख्याकार वर्तमान है, किन्तु नष्ट और अनुत्पन्न आलेख्याकार तो वर्तमान नहीं है । वर्तमान आलेख्याकार को देखकर सदृशता के कारण उस आकारवाली अन्वय पर्यायों के मात्र आकार का प्रत्यभिज्ञान हो सकता है । प्रत्यभिज्ञान केवलज्ञानरूप नहीं है । वर्तमानपर्याय को देखकर भूतशक्तिरूप से भूतपर्याय का और भविष्यत्शक्तिरूप से भाविपर्याय का ज्ञान हो सकता है, क्योंकि वर्तमानपर्याय में उसप्रकार की शक्तियाँ पड़ी हुई हैं ।

प्रवचनसार गाथा ३८ इस प्रकार है—

जे शोब हि संजादा जे खलू णट्टा भवीय पञ्जाया ।
ते होति असद्रूपदा पञ्जाया णाण पञ्चवखा ॥ ३८ ॥

अर्थ—जो पर्यायों वास्तव में उत्पन्न नहीं हुई हैं तथा जो पर्यायों वास्तव में उत्पन्न होकर नष्ट हो गई हैं वे असद्रूपपर्यायों हैं । वे पर्यायों ज्ञान में प्रत्यक्ष होती हैं अर्थात् ज्ञान उनको प्रत्यक्षरूप से जानता है ।

प्रत्यक्ष जानता है अर्थात् इन्द्रियमादि की सहायता के बिना जानता है ।

संस्कृत टीका में जो 'सद्रूपता एव भवन्ति' वाक्य है उसका अर्थ होता है कि वे व्यक्तरूप से असद्रूपपर्यायों शक्तिरूप से सद्रूप ही हैं । यदि शक्तिरूप से भी सद्रूप न हों तो अनुकूल सामग्री मिलने पर भी उनकी व्यक्तता नहीं हो सकती है जैसे रेत में घटपर्यायरूप परिणामन करने की शक्ति नहीं है, कुम्भकार आदि अनुकूल सामग्री मिल जाने पर भी रेत में घटपर्याय व्यक्त नहीं हो सकती है । यदि मृत्तिकापिण्ड में भाविघटपर्याय का व्यक्तरूप से सद्रूप मान लिया जाय तो कुम्भकार को घटानुकूल व्यापार करने की कोई आवश्यकता न रहेगी । तथा एक ही समय में पिण्डरूप और घटरूप दो द्रव्यपर्यायों के सद्भाव का प्रसंग आ जायगा और 'क्रमवतिनः पर्यायाः' इस आर्थ वाक्य से विरोध आ जायगा ।

प्रवचनसार गाथा ३९ इस प्रकार है—

जदि पञ्चवखमजायं पञ्जायं पल इयं च णाणस्स ।
ण हववि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के पड्विवि ॥ ३९ ॥

अर्थ—जो अनुत्पन्नपर्यायों अर्थात् भाविपर्याय तथा नष्टपर्यायों तथा भूतपर्यायों केवलज्ञान के प्रत्यक्ष न हों अर्थात् केवलज्ञान उन पर्यायों को प्रत्यक्षरूप से न जाने तो वह ज्ञान दिव्य है ऐसा कौन कहेगा ?

जो ज्ञान इन्द्रियों की सहायता से जानता है वह दिव्यज्ञान नहीं हो सकता। केवलज्ञान दिव्यज्ञान है इसीलिये यह कहा गया है कि वह केवलज्ञान प्रत्यक्ष जानता है अर्थात् इन्द्रिय आदि की सहायता के बिना जानता है।

यदि भूत और भावि को भी सद्भावरूप माना जाय तो निम्न दोष आते हैं—

कार्य-द्रव्यमनादि स्यात्प्रागभावस्य निह्वे ।

प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ॥ १० ॥ [देवागम]

अर्थ — प्रागभाव का आलाप होने पर कार्यरूप द्रव्य के अनादि हो जाने का प्रसंग आता है तथा प्रध्वंसरूप धर्म का (प्रध्वंसाभाव का) अभाव होने पर वह अनन्तता (अविनश्वरता) को प्राप्त हो जायगा।

विशेषार्थ—कार्य के उत्पन्न होने के पूर्व में जो उसकार्य की अविद्यमानता है, उसे प्रागभाव (प्राक् + अभाव) कहा जाता है। इस अभाव को न मानने पर घटपटादि कार्य (पर्यायों) अपने स्वरूपलाभ (उत्पत्ति) के पूर्व में भी विद्यमान (सद्भाव) ही रहना चाहिये। इसप्रकार प्रागभाव (प्राक् + अभाव) के अभाव में घटादि कार्यों (पर्यायों) के अनादि हो जाने का अनिष्ट प्रसंग आता है। कार्य (पर्याय) के विनाश का नाम प्रध्वंसाभाव (प्रध्वंस + अभाव) है। इस अभाव को स्वीकार न करने पर चूंकि घटादि कार्यों (पर्यायों) का उत्पन्न होने के पश्चात् कभी विनाश तो होगा ही नहीं, अतएव उन (पर्यायों) के अनन्त (अन्तरहित) हो जाने का प्रसंग आता है, परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि घटादि पर्याय-विशेषों का अपनी उत्पत्ति के पूर्व में और विनाश के पश्चात् उन-उन आकार विशेषों में अवस्थान देखा नहीं जाता। [ध० पु० १५ पृ० २९]

इस श्लोक से यह स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्य में भूतपर्यायों (और भविष्यत्पर्यायों का सद्भाव नहीं होता। तब केवली असद्भूत को ज्ञान भी कैसे सकते ?)^१

—छं. ग. 1/8-3-73/ चन्दनमल गांधी

“क्रमबद्ध-नियतपर्याय” सिद्धान्त आगम से प्रतिकूल है।

द्रव्य की भाविपर्याय नियत (निश्चित) नहीं होती।

शंका—श्लोकवार्तिक पु० ४ पृ० ७४ पर तथा सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रंथों में केवली को त्रिकालज्ञ माना गया है तो किसप्रकार ?

समाधान—मात्र केवलज्ञान ही नहीं, किन्तु प्रत्येकज्ञान त्रिकालज्ञ है, क्योंकि ज्ञान का लक्षण निम्नप्रकार कहा गया है—

जाणइ त्रिकाल सहिए, दब्ब-गुरो-पण्णए य बहु-भेए ।

पक्कखं च परोक्खं अणेण, णाणे सि ण वेत्ति ॥ ९१ ॥ [ध. पु. १ पृ. १४४]

जिसके द्वारा जीव त्रिकालविषयक समस्त द्रव्य, उनके गुण और उनकी अनेकप्रकार की पर्यायों को प्रत्यक्ष (इन्द्रियादि की सहायता के बिना) और परोक्ष (इन्द्रियादि की सहायता से) जाने वह ज्ञान है।

१. फोष्ठकस्थोऽयं पाठः समाधातुः अन्यलेखस्थ भावानुसारेण संलग्नीकृतः । सं०

मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन की सहचरता के कारण ज्ञानके भी मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान ऐसे दो भेद हो गये हैं । सम्यग्ज्ञान का लक्षण बतलाते हुए श्री समंतभद्राचार्य ने कहा है—

अन्यूनमनतिरिक्तं धायात्सम्यं, विना च विपरीतात् ।

निःसन्वेहं वेद यदादुस्तज्ज्ञानभागमिनः ॥ ४२ ॥ [र. क. भा.]

जो न्यूनतारहित, अधिकतारहित, विपरीततारहित और संदेहरहित तथा जैसा का वैसा जानता है वह सम्यग्ज्ञान है ।

सर्वज्ञदेव केवलीभगवान ने द्रव्य का लक्षण सत्, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तथा गुण, पर्यायवाला कहा है ।

द्रव्यं सत्सखणय, उत्पादव्यय ध्रुवसंयुतं ।

गुणपञ्जयासयं वा, जं तं भण्णति सच्चणू ॥ १० ॥ [पंचास्तिकाय]

सर्वज्ञदेव ने द्रव्य को सत् लक्षणवाला, उत्पाद व्यय ध्रौव्य से संयुक्त अथवा जो गुण-पर्यायों को आश्रय आधारस्वरूप कहा है । इसीप्रकार भोक्षशास्त्र में भी कहा गया है—

संस्कृत टीका—“पूर्वभावविनाशः समुच्छेदः”

“सद्द्रव्यलक्षणम् ॥ २६ ॥

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ ३० ॥

गुणपर्ययवद्द्रव्यम् ॥ ३८ ॥” [भोक्षशास्त्र]

एवं भावमभावं भावान्नावं अभावभावं च ।

गुणपञ्जयेहि सहिदो, संसरणमाणो कुणवि जीवो ॥ २१ ॥

श्री अमृतचन्द्राचार्यकृत टीका—

सतो देवादिपर्यायस्योच्छेदमारभमाणस्य भावान्नावकर्तृत्वमुपपावितं । तस्यैव चासतः पुनर्भन्तुत्यादिपर्याय-
स्योत्पादनारभमाणस्या भावभाव कर्तृत्वमभिहितं ।”

एवं सतो विनासो असतो, जीवस्स होइ उत्पादो ।

इवि जिणवरेहि भणितं, अण्णोण्विरुद्धमविरुद्धं ॥ ५४ ॥ [पंचास्तिकाय]

इसप्रकार केवलीभगवान जिनेन्द्रदेव ने यह कहा कि पर्यायाधिकनय से सत्पर्याय का विनाश होता है और असत्पर्याय का उत्पाद होता है, द्रव्याधिकनय से द्रव्य का न उत्पाद है और न व्यय है क्योंकि द्रव्याधिकनय की अपेक्षा द्रव्य नित्य है और पर्यायाधिक की अपेक्षा अनित्य है । अतः द्रव्य नित्यानित्यात्मक है ।

कुछ की ऐसी मान्यता है कि असत्पर्याय का उत्पाद नहीं होता और न सत्पर्याय का व्यय होता है ऐसी मान्यतावाले जैनधर्म अर्थात् अर्हत के मतसे बाह्य है, क्योंकि, यदि पर्याय का अपने उत्पाद से पूर्व उस पर्यायरूप से सद्भाव था तो वह घट व शब्दादि पर्याय अनादि ठहरती है, सो है नहीं । यदि विवक्षितपर्याय का उस पर्यायरूप से विनाश न माना जाय तो घट व शब्द आदि पर्याय के अविनाशिताका प्रसंग आता है सो है नहीं, क्योंकि घट व शब्द आदि पर्याय का घटरूप से तथा शब्दरूप से विनाश पाया जाता है । कहा भी है—

कार्य-द्रव्यमनादि, स्यात्प्रागभावस्य निह्वये ।

प्रथ्वसस्य च घर्मस्य, प्रथ्वेऽनन्ततां व्रजेत् ॥ [अष्टसहस्री पृ० ९७]

इसका भाव ऊपर कहा जा चुका है ।

यदि सांख्यमतावलम्बी की तरह द्रव्य में अतीत अनागतवर्तमान सबपर्यायों का सद्भाव मान लिया जाय तो व्यय व उत्पाद कहना निरर्थक हो जायगा । उत्पाद-व्यय के अभाव में द्रव्य के अभाव का प्रसंग प्रा जायगा, क्योंकि लक्षण के अभाव में लक्ष्य का सद्भाव नहीं हो सकता । अतः अविद्यमानपर्याय का उत्पाद होता है, विद्यमान पर्याय तो पहले से ही विद्यमान थी उसका उत्पाद संभव नहीं है, श्री स्वानिकार्तिकेय आचार्य ने कहा भी है—

जदि इत्थे पञ्जाया वि, विज्जमाणा तिरोहिदा संति ।

ता उत्पत्ती विह्वला पडिपिहिदे, देववत्तो भव ॥ २४३ ॥

सव्वाण पञ्जयाणं, अविज्जमाणाण होदि उत्पत्ती ।

कालाई सद्धीए अणाइणिहणम्मि दव्वम्मि ॥ २४४ ॥ [स्वा. का. अ.]

इन प्रार्थनाओं से यह सिद्ध हो जाता है कि अतीत व अनागतपर्याय अनादिनिघन द्रव्यमें वर्तमानपर्याय के समान विद्यमान, सद्रूप या अस्तित्वरूप से नहीं है । किन्तु वर्तमानपर्यायसहित अनादिनिघन द्रव्य में शक्तिरूप से पड़ी हुई है । शक्ति की व्यक्ति निमित्तानुसार होती है । श्री कुन्बकुन्वाचार्य ने कहा भी है—

रागो पसत्थभूवो, वत्पुविसेतेण फलवि विवरीइं ।

पाणाभूमिगदाणिह, बीजाणिव सस्सकालिहि ॥ २५५ ॥ [प्रवचनसार]

अजयसेनाचार्य कृत टीका—“नामाभूमिगतानीह बीजानि इव सस्यकाले धान्यनिष्पत्तिकाल इव जघन्य-मध्यमोत्कृष्टभूमिवशेन ताभ्येव बीजानि भिन्नभिन्नफलं प्रयच्छन्ति ।”

श्रीश्रमृतचन्द्राचार्यकृत संस्कृत टीका—यथैकधामपि बीजानां भूमिर्ध्वरोऽप्यस्तिर्ध्वरोऽप्येत्यं तथैकस्यापि प्रसस्तरागलक्षणस्य गुणोपयोगस्य पात्रर्ध्वरोऽप्यस्तिर्ध्वरोऽप्येत्यं, कारणविशेषात्कार्यविशेषस्यावश्यंभावित्वात् ।

एक ही बीज होने पर भी नानाभूमियों के कारण उसके फल में विभिन्नता प्रा जाती है । उत्तमभूमि में उस बीज से उत्तमफल उत्पन्न होगा, मध्यमभूमि में उसी बीज से मध्यमफल उत्पन्न होगा, जघन्यभूमि में उसी बीज से जघन्यफलरूप पर्याय उत्पन्न होगी । बंजर-खराब भूमि में वही बीज खराब हो जायगा, उससे कोई फल उत्पन्न नहीं होगा, क्योंकि निमित्तकारण की विशेषता से पर्यायरूप कार्य में विशेषता होना अवश्यंभावी है ।

इस दृष्टान्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक ही बीज प्रथवा पदार्थ में नाना-नाना प्राणामी पर्यायरूप परिणमन करने की शक्ति है । वह बीज या पदार्थ किस पर्यायरूप परिणमन करेगा यह निश्चित नहीं है क्योंकि यह भूमि आदि निमित्तकारणों पर निर्भर है । इसी बात को दूसरे दृष्टान्त द्वारा प्रवचनसार की टीका में सिद्ध किया गया है—

“यथाग्निसंयोगाञ्जलस्य शीतलगुणविनाशोभवति तथा व्यावहारिक जनसंसर्गात् संयतस्य संयमगुणविनाशो भवतीति ज्ञात्वा तपोधनः कर्त्ता समगुणं गुणाधिकं वा तपोधनमाभयति तदास्य तपोधनस्य यथा शीतलभाजनसहित-शीतलजलस्य शीतलगुणरक्षा भवति तथा समगुणसंसर्गात् गुणरक्षा भवति । यथा च तस्यैव जलस्य कर्पूरशार्करादि

शीतलद्रव्यनिक्षेपे कृते सति शीतलगुणवृद्धिर्भवति तथा निश्चयव्यवहाररस्तत्रयगुणाधिकसंसर्गाद्गुणवृद्धिर्भवतीति सूत्रार्थः ।”

जिसप्रकार अग्नि के निमित्त से जल का शीतलगुण नष्ट हो जाता है, उसीप्रकार लौकिकजन के संसर्ग से संयमी का संयमगुण नष्ट हो जाता है । यदि उसी जल को शीतल भाजन में मकान के शीतल कोने में रख दिया जाय तो उस जलका शीतलगुण ज्यों का त्यों बना रहता है । यदि उसी जल को मकान के कोने में कपूर आदि शीतल पदार्थ निक्षिप्त करके रख दिया जाये तो जल के शीतलगुण में वृद्धि हो जायगी ।

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि एक ही जल में उष्णरूप, ज्यों का त्यों शीतलरूप तथा अधिक शीतलरूप परिणमन करने की शक्ति है । यह निश्चित नहीं कि इन तीनपर्यायों में से कौनसी पर्यायरूप जल का आगामी परिणमन होगा । जिसप्रकार के पदार्थ का संसर्ग हो जायगा वैसे ही जल का आगामी परिणमन हो जायगा ।

इन दोनों दृष्टान्तों से स्पष्ट हो जाता है कि बीज व जलादि पदार्थों की आगामी पर्याय निश्चित नहीं है, जैसा कारण मिलेगा वैसे पर्याय उत्पन्न हो जायगी, ऐसा जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है जिसको भी कुन्वकुन्वाचार्यों ने प्रवचनसार गाथा २५५ व २७० में लिपिवद्ध किया है । इतना ही नहीं, यदि आगामी शक्तिरूप पर्याय के अनुकूल बाह्यसामग्री न मिले तो वह शक्तिरूप पर्याय उत्पन्न नहीं होगी ।

श्री अकलंकदेव ने कहा भी है—“स्वपर-प्रत्ययो उत्पादविगमो येषां ते स्वपरप्रत्ययोत्पादविगमाः । के पुनस्ते ? पर्यायाः । प्रथमक्षेत्रकालभावलक्षणो बाह्यः प्रत्ययः परः प्रत्ययः तस्मिन् सत्यपि स्वयमतस्परिणामोऽर्थो न पर्यायान्तरम् आसकन्दति इति । तत्सगर्भः स्वश्च प्रत्ययः । तावुभौ संभूय भावानाम् उत्पादविगमयोर्हेतु भवतः नान्यतरापाये कुशूलस्थमाया—पच्यमानोदकस्थघोटकभाषवत् ।”

स्व और पर कारणों से होनेवाली उत्पाद और व्ययरूप पर्यायों हैं । द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप बाह्य-प्रत्यय हैं अर्थात् परकारण हैं । तथा उसरूप परिणमन करने की अपनी शक्ति स्वकारण है । बाह्य कारणों के रहने पर भी यदि उस पर्यायरूप परिणमन करने की शक्ति न हो तो वह पर्याय उत्पन्न नहीं होगी । यदि उस पर्यायरूप परिणमन करने की अपने में शक्ति हो, किन्तु उस पर्याय के अनुकूल बाह्यद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव न हो तो वह पर्याय उत्पन्न नहीं होगी । स्व और पर दोनों कारणों के मिलने पर ही पर्याय उत्पन्न होती है, किसी एक कारण के अभाव में पर्याय उत्पन्न नहीं होती । जैसे पकने की शक्ति रखनेवाला उड़द यदि बोरे में पड़ा हुआ है तो शक्ति होते हुए भी पकनेरूप पर्याय उत्पन्न नहीं होगी, क्योंकि बटलोई आदि बाह्य (पर) कारणों का अभाव है । न पकनेवाले उड़द को यदि बटलोई में उबलते हुए पानी में भी डाल दिया जाय तो भी पकनेरूप पर्याय उत्पन्न नहीं होगी, क्योंकि स्वशक्ति का अभाव है इससे स्पष्ट है कि शक्तिरूप पर्याय का उत्पाद होना निश्चित नहीं है ।

जब केवली भगवान ने यह उपदेश दिया है कि द्रव्य में आगामी पर्याय असत्-अविद्यमान, प्रागभाव और अनिश्चितरूप से है, तब यह कहना कि केवलीभगवान आगामी पर्याय को सत्, विद्यमान, सद्भाव व निश्चितरूप से जानते हैं; क्या केवली प्रवर्णवाद नहीं है ? केवलीभगवान जिसरूप से पदार्थ, पर्याय, गुण को जानते हैं, क्या उसरूप से उपदेश नहीं दैते अर्थात् क्या केवली ग्रन्थवादी हैं ?

केवलीभगवान तीनोंकाल की पर्यायों को जानते हैं, किन्तु जो पर्याय जिसरूप से है, उसरूप से जानते हैं और उसीरूप से उसका उपदेश दिया है । जो पर्याय सदरूप विद्यमान है उनको उसरूप से जानते हैं और उसीरूप से उपदेश दिया है । जो पर्याय असदरूप हैं अविद्यमान हैं, प्रागभाव, प्रवर्णभावरूप हैं उनको असत्, अविद्यमान

और प्रागभाव-प्रद्वंसाभावरूप से जानते हैं, अन्यथा नहीं जानते क्योंकि वे सम्यग्ज्ञानी हैं, और न अन्यथा उपदेश दिया है, क्योंकि वे बीतराग-सर्वज्ञ हैं ।

सर्व आचार्यों ने केवलज्ञानी को त्रिकालज्ञ कहा है, किन्तु किसी भी आचार्य ने उनको अन्यथा ज्ञाता या अन्यथावादी नहीं कहा है ।

असत्, अविद्यमान, प्रागभाव, प्रद्वंसाभावरूप पर्यायों को उसीरूप से जानने में सर्वज्ञता की हानि भी नहीं होती है । जैसे कि असंख्यात को असंख्यातरूप और अनन्त को अनन्तरूप जानने में सर्वज्ञता की हानि नहीं होती, क्योंकि सर्वज्ञ अन्यथा ज्ञाता नहीं हैं । वे तो यथार्थ ज्ञाता हैं ।

यथाअनन्तमनन्तात्मनोपलभमानस्य न सर्वज्ञत्वं हीयते तथा असंख्येयमसंख्येयात्मनाऽवबुध्यमानस्य नास्ति सर्वज्ञत्वहानिः । न हि अन्यथाऽवस्थितमर्थमन्यथा वेत्ति सर्वज्ञो यथार्थज्ञत्वात् ।” [राजवार्तिक] इसका भाव ऊपर सा चुका है ।

—ज. ग. 6-3-75/ / आश्वसभा

मनःपर्यय ज्ञानी भूत भविष्य को कैसे जानता है ?

शंका—क्या मनःपर्ययज्ञानी जो कि हमारे ८-९ भव जानता है तथा उन भाठ भवों में एक भव यदि लोकान्तस्थ निगोद का है तो क्या उस भव को मनः पर्ययज्ञानी नहीं जानता ? यदि नहीं तो जघन्य से ८-९ भव विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी जानता है, यह बात गलत ठहरती है । तथा 'हाँ' कहा जाता है तो "विचार्यमाण पदार्थ मनःपर्यय की प्रभा से अवष्टब्ध क्षेत्र के भीतर ही तो जाना जायगा" (धवला १३।३४४) यह उपवेश गलत ठहरता है । कृपया स्पष्ट करें ।

समाधान—मनःपर्ययज्ञानी ७-८ भव जानता है इसके द्वारा काल का ज्ञान कराया गया है । इतने काल के अन्दर वर्तन करने वाले द्रव्यों को जानता है । जिनका प्रागभाव या प्रद्वंसाभाव है उन अभावात्मक भवों को मनःपर्ययज्ञानी कैसे जान सकता है ? वर्तमान पर्याय का ही द्रव्य के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है न कि भूत या भावी पर्यायों का । वर्तमानपर्याय में जो भूतपर्यायों या भावीपर्यायों शक्तिरूप से विद्यमान हैं वे पर्यायों शक्तिरूप से जानी जा सकती हैं । श्रुतज्ञान सविकल्प है अतः वह नैगमनय से निमित्तज्ञानादि द्वारा असत् पर्यायों को भी जान लेता है; जैसे-एक बीज है, यदि उसे उत्तमभूमि में बो दिया जावे तो उत्तम फल लगेगा और जघन्यभूमि में बो दिया जाए तो जघन्यफल लगेगा । अतः उस बीज की पर्याय निमित्ताद्योने होने के कारण अनिश्चित है उसको मनःपर्ययज्ञानी किस रूप से जानेगा ? गाथा का शब्दार्थ भिन्नप्रकार का होता है और परमार्थ भिन्न प्रकार का होता है । धवला पुस्तक ७ में अक्षुदर्शन के प्रकरण में यह स्पष्ट किया है ।

—पत्र 1-3-80/ / ज. ला. जैन, भीण्डर



※ “नियतिवाद का कालकूट ईश्वरवाद से भी भयंकर है। ईश्वरवाद में इतना अवकाश है कि यदि ईश्वर की भक्ति की जाय तो ईश्वर के विधान में हेरफेर हो जाता है। ईश्वर भी हमारे सत्कर्म और दुष्कर्मों के अनुसार ही फल का विधान करता है। पर नियतिवाद अभेद्य है, आश्चर्य यह है कि इसे अनन्त पुरुषार्थ का नाम दिया जाता है। यह कालकूट कुन्दकुन्द, अध्यात्म, सर्वज्ञ, सम्यग्दर्शन और धर्म की शक्कर में लपेट कर दिया जाता है। ईश्वरवादी साँप के जहर का एक उपाय (ईश्वर) तो है पर इस नियतिवाद कालकूट का, इस भीषण दृष्टिविष का कोई उपाय नहीं, क्योंकि हर एक द्रव्य की हर समय की पर्याय नियत है।”

—तत्त्वार्थवृत्ति भूमिका पृ० ४८ से ५०; प्रो० महेश्वरकुमार जैन न्यायाचार्य

※ “जिस समय जो पर्याय आने वाली हैं, उनमें फेर-बदल नहीं हो सकता।” इसे मैं उनकी (कानजी स्वामी की) भ्रमबुद्धि का परिणाम मानता हूँ।”

—‘पर्याय क्रमबद्ध भी होती हैं और अक्रमबद्ध भी’ पृ० १६; पं० बंशीधर शास्त्री, व्याकरणाचार्य

※ “क्रमबद्ध पर्याय का प्रचार करना, मिथ्यात्व का प्रचार करना है, इसमें सन्देह नहीं।”

—क्रमबद्ध पर्याय समीक्षा पृ० १५१; पं० मोतीचन्द कोठारी, व्याकरणाचार्य

जैन न्याय

अनेकान्त और स्याद्वाद

अनेकान्त का स्वरूप एवं नियतिवाद

शंका—अनेकान्त में 'अनेक' का अर्थ 'बहुत' और 'अन्त' का अर्थ धर्म है। जो वस्तु में अनेकधर्म स्वीकार करता है वह सम्यक्अनेकांत दृष्टिवाला है और जो अपनी इच्छानुसार एक या दो धर्मों को स्वीकार करता है अर्थात् वस्तु में बहुतधर्मों को स्वीकार नहीं करता, वह एकान्तमिथ्यादृष्टि है। ऐसा ही गोम्मटसार कर्मकांड में एकान्तमिथ्यात्व के ३६३ भेदों को विखाते हुए कहा है जो (१) स्वभाववाद (२) आत्मवाद (३) ईश्वरवाद (४) कालवाद (५) संयोगवाद (६) पुरुषार्थवाद (७) नियतिवाद (८) देववाद; इन आठवादों में से अपनी रुचि के अनुसार एक या दो वादों को तो स्वीकार करे और अन्य का निषेध करे तो वह एकान्तमिथ्यादृष्टि है। यदि ऐसा न माना जावे तो जैनागम के सभी तत्त्वों को मिथ्यात्व का प्रसंग आ जायगा, क्योंकि 'गोम्मटसार' में उक्तस्थल पर मात्र 'नियति' को नहीं, किन्तु 'स्वभाव' 'पुरुषार्थ' 'सप्तभंग' 'तत्रपदार्थ' 'साततत्त्व' सभी को मिथ्यात्व कहा है। देखो ब० जिनेन्द्रकुमार का लेख १९-७-६२ का जैनसन्देश। 'अनेकान्त' में कोई भी ऐसा शब्द नहीं जिसका अर्थ 'विरोधी' हो सके। फिर दो विरोधी धर्मों को अनेकान्त कैसे कहते हो? 'सत्य' तो एक ही होता है; दो ही नहीं सकते। ऐसा भी है और ऐसा भी; इसप्रकार वस्तु-स्वरूप है ही नहीं। जैसे वस्तु 'नित्य' भी है 'अनित्य' भी है, ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है। वह तो संशयवादी है। किन्तु वस्तु नित्य है, अनित्य नहीं है, ऐसा वस्तुस्वरूप है और यही अनेकान्त है।

समाधान—यहाँ पर 'अनेकान्त' पद का शब्दार्थ नहीं ग्रहण करना चाहिये, किन्तु आगम में जो अर्थ प्राचीन महान्त्राचार्यों ने किया है वह अर्थ ग्रहण करना चाहिये। श्री समयसार के परिशिष्ट में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है 'स्याद्वाद समस्त वस्तुओं के स्वरूप को सिद्ध करनेवाला अर्हत सर्वज्ञ का एक अस्खलित शासन है। वह, सर्ववस्तु अनेकान्तात्मक है, इसप्रकार उपदेश करता है, क्योंकि समस्त वस्तु अनेकान्त स्वभाववाली हैं। अनेकान्त का ऐसा स्वरूप है, जो वस्तु तत् है वही अतत् है, जो एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है, जो नित्य है वही अनित्य है। इसप्रकार एक वस्तु में परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है।'

प्रमाणदृष्टि से द्रव्य अनेकांतात्मक जात्यन्तर को प्राप्त एकरूप है (ज. ध. पु. १ पृ. ५५)। द्रव्य न सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य है, किन्तु जात्यन्तररूप नित्यानित्यात्मक है। सर्वथा नित्यवाद के पक्ष में जीव का सुख और दुःख से सम्बन्ध नहीं बन सकता। तथा सर्वथा अनित्यवाद के पक्ष में भी सुख और दुःख की कल्पना नहीं बन सकती। चूँकि वस्तु को सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा अनित्य मानने पर बन्ध आदि के कारणरूप योग और

१. सुहदुख-संप्रजोओ संशयडं ण गित्यवाऽपक्खम्मि । एवंतुल्लेदम्मि वि सुहदुखवियपपणवुत्तं ॥

(ज. ध. पु. १ पृ. २४६ तथा स. त ११८)

कषाय नहीं बन सकते हैं तथा योग और कषाय के न मानने पर वस्तु सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा अनित्य नहीं बन सकती है। इसलिये केवल अपने-अपने पक्ष से प्रतिबद्ध ये सभी नय मिथ्यादृष्टि हैं। परन्तु यदि ये सभी नय परस्पर सापेक्ष हों तो समीचीनपने को प्राप्त होते हैं।

शास्त्रीजी ने जो, 'वस्तु नित्य है, अनित्य नहीं है' ऐसा अनेकान्त बनाया वह तो 'नित्य' एकान्त है। शास्त्रीजी ने तो 'अनित्य' का निषेध किया है। 'अनित्य' की स्वीकारता किये बिना अनेकान्त का स्वरूप नहीं बन सकता। जिस प्रकार 'अस्ति' वस्तु का धर्म है उसी प्रकार 'नित्य' भी वस्तु का धर्म है। 'अस्ति' का प्रतिपक्षी 'नास्ति' धर्म भी अस्ति के साथ वस्तु में पाया जाता है। उसी प्रकार 'नित्य' के प्रतिपक्षी 'अनित्य' धर्म का वस्तु में होना अवश्यंभावी है। 'वस्तु नित्यानित्यात्मक है अथवा द्रव्याधिकनय से वस्तु नित्य है और पर्यायाधिकनय से वस्तु अनित्य है', यह अनेकान्त है। यदि भिन्न-भिन्नियों की अपेक्षा के बिना वस्तु को नित्य भी और अनित्य भी कहा जाता तो सम्यगनेकान्त न रहकर संशय की कोटि में आजाता। भिन्न-भिन्नियों की अपेक्षा वस्तु ऐसी भी है और ऐसी भी है; कहने में कोई बाधा नहीं। जैसे एक ही देवदत्त-नामक पुरुष अपने पुत्र यज्ञदत्त की अपेक्षा पिता है और अपने पिता रामदत्त की अपेक्षा पुत्र है। अतः यज्ञदत्तनामक पुरुष पिता भी है और पुत्र भी है, ऐसा कहने में कोई बाधा नहीं है। जो जानी हैं वे तो यथार्थ समझ जाते हैं, किन्तु जो अज्ञानी हैं उनको तो 'अनेकान्त' संशय रूप दिखलाई देता है।

गोम्मटसारकर्मकाण्ड में गाथा ८७६ से गाथा ८८९ तक इन १४ गाथाओं में गृहीतमिथ्यात्व के ३६३ भेदों का कथन है। उन मिथ्यादृष्टियों की जीव आदि नवपदार्थों अथवा जीवादि साततत्त्वों में से प्रत्येक के विषय में किस-किसप्रकार एकान्त मान्यता है तथा अस्ति-नास्ति आदि सातभंग में से प्रत्येक के विषय में किसप्रकार की अज्ञानता है तथा देव-राजा आदि के सम्बन्ध में किसप्रकार वैतयिक-मिथ्यात्व है; इन सबका कथन है। गाथा ८९० एकान्तपौरुषवाद, गाथा ८९१ में एकान्तदैववाद, गाथा ८९२ में एकान्तसंयोगवाद और गाथा ८९३ में एकान्तलोकवाद का कथन है।

यदि शास्त्रीजी ने या मेरे परम मित्र श्री ब्र. जितेन्द्रकुमार पानीपत ने ध्यानपूर्वक गोम्मटसार कर्मकाण्ड के उक्त प्रकरण को पढ़कर समझने का प्रयत्न किया होता तो वे कभी यह लिखने का साहस न करते कि गोम्मटमार में 'नवपदार्थ', 'सप्ततत्त्व', 'सप्तभंग' को मिथ्यात्व कहा है। श्री १०८ नेमिचन्द्रमिद्धान्तचक्रवर्ती महान् आचार्य के सम्बन्ध में हम जैसे तुच्छ प्राणियों को इसप्रकार के शब्दों का प्रयोग शोभा नहीं देता।

गोम्मटसारकर्मकाण्ड गाथा ८७७ में जीवादि नवपदार्थों में प्रत्येक पदार्थ के अस्तित्व के सम्बन्ध में 'काल-वाद', 'ईश्वरवाद', 'आत्मवाद', 'नियतिवाद' 'स्वभाववाद' इन पाँचों वादों में से प्रत्येक वादवाले 'स्वतः' 'परतः' 'नित्यपने' 'अनित्यपने' से एकान्त मिथ्याकल्पना करते हैं। इसका कथन है। क्या इस गाथा में नवपदार्थों को मिथ्या कहा है या नवपदार्थों के अस्तित्व के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न १८० एकान्त मान्यताओं को मिथ्या कहा है।

इन पाँचवादों में से एकवाद 'नियतिवाद' भी है जिसका स्वरूप गाथा ८८२ में कहा है। इस 'नियति-वाद' (जिसको वर्तमान में 'क्रमबद्ध पर्याय' से कहा जाता है) को भी एकान्तमिथ्यात्व कहा है। एकान्तमिथ्यात्व कहने का अभिप्राय यह है कि वह 'नियतिवाद' अपने प्रतिपक्षी विरोधी 'अनियतिवाद' की अपेक्षा नहीं रखता।

१. तन्हा मिरछादिद्वी मध्ये वि णया सपयखपडिबद्धा । अण्णोण्णजिदिसया उण लहंतिस्मत्तसदभावं ॥

(ज. ध. पु. १ पु. २४६)

‘अनियति’ निरपेक्ष सर्वथा ‘नियति’ एकांतमिथ्यात्व है, किन्तु सर्वथानियति न मानकर यदि ‘स्यात्-नियति’ ‘स्यात्-अनियति’ माना जावे तो ‘नियति’ अपने विरोधी ‘अनियति’ की सापेक्षता के कारण ‘सम्यक्नियति’ है।

यदि ‘नियति’ के विरोधी धर्म ‘अनियति’ को तो स्वीकार न करें, किन्तु नियति के साथ ‘कालनय’ ‘ईश्वरनय’ ‘स्वभावनय’ आदि अनेक नयों को स्वीकार करें तो भी मिथ्याएकान्त का दूषण दूर नहीं होगा, क्योंकि एक ही पदार्थ में दो विरुद्धधर्मों को स्वीकार करना अनेकान्त है न कि अनेकधर्मों को स्वीकार करना अनेकान्त है। इसीप्रकार ‘अनियति’ भी यदि ‘नियति’ से निरपेक्ष है तो वह भी मिथ्याएकान्त है। इसीप्रकार ‘कालनय’ ‘अकालनय’ ‘ईश्वरनय’ ‘अनीश्वरनय’ ‘स्वभावनय’ ‘अस्वभावनय’ ‘पुरुषार्थनय’ ‘दैवनय’ आदि परस्पर विरुद्ध दो नयों को सापेक्षता की दृष्टि में सम्यक् कहे हैं और निरपेक्षता की दृष्टि में मिथ्याएकान्त कहा है। उपर्युक्त परस्परविरुद्ध दो नयों का कथन प्रवचनसार परिशिष्ट में है; वहाँ से जान लेना। जैनसिद्धान्त का मूल तत्त्व सम्यग्नेकान्त है, उसको ‘नियतिनिरपेक्ष अनियति इत्यादि’ से तो बाधा आती है, किन्तु ‘नियतिसापेक्ष अनियति’ से बाधा नहीं होती, अपितु पुष्टि होती है।

—पं. ग. 6-12-6 /V/ डी. एल. ज्ञानपीठ

(१) अनेकान्त का स्वरूप व सप्त भंगी

(२) सम्यगेकान्त व मिथ्येकान्त का स्वरूप

(३) दो और दो चार होते हैं; सर्वथा ऐसा कहना भूल है

शंका—वस्तु को अर्थात् द्वय को ‘नित्य और अनित्य’ ऐसा कहा जाता है, किन्तु इन दोनों में एक ही सत्य होगा, और अन्य केवल आरोप मात्र होगा, जो असत्य होगा। इन दोनों में ‘नित्य’ सत्य है, क्योंकि द्वयाधिक अर्थात् निश्चयनय का विषय है। ‘अनित्य’ कहना असत्य है, क्योंकि पर्यायाधिक अर्थात् व्यवहारनय का विषय है। समयसार में भी निश्चयनय को भूतार्थ और व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा है। जैसे दो ओर दो ४ ही होते हैं, ‘५’ या अन्य संख्यारूप नहीं होते, क्योंकि किसी भी प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर एक ही होता है, दो नहीं होते; इसीप्रकार वस्तुस्वरूप क्या है इसका ठीक-ठीक उत्तर एक यही होगा कि ‘वस्तु नित्य ही है, अनित्य नहीं है’। ‘नित्य भी है’, ‘अनित्य भी है’ ऐसे दो उत्तर ठीक-ठीक नहीं हो सकते, यह तो संदेहात्मक उत्तर है। यदि यह कहा जावे कि इस उत्तर से (वस्तु नित्य ही है, अनित्य नहीं है) एकांतमिथ्यात्व का पोषण होता है और अनेकान्त का खंडन होता है, सो भी बात नहीं है, क्योंकि ‘नित्य है’ इससे ‘अस्ति’ धर्म को स्वीकार किया गया है, ‘अनित्य नहीं’ इससे ‘नास्ति’ धर्म को स्वीकार करने से अस्तित्वास्तिरूप अनेकान्त को स्वीकार किया गया अथवा ‘वस्तुस्वरूप नित्य ही है’ यह सम्यगेकान्त है। यदि सम्यगेकान्त को स्वीकार न किया जावेगा तो ‘वस्तुस्वरूप अनेकान्तात्मक ही है ऐसा एकान्त आ जायगा।

समाधान—शंकाकार ने इस शंका में मात्र अपनी एक मान्यता रक्खी है जिसको युक्ति व दृष्टान्त के बल पर सिद्ध करने का प्रयत्न भी किया है किन्तु ‘अनेकान्त’ तथा ‘सम्यगेकान्त’ का यथार्थस्वरूप न समझने के कारण आपकी ऐसी एक भ्रमात्मक मान्यता होगई है।

श्री समयसार ग्रन्थ के स्याद्वादाधिकार में कहा है—‘स्याद्वाद सब वस्तु के माधनेवाला एक निर्बाध अर्हत्सर्वज्ञ का शासन है, वह स्याद्वाद सब वस्तुओं को अनेकान्तात्मक कहता है, क्योंकि सभी पदार्थों का अनेकधर्म-रूप स्वभाव है। वस्तु को ज्ञानमात्रपने अनेकान्त का ऐसा स्वरूप है कि ‘जो वस्तु सरस्वरूप है, वही वस्तु अमरस्व-

रूप है, जो वस्तु नित्यस्वरूप है वही वस्तु अनित्यस्वरूप है', इसप्रकार एकवस्तु में वस्तुपने का निष्पादन करनेवाली परस्पर दो विरुद्ध शक्ति का प्रकाशन 'अनेकान्त' है ।”

श्री समयसार ग्रन्थ में दी हुई अनेकान्त की व्याख्या अनुसार 'जो वस्तु नित्यस्वरूप है वही वस्तु अनित्य-स्वरूप है अर्थात् वस्तु नित्य भी है अनित्य भी है ।' ऐसा कहना होगा । 'वस्तु नित्य ही है, अनित्य नहीं' इसमें तो मात्र 'नित्य' धर्म को तो स्वीकार किया गया है और उसके विरोधीधर्म 'अनित्य' का निषेध करने से एकान्त-मिथ्यात्व का दोष ग्रा जाता है ।

'वस्तु नित्य है' इस वाक्य में वस्तु के 'नित्य' धर्म का कथन किया गया है, 'अस्ति' धर्म का कथन नहीं किया गया । अनेकान्त के लिये 'नित्य' धर्म के विरोधी 'अनित्य' धर्म को स्वीकार करना ही होगा । वस्तु स्याद्-नित्य है, स्याद्अनित्य है, स्याद्निश्चानित्य है, स्याद्ब्रह्मव्य है, स्याद्निश्चानित्यव्य है, स्याद्निश्चानित्यव्यव्य है, स्याद्निश्चानित्यव्यव्यव्य है, इसप्रकार 'नित्य' धर्म की अपेक्षा स्याद्वाद सप्तभंगी बन जाती है ।

'वस्तु अस्ति है' इस वाक्य में 'अस्ति' धर्म की विवक्षा है । 'अस्ति' का विरोधी 'नास्ति' है । अनेकान्त के लिये 'वस्तु अस्ति भी है नास्ति भी है', ऐसा स्वीकार करना होगा । अस्तिधर्म की अपेक्षा से भी सप्तभंगी बन जाती है । प्रत्येकवस्तु में अनन्तधर्म हैं और प्रत्येकधर्म अपने विरोधीधर्म को लिये हुए वस्तु में रहता है । ऐसा अनेकान्तात्मक वस्तु स्वभाव है जो जैनधर्म का मूल सिद्धांत है ।

वस्तुस्वरूप सर्वथा अनेकान्तात्मक हो ऐसा भी नहीं है क्योंकि 'अनेकांत' भी 'अनेकांतरूप' है । प्रमाण की अपेक्षा अनेकान्तरूप है और अपितनय की अपेक्षा एकांतरूप है । (ज. ध. पु. १ पृ. २०७) श्री जयसेनाचार्य ने प्रवचनसार की टीका के अन्त में भी कहा है—'परस्पर सापेक्षानेकनयैः प्रतीयमाणं व्यवहियमाणं क्रमेण मेचकस्वभाव विवक्षितैकधर्मव्यापकत्वादेकस्वभावं भवति । तदेव जीवद्वयं प्रमाणेन प्रतीयमाणं मेचकस्वभावानामनेकधर्माणं युगपद्व्यापकचित्र पटवदनेकस्वभावं भवति ।' अर्थात्—परस्पर सापेक्षानयों की अपेक्षा क्रम से विवक्षित एक-एक धर्म को धारण करने से एकस्वभाववाला है और प्रमाण से युगपदनेकधर्म धारण करने से अनेक स्वभाववाला है । इसप्रकार 'अनेकान्त' में एकान्त का दोष नहीं आता ।

यदि विवक्षितनय अपने विरोधीनय की अपेक्षा रखता है, भले ही वह विरोधीनय गौण हो, तो वह सुनय है । यदि वह नय परस्पर सापेक्ष नहीं है तो वह कुनय है । सुनय का विषय सम्यगेकान्त है, क्योंकि वह अपने विरुद्धधर्म की अपेक्षा रखता है । बिना अपेक्षा के सर्वथा एकान्त कहना सम्यगेकान्त न होकर मिथ्याएकान्त है । कहा भी है—'सम्यगेकांतो हेतुविशेषसामर्थ्यपेक्षः प्रमाणप्ररूपितार्थकदेशादेशः । एकात्मावधारणेन अन्याशेषनिराकरण-प्रवणप्रतिधिमिथ्यैकान्तः ।' (रा. वा. अ. १ सू. ६ वा. ६)

शंका—क्या व्यवहारनय असत्यार्थ है ?

समाधान—द्रव्याधिक और पर्यायाधिक दोनों ही नय अपने-अपने विषयभूत एकधर्म की मुख्यता से वस्तु का बोध अर्थात् ज्ञान कराते हैं । कहा भी है—'प्रमाणनयैरधिगमः ।' (त. सू. प्र. अ. सू. ६) 'जिसप्रकार प्रमाण से वस्तु का बोध होता है उसीप्रकार नयवाक्यों से भी वस्तु का बोध होता है ।' (ज. ध. पु. १ पृ. २०९) । सभी नय अपने-अपने विषय का कथन करने में समीचीन हैं और दूसरे नयों का निराकरण करने में मूढ़ हैं अतः अनेकान्त के ज्ञाता पुरुष 'यह नय सच्चा और यह नय झूठा है' इसप्रकार का विभाग नहीं करते ।

(ज. ध. पु. १ पृ. २५७)

वस्तु का लक्षण 'सत्' है और 'सत्' उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होता है (त. सू. अ. ५ सूत्र २९-३०) । इसमें से ध्रौव्य का (जो द्रव्याधिकनय का विषय है) वस्तु के साथ त्रैकालिक तादात्म्यसंबंध है, क्योंकि यह वस्तु की सर्वत्रवस्थाओं में तादात्म्यरूप से व्याप्त होकर रहता है । पर्यायाधिकनय का विषय, उत्पादव्ययात्मक पर्यायका वस्तु के साथ कथंचित् तादात्म्यसंबंध है, क्योंकि वह वस्तु की मात्र एक अवस्था में तादात्म्यरूप से व्याप्त होकर रहती है सर्वत्रवस्था में व्याप्त होकर नहीं रहती । द्रव्याधिक अथवा निश्चयनय का विषयभूत 'ध्रौव्य' अर्थात् 'सामान्य' का वस्तु के साथ त्रैकालिक तादात्म्यसम्बन्ध होने से वह त्रैकालिक सत्यार्थ है अर्थात् त्रैकालिक रहनेवाला है । पर्यायाधिक अथवा व्यवहारनय का विषयभूत 'पर्याय' अर्थात् 'विशेष' का वस्तु के साथ कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध होने से असत्यार्थ, (कथंचित् सत्यार्थ है) अर्थात् हमेशा रहने वाला नहीं है । यहाँ पर 'असत्यार्थ' में 'अ' का निषेधात्मक अर्थ नहीं ग्रहण करना चाहिये किन्तु 'ईषत्' अर्थ में ग्रहण करना चाहिये (रा. वा. अ. ८ सू. ९ वा. ३) । इस दृष्टि से समयसार गाथा ११ में व्यवहारनय को ग्रहणार्थ और निश्चयनय को भूतार्थ कहा है । स. सा. गाथा ६१ की टीका तथा प्र. सा. गाथा ८ के स्वाध्याय से समझ में आजाता है । अतः इस विषय की समझने के लिये उक्त गाथाओं का अध्ययन अवश्य करना चाहिये ।

वस्तु का स्वरूप क्या है ? 'अनेकान्त' इसका यह एक सत्य उत्तर है । अन्वयधर्म और व्यतिरेकधर्म के तादात्म्यरूप होने से 'अनेकान्त' जात्यन्तररूप है (ज. ध. पु० १ पृ० २५६) । जीव अनेकान्तात्मक है, जात्यान्तर-भाव को प्राप्त है (ज० ध० पु० १ पृ० ५५) ।

शंकाकार ने 'दो और दो चार' का दृष्टान्त देकर एकान्त को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, किन्तु यह दृष्टान्त भी एकान्त को सिद्ध करने में असमर्थ है । दो और दो जोड़ने की अपेक्षा अथवा गुणा की अपेक्षा चार होते हैं, किन्तु सर्वथा 'दो और दो' 'चार' नहीं होते, क्योंकि घटाने की अपेक्षा 'दो' और 'दो' शून्य होता है अथवा 'दो' और 'दो' परस्पर मिलने की अपेक्षा (२२) बाईस हो जाते हैं, भाग की अपेक्षा 'दो' और 'दो' एक हो जाता है । अतः 'दो' और 'दो' को सर्वथा चार कहना बड़ी भारी भूल है ।

'वस्तु नित्य है' यह सत्य है, 'वस्तु अनित्य है' यह असत्य है, इसप्रकार की कल्पनामात्र एकान्तमित्या-दृष्टियों के हृदय में उत्पन्न दुःखा करती है । अनेकान्तवादी अर्थात् सम्यग्दृष्टि तो वस्तु को नित्यानित्यात्मक जात्यन्तरस्वरूप मानता है । अनेकान्त जैनधर्म का मूल सिद्धान्त है । अतः नियति (क्रमबद्धपर्याय) अनियति आदि किसी एक विषय में भी एकान्त का आग्रह नहीं करना चाहिए ।

—जं. ग. 27-12-62/IX/ हीरालाल

तर्क से असिद्ध बात भी प्रमाण हो सकती है

शंका—जो बात तर्क से सिद्ध न हो उसे क्यों माना जावे ?

समाधान—जो बात प्रमाण सिद्ध है उसको मानना चाहिये । वह प्रमाण प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रकार का है ।^१ परोक्षप्रमाण भी स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम के भेद से पाँच प्रकार का है^२ । जिसप्रकार तर्क व अनुमान प्रमाण हैं उसीप्रकार प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और आगम भी प्रमाण हैं । जैसे कोई भोग से

१. "तद्दृष्टा ॥ १ ॥ प्रत्यक्षेतरभेदात् ॥ २ ॥" (परीक्षामुख अध्याय २) ।

२. प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम् । [312 प० मु०]

प्राप्त हुए अपने पूर्व आनन्द का स्मरण कर रहा हो, ऐसे स्मृतिज्ञान को क्या तर्क द्वारा सिद्ध किया जा सकता है? 'अग्नि उष्ण है' यह प्रत्यक्षप्रमाण से जाना जाता है। क्या अग्नि का उष्णपना किसी तर्क से सिद्ध हो सकता है? तर्क से सिद्ध न होने पर भी प्रत्यक्ष व स्मृतिप्रमाण के द्वारा सिद्ध है, अतः स्वीकार करना चाहिये। उसीप्रकार परमाणु आदि सूक्ष्मपदार्थ तथा राम, रावण आदि कालान्तरितपदार्थ, मेह-स्वर्ग-नरक आदि क्षेत्रान्तरितपदार्थ भी तर्क के विषय नहीं हैं। वे आगमप्रमाण से मानने योग्य हैं। आगम तर्क का विषय नहीं है।

(ध० पु० १ पृ० २०६ व १७१; पु० १४ पृ० १५१)

सर्वज्ञ के वचन को आगम कहते हैं^१। जिस आगम का अरहंत ने अर्थरूप से व्याख्यान किया है, जिसको भगधर ने धारण किया है, जो ज्ञान-विज्ञान गुरु-परम्परा से चला आ रहा है, जिसका पहले का वाच्यवाचक भाव अभी तक नष्ट नहीं हुआ है और जो दोषावरण से रहित तथा निप्रतिपक्ष सत्य स्वभाववाले पुरुषों के द्वारा व्याख्यान होने से श्रद्धा के योग्य है ऐसे आगम की आज भी उपलब्धि होती है। (ध. पु. १ पृ. १९६)

मात्र तर्क से सिद्ध वस्तु ही मानने योग्य नहीं है, किन्तु प्रत्यक्ष आगमप्रमाण के द्वारा जानी गई वस्तु भी मानने योग्य है। यदि ऐसा न माना जावेगा तो मात्र तर्क-प्रमाण ही रह जावेगा और इसके प्रतिरिक्त अन्य प्रमाणों का अभाव हो जायगा। और जो वस्तु तर्क का विषय नहीं उसके भी अभाव का प्रसंग आजायगा, किन्तु उनका अभाव है ही नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से उनका सद्भाव सिद्ध है।

—जं. ग. 10-10-63/IX/ गुलवारीताल

सम्यक्त्वाभाव तुच्छाभावरूप नहीं है

शंका—अनादिकाल से सम्यक्पर्याय का अभाव है। उस अभाव का अभाव होने पर सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है। अभाव तो अवस्तु है फिर अभाव का अभाव कैसे सम्भव है ?

समाधान—अभाव तुच्छाभावरूप नहीं है, किन्तु भावान्तर से सद्भावरूप है।

“भावान्तरस्वभावत्वादभावस्य भावान्तरस्वभावो हि क्वचित्तु व्यपेक्षया घटाभावस्य कपालस्वभाववत्”

—प्र. र. मा. पृ. ३७

अभाव भी भावान्तरस्वभाववाला होता है, तुच्छाभावरूप नहीं। घट का अभाव कपाल के सद्भावरूप है। इसीप्रकार सम्यक्त्व का अभाव मिथ्यात्व के सद्भावरूप है। अतः मिथ्यात्व के अभाव से सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है।

—जं. ग. 7-1-71/VII/ रो. ला. मित्तल

द्रव्यत्व, सत्ता तथा जीवत्व में परस्पर भिन्नत्वाऽभिन्नत्व

शंका—द्रव्यत्व, सत्ता और जीवत्व ये तीनों अभिन्न हैं या इनमें कोई भेद है ?

समाधान—द्रव्यत्व, सत्ता और जीवत्व ये तीनों जीवद्रव्य के पारिणामिकभाव हैं। इन तीनों में संज्ञा, लक्षणा, प्रयोजन की अपेक्षा परस्पर भेद है, किन्तु प्रदेणभेद नहीं है, क्योंकि ये तीनों जीवद्रव्य के आश्रय हैं।

१. 'सर्वज्ञवचनं तावदागमः।' (समयसाह गाथा ४४ आत्मड्याति टीका) ;

(१) द्रव्यत्व, सत्ता, जीवत्व ये तीनों शब्द भिन्न-भिन्न हैं अतः संज्ञा की अपेक्षा इन तीनों में भेद है ।

(२) 'द्रव्यत्व' का लक्षण इसप्रकार है—'द्रव्यस्य भावो द्रव्यत्वम्, निजनिजप्रदेशसमूहैरखण्डवृत्त्या स्वभाव-विभावपर्यायान् द्रवतिद्रोष्यति अदुद्रुवदिति द्रव्यम् ।' आलापपद्धति सूत्र ९६

अर्थ—जो अपने-अपने प्रदेशसमूह के द्वारा अखण्डपने से अपने स्वभाव-विभावपर्यायों को प्राप्त होता है, होवेगा, हो चुका है, वह द्रव्य है । उसद्रव्य का जो भाव है वह द्रव्यत्व है । यहां पर वस्तु के सामान्यअंश को द्रव्यत्व कहते हैं, क्योंकि वह सामान्य ही विशेषों (पर्यायों) को प्राप्त होता है ।

'स्वभावत्वाभावव्युत्त्वादस्ति स्वभावः ॥१०६॥' आलापपद्धति

अर्थ—जिसद्रव्य का जो स्वभाव है उस स्वभाव से कभी भी व्युत्त नहीं होना, वह अस्ति स्वभाव (सत्तास्वभाव) है ।

'जीवत्वं चैतन्यमित्यर्थः ।' स. सि. २।७ । जीवत्व का अर्थ चैतन्य है ।

इसप्रकार इन तीनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं । द्रव्यत्व से प्रयोजन वस्तुके सामान्य अंश से है । सत्ता से प्रयोजन वस्तु के अस्तित्व का है । जीवत्व से प्रयोजन चैतन्यभाव का है । अतः इन तीनों का प्रयोजन भिन्न-भिन्न है । तथापि इन तीनों में प्रदेशभेद नहीं है । कहा भी है—

गुणपञ्जयदो दव्वं दव्वावो ण गुणपञ्जया भिण्णा ।

जह्मा तह्मा भणियं दव्वं गुणपञ्जयमण्णं ॥४२॥ [नयचक्र]

अर्थ—गुण व पर्याय से द्रव्य और द्रव्य से गुण व पर्याय भिन्न नहीं है अर्थात् प्रदेशभेद नहीं है । इसलिये गुण व पर्याय से द्रव्य को अनन्य कहा है, अर्थात् गुण और गुणों में अभेदस्वभाव कहा है ।

—जै. ग. ११-५-७२/VII/.....

“असत्ता” वस्तु का धर्म कैसे है ?

शंका—पररूप से जो वस्तु की असत्ता मानी गई है वह स्व का धर्म कैसे हो सकता है ?

समाधान—प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है । कहा भी है—

“स्याद्वादो हि समस्त वस्तुतत्त्वसाधकमेकमखलितं शासनमर्हत्सर्वज्ञस्य । स तु सर्वमनेकांतात्मकमित्यनु-
शास्ति, सर्वस्यापि वस्तुनोऽनेकांतात्मकत्वात् ।” स. सा. आत्मख्याति स्याद्वादाधिकार

अर्थ—स्याद्वाद समस्त वस्तुओं के स्वरूप को सिद्ध करनेवाला, अर्हत्सर्वज्ञ का एक अखलितशासन है । वह स्याद्वाद उपदेश करता है कि सर्व अनेकान्तात्मक है, क्योंकि समस्त वस्तु अनेकान्त स्वभाववाली हैं ।

अनेकान्त का लक्षण निम्नप्रकार है—

“एकवस्तुवस्तुत्वनिष्पावक परस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः ।

अर्थ—एक वस्तु में वस्तुत्व को उपजानेवाली परस्परविरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है ।

जैसे 'यदेवंकतदेवानेकं यदेव सत्तदेवासत् ।' अर्थात् जो वस्तु एक है वही वस्तु अनेक है । जो वस्तु सत्-रूप है वही वस्तु असत्-रूप है । यदि द्रव्य की अपेक्षा वह वस्तु एक है तो गुणपर्याय की अपेक्षा वही वस्तु अनेक है । स्वचतुष्टय की अपेक्षा जो वस्तु सत्-रूप है, वही वस्तु परचतुष्टय की अपेक्षा असत् है । यदि परचतुष्टय की अपेक्षा वस्तु सत्-रूप हो जावे तो संकरदोष आजायगा । पटरूप परचतुष्टय की अपेक्षा भी घट सत्-रूप हो जावे तो घट और पट दोनों एक हो जायेंगे । दोनों में कोई भेद नहीं रहेगा । पट की अपेक्षा घट असत् है ।

“वस्तु एक है, अनेक नहीं है” ऐसा अनेकान्त का स्वरूप नहीं है ।

—जं. ग 26-2-70/IX/ टो. ला. नि.

प्रत्यक्ष पदार्थों का ज्ञान भी प्रत्यक्ष है

शंका—आप्तपरीक्षा कारिका ८८ के अर्थ में पृ. २०६ पर तथा कारिका ९६ के अर्थ में पृ. २१४ पर 'निश्चित' शब्द आया है । वहाँ पर निश्चित का क्या अर्थ है ?

समाधान—पृ. २०६ पर 'सुनिश्चित प्रत्यक्षपदार्थ' शब्द है । अर्थात् प्रत्यक्षपदार्थों का निश्चितरूप से प्रत्यक्षज्ञान है । पृ. २१४ पर प्रमेयपना हेतु का अन्वय अच्छी तरह निश्चित है । 'इन दोनों स्थलों पर निश्चित' से अभिप्राय 'निःसंदेह' का है ।

— जं. ग. 6-1-72, VII/

'ही' शब्द एकान्त का स्रोतक है अथवा अनेकान्त का ?

शंका—'ही' शब्द एकान्त का स्रोतक है अथवा अनेकान्त का ?

समाधान—'एव' अर्थात् 'ही' शब्द एकान्त का स्रोतक है और 'स्यात्' 'कथञ्चित्' शब्द अनेकान्त के स्रोतक हैं । क्योंकि इनमें अन्यधर्मों की सापेक्षता रहती है । पं. का. गाथा १४ की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने कहा भी है—

“स्यादस्ति द्रव्यमिति पठनेन प्रमाणसप्तभंगी ज्ञायते । कथमिति चेत् ? स्यादस्तीति सकलवस्तु ग्राहकत्वात्प्रमाणवाक्यं स्याद'त्येव द्रव्यमिति वस्तुकेदेशग्राहकत्वात्प्रयवाक्यं । तथाचोक्तं— सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन इति अस्ति द्रव्यमिति दुःप्रमाण-वाक्यं । अस्त्येव द्रव्यमिति दुर्नयवाक्यं । एवं प्रमाणादिवाक्यचतुष्टय-व्याख्यानं बोद्धव्यं ।”

'स्यात् द्रव्य है' इत्यादि, ऐसा पढ़ने से प्रमाण सप्तभंगी जानी जाती है, क्योंकि 'स्यादस्ति' यह वचन सकल वस्तु को ग्रहण करनेवाला है, इसलिये प्रमाण वाक्य है । 'स्यादस्ति एव द्रव्यम्' अर्थात् 'द्रव्य स्यात् अस्ति-रूप ही है' ऐसा वचन वस्तु के एकदेश को अर्थात् उसके मात्र 'अस्तित्व-स्वभाव' को ग्रहण करनेवाला है, यह नय वाक्य है । कहा भी है—सकलादेश प्रमाणाधीन है और विकलादेश नयाधीन है । 'अस्ति द्रव्यं' यह दुःप्रमाण वाक्य है व 'अस्ति एव द्रव्यं' यह दुर्नय वाक्य है, क्योंकि अन्यधर्मों की सापेक्षता का स्रोतक ऐसे 'स्यात्' शब्द के प्रयोग का अभाव है यहाँ प्रमाण, दुःप्रमाण, नय, दुर्नय के चार वाक्यों का व्याख्यान है ।

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः ।

अनेकान्तः प्रमाणात् तदेकान्तोऽपितान्नयात् ॥ (बृहत्सू. श्लोक १०३)

हे जिन ! आपके मत में प्रमाण और नय से सिद्ध होता हुआ अनेकान्त भी अनेकान्तरूप है, क्योंकि प्रमाण की अपेक्षा वह अनेकान्तरूप है और अपितनय की अपेक्षा एकान्तरूप है ।

सम्यगनेकान्त, सम्यगेकान्त, मिथ्या-अनेकान्त, मिथ्या-एकान्त के भेद से वचन चार प्रकार के होते हैं । जो वचन अन्यधर्मों व अन्यनयों से निरपेक्ष होते हैं वे मिथ्या हैं और जो सापेक्ष होते हैं वे सम्यक् हैं । श्री समन्त-भद्राचार्य ने कहा भी है—

“निरपेक्षा नया मिथ्यासापेक्षा वास्तु तेऽर्थकृत् ।”

जो नय निरपेक्ष (प्रतिपक्षी धर्म के सर्वथा निराकरणरूप) होते हैं वे ही मिथ्यानय (दुर्नय) होते हैं । सापेक्षनय (जो कि प्रतिपक्षीधर्म की उपेक्षा अथवा उसे गौण किये होते हैं) मिथ्या न होकर सम्यक्नय होते हैं, उनके विषय अर्थ—क्रियाकारी होते हैं, इसलिये उनके समूह के वस्तुपना सुघटित है ।

मिच्छादिद्वी सध्वे वि णया सपक्खपडिबद्धा ।

अण्णोण्णणिसिसया उण ल्हंति सम्मत्तसबभावं ॥

केवल अपने-अपने पक्षसे प्रतिबद्ध ये सभी नय मिथ्यादृष्टि हैं; परन्तु यदि ये सभी नय परस्पर सापेक्ष हों तो समीचीन पने को प्राप्त होते हैं अर्थात् सम्यग्दृष्टि होते हैं ।

‘जैसे पिता ही है’ यह वचन मिथ्या है, क्योंकि यह वचन निरपेक्ष होने से इसमें अन्य धर्मों का निराकरण है । यदि यह कहा जावे कि ‘पुत्र की अपेक्षा पिता ही है’ यह वचन सम्यक् है, क्योंकि यह कथन पुत्र की सापेक्षता लिए हुए है । इसलिए वही मनुष्य अपने पिता की अपेक्षा पुत्र भी है यह बात अनपित अर्थात् गौण है ।

‘पिता भी है’ यह वचन सम्यगनेकान्त है, क्योंकि ‘भी’ शब्द से पिता के अतिरिक्त अन्य समस्त धर्मों का ग्रहण हो जाता है । ‘पुत्र की अपेक्षा पिता भी है’ यह मिथ्याअनेकान्त है, क्योंकि पुत्र की अपेक्षा ‘पिता’ धर्म के अतिरिक्त अन्यधर्म संभव नहीं है और ‘भी’ शब्द अन्यधर्मों का द्योतक है ।

इसप्रकार प्रमाण, दुःप्रमाण, नय, दुर्नय वाक्यों को जानकर सम्यगनेकान्त और सम्यक्नय वाक्यों का प्रयोग होना चाहिये ।

—जं. ग. 26-10-72/VII रो. ला. नि.

स्याद्वाद व अनेकान्त में अन्तर

शंका—स्याद्वाद और अनेकान्त में क्या अन्तर है ? नय की अपेक्षा दोनों रखते हैं ?

समाधान—‘अनेकान्त’ का अर्थ है ‘अनेक’ बहुत अनन्त । ‘अन्त’ का अर्थ ‘धर्म’ है । जिसमें बहुत से विरोधी धर्म हों उसको ‘अनेकान्त’ कहते हैं । ‘स्याद्वाद’—‘स्यात्’ का अर्थ ‘कथंचित्’ ‘किसी अपेक्षा से’ । ‘वाद्’ का अर्थ ‘कहना’ । ‘स्याद्वाद’ का अर्थ हो गया कथंचित् अथवा किसी अपेक्षा से कहना । यद्यपि नय की अपेक्षा से स्याद्वाद और अनेकान्त दोनों हैं, किन्तु ‘अनेकान्त’ वस्तुस्वभाव को द्योतन करता है और ‘स्याद्वाद’ इन अनेक धर्मों में से किसी एकधर्म के कहने के ढंग को बतलाता है । ‘स्यात्’ शब्द यह निश्चितरूप से बताता है कि वस्तु केवल इस धर्मवाली ही नहीं है उसमें इसके अतिरिक्त अन्य भी धर्म हैं । इसप्रकार स्याद्वाद और अनेकान्त में अन्तर है । अन्तधर्मात्मक वस्तु का निदुष्टरूप से कथन करनेवाली भाषा स्याद्वादरूप होती है ।

—जं. स. 20-11-58/V/ कपूरीदेवी, गया

१. कथंचित् अग्नि पानी को गर्म करती है, कथंचित् नहीं ।
२. कथंचित् कुन्दकुन्द समयसार के कर्ता हैं, कथंचित् नहीं ।
३. कथंचित् एक द्रव्य की क्रिया दूसरा द्रव्य करता है ।

शंका—अग्नि पानी को गर्म नहीं करती, क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की क्रिया को नहीं करता ?

समाधान—अग्नि पानी को गर्म नहीं करती ऐसा एकान्त नहीं है, क्योंकि एकग्राम पानी को एकडिग्री सेन्टीग्रेड गर्म करने के लिये एक कलरी तापमान की आवश्यकता होती है । यह एक कलरी तापमान जल में तो है नहीं । इसके लिये इसको तो अग्नि आदि उष्णपदार्थों की आवश्यकता होगी । अग्नि आदि उष्णपदार्थों के बिना जल स्वयं गर्म नहीं हो सकता । अतः अग्नि पानी को गर्म करती है इसमें कोई बाधा भी नहीं है । यह व्यवहारनय का विषय है, क्योंकि 'उष्ण' जल की पर्याय है और पर्याय व्यवहारनय का विषय है ।

श्री जिनेन्द्र भगवान् दिव्यध्वनि के कर्ता हैं और श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार आदि ग्रन्थ के कर्ता हैं अन्यथा इनमें प्रमाणाता का अभाव हो जायगा । इस पर भी यदि किसी को शंका हो तो मदिरापान करके देख लेवे कि मदिरा उसको उन्मत्त करती है या नहीं । इसप्रकार एक द्रव्य की क्रिया को दूसरा द्रव्य करता है, किन्तु उपादानरूप से एकद्रव्य दूसरे द्रव्य की क्रिया को नहीं करता, क्योंकि एकद्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं हो जाता ।

—जं. ग. 12-12-66/VII/ ज. प्र. म. कु.

कथंचित् असत् का उत्पाद व सत् का विनाश

शंका—असत् का कभी उत्पाद नहीं होता और सत् का कभी विनाश नहीं होता । यह सिद्धांत किस अपेक्षा से है ?

समाधान—असत्द्रव्य का कभी उत्पाद नहीं होता और सत्द्रव्य का कभी विनाश नहीं होता है, क्योंकि द्रव्य अनादिअनन्त है किन्तु पर्याय उत्पन्न भी होती हैं और नष्ट भी होती हैं, अतः पर्याय की अपेक्षा असत् का उत्पाद और सत् का विनाश भी होता है । द्रव्य और पर्याय की सापेक्षता से इन दोनों कथनों में कोई विरोध नहीं है ? श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा भी है ।

एवं सदो विनासो असदो जीवस्स होइ उप्पादो ।

इदि जिणवरोहं भगिदं अण्णोण्णविरुद्धमविरुद्धं ॥

इसप्रकार पर्यायदृष्टि से जीव के सत् का विनाश और असत् का उत्पाद होता है ऐसा जिनेन्द्रभगवान् ने कहा है । यद्यपि यह कथन द्रव्यदृष्टि (सत् का नाश नहीं; असत् का उत्पाद नहीं) के विरुद्ध है, तथापि सापेक्षता में यह कथन विरुद्ध भी नहीं है ।

इसप्रकार असत् का उत्पाद नहीं होता और सत् का नाश नहीं होता, ऐसा एकान्त नहीं है । अपनी-अपनी अपेक्षा से दोनों कथन मत्थ हैं । 'सांख्य' यह मानते हैं कि असत् का उत्पाद नहीं होता और सत् का नाश नहीं होता है, इसलिये वे द्रव्य को कूटस्थ नित्य मानते हैं, किन्तु अनेकान्तवादी जैन तो द्रव्य नित्यानित्यात्मक मानते हैं ।

—जं. ग. 14-2-66/IX/ ३. ला. जं. ग.

१. एक द्रव्य का धर्म कथंचित् दूसरे द्रव्य में हो जाता है ।

२ संसारी जीव कथंचित् रूपी अथवा मूर्तिक या पुद्गल है ।

शंका—जीव और पुद्गल के निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध के विषय में कुछ को ऐसा भ्रम क्यों होता है कि जीव के गुण व धर्म पुद्गल में चले जाते हैं और पुद्गल के गुण-धर्म जीव में चले जाते हैं ?

समाधान—भ्रम का कारण मिथ्योपदेश की प्राप्ति तथा मिथ्या मान्यता है । ऐसा भी एकान्त नहीं है कि जीव के धर्म पुद्गल में न जाते हों और पुद्गल के धर्म जीव में न जाते हों । जब हम प्रातः जिनमन्दिर में जाते हैं तो वहाँ पर हमको जिनबिम्ब में वीतरागता के दर्शन होते हैं । यदि जिनबिम्ब में वीतरागता के हमको दर्शन न होते तो आर्षभ्रन्थों में जिनबिम्ब स्थापना का उपदेश न दिया जाता । वीतरागता आत्मा का धर्म है जिसका दर्शन पुद्गलमयी जिनबिम्ब में होता है ।

‘मूर्त’ पुद्गल द्रव्य का गुण है, क्योंकि ‘रूपिणः पुद्गलाः ॥५।५॥’ ऐसा सूत्र वाक्य है । किन्तु जीव अनादिकाल से कर्मबन्धन से बंधा हुआ है इसलिये वह मूर्तभाव को प्राप्त हो जाता है ।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने तत्त्वार्थसार में कहा भी है—

तथा च मूर्तिमानात्मा, सुराभिभवदर्शनात् ।

नह्यमूर्तस्य नभसो, मदिरा मदकारिणी ॥१९॥ बंध-अधिकार

आत्मा मूर्तिक है, क्योंकि उस पर मदिरा का प्रभाव देखा जाता है, अमूर्तिक आकाश में मदिरा मद को उत्पन्न नहीं करती है ।

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य ने भी गो. सा. जी. गा. ५६३ में कहा है—

‘संसारत्या रूढा कम्मविमुक्ता अरूढगमा ।’

संसारीजीव रूपी (मूर्तिक) हैं, और कर्मरहित सिद्धजीव अमूर्तिक हैं ।

‘रूपिष्ववधेः’ इस सूत्र द्वारा यह बतलाया गया है कि अवधिज्ञान का विषय मूर्तपदार्थ है । संसारीजीव भी कर्मबंध के वश से पुद्गलभाव को प्राप्त हो जाने से अर्थात् मूर्त हो जाने से अवधिज्ञान का विषय बन जाता है । कहा भी है—

“कम्मसंबंधवसेण पोगलभावमुवगय जीवदब्बाणां च पच्चक्खेण परिच्छिंति कुणइ ओहिणाणं ।”

ज. ध. पु. १ पृ. ४३

अर्थ—कर्मसम्बन्ध के वश से पुद्गलभाव को प्राप्त हुए जीवों को जो प्रत्यक्षरूप से जानता है वह जीव है ।

‘अणंताणंतविस्सामुवचयसहिदकम्मपोगलक्खंधो सिया जीवो, जीवावो पुधभावेण तवणुवलंभादो ।’

ध. पु. १२ पृ. २९६

अर्थ—अनन्तानन्त विस्सोपचयसहित कर्मपुद्गलस्कन्ध कथंचित् जीव है, क्योंकि वह जीव से पृथक् नहीं पाया जाता है ।

‘सरीरागारेण द्विदकम्मणोकम्मक्खंधाणि णोजीवा, णिच्चेयणत्तादो । तत्थ द्विदजीवा वि णोजीवा, तेसि तत्तो भेदाभावादो ।’ ध. पु. १२ पृ. २९७

अर्थ—शरीराकार से स्थित कर्म व नोकर्मस्वरूप स्कन्धों को अजीव कहा जाता है, क्योंकि वे चैतन्यभाव से रहित हैं। उनमें स्थित जीव भी अजीव है, क्योंकि उसका उनसे भेद नहीं है।

इसप्रकार कर्मपुद्गलस्कन्धों को कथंचित् जीव और जीवको कथंचित् अजीव बतलाया है।

श्री देवसेनाचार्य ने आलापपद्धति में भी कहा है कि जीव और पुद्गल दोनों के चेतन-अचेतन, मूर्त-अमूर्त इन चारों स्वभावों सहित २१ स्वभाव होते हैं।

‘जीवपुद्गलयोरेकविंशति ॥ २९ ॥

जीव में और पुद्गल में इक्कीस-इक्कीस स्वभाव होते हैं।

इसप्रकार एकद्रव्य का धर्म कथंचित् दूसरे द्रव्य में भी हो जाता है।

—जै. ग. 2-12-71/VIII/ २०. ला. नि.

संसारी जीव कथंचित् मूर्त है, कथंचित् अमूर्त

शंका—मई १९६५ के सन्मतिसन्देश पृ. सं. ६२ पर लिखा है—‘व्यवहारनय से संसारी जीव को मूर्त बतलाया है, किन्तु उसको न समझकर यह मानना कि यथार्थ में जीव मूर्त है, स्वरूपविपर्यास है।’ क्या संसारीजीव मूर्त नहीं है? यदि संसारी जीव यथार्थ में मूर्त नहीं है तो पूर्वकालीन आचार्यों ने अयथार्थ कथन क्यों किया?

समाधान—भगवान् की दिव्यध्वनि में दो नयों के अधीन कथन हुआ है—‘द्वौ हि नयी भगवता प्रणीतौ द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च । तत्र न खलु एकनयापत्ता देशना, किंच तदुभयापत्ता ।’ [पं. का. गा. ४ टीका]

अर्थ—भगवान् ने दो नय कहे हैं। द्रव्यार्थिक (निश्चय) और पर्यायार्थिक (व्यवहार)। वहाँ कथन एकनय के अधीन नहीं है, किन्तु दोनों नयों के अधीन होता है।

संसारिणो मुक्ताश्च [त. सू. २-१०], सूत्र द्वारा जीवों के संसारी और मुक्त; ये दो भेद पर्याय की अपेक्षा कहे हैं। यह भी व्यवहारनय का विषय है, निश्चयनय का विषय नहीं है।

व्यवहारेण तु एवे जीवस्स ह्वंति वण्णमादीया ।

गुणद्वान्ता भावा ण तु केई णिच्छयणयस्स ॥ [स. सा. गा. ५६]

अर्थ—ये जो वर्णादि गुणस्थानपर्यन्त २९ भाव कहे गये हैं, वे व्यवहार नय से तो जीव के होते हैं, परन्तु निश्चयनय से इनमें से कोई भी जीव के नहीं है।

जीवे कम्मं बद्धं पुट्टं चेदि व्यवहारणय भणिदं । (स. सा. १४१)

अर्थ—जीव में कर्म बद्ध तथा स्पृष्ट (स्पष्टित) हैं, ऐसा व्यवहारनय का वचन है, अर्थात् व्यवहारनय से जीव संसारी है, परन्तु निश्चयनय से जीव संसारी नहीं है।

जीव की बद्ध अवस्था अथवा संसारी अवस्था वास्तव में सर्वथा अयथार्थ नहीं है। यदि संसारी अवस्था सर्वथा अयथार्थ हो तो मोक्ष और मोक्षमार्ग के अभाव का प्रसंग आजायगा। इसलिए व्यवहारनय का विषय कर्म-बद्ध अवस्था अथवा संसारी अवस्था सर्वथा अयथार्थ नहीं है।

“आत्मनोऽनाविबद्धस्य बद्धस्पृष्टत्वपययिणानुभूयमानतायां बद्धस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकान्ततः पुद्गलास्पृश्यमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् ।” [स. सा. गा. १४ आ. ख्या.]

अर्थ—आत्मा के अनादि पुद्गल कर्म से बद्धस्पृष्टपने की अवस्थारूप से अनुभव किये जाने पर बद्धस्पृष्टपना भूतार्थ है, सत्यार्थ है—यथार्थ है । पुद्गल के स्पर्शन योग्य नहीं ऐसे आत्मस्वभाव को लेकर अनुभव किये जाने पर बद्धस्पृष्टपना असत्यार्थ (अयथार्थ) है ।

जीव के मूर्तत्व और अमूर्तत्व के विषय में भी इसीप्रकार जानना चाहिए । आत्मा के अनादि पुद्गलकर्म से बद्धस्पृष्टपने की अवस्था से अनुभव किये जाने पर मूर्तपना भूतार्थ है, सत्यार्थ है—यथार्थ है । आत्मस्वभाव को लेकर अनुभव किये जाने पर मूर्तपना असत्यार्थ है—अयथार्थ है । इसलिए आत्मा के मूर्तत्व के विषय में अनेकान्त है । कहा भी है—

.....कर्मबन्धापेक्षया हि ते भावाः । न चामूर्तैः कर्मणां बन्धो युज्यते इति ? तन्न, अनेकान्तात् । नायमेकान्तः अमूर्तिरेवात्मेति । कर्मबन्धपर्यायापेक्षया तदावेशात् स्यामूर्तः । यद्येवं कर्मबन्धावेशादस्यैकत्वे सत्यविवेक प्राप्नोति ? नैव दोषः, बन्धं प्रत्येकस्ये सत्यपि लक्षणभेदादस्य नानात्वमवसीयते । उक्तं च —

बंधं पठि एयत्तं लक्षणदो हवइ तस्स णाणत्तं ।

तम्हा अमुत्तिभावोऽण्येतो होई जीवस्स ॥ स. सि. २।७ ।

अर्थ—प्रश्न—श्रीपशमिकादि पांच भाव नहीं बन सकते, क्योंकि आत्मा अमूर्त है । ये श्रीपशमिकादिभाव कर्मबन्ध की अपेक्षा होते हैं, परन्तु अमूर्तआत्मा के कर्मों का बन्ध नहीं बनता है ?

उत्तर—आत्मा के विषय में अनेकान्त है । यह कोई एकान्त नहीं कि आत्मा अमूर्त ही है । कर्मबन्धरूप पर्याय की अपेक्षा उससे युक्त होने के कारण कथंचित् मूर्त है और शुद्धस्वरूप की अपेक्षा कथंचित् अमूर्त है ।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो कर्मबन्ध के आवेश से आत्मा का ऐक्य हो जाने पर आत्मा का उससे भेद नहीं रहता ।

उत्तर—यह कोई दोष नहीं । यद्यपि बन्ध की अपेक्षा अभेद है, तो भी लक्षण के भेद से कर्म और आत्मा का भेद जाना जाता है ।

गाथार्थ—आत्मा बंध की अपेक्षा एक है तथापि लक्षण की अपेक्षा वह भिन्न है । इसलिए जीव का अमूर्तकभाव अनेकान्तरूप है । वह एक अपेक्षा से है और एक अपेक्षा से नहीं है ।

“कम्मसंबंधवसेण षोणलभावमुबगय जीवाजीववस्वार्णं च पच्चक्खेण परिच्छित्तिं कुणइ ओहिणाणं ।

[ज. ध. पु. १ पु. ४३]

अर्थ—कर्म के सम्बन्ध से पुद्गलभाव को प्राप्त हुए जीवों को जो प्रत्यक्षरूप से जानता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं ।

“कथं मुत्ताणं कम्मणममुत्तेण जीवेण सह संबंधो ? ण, अणादिबंधणबद्धस्स जीवस्स संसारावत्थाए अमुत्तत्ताभावादो ।” [धवल १५।३२]

प्रश्न—मूर्त कर्मों का अमूर्तजीव के साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि अनादिकालीन बन्धन से बद्ध रहने के कारण जीव के संसारावस्था में अमूर्तत्व का अभाव है ।

“द्वयोर्मूर्तयोः संघटने विरोधाभावाच्च ।” [ध. पु. १ पृ. २३४]

अर्थ—दो मूर्त पदार्थ (जीव और पुद्गल) के सम्बन्ध होने में कोई विरोध भी नहीं आता है ।

यदि संसारी जीव का मूर्तपना सर्वथा अर्थार्थ माना जाय तो मदिरा आदि के सेवन करने पर ज्ञान में मूर्च्छा नहीं होनी चाहिए थी, किन्तु ज्ञान में मूर्च्छा देखी जाती है । इससे सिद्ध होता है कि संसारी आत्मा मूर्तिक है । [तत्त्वार्थसार]

“अमुक्तो जीवो कथं मणपञ्जवणाशेण मुक्तद्वपरिच्छेद्वियोहिणाणावो हेद्विमेण परिच्छिज्जवे ? ण, मुत्तद्व-कम्मेहि अणादिवंधवद्धस्स अमुत्तत्ताणुववत्तीवो ।”

शंका—क्योंकि जीव अमूर्त है, अतः वह मूर्त अर्थ को जाननेवाले अवधिज्ञान से नीचे के मनःपर्ययज्ञान के द्वारा कैसे जाना जा सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि संसारीजीव आठ मूर्तकर्मों के द्वारा अनादिकालीन बन्धन से बद्ध है, इसलिये वह अमूर्त नहीं हो सकता । कहा भी है—

जीवाजीवं द्दवं रूवारूवि त्ति होदि पत्तेयं ।

संसारत्था रूवा कम्मविमुक्का अरूवगया ॥ [गो. जी. ५६३]

अर्थ—द्रव्य सामान्य के दो भेद हैं । एक जीवद्रव्य, दूसरा अजीवद्रव्य । इनमें से प्रत्येक दो-दो प्रकार का है—रूपी तथा अरूपी । वहाँ संसारी जीव रूपी हैं और कर्म से मुक्त सिद्धजीव अरूपी हैं ।

इसी कथन को देवसेनाचार्य ने इसप्रकार किया है—

मूर्तस्यैकान्तेनात्मनो न मोक्षस्यावाप्तिः स्यात् । सर्वथाऽमूर्तस्यापि तथाऽभनः संसारविलोपः स्यात् ।

अर्थ—एकान्त से आत्मा को मूर्तिक मानने पर मोक्ष का अभाव हो जायगा । (इसीप्रकार) आत्मा को सर्वथा अमूर्त मानने पर आत्मा के संसार का लोप ही जायगा ।

अतः मूर्त-अमूर्त के इस अनेकान्त में किसी एक को अर्थार्थ कहना एकान्तमिथ्यात्व है ।

— जे. ग. 8-7-65/IX/.....

आत्मा कथंचित् मूर्तिक है —

शंका—मोक्षमार्गप्रकाशक दूसरा अधिकार पृ० ३५ पर इसप्रकार लिखा है—“जो मूर्तिक-मूर्तिक का तो बन्धान होना बने, अमूर्तिक मूर्तिक का बन्धान कैसे बने ? ताका समाधान—जैसे इन्द्रियगम्य नहीं ऐसे सूक्ष्म पुद्गल और व्यक्त इन्द्रियगम्य हैं ऐसे स्थूल पुद्गल, तिसका बन्धान होना मानिये है । तैसे इन्द्रियगम्य होने योग्य नहीं ऐसा अमूर्तिक आत्मा और इन्द्रियगम्य होने योग्य मूर्तिक कर्म इनका बन्ध मानना ।” इसपर यह शंका है कि दृष्टान्त मूर्तिक-मूर्तिक का बिया गया है इससे मूर्तिक और अमूर्तिक का बन्ध कैसे सिद्ध होवे ? क्या मूर्तिककर्म इन्द्रियगम्य हैं ?

समाधान—पुद्गल के ६ भेद हैं—'स्थूलस्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मसूक्ष्म। इन छह भेदों में से सूक्ष्मभेदरूप कार्माणवर्गणायें हैं। वे कार्माणवर्गणाएँ ही जीव के साथ कर्मरूप से बँधती हैं। कर्म किसी भी इन्द्रिय के द्वारा गम्य नहीं है। जैसा कि गो. सा. जी. गा. ६०२ व ६०३ से सिद्ध है। पंचास्तिकाय गाथा ७६ की टीका में तो श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने स्पष्ट कहा है कि 'कर्मवर्गणा सूक्ष्म है जो इन्द्रियगम्य नहीं है'।

आत्मा अमूर्तिक है, क्योंकि आत्मा में मूर्तत्व के हेतुभूत स्पर्श, रस, गंध, वर्ण नहीं पाये जाते^३। यह कथन निश्चयनय की अपेक्षा से है, क्योंकि निश्चयनय की दृष्टि में आत्मा अबन्ध है^३। मोक्षमार्ग में उक्त कथन निश्चयनय की अपेक्षा से तो है नहीं, क्योंकि उक्त कथन में आत्मा और पुद्गलमयी द्रव्य कर्मों के बन्ध को स्वीकार करके यह कहा गया है कि मूर्तिक अमूर्तिक का बन्ध होता है। श्री बीरसेनस्वामी ने मूर्त और अमूर्त के बन्ध का निषेध किया है, जैसा कि ध. पु. ६ पृ. ५२ पर कहा—'शरीररहित होने से अमूर्त आत्मा के कर्मों का होना भी सम्भव नहीं है क्योंकि मूर्तपुद्गल और अमूर्त आत्मा के सम्बन्ध होने का अभाव है।'

'कर्म मूर्त है और जीव अमूर्त है, इन दोनों का सम्बन्ध कैसे हो सकता है?' यह प्रश्न आचार्यों के सामने भी रहा है। श्री बीरसेनस्वामी ने तो इस प्रश्न का यह उत्तर दिया है कि "जीव अनादिकाल से कर्मबन्धन से बंधा हुआ है इसलिये कर्थावित् मूर्तपने को प्राप्त हुए जीव के साथ मूर्तकर्मों का सम्बन्ध बन जाता है।" (ज. ध. पु. १ पृ. २८८)। अनादिकालीन बन्धन से बद्ध रहने के कारण जीव के संसारावस्था में अमूर्तत्व का अभाव है। (ध. पु. १५ पृ. ३२)। मूर्त आठ कर्मजनित अनादिशरीर से संबद्ध जीव संसारावस्था में सदाकाल इससे अपृथक् रहता है। अतएव उसके सम्बन्ध से मूर्तभाव को प्राप्त हुए जीव का शरीर के साथ सम्बन्ध होने में कोई विरोध नहीं है (ध. पु. १६ पृ. ५१२)। श्री जयसेनाचार्य ने भी इसीप्रकार कहा है—'यद्यपि यह आत्मा निश्चयनय से अमूर्त है तथापि अनादि कर्मबन्ध के वश से व्यवहारनय से मूर्त होता हुआ द्रव्यबन्ध के निमित्तभूत रागादिविकल्परूप भावबंधोपयोग को करता है। इससे मूर्त द्रव्यकर्मों के साथ संश्लेषसंबंध होता है (प्र. सा. गा. १७४ की टीका) निश्चयनय से जीव यद्यपि अमूर्त है तथापि व्यवहारनय से मूर्तपने को प्राप्त जीव के बंध सम्भव है (पं. का. गाथा १३४ की टीका)।' श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने इस सम्बन्ध में इसप्रकार कहा है। "मूर्त, मूर्त को स्पर्श करता है, मूर्त, मूर्त के साथ बन्ध को प्राप्त होता है; मूर्तत्वरहित जीव मूर्तकर्मों को अवगाह देता है और मूर्तकर्म जीव को अवगाह देते हैं (पं. का. गाथा १३४) जैसे रूपादिरहित जीव रूपीद्रव्यों को तथा गुणों को देखता जानता है उसीप्रकार उसके साथ बंध जानो (प्र. सा. गाथा १७४)।" जीव और कर्मों का अनादिसंबंध स्वीकार किया है, यदि सादि सम्बन्ध स्वीकार किया होता तो यह दोष आ सकता था कि अमूर्त जीव के साथ मूर्तकर्म का बंध कैसे हो सकता है? (ज. ध. पु. १ पृ. ५९)।

'कर्मबंध अवस्था में जीव मूर्तिक है' इस सम्बन्ध में एक प्राचीन गाथा है जिसको सर्वार्थसिद्धि, पंचास्तिकाय, द्रव्यसंग्रह आदि ग्रन्थों की टीका में उद्धृत किया गया है। वह गाथा इसप्रकार है—

“बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो, हवइ तस्स णाणत्तं ।
तम्हा अमुत्ति भावीस्से यंतो होइ जीवस्स ॥”

१. सूक्ष्मत्वेऽपि हि करणानुपलभ्याः कर्मवर्गणादयः सूक्ष्माः ।
२. बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा ७ ।
३. समयसार गाथा १४१ ।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी पं. का. गा. २७ व १७ की टीका में तथा समयसार में शक्तियों के कथन में बीसवीं शक्ति में संसारावस्था में आत्मा को कथंचित् मूर्तिक स्वीकार किया है।

अतः उपर्युक्त आगम प्रमाणों से यह सिद्ध है कि आत्मा कर्मसम्बन्ध के कारण कथंचित् मूर्तिक है अतः मूर्तिक आत्मा का मूर्तिक कर्म से बन्ध होना सम्भव है।

—जं. ग. 6-6-63/Page/IX/ पञ्चमः

(१) अनेकान्त का स्वरूप एवं उदाहरण [कथंचित् आत्मा चेतन है, कथंचित् अचेतन]

(२) “नियति” एकाग्र मिथ्यात्व है

शंका—अनेकान्त किसे कहते हैं ? आगमानुसार अनेकान्त का लक्षण क्या है ? अस्ति-नास्ति ये दो भंग अनेकान्त के करते हैं तब उनका क्या अर्थ होता है ?

आत्मधर्म मार्च १९६४ के अङ्क में ऐसा दिया है कि स्व-स्वरूप की अस्ति और विरुद्ध स्वभाव की नास्ति ऐसा अनेकान्तस्वरूप पदार्थ होता है। यह कथन आगम सम्मत है या नहीं ? ‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ के अनुसार भी कुछ ऐसा ही लगता है कि ‘ऐसे भी है, ऐसे भी है’ ऐसा अनेकान्त का स्वरूप नहीं है, क्योंकि यह तो घम है। ‘ऐसे ही है, अन्य नहीं है’ अनेकान्त का ऐसा स्वरूप कई जन मानते हैं। स्व-स्वरूप से अस्ति पररूप से नास्ति ऐसा मानने पर भी प्रतिपक्षपना प्रगट नहीं होता। तब अस्ति-नास्ति में प्रतिपक्षपना कैसे सिद्ध होता है ?

समाधान—‘अनेकान्त’ दो शब्दों से मिलकर बना है, अनेक + अन्त। ‘अनेक’ का अर्थ ‘एक से अधिक’ है। ‘अन्त’ का अर्थ ‘धर्म’ है। ‘अनेकान्त’ का अर्थ ‘अनेक धर्मात्मक’ है। यहाँ अनेक धर्म से परस्पर प्रतिपक्षी दो धर्म लिये गये हैं। जैसे ‘अस्तित्व’ का प्रतिपक्षी ‘नास्तित्व’, नित्यत्व का प्रतिपक्षी अनित्यत्व, अनेक का प्रतिपक्षी एक, भेद का प्रतिपक्षी अभेद, काल का प्रतिपक्षी अकाल, नियति (क्रमबद्धपर्याय) का प्रतिपक्षी अनियति (अक्रम-बद्धपर्याय, क्रमाबद्धपर्याय), तत् का प्रतिपक्षी अतत् इत्यादि। ये सब धर्म अपेक्षा भेद से प्रत्येकवस्तु में अवश्य पाये जाते हैं। इसलिये प्रत्येक वस्तु को अनेकान्त कहा जाता है। प्रत्येकवस्तु में अनेकधर्म तो प्रायः सभी मतवाले मानते हैं, किन्तु उसको अनेकान्त नहीं कहते। परस्पर दो विरोधी धर्मों का एक वस्तु में पाया जाना अनेकान्त है। श्री अमृतचन्द्र ने भी समयसार की टीका में कहा है—

“एकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकांतः।”

अर्थ—एकवस्तु में वस्तुत्व की उपजानेवाली परस्पर-विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है।

प्रत्येकवस्तु सामान्य-विशेषात्मक है। सामान्य और विशेष दोनों परस्पर विरोधीधर्म हैं। अतः वस्तु को जाननेवाले के क्रमशः सामान्य और विशेष को जाननेवाली दो आँखें (नय) हैं द्रव्याधिक और पर्यायाधिक।

इनमें से पर्यायाधिकक्षु को सर्वथा बन्द करके जब मात्र द्रव्याधिकक्षु के द्वारा देखा जाता है तो मात्र एक आत्मा ही दृष्टिगोचर होता है। नारक, तिर्यच, मनुष्य, देवादिपर्याय (विशेष) दृष्टिगोचर नहीं होते अर्थात् द्रव्याधिकनय की अपेक्षा उस जीवद्रव्य में नारक, तिर्यच, मनुष्य, देवपर्यायों नहीं हैं, किन्तु पर्यायाधिकनय की दृष्टि

से उस जीव द्रव्य में नरक, तिर्यच, मनुष्य और देवादियपर्यायों का अस्तित्व पाया जाता है। अर्थात् पर्यायाधिक नय की अपेक्षा नरकादियपर्यायों की अस्ति है, द्रव्याधिकनय की अपेक्षा नरकादियपर्यायों की नास्ति है।

प्र. सा. राधा ११४

पंचास्तिकाय में भी कहा है—

सत्ता सव्यपयत्या सविस्सरूपा अणंतपञ्जाया ।

भंगुप्पादधुवता सप्पडिक्खा हवदि एवका ॥ ८ ॥

अर्थ—सत्ता उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है, एक है, सर्वपदार्थस्थित है, सविश्वरूप है, अनन्तपर्यायमय है और सप्रतिपक्ष है।

टीका—“द्विविधा हि सत्तामहासत्तावान्तरसत्ता च । तत्र सर्वपदार्थसार्थव्यापिनी सादृश्यास्तित्व सूचिका महासत्ता । अन्या तु प्रतिनियतवस्तुवर्तिनी स्वरूपास्तित्वसूचिकाऽवान्तरसत्ता । तत्र महासत्ताऽवान्तरसत्तारूपेणाऽसत्ता-ऽवान्तरसत्ता च महासत्तारूपेणाऽसत्तेत्यसत्ता सत्ताया ।”

अर्थ—सत्ता दो प्रकार है—महासत्ता और अवान्तरसत्ता। उनमें सर्वपदार्थसमूह में व्याप्त होनेवाली स्वरूपअस्तित्व को सूचित करनेवाली महासत्ता (सामान्यसत्ता) है। दूसरी प्रतिनियत वस्तु में रहनेवाली स्वरूप-अस्तित्व को सूचित करनेवाली अवान्तरसत्ता (विशेषसत्ता) है। वहाँ महासत्ता अवान्तरसत्तारूप से (अवान्तरसत्ता की अपेक्षा) असत्ता है। अवान्तरसत्ता महासत्तारूप से (महासत्ता की अपेक्षा) असत्ता है। इसलिये सत्ता (अस्ति) का प्रतिपक्षी असत्ता (नास्ति) है।

इस सम्बन्ध में अन्य भी उदाहरण दिये जा सकते हैं—जब वस्त्र में तन्तु अनपेक्षित रहते हैं तब केवल एकवस्त्ररूप अस्तित्व प्रतीत होता है और जब वस्त्र की अपेक्षा न रहकर तन्तुओं की प्रधानता हो जाती है तब वस्त्र की प्रतीति न होकर केवल तन्तुओं की ही प्रतीति होती है अर्थात् तन्तुओं की अपेक्षा वस्त्र की नास्ति है।

श्री अकलंकदेव 'स्वरूपसम्बोधन' में इसप्रकार कहते हैं—

प्रमेयत्वाविभिर्धर्मैर चिदात्मा चिदात्मकः ।

ज्ञानदर्शनतस्तस्माच्च चेतनाचेतनात्मकः ॥ ३ ॥

अर्थ—प्रमेयत्वादि धर्मों की अपेक्षा अचेतनरूप है और ज्ञानदर्शन की अपेक्षा चेतनरूप भी है। अतः आत्मा चेतन-अचेतनरूप है।

ज्ञानाद्भिन्नं न च भिन्नो, भिन्नाभिन्नः कथञ्चन ॥ ४ ॥

अर्थ—आत्मा ज्ञान से भिन्न है, अर्थात् संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन की अपेक्षा ज्ञान से आत्मा भिन्न है। आत्मा ज्ञान से भिन्न नहीं है, अर्थात् आत्मा और ज्ञान के प्रदेश भिन्न नहीं हैं, इसलिये ज्ञान से आत्मा अभिन्न है। इसप्रकार ज्ञान से आत्मा कथञ्चित् अभिन्न है।

स्वबेहृप्रमित्तरचायं, ज्ञानमात्रोऽपि नैवसः ।

ततः सर्वगतश्चायं, विश्वव्यापी न सर्वथा ॥ ५ ॥

अर्थ—वह आत्मा अपने शरीर के बराबर नहीं भी है, अर्थात् समुद्रघातअवस्था में मूलशरीर से बाहर भी आत्मा के प्रदेश निकल जाने से मूलशरीर के बराबर नहीं रहता। वह आत्मा ज्ञानमात्र है और ज्ञानमात्र नहीं भी है। अर्थात् ज्ञानगुण को मुख्य करके अन्यगुणों को गौण करके यदि विचारा जाय तो आत्मा ज्ञानमात्रदृष्टिमें आता है और यदि अन्यगुणों को मुख्य किया जाय तो ज्ञानमात्र दृष्टि में नहीं भी आता। लोकपूरण केवलीसमुद्र-घात की अपेक्षा आत्मा विश्वव्यापी है अन्य अवस्था में विश्वव्यापी नहीं है। अथवा केवलज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण लोका लोक को जानने की अपेक्षा आत्मा सर्वगत है, क्योंकि सम्पूर्णपदार्थ आत्मा से गत अर्थात् ज्ञात है। सम्पूर्ण पदार्थों को जानते हुए भी आत्मप्रदेश विश्व में व्याप्त नहीं हुए इसलिये विश्वव्यापी नहीं भी हैं।

श्री अकलंकदेव ने आत्मा को चेतन भी कहा है और अचेतन भी कहा है। यह नहीं कहा कि आत्मा चेतन है, अचेतन नहीं है, क्योंकि चेतन के प्रतिपक्षीधर्म अचेतन को स्वीकार नहीं करने से एकान्त का पक्ष आ जायगा, जो मिथ्यात्व है।

इसीप्रकार जीव स्वदेहप्रमाण भी है और स्वदेहप्रमाण नहीं भी, ज्ञान से जीव भिन्न भी और ज्ञान से जीव अभिन्न भी है। परस्परविरोधी दोधर्मों में से किसी एकधर्म को तो स्वीकार करे और उनके प्रतिपक्षी दूसरे धर्म को अस्वीकार करे तो एकान्तमिथ्यात्व का दोष आजायगा। अनेक विद्वान् अनेकान्त के इस यथार्थस्वरूप को न समझने से यह कह देते हैं कि 'ऐसे भी है ऐसे भी है' यह अनेकान्त धर्मरूप है। किंतु उनका ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्नदृष्टियों के द्वारा देखने से वह अनेकप्रकार दृष्टिगोचर होती है।

एक ही मनुष्य अपने पिता की दृष्टि से 'पुत्र' है, किंतु वही मनुष्य अपने पुत्र की अपेक्षा से 'पिता' है अर्थात् एक ही मनुष्य में 'पुत्र और पितारूप' दोनों धर्म हैं। ये दोनों धर्म भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से हैं, एक अपेक्षा से नहीं हैं।

बौद्धमत को और सांख्यमत को चलानेवाले साधारणव्यक्ति नहीं थे, क्योंकि साधारण व्यक्ति एक नवीन-मत नहीं चला सकता इन्होंने भी अनेकान्त (ऐसे भी है और ऐसे भी है) को भ्रम बतलाया क्योंकि वे यह समझ नहीं पाये कि यह भिन्न अपेक्षाओं से कथन किया गया है और वे दोनों अपेक्षाएँ सत्य हैं। जैसे संसारी जीव पर्यायार्थिकनय (व्यवहारनय) से रागी-द्वेषी है, किंतु स्वभावनय (निश्चयनय) से रागी-द्वेषी नहीं है। ये दोनों ही बातें अपनी-अपनी अपेक्षा से सत्य हैं। इनमें से किसी एक को सत्य मानना दूसरी को असत्य मानना एक भ्रम है। इसीप्रकार व्यवहारनय से द्रव्य अनित्य है और निश्चयनय से द्रव्य नित्य है। पर्यायों का उत्पाद तथा नाश प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है पर्यायों से भिन्न द्रव्य दृष्टिगोचर होता नहीं अतः बौद्धमतवालों ने द्रव्य को सर्वथा अनित्य मान लिया। पर्याय व्यवहारनय का विषय है, और द्रव्य निश्चयनय का विषय है। अतः बौद्धों ने व्यवहारनय को सत्यार्थ और निश्चयनय को असत्यार्थ मान लिया। सांख्य ने व्यवहारनय को असत्यार्थ मान और निश्चयनय को सत्यार्थ मान द्रव्य को सर्वथा नित्य मान लिया। यदि वे दोनों नयों के विषयों को अपनी-अपनी अपेक्षा से सत्यार्थ मानकर द्रव्य को नित्य भी है अनित्य भी है ऐसा स्वीकार कर लेते तो यथार्थ वस्तुस्वरूप समझ में आजाता।

वर्तमान में एक नवीनमत चला है जो एकान्तनियति का प्रचार कर रहा है। 'पर्यायों सर्वथा नियत हैं अनियत नहीं हैं' यह अनेकान्त है। इसप्रकार अनेकान्त का विपरीतस्वरूप बतलाकर दिग्गम्बर जैन समाज को कुमार्थ अर्थात् एकान्तमिथ्यात्व में ले जा रहा है। इस नवीनमत में "पर्यायों नियत भी हैं अनियत भी हैं।" इस यथार्थ अनेकान्त को भ्रम बतलाया जाता है। सर्वज्ञवाणी के अनुमार श्री गौतमगणधर ने द्वादशांग की रचना की

थी। उस द्वादशांग के दृष्टिवादनामक बारहवें अंग में इस 'नियति' को एकान्तमिथ्यात्व कहा है। जिनको सर्वज्ञ-वाणी पर श्रद्धा नहीं है अर्थात् सर्वज्ञ पर श्रद्धा नहीं है वे इस मत को मानने लगे हैं।

—जे. ग. 12-11-64/IX-X/ र. ला. जैन, मेरठ

कथंचित् कर्मों ने जीव को रोका है

शंका—क्या कर्मों ने जीव को नहीं रोका, किन्तु जीव अपने विपरीत पुरुषार्थ से रुका ?

समाधान—विपरीत पुरुषार्थ में कारण क्या केवल जीव ही है या जीव के अतिरिक्त अन्य कोई भी कारण है ? यदि केवल जीव ही कारण होता तो सिद्धों में भी विपरीतपुरुषार्थ होना चाहिये था, क्योंकि कारण के होनेपर कार्य की उत्पत्ति अवश्य होती है। यदि कारण के होने पर भी कार्य की उत्पत्ति न हो तो कार्य की सर्वथा अनुत्पत्ति का प्रसंग आ जायेगा, किन्तु सिद्धों में विपरीतपुरुषार्थ नहीं पाया जाता। अतः सिद्ध हुआ कि मात्र जीव ही विपरीतपुरुषार्थ का कारण नहीं है, किन्तु जीव के अतिरिक्त अन्य द्रव्य भी विपरीतपुरुषार्थ में कारण है, जिसका अभाव होने पर सिद्धों में विपरीतपुरुषार्थ नहीं होता। कहा भी है—'यदि एकान्त से ऐसा माना जाय कि जीव स्वयं क्रोधादिरूप परिणामन कर जाता है तो यह दोष होगा कि उदय में प्राप्त द्रव्य क्रोध के निमित्त के बिना भी यह जीव भावक्रोधादिरूप (विपरीत पुरुषार्थ रूप) परिणामन कर जावे, क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ दूसरे की अपेक्षा नहीं रखतीं। ऐसा होने पर मुक्तात्मा सिद्धजीव भी द्रव्यकर्म के उदय न होने पर भी क्रोधादिरूप (विकारीपरिणामरूप) प्राप्त हो जावेंगे। यह बात मानी नहीं जा सकती, आगम से विरुद्ध ही है।' (स. सा. ग. १२१-१२५ श्री जयसेनाचार्य की टीका)। यह कथन उपचार से नहीं है, किन्तु वास्तविक कथन है, क्योंकि वस्तुस्वरूप ही ऐसा है।

जीव में विपरीतपुरुषार्थ का कारण भी कर्मोदय है। कर्मोदय के (मोहनीयकर्मोदय) होने पर ही विपरीत पुरुषार्थ पाया जाता है और मोहनीयकर्मोदय के अभाव में विपरीतपुरुषार्थ नहीं पाया जाता। कहा भी है—जेणन्निजा जं नियमेण णोवल्लभधे सं तस्स कज्जनियरं 'च कारणमिदि।' अर्थात्—जिसके बिना जो नियम से नहीं पाया जाता है वह उसका कार्य व दूसरा कारण होता है, (स. ख. पु. १२ पृ. २८८) 'यद्यस्मिन् सत्येव-मवति नासति तत्तस्य कारणमिति न्यायात्।' अर्थात्—जो जिसके होने पर ही होता है और जिसके न होने पर नहीं होता वह उसका कारण होता है। ऐसा न्याय है। (स. ख. पु. १२ पृ. २८९)। अतः विपरीतपुरुषार्थ का कारण कर्मोदय है।

जिन जीवों के मोहनीयकर्म का अभाव हो जाने के कारण विपरीतपुरुषार्थ का भी अभाव हो ऐसे श्री अरहंत भगवान भी ८ वर्ष कम एककोटीपूर्व तक रुके रहते हैं इससे ज्ञात होता है कि रुकने में कारण केवल विपरीतपुरुषार्थ नहीं है, किन्तु कर्मोदय भी कारण है अन्यथा तेरहवेंगुणस्थान के प्रथमसमय में ही मोक्ष हो जानी चाहिये थी। न्यायशास्त्र द्वारा कार्यकारणभाव को भलीभाँति समझकर उपर्युक्त कथन ठीक-ठीक समझ में आ सकता है।

—जे. सं. 19-12-57/V/ रतनकुमार जैन

आत्मा और इन्द्रियों में कथंचित् एकत्व कथंचित् अनेकत्व

शंका—आत्मा और इन्द्रियों में एकत्व है या अन्यत्व ?

समाधान—इन्द्रियों दो प्रकार की हैं—(१) भावेन्द्रिय, (२) द्रव्येन्द्रिय । (स. सि. २/१७-१८) उनमें से लब्धि व उपयोगरूप भावेन्द्रिय तो आत्मा के ज्ञानगुण की पर्याय हैं, अतः आत्मा का शरीर भावेन्द्रिय का प्रदेश-भेद नहीं है, किन्तु संज्ञा, संख्या, आदि की अपेक्षा भेद भी है ।

निर्वृत्ति और उपकरणरूप द्रव्येन्द्रिय है । उनमें से अन्तरंगनिर्वृत्ति तो आत्मप्रदेशों की विशेष रचना है जो आत्मप्रदेशरूप होने से आत्मा से अभिन्न है, किन्तु पर्याय और पर्यायी सर्वथा अभिन्न नहीं हैं कथंचित् भिन्न भी हैं, क्योंकि पर्याय नाशवान है और पर्यायीरूप द्रव्य द्रव्याधिकतय से अविनाशी है ।

बहिरंगनिर्वृत्ति और उपकरणरूप द्रव्येन्द्रिय शरीररूप पुद्गलद्रव्य की पर्यायें हैं इस अपेक्षा से आत्मा से भिन्न है, किन्तु शरीर और आत्मा का परस्पर बंध न होकर एक असमानजाति द्रव्यपर्याय बनी है इस अपेक्षा से अभिन्न है ।

“बंध पडि एयत्तं लक्खणदो ह्वइ तस्स णाणत्तं ।”

अर्थ—शरीर और आत्मा बंध की अपेक्षा एक है, किन्तु लक्षण की अपेक्षा वे भिन्न हैं इसप्रकार आत्मा और इन्द्रियों में एकत्व या अन्यत्व के विषय में एकान्त नहीं है अनेकान्त है । कथंचित् भिन्न है, कथंचित् अभिन्न है ।

—जं. ग. 9-4-70/VI/ टो. ला. मित्तल

भावाऽभाव अभाव के कथंचित् भेद व अभेद

शंका—तत्त्वार्थ राजवातिक पृ० ११४४ पर लिखा है—‘जो पदार्थ नहीं है उसका अभाव है । वह अभाव एकस्वरूप है, क्योंकि अभावस्वरूप से अभाव का भेद नहीं, अभावस्वरूप से वह एक ही है । उस अभाव से भिन्न-भाव है और वह अनेकस्वरूप है ।’ यहाँ प्रश्न है कि वह अभावरूप पदार्थ क्या है तथा उसका क्या स्वरूप है ? यदि कहा जाय कि स्वमें परका अभाव है, किन्तु वह अभाव भी अनेकस्वरूप है, फिर एकस्वरूप क्यों कहा ?

समाधान—वस्तु भावाभावात्मक है । यदि अभाव न माना जाय तो वस्तु के वस्तुग्रन्तर अर्थात् अन्य-वस्तुरूप होने का प्रसंग आ जायगा, जिससे संकरादि दोषों की सम्भावना हो जायगी । अतः प्रत्येकवस्तु में उससे भिन्न सर्ववस्तुओं का अभाव है । वस्तु में वह अभाव एकरूप है । स्व की अपेक्षा से उस अभाव के भेद नहीं किये जा सकते हैं, अतः स्व की अपेक्षा से वह अभाव एकरूप कहा गया है । किन्तु पर की अपेक्षा से वह अभाव अनेकरूप है जैसे घट-पटाभाव, पुस्तकाभाव आदि अनेकरूप हैं । जैनधर्म में तुच्छाभाव स्वीकार नहीं किया गया है । जैसे जीव का अभाव अजीव नहीं है, किन्तु पुद्गलादि अजीवद्रव्य हैं जिनमें जीवत्वगुण का अभाव है । अतः पुद्गल भावात्मक द्रव्यों को अजीव कहा गया है ।

—जं. ग. 8-1-70/VII/ टो. ला. मित्तल

धर्मात्मा कथंचित् दुनिया में अधिक समय नहीं रहते हैं; कथंचित् रहते भी हैं

शंका—हमारा ख्याल तो यह था कि जो धर्मात्मा जीव हैं वे दुनिया में ज्यादा दिन नहीं रहते, न सुख भोगते हैं और न दुःख भोगते हैं । मगर ईसरी जाने पर यह मालूम हुआ कि धर्मात्मा आवसी ज्यादा दिन तक जिनदा रहता है । यह कहाँ तक ठीक है ?

समाधान—आपका ख्याल ठीक है कि धर्मात्माजीव दुनिया (संसार) में अधिककालतक भ्रमण नहीं करता उसकी संसारस्थिति अल्प रह जाती है । एकबार सम्यक्त्व हो जाने पर वह जीव अर्धपुद्गलपरावर्तन से अधिक संसार में भ्रमण नहीं करता । किसी अपेक्षा यह बात भी सत्य है कि धर्मात्मा (सम्यग्दृष्टि) जीव न (सांसारिक) सुख दुःख भोगता है । पं० दौलतरामजी ने कहा भी है—‘वाहिर नारक कृत बुख भोगे, अंतर सुखरस गटागटी । रमत अनेक सुरनिसंग पै तिस, परनतितै नित हटाहटी । चिन्मूरत दृग्धारी की मोहि, रीत लगत है अटापटी ॥’

किन्तु ईसरी में जो यह बात कही गई ‘धर्मात्मा (सम्यग्दृष्टि) मनुष्य ज्यादा दिन तक जिन्दा रहता है । अर्थात् अधिक आयुवाला होता है’ सो भी सत्य है । मनुष्य आयु शुभ आयु है अथवा पुण्यप्रकृति है । यह नियम है कि अतिसंक्लेशपरिणामों से शुभायु की कर्मस्थिति अल्प पड़ती है और विशुद्ध परिणामों से अधिक पड़ती है । सम्यग्दृष्टि के अतिसंक्लेशरूप परिणाम नहीं होते अतः सम्यग्दृष्टि के मनुष्य आयु की अल्पस्थिति नहीं बँधती है । श्री रत्नकरंड श्रावकाचार श्लोक ३५ में कहा भी है—‘जो जीव सम्यग्दर्शन करि शुद्ध हैं वे अंतरहित हूं नारकीपणा, तिर्यचपणा, नपुंसकपणा, स्त्रीपणा को नाहीं प्राप्त होय हैं । अर नीच कुल में जन्म, विकृतअंग तथा अल्प-आयु का धारक और दरिद्री नहीं होय है ।’ इस अपेक्षा से यह कहा गया है कि धर्मात्मा आदमी ज्यादा दिन तक जिन्दा रहता है ।

—जं. सं. 9-10-58/VI/इतरसेन जैन, मुशदाबाद

आत्मा में “नास्तित्व” धर्म स्व की अपेक्षा भी एवं पर की अपेक्षा भी

शंका—आत्मा में जो ‘नास्तित्व’ धर्म है वह स्व का अभाव सूचित करता है या पर का ?

समाधान—आत्मा में जो ‘नास्तित्व’ धर्म है वह पर की अपेक्षा से भी है और स्वकी अपेक्षा से भी है । ‘आत्मा’ स्वचतुष्टय (द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव) की अपेक्षा से अस्ति है और परचतुष्टय अर्थात् परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से नास्ति है । ‘आत्मा’ शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ इसप्रकार है—‘अत्’ धातु निरंतर गमन करनेरूप अर्थ में है । सब गमनार्थक धातुएँ ज्ञानार्थक होती हैं । अतः यहाँ पर ‘गमन’ शब्द से ज्ञान कहा जाता है । इस-कारण जो ज्ञानगुण में सर्वप्रकार वर्तता है वह आत्मा है । आत्मा में ज्ञान के अतिरिक्त अनन्तगुण हैं । अन्यगुणों की अपेक्षा ‘आत्मा’ संज्ञा संभव नहीं है । अतः ‘आत्मा’ ज्ञानगुण की अपेक्षा से है अन्यगुणों की अपेक्षा से आत्मा नहीं है । इसप्रकार आत्मा में स्वगुणों की अपेक्षा से ‘नास्तित्व’ है ।

—जं. सं. 22-1-59/V/ घासीलाल जैन; अलीगढ़ (टॉक)

संसारी जीव कथंचित् शुद्ध है तथा कथंचित् अशुद्ध

शंका—संसारीजीव को क्या किसी भी नय से शुद्ध कहा जा सकता है ?

समाधान—आलापपद्धति में द्रव्याधिकनय के दस भेद कहे गये हैं । उनमें से पहला भेद कर्मापाधिनिरपेक्ष-शुद्धद्रव्याधिकनय है । इस कर्मापाधिनिरपेक्षशुद्धद्रव्याधिकनय की अपेक्षा संसारीजीव को सिद्धसमान शुद्ध कहा जा सकता है । क्योंकि इसनय की दृष्टि में कर्मापाधि की विवक्षा न होने से गौण है । कहा भी है—

“द्रव्याधिकस्य दश भेदाः ॥ ४६ ॥ कर्मापाधिनिरपेक्षाः शुद्धद्रव्याधिकः यथा संसारीजीवः सिद्धसहस्र-शुद्धात्मा ॥ ४७ ॥”

कम्माणं मज्झगयं जीवं, जो गहइ सिद्धसंकासं ।

भण्णइ सो सुद्धणओ खलु, कम्मोवाहिणिरवेक्खो ॥१८॥ [नयचक्र]

कर्मोपाधिनिरपेक्षशुद्धद्रव्याधिकनय की अपेक्षा जीवद्रव्य शुद्ध है जैसे संसारीजीव सिद्धसमान शुद्धआत्मा है ।

कर्मों के बीच में पड़े हुए जीव को सिद्धसमान शुद्ध ग्रहण करने वाला कर्मोपाधिनिरपेक्षशुद्धनय है ।

बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा १३ में भी “सब्बे सुद्धा हू सुद्धणया” इन शब्दों द्वारा यह कहा गया है, शुद्धनय (शुद्धद्रव्याधिकनय) की अपेक्षा सब जीव शुद्ध हैं ।

यद्यपि शुद्धद्रव्याधिकनय की दृष्टि से कर्मोपाधि को गौण करके संसारीजीवों को भले ही सिद्धसमान शुद्ध कह दिया जावे तथापि जबतक संसारीजीव कर्मों से बँधा हुआ है तबतक तो कर्मोपाधिसापेक्षशुद्धद्रव्याधिकनय की अपेक्षा संसारीजीव अशुद्ध है, क्योंकि उसके अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तवीर्यरूप शुद्धस्वभाव का अभाव है तथा अचक्षु आदि तीन दर्शन, मति आदि चार ज्ञान, क्षायोपशमिक वीर्य, इन्द्रियसुख (सुखाभास) का सद्भाव है ।

यदि संसारीजीव को सिद्धसमान सर्वथा शुद्ध मान लिया जाय तो ‘संसारिणो मुक्ताश्च’ यह सूत्र तथा संसारिणश्च मुक्ताश्च जीवास्तु द्विविधाः स्मृताः’ श्री अमृतचन्द्राचार्य के ये वाक्य व्यर्थ हो जायेंगे ।

“संसारो विद्यते येषां ते संसारिणः । मुक्ताः संसारन्नियुक्ता इत्यर्थः ।” जिनके पंचप्रकार परिवर्तनरूप संसार विद्यमान है वे जीव संसारी हैं और जो संसार से निवृत्त हो गये हैं अर्थात् अष्टकर्मों का क्षयकरके सिद्ध हो गये हैं वे मुक्त जीव हैं । इसप्रकार संसारीजीव और मुक्तजीव में महान् अन्तर है ।

संसारीजीव भी पंचमहाव्रत, पंचसमिति और तीनगुप्ति इस तेरहप्रकार के चारित्र्य द्वारा कर्मों का क्षय करके सिद्धसमान शुद्ध हो सकता है । वर्तमान में तो संसारीजीव शुद्ध नहीं है । यदि संसारीजीव को वर्तमान में भी शुद्ध मान लिया जाय तो मोक्षमार्ग का उपदेश निरर्थक हो जायगा ।

द्रव्य जिससमय जिसपर्यायरूप परिणमन करता है उससमय वह द्रव्य उसपर्याय से तन्मय हो जाता है । श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा भी है —

परिणमदि जेण दब्बं, तक्कालं तम्मयं ति पण्णत्तां ।

तम्हा धम्मपरिणदो आदा, धम्मो मुण्णोयव्वो ॥ ८ ॥

जीवो परिणमदि जवा सुहेण, असुहेण वा सुहो असुहो ।

सुद्धेण तदा सुद्धो हव्वि, हि परिणामत्तम्भावो ॥ ९ ॥

द्रव्य जिसपर्यायरूप परिणमन करता है उसीसमय वह द्रव्य उसपर्याय के साथ तन्मय हो जाता है । इस-लिये धर्मपर्यायरूप परिणमन करता हुआ आत्मा धर्मरूप हो जाता है । परिणमन स्वभावधारी यह जीव जब शुभ-भाव से अथवा अशुभभाव से परिणमन करता है तब शुभ या अशुभ हो जाता है और जब शुद्धभाव से परिणमन करता है तब निश्चय से शुद्ध होता है ।

इसीप्रकार यह परिणमन स्वभावधारीजीव जब संसार पर्यायरूप परिणमन करता है तब यह जीव संसारी होता है, किन्तु जब यह जीव चारित्र के द्वारा अष्टकर्मों का भयकर शुद्ध सिद्धपर्यायरूप परिणमन करता है तब यह जीव शुद्ध हो जाता है। एक जीव की एक ही समय में संसारी और सिद्ध ऐसी दो पर्यायों नहीं हो सकती हैं। संसाररूप पूर्वपर्याय का व्यय (नाश) होने पर अपूर्व नवीन सिद्ध शुद्धपर्याय का उत्पाद होता है। जबतक संसार-रूप पर्याय विद्यमान है तबतक सिद्धपर्याय का उत्पाद नहीं हो सकता।

—जे. ग. 22-5-75/VIII/ भ्रान्तिलाल

प्रत्येक द्रव्य कथंचित् स्वतंत्र है, कथंचित् परतन्त्र

शंका—प्रत्येक द्रव्य कथंचित् परतंत्र व कथंचित् स्वतंत्र है। क्या यह कथन सत्य है ?

समाधान—प्रत्येक द्रव्य द्रव्यदृष्टि से स्वतंत्र है, पर्यायदृष्टि से परतंत्र है, यह बात सिद्धों में भी लाभ्य होती है।

—पत्र 28-6-80/ / ख. ला. जैन, भाण्डर

स्याद्वाद अधूरा सत्य नहीं है

शंका—श्री हेमचन्द्राचार्य ने स्याद्वाद को अधूरासत्य बतलाया है। अथवा यों कहा जाय कि स्याद्वाद अपूरेसत्य पर ले जाकर छोड़ देता है। सो यदि वास्तव में स्याद्वाद अधूरासत्य है तो पूर्णसत्य कौनसा है ? बताने की कृपा करें।

समाधान—किसी भी दि० जैनाचार्य ने स्याद्वाद को अधूरासत्य नहीं बतलाया है। सभी ने पूर्णसत्य बतलाया है।

वस्तुस्वरूप का अर्थात् उसके गुणों और पर्यायों का प्रमाण के द्वारा एकसाथ जान तो हो सकता है, किन्तु उसका एकसाथ विवेचन नहीं हो सकता है, क्योंकि वचनों की प्रवृत्ति क्रम से होती है।

'क्रमप्रवर्तिनी भारती' (स्वाभिकारतिकेय संस्कृत टीका पृ० २२२) इसीलिये केवली की दिव्यध्वनि में क्रम से ही आचारांग आदि का उपदेश होता है।

अक्रमज्ञानात्कथं क्रमवतावचनानामुत्पत्तिरिति चेन्न घटविषयाक्रमज्ञानसमवेतकुम्भकाराद्घटस्य क्रमेणोत्प-
त्युपलम्भात् ।" (ध. पु. १ पृ. ३६८)

केवली के अक्रमज्ञान से क्रमिकवचनों की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि घटविषयक अक्रमज्ञान से युक्त कुम्भकार द्वारा क्रम से घट की उत्पत्ति देखी जाती है। इसलिये अक्रमवर्ती ज्ञान से क्रमिकवचनों की उत्पत्ति मान लेने में कोई विरोध नहीं आता है।

यद्यपि वस्तु में अनेकधर्म हैं, किन्तु वचनों के द्वारा एकसमय में एक ही धर्म का कथन हो सकता है। जिसधर्म का कथन हो रहा है उसके अतिरिक्त अन्यधर्म भी वस्तु में हैं इस बात को बतलाने के लिये 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

‘स्यात्’ शब्द के प्रयोग के बिना विवक्षितधर्म को छोड़कर शेष धर्मों के अभाव का प्रसंग आजायगा। उनका अभाव मानने पर द्रव्यके लक्षण का अभाव ही जायगा और लक्षण का अभाव ही जाने पर द्रव्यके अभाव का प्रसंग आता है। इसलिये द्रव्य में अनुक्त समस्त धर्मों के घटित करने के लिये ‘स्यात्’ शब्द का प्रयोग करना चाहिये। (ज. ध. पु. १ पृ. ३०७)।

“स्याद्वाद सब वस्तुओं को साधनेवाला एक निर्बाध अर्हंतसर्वज्ञ का शासन है, वह स्याद्वाद सब वस्तुओं को अनेकांतात्मक कहता है, क्योंकि सभी पदार्थों का अनेकधर्मरूप स्वभाव है।” (समयसार)।

इसप्रकार स्याद्वाद अधूरा सत्य नहीं है, किन्तु सर्वांग सत्य है।

—जौ. ग. 29-8-68/VI/ रोमनताल

उपादान निमित्त

निमित्त का लक्षण; निमित्त उपादान की असमर्थता का नाशक होता है

शंका—निमित्त का क्या लक्षण है ?

समाधान—फलटन से प्रकाशित समयसार पृ. १२ पर निमित्त का लक्षण निम्नप्रकार दिया गया है—

“उपादानस्य परिणमनक्रियया सहैव तत्परिणमनानुकूलं परिणमनं यस्य भवति तस्यैव निमित्तत्वं, निमेदति सहकरोतीति निमित्तमिति निमित्तशब्दस्य व्युत्पत्तेः, भवितृभवनव्यापारानुकूलव्यापारवृत्तिमित्तमित्येवंविधलक्षणत्वा-
न्निमित्तस्य, एवंविधस्य निमित्तं लक्षणस्यापृचन्द्राचार्यैः स्वोपज्ञटीकायां समर्थितत्वाच्च ।”

उपादान के परिणमन की क्रिया के साथ उपादान के परिणमन के अनुकूल जिसका परिणमन होता है उसी को निमित्तपना प्राप्त है। निमेदति अर्थात् जो उपादान के साथ में साहाय्य करता है वह निमित्त है। इस प्रकार निमित्त शब्द की व्युत्पत्ति है। होने वाले का (उपादानका) होनेरूप (परिणमनरूप) व्यापार के अनुकूल जिसका व्यापार होता है वह निमित्त है। इसप्रकार के निमित्त का लक्षण श्री अमृतचन्द्राचार्य ने स्वोपज्ञ टीका में कहा है।

“तदसामर्थ्यमखण्डयदकिञ्चित्करं कि सहकारीकारणं स्यात् ।” अष्टसहस्री

जो उपादान की असमर्थता को खण्डित नहीं करता वह सहकारी कारण (साथमें करनेवाला निमित्त-कारण) कैसा ? अर्थात् सहकारी कारण (निमित्तकारण) उपादानकी असमर्थताको खण्डित करता है अथवा जो उपादान की असमर्थता को खण्डित करे वह सहकारीकारण अर्थात् निमित्तकारण है।

—जौ. ग. 1-4-71/VII/ ट. ला. जौन

निमित्त बिना उपादान में परिवर्तन सम्भव नहीं

शंका—क्या निमित्त के बिना उपादान में परिवर्तन ही सकता है ?

समाधान—कोई भी परिणमन निमित्त के बिना नहीं हो सकता है। सब ही परिणमनों में कालद्रव्य साधारणनिमित्त है। अणुद्रव्याणियों में कालद्रव्य के अतिरिक्त अन्य भी निमित्त कारण होते हैं। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने तत्त्वार्थसार द्वितीयाधिकार में कहा भी है—

आत्मना वर्तमानानां द्रव्याणां निजपर्ययः ।
वर्तनाकरणात्कालो भजते हेतुकर्तृताम् ॥ ४२ ॥
न चास्य हेतुकर्तृत्वं निःक्रियस्य विरुध्यते ।
यतो निमित्तमात्रेऽपि हेतुकर्तृत्वमिष्यते ॥ ४३ ॥

अपनी-अपनी पर्यायों के द्वारा परिणमन करनेवाले द्रव्यों के कालद्रव्य हेतुकर्तृता को प्राप्त होता है, क्योंकि वह कालद्रव्य वर्तना कराने वाला है। यद्यपि कालद्रव्य निष्क्रिय है, तथापि इस कालद्रव्य की हेतुकर्तृता विरुद्ध नहीं है, क्योंकि निमित्तमात्र में भी हेतुकर्तृता मानी जाती है।

प्रश्न यह होता है कि कालद्रव्य के परिणमन में कौन निमित्त है? ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि काल-द्रव्य स्वयं के परिणमन में और दूसरे द्रव्यों के परिणमन में निमित्त है।

न संवमनवस्था स्यात्कालस्यान्याव्यपेक्षणात् ।
स्ववृत्तौ तस्वभावस्वास्वयं वृत्तेः प्रसिद्धितः ॥५१२२११२॥ श्लोकवार्तिक

यदि कोई यों कहे कि धर्मादिक की वर्तना कराने में काल द्रव्य साधारणहेतु है तो कालद्रव्य की वर्तना में भी वर्तयिता किसी अन्यद्रव्य की आवश्यकता पड़ेगी और उस अन्यद्रव्य की वर्तना कराने में भी द्रव्यान्तरों की आकांक्षा बढ़ जाने से अनवस्थादोष होगा। श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं कि हमारे यहाँ इसप्रकार अनवस्थादोष नहीं आता है, क्योंकि कालद्रव्य को अन्यद्रव्य की व्यपेक्षा नहीं है। अपनी वर्तना करने में उस काल का वही स्वभाव है, क्योंकि दूसरों की वर्तना कराने के समान कालद्रव्य की स्वयं निज में वर्तना करने की प्रसिद्धि हो रही है, जैसे आकाश दूसरों को अवगाह देता हुआ स्वयं को भी अवगाह देता है, ज्ञान अन्य पदार्थों को जानता हुआ भी स्वयं को जान लेता है। (श्लोकवार्तिक पु. ६ पृ. १६०)

यदि यह कहा जाय कि जिसप्रकार कालद्रव्य निज परिणमन में स्वयं निमित्त है उसीप्रकार अन्य द्रव्य भी अपने परिणमन में अपने आप निमित्त क्यों न हो जावें? ऐसा कहना ठीक नहीं है। जिसप्रकार घट स्व-पर-प्रकाशक नहीं है, किन्तु ज्ञान स्व-परप्रकाशक है उसीप्रकार अन्यद्रव्य स्व-पर परिणमन में निमित्त नहीं है, किन्तु कालद्रव्य स्व-परपरिणमन में निमित्त है। कहा भी है—

तथैव सर्वभावानां स्वयं वृत्तिर्न युज्यते ।
दृष्टेष्टबाधनात्सर्वादीनामिति विचिन्तितम् ॥ ५१२२११३ ॥ (श्लोकवार्तिक)

यहाँ किसी का यह कटाक्ष करना युक्त नहीं है कि जिसप्रकार काल स्वयं अपनी वर्तना का प्रयोजकहेतु है, उसीप्रकार सम्पूर्ण पदार्थों की स्वयमेव वर्तना हो जायगी, कारण कि घट-पटादि सम्पूर्ण पदार्थों को स्वयं वर्तना का प्रयोजकहेतुपना मानने पर प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाणाँ करके बाधा आती है। प्रदीप का स्वपरोक्षोत्पन्न स्वभाव है, घट का नहीं।

विभावपरिणमन में कालद्रव्य के अतिरिक्त अन्यद्रव्य भी कारण पड़ते हैं। कार्य की उत्पत्ति एक कारण से नहीं होती है, किन्तु अनेककारणों से होती है।

'कार्यस्यानेकोपकरणसाध्यत्वात् तत्सिद्धेः ॥३१॥ इह लोके कार्यमनेकोपकरणसाध्यं दृष्टम्, यथा मृत्पिण्डो घटकार्यपरिणामप्राप्तिप्रतिगृहीताभ्यन्तरसामर्थ्यः बाह्यकुलालदण्डचक्रसूत्रीदककालाकाशाद्यनेकोपकरणापेक्षःघट पर्या-

येणाऽऽविर्भवति, नैक एव मृत्पिण्डः कुलालादि बाह्यसाधन सन्निधानेन विना घटात्मनाविर्भवितुं समर्थः ।

रा. वा. ५।१७।३१

इस लोक में कार्य अनेककारणों से सिद्ध होता हुआ देखा जाता है। जैसे मृत्पिण्ड में घटरूप परिणमन करने की अंतरंग शक्ति है तथापि घटोत्पत्ति के लिये बाह्य कुलाल, ढण्ड, चक्र, चीवर, जल, आकाश, काल आदि अनेक कारणों की अपेक्षा रखता है। कुलालादि बाह्यसाधनों के बिना अकेला मृत्पिण्ड घटोत्पत्ति करने में समर्थ नहीं है।

इसप्रकार कोई भी परिणमन वयों न हो, उसको बाह्यनिमित्त की अपेक्षा रहती है।

—जं. ग. 14-12-72/VII/ कमलादेवी

निमित्त एवं उसके भेद तथा उदाहरण

शंका—‘इष्टोपदेश’ में निमित्त को धर्मास्तिकायवत् कहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि जैसे जीवद्रव्य चले तो धर्मद्रव्य निमित्त है, नहीं चले तो नहीं। तब इसप्रकार की स्थिति अन्य निमित्तों की है या नहीं ?

समाधान—‘इष्टोपदेश’ में सब निमित्तों को धर्मास्तिकायवत् नहीं कहा है। निमित्त दो प्रकार के हैं—(१) प्रेरक (२) अप्रेरक (जैनसिद्धांतदर्पण) जो अप्रेरकनिमित्त हैं, उनको ही इष्टोपदेश में धर्मास्तिकायवत् कहा है, क्योंकि, धर्मास्तिकाय अप्रेरकनिमित्त है (सर्वार्थसिद्धि अध्याय ५ सूत्र १)। प्रेरकनिमित्त को अप्रेरकनिमित्त धर्मास्तिकायवत् कैसे कहा जा सकता है ? धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकायादि अप्रेरकनिमित्त हैं। अप्रेरकनिमित्त की सहकारिता बिना भी कार्य नहीं होता। प्रेरकनिमित्त के कुछ उदाहरण इसप्रकार हैं—‘भाववचन की सामर्थ्य से युक्त आत्मा के द्वारा प्रेरित होकर पुद्गल वचनरूप से परिणमन करते हैं’ (सर्वार्थसिद्धि अ. ५ सू. १९, राज-वातिक अ. ५ सू. १९)। अचेतन जड़शरीर का विषय चेष्टा है, तिस चेष्टा का प्रेरक कोई निमित्त आत्मा है (गोम्मटसार बड़ी टीका पृ. १०६२, १०६४)। चाक के एक दंड की प्रेरणा से कुम्हार का सारा चक्र घूमने लगता है (वृहद्ब्रह्मसंग्रह गाथा २२ टीका) ‘पवन ध्वजा को प्रेरक कारण है’ (पञ्चास्तिकाय गाथा ८८ टीका) ‘अयस्कान्त पत्थर (मकनातीस) लोहे की सूई को प्रेरित करता है’ (समयसार गाथा १६७ तात्पर्यवृत्ति) ‘कर्मों के द्वारा प्रेरित होकर’ (समयसार पृ. ३२२ क. शीतलप्रसावजी कृत अनुवाद)।

प्रेरकनिमित्त की स्थिति अप्रेरकनिमित्त समान नहीं है। जिससमय जिसप्रकार के कर्म का उदय होगा उससमय उस उदय के अनुसार जीव के परिणाम अवश्य होंगे। जिससमय मिथ्यात्वप्रकृति का उदय होगा उससमय जीव के मिथ्यात्वभाव अवश्य होंगे, जीव की इच्छा पर निर्भर नहीं है कि वह मिथ्यात्वभाव करे या न करे। कहा भी है ‘जो जीव को परतंत्र करते हैं अथवा जीव जिनके द्वारा परतंत्र किया जाता है उन्हें कर्म कहते हैं’ (आप्त-परीक्षा कारिका ११४-११५ टीका)। धर्मास्तिकाय आदि अप्रेरकनिमित्त जीव को परतंत्र नहीं करते। इससे सिद्ध हुआ कि द्रव्यकर्मादय आदि प्रेरकनिमित्त धर्मास्तिकायवत् नहीं हैं।

—जं. सं. 18-9-58/V/ बंशीधर

निमित्त व नैमित्तिक का स्वरूप, दोनों पर्याय हैं

शंका—निमित्त शब्द का क्या तात्पर्य है ? किसी विवक्षितकार्य में जो द्रव्य कार्यरूप परिणमन करता है, वह द्रव्य नैमित्तिक कहा जाता है या कार्य को ही नैमित्तिक कहा जाता है ? जैसे मिट्टी घटरूप परिणमन करती

है। तो मिट्टी नैमित्तिक है या घटपर्याय नैमित्तिक है ?

समाधान—फलटन से प्रकाशित समयसार पृ० १२ पर निमित्त का व्युत्पत्ति अर्थ इसप्रकार दिया है—

“उपादानस्य परिणमनक्रियया सहैव तत्परिणमनानुकूलं परिणमनं कस्य भवति तस्यैव निमित्तात्वं, निभेदति सह करोतीति निमित्तमिति निमित्ताशब्दस्य व्युत्पत्तोः, भवितृभवनव्यापारानुकूलं व्यापारवन्निमित्तमिति ।”

निमित्त शब्द की निरुक्ति ‘निभेदति सह करोतीति निमित्त’ ऐसी है। इस निरुक्ति में ‘करोति’ इस मिडन्त या तिडन्तपद से परिणमनक्रिया का बोध होता है, क्योंकि परिणमन के बिना ‘करोति’ इस पद की वाच्य-भूत क्रिया नहीं हो सकती। इस परिणमनक्रिया का आश्रय निमित्तसंज्ञक पदार्थ होता है। इस क्रिया का आश्रय होने से वह निमित्तसंज्ञक पदार्थ कर्तृसंज्ञा को प्राप्त होता है। यह उसकी संज्ञा अनुपचरित अर्थात् यथार्थ है। उपादान की परिणतिक्रिया के निमित्तकी परिणति अनुकूल होने से निमित्त को दी जानेवाली कर्तृसंज्ञा उपचरित अर्थात् व्यवहारनय को दृष्टि से दी गई है, क्योंकि निमित्त की परिणतिक्रियाकी उत्पत्ति की दृष्टि से आश्रय निमित्तभूत पदार्थ से भिन्न जो उपादानभूत पदार्थ होता है वह नहीं होता। निरुक्ति में प्रयुक्त किया गया ‘सह’ यह शब्द ‘यौगपद्य’ इस अर्थ का द्योतक अथवा वाचक है। इस शब्द से दो पदार्थों का या उनकी परिणतियों का अस्तित्व ध्वनित होता है, क्योंकि दो पदार्थों के या परिणतियों के बिना यौगपद्य इस शब्द का या साहचर्य इस शब्द का भाव व्यक्त नहीं होता। इससे जब दो पदार्थों की परिणतियाँ समकालभाविनी होनेपर जिसकी परिणति उपादानभूत अन्यपदार्थों की परिणतिक्रिया में सहायक होती है तब उस पदार्थ को निमित्त यह संज्ञा प्राप्त होती है, यह बात स्पष्ट हो जाती है। उपादान की कार्यरूप परिणति में सहायक होनेवाली अन्यद्रव्य की परिणति को सहायकपरिणति कहने का कारण यह है कि वह उपादान की विशिष्ट कार्यरूपसे परिणति होने की शक्ति को अपनी शक्ति के द्वारा उत्तेजित प्रबोधित करता है। समयसार फलटन पृ. २६।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि उत्पन्न होनेवाली पर्याय तो नैमित्तिक है। उस पर्याय की उत्पत्ति में अन्य द्रव्य की जो पर्याय सहकारीकारण होती है वह पर्याय निमित्त होती है। मिट्टीद्रव्य की घटरूप पर्याय तो नैमित्तिकपर्याय है तथा कुम्भकार जीवद्रव्य की घटोत्पत्ति के अनुकूल योग-उपयोगरूप पर्याय निमित्त है। मिट्टीरूप पुद्गलद्रव्य नैमित्तिक नहीं है और कुम्भकार जीवद्रव्य निमित्त नहीं है, क्योंकि द्रव्य तो द्रव्यदृष्टि से अनादि-अनिधन होने के कारण अकार्य-अकारण होता है, क्योंकि द्रव्याधिकनय की अपेक्षा द्रव्य का न उत्पाद है और न व्यय है। पर्यायदृष्टि से उत्पाद व व्यय होता है अतः उपादान की पर्याय नैमित्तिक है और अन्यद्रव्य की सहकारीपर्याय निमित्त है। यदि द्रव्य को ही नैमित्तिक और निमित्त मान लिया जाय तो निमित्त-नैमित्तिकभाव का कभी विनाश नहीं होने का प्रसंग आ जायगा। श्री कुन्वफुन्दाचार्य ने कहा भी है—

जीवो ण करेदि घडं रोव पडं रोव सेसगे वव्वे ।

जोगुवओगा उप्पादगा य तेसि हवदि कत्ता ॥ १०० ॥ समयसार

टीका—आत्मनो विकल्पव्यापाररूपी विनश्वरौ योगोपयोगावेव तत्रोत्पादकी भवतः ।

ण कुवोचि वि उप्पणो जहा कज्जं ण तेण सो आवा ।

उप्पादेदि ण किंचिदि, कारणमवि तेण ण सो होइ ॥ ३१० ॥ स. सा.

उप्पत्ती व विणासो वव्वस्स य णत्थि अत्थि सवभावो ।

विगनुप्पादधुवदां करेति तस्सेव पज्जाया ॥ ११ ॥ पं० काय०

जीवद्रव्य, (जो अनादि-अनन्त है) घट को नहीं करता और न पट को करता है तथा अन्य द्रव्यों को भी नहीं करता है । जीवद्रव्य की जो उपयोग-योगरूप विनाशीकपर्याय है, वह घटादि (पुद्गलद्रव्य की पर्यायों) की उत्पादक अर्थात् उत्पन्न करने में निमित्त है ।

आत्मद्रव्य किसी से भी उत्पन्न नहीं हुआ है (अनादि है) इसलिये किसी का किया हुआ कार्य नहीं है । वह आत्मद्रव्य किसी अन्यद्रव्य को उत्पन्न नहीं करता (अविनाशी है), इसलिये वह आत्मद्रव्य किसी अन्य-द्रव्य का कारण भी नहीं है ।

द्रव्य का उत्पाद व विनाश नहीं है सद्भाव (नित्य) है । उसद्रव्य की पर्यायें विनाश-उत्पाद करती हैं ।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध दो द्रव्यों की पर्यायों में है ।

—जै. ग. 24-8-72/VII/ ट. ला. जैन; मेरठ

निमित्त के हट जाने पर नैमित्तिक क्रिया का अनियमन: होना

शंका—क्या निमित्त के हट जाने पर भी नैमित्तिकवस्तु में क्रिया होती रहती है ?

समाधान—निमित्त के हट जाने पर नैमित्तिकक्रिया रहती भी है और नहीं भी रहती, एकान्त नियम नहीं है । डंडे के हट जाने पर भी चाक में क्रिया होती रहती है अर्थात् वह घूमता रहता है । घोड़े के हट जाने पर गाड़ी का चलना रुक जाता है ।

—जै. ग. 23-9-71/VII/ टो. ला. मित्तल

मुमुक्षु जीव को दृष्टि निमित्त व उपादान दोनों को सुधारने की होती है

शंका—मुमुक्षुजीव को उपादान को सुधारने की ओर दृष्टि रखनी चाहिये या निमित्त को सुधारने की ओर ? अपने को न सुधारकर निमित्त ही सुधारने से काम चल जायगा ? क्योंकि निमित्त ही के आधीन है ।

समाधान—मुमुक्षुजीव को उपादान और निमित्त दोनों को सुधारने की ओर दृष्टि रखनी चाहिये । उत्तम उपज के लिये बीज व पृथ्वी आदि दोनों ही उत्तम होने चाहिये अन्यथा पैदावार उत्तम नहीं हो सकती । एक ही बीज होने पर भूमि की विपरीतता से निष्पत्ति की विपरीतता होती है । कारण के भेद से कार्य में भेद अवश्यभावी है (प्र. सा. गा. २५५) जबतक जीव निमित्तभूतद्रव्य का (परद्रव्य का) प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता तबतक नैमित्तिक भूतभावों का (रागादिभावों का) प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता (समयसार गाथा २८३-२८५ टीका) । ज. ध. पुस्तक १ पृष्ठ १०४ पर भी कहा है—‘साधुजन, जो त्याग करने के लिये शक्य होता है, उसके त्याग करने का प्रयत्न करते हैं और जो त्याग करने के लिये अशक्य होता है उसमें निर्मम होकर रहते हैं, इसलिये त्याग करने के लिये शक्य भी हिंसायत्न के परिहार करने पर अहिंसा कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती है ।’ यदि निमित्त को सुधारने की आवश्यकता न होती तो सुसंगति व अभक्ष्य आदि के त्याग का उपदेश क्यों दिया जाता ? उपादान को न सुधारकर केवल निमित्त को सुधारने से काम नहीं चलेगा । उपादान को सुधारने के लिये ही तो निमित्त को सुधारा जाता है । यदि उपादान के सुधारने की ओर लक्ष्य नहीं तो केवलनिमित्त को सुधारने से क्या लाभ ? अर्थात् कुछ लाभ नहीं ।

—जै. सं. 25-9-58/V/ बंशीधर

उपादानकारण एवं कार्य (पूर्वोत्तरपर्यायें)

शंका—क्या उपादानकारण एवं कार्य में समयभेद होना आवश्यक नहीं ?

समाधान—पूर्वपरिणामसहित द्रव्य कार्ग्यरूप है और उत्तर परिणामसहित द्रव्य कार्यरूप है ।

‘पुंख परिणामजुक्तं कारणभावेण वट्टे दब्बं ।

उत्तर परिणामजुक्तं तं चिय कज्जं ह्वेणियमा ॥ २२२ ॥ (स्वा. का.)

टीका—“द्रव्यं जीवादि वस्तु पूर्वपरिणामयुक्तं पूर्व पर्यायाविष्टं कारणभावेन उपादानकारणत्वेन वर्तते । तदेव द्रव्यं जीवादिवस्तु उत्तरपरिणामयुक्तम् उत्तरपर्यायाविष्टं । तदेव द्रव्यं पूर्वपर्यायाविष्टं कारणभूतं मणिमंत्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं कारणान्तरावैकल्येन उत्तरक्षेत्रे कार्यं निष्पादयत्येव ।”

टीकार्थ—पूर्वपरिणामसहित जीवादिवस्तु उपादानकारण है और वही जीवादि वस्तु उत्तरपर्यायसहित कार्यरूप होता है । कारणभूत पूर्वपर्यायसहित वही द्रव्य, जिसकी सामर्थ्य मणि-मंत्रादि के द्वारा रोकी नहीं गई है, अन्य कारणों की सहकारिता से उत्तरक्षण में कार्य को उत्पन्न करता है ।

पूर्वपरिणाम और उत्तरपरिणाम की दृष्टि से उपादानकारण और कार्य में समय भेद है ।

—जं. ग. 4-7-66/IX/ प्रो. मनोहरलाल

शंका—उपादान कमजोर होता है उसमें कर्म का निमित्त है या नहीं ? अथवा यह आत्मा के पुरुषार्थ की नबलाई है । आत्मा में नबलाई या सबलाई क्यों होती है, कुछ आभ्यन्तर निमित्त है या नहीं ?

समाधान—‘उपादान का कमजोर होना’ उपादान की स्वाभाविक अवस्था है या वैभाविक अवस्था है । ‘कमजोरी’ अर्थात् ‘वीर्यगुण की अपूर्णता’ स्वाभाविक अवस्था तो हो नहीं सकती, क्योंकि स्वाभाविक अवस्था में गुण अपूर्ण नहीं होता, पूर्ण होता है । दो भिन्न द्रव्यों के बन्ध होने पर विभाव (अशुद्धदशा) होता है । केवल एक द्रव्य में विभाव नहीं होता जैसे—धर्म, अधर्म, आकाश, कालाणु, सिद्धजीव, पुद्गलपरमाणु में विभाव नहीं है । पुद्गल परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ बन्ध हो जाने पर विभाव हो जाता है । संसारीजीवमें भी अनादिकाल से कर्मबन्ध होने के कारण विभाव है । (पं० का. गाथा ५ व १६ पर श्री जयसेनाचार्य कृत टीका)

आत्मा की कमजोरी में द्रव्यकर्मोदय अवश्य निमित्त है । यदि द्रव्य कर्मोदय को निमित्त न माना जावे तो ‘कमजोरी’ जीव का स्वभाव हो जायगी और सिद्धों में भी कमजोरी माननी पड़ेगी । कमजोरी कार्य है और कोई भी कार्य अन्तरंग व बाह्यकारणों के बिना नहीं होता, ऐसा जैनागम का कथन है । जो इस आगम के विरुद्ध बाह्यकारण को कार्य की उत्पत्ति में अक्रियत्कर (Good for Nothing) कहते हैं, वे जैनमत से बाह्य हैं ।

—जं. ग. 28-12-61

शंका—पेड़ से टूटा हुआ आम पड़ा-पड़ा बड़ा क्यों नहीं होता ?

समाधान—उम आम में यद्यपि बढ़ने की अन्तरंग शक्ति विद्यमान है तथापि वृक्ष से पृथक् हो जाने के बाद उन बाह्य कारणों का अभाव हो गया जो उस आम के बढ़ने में निमित्त थे । अतः टूटा आम बड़ा नहीं होता । कार्य की सिद्धि बाह्यसहकारीकारण और अन्तरंगउपादानकारण से होती है । (अष्टसहस्री पृ. १४९ कारिका २१) जो कार्य दो कारणों से उत्पन्न होता है वह एक कारण से कभी उत्पन्न नहीं हो सकता । कहा भी है—

कारणद्वयं साध्यं न, कार्यमेकेन जायते ।

द्वन्द्वोत्पाद्यमपत्यं किमेकेनोत्पद्यते ॥ आराधनासार गाथा १३ ।

स्त्री और पुरुष दोनों से उत्पन्न होनेवाली सन्तान केवल स्त्री व केवल पुरुष से उत्पन्न नहीं होती । अन्तरंग और बहिरंग निमित्तों से उत्पन्न होनेवाला कार्य केवल अन्तरंगनिमित्त से या केवल बहिरंगनिमित्त से उत्पन्न नहीं हो सकता । बहिरंगनिमित्त के अभाव में वृक्ष से टूटा हुआ आम वृद्धि को प्राप्त नहीं होता ।

— डॉ. ग. 28-12-61

(१) निमित्त के अर्थ, प्रकार एवं परिभाषा

(२) प्रेरक निमित्त कार्य का कर्ता होता है । अप्रेरक निमित्त कार्य में सहायक होता है

शंका—अंग्रेजी में निमित्त कारण के लिये क्या NOMINATIVE—CAUSE शब्द का प्रयोग हो सकता है ? उपादानकारण को अन्तरंगहेतु या अंतरंगकारण और निमित्तकारण को बहिरंगहेतु या बहिरंगकारण कहना क्या ठीक है ?

समाधान—प्रत्येक कार्य अर्थात् पर्याय की उत्पत्ति मात्र एक कारण से नहीं होती है, किन्तु समस्त अनुकूलसामग्री से और बाधककारणों के अभावसे होती है । कहा भी है—

“सामग्री जनिका कार्यस्य नैकं कारणम् ।” आप्त-परीक्षा

अर्थात्—सामग्री कार्य की उत्पादक है, एक कारण नहीं । (एक कारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु समस्त कारणों से कार्य की उत्पत्ति होती है) ।

“कारणसामग्रीदो उपज्जमाणस्स कज्जस्स विथलकारणादो समुत्पत्तिविरोहा ।” ध. पु. ६ पृ. १४१ ।

अर्थात्—कार्य कारणसामग्री से उत्पन्न होता है, उसकी विकलकारण से उत्पत्ति का विरोध है ।

“कार्यस्य अनेककारणत्वसिद्धिः ।” राजवातिक

अर्थात्—अनेककारणों से कार्योत्पत्ति होती है, यह बात सिद्ध है ।

इन आर्षग्रन्थों से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि मात्र उपादानकारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती । उस उपादानकारण के साथ अन्यसहकारीकारण भी कार्योत्पत्ति में कारण होते हैं । उन सहकारी कारणों को ही 'निमित्तकारण' यह संज्ञा है ।

यह सहकारीकारण (निमित्तकारण) उपादान कारण के साथ कार्य को करता है । श्री विद्यानन्द आचार्य ने श्लोकवातिक में कहा भी है—

“न चंकारणनिष्पाद्ये कार्यकस्वरूपे कारणान्तरे प्रथर्तमानं सफलम् । सहकारित्वात्सफलमिति चेत्, किं पुनरिवं सहकारिकारणमनुपकारकमपेक्षणीयम् ? तदुपादानस्थोपकारकं तदिति चेन्न, तत्कारणत्वानुषंगत्, साक्षात्कार्यं व्याप्रियमानुपादानेन सह तत्कारणशीलं हि सहकारि न पुनः कारणमुपकुर्वाणम् ।”

इसका अभिप्राय यह है कि “कार्य एक कारण से निष्पन्न नहीं होता, क्योंकि प्रवर्तमान अन्य कारणों को सफलपना है। जब सहकारीकारण हैं तो क्या वे कार्य के प्रति उपकार न करते हुए ही कार्य को अपेक्षित हो रहे हैं। यदि यह कहा जाये कि वे उपादानकारण के सहायक हैं, यह ठीक नहीं है, क्योंकि वह उपादानकारण बन जायगा, कार्य का सहकारी न बन सकेगा। जो उपादानकारण की परम्परा न लेकर सीधा ही कार्य में उपादानकारण के साथ व्यापार करता है, अतः उपादान के साथ उस कार्य को करने का स्वभाव होने से वह सहकारी कारण है।

कार्य करने में अकेला उपादान असमर्थ है। निमित्तकारण अर्थात् सहकारीकारण के साथ ही उपादान कार्य करने में समर्थ होता है। इसप्रकार सहकारीकारण की कार्य में सहायता होने से उपादान की समर्थता खण्डित हो जाती है। इसी बात को श्री विद्यानन्दस्वामी अष्टसहस्री में निम्नप्रकार करते हैं—

“तदसामर्थ्यं मखण्डदकिञ्चित्करं कि सहकारिकारणं स्यात् ?”

अर्थात्—जो उपादान की असमर्थता को खण्डित करने में अकिञ्चित्कर है, क्या वह सहकारी कारण हो सकता है? ‘अपितु न स्यादेव’ वह सहकारी कारण नहीं हो सकता।

इससे सिद्ध है कि निमित्तकारण कार्योत्पत्ति में सहायक होता है। कोष में भी निमित्त कारण का अर्थ—‘वह कारण जिसकी सहायता या कर्तृत्व से कोई वस्तु बने’ इसप्रकार किया है। अतः निमित्त कारण को HELPER, APPARENT CAUSE, DEPENDENCE ON A SPECIAL CAUSE, INSTRUMENTAL OR EFFICIENT CAUSE कह सकते हैं।

निमित्तकारण दो प्रकार का है, एक प्रेरक दूसरा अप्रेरक अर्थात् उदासीन।

जैसे आत्मा के लिये द्रव्यकर्म प्रेरकनिमित्तकारण है और पवन ध्वजा के लिए प्रेरकनिमित्तकारण है।

अप्पा पंगुह् अणुहरइ अप्पु ण जाइ ण एइ ।

भुवणत्तयहं वि मच्चिज्ज जिय विहि आणइ विहि रोइ ॥१।६६॥ (परमात्मप्रकाश)

अर्थात्—आत्मा पंगुके समान है, आप न कहीं जाता है न आता है। तीनों लोक में इस जीव को कर्म ही ले जाता है कर्म ही ले आता है।

“प्रभञ्जनो वैजयंतीनां गतिपरिणामस्य हेतुकर्ताऽवलोक्यते ।” पं. का.

अर्थात्—पवन अपने चंचल स्वभाव से ध्वजाओं की हलन चलनरूप क्रिया का कर्ता देखने में आता है।

इन आर्वादाक्यों से सिद्ध होता है कि प्रेरकनिमित्तकारण कार्य का कर्ता होता है अतः प्रेरकनिमित्तकारण Nominative-Cause है, किन्तु अप्रेरकनिमित्तकारण उपादान के साथ कार्योत्पत्ति में सहायक होता है। जैसे मछलियोंको जल तथा पक्षियों को पवन आदि चलने में सहकारी होते हैं, किन्तु जल मछलियों और पवन पक्षियों को चलाता नहीं है। जल के बिना मछलियाँ और पवन के बिना पक्षी गमन नहीं कर सकते, अतः गमनरूप कार्य में इनकी सहायता की आवश्यकता होती है। कहा भी है—

“उदयं जह मच्छाणं गमणाणुगहयरं हवदि सोए ।” पं. का.

अर्थात्—जैसे इस लोकमें जल मछलियों के गमन के उपकार को सहाय होता है।

टीका—“यथा हि जलं स्वयमगच्छन्मत्स्थानप्रैरयत्ततोषां स्वयं गच्छतां गतेः सहकारिकारणं भवति ।”

अर्थात्—जैसे जल न तो स्वयं चलता है और न मछलियों को चलने की प्रेरणा करता है (चलाता है), किन्तु जब स्वयं मछलियाँ चलती हैं तो जल सहकारीकारण होता है ।

“पतत्रिप्रभृतिद्रव्यं गतिस्थितिपरिणामप्राप्तं प्रत्यभिमुखं नान्तरेण बाह्यानेककारणसन्निधिं गतिं स्थितिं चावाप्नुम्.....।” (राजवार्तिक)

अर्थात्—पक्षी आदि गति या स्थिति के सम्मुख होते हुए भी बाह्य अनेककारणों (निमित्त कारणों) के बिना चल और ठहर नहीं सकते ।

इसप्रकार जो अप्रैरकनिमित्तकारण है वह Nominative Cause नहीं हो सकता । वह तो Dependence on a Special cause या Helper cause होता है ।

निमित्तकारण को प्रायः बाह्यकारण कहा जाता है जैसा कि उपर्युक्त राजवार्तिक की पंक्ति से स्पष्ट है । श्लोकवार्तिक में भी निमित्तकारण को बाह्यकारण और उपादान को अन्तरंगकारण कहा है जैसे—

“बहिरन्तरुपाधिः यथासंख्यं सहकार्युपादानकारणैरनवस्थितं रहितं कार्यं यथार्थकृत् ।”

अर्थात्—बाह्यउपाधि सहकारीकारण और अंतरंगउपाधि उपादानकारण के बिना कार्य नहीं किया जा सकता ।

सम्यक्त्वोत्पत्ति में दर्शनमोहनीयकर्म के उपशम आदि निमित्तकारण को अंतरंगकारण और जिनसूत्र तथा उनके ज्ञातापुरुष आदि निमित्तकारणों को बहिरंगकारण कहा है—

सम्मत्तस्स णिमिसं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा ।

अंतरहेऊ भणिया वंसणमोहस्स खयपहुदी ॥५३॥ [नियमसार]

अर्थात्—जिनसूत्र और उनके ज्ञातापुरुष सम्यग्दर्शन के बाह्यनिमित्त कारण हैं । दर्शनमोहनीय द्रव्यकर्म के क्षय आदि अंतरंगनिमित्त कारण हैं ।

“साधनं द्विविधं अभ्यन्तरं बाह्यं च । अभ्यन्तरं दर्शनमोहस्योपशमः क्षयः क्षयोपशमोवा बाह्यं नारकाणां प्राक्चतुर्थ्याः सम्यग्दर्शनस्य साधनं केषाञ्चिज्जातिस्मरणं केषाञ्चिद्धर्म श्रवणं केषाञ्चिद्धेदनाभिभवः ।” (स० सि०)

अर्थ—सम्यग्दर्शन के साधन दो प्रकार हैं । १. अभ्यन्तर २. बाह्य । दर्शन मोहनीय का उपशम, क्षय या क्षयोपशम अभ्यन्तरसाधन है । नारकियों में चौथे नरक से पहले किन्हीं के जातिस्मरण, किन्हीं के धर्मश्रवण और किन्हीं के वेदनाभिभव बाह्यसाधन हैं । (यहाँ पर अंतरंग और बहिरंग दो प्रकार का निमित्तकारण का कथन है उपादानकारण आत्मपरिणाम इनसे अतिरिक्त है ।)

कारण-कार्य व्यवस्था

(१) कथंचित् कुम्भकार घट का कारण है

(२) 'कारण' की परिभाषा

शंका — 'कुम्भकार घट का कारण है' क्या ऐसा मानना कारणविपर्यास है ?

समाधान—सर्वप्रथम यह जानना जरूरी है कि 'कारण' किसे कहते हैं ? प्रमेय रत्नमाला में लिखा है 'जिसके सद्भाव में जिसकार्य की उत्पत्ति हो और जिसके अभाव में कार्य की उत्पत्ति न हो वह पदार्थ उस कार्य का कारण होता है ।'

"यद्भावाभावाम्भां यस्योत्पत्त्यनुत्पत्ती तत् तत्कारणमिति ।" [१।१३]

श्री वीरसेनस्वामी ने जो घ. पु. १२ में कहा है—

"यद्यस्मिन् सत्येव भवति तस्यैव कारणमिति न्यायात् ।" घ. १२ पृ. २८९ ।

अर्थ—जो जिसके होने पर ही होता है और जिसके होने पर नहीं होता है वह उसका कारण होता है, ऐसा न्याय है ।

आप्त-परीक्षा में भी कहा है—

"यत् यदन्वयव्यतिरेकानुपलम्भस्तत्र न तन्निमित्तकारणं दृष्टम् ।"

"तत्कारणकत्वद्वयतदन्वयव्यतिरेकोपलम्भेन व्याप्तत्वात् कुलालकारणकस्य घटादेः कुलालान्वयव्यतिरेकोपलम्भप्रसिद्धेः । पृ. ४०-४१ ।

अर्थात्—जिसका जिसके साथ अन्वय-व्यतिरेक का अभाव है वह उसजन्य नहीं होता ऐसा देखा जाता है । जैसे जुलाहादि का घटआदि के साथ अन्वय-व्यतिरेक नहीं है । इसलिये घटआदि जुलाहादि-निमित्तकारणजन्य नहीं है अर्थात् जुलाहादि घटादि के निमित्तकारण नहीं है और यह निश्चित है कि जो जिसका कारण होता है उसका उसके साथ अन्वय-व्यतिरेक अवश्य पाया जाता है । जैसे कुम्हार से उत्पन्न होने वाले घटादि में कुम्हार का अन्वयव्यतिरेक स्पष्टतः प्रसिद्ध है ।

श्री राजवार्तिक में भी कहा है—

"यथा मृत्पिण्डो घटकार्यपरिणामप्राप्तिं प्रति गृहीताभ्यन्तरसामर्थ्यः बाह्यकुलालदण्डचक्रसूत्रोदककालाकाशाखनेकोपकरणापेक्षः घटपयथियाऽऽविर्भवति, नैक एव मृत्पिण्डः कुलालादिबाह्यसाधनसन्निधानेन विना घटात्मना-विर्भवितुं समर्थः ।" [५।१९।३१]

अर्थात्—मृत्पिण्ड में घटरूप परिणामने की सामर्थ्य होते हुए भी घटपर्याय के लिये बाह्य कुम्हार, दण्ड, चक्र, चीवरादि की अपेक्षा रखता है । कुलालादि बाह्यसाधन के बिना एक मृत्पिण्ड ही घटरूप परिणामने में समर्थ नहीं है ।

श्री वीरसेनाचार्य ने ध. पु. १३ पृ. ३४९ पर भी कहा है—

“एवं दुसेजोगादिणा अणुभाता परुवणा कायध्वा जहा मट्टिआ-पिड-दंड-चक्क-चीवर-जल-कुं भारदीणं घडु-
प्यायणाणुभागो ।”

अर्थात्—जिसप्रकार प्रत्येक द्रव्य की शक्ति का कथन किया गया है, उसीप्रकार द्वि आदि संयोगीद्रव्यों की शक्ति का कथन करना चाहिये । जैसे मृत्तिका पिण्ड, दण्ड, चक्र, चीवर, जल, कुम्हारादि की संयोगीशक्ति से घट की उत्पत्ति होती है ।

इन श्रावणवाक्यों से सिद्ध है कि जिसप्रकार मृत्तिकापिण्ड उपादानकारण के बिना घट की उत्पत्ति नहीं हो सकती उसीप्रकार कुम्हारादि निमित्तकारणों के बिना भी घटकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है ।

मात्र मृत्तिकापिण्ड को घट की उत्पत्ति का कारण मानना और कुम्हारादि को किसी भी अपेक्षा कारण न मानना कारणविपर्यास है । क्योंकि जब तक कार्योत्पादक हेतु का परिज्ञान नहीं हो जाता तबतक कार्य का परिज्ञान यथार्थता को प्राप्त नहीं होता, ऐसा आर्ष वाक्य है—

“ण च कारसे अणवणए कज्जावगमो सम्मसं पडिवज्जदे ।” [ध. पु. ११ पृ. २०५]

— जं. ग. 8-7-65/IX/.....

उपादान कारण कार्य से कथंचित् भिन्न होता है, कथंचित् अनुरूप (भ्रमिन्न) यानी सर्वथा कारण के समान ही कार्य नहीं होता

शंका—जो गुण कारण में होते हैं वे ही कार्य में आते हैं अर्थात् कारण के अनुसार ही कार्य की निष्पत्ति देखी जाती है । जिसप्रकार ज्ञानावरणकर्म के विशेष अयोपशम को लब्धि और उससे जायमान परिणामों को उपयोग । यदि लब्धि को कारण और उपयोग को कार्य माना जाय तो दोनों के गुण एक होने से उपयोग को लब्धिरूप ही माना जायगा ।

समाधान—कारण के सदृश ही सर्वथा कार्य ही ऐसा एकान्त नियम नहीं है । पूर्वपर्यायसहित द्रव्य उत्तरपर्याय का कारण होता है ।

पुव्वपरिणाम-जुत्तं कारण भावेण वट्टे देव्वं ।

उत्तरपरिणामजुव्वं तं च कज्जं हवे णियमा ॥ २२२ ॥ स्वामिकार्तिकेय

अर्थ—पूर्वपरिणामसहित द्रव्य कारणरूप है और उत्तरपर्यायसहित द्रव्य निधम से कार्यरूप है ।

“यथामृद्द्रव्य मृत्पिण्डः उपादानकारणभूतः घट लक्षणं कार्यं जनयति ।”

जैसे मिट्टी की पूर्वपिण्डपर्याय उपादानकारण होती है और वह उत्तररूप घटपर्याय को उत्पन्न करती है, किन्तु मिट्टीपिण्ड और घट सर्वथा समान नहीं है, एकदेश भिन्न है । मिट्टीपिण्ड जलधारण नहीं कर सकता, किन्तु घट जलधारण कर सकता है । कहा भी है—

“कश्चिद्वाह-केवलज्ञानं सकलनिरावरणं शुद्धं तस्य कारणेनापि सकलनिरावरणेन शुद्धेन भाव्यम्, उपादानकारण सहस्रं कार्यं भवतीति वचनात् । तत्रोत्तरं दीयते—युक्तमुक्तं भवता परं किन्तुपादानकारणमपि षोडशवर्णिकासुवर्णकार्यस्याधस्तन वर्णिकोपादानकारणवत्, मृन्मयकलशकार्यस्य मृत्पिण्डस्थासकोशकुशूलोपादान कारणवदिति च कायदिकदेशेन भिन्नं भवति । तर्हि पूर्वोक्त सुवर्णमृत्तिकादृष्टान्तद्वयवत्कार्यकारणभावो न घटते । ततः किं सिद्धं ? एकदेशेन निरावरणत्वेन क्षायोपशमिकज्ञानलक्षणमेकदेशव्यक्तिरूपं विवक्षितैकदेश शुद्धनयेन संवरशब्दवाच्यं शुद्धोपयोगस्वरूपं मुक्तिकारणं भवति ।” घृ. द्र. सं. गा. ३४ टीका ।

कोई शंका करता है—केवलज्ञान समस्त आवरण से रहित शुद्ध है, इसलिये केवलज्ञान का कारण भी समस्त आवरणरहित शुद्ध होना चाहिए, क्योंकि ‘उपादानकारण के समान कार्य होता है’ ऐसा आगमवचन है ? इस शंका का उत्तर—देते हैं—आपने ठीक कहा, किन्तु सोलहवानी के सुवर्णरूप कार्य का अधस्तन वर्णिकार्यो उपादानकारण होती है तथा मिट्टीरूप घटकार्य का मृत्तिकापिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल आदि उपादानकारण होता है । इन दोनों दृष्टान्तों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपादानकारण भी कार्य से एकदेश भिन्न होता है । (सोलहवानी सोने के प्रति जैसे पूर्व की सब पन्द्रहवर्णिकार्यो उपादान कारण हैं और घट के प्रति मिट्टी-पिण्ड स्थास, कोश, कुशूल आदि उपादान कारण हैं । सो ये कारण सोलहवानी के सुवर्ण और घटरूप कार्य से एकदेश भिन्न हैं, बिलकुल सोलहवानी के सुवर्णरूप और घटरूप नहीं हैं । इसीप्रकार सब उपादानकारण कार्य से एकदेश भिन्न होते हैं ।) यदि उपादानकारण का कार्य के साथ एकान्त से सर्वथा अभेद या भेद हो तो कार्य—कारण-भाव सिद्ध नहीं होता है, जैसा कि उपर्युक्त सुवर्ण और मिट्टी के दृष्टान्तों द्वारा स्पष्ट है । इससे यह सिद्ध हुआ कि क्षायोपशमिकज्ञान क्षायिकज्ञान का उपादानकारण होता है ।

इससे शंकाकार को स्पष्ट हो जायगा कि लब्धि और उपयोग में कारण—कार्यभाव होने पर भी कथंचित् भेद है अतः उपयोग लब्धिरूप नहीं हो सकता । लब्धि और उपयोग दोनों क्षायोपशमिकज्ञान की पर्यायों हैं इस अपेक्षा अभेद है, किन्तु दोनों पर्यायों भिन्न-भिन्न हैं इस अपेक्षा भेद है ।

श्री पूज्यपादस्वामी ने भी कहा है—

“यदि मतिपूर्वं श्रुतं तदपि मत्यात्मकं प्राप्नोति कारणसदृशं हि लोके कार्यदृष्टम् इति नंतदेकान्तिम् । दण्डादिकारणोऽयं घटो न दण्डाद्यात्मकः ।” सर्वार्थसिद्धि

यदि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है तो वह श्रुतज्ञान भी मत्यात्मक ही प्राप्त होता है, क्योंकि लोक में कारण के समान ही कार्य देखा जाता है ? यह कोई एकान्तनियम नहीं है कि कार्य के समान कारण होता है । यद्यपि घट की उत्पत्ति दण्डादिक से होती है तो भी घट दण्डादिस्वरूप नहीं होता ।

—जै. ग. 23-1-69/VII/ टी. ला. मितल

निमित्त व उपादान दोनों कारणों से कार्य होता है

शंका—जब रथ एक चक्र से चल सकता है जैसे सूर्य रथ केवल एक सूर्यरूपी चक्र (चक्का, पहिया) पर चलता है तो कार्य भी केवल एक कारण से हो जावे अंतरंग और बहिरंग दो कारणों की मानने की क्या आवश्यकता ?

समाधान—एक चक्र से रथ नहीं चलता, कहा भी है—‘नह्येकचक्रेण रथः प्रयाति ।’ (राजवार्तिक) । सूर्य रथ नहीं है । सूर्य विमान भी चक्र नहीं है । सूर्य तो अर्ध गोलक के सदृश है । सूर्य बिम्ब के उपरिम तल का

विस्तार एक योजन के इकसठ भाग में से अड़तालीस भाग प्रमाण है और बाह्य उससे आधा है। प्रत्येक सूर्य के सोलह हजार प्रमाण आभियोग्य देव होते हैं जो नित्य ही विक्रिया करके सूर्यनगर तल को ले जाते हैं (तिलोय-पण्णत्ती अधिकार ७ गाथा ६६, ६८, ८०)। इसप्रकार सूर्य का दृष्टान्त विषम है।

अनुकूल समस्त सामग्री के होने पर और बाधक कारणों के अभाव में कार्य होता है। मात्र एक कारण से कार्य नहीं होता। कहा भी है—‘सामग्री जनिका, नैक कारणं ।’ (राजवातिक अ० ५ सूत्र १७ वातिक ३१ व ३३)। अर्थात् कार्य की अनेक कारणों से सिद्धि होती है। श्री स्वामी समन्तभद्र आचार्य ने भी बृहद्द्वयभू स्तोत्र में कहा है—

यद्वस्तु बाह्यं गुणदोषसूतेनिमित्तमभ्यन्तरमूलहेतोः ।

अध्यात्मवृत्तस्थ तदंगभूतमभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते ॥ ५९ ॥

अर्थात्—अन्तरंग में विद्यमान मूलकारण के गुण और दोष को प्रकट करने में जो बाह्यवस्तु कारण होती है वह उस मूलकारण के अंगभूत अर्थात् सहकारीकारण है। केवल अभ्यन्तरकारण अपने गुणदोष की उत्पत्ति में समर्थ नहीं है। भले ही अध्यात्मवृत्त पुरुष के लिये बाह्यनिमित्त गौण ही जाय पर उनका अभाव नहीं हो सकता।

अन्य स्थल पर भी कहा है—‘यथा कार्यं बहिरन्तररूपाधिभिः’ अर्थात्—कार्यं बाह्य-अभ्यन्तर दोनों कारणों से होता है। श्री सर्वार्थसिद्धि अध्याय २ सूत्र ८ की टीका में भी कहा है—‘जो अन्तरंग और बहिरंग दोनोंप्रकार के निमित्तों से होता है और चैतन्य का अन्वयी है वह परिणाम उपयोग कहलाता है।’ इसीप्रकार अध्याय ५ सूत्र ३० की टीका में भी कहा है—‘अन्तरंग और बहिरंगनिमित्त के वशसे प्रतिसमय जो नवीन अवस्था प्राप्त होती है वह उत्पाद है। अतः मात्र एक कारण से कार्य की सिद्धि नहीं होती है।’

—जं. ग. 21-5-64/IX/ सुरेन्द्रचन्द्र

मोक्ष रूपी कार्य में कर्मोदय व पुरुषार्थ की कारणता

शंका—मोक्ष का पुरुषार्थ पहिले कर्मों के उदय से होता रहता है या इस जीव को वैसे कारण बनाने पड़ते हैं ?

समाधान—मोक्ष भी पर्याय है। प्रत्येक पर्याय के लिये अंतरंग और बहिरंग अनेक कारणों की आवश्यकता हुआ करती है। अतः मोक्षप्राप्ति के लिये भी अनेककारणों की आवश्यकता होती है। यद्यपि यह जीवात्मा शुद्ध-निश्चयनय से एक शुद्ध-बुद्ध ज्ञानानन्दमयी है तथापि व्यवहारतय से अनादिकर्मबन्धवशात् निगोदादि पर्यायों में भ्रमण कर रहा है जहाँ पर मनरहित होने के कारण इतना भी ज्ञान का क्षयोपशम नहीं होता कि वह अपने हित-अहित के उपदेश को ग्रहण कर सके। इसप्रकार भ्रमण करते हुए कभी ऐसा योग मिलता है कि आयुवन्धकाल के समय चारित्रमोह के मन्दोदय के कारण इसके मनुष्यआयु का बन्ध हो जावे। यहाँ तक पुरुषार्थ की मुख्यता नहीं है, कर्मों की मुख्यता है। मंजी-पंचेन्द्रिय-पर्याप्त हो जाने पर यदि यह जीवात्मा अनेकान्तमयी वस्तु के यथार्थस्वरूप को समझने का प्रयत्न करे और उसममय ज्ञानावरणादि कर्मों का प्रतिसमय अनन्तगुणा-अनन्तगुणाहीन अनुभातोदय हो तथा परिणामों में प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धता हो तो इसको मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है। इस सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये तत्त्वों के यथार्थस्वरूप के उपदेश की भी आवश्यकता होती है। अतः जहाँ पर यथार्थ उपदेश प्राप्त हो सके ऐसे निमित्तों को मिलाना इसका कर्त्तव्य है। मात्र उपदेश से

सम्यग्दर्शन नहीं हो जाता है उस उपदेश के साथ-साथ कषाय का मंदोदय तथा तत्त्वविचार करने की शक्तिरूप ज्ञानावरण का क्षयोपशम भी होना चाहिये। इस जीवात्मा का तत्त्वपरीक्षा तथा तत्त्वअवधारणरूप पुरुषार्थ भी होना चाहिये। अतः मोक्षप्राप्ति के लिये अनुकूल बाह्य और अंतरंगकारणों की अपेक्षा रहती है। कहा भी है— 'यद्यपि सिद्धगति में उपादानकारण भव्यजीव होता है तथापि तीर्थंकरप्रकृति उत्तमसंहननादि विशिष्टपुण्यरूप धर्म सहकारीकारण होते हैं। (पंचास्तिकाय गाथा ८५ की टीका)' १। 'निश्चय व व्यवहाररूप मोक्षकारणों के होने पर ही मोक्षकार्य होता है। (पंचास्तिकाय गाथा १०६ टीका)' २। 'मोक्ष भी होय है सो परम पुण्य का उदय और चारित्र्य का विशेष आचरणरूप पौरुषते होय है (अष्टसहस्री कारिका ८८ पृ. २५७)' ३। 'सहकारीकारणरूप मनुष्यगति के उदय से रहित अकेली विणुद्धि उन प्रकृतियों के बन्धव्युच्छेद करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि कारण-सामग्री से उत्पन्न होनेवाले कार्य की विकलकारण से उत्पत्ति का विरोध है (ध. पु. ६ पृ. १४१) इसप्रकार पूर्वकर्मोदय और इस जीवका बुद्धिपूर्वक समीचीनपुरुषार्थ दोनों ही मोक्षकार्य के लिये उपयोगी है।

—जं. ग. 21-3-63/IX/ जिनेश्वरदास

आत्मा (कथंचित्) निष्कारण नहीं है, उसका उत्पादक कारण है

शंका—संसार में जितने भी पदार्थ हैं वे सब कारणवान् हैं अर्थात् सब पदार्थों में कार्य-कारण-भाव है। कार्य की निष्पत्ति कारणों द्वारा ही होती है। आत्मा भी एक पदार्थ है परन्तु उसकी उत्पत्ति में कोई कारण नहीं होने से वह निष्कारण है। इसलिये जबकि कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। रा. वा. अ. २।

समाधान—शंकाकार ने जो राजवातिक से उद्धृत किया है वह बौद्धों का पूर्वपक्ष है। जिममें आत्मा को निष्कारण कहकर आत्मा का अभाव बतलाया गया है। श्री अकलंकदेव बौद्धों के इस मतका खण्डन करते हुए लिखते हैं—

“नरक, देवादि पर्याय आत्मद्रव्य से भिन्न नहीं, आत्मद्रव्यस्वरूप ही हैं। नरकपर्यायादि के उत्पादक मिथ्यादर्शन, अविरत आदि कारण शास्त्रों में वणित हैं। इसरीति से जब आत्मा का उत्पादककारण सिद्ध है तब अकारणस्वरूप हेतु आत्मारूप पक्ष में न रहने के कारण स्वरूपसिद्ध है। [रा. वा. अ. २ पृ. ६०३]

—जं. ग. 23-1-69/VII/ रो ला. मित्तल

कार्य सिद्धि में देव व पुरुषार्थ दोनों कारण हैं

शंका—प्रत्येक द्रव्य की पर्याय अपनी-अपनी योग्यता से प्रकट होती है। द्रव्यका उससमय उसपर्यायरूप परिणमन होना यह ही द्रव्य का पुरुषार्थ है। पर्याय अर्थात् कार्य की सिद्धि अपनी योग्यता के अनुसार ही होती है। ऐसा मानने में क्या हानि है ?

१. यद्यपि सिद्धगतेरुपादानकारण भव्यानां भवति तथा निदानरहितपरिणामोपाजिततीर्थंकरप्रकृत्युत्तमसंहननादिविशिष्टपुण्यरूपधर्मोपि सहकारिकारण भवति ।

२. निश्चयव्यवहारमोक्षकारणे सति मोक्षकार्यं संभवतीति ।

३. मोक्षस्यापिपरमपुण्यातिशयवारिहयिन्नेषात्मक पौरुषाभ्यामेयसंभवात् ।

समाधान—‘योग्यता’ के पर्यायवाची नाम ‘पूर्वकर्म’ ‘दैव’ ‘अदृष्ट’ हैं ।

‘पुरुषार्थ’—इसभवे में जो पुरुष चेष्टा करि उद्यम करे सो पौरुष है सो यह दृष्ट है (आप्तमीमांसा पृ. ४०) । अन्यत्र भी ‘पुरुषार्थ’ को इसप्रकार कहा है—

आलसड्डो णिरुद्धाहो फलं किंचि न भुंजदे ।

यणक्खीरादिपाणं वा पउरुसेण विणा ण हि ॥

अर्थ—जो आलस्यकर सहित हो तथा उद्यम करने में उत्साहरहित हो वह कुछ भी फल नहीं भोग सकता । जैसे बिना पुरुषार्थ के स्तनों का दूध पीना कभी नहीं बन सकता । इसप्रकार ‘पुरुषार्थ’ का प्रयोजन चेष्टा करना, उद्यम करना है । ‘द्रव्यका पर्यायरूप परिणामन करना’ पुरुषार्थ है, यह एक नई सूत्र है जो आगमानुकूल नहीं है ।

योग्यता अथवा दैव यह तो अदृष्ट और पुरुषार्थ दृष्ट इन दोनों दृष्ट-अदृष्ट से कार्य की सिद्धि अथवा पर्याय प्रगट होती है । केवल योग्यता अथवा केवल पुरुषार्थ से जीवकी पर्याय प्रकट नहीं होती । (अष्टसहस्री) ।

देवागम की कारिका ९१ में श्री स्वामी समन्तमन्त्राचार्य ने दैव व पुरुषार्थ का समन्वय करते हुए कहा भी है—‘जो पुरुष की बुद्धिपूर्वक न होय तिस अपेक्षा विषे तो इष्टानिष्ठ कार्य हैं सो अपने दैव ही तें भया कहिये तहाँ पौरुषप्रधान नहीं, दैव का ही प्रधानपना है । बहुरि जो कार्य पुरुष की बुद्धिपूर्वक होय तिस अपेक्षा विषे पौरुषतें भया इष्टानिष्ठ कार्य कहिये । तहाँ दैव को गौण भाव है पौरुष ही प्रधान है ।

जबकि कार्य की सिद्धि दैव व पुरुषार्थ इन दोनों से अथवा निमित्त-उपादान, इन दोनों से होती है तो वह कार्य अर्थात् पर्याय एक से नहीं हो सकता है । कहा भी है—

कारणद्वयसाध्यं कार्यमेकेन जायते ।

द्वन्द्वोत्पाद्यमपत्यं किमेकेनोत्पद्यते क्वचित् ॥

अर्थात्—जिसप्रकार स्त्री-पुरुष दोनों से होनेवाली संतान केवल स्त्री या केवल पुरुष से उत्पन्न नहीं हो सकती उसी प्रकार जो कार्य दो कारणों से उत्पन्न होता है वह कार्य अर्थात् पर्याय एक कारण से कभी उत्पन्न नहीं हो सकती । संतानोत्पत्ति में जिसप्रकार नाना के यहाँ स्त्री की मुख्यता और पुरुष की गौणता होती है तथा बाबा के यहाँ पुरुष की मुख्यता स्त्री की गौणता होती है उसीप्रकार निमित्त व उपादानकारणों की भी मुख्यता व गौणता जाननी चाहिये । किसी भी एकान्त का कदाग्रह नहीं होना चाहिये ।

—जौ. ग. 13-12-62/X/ डी. एल. शारदा

(१) एक कार्य अनेक कारण साध्य होता है

(२) अनुकूल बाह्य सामग्री की प्राप्ति में सातोदय, लाभान्तराय का क्षयोपशम आदि अनेक कारण चाहिये

शंका—‘लाभान्तरायकर्म के क्षयोपशम से सामग्री मिलती है’ ऐसा आगम में कथन है । दूसरा कथन यह भी है कि साता के उदय से सामग्री मिलती है । साता का उदय पर है लाभान्तराय का क्षयोपशम आत्मा का स्वभाव है तथा आत्मशक्ति का विकास है । अतः क्षयोपशम से सामग्री मिलती है, यह समझ में नहीं आता ?

१ योग्यता (भव्यता), पूर्वकर्मदैवमदृष्टमिति घटकलक्षणवत्पर्यायनामानि । (अष्टसहस्री पृ. २५६)

समाधान—एक कार्य होने में अनेक कारणों की आवश्यकता होती है। अनुकूल बाह्यसामग्रियों के मिलने में लाभान्तरायकर्म का क्षयोपशम, साता का उदय और पुरुषार्थार्थि सब कारण होने चाहिये। सातावेदनीय के उदय से दुःख उपशमने के कारणभूत सुद्वयों का सम्पादन होता है (ध. पु. ६ पृ. ३६, पु. १३ पृ. ३५७, पु. १५ पृ. ६) अभिलषित अर्थ की प्राप्ति होना लाभ है (ध. पु. १३ पृष्ठ ३८९)। अभिलषित अर्थ की प्राप्ति में विघ्न करने-वाला लाभान्तराय कर्म है। लाभान्तरायकर्म के क्षयोपशम से किञ्चित् विघ्न का अभाव होने से किञ्चित् अर्थ की प्राप्ति हो जाती है। संसार में अनेक निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध बने हुए हैं। मदिरापान से ज्ञान का विपरीत-परिणामन हो जाता है। मंत्र से विष दूर हो जाता है। इसीप्रकार जीव का पुद्गल कर्मों से निमित्त-नैमित्तिक-संबंध है। पं० बनारसीदासजी ने कहा भी है—‘शक्ति मरोड़े जीवकी उदय महा बलवान् ।’ आप्तपरीक्षा में कर्म का लक्षण इसप्रकार कहा है—“जो जीव को परतन्त्र करते हैं अथवा जीव जिनके द्वारा परतंत्र किया जाता है उन्हें कर्म कहते हैं।”

—जं. स. 25-12-58/V/ कपूरीदेवी, गया

पूर्वकृत कर्म तथा वर्तमान पुरुषार्थ; दोनों से कार्यसिद्धि सम्भव है

शंका—भाग्य का विधाता कौन है ? क्या भाग्य के भरोसे बंटे रहना चाहिये ? क्या पुरुषार्थ के द्वारा भाग्य टाला भी जा सकता है ?

समाधान—भाग्य का विधाता स्वयं जीव है। मात्र भाग्य के भरोसे नहीं बंटे रहना चाहिए, क्योंकि पुरुषार्थ के द्वारा पूर्वोपाजितकर्मों का संक्रमण व खण्डन हो सकता है। श्री समन्तभद्राचार्य ने आप्तमीमांसा में कहा है—

देवादेवार्थसिद्धिश्चेद्द्वं पौरुषतः कथं ।

देवतचेदनिर्माक्षः पौरुषं निष्फलं भवेत् ॥ ८८ ॥

जो देव (भाग्य) ही तैं एकान्तकरि सर्व प्रयोजनभूत कार्य सिद्धि है ऐसैं मानिए तो तहाँ कहिये है, जो पुण्य-पापकर्म सो पुरुष के शुभ-अशुभ आचरणस्वरूप व्यापार तैं उपजे है। यदि यह कहा जाय कि अन्य देव जो पूर्व था तिसतैं उपजे है पौरुष ते नहीं उपजे ताको कहिए ऐसैं तो मोक्ष होने का अभाव ठहरे है। यदि पूर्व-पूर्व देवते उत्तरोत्तर देव उपजा करे तो मोक्ष कैसे होय; पौरुष करना निष्फल ठहरेगा। तातैं देव एकान्त श्रेष्ठ नाहीं इसी कथन करि कोई ऐसा एकान्त करे जो धर्म का अभ्युदय तैं मोक्ष होय है ताका भी निषेध जानना। तातैं ऐसा है योग्यता अथवा पूर्वकर्म सो तो देव (भाग्य) है। यह तो अदृष्ट है। इस भवमें जो पुरुष चेष्टा करे उच्चम करे सो पौरुष है यह दृष्ट है। तिन दोऊ तैं कार्य की सिद्धि होय है। मोक्ष भी होय है सो परमपुण्य का उदय और चारित्र का विशेष आचरणरूप पौरुषतैं होय है। तातैं देव (भाग्य) का एकान्त श्रेष्ठ नाहीं है।

—जं. ग. 8-1-70/VII/ २। ला. मित्तल

मात्र उपादान से कार्यसिद्धि नहीं होती

शंका—क्या कार्य उपादान से ही होता है ? निमित्त-कारण भातना क्या मिथ्यात्व है ?

समाधान—कार्य के साथ जिसका अन्वय-व्यतिरेक हो वह कारण होता है। अनुकूल कारणों से और प्रतिबंधकारणों के अभाव में कार्य की सिद्धि होती है। कहा भी है—

“अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि हेतुफलभावः सर्व एव तावन्तेरण हेतुता प्रतिज्ञामात्रत एव कस्यचित्सा वस्तु-
चित्तायामनुपयोगिनीति । प्रतिबंधकसद्भावानुमानमागमेऽभिमतं तावदसति न घटते ।” भूलाराधना पृ. २३ ।

जगत् में पदार्थ का सम्पूर्ण कार्यकारणभाव अन्वय-व्यतिरेक से जाना जाता है । अन्वय-व्यतिरेक के बिना कोई पदार्थ किसी का कारण मानना केवल प्रतिज्ञामात्र ही है । ऐसी प्रतिज्ञा वस्तु के विचारसमय में कुछ भी उपयोगी नहीं है ।

प्रतिबंधककारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है । जैसे सहकारी (निमित्त) कारण नहीं होने से कार्य की सिद्धि नहीं होती, वैसे प्रतिबंधक का सद्भाव होने से भी कार्य होता नहीं । सहकारिकारण होते हुए प्रतिबंधककारणों के अभाव में कार्य होता है, अन्यथा नहीं ।

श्री अकलंकदेव ने राजवार्तिक में भी कहा है—

“इह लोके कार्यमनेकोपकरणसाध्यं दृष्टम्, यथा मृत्पिण्डो घटकार्यपरिणामप्राप्तिं प्रति गृहीताभ्यन्तर-
सामर्थ्यः बाह्यकुलालदण्डधक्कसूत्रोदककालाकाशाखनेकोपकरणेषुः घटपययिणाऽऽधिर्भवति, नैक एव मृत्पिण्डः कुला-
लादिबाह्यसाधनसन्निधानेन बिना घटात्मनाविर्भवितुं समर्थः । कार्यस्य अनेककारणत्वसिद्धिः ।”

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि कार्य की सिद्धि अनेक कारणों से होती है । जैसे घटकार्य की प्राप्ति में मृत्पिण्ड तो अंतरंगकारण है और बाह्य में कुंभकार आदि बाह्यसाधनों के बिना मात्र अकेला मृत्पिण्ड घटरूप परिणमन करने में समर्थ नहीं है । कार्य की अनेक कारणों से सिद्धि होती है; मात्र उपादान से कार्य की सिद्धि नहीं होती है ।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने तथा श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी प्रवचनसारादि ग्रन्थों में इसीप्रकार कहा है ।

—जै. ग. 26-4-73/VII/.....

घातिया कर्म एवं केवलज्ञान में कौन कारण व कौन कार्य है ?

शंका—जैसे प्रकाश होते ही अन्धकार दूर हो जाता है वैसे ही केवलज्ञान उत्पन्न होने से तीन घातिया-
कर्मों का क्षय हो जाता है, ऐसा क्यों नहीं कहते ?

समाधान—प्रकाश से अन्धकार दूर हो जाता है, उसीप्रकार केवलज्ञानरूप प्रकाश से अज्ञानरूप अन्धकार दूर हो जाता है । जिसप्रकार दीपक प्रकाश का कारण है, उसीप्रकार चार घातियाकर्मों का क्षय केवलज्ञानरूप प्रकाश की उत्पत्ति में कारण है । कहा भी है—

“मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥ १०।१ ॥ तत्क्षयो हेतुः केवलोत्पत्तेरिति हेतुलक्षणो
विभक्तिनिर्देशः कृतः ।” (सर्वार्थसिद्धि ॥ १०।१ ॥)

अर्थ—मोह का क्षय होने से तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्म का क्षय होने से केवलज्ञान प्रकट होता है । इन घातियाकर्मों का क्षय केवलज्ञानोत्पत्ति का हेतु (कारण) है ऐसा जानकर ‘हेतुरूप’ विभक्ति का निर्देश किया है ।

जिसप्रकार प्रकाश दीपक को कारण नहीं है उसीप्रकार केवलज्ञानोत्पत्ति भी घातियाकर्मों के क्षय को कारण नहीं है ।

—जै. ग. 30-11-72/VII/ र. ला जैन, मेरठ

(१) उभयबिध कारण बिना कार्य नहीं होता

(२) स्वभाव निष्कारण होता है

शंका—जीव और कर्म का संबंध सादि मानने से पहले तो शुद्धात्मा में बंध ही नहीं सकता, क्योंकि बिना कारण के कार्य होता ही नहीं। थोड़ी देर के लिये यह भी मान लिया जाय कि बिना रागद्वेषरूप कारण के शुद्धात्मा भी बंध करता है तो फिर बिना कारण से होनेवाला वह बंध किसतरह छूट सकता है? यदि रागद्वेषरूप कारणों से बंध माना जाय तब तो उन कारणों के हटाने पर बंधरूप कार्य भी हट जाता है, परन्तु बिना कारण से होनेवाला बंध दूर हो सकता है या नहीं ऐसी अवस्था में इसका कोई नियम नहीं है। इसलिए मोक्ष होने का भी कोई निश्चय नहीं है। इसतरह यदि बिना कारण के कार्य होता ही नहीं तो सुप्रभातस्तोत्र के अन्तिम श्लोक के अन्तिम चरण में “निष्कारणं च करुणाकरतां दधानः । स श्रीजिनो जनयतान्मम सुप्रभातम् ।” ऐसा क्यों कहा है? इसीतरह तीर्थंकरभगवान के समवसरण का विहार होना और एक जगह ठहरना आदि भी निष्कारण होता रहता है, ऐसा बतलाते हैं। यह कैसे संभव है? क्योंकि कारणसामग्री के अभाव में कार्य की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती है, यह आपका सिद्धान्त है।

समाधान—कोई भी कार्य अन्तरंग और बहिरंग इन दोनों कारणों के बिना उत्पन्न नहीं होता है। सर्वार्थसिद्धि में उत्पाद का लक्षण निम्नप्रकार कहा है—

“उभय-निमित्तवशाद् भावान्तरावाप्तिरुत्पादनमुत्पादः ॥ ५-३० ॥”

अर्थ—उभय (अन्तरंग और बहिरंग) निमित्त के वश से जो नवीनअवस्था की प्राप्ति होती है वह उत्पाद है।

‘करुणा’ जीव का स्वभाव है। स्वभाव कारण के बिना होता है। कहा भी है—

“करुणाए कारणं कम्मं करुणे त्ति किं ण वुत्तां ? ण करुणाए जीवसहावस्स कम्मजनिदत्तविरोहादो । अकरुणाए कारणं कम्मं वत्तव्वं ? ण एस दोसो, संजमघादिकम्माणं फलभाषेण तिस्से अब्भुवगमादो ।”

[घ. पु. १३ पृ. ३६१-३६२]

अर्थ—करुणा का कारणभूत कर्म करुणाकर्म है, ऐसा क्यों नहीं कहा? ऐसा नहीं कहा, क्योंकि करुणा जीव का स्वभाव है, अतएव उसे कर्मजनित मानने में विरोध आता है। इसपर प्रश्न होता है कि अकरुणा का कारण कहना चाहिए? यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि अकरुणा को संयमघाती कर्मों के फलरूप से स्वीकार किया गया है। अर्थात् अकरुणा का कारण चारित्रमोहनीयकर्मोदय है।

—जै. ग. 22-3-73/V/ मुनि श्री आदिसागरजी महाराज, त्रेडवाल

(१) अनेक कार्य कारित्व

(२) रत्नत्रय से बन्ध व मोक्ष दोनों सम्भव

शंका—‘अनेकार्यकारित्व’ को स्पष्ट कीजिये।

समाधान—एक पदार्थ सहकारीकारणों के वैविध्य से अनेककार्यों का सम्पादन करता है, अतः वह अनेक कार्य-कारित्व कहा जाता है। जैसे एक ही दीपक एक ही समय में अन्धकार का नाश करता है, प्रकाश फैलाता

है, बत्ती का मुख जलाता है, तैल शोषण करता है, धूम्ररूप कालिमा को उन्पन्न करता है, इसप्रकार एक ही दीपक से एकसमय में अनेककार्य हो रहे हैं। प्रकाश तथा धूम्ररूप कालिमा यद्यपि ये दोनों परस्परविरुद्ध कार्य हैं तथापि एक ही समय में एक दीपक से हो रहे हैं।

“समस्तविरुद्धाविरुद्धकार्यहेतुतया शश्वदेव विश्वमनुगृह्णन्ते।” समयसार गा. ३ की टीका।

सर्वपदार्थ विरुद्धकार्य तथा अविरुद्धकार्य दोनों की हेतुता से सदा विश्व का उपकार करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार आत्मा के एक ही भाव से कर्मनिर्जरा होने और शुभ (पुण्य) बन्ध होने में कोई दोष नहीं है।

“ननु च तपोऽभ्युपयाङ्गमिष्टं देवेन्द्राविस्थानप्राप्तिहेतुत्याभ्युपगमात्, तत् कथं निर्जराङ्गं स्यादिति ? नैव दोषः, एकस्यानैककार्यदर्शनादपिनवत् ।” सर्वार्थसिद्धि ९।३।

“परिषहजये कृते कुशलमूला सा शुभानुबन्धा निरनुबन्धा चेति ।” सर्वार्थसिद्धि ९।७।

त. सू. अ. ९ सूत्र ३ में जो यह कहा गया है कि तप से निर्जरा होती है, उसपर यह शंका की गई कि तप निर्जरा का कारण कैसे हो सकता है, क्योंकि तप से पुण्य होता है जिससे देवेन्द्रादि विशेषपदों की प्राप्ति होती है। आचार्य उत्तर देते हैं कि यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि एक से अनेक कार्य होते हुए देखे जाते हैं। जैसे एक अग्नि से अनेककार्य देखे जाते हैं, उसीप्रकार एक तप से भी देवेन्द्रादि पद की प्राप्ति व निर्जरा मानने में कोई विरोध नहीं है। सूत्र ७ की टीका में पूज्यपादाचार्य तथा श्री अकलंकदेव लिखते हैं कि परीषह जीतने पर जो निर्जरा होती है। वह कुशलमूला निर्जरा है। वह कुशलमूला निर्जरा शुभानुबन्धा और निरनुबन्धा होती है। अर्थात् १० वें गुणस्थान तक शुभानुबन्धा निर्जरा होती है और ग्यारहवें आदि गुणस्थानों में निरनुबन्धा निर्जरा होती है।

यद्यपि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग हैं (दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विति ।” समयसार गाथा ४१०) तथापि जबतक ये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जघन्यभाव से परिणमते हैं तब तक इनसे पुण्यबन्ध भी होता है।

दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण ।

णाणी लेण दु बज्जदि पुग्गलकम्मेण विविहेण ॥ १७२ ॥ समयसार

जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अर्थात् रत्नत्रय जघन्यभाव से परिणमन करता है, उस रत्नत्रय से ज्ञानी अनेकप्रकार के पुद्गलकर्मों से बंधता है।

दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गो त्ति सेविदग्वाणि ।

साधुहिं इदं भणिदं तोहिं दु बंधो व मोक्खो वा ॥१६४॥ पंचास्तिकाय

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है इसलिये सेवने योग्य है, ऐसा साधुओं ने कहा है। उन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से बंध भी होता है और मोक्ष भी होता है।

यदि कोई यह आशंका करे कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो संवर-निर्जरा व मोक्ष के ही कारण हैं, बंध के कारण तो राम-द्वेष ही हैं तो सर्वथा ऐसा एकान्त भी ठीक नहीं है। यदि सर्वथा ऐसा मान लिया जाय तो

तीर्थकरादि प्रकृतियों के बंध के अभाव का प्रसंग आ जायगा, क्योंकि मात्र स्थूल या सूक्ष्म राग-द्वेषरूप अशुभभाव से मोक्ष की सहकारीकारणभूत उपादेयरूप तीर्थकरप्रकृति का बंध नहीं हो सकता है ।

रागो दोसो मोहो हस्तादी-भोकसायपरिणामो ।

बुलो वा सुहृमो वा असुहृमणो स्ति य जिणा वेति ॥

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि रागरूप परिणाम, द्वेषरूप परिणाम, मोहरूप परिणाम तथा हास्यादि-रूप परिणाम तीव्र हों या मंद हों ये सब अशुभभाव हैं ऐसा श्री जितेन्द्र के द्वारा कहा गया है ।

“तीर्थकरनामकर्म मोक्षहेतुश्चतुर्विधोऽपि बन्ध उपादेयः ।” (भावपाहुड गाथा ११३ टीका)

मोक्ष का हेतु होने से तीर्थकर नामकर्म के चारों प्रकार का बंध उपादेय है ।

षट्छांडागम जिसमें द्वादशांग के मूलसूत्रों का संकलन है उसमें ‘तिथ्यथरं सम्मत्तपच्चयं’ सूत्र द्वारा तीर्थकर-प्रकृति के बंध का कारण सम्यग्दर्शन को बतलाया है । द्वादशांग के इस सूत्र के अनुसार ही श्रीमदुमास्वामी आचार्य ने श्री. शा. अ. ६ सू. २४ में तथा श्री अमृतचन्द्राचार्य ने तत्त्वार्थसार चतुर्थाधिकार श्लोक ४९ में दर्शनविशुद्धि अर्थात् सम्यग्दर्शन को तीर्थकरप्रकृति के आस्रव का मुख्य कारण कहा है ।

तीर्थकरप्रकृति का बंध सम्यग्दर्शन के सद्भाव में ही होता है और सम्यग्दर्शन के अभाव में तीर्थकरप्रकृति का बंध नहीं होता है । इसलिये सम्यग्दर्शन को तीर्थकरप्रकृति के बंध का कारण द्वादशांग में कहा गया है ।

‘यद्यस्य भावा भावानुविधानतो भवति तत्तस्येति वदन्ति तद्विद इति न्यायात् ।’ ध. पु. १४ पृ. १३

जो जिसके सद्भाव और असद्भाव का अविनाभावी होता है, वह उसका है, ऐसा कार्य-कारणभाव के ज्ञाता कहते हैं, ऐसा न्याय है ।

“अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि हेतुफलभावः सर्व एव ।” मूलाराधना पृ. २३

जगत् में पदार्थ का संपूर्ण कार्य-कारणभाव अन्वयव्यतिरेक से जाना जाता है ।

“अन्वय-व्यतिरेकसमधिगम्यो हि सर्वत्र कार्यकारणभावः ।” प्रमेयरत्नमाला ३।५९

सर्वत्र कार्यकारणभाव अन्वय-व्यतिरेक से जाना जाता है ।

यद्यपि इसप्रकार तीर्थकरप्रकृति के बंध का कारण सम्यग्दर्शन सिद्ध हो जाता है, तथापि मात्र सम्यग्दर्शन ही तीर्थकरप्रकृति के बंध का कारण नहीं है, उसके साथ उसप्रकार का राग भी होना चाहिये, अन्यथा आठवें आदि गुरास्थानों में तीर्थकर प्रकृति की बंध-व्युच्छिति हो जाने के पश्चात् भी सम्यग्दर्शन के सद्भाव में तीर्थकर प्रकृति का बंध होता रहना चाहिये था ।

तीर्थकरप्रकृति के बंध का कारण न मात्र राग है और न मात्र सम्यग्दर्शन है, किन्तु सम्यग्दर्शन व राग दोनों हैं । जैसे पुत्रोत्पत्ति में माता और पिता दोनों कारण हैं ।

“यथा स्त्रीपुरुषाभ्यां समुत्पन्नः पुत्रो धिवक्षावशेन देवदत्तायाः पुत्रोयं केचन वदन्ति, देवदत्तस्य पुत्रोयमिति केचन वदन्ति इति दोषो नास्ति । तथा जीवपुद्गलसंयोगेनोत्पन्नाः मिथ्यात्वरागादिभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धो-पादानरूपेण चेतना जीवसंबद्धाः शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेणाचेतनाः पौद्गलिकाः । परमार्थतः पुनरेकतेन न

जीवरूपाः न च पुद्गलरूपाः सुधाहरिद्रयोः संयोगपरिणामवत् ।” ये केचन वदन्त्येकात्मिन रागादयो जीवसंबन्धिनः पुद्गलसंबन्धिनो वा तदुभयमपि वचनं मिथ्या । कस्मादिति चेत् पूर्वोक्त स्त्रीपुरुषदृष्टांतेन संयोगोद्भवत्वात् ।

समयसार गाथा ११८ तात्पर्यवृत्ति टीका

पुत्रोत्पत्ति स्त्री व पुरुष दोनों के संयोग से होती है । विवक्षावश माता की अपेक्षा कोई पुत्र को देवदत्ता का कहते हैं और अन्य कोई पिता की अपेक्षा पुत्र को देवदत्त का कहते हैं । इसमें कोई दोष नहीं है, विवक्षाभेद से दोनों ही ठीक हैं वैसे ही जीव और पुद्गल इन दोनों के संयोग से उत्पन्न होनेवाले मिथ्यात्व-रागादिरूप भावप्रत्यय अशुद्धनिश्चयनय से चेतन हैं, क्योंकि जीव से सम्बद्ध हैं, किन्तु शुद्धनिश्चयनय से अचेतन हैं, क्योंकि पौद्गलिक-कर्मादय से हुए हैं; किन्तु वस्तुस्थिति में ये एकान्त से न तो जीवरूप ही हैं, और न पुद्गल ही हैं । चूना और हल्दी के संयोग से उत्पन्न हुई कुंकुम के समान ये रागादि भी जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न होनेवाले हैं । जो एकान्त से रागादिक को जीव संबन्धी या पुद्गलसंबन्धी कहते हैं उन दोनों का कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ये जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हुए हैं जैसा कि स्त्री-पुरुष के संयोग से पुत्रोत्पत्तिका दृष्टान्त दिया जा चुका है ।

इसीप्रकार सम्यक्त्व और राग के संयोग से तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध होता है । शुद्धनिश्चयनय से तीर्थंकर-प्रकृति का बन्ध राग से होता है और अशुद्धनिश्चयनय से सम्यक्त्व के कारण तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध होता है । प्रमाण से तीर्थंकरप्रकृति के बन्ध का कारण सम्यक्त्व और राग के संयोग से उत्पन्न हुआ आत्मपरिणाम है । जो एकान्त से तीर्थंकरबन्ध का कारण मात्र सम्यक्त्व को मानते हैं या मात्र राग को कारण मानते हैं उन दोनों का वचन ठीक नहीं है, क्योंकि तीर्थंकरप्रकृति के बन्ध का कारण तो सम्यक्त्व और राग का संयोगीभाव है । जैसे हल्दी व चूने का संयोगी कुंकुमवर्ण है ।

श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक २१२-२१३-२१४ के आधार पर यदि कोई ऐसा एकान्त-पक्ष लेता है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र किसी भी अवस्था में तथा किसी भी अपेक्षा से बन्ध के कारण नहीं हैं, क्योंकि जितने अंशों में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र हैं उतने अंश में बन्ध नहीं है, किन्तु जितने अंशों में राग है उतने अंशों में बन्ध है, तो उसका यह एकान्तपक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त श्लोकों में शुद्धनिश्चयनय के आश्रय से कथन किया गया है । श्री अमृतचन्द्राचार्य ने स्वयं तत्त्वार्थसार के निम्न श्लोक में सम्यक्त्व को देवायु के आस्रव का कारण कहा है ।

सरागसंयमश्चैव सम्यक्त्वं देशसंयमः ।

इति देवायुषो ह्येते भवन्त्यास्रवहेतवः ॥ ४१४३ ॥

सरागसंयम, सम्यक्त्व और देशसंयम ये सब देवायु के आस्रव के कारण हैं । (नोट—यहाँ पर सम्यक्त्व के साथ सराग विशेषण नहीं है ।)

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से कथन करते हुए लिखते हैं—

असमग्रं भावयतो रतनत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः ।

स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥ २११ ॥

असम्पूर्ण रत्नत्रयभाव न करनेवाले पुरुष के जो पुण्यकर्मबंध होता है वह बंध विपक्षकृत है अर्थात् सम्पूर्ण-रत्नत्रय का विपक्ष जो असम्पूर्णरत्नत्रय तत्कृत है। वह पुण्यबंध अवश्य ही मोक्ष का उपाय अर्थात् संसार का कारण नहीं है।

समयसार १७१ की टीका में श्री “स तु यथाख्यातचारित्र्यावस्थाया अधस्तादवश्यंभावित्रागसद्भावात् बंध-हेतुरेव स्यात् ।” द्वारा यह कहा गया है कि यथाख्यातचारित्र्यावस्था से पूर्व राग का अवश्य सद्भाव होने से जघन्य ज्ञानगुण बंध का कारण है।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय श्लोक २११ में अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा कथन है और श्लोक २१२ से २१६ तक शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा कथन है। फिर भी कोई शुद्धनिश्चयनय का एकांतपक्ष न ग्रहण करले उसके लिये निम्न-लिखित दो श्लोक दिये हैं—

सम्यक्त्वचारित्र्याम् तीर्थकराहारकर्मणो बंधः ।
 योऽप्युपदिष्टः समये न नयविदां सोऽपि दोषाय ॥ २१७ ॥
 सति सम्यक्त्वचरित्रे तीर्थकराहारबन्धकौ भवतः ।
 योगकषायौ नासति तत्पुनरस्मिन्नुवासीनम् ॥ २१८ ॥

समय अर्थात् द्वादशांग में जो सम्यक्त्व के द्वारा तीर्थकरप्रकृति का बंध और चारित्र के द्वारा आहारक-शरीर नामकर्म का बंध कहा गया है वह भी नयवेत्ताओं को दोष के लिये नहीं है, क्योंकि एक नय के द्वारा वह कथन भी ठीक है। सम्यक्त्व के होने पर योग और कषाय तीर्थकरप्रकृति के बंधक होते हैं और चारित्र के होने पर योग और कषाय आहारक के बंधक होते हैं। सम्यक्त्व व चारित्र के अभाव में तीर्थकर व आहारक का बंध नहीं होता है।

इसप्रकार तीर्थकर और आहारकप्रकृति के बंध के साथ सम्यक्त्व और चारित्र का अन्वय-व्यतिरेक सिद्ध हो जाने से, सम्यक्त्व और चारित्र के बंध का कारणपना सिद्ध ही जाता है।

“यद्यस्य भावाभावानुविधानतो भवति तत्तस्येति वदन्ति तद्विद इति न्यायात् ।” (घ. पु. १४ पृ. १३)

“अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि हेतुफलभावः सर्व एव ।” (सूलाराधना पृ. २३)

“अन्वय-व्यतिरेकसमधिगम्यो हि सर्वत्र कार्यकारणभावः ।” (प्रमेयरत्नमाला ३।५९)

इन न्यायशास्त्रों के अनुसार यद्यपि सम्यक्त्व और चारित्र के बंध का कारणपना सिद्ध हो जाता है तथापि वे उदासीन कारण हैं।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय श्लोक २२० के पूर्वार्ध में शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से कथन है और उत्तरार्ध में अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा कथन है। श्लोक इसप्रकार है—

रत्नत्रयमिह हेतुनिर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य ।
 आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ॥ २२० ॥

इस श्लोक में शुद्धरत्नत्रय निर्वाण का ही कारण है अन्य का कारण नहीं है। जो पुण्य का आस्रव होता है वह शुभोपयोग अर्थात् असमग्ररत्नत्रय का अपराध है।

शुभोपयोग चतुर्थगुणस्थान से प्रारम्भ होता है उससे पूर्व अशुभोपयोग होता है ।

(प्रवचनसार गा० ९ टीका)

किन्तु शुभराग प्रथमादि गुणस्थानों में भी संभव है । इस बात को दृष्टि में रखते हुए श्लोक २२० में शुभराग नहीं कहा है किन्तु शुभोपयोग कहा है—

एकस्मिन् समवायादत्यन्तविरुद्धकार्ययोरपि हि ।

इह बहति धृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशीपि रूढिमितः ॥२२१॥

यद्यपि शुद्ध घी जलाने में असमर्थ है, किन्तु जब अग्नि के समवाय संसर्ग से घी का स्पर्शगुण ऊष्ण हो जाता है तो उस घी से जलने का व्यवहार (कार्य) देखा जाता है । इसप्रकार संसर्ग के कारण एक ही घी में विरुद्ध कार्य होना सम्भव है । उसीप्रकार यद्यपि पूर्णरत्नत्रय कर्मबन्ध कराने में असमर्थ है तथापि राग के संसर्ग से वह रत्नत्रय असमग्रता को प्राप्त हो जाने के कारण कर्मबन्ध का कार्य करने में समर्थ हो जाता है ।

श्री कुन्दकुन्द तथा श्री पूज्यपाद आचार्य कहते हैं—

जो जाइ जोयणसयं वियहेरोक्केण लेवि गुरुभारं ।

सो किं कोसद्धं पि हु ण सकए जाहु भुवणयले ॥२१॥ (मोक्षपाहुड)

यत्र भावः शिवं दत्ते द्यौः कियद्वूरवतिनी ।

यो नयत्यासु गव्यति क्रोशाद्धं किं स सीदति ॥ (इष्टोपदेश)

जो मनुष्य किसी भार को स्वेच्छा से दो कोस ले जाता है तो वह क्या उस भार को आधा कोस भी नहीं ले जा सकता ? अवश्य ले जा सकता है । उसी तरह जिस रत्नत्रय में मोक्ष प्राप्त कराने की सामर्थ्य है तो क्या उस रत्नत्रय से स्वर्ग सुख की प्राप्ति दूरवर्ती है ? अर्थात् उस रत्नत्रय से देवायु पुण्यप्रकृति का बन्ध होकर स्वर्गसुख का मिलना सहज है ।

अन्य आचार्यों ने भी धर्म से स्वर्ग व मोक्ष दोनों की प्राप्ति कही है । जैसे—

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम् ।

संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥ २ ॥ (र. क. श्रा.)

संस्कृत टीका—“प्राणिन उद्घृत्य स्थापयति स्वर्गापवर्गाद्विप्रभवे सुखे स धर्म इत्युच्यते ।” श्री समन्तभद्राचार्य तथा श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने धर्म का फल बतलाते हुए कहा है कि जो प्राणियों का उद्धार करके स्वर्गसुख तथा मोक्षसुख में रख दे वह धर्म है ।

जीवस्स णिच्छयादो धम्मो दहलक्खणो ह्वे सुयणो ।

सो रोइ देवलोए सो चिय बुक्खक्खयं कुणइ ॥ ७८ ॥ [स्वामि कार्तिकेय]

श्री पं० कंलाशचन्द्रजी कृत अर्थ—यथार्थ में जीव का आत्मीयजन उत्तमक्षमादिरूप दशलक्षराधर्म ही है । वह दशलक्षराधर्म सौधर्मादि स्वर्ग में ले जाता है और वही चारों गतियों के दुखों का नाश करता है ।

गाथा ३९३ की टीका में श्री शुभचन्द्राचार्य ने लिखा है—“सौख्येन शर्मणा स्वर्गमुत्स्याद्विजेन सारं श्रेष्ठः ।”

श्री पं० कैलाशचन्द्रजी ने लिखा है—इन दसधर्मों का सार सुख ही है, क्योंकि इनका पालन करने से स्वर्ग और मोक्ष का सुख प्राप्त होता है ।

गाथा ३९५ की टीका—“ततश्च समग्रज्ञानादीनां पात्री भवति । अतः स्वर्गापवर्गफलप्राप्तिः ।” श्री पं० कैलाशचन्द्रजी लिखते हैं—“सम्यग्ज्ञान का पात्र होने से उसे स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥

पूयादिसु णिरदेखो जिणसत्थं जो पढेइ भसीए ।
कम्ममलसोहणट्टं सुयलाहो सुहयरो तस्स ॥ ४६२ ॥

संस्कृत टीका—“श्रुतलाभः सुखकरः स्वर्गमुक्त्वादिशर्मनिष्पादकः ।”

श्री पं० कैलाशचन्द्रजी कृत अर्थ—“आदर, सत्कार, प्रशंसा और धनप्राप्ति की वांछा न करके ज्ञाना-वरणादि कर्मरूपी भल को दूर करने के लिये जो जैनशास्त्रों को पढ़ता पढ़ाता है, उसे स्वर्ग और मोक्ष का सुख प्राप्त होता है ।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ७६ की टीका में पुण्य का लक्षण इसप्रकार कहा गया है—

“पुण्यं शुभकर्म सम्यक्त्वं व्रतदानादिलक्षणं संचिनोति संग्रहीकरोति ।” यहाँ पर सम्यक्त्व को पुण्य अथवा शुभकर्म कहा गया है ।

श्री पं० कैलाशचन्द्रजी पु. २३ पर लिखते हैं—“इन सम्यक्त्व, व्रत, निन्दा गृही आदि भावों से पुण्यकर्म का बंध होता है ।”

श्री धीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य आचारसार में ‘धर्म स्वर्गमोक्षशर्मप्रदमपि’ शब्दों द्वारा लिखते हैं कि धर्म स्वर्ग व मोक्षसुख का देनेवाला है । श्री सोमदेव आचार्य यशस्तिलकचम्पू में ‘धर्मः परापरफलः परापरफल-प्रायःधर्मः’ इन शब्दों द्वारा लिखते हैं कि धर्म पर-अपर अर्थात् स्वर्ग मोक्ष का देनेवाला है । श्री सकलकीर्तिआचार्य प्रश्नोत्तरभावकाचार में ‘दर्शनम् स्वर्गसोपानं; दर्शनं स्वर्गमोक्षकमूलं’ शब्दों द्वारा सम्यक्त्व को स्वर्ग की सोपान अथवा स्वर्ग-मोक्ष का कारण बतलाया है ।

इसप्रकार श्री कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्रादि प्रायः सभी आचार्यों ने सम्यक्त्वादि से पुण्य बंध स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है । प्रश्न यह हो सकता है कि जो पुण्यबंध का कारण है वह मोक्ष का कैसे कारण हो सकता है ?

वदन्ति फलमस्यैव धर्मस्य श्रीजिनेश्वराः ।

नित्याभ्युदयस्वर्गादिसुखं साक्षाद्धि मुक्तिजम् ॥ ३।१०४ ॥ प्रश्नोत्तर भावकाचार

अर्थ—श्री जिनेन्द्र ने धर्म का फल सदा ऐश्वर्य-विभूतियों का प्राप्त होना, स्वर्गसुख प्राप्त होना और साक्षात् मोक्षसुख प्राप्त होना बतलाया है ।

स्थूलदृष्टि से यह बात ठीक है कि जो भाव बन्ध के कारण हैं, उस भाव से संवर निर्जरा व मोक्ष नहीं हो सकता है, किन्तु सम्यग्दृष्टि के जघन्यरत्नत्रय अर्थात् असमग्ररत्नत्रय से जो पुण्यबन्ध होता है वह पुण्यबन्ध भी मोक्ष का कारण है संसार का कारण नहीं है ।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने “स विपक्षकृतोऽवश्यं भोक्षोपायो न बन्धनोपायः ।” इन शब्दों द्वारा बतलाया है कि असमप्ररत्नत्रय से होनेवाला बन्ध मोक्ष का कारण है, संसार का कारण नहीं है । इसी बात को श्री देवसेना-चार्य ने निम्न दो गाथाओं द्वारा स्पष्ट किया है ।

सम्माविट्ठी पुष्णं ण होइ संसारकारणं णियमा ।
 मोक्खस्स होइ हेउं जइ वि णियणं ण सो कुणई ॥ ४०४ ॥
 तम्हा सम्माविट्ठी पुष्णं मोक्खस्स कारणं ह्वई ।
 इय णाऊण गिहत्थो पुष्णं चायरउ जत्तेण ॥ ४२४ ॥ (भाषसंग्रह)

इन दो गाथाओं द्वारा यह बतलाया गया है कि सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियम से संसार का कारण नहीं है मोक्ष कारण है । ऐसा जानकर गृहस्थ को पुण्य का उपार्जन करते रहना चाहिये ।

“भेदज्ञानी स्वकीयगुणस्थानानुसारेण परम्परया मुक्तिकारणभूतेन तीर्थकरनामकर्मप्रकृत्यादिपुण्यस्वरूपेण विविधपुण्यकर्मणा बध्यते ।” (स. सा. गा. १८० टीका पृ. १५५)

भेदज्ञानी अपने गुणस्थान के अनुसार तीर्थकरआदि पुण्यकर्म को बांधता रहता है, वह पुण्यकर्म परम्परा से मुक्ति का कारण है ।

यथा रागादिवोषरहितः शुद्धात्मानुभूतिसहितो निश्चयधर्मो यद्यपि सिद्धगतेरुपादानकारणं भव्यानां भवति तथापि निदानरहितपरिणामोपाजिततीर्थकरप्रकृत्युत्तमसंहननादिविशिष्टपुण्यकर्मणि सहकारीकारणं भवति ।
 (पंचास्तिकाय गाथा ८५ टीका)

यद्यपि राग-द्वेषरहित निश्चयधर्म सिद्धगति के लिये उपादानकारण है तथापि तीर्थकरप्रकृति उत्तमसंहननादि विशिष्ट पुण्यकर्म भी सिद्धगति के लिये सहकारीकारण है ।

आप्तमीमांसा श्लोक ८८ की टीका में श्री अकलंकदेव तथा श्री विद्यानन्द आचार्य “भोक्षस्यापि परम-पुण्यातिशयचारित्र्यविशेषात्मकपुरुषाभ्यामेव संभवात् ।” इन शब्दों द्वारा परमपुण्य तथा अतिशयचारित्र्यरूप विशेष पुरुषार्थ इन दोनों के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति बतलाते हैं ।

इसप्रकार इन आर्षवचनों द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्यक्त्व आदि के द्वारा बदलनेवाला तीर्थकरादि पुण्यकर्म मोक्ष का कारण है बन्ध अर्थात् संसार का कारण नहीं है ।

सम्यक्त्वबोधचारित्र्यलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः ।
 मुख्योपचाररूपः प्रापयति परपदं पुरुषम् ॥२२२॥ (पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय)

इसप्रकार मुख्य (पूर्ण समग्र) और उपचार (जघन्य असमग्र) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यलक्षणवाला मोक्षमार्ग आत्मा को परमात्मपद प्राप्त कराता है ।

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण ।
 अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥२२५॥ (पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय)

इसप्रकार अशुद्धनिश्चयनय से सम्यक्त्वादि रत्नत्रय से बंध सिद्ध हो जाने पर और शुद्ध निश्चयनय से बंध नहीं होने से किसी का एकांतपक्ष नहीं ग्रहण करना चाहिये। गोपी की मथानी का दृष्टान्त देते हुए श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है कि यदि एकांतपक्ष ग्रहण किया जायगा तो मोक्ष प्राप्त नहीं होगा। इसप्रकार रत्नत्रय से बंध व मोक्ष दोनों कार्य होते हैं।

—जं. ग. 15 द 29-4-71/ 5-6/7-5/.....

नय, निक्षेप

व्यवहारनय का अर्थ

शंका—व्यवहारनय का क्या अर्थ है ?

समाधान—व्यवहार का अर्थ है विकल्प, भेद तथा पर्याय। कहा भी है—

“व्यवहारो य वियम्पो भेदो तह पज्जओ ति एयट्ठो ।” गो. जी. ५७२

“व्यवहारेण विकल्पेन भेदेन पर्यायेण वेशितः कथित इति व्यवहारवेशितो व्यवहारनयः ।”

समयसार पृ. १४ अजमेर से प्रकाशित ।

व्यवहार, विकल्प, भेद, पर्याय ये एक अर्थ के वाचक शब्द हैं। व्यवहारनय का विषय विकल्प, भेद तथा पर्याय है। जो भेद से, विकल्प से या पर्याय से कथन करे वह व्यवहारनय है।

— जं. ग. 4-3-71/V/ मुलतानसिंह

निश्चय और व्यवहारनय का स्वरूप

शंका—निश्चयनय और व्यवहारनय का वास्तविक स्वरूप क्या है ? क्या दोनों नयों का ग्रहण करना उपादेय है ? यदि है तो क्यों और नहीं है तो क्यों ?

समाधान—नय के द्वारा पदार्थ का ज्ञान होता है। जैसे कहा भी है—

“प्रमाणनयैरधिगमः” ॥ १।६ ॥ त. सू. ।

अर्थ—प्रमाण और नयों से पदार्थों का ज्ञान होता है।

“प्रमाणाविव नयवाक्याद्वस्त्ववगममवलोक्य ‘प्रमाणनयैरधिगमः ।’ इति प्रतिपादितत्वात् ।”

ज. ध. पृ. १ पृ. २०९ ।

अर्थ—जिसप्रकार प्रमाण से वस्तु का बोध होता है उसीप्रकार नय वाक्य से भी वस्तु का ज्ञान होता है, यह देखकर तत्त्वार्थसूत्र में प्रमाणनयैरधिगमः, इसप्रकार प्रतिपादन किया है।

“किमर्थं नय उच्यते ? स एव यथात्म्योपलब्धिनिमित्तत्वाद्भावानां श्रेयोऽपदेशः ।”

अस्यार्थः—श्रेयसो मोक्षस्य अपदेशः कारणम्; भावानां यथात्म्योपलब्धिनिमित्तभावात् ।”

ज. ध. पु. १ पृ. २११ ।

अर्थः—नय का कथन किसलिये किया जाता है ? यह नय पदार्थों का जैसा स्वरूप है उसरूप से उनके ग्रहण करने में कारण है, इसलिये नय का कथन किया जाता है । शब्दार्थ यह है कि नय श्रेयस् अर्थात् मोक्ष के उपदेश का कारण है, क्योंकि वह पदार्थों के यथार्थरूप से ग्रहण करने में निमित्त है ।

“स एष नयो द्विविधः-द्रव्याधिकः पर्यायाधिकश्चेति ।”

अर्थ—वह नय दो प्रकार का है—द्रव्याधिकनय और पर्यायाधिकनय ।

श्री भृमृतचन्द्राचार्य ने भी पंचास्तिकाय गाथा ४ की टीका में कहा है—

“द्वौ हि नयो भगवता प्रणीतौ द्रव्याधिकः पर्यायाधिकश्च । तत्र न खल्वेकनयायत्ता देशना, किन्तु तदुभयायत्ता ।”

अर्थ—भगवान ने दो ही नय कहे हैं—द्रव्याधिक और पर्यायाधिक । दिव्यध्वनि में कथन एकनय के आधीन नहीं होता है, किन्तु दो नयों के आधीन होता है ।

“द्रव्यमेवप्रयोजनमस्येति द्रव्याधिकः । पर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायाधिकः ।” (आलापपद्धति)

जिस नय का प्रयोजन (विषय) द्रव्य ही है वह द्रव्याधिकनय है । जिस नय का प्रयोजन पर्याय ही है, वह पर्यायाधिकनय है ।

निश्चयव्यवहारणया मूलमभेदा जयाण सव्वाणं ।

निश्चय साहणहेओ वव्वपज्जस्थिया मुणह ॥ आलापपद्धति ।

अर्थ—नयों में मूलभूत निश्चय और व्यवहार ये दो नय माने हैं । उनमें से निश्चय नय द्रव्याश्रित और व्यवहारनय पर्यायाश्रित है ऐसा समझना चाहिये ।

इस प्रकार द्रव्याधिकनय का ही नामान्तर निश्चयनय है और पर्यायाधिकनय का ही नामान्तर व्यवहारनय है । इन दोनों ही नयों के द्वारा वस्तु का यथार्थज्ञान होता है । व्यवहारनय असत्य (भ्रूठ) भी नहीं है, क्योंकि इसका श्री गौतम गणधर ने कथन किया है । ज. ध. पु. १ पृ. ८ पर कहा भी है—

“व्यवहारणं पउच्च पुण गोदमसामिणा चतुवीसण्हमणियोगद्वाराणमादीए मंगलं कवं । ण च व्यवहारणओ चप्पलओ; तसो सिस्साण पउत्तिदंसणादो । जो बहुजीवाणुगहकारी व्यवहारणओ सो चेष समस्सिवव्वो त्ति मलेणावहारिय गोदमथेरेण मंगलं तस्य कवं ।”

अर्थ—गौतमगणधर ने व्यवहारनय का आश्रय लेकर कृति आदि चौबीस अनुयोग द्वारों के आदि में ‘णसो जिणाणं’ इत्यादिरूप से मंगल किया है । यदि कहा जाय व्यवहारनय असत्य है, तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें शिष्यों की प्रवृत्ति देखी जाती है । अतः जो व्यवहारनय बहुत जीवों का अनुग्रह करने वाला है उसी का आश्रय करना चाहिये, ऐसा मन में निश्चय करके गौतमस्थविर (गणधर) ने चौबीस अनुयोगद्वारों के आदि में मंगल किया है ।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी समयसार गाथा ४६ की टीका में कहा है—

“तमन्तरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःशंकमुपमर्दनेन हिंसा-
ऽभावाद्भवत्येव बन्धस्याभावः । तथा रक्तोद्विष्टोक्मिहो जीवो बद्धयमानो मोक्षनीय इति तमन्तरेण तु रागद्वेष मोहे-
भ्यो जीवस्य परमार्थतो भेद दर्शनेन मोक्षोपाय परिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः ।”

यदि व्यवहारनय को न कहा जावे अर्थात् यदि व्यवहारनय का उपदेश न दिया जाय और परमार्थनय (निश्चयनय) जो जीव को शरीर से भिन्न कहता है, यह एकांत किया जाय तो निःशंकपने से त्रस-स्थावर जीवों का घात करना सिद्ध हो जायगा । जैसे भस्म के मर्दन करने में हिंसा का अभाव है, उसी तरह त्रस-स्थावर जीवों के मारने में भी हिंसा सिद्ध नहीं होगी, अपितु हिंसा का अभाव ठहरेगा तब जीवों के घात होने से बन्ध का भी अभाव ठहरेगा । परमार्थ (निश्चय) नय से रागद्वेषमोह से जीव को भिन्न दिखाया है, अतः रागी-द्वेषी, मोही-जीव कर्म से बन्धता है, उसको छुड़ाना है ऐसा मोक्षमार्ग का उपदेश व्यर्थ हो जायगा । तब मोक्ष का भी अभाव ठहरेगा । निश्चयनय से न बन्ध है और न मोक्ष है इससे जिनेन्द्र द्वारा दिया गया मोक्षमार्ग का उपदेश व्यर्थ हो जाता है ।

पंचास्तिकाय में भी कहा है—

“व्यवहारनयेन भिन्नसाध्य साधनभाक्षमवलम्ब्यानादिभेदवासितबुद्धयः सुखेनैवावतरन्ति तीर्थं प्राथमिकाः ।”

अर्थ—अनादिकाल से भेदवासित बुद्धि होने के कारण प्राथमिकजीव व्यवहारनय से भिन्न साध्य-साधन-
भावका अवलम्बन लेकर सुख से (सुगमरूप से) तीर्थ (मोक्षमार्ग) अवतरण करते हैं ।

—जै. ग. 11-12-69/VI/ ट. ला. जैन

(१) निश्चय व्यवहार का स्वरूप-विवेचन

(२) द्रव्यों के सामान्य तथा विशेष स्वभाव

शंका—आत्मा का निश्चय तो आत्मा में है, किन्तु आत्मा का व्यवहार पर में है ? या आत्मा का निश्चय-व्यवहार आत्मा में है और पुद्गल का निश्चय-व्यवहार पुद्गल में है, जैसे आत्मा में जान तो निश्चय और जानना उसका व्यवहार है, तथा पुद्गल में वर्ण सो निश्चय और पीत-पचपना सो व्यवहार अर्थात् द्रव्य सो निश्चय और परिणमन सो व्यवहार, क्या ऐसा निश्चयव्यवहार का स्वरूप है ?

समाधान—‘निश्चय या व्यवहार’ द्रव्य, गुण या पर्याय नहीं है । अतः यह प्रश्न ही नहीं उठता कि आत्मा का निश्चय तो आत्मा में है और आत्मा का व्यवहार पर में है, अथवा पुद्गल का निश्चय-व्यवहार पुद्गल में है ।

निश्चय और व्यवहार ये दो नय हैं । इसलिये सर्व प्रथमनय का लक्षण कहा जाता है—

उच्चारियमत्थपदं णिक्खेत्तं वा कयं तु दट्ठण ।

अत्थं णयंति तच्चंतमिद्वि तदो ते णया भणिया ॥ ध. पु. १ पृ. १०

अर्थ—उच्चारण किये गये अर्थपद और उसमें किये गये निक्षेप को देखकर अर्थात् समझकर पदार्थ को ठीक निर्णय तक पहुँचा देता है, इसलिये वे नय कहलाते हैं ।

मोक्षशास्त्र में भी “प्रमाणनयैरधिगमः” द्वारा यह कहा गया है कि नय से वस्तु का बोध होता है ।

“तेषामर्थानामस्तित्वनास्तित्वनित्यानित्याद्यनन्तात्मनां जीवादीनां ये विशेषाः पर्यायाः, तेषां प्रकर्षेण रूपकः प्ररूपकः निरुद्धदोषानुषङ्गाद्वारेणेत्यर्थः स नयः ।” [ज. ध. पु. १ पृ. २१०]

अर्थ—अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व आदि अनन्तधर्मात्मक जीवादिपदार्थों का जो विशेष अर्थात् पर्याय है उनका प्रकर्ष से (दोष के सम्बन्ध से रहित होकर) जो प्ररूपण करता है वह नय है ।

“प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नयः ।”

अर्थात्—जो प्रमाण के द्वारा प्रकाशित किये गये अर्थ के किसी एक धर्म का कथन करता है वह नय है ।

किसी एकधर्म की मुख्यता से जो वस्तु का ज्ञान होता है वह नय है ।

लोयाणं व्यवहारं धम्म विवक्खाइ जो पसाहेदि ।

सुय-णाणस्स वियप्यो सो वि णओ लिंग-सभूवो ॥ २६३ ॥ [का. अ.]

अर्थ—जो वस्तु के एकधर्म की विवक्षा से लोकव्यवहार को साधता है वह नय है । नय श्रुतज्ञान का भेद है तथा लिंग से उत्पन्न होता है ।

अध्यात्म में उस नय के दो भेद कहे हैं निश्चय और व्यवहार । निश्चयनय भी शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय के भेद से दो प्रकार का है । व्यवहारनय भी सद्भूत और असद्भूत के भेद से दो प्रकार का है ।

आलापपद्धति में श्री देवसेनाचार्य ने इसप्रकार कहा है—

“तावन्मूलनयो द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च । तत्र निश्चयनयोऽभेदविषयो । व्यवहारो भेदविषयः । तत्र निश्चयो द्विविधः शुद्धनिश्चयोऽशुद्धनिश्चयश्च । व्यवहारो द्विविधः सद्भूतव्यवहारोऽसद्भूतव्यवहारश्च । तत्रैकवस्तु-विषयः सद्भूतव्यवहारः, भिन्न वस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहारः ।”

अर्थ—मूलनय दो हैं निश्चय और व्यवहार । निश्चयनय अभेद और व्यवहारनय भेद को विषय करनेवाला है । निश्चयनय के दो भेद हैं शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय । व्यवहारनय दो प्रकार का है सद्भूतव्यवहार और असद्भूतव्यवहार । एक ही वस्तु को भेदरूप ग्रहण करे तो सद्भूतव्यवहारनय है तथा भिन्न-भिन्न वस्तुओं को सम्बन्धरूप ग्रहण करे तो असद्भूतव्यवहारनय है ।

“असद्भूतव्यवहारो विविधः उपचरितानुपचरितभेदात् । तत्रसंश्लेषरहितवस्तुसंबन्धविषय उपचरितासद्भूत-व्यवहारो यथा देवदत्तस्य धनमिति । संश्लेषसहितवस्तुसम्बन्धविषयोऽनुपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा जीवस्य शरीरमिति ।”

अर्थ—असद्भूतव्यवहारनय दो प्रकार का है उपचरित अनुपचरितभेदसे । एकक्षेत्रावगाहसम्बन्धरहित वस्तुओं को सम्बन्धरूप से ग्रहण करे तो उपचरित-असद्भूत व्यवहारनय है । जैसे देवदत्त का धन इत्यादि । एक-क्षेत्रावगाह पदार्थों को सम्बन्धरूप ग्रहण करे तो अनुपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय है । जैसे जीव का शरीर इत्यादि ।

शंकाकार का यह लिखना आत्मा में ज्ञान तो निश्चय तथा पुद्गल में वर्ण तो निश्चय । यह उचित नहीं है, क्योंकि ये वाक्य गुण-गुणी में भेद के द्योतक हैं । ‘भेद’ व्यवहारनय का विषय है जैसा कि उपर्युक्त आगम में कहा गया है अथवा सभयसार में भी कहा गया है ।

व्यवहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं ।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥ ७ ॥

अर्थ—जीव के चारित्र, दर्शन, ज्ञान व्यवहार से कहे हैं। ज्ञान भी नहीं है, चारित्र नहीं, दर्शन नहीं। जायक है इसलिये शुद्ध है।

जानना तथा पीत-पक्षपना ये ज्ञानगुण और वर्णगुण की पर्याय हैं। ये भी व्यवहारनय का विषय है। इसप्रकार 'जीव में ज्ञान और जानना तथा पुद्गल में वर्ण और पीत-पक्षपना यह सब व्यवहारनय का विषय है, निश्चयनय का विषय नहीं है।

जिनबिम्ब के दर्शन, पूजन आदि करते समय भक्त के उपयोग में वह जिनबिम्ब पुद्गल है या जिनेन्द्र भगवान है। उस जिनबिम्ब में भक्त को वीतरागता का दर्शन हो रहा है या श्वेतादिवर्ण का दर्शन हो रहा है ?

यदि जिनबिम्ब में वीतरागता का दर्शन न होता तो जिनबिम्बदर्शन सम्यग्दर्शनोत्पत्ति का कारण नहीं हो सकता था, किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि श्री पूज्यपाद तथा श्री वीरसेनाचार्य ने जिनबिम्बदर्शन को सम्यग्दर्शनोत्पत्ति का कारण बतलाया है।

स. सि. में अ. १ सूत्र ७ की टीका में सम्यग्दर्शन के साधन का कथन करते हुए 'तिरश्चां केषाञ्चित् जातिस्मरणं, केषाञ्चिद्धर्मश्रवणं, केषाञ्चिज्जिनबिम्बदर्शनम् ।' इन वाक्यों द्वारा यह कहा है कि तिर्यचों में किन्हीं के जातिस्मरण, किन्हीं के धर्मश्रवण और किन्हीं के जिनबिम्बदर्शन से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।

श्री गौतमगणधर ने भी द्वादशांग में निम्न सूत्र कथन किया है—

“तिरिक्खा निच्छाइट्ठी कविहि कारलेहि पढमसम्मत्तं उप्पादेंति ? ॥ २१ ॥

तीहि कारलेहि पढमसम्मत्तमुप्पादेंति केइं जाइस्सरा, केइं सोऊण, केइं जिणबिंबवट्ठूण ॥ २२ ॥

[ष. ख. पु. ६ पृ. ४२७]

अर्थ—तिर्यच मिथ्यादृष्टि जीव कितने कारणों से प्रथमसम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं ? तिर्यच तीनकारणों से प्रथमसम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं, कितने ही जातिस्मरण से, कितने ही धर्मोपदेश सुनकर और कितने ही जिनबिम्ब के दर्शन करके।

इस द्वादशांग के सूत्र पर श्री वीरसेनाचार्य ने निम्नप्रकार टीका रची है—

“कथं जिणबिंबदंसणं पढमसम्मत्तुप्पत्तीए कारणं ? जिणबिंबदंसणेण णिधत्तणिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादि-कम्मकलावस्स खयदंसणादो ।”

अर्थ—जिनबिम्बदर्शन प्रथमसम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण किसप्रकार होता है ? जिनबिम्बदर्शन से निधत्ति और निकाचितरूप भी मिथ्यात्वादि कर्मकलापका क्षय देखा जाता है, जिससे जिनबिम्बका दर्शन प्रथमसम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण होता है।

'वीतरागता' जीव का गुण है और वीतरागता का दर्शन अचेतन जिनबिम्ब में होता है।

श्री देवसेनाचार्य ने आलापपद्धति में द्रव्य के २१ स्वभाव कहे हैं “स्वभावाः कथ्यन्ते । अस्तिस्वभावः, नास्तिस्वभावः, नित्यस्वभावः, नित्यअनित्यस्वभावः, एक स्वभावः, अनेकस्वभावः, भेदस्वभावः, अभेदस्वभावः, भव्यस्वभावः, अभव्यस्वभावः, परमस्वभावः द्रव्याणामेकादशसामान्यस्वभावाः, चेतनस्वभावः अचेतनस्वभावः, मूर्तस्वभावः, अमूर्त स्वभावः, एकप्रदेशस्वभावः, अनेकप्रदेशस्वभावः, विभावस्वभावः, शुद्धस्वभावः, अशुद्धस्वभावः, उपचरितस्वभावः, एते द्रव्याणां दश विशेषस्वभावाः । जीवपुद्गलयोरेकविंशतिः ।”

अर्थ—स्वभाव का कथन किया जाता है । अस्तिस्वभाव, नास्तिस्वभाव, नित्यस्वभाव, अनित्यस्वभाव, एकस्वभाव, अनेकस्वभाव, भेदस्वभाव, अभेदस्वभाव, भव्यस्वभाव, अभव्यस्वभाव, परमस्वभाव, द्रव्यों के ये ग्यारह सामान्यस्वभाव हैं । चेतनस्वभाव, अचेतनस्वभाव, मूर्तस्वभाव, अमूर्तस्वभाव, एक प्रदेशस्वभाव, अनेक प्रदेशस्वभाव विभाव स्वभाव, शुद्ध स्वभाव, अशुद्ध स्वभाव, उपचरित स्वभाव ये द्रव्यों के दश विशेषस्वभाव हैं । जीव और पुद्गल में ये २१ स्वभाव होते हैं ।

यहाँ पर जीव में भी अचेतन व मूर्तस्वभाव कहा गया है जब कि अचेतनत्व और मूर्तत्व पुद्गल के गुण हैं । पुद्गल में चेतनस्वभाव और अमूर्तस्वभाव कहा गया है । जबकि चेतनत्व और अमूर्तत्व जीव के गुण हैं ।

श्री प्रवचनसार गाथा ९३ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी कहा है—

“तत्रानेकद्रव्यात्मकव्यप्रतिपत्तिनिबन्धनो द्रव्यपर्यायः । स द्विविधः, सामान्यजातीयोऽसमानजातीयश्च । तत्र समानजातीयो नाम यथा अनेकपुद्गलात्मकोद्दयणुकस्त्रयणुक इत्यादिः, असमानजातीयो नाम जीवपुद्गलात्मको देवो मनुष्य इत्यादिः ।”

अर्थ—अनेकद्रव्य मिलकर जो एक पर्याय होती है सो द्रव्यपर्याय है । यह द्रव्यपर्याय दो प्रकार है, एक समानजातीय, दूसरा असमानजातीय । समान जातीय जैसे अनेक पुद्गलरूप द्वचणुक, त्रिअणुक आदि । असमानजातीय जैसे जीव और पुद्गल मिलकर देव, मनुष्य आदि पर्याय ।

इससे सिद्ध होता है कि जीव और पुद्गल की मिलकर एकपर्याय होती है जो असमानजाति द्रव्यपर्याय है ।

नय विवक्षा से आर्षग्रन्थों के उपर्युक्त वाक्यों का कथन सिद्ध हो जाता है । अनेकान्तदृष्टि में यह सब सुघटित हो जाता है और एकान्तदृष्टि से इन सब आर्षवाक्यों में विरोध दिखाई देता है ।

—जं. म. 15-11-65/9-10/ ज्ञानचन्द

किसी नय को परमार्थभूत तथा किसी को अपरमार्थभूत कहना ठीक नहीं

शंका—तत्त्वमीमांसा में श्री पं० कूलचन्दजी ने महासत्ता को विषय करने वाले परसंग्रहनय को परमार्थभूत कहा और अपरसंग्रहनय को अपरमार्थभूत कहा है । इसकी समीक्षा में यह कहा गया है—

‘परसंग्रहनय के उवाहरण में महासत्ता को स्वीकार कर अपरसंग्रहनय को अपरमार्थभूत ठहराना सर्वथा आगमविरुद्ध है, क्योंकि जिस महासत्ता में अवान्तरसत्ता विद्यमान नहीं है, वह महासत्ता भी कैसी ।’ इस पर शंका यह है कि—अवान्तर सत्ता कौनसी है ?

समाधान—विश्व में जितने भी पदार्थ हैं वे सब सप्रतिपक्ष हैं । इसीलिये श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने पंचास्तिकाय गाथा ८ में ‘सर्ववपयथा सप्पडिबबद्धा’ कहा है । इस सिद्धान्त के अनुसार महासत्ता की प्रतिपक्ष अवान्तरसत्ता है ।

महासत्ता की अपेक्षा अवान्तर सत्ता असत् है और अवान्तर सत्ता की अपेक्षा महासत्ता असत् है। इसप्रकार सत्ता की प्रतिपक्ष असत्ता भी है।

श्री अभूतचन्द्राचार्य ने इस गाथा ८ की टीका में कहा भी है—

“द्विविधा हि सत्ता महासत्तावान्तरसत्ता च । तत्र सर्वपदार्थसार्थव्यापिनी सादृश्यास्तित्वसूचिका महासत्ता प्रोक्तैव । अन्या तु प्रतिनियतवस्तुवर्तिनी स्वरूपास्तित्वसूचिकाऽवान्तरसत्ता । तत्र महासत्ताऽवान्तरसत्तारूपेणऽसत्ता-
ऽवान्तरसत्ता च महासत्तारूपेणासत्तेत्यसत्तासत्तायाः ।

अर्थ—सत्ता दो प्रकार की है—महासत्ता और अवान्तर सत्ता। उनमें सर्वपदार्थ समूह में व्याप्त होने वाली, सादृश्यास्तित्व को सूचित करनेवाली महासत्ता अथवा सामान्यसत्ता अथवा सादृश्यसत्ता है। दूसरी प्रत्येक पदार्थ में अथवा वस्तु में निश्चितरूप से रहनेवाली, स्वरूप अस्तित्व को सूचित करनेवाली अवान्तरसत्ता अथवा विशेषसत्ता है। वहाँ महासत्ता अवान्तरसत्तारूप से असत्ता है और अवान्तरसत्ता महासत्तारूप से असत्ता है। इसलिये सत्ता का प्रतिपक्ष असत्ता है।

श्री जयसेनाचार्य ने भी कहा है—‘शुद्धसंग्रहनयविवक्षायामेका महासत्ता अशुद्धसंग्रहनयविवक्षायां व्यवहार-
नयविवक्षायां वा सर्वपदार्थसविश्वरूपाद्यवान्तरसत्ता ।....अथैका महासत्ता शुद्धसंग्रहनयेन, सर्वपदार्थाद्यवान्तरसत्ता
व्यवहारनयेनेति नयद्वयव्याख्यानं कर्तव्यं ।’

अर्थ—शुद्धसंग्रहनय की अपेक्षा एक महासत्ता है, अशुद्धसंग्रहनय की अर्थात् व्यवहारनय की अपेक्षा से सर्व-
पदार्थों में अपने-अपनेरूप से रहनेवाली अर्थात् नानारूप वाली अवान्तर सत्ता है। अथवा महासत्ता शुद्धसंग्रहनय का
विषय है तथा सर्वपदार्थों में पृथक्-पृथक् रूप से रहनेवाली अवान्तरसत्ता व्यवहारनय का विषय है। ऐसे दोनों नयों
से व्याख्यान करना योग्य है।

शुद्धसंग्रहनय को परसंग्रह नय और अशुद्धसंग्रहनय को अपरसंग्रहनय भी कहते हैं। ये दोनों नय यदि
परस्पर सापेक्ष हैं तो सम्यक् है यदि निरपेक्ष हैं तो मिथ्या हैं।

श्री समन्तभद्राचार्य ने श्री विमलजिन का स्तवन करते हुए स्वयम्भूस्तोत्र में कहा भी है—

य एव नित्य-क्षणिकादयो नया, मिथोऽनपेक्षाः स्वपर-प्रणाशिनः ।

त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः परस्परैक्षाः स्वपरोपकारिणः ॥६०॥

नित्य, क्षणिकादि नय परस्पर में निरपेक्ष होने से स्वपर दोनों का नाश करनेवाले हैं इसलिये दुर्नय अर्थात्
मिथ्या हैं। वे ही नय परस्पर सापेक्ष होने से (एक दूसरे की अपेक्षा रखने से) अपना और पर का भला करने
वाले हैं, इसलिये सम्यगनय हैं।

“निरपेक्षाः नयाः मिथ्यासापेक्षा वस्तुतेऽर्थकृत् ।” (स्वा० का० अनु० गा० २६२ की टीका) निरपेक्षनय
मिथ्या और सापेक्षनय वस्तुसाधक हैं।

तम्हा मिच्छाविट्ठी सव्वे वि णया सपक्खपडिबद्धा ।

अण्णोण्णाणिस्सिया उण सहति सम्मत्त सव्भावं ॥ १०२ ॥

ज. घ. पु. १ पृ. २४९ ।

केवल अपने-अपने पक्ष से प्रतिबद्ध ये सभी नय मिथ्या हैं, परन्तु यदि ये सभी नय परस्पर सापेक्ष हों तो समीचीनपने को प्राप्त होते हैं (तत्र सम्यक् हैं) ।

णिययवयणिज्जसच्चा सव्वणया परवियाल्लणे मोहा ।

ते उण ण विट्ठसमओ विभयई सच्चे व अल्लिए वा ॥ ज. ध. पु. १ पृ. ३५७

ये सभी नय अपने-अपने विषय के कथन करने में समीचीन हैं और दूसरे नयों के निराकरण में मूढ़ हैं । अनेकान्तरूप समय के ज्ञाता पुरुष 'यह नय सच्चा है और यह भ्रूठा है'; इसप्रकार का विभाग नहीं करते हैं ।

अतः किसी नय को परमार्थभूत और किसी नय को अपरमार्थभूत कहना आर्षग्रन्थ विरुद्ध है ।

—जं. ग. 8-8-68/VI/ शोभनलाल

सभी सापेक्ष नय सम्यक् हैं

शंका—व्यवहारनय भूतार्थ है या अभूतार्थ है ? यदि भूतार्थ है तो क्यों ? यदि अभूतार्थ है तो क्यों ? भूतार्थ और अभूतार्थ से क्या अभिप्राय है ?

समाधान—शंका से ऐसा प्रतीत होता है कि शंकाकार का अभिप्राय अध्यात्म व्यवहारनय से है । अतः अध्यात्मदर्शि से इस शंका का समाधान होगा । सर्व प्रथम नयके लक्षण पर विचार किया जाता है ।

प्रमाण के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थ के एकदेश में वस्तु के निश्चय करने को नय कहते हैं^१ । अनन्त-पर्यायात्मक वस्तु की किसी एकपर्याय का ज्ञान करते समय निर्दोष युक्ति की अपेक्षा से जो दोषरहित प्रयोग किया जाता है वह नय है ।^२ जो प्रमाण के द्वारा प्रकाशित किये गये अर्थ के विशेष का कथन करता है वह नय है ।^३ यह नय, पदार्थों का जैसा स्वरूप है उसरूप से उनके ग्रहण करने में निमित्त होने से मोक्ष का कारण है^४ । जिसप्रकार प्रमाण से वस्तु का बोध होता है उसीप्रकार नय वाक्य से भी वस्तु का ज्ञान होता है, यह देखकर तत्त्वार्थसूत्र में 'प्रमाणनयैरधिगमः' इसप्रकार प्रतिपादन किया है (ज. ध. पु. १ पृ. २०९) पद के उच्चारण करने पर और उसमें किये गये निक्षेप को देखकर (समझकर) यहाँ पर इस पद का क्या अर्थ है इसप्रकार ठीक रीति से अर्थ तक पहुँचा देते हैं अर्थात् ठीक-ठीक अर्थ का ज्ञान कराते हैं, इसलिये वे नय हैं । (ध. पु. १ पृ. १०)

जितने वचनमार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय हैं । परसमयों का वचन सर्वथा कहा जाने से मिथ्या है और जौनों का वचन कथंचित् कहा जाने से सम्यक् है । (प्रवचनसार परिशिष्ट)

१. "प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशेववस्तुव्यवसायो नयः ।" (ध. पु. १ पृ. ८३; ज. ध. पु. १ पृ. ६१ व १६६) ।

२. "अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमपर्यायाधिगमे कर्तव्ये जात्ययुक्तव्यपेक्षो निरवद्यप्रयोगो नयः ।
(ज. ध. पु. १ पृ. २१०)

३. "प्रमाणप्रकाशितार्थनिक्षेपपरूपको नयः ।" (ज. ध. पु. १ पृ. २१०) ।

४. "स एष वाचात्मनोपलब्धिनिमित्तत्वाद्भावानां श्रेयोपदेनः ।" (ज. ध. पु. १ पृ. २११)

ये सभी नय यदि परस्पर निरपेक्ष होकर वस्तु का निश्चय कराते हैं तो मिथ्यादृष्टि हैं, क्योंकि एक दूसरे की अपेक्षा के बिना ये नय जिसप्रकार की वस्तु का निश्चय कराते हैं वस्तु वैसी नहीं है^१ । द्रव्याधिक और पर्यायाधिकनय का, अर्थात् निश्चयनय और व्यवहारनय का जो जुदा-जुदा विषय है वह द्रव्य का लक्षण नहीं है, इसलिये अलग-अलग दोनों मूलनय मिथ्यादृष्टि हैं । सर्वथा द्रव्याधिक (निश्चय) नय या सर्वथा पर्यायाधिक (व्यवहार) नय के मानने पर संसार, सुख, दुख, बंध, मोक्ष कुछ भी नहीं बन सकता है^२ । केवल अपने-अपने पक्ष से प्रतिबद्ध ये सभी नय मिथ्यादृष्टि हैं । परन्तु यदि ये सभी नय सापेक्ष हों तो समीचीन हैं ।^३ घटादि पदार्थ केवल अन्वयरूप नहीं हैं, क्योंकि उनमें भेद भी पाया जाता है तथा केवल भेदरूप भी नहीं हैं क्योंकि उनमें अन्वय भी पाया जाता है^४ । द्रव्याधिक (निश्चय) नय नियम से अपने विरोधीनयों के विषय स्पर्श से रहित नहीं है और उमीप्रकार पर्यायाधिकनय (व्यवहारनय) भी नियम से अपने विरोधीनय के विषयस्पर्श से रहित नहीं है । किन्तु विवक्षा से इन दोनों में भेद पाया जाता है ।^५

द्रव्याधिक (निश्चय) और पर्यायाधिक (व्यवहार) नय एकान्त से मिथ्यादृष्टि ही हैं ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो नय परपक्ष का निराकरण नहीं करते हुए ही अपने पक्ष के अस्तित्व का निश्चय करने में व्यापार करते हैं उनमें कथंचित् समीचीनता पाई जाती है । ये सभी नय अपने-अपने विषयके कथन करने में समीचीन हैं और दूसरे नयों के निराकरण करने में मूढ़ हैं । अनेकान्तरूप समय के ज्ञाता पुरुष 'यह नय सच्चा है और यह नय झूठा है', इसप्रकार का विभाग नहीं करते हैं^६ । सुनयों की प्रवृत्ति सापेक्ष होती है इसलिये उनमें कुछ भी कठिनाई नहीं है^७ । जो नय प्रतिपक्षनय के निराकरण में प्रवृत्ति करता है वह नय समीचीन नहीं होता है ।^८

नय का लक्षण तथा सापेक्षनय समीचीन और निरपेक्षनय असमीचीन, इसप्रकार नय का सामान्य कथन हो जाने के पश्चात् व्यवहारनय के विषयों पर विचार होता है । समयसार आत्मख्याति में व्यवहारनय के तीन विषय कहे गये हैं, १. द्रव्य में गुणकृत भेद (गाथा ७) २. द्रव्य में पर्यायकृत भेद (गाथा ४६ व ५६), ३. पराश्रित कथन (गाथा २७२ की टीका) । व्यवहारनय के इन तीन विषयों की अपेक्षा से आत्म (जीव) द्रव्य का विचार करने पर ये तीनों विषय आत्मद्रव्य में पाये जाते हैं ।

१. आत्मा में दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य ये तीन गुण पाये जाते हैं । यदि द्रव्य में गुणकृतभेद स्वीकार न किया जावे तो, प्रथम क्षायिकसम्पद्दर्शन (चौथे से सातवें गुणस्थान तक), उसके पश्चात् क्षायिकचारित्र्य (बारहवें गुणस्थान में) और उसके पश्चात् क्षायिकज्ञान (तेरहवें गुणस्थान में) होता है, ऐसा तीनों गुणों के क्षायिक होने में कालकृत भेद सम्भव नहीं हो सकता । आज तक किसी भी जीवके, दर्शन, चारित्र्य, ज्ञान ये तीनों गुण युगपत् क्षायिक नहीं हुए और न भविष्य में होंगे, क्रमशः क्षायिक होते हैं, हुए थे और होंगे । दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य का लक्षण तथा कार्य भी भिन्न-भिन्न है । इससे यह सिद्ध हो जाता है कि आत्म-द्रव्य में ये तीन पृथक्-पृथक् गुण हैं । अतः व्यवहारनय का विषय 'गुणकृत भेद' आत्मद्रव्य में किसी अपेक्षा से पाया जाता है । प्रवचनसार गाथा ९३ में भी कहा है कि द्रव्यगुणात्मक है । अभेद की दृष्टि में गुणकृत भेद दिखाई नहीं देता है ।

१. ज. ध. पु. १ पृ. २४५ ।

२. ज. ध. पु. १ पृ. २४८ ।

३. ज. ध. पु. १ पृ. २४६-५० ।

४. ज. ध. पु. १ पृ. २५५ ।

५. ज. ध. पु. १ पृ. २५६ ।

६. ज. ध. पु. १ पृ. २५७ ।

७. ज. ध. पु. १ पृ. २८० ।

८. ज. ध. पु. ३ पृ. २६२ ।

२. यद्यपि स्वभाव की अपेक्षा से सभी आत्माएँ समान हैं तथापि किन्हीं जीवों के वह स्वभाव व्यक्त हो गया है और किन्हीं जीवों के वह स्वभाव व्यक्त नहीं हुआ है। सभी जीवों के वह स्वभाव व्यक्त है, यदि ऐसा मान लिया जावे तो धर्मोपदेश व धर्माचरण की कोई आवश्यकता न रहेगी तथा सभी केवलज्ञानी व सुखी होने चाहिये, किन्तु वर्तमान में हम सब न तो केवलज्ञानी हैं और न सुखी हैं। प्रतिसमय अपने ही अन्तरंग में होने वाले सूक्ष्म-परिणमन हमको ज्ञात नहीं होते तथा नानाप्रकार की आकुलताओं के कारण हम निरन्तर दुःखी रहते हैं। इससे सिद्ध हो जाता है कि वह स्वभाव हममें अभिव्यक्त नहीं हुआ है स्वभाव की व्यक्तता और अव्यक्तता ये दो अवस्थाएँ आत्मद्रव्य की हैं। अतः व्यवहारनय का विषय 'पर्यायकृत भेद' आत्मद्रव्य में किसी अपेक्षा पाया जाता है। प्रवचनसार गाथा १० वीं में स्वयं श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा कि पर्याय के बिना पदार्थ नहीं और पदार्थ के बिना पर्याय नहीं है। पदार्थ द्रव्य, गुण और पर्याय में रहनेवाला और अस्तित्व से बना हुआ है। इसीप्रकार श्री उमास्वामी आचार्य ने भी मो. शा. अ. ५ सूत्र ३८ में कहा है कि 'द्रव्य गुण पर्याय वाला है।' अतः इन आगम प्रमाणों से भी द्रव्य में गुणअपेक्षित व पर्यायापेक्षित भेद सिद्ध हो जाते हैं।

३. व्यवहारनय के तीसरे विषय 'पराश्रित' पर विचार करने से वह भी जीवआत्मा में पाया जाता है। ज्ञानावरणादि चार घातियाकर्मों का नाश हो जाने पर आत्मा में केवलज्ञान प्रगट होता है। वह केवलज्ञान समस्त लोकालोक को और तीनों कालों के समस्त पदार्थों को एक साथ जानता है क्योंकि बाधक कारणों का अभाव हो गया है। अर्थात् केवलज्ञान हो जाने पर सर्वज्ञ हो जाता है। सम्पूर्ण परपदार्थों को जानने वाला सर्वज्ञ होने से सर्वज्ञता भी व्यवहारनय का विषय है। श्री १०८ कुन्दकुन्द भगवान ने समयसार गाथा ३५६ और ३६१ में कहा है कि ज्ञायक निश्चयनय से पर का ज्ञायक नहीं है, किन्तु व्यवहारनय से परद्रव्य को जानता है। नियमसार गाथा १५९ में श्री १०८ कुन्दकुन्द भगवान ने कहा कि 'व्यवहारनय से केवली भगवान सब जानते और देखते हैं, निश्चय से केवलज्ञानी आत्मा को जानता और देखता है।' इसप्रकार व्यवहारनय के तीनों विषय आत्मा में विद्यमान हैं।

व्यवहारनय के द्वारा जीव द्रव्य के गुण और पर्यायों का ज्ञान हो जाने से जीव आत्मा का ही ज्ञान हो जाता है क्योंकि गुण और पर्यायों के समूह का नाम तो द्रव्य है^१ अथवा द्रव्य अपनी अतीत, अनागत और वर्तमान पर्याय का प्रमाण है^२। जिसको जीव आत्मा का बोध हो गया उसको स्व का निश्चय हो गया और 'स्व का निश्चय' सम्यग्दर्शन है। जीव अजीव आदि तत्त्वों का तथा स्व का बोध कराने में व्यवहारनय कारण है, अतः व्यवहारनय जीव के लिये प्रयोजनवान है। इसी बात को श्री पद्मनन्दि आचार्य ने पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका श्लोक ६०६ में इस प्रकार कहा है—

व्यवहारो भूतार्थो भूतार्थो देशितस्तु शुद्ध नयः ।

शुद्धनयमाश्रिता ये प्राप्नुवन्ति यतयः पदं परमम् ॥

संस्कृत टीका—व्यवहारः भूतार्थः भूतानां प्राणिनाम् अर्थः भूतार्थः व्यवहारः देशितः कथितः। शुद्धनयः सत्यार्थः कथितः। ये यतयः मुनयः शुद्धनयम् आश्रिताः ते मुनयः परमं पदं प्राप्नुवन्ति ।

१. "गुणपर्ययवद् द्रव्य" ॥ ३८ ॥ मोक्षब्राह्मण अध्याय ॥ ५ ॥

२. 'एष-दक्षियमि जे अत्थ-पज्जया वयण-पज्जया चावि । तीदाणागय-भूदा ताद्यदियं तं हवइ रत्थं ॥'
(गोमटसार कीचकांड गाथा ५८२)

अर्थात्—'व्यवहारनय प्राणियों के प्रयोजन का कथन करता है और शुद्धनय सत्यार्थ का कथन करता है जो मुनि शुद्धनय का आश्रय करते हैं वे मुनि परम पद को प्राप्त करते हैं।' यह ही समयसार गाथा ११ में कहा गया है। क्योंकि गाथा १२ के 'व्यवहारवेसिदा पुण जेदु अपरमेद्विवाभावे' इन शब्दों द्वारा यह कहा गया है कि 'जो अनुत्कृष्ट अवस्था में ठहरे हुए हैं वे व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य हैं।'

जयधवल पुस्तक १ पृ. ८ पर भी कहा है "गौतमस्वामी ने व्यवहारनय का आश्रय लेकर चौबीस अनुयोग द्वारों के आदि में 'गन्मोजिणाणं' इत्यादि रूप से मंगल किया है। यदि कहा जाय कि व्यवहारनय असत्य है तो भी ठीक नहीं है। जो व्यवहारनय बहुत जीवों का अनुग्रह करने वाला है, उसी का आश्रय करना चाहिये, ऐसा मन में निश्चय करके गौतम स्वविर ने चौबीस अनुयोग द्वारों के आदि में मंगल किया है।' व्यवहारनय का आश्रय करना चाहिये ऐसा मन में निश्चय करके श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने समयसार आदि प्रत्येक ग्रन्थ के प्रारम्भ में तथा श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने टीका के तथा पुरुषार्थसिद्धयुपाय आदि ग्रन्थों के प्रारम्भ में 'मंगल' किया है। जिन आचार्यों ने स्वयं व्यवहारनय का आश्रय लेकर मंगल किया है, वे आचार्य व्यवहारनय असत्य है, ऐसा कैसे कह सकते हैं ?

यदि कहा जाय कि श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय के श्लोक ५ में व्यवहारनय को भूठा कहा है, तो ऐसा कहना भी उचित नहीं है। श्लोक ५ के शब्द इसप्रकार हैं—'निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्य-भूतार्थम्।' अर्थात्—'इस संसार में निश्चयनय को भूतार्थ और व्यवहारनय को अभूतार्थ कहते हैं।' भूत शब्द के अनेक अर्थ हैं, जैसे— वे मूलद्रव्य जिनकी सहायता से सारी सृष्टि की रचना हुई है, द्रव्य, महाभूत, सृष्टि का कोई जड़ या चेतन, अचर या चर पदार्थ या प्राणी, जीव, सत्य, बीता हुआ समय, एकप्रकार पिशाच या देव, मृत-शरीर, शव, मृतप्राणी की आत्मा, प्रेत, जिन, शतान। (नागरी प्रचारिणी सभा काशी से प्रकाशित कोष)। यदि यहाँ पर 'भूतार्थ' का अर्थ 'सत्यार्थ' किया जाय और अभूतार्थ का अर्थ असत्यार्थ किया जाय तो यह अर्थ होता है कि निश्चयनय सत्यार्थ (सच्ची) और व्यवहारनय असत्यार्थ (भूठी) कही जाती है किन्तु श्री अमृतचन्द्राचार्य का लक्ष्य 'व्यवहारनय को झूठ' कहने का नहीं रहा है क्योंकि श्लोक ६ में वे कहते हैं—'अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देश्यन्त्यभूतार्थम्।' अर्थात्—'आचार्य अज्ञानी जीवों को समझाने के लिये अभूतार्थ को कहते हैं।' और झूठ के द्वारा अज्ञानी नहीं समझाया जा सकता है। अतः यहाँ पर 'भूत' का अर्थ 'द्रव्य' होना चाहिये, क्योंकि समयसार गाथा ५६ की टीका में स्वयं श्री अमृतचन्द्राचार्य ने निश्चयनय को द्रव्याश्रित कहा है और व्यवहारनय को पर्यायाश्रित कहा है। 'अभूत' का अर्थ 'अद्रव्य' अर्थात् पर्याय हो जाता है।

पु. सि. श्लो. ८ में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है कि—'व्यवहार और निश्चय को तत्त्व (यथार्थ) रूप से जानकर जो मध्यस्थ हो जाता है वही शिष्य उपदेश के समस्त फल को प्राप्त करता है।' यदि निश्चयनय सच्चा और व्यवहार नय भूठा होता तो श्री अमृतचन्द्राचार्य श्लो. ८ में यह कहते कि जो निश्चयनय को सच्चा और व्यवहारनय को भूठा जानकर, व्यवहारनय को छोड़ देता है और निश्चयनय को ग्रहण करता है वही शिष्य उपदेश के समस्त फल को प्राप्त करता है, किन्तु श्लोक ८ में ऐसा नहीं कहा गया है इससे स्पष्ट है कि निश्चयनय सच्चा और व्यवहारनय भूठा; ऐसा अभिप्राय आचार्य महाराज का नहीं था, किन्तु उनका अभिप्राय निश्चय भूतार्थ (द्रव्याधिक) और व्यवहारनय अभूतार्थ (पर्यायाधिक) है, ऐसा रहा है। समयसार में भी यह ही कहा गया है—

१. व्यवहारोभूतयो भूतयद्योदेसिदो दु सुदुणओ । भूतयमस्सिदो खलु सम्माउट्ठी हवई जीवो ॥

(समयसार गाथा ११)

जीवे कम्मं बद्धं पुट्टं चेदि व्यवहारणय भणिदं ।
 सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्ध पुट्टं ह्वई कम्मं ॥ १४१ ॥
 कम्मं अबद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं ।
 पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥ १४२ ॥
 दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ णवरि तु समयपडिबद्धो ।
 ण दु णय पक्खं गिण्हदि किंचिदि णयपक्ख परिहीणो ॥ १४३ ॥
 सम्मद्वंसणणाणं एसो लहदिदि णवरि ववदेसं ।
 सब्बणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ॥ १४४ ॥

अर्थ—जीव में कर्म बँधा हुआ है और स्पर्शित है, ऐसा व्यवहारणय का कथन है और जीव में कर्म अबद्ध और अस्पर्शित है, ऐसा शुद्धनय का कथन है ॥ १४१ ॥ जीव में कर्मबद्ध है अथवा अबद्ध है इसप्रकार तो नयपक्ष जानो; किन्तु जो पक्षातिक्रान्त है वह समयसार कहलाता है ॥ १४२ ॥ नयपक्ष से रहित जीव समय से प्रतिबद्ध होता हुआ दोनों नयों के कथन को मात्र जानता ही है, परन्तु नयपक्ष को किंचित् मात्र भी ग्रहण नहीं करता ॥ १४३ ॥ जो सर्व नयपक्षों से रहित कहा गया है वह समयसार है। यह समयसार ही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान इस संज्ञा को प्राप्त होता है ॥ १४४ ॥ गाथा १४१ से यह स्पष्ट है कि व्यवहारणय पर्याय का कथन करता है, क्योंकि पर्याय की अपेक्षा यह जीव संसारी है और कर्मों से बँधा हुआ है, किन्तु निश्चयनय द्रव्य अर्थात् सामान्य का कथन करता है, क्योंकि सामान्य की अपेक्षा जीव अबद्ध बँधा हुआ नहीं है। गाथा १४२ से १४४ तक यह कहा गया है कि समयसार दोनों नयों से अतिक्रान्त है। अर्थात् द्रव्याधिक (निश्चय) नय और पर्यायाधिक (व्यवहार) नय का जो जुदा-जुदा विषय है वह द्रव्य का लक्षण (स्वरूप) नहीं है (ज. ध. पु. १ पृ. २४८)।

व्यवहारणय को, सर्वथा भ्रूट मानने पर मो. शा. अ. सूत्र ६ 'प्रमाणनयैरधिगमः' से विरोध आता है, क्योंकि भ्रूट के द्वारा वस्तु का बोध नहीं हो सकता। देव के स्वरूप को नहीं जाननेवाले को यदि देव का झूठा स्वरूप इसप्रकार कहा जावे कि जिसके सप्तधातुमय शरीर है और उसशरीर में नानाप्रकार के घाव (जलम) हैं जिनमें से दुर्गंध आती है, एक पैर, दो सींग, दुम है, नाक नहीं होती वह देव है, तो वह क्या देव का यथार्थ-स्वरूप समझ जावेगा? यदि व्यवहारणय भी इसप्रकार भ्रूट कथन करने वाला होता तो उसके द्वारा अज्ञानी समझाए नहीं जा सकते थे, किन्तु व्यवहारणय के द्वारा अज्ञानी समझाए जाते हैं।^१ अतः व्यवहारणय झूठा नहीं है। व्यवहारणय को असत्य कहना ठीक नहीं है^२। व्यवहारणय बहुत जीवों का उपकार करने वाला है, अतः उसका आश्रय करना चाहिये^३। इतना ही नहीं, श्री पद्मनन्दिआचार्य ने तो व्यवहार को पूज्य कहा है।

मुख्योपचार विवृतिं, व्यवहारोपायतो यतः सन्तः ।

ज्ञात्वाश्रयन्ति शुद्धतत्त्वमिति व्यवहृतिः पूज्या ॥ ६०८ ॥

अर्थ—क्योंकि सज्जन मनुष्य व्यवहारणय के आश्रय से मुख्य और उपचार कथन को जानकर शुद्धतत्त्व का आश्रय लेते हैं अतएव व्यवहार पूज्य है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी पुरुषार्थसिद्धयुपाय में कहा है कि यह

१. 'अवुधस्य बोधनार्थं मुनीन्द्रवटः देवयन्त्य भूतार्थम् ।' (पुरुषार्थसिद्धयुपाय माथा ६)
२. तह व्यवहारेण विणा परमत्त्वव्यसणमसयक ॥ ८ ॥ (समयसार गाथा ८)
३. जयधवल पु० १ पृ. ७ ।

निश्चय-व्यवहाररूप सम्यग्दर्शन, चारित्र्य, ज्ञानलक्षणवाला मोक्षमार्ग आत्मा को परमपद प्राप्त कराता है। अर्थात् व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य भी मोक्ष के लिये कारण हैं।

समयसार गाथा ४६ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है “निश्चयनय से शरीर और जीव को भिन्न-भिन्न बताया जाने पर त्रस-स्थावर जीवों को निःशंकतया मसलदेने कुचलदेने (घात करने) में हिंसा का अभाव ठहरेगा, जैसे भस्म को मसलदेने से हिंसा का अभाव ठहरता है, और हिंसा के अभाव में बंध का अभाव हो जायगा। दूसरे निश्चयनय के द्वारा जीव को राग-द्वेष, मोह से भिन्न बताया जाने पर रागी-द्वेषी-मोही जीव कर्मसे बँधता है, उसे छुड़ाता है। इसप्रकार मोक्ष के उपाय के ग्रहण का अभाव हो जायगा और इससे मोक्ष का ही अभाव हो जायगा। इसप्रकार यदि व्यवहारनय न माना जावे तो बंध-मोक्ष का ही अभाव ठहरता है।”

इन आगमप्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि व्यवहारनय भूटा नहीं है, वह भी अपने विषय के द्वारा वस्तु का यथार्थज्ञान कराता है। यदि कोई भी नय अपने विषय के द्वारा वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं कराता तो वह नय नहीं है, किन्तु नयाभास है। यदि कोई नय पर निरपेक्ष है तो वह मिथ्या है। कहा भी है—ये सभी नय यदि परस्पर निरपेक्ष होकर वस्तु का निश्चय कराते हैं तो मिथ्यादृष्टि हैं, क्योंकि एक दूसरे की अपेक्षा के बिना ये नय जिसप्रकार वस्तु का निश्चय कराते हैं, वस्तु वंसी नहीं है^१। इसीलिये पंचास्तिकाय के अन्त में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने केवलनिश्चयावलम्बी जीव और केवल व्यवहारावलम्बी जीव दोनों को मिथ्यादृष्टि कहा है, किन्तु निश्चयावलम्बी को दुर्गति का पात्र और व्यवहारावलम्बी को सुगति का पात्र कहा है।

सभी नय सम्यक् हैं यदि वे सापेक्ष हैं और सभी नय मिथ्या हैं यदि वे निरपेक्ष हैं। ‘अमुक नय सत्य है दूसरा नय मिथ्या है’, ऐसा कहना आगमानुकूल नहीं है।

नयों की प्रधानता से वचन बोला जाय वह व्यवहार सत्य है, यह सत्य का सातवाँ भेद है। नय का लक्षण इसप्रकार है—प्रमाण के द्वारा ग्रहण की गई वस्तु के एक अंश के ग्रहण करनेवाले ज्ञान को नय कहते हैं। अथवा श्रुतज्ञान के विकल्पों को नय कहते हैं। अथवा ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं। अथवा जो नाना-स्वभावों से हटाकर किसी एक स्वभाव में वस्तु को प्राप्त कराता है, उसको नय कहते हैं।^२

द्रव्यों के दश विशेष स्वभाव हैं—चेतनस्वभाव, अचेतनस्वभाव, मूर्तस्वभाव, अमूर्तस्वभाव, एकप्रदेशस्वभाव अनेकप्रदेशस्वभाव, विभावस्वभाव, शुद्धस्वभाव, अशुद्धस्वभाव, उपचरितस्वभाव। (आलापपद्धति)। इनमें से ‘उपचरित स्वभाव’ असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा से है।^३ उपचार पृथक्नय नहीं है, इसलिये उसको पृथक् स्वतन्त्रनय नहीं कहा है। मुख्य के अभाव (गौरा) होने पर और प्रयोजन व निमित्त होने पर उपचार की प्रवृत्ति होती है। वह भी अविनाभावसम्बन्ध, संयोगसम्बन्ध, परिणाम-परिणामीसम्बन्ध, श्रद्धा-श्रद्धेयसम्बन्ध, ज्ञान-ज्ञेय-

१. जयधवल पु. १ पु. २४५।

२. ‘प्रमाणेन वस्तुसंगृहीतार्थकांशो नयः, श्रुतयिकल्पो वा, ज्ञातुरभिप्रायो वा नयः, नानास्वभावेभ्यो व्याघर्त्य एकस्मिन्स्वभावे वस्तुं नयति प्रापयतीति वा नयः।’ (आलापपद्धति)

३. ‘असद्भूतव्यवहारेणोपचरितस्वभावः।’ (आलापपद्धति)

सम्बन्ध चारित्र-चर्या सम्बन्ध, इत्यादि तथा सत्यार्थरूप, असत्यार्थरूप, सत्यासत्यार्थरूप होता है। इसप्रकार उप-चरित असद्भूतव्यवहारनय का विषय समझना चाहिये।^१

परिणाम-परिणामीसम्बन्ध की दृष्टि में 'मिट्टी का घड़ा' और संयोगसम्बन्ध की दृष्टि में 'घी का घड़ा' दोनों ही नय के वचन हैं। अतः 'मिट्टी का घड़ा' और 'घी का घड़ा' दोनों व्यवहार सत्य हैं।

उपचरित या अनुपचरित के एकान्त पक्ष में इसप्रकार दोष आता है—“उपचरितएकांतपक्ष में भी नियमित पक्ष होने से आत्मा के आत्मज्ञता सम्भव नहीं और अनुपचरितएकांतपक्ष में भी आत्मा के परज्ञता (सर्वज्ञता) आदि का विरोध हो जायगा^२।”

एक कमरे में मिट्टी के चार घड़े रखे हुए थे उसमें से एक में तैल, दूसरे में घी, तीसरे में पानी और चौथे में चावल थे। यदि आप किसी से यह कहें कि 'मिट्टी का घड़ा' ले आओ, तो वह नहीं समझ सकेगा कि इन चारों घड़ों में से कौनसा घड़ा लेजाया जावे। परन्तु 'घी का घड़ा' कहने पर वह तुरन्त घी से भरे हुए घड़े को ले आयेगा। 'घी का घड़ा' कहना सत्यार्थ है; तभी तो वह 'घी का घड़ा' कहने पर घड़ा ले आया।

जैसे 'बन्ध्या के लड़के को लाओ' ऐसा वचन कहने पर वह किसी लड़के को नहीं ला सकता क्योंकि 'बन्ध्या का लड़का' कहना असत्यार्थ है। इसप्रकार यदि 'घी का का घड़ा' असत्यार्थ होता तो वह घड़ा नहीं ला सकता था।

प्रत्येकवस्तु में अनेकधर्म होते हैं, क्योंकि वस्तु अनेकातात्मक है। प्रत्येक नय से वस्तु के किसी न किसी धर्म की मुख्यता से वस्तु का ज्ञान होता है। कहा भी है—द्रव्यों का जिसप्रकार स्वरूप है, लोक में भी वह द्रव्यों का स्वरूप उसीप्रकार से स्थित है तथा ज्ञान से उसीप्रकार जाना जाता है तथा नय से भी नियम करके उसीप्रकार जाना जाता है (आलापपद्धति गाथा ११)। निश्चयनय से द्रव्य नित्य है और व्यवहारनय से द्रव्य अनित्य है। क्या इन दोनों नयों के व्याख्यानों को सत्यार्थ न जानें? वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है; क्या यह भ्रमरूप है। वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है यह निश्चय और व्यवहारनय का यथार्थ ग्रहण है।

जीव के गुण चेतना तथा उपयोग है और जीव की पर्यायों देव, मनुष्य, नारक, तिर्यचरूप अनेक हैं (पंचास्तिकाय गाथा १६)। 'पर्यायरहित द्रव्य और द्रव्यरहित पर्यायों नहीं होती। द्रव्य और पर्याय इन दोनों का अनन्यभाव है (पंचास्तिकाय गाथा १२)। द्रव्यविना गुण नहीं होते और गुणों विना द्रव्य नहीं होता, इसलिये द्रव्य और गुणों का अव्यतिरिक्त भाव (अभिन्नपना) है (पंचास्तिकाय गाथा १३)। श्री कुम्भकुन्दाचार्य ने द्रव्य और पर्याय इन दोनों में परस्पर अनन्यभाव बतलाया और मनुष्य, देव, तिर्यच, नारकआदि जीव की पर्यायों बतलाई, अतः मनुष्य जीव है, तिर्यच जीव है, क्या यह सत्यार्थ नहीं है? क्या मनुष्य, तिर्यच अजीव हैं? 'मनुष्य,

१. 'उपचारः पृथग् नयो नाहतीति न पृथग् कृतः। मुख्यभावे सति प्रयोगने निमित्ते उपचारः प्रवर्तते। सोपि सम्बन्धोऽपिनाभावः संश्लेषः सम्बन्धः, परिणामपरिणामिसम्बन्धः, श्रद्धाश्रद्धेयसम्बन्धः, ज्ञानज्ञेयसम्बन्धः, चारितचर्यासम्बन्धइत्येत्यादि सत्यार्थः असत्यार्थः सत्यासत्यार्थचेत्युपचरितासद्भूतव्यवहारनयसत्यार्थः।

२. 'उपचरितैकांतपक्षेऽपि नाश्रमत्रता सम्भवति निमित्तपक्षत्वात्। तथाऽत्मनोऽनुपचरितपक्षेऽपि परत्रतादीनां विरोधः स्यात्।' (आलापपद्धति)

तिर्यञ्च जीव हैं' यदि ऐसा न माना जावेगा तो मनुष्य, तिर्यञ्च आदिके मर्दन से हिंसा का अभाव हो जायगा और हिंसा के अभाव में बंध का अभाव होजायगा। बंध के अभाव में मोक्ष का भी अभाव हो जायगा (समयसार गाथा ४६ टीका)। यदि मनुष्य, तिर्यञ्चादि पर्यायों जीव की न मानी जावे तो जीवद्रव्य के अभाव का प्रसंग आजायगा क्योंकि जितनी त्रिकालसम्बन्धी अर्थपर्याय या व्यंजनपर्याय हैं उतना ही द्रव्य है। (गो. सा. जी. गर. ५८२)

प्रत्येक द्रव्य भेदाभेदात्मक है। मात्र अभेदात्मक नहीं है। 'सर्वथा अभेदपक्ष मानने पर सब द्रव्यों के एकत्व का प्रसंग आवेगा और एकत्व के होने से अर्थक्रियाकारी पने का अभाव हो जायगा तथा उसके अभाव में द्रव्य का भी अभाव होजायगा (आलापपद्धति)' अतः जीव देखने-जाननेवाला है अर्थात् उपयोगमयी है यह भी सत्यार्थ है; क्योंकि 'उपयोग' जीव का लक्षणात्मक गुण है। व्यवहारनय का विषय द्रव्य के भेदस्वभाव, अनेक-स्वभाव, उपचारस्वभाव इत्यादिक हैं। यदि व्यवहारनय को असत्यार्थ माना जावे तो उसके विषयभूत द्रव्य के भेद स्वभाव, अनेकस्वभाव, उपचरितस्वभाव आदि को भी असत्यार्थ मानना पड़ेगा। वस्तुस्वभाव असत्यार्थ नहीं होता। अतः व्यवहारनय भी असत्यार्थ नहीं है।

यद्यपि 'घी का घड़ा' व 'मिट्टी का घड़ा' दोनों व्यवहारनय के विषय हैं तथापि अपनी विवक्षा से दोनों सत्य हैं।

—जै. ग. 1,15-8-63/IX/ प्रेमशब्द

व्यवहारनय भी भूतार्थ है

शंका—समयसार ११ में जो व्यवहार को अभूतार्थ कहा है और गाथा १२ में व्यवहार को भूतार्थ कहा है सो गाथा ११ का व्यवहार मिथ्यादृष्टि का और गाथा १२ का व्यवहार सभ्यदृष्टि का है। श्री अमृतचन्द्र और जयसेन दोनों आचार्यों की टीका से ऐसा समझ में आता है; क्या यह ठीक है ?

समाधान—शंकाकार ने जो निष्कर्ष निकाला है, वह ठीक है। समयसार गाथा ११ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने इसप्रकार लिखा है—'प्रबलकर्मसंज्वलनतिरोहितसहजैकजायकभावस्यात्मनोऽनुभवितारः पुरुषा आत्मकर्मणोविवेकमकुर्वतो व्यवहारविमोहितहृदयाः प्रद्योतमानभाववैश्वरूप्यं तमनुभवन्ति ।'

अर्थ—'प्रबलकर्मों के मिलने से जिसका एक जायकस्वभाव तिरोभूत होगया है, ऐसी आत्मा का अनुभव करनेवाले पुरुष आत्मा और कर्म का विवेक न करनेवाले व्यवहार में विमोहित हृदयवाले तो उस आत्मा को जिनमें भावों की विश्वरूपता प्रगट है ऐसा अनुभव करते हैं।' 'आत्मा और कर्म का विवेक न करने वाले, व्यवहार में विमोहित हृदयवाले तो आत्मा को जिसमें भावों की विश्वरूपता (अनेकरूपता) प्रगट है ऐसा मानते हैं।' टीका के इन शब्दों से प्रगट है कि यहाँ पर मिथ्याव्यवहारनय अर्थात् निश्चयनय निरपेक्ष मात्र व्यवहारनय को मानने-वाले का कथन है और इसीलिये ऐसे व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा है।

श्री जयसेनाचार्य ने भी टीका में इसप्रकार लिखा है—'स्वसंवेदनरूपभेद भावनाशून्यजनो मिथ्यात्वरगादि-विभावपरिणामसहितमात्मानमनुभवति ।' यहाँ पर भी 'स्वसंवेदनरूप भेदभावनाशून्यजनः' इन शब्दों से स्पष्ट है कि यहाँ पर भी मिथ्यादृष्टिपुरुष की व्यवहारनय को अथवा निश्चयनय निरपेक्ष व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा है।

समयसार गाथा १२ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने यह कहा है—‘ये तु प्रथमद्वितीयपाद्यनेकपाकपरम्परापद्यमानकालस्वरस्थानीयपरमभावमनुभवति तेषां पर्यंतपाकोत्तीर्णजात्यकार्त्वास्वरस्थानीयपरमभावानुभवनशून्यत्वादशुद्धद्रव्यादेशितयोपदेशितप्रतिविशिष्टकभावानेकभावो व्यवहारनयो विचित्रवर्णमालिकास्थानीयत्वात्परिज्ञायमानस्तदात्वे प्रयोजनवान् ।’

अर्थ—‘जो पुरुष प्रथम, द्वितीयादि अनेक पाकों की परम्परा से पच्यमान अशुद्धस्वर्ण के समान जो अनुत्कृष्टमध्यमभाव का अनुभव करते हैं उन्हें अन्तिमताव से उतरे हुए शुद्धस्वर्ण के समान उत्कृष्टभाव का अनुभव नहीं होता, इसलिये अशुद्धद्रव्य को कहने वाला होने से जिसने भिन्न-भिन्न एक-एक भावस्वरूप अनेकभाव दिखाये हैं ऐसा व्यवहारनय विचित्र अनेक वर्णमाला के समान होने से, जानने में भ्रान्ता हुआ उस काल का प्रयोजनवान है ।’ यहाँ पर यह बतलाया गया है कि जो संसारावस्था (अशुद्ध-अवस्था) में स्थित है वह सिद्ध-अवस्था (शुद्धअवस्था) का अनुभव (स्वाद) नहीं कर सकता, किन्तु जो निश्चयाभासी संसार अवस्था में भी अपने आपको शुद्ध मान लेता है उसके लिये जीव की नानापर्यायों को बतलानेवाला व्यवहारनय प्रयोजनवान है । अतः यहाँ पर समयसार गाथा १२ में निश्चयसापेक्ष व्यवहारनय अर्थात् सम्यग्व्यवहारनय का कथन है ।

श्री जयसेनाचार्य ने समयसार गाथा १२ की टीका में इसप्रकार कहा है—‘अपरमे अशुद्धे असंयतसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया भावकापेक्षया वा सरागसम्यग्दृष्टिलक्षणे शुभोपयोगे प्रमत्ताप्रमत्तसंयतापेक्षया च भेदरत्नत्रयलक्षणे वा ठिवा स्थिताः ।’

अर्थ—‘अपरमे अर्थात् अशुद्धे अर्थात् असंयतसम्यग्दृष्टि श्रावक-सरागसम्यग्दृष्टि लक्षणवाले शुभोपयोगी प्रमत्त, अप्रमत्तगुणस्थानवाले अथवा भेदरत्नत्रय वाले ।’ इससे भी स्पष्ट है कि यहाँ पर सम्यग्व्यवहारनय का कथन है । और उसको प्रयोजनवान कहा है ।

श्री पद्मनन्दपञ्चविंशतिका में कहा है—

व्यवहारोभूतार्थो भूतार्थोदेशितस्तु शुद्धनयः ।

शुद्धनयमाभिता ये प्राप्नुवन्ति यतयः पदं परमम् ॥६०६॥

— जं. ग. 5-3-64/IX/ स. कु. सेठी

व्यवहारनय या उसका विषय भूत नहीं है

शंका—शास्त्रों में व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा गया है इसका अभिप्राय क्या है ? क्या व्यवहारनय का विषय अभूतार्थ है इसलिए इसको अभूतार्थ कहा गया है ? अभूतार्थ का अर्थ क्या भूत है ? गद्य के सींग के समान क्या व्यवहारनय का विषय है ?

समाधान—व्यवहारनय का विषय पर्याय है जो अकालिक मत् अर्थात् भूत नहीं है इसलिये व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा गया है ।

“व्यवहारो य विषयो भेदो तह पञ्जओ त्ति एयदुो ।” (गो० जी० ५७२)

“व्यवहारेण विकल्पेन भेदेन पर्यायिन ।” (स. सा. गाथा १२ टीका)

व्यवहार, विकल्प, भेद तथा पर्याय इन शब्दों का एक ही अर्थ है ।

निश्चयव्यवहारणया मूलमभेयाणयाण सव्वार्णा ।

निश्चयसाहणहेओ वव्वपज्जत्थिया मुण्ह ॥ ४ ॥ (आलापपद्धति)

टिप्पणी—निश्चयनया द्रव्यस्थिताः व्यवहारनयाः पर्यायस्थिताः ।

“व्यवहारनयाः किल पर्यायाश्रितत्वात्.....निश्चयनयः तु द्रव्याश्रितत्वात्.....”

(स. सा. गा० ५६ टीका)

व्यवहारनय का विषय पर्याय है और निश्चयनय का विषय द्रव्य है । जिस नय का विषय पर्याय है वह व्यवहारनय है, क्योंकि पर्याय व व्यवहार एकार्थवाची हैं । पर्याय सर्वदा सत् नहीं है, किन्तु कादाचित्क सत् है अतः पर्याय अभूतार्थ है । परन्तु खर-विषाणावत् सर्वथा अस्तु नहीं है । अतः व्यवहारनय या उसका विषय झूठ नहीं है । व्यवहारनय का विषय पर्याय कादाचित्क होने से द्रव्य का स्वभावभूत भाव नहीं हो सकता है, अतः व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा गया है । यदि व्यवहारनय के या उसके विषय को झूठ माना जाय तो निम्न आर्षग्रन्थों से विरोध आ जायगा ।

गौतमस्वामी ने व्यवहारनय का आश्रय लेकर कृति आदि चौबीस अनुयोगद्वारों के आदि में ‘णमो जिण्णाण’ इत्यादिरूप से मंगल किया है । यदि कहा जाय व्यवहारनय असत्य (झूठ) है, तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि उससे व्यवहार का अनुसरण करनेवाले शिष्यों की प्रवृत्ति देखी जाती है । अतः जो व्यवहारनय बहुत जीवों का अनुग्रह करनेवाला है उसी का आश्रय करना चाहिये ऐसा मत में निश्चय करके गौतमस्थविर ने चौबीसअनुयोगद्वारों के आदि में मंगल किया है । (ज. ध. पु. १ पृ. ८)

“तमंतरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःशंकमुपमर्बनेन हिंसाऽभावाद्भवत्येव बंधस्याभावः । तथा रक्तोद्विष्टोविमूढो जीवो बद्धयमानो मोचनीय इति तमंतरेण तु रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः ।” (स. सा. गाथा ४६ टीका)

यहाँ पर श्री अमृतचन्द्राचार्य ने बतलाया है कि व्यवहारनय के बिना हिंसा का अभाव हो जायगा और हिंसा का अभाव होने से बंध का भी अभाव हो जायगा, क्योंकि निश्चयनय जीव को शरीर से भिन्न कहता है और उसका एकांत करने से त्रस-स्थावर जीवों का घात निःशंकपने से करना सिद्ध हो जायगा । जैसे भस्म के मर्दन करने में हिंसा का अभाव है उसीतरह से निश्चयनय से त्रस-स्थावरजीवों के मारने में भी हिंसा नहीं सिद्ध होगी और हिंसा के अभाव में बंध का भी अभाव उहरेगा ।

व्यवहारनय के बिना रागी-द्वेषी-मोहीजीव कर्म से बंधता है और उसको छुड़ाता है अर्थात् मोक्ष के उपाय का उपदेश व्यर्थ हो जायगा और इससे मोक्ष का भी अभाव हो जायगा, क्योंकि निश्चयनय राग-द्वेष-मोह से जीव को भिन्न दिखाता है अतः निश्चयनय से न मोक्ष है और न मोक्षमार्ग है । व्यवहारनय से ही बंध, मोक्ष और मोक्षमार्ग है ।

यदि व्यवहारनय या उसके विषय को असत् माना जायगा तो उपर्युक्त दोनों दूषण आजायेंगे अर्थात् मोक्ष और मोक्षमार्ग का अभाव हो जायगा । व्यवहारनय से मोक्ष और मोक्षमार्ग दोनों सिद्ध होते हैं अतः व्यवहारनय

प्रयोजनवान है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पंचास्तिकाय की टीका में कहा भी है कि व्यवहारनय के द्वारा प्राथमिक सुख से मोक्षमार्ग के पारगामी होते हैं।

“व्यवहारनयेन भिन्नसाध्यसाधनभावानवलम्ब्यानादिभेदवासितबुद्धयः सुखेनावतरन्ति तीर्थं प्राथमिकाः ।”
(पं. का. गा. १७२ टीका)

बुद्धि कि व्यवहारनय के द्वारा प्राथमिक सुख से मोक्षमार्ग के पारगामी होते हैं, इसीलिये श्री पद्मनन्दि-
आचार्य ने ‘व्यवहारो भूतार्थः’ तथा संस्कृत टीकाकार ने ‘व्यवहारो भूतार्थः, भूतानां प्राणिनाम् अर्थः भूतार्थः ।’
इन शब्दों द्वारा व्यवहारनय को भी भूतार्थ कहा है। (पं० पं० १११९)

यदि व्यवहारनय और उसके विषय को झूठ या असत् माना जायगा तो उपर्युक्त दोषों (बंध का अभाव तथा मोक्ष व मोक्षमार्ग का अभाव) के अतिरिक्त सर्वज्ञता का भी अभाव हो जायगा, क्योंकि श्री कुन्वकुन्वाचार्य ने ‘जाणदि पस्सवि सव्वं चवहारणएण केवली भगवं ।’ इन शब्दों द्वारा यह बतलाया है कि केवलीभगवान सर्व को व्यवहारनय से (उपचरित असद्भूतव्यवहारनय से) देखते जानते हैं।

नयशास्त्र से अनभिज्ञ बहुत से असद्भूत का अर्थ असत् अर्थात् झूठ करते हैं। उनका ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं है। जिनकी एक सत्ता नहीं है अर्थात् तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है उनको असद्भूत कहते हैं। गुण और गुणी की एक सत्ता है, क्योंकि उनका तादात्म्यसम्बन्ध है अतः गुण-गुणी का सम्बन्ध सद्भूतव्यवहारनय का विषय है। किन्तु ज्ञान और ज्ञेय का तादात्म्यसम्बन्ध न होने से एक सत्ता भी नहीं है, अतः ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध असद्भूत व्यवहारनय का विषय है।

इसीप्रकार वे उपचरित का अर्थ कहने मात्र को करते हैं सो भी ठीक नहीं है। ‘उपचरित असद्भूत-व्यवहारनय’ में उपचरित शब्द संश्लेषसम्बन्ध के निषेध का द्योतक है। जिसप्रकार शरीर और आत्मा का संश्लेष-सम्बन्ध है उसप्रकार का संश्लेषसम्बन्ध ज्ञान और ज्ञेय में नहीं है अतः यह उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का विषय है। ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध कहने मात्र का नहीं है, किन्तु यथार्थ है। यदि ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध यथार्थ न हो तो दोनों के अभाव का प्रसंग आजायगा। ज्ञान और ज्ञेय का अभाव है नहीं, अतः ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध यथार्थ है।

इसप्रकार आर्ष ग्रन्थों के प्रमाणों से यह सिद्ध हो गया कि व्यवहारनय तथा उसका विषय झूठ, असत् या अयथार्थ नहीं है किन्तु यथार्थ है और इस व्यवहारनय से ही मोक्ष और मोक्षमार्ग की सुव्यवस्था होती है और बहुत जीवों का उपकारी है, अतः यह व्यवहारनय प्रयोजनवान है श्री गौतमगणधर ने भी इस व्यवहारनय का आश्रय लिया है।

—जं. ग. 3-12-70/X/ टो. ला. मित्तल

व्यवहार सर्वथा अभूतार्थ नहीं और निश्चय सर्वथा भूतार्थ नहीं

शंका—यदि व्यवहारनय का कथन वास्तविक है तो मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अधिकार में पं० टोडर-मलजी ने ऐसा क्यों कहा—‘निश्चयनय द्वारा जो निरूपण किया हो उसे तो सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अंगी-कार करना चाहिये और व्यवहारनय द्वारा जो निरूपण किया हो उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना चाहिये। व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को तथा उसके भावों को तथा कारणकार्यादिक को किसी के किसी में मिला-

कर निरूपण करता है। इसलिये ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है, इसलिये उसका त्याग करना चाहिये।' सोनपड़-साहित्य में इस कथन पर बहुत जोर दिया गया है और कहा गया है कि जैनशास्त्रों के अर्थ करने की यह पद्धति है और सच्ची श्रद्धा करने की रीति है। अतः इसका खुलासा किसप्रकार है ?

समाधान—यदि उपर्युक्त सिद्धांत को सर्वत्र लगाया जावे जो 'सर्वज्ञता तथा संसार व मोक्ष' का सर्वथा अभाव हो जायगा। 'सर्वज्ञता' व्यवहारनय से है, क्योंकि 'स्व' अर्थात् 'जायक' और 'पर' अर्थात् 'ज्ञेय' के सम्बन्ध को बतलाया है, जैसे 'घी का घड़ा' आधार-आधेयसम्बन्ध को बतलाता है। इसीप्रकार 'संसार' भी व्यवहारनय से है, क्योंकि कर्मजनित रागादिभावों को जीव के कहकर 'जीव' को संसारी कहा है (स. सा. गा. ४६) और संसार के अभाव में मोक्ष का भी अभाव हो जायगा। मोक्ष के अभाव में मोक्षमार्ग और मोक्षमार्ग के उपदेश का भी अभाव हो जायगा। अतः 'व्यवहारनय द्वारा जो निरूपण किया हो उसे असत्यार्थ मानकर इसको छोड़ना चाहिये' इस सिद्धांत द्वारा 'सर्वज्ञ, संसार व मोक्ष' को असत्यार्थ मान उसका श्रद्धान छोड़ना पड़ेगा। जिस जीव को मोक्ष का श्रद्धान नहीं है वह मिथ्यादृष्टि है (स. सा. गा. २७४) जिसप्रकार निश्चयनय द्वारा निरूपण किया हुआ, 'निश्चयनय' की अपेक्षा से सत्यार्थ है, उसीप्रकार व्यवहारनय के द्वारा निरूपण किया हुआ 'व्यवहारनय' की अपेक्षा से सत्यार्थ है। यदि व्यवहारनय के 'निरूपण' को असत्यार्थ श्रद्धान कर छोड़ा जावे तो 'त्रस-स्थावरजीवों को मसल देने में भी' हिंसा का अभाव होगा (स. सा. गा. ४६ आत्मख्याति टीका)।

'व्यवहारनय असत्य है' ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उससे व्यवहारनय का अनुसरण करनेवाले शिष्यों की प्रवृत्ति देखी जाती है। अतः जो व्यवहारनय बहुतजीवों का अनुग्रह करनेवाला है उसी का आश्रय करना चाहिये। (क. पा. ज. ध. पु. १, पृ. ८)। सभी नय अपने-अपने विषय के कथन करने में समीचीन हैं और दूसरे नयों के निराकरण करने में मूढ़ हैं। अनेकान्तरूप समय के जाता 'यह नय सच्चा है और यह नय झूठा है' इसप्रकार का विभाग नहीं करते हैं। व्यवहारनय का विषय व्यवहारनय की दृष्टि से भूतार्थ है, किन्तु निश्चयनय की दृष्टि से अभूतार्थ है; जैसे पदार्थ को नानापर्यायों से अनुभव करने पर अन्यत्व भूतार्थ है तथापि द्रव्यस्वभाव से अनुभव करने पर अन्यत्व अभूतार्थ है (स. सा. गा. १४, आत्मख्याति टीका)। निश्चय या व्यवहार इन दोनों नयों में से किसी एकनय की दृष्टि से पदार्थ को देखने पर अन्यनय का विषय दृष्टिगोचर नहीं होता है अर्थात् उस नय की दृष्टि में अन्य नय का विषय अविद्यमान है अथवा असत्यार्थ है। अतः एकनय की दृष्टि से पदार्थ को देखना एकदेश अवलोकन है और दोनों नयों की दृष्टि से पदार्थ को देखना सर्वावलोकन है। सर्वावलोकन (अनेकान्तरूपदृष्टि) से पदार्थ में दोनों विरोधीभाव अर्थात् दोनों नयों का विषय (अन्यत्व और अनन्यत्व) विरोध को प्राप्त नहीं होते (प्र. सा. गा. ११४ की टीका)। अतः व्यवहारनय सर्वथा अभूतार्थ नहीं है और निश्चयनय सर्वथा भूतार्थ नहीं है।

कोई-कोई व्यवहारनय और निश्चयनय के निरूपण में विशेषता न जानकर दोनों निरूपण को एक ही अपेक्षा से मानते हैं, उनको समझाने के लिये मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय सात में व्यवहारनय द्वारा निरूपण असत्यार्थ है ऐसा कहा है। जैसे निश्चयनय से 'मिट्टी का घड़ा' कहा जाता है; और व्यवहारनय से 'घी का घड़ा' कहा जाता है। 'मिट्टी का घड़ा' कहने का अभिप्राय यह है कि 'घड़ा मिट्टी का बना हुआ है, मिट्टीमय है और मिट्टी से अभिन्न है।' 'घी का घड़ा' कहने का अभिप्राय यह है 'घड़े में घी रखा है, अर्थात् घड़े और घी के आधारआधेयसम्बन्ध को बतलाया है' यदि कोई 'घी का घड़ा' और 'मिट्टी का घड़ा' इन दोनों वाक्यों में 'का' शब्द का समान प्रयोग देखकर और वक्ता के अभिप्राय को न समझकर यह मान लेते कि 'घी का घड़ा' कहने का भी यह अभिप्राय है कि 'घड़ा घी का बना हुआ है, घीमय है, घी से अभिन्न है' उसको समझाने के लिये मोक्षमार्ग प्रकाशक में यह कहा

कि व्यवहारनय से जो 'घी का घड़ा' कहा है वह असत्यार्थ है क्योंकि घी का बना हुआ घड़ा नहीं है, किन्तु निश्चयनय का निरूपण 'मिट्टी का घड़ा' सत्यार्थ है, क्योंकि मिट्टी का बना हुआ घड़ा है। मोक्षमार्ग प्रकाशक का उक्त उपदेश उस जीव के लिये नहीं है जो व्यवहारनय के निरूपण 'घी का घड़ा' का अभिप्राय यह जानता है कि घड़े के अन्दर घी रखा हुआ है अर्थात् आधार-आधेयसम्बन्ध की अपेक्षा से 'घी का घड़ा' कहा जाता है। यदि मोक्षमार्गप्रकाशक के उक्त कथनानुसार 'घी और घड़े के आधार-आधेयसम्बन्ध' को भी असत्यार्थ मान लेवे तो प्रत्यक्ष से विरोध आ जावेगा। अतः मोक्षमार्गप्रकाशक का उक्त उपदेश सर्वत्र सर्वजीवों के लिये नहीं दिया गया है, और न सर्वत्र 'मोक्षमार्गप्रकाशक' के उक्त सिद्धांत का प्रयोग करना उचित है। 'रागादिभावों का और जीव का व्याप्यव्यापक व कर्त्तार्कर्मसम्बन्ध व्यवहारनय से है और निश्चयनय से रागादि और पुद्गलकर्म का व्याप्यव्यापक व कर्त्तार्कर्मसम्बन्ध है' ऐसा स. सा. गा. ३९-६८ व गाथा ७५ की आत्मस्थिति टीका में कहा है; किन्तु पंचास्तिकाय गाथा ५७ व ५८ में यह कहा है कि—'निश्चयनय से रागादि का कर्त्ता जीव है और व्यवहारनय से रागादि का कर्त्ता पुद्गलकर्म है।' यदि व्यवहारनय को सर्वथा असत्यार्थ माना जावे तो रागादि का कर्त्ता न जीव है और न पुद्गल है। अतः व्यवहारनय को सर्वथा असत्यार्थ मानने में बहुत दोष आते हैं।

— जं. सं. 28-8-58/V/ मोक्षिकवर्षा

शुद्ध निश्चयनय भी सर्वथा सूतार्थ नहीं है

शंका—जब निश्चय की दृष्टि से व्यवहार को अभूतार्थ (असत्यार्थ) कहा जाता है तो व्यवहार की प्रधानता से निश्चयनय को भी अभूतार्थ (असत्यार्थ) कहना चाहिये, क्योंकि स. सा. गा. ५३-५४-५५ में बताया है कि उदयस्थान, बंधस्थान, गुणस्थानादि सब पुद्गल के हैं जीव के नहीं हैं। यदि सर्वथा ऐसा ही मान लिया जावे तो मोक्षपुरुषार्थ की तथा संवर और निर्जरा की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। सिद्ध और संसारी आत्मा सर्वथा समान हो जावेंगी, परन्तु धवला आदि किसी ग्रन्थ में व्यवहारनय की मुख्यता से संसारीजीवों को पर्यायदृष्टि से कथंचित् सूतक माना गया है। इसीकारण व्यवहार की मुख्यता से निश्चयनय क्या अभूतार्थ है ?

समाधान—समयसार गाथा ११ में 'शुद्धनय' को 'भूतार्थ' 'व्यवहारनय' को 'अभूतार्थ' कहा है, उसका अभिप्राय यह है 'जो शुद्धजीव में न हो वह अभूतार्थ है' और उसका वर्णन करनेवाला व्यवहारनय है। जैसे रागादि शुद्धजीव में नहीं है अतः 'रागादि जीव के हैं' यह व्यवहारनय का कथन है। 'जो शुद्धजीव में हो वह भूतार्थ है' उसका वर्णन करने वाला शुद्धनिश्चयनय है। शुद्धजीव में रागादि उदयस्थान, बंधस्थान व गुणस्थान नहीं हैं; क्योंकि शुद्धजीव गुणस्थान आदि से अतीत हैं अतः शुद्ध (निश्चय) नय की दृष्टि में ये गुणस्थानादि जीव के नहीं हैं। शुद्धनय का विषय शुद्धजीव है अशुद्धजीव नहीं है। व्यवहारनय का विषय कर्मोपाधिसहित जीव है अतः व्यवहारनय से जीव के गुणस्थानादि हैं।

समयसार गाथा ११ पर श्री जयसेनाचार्यकृत संस्कृत टीका में निश्चयनय को भी भूतार्थ और अभूतार्थ दो प्रकार का और व्यवहारनय को भी भूतार्थ और अभूतार्थ दो प्रकार का बतलाया है। शुद्धनिश्चयनय भूतार्थ है और अशुद्धनिश्चयनय अभूतार्थ है, क्योंकि अशुद्धनिश्चयनय का विषय अशुद्धजीव है। शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा अशुद्धनिश्चयनय को भी व्यवहार कह दिया गया है। अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय भूतार्थ है, क्योंकि इसका विषय शुद्धजीव है। उपचरितसद्भूत व्यवहारनय अभूतार्थ है, क्योंकि इसका विषय अशुद्ध जीव है।

समयसार गाथा ५ में यह प्रतिज्ञा की गई है कि 'एकत्वविभक्तआत्मा' का स्वरूप दिखाया जावेगा। 'एकत्वविभक्तआत्मस्वरूप' में गुणस्थान आदि नहीं हैं अतः समयसार गाथा ५०-५५ में इन गुणस्थानादि २९ भावों

को पुद्गल के कहा गया है, किन्तु ये भाव सर्वथा पुद्गल के हों ऐसा नहीं है। व्यवहारनय से ये भाव जीव के हैं जैसा कि गाथा ५६ समयसार में कहा गया है। व्यवहारनय को यदि स्वीकार न किया जाये और परमार्थनय का ही एकान्त किया जाय तो त्रस-स्थावरजीवों का घात निःशंकपने से करना सिद्ध हो सकता है। जैसे भस्म के मर्दन करने में हिंसा का अभाव है उसीतरह त्रस-स्थावरजीवों के मारने में भी हिंसा सिद्ध नहीं होगी, किन्तु हिंसा का अभाव ठहरेगा, तब उनके घात होने से बंध का भी अभाव ठहरेगा। उसी तरह रागी, द्वेषी, मोहीजीव कर्म से बंधता है उसको छुड़ाना है वह भी परमार्थ से राग, द्वेष, मोह से जीव भिन्न दिखाने पर तो मोक्ष के उपाय का उपदेश व्यर्थ हो जायगा। तब मोक्ष का भी अभाव ठहरेगा, इसलिये व्यवहारनय कहा गया है (स. सा. गा. ४६ की टीका)। अतः व्यवहारनय सर्वथा भ्रूतार्थ नहीं है। व्यवहारनय को भी समयसार गाथा १२ में प्रयोजनवान कहा है। शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि में जीव संसारी नहीं है, किन्तु वास्तव में जीव संसारी भी है जो प्रत्यक्षअनुभव में आता है। अतः शुद्धनिश्चयनय भी सर्वथा भ्रूतार्थ नहीं है। यदि कथन में निश्चय-व्यवहार की सापेक्षता रहती है तो सब कथन सम्यक् है। यदि निश्चयनिरपेक्ष व्यवहार है या व्यवहारनिरपेक्षनिश्चय है तो सब कथन मिथ्या है।

—ज. स. 1-1-59/V/ सिस्टेमल जैन, सिरोंज

१. किसी भी नय-उपदेश को सर्वथा (सत्य) नहीं समझ लेना चाहिये
२. निश्चय के ही कथन को ग्रहण करने वाला मिथ्यादृष्टि है
३. भगवान् गौतम स्वामी ने भी व्यवहार का आश्रय लिया था
४. व्यवहार सर्वथा भूठ या हेय (छोड़ने योग्य) नहीं है

शंका—मो० मा० प्र० पृ० ३६६ 'व्यवहार अभूतार्थ है सत्यस्वरूप को न निरूपे है किसी अपेक्षा उपचार करि अन्यथा निरूपे है। बहुरि शुद्धनय जो निश्चय है सो भूतार्थ है। जैसा वस्तु का स्वरूप है तैसा निरूपे है।' प्रश्न—यह कथन क्या सर्वथा ठीक है? क्या निश्चय या और कोई नय वस्तु के सत्य अर्थात् यथार्थ वास्तविकस्वरूप का निरूपण कर सकता है? यदि हाँ तो नय का विषय द्रव्यांश (एकधर्म) होता है सम्पूर्ण द्रव्य (धर्म) नहीं। फिर उस अनेकान्तात्मक (अनेकधर्मात्मक) द्रव्य का नय द्वारा कैसे निरूपण हो सकता है? प्रमाण वाक्य और नयवाक्य में क्या अन्तर है?

शंका—मो० मा० प्र० पृ० ३६६ 'बहुरि निश्चय-व्यवहार दोऊनि को उपादेय माने हैं सो भी झम है।' यह कहाँ तक ठीक है? फिर क्या निश्चय उपादेय व व्यवहार हेय समझना चाहिये? हेय-उपादेय का विकल्प क्या निश्चय है या व्यवहार है?

शंका मो० मा० प्र० पृ० ३६९ 'ताते व्यवहारनय का श्रद्धान छोड़ि निश्चयनय का श्रद्धान करना योग्य है।' यह कथन कहाँ तक ठीक है?

शंका—मो० मा० प्र० पृ० ३६९ 'ताका समाधान-जिनमार्ग विषं कहीं तो निश्चय की मुख्यता लिये व्याख्यान है ताको तो सत्यार्थ ऐसे ही है ऐसा जानना। बहुरि कहीं व्यवहारनय की मुख्यता लिये व्याख्यान है ताकों ऐसा नहीं है निमित्त की अपेक्षा उपचार किया है इसप्रकार जानने का नाम ही बोऊ नयनि का ग्रहण है। बहुरि दोऊ नयनि के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानि जो ऐसे भी हैं ऐसे भी हैं ऐसे झमरूप प्रवर्तनकरि तो दोऊ नयनि का ग्रहण करना कहाँ है नाहीं।' यह कथन भी क्या ठीक है? यदि है तो फिर अनेकान्त 'ऐसे भी है, ऐसे भी है' न होकर 'ऐसे ही है, अन्य नहीं'; इसरूप होना चाहिये?

समाधान—मो० मा० प्र० में ही लिखा है—इसलिये जो उपदेश हो उसको सर्वथा न समझ लेना चाहिए । उपदेश के अर्थ को जानकर वहाँ इतना विचार करना चाहिए कि यह उपदेश किसप्रकार है किस प्रयोजन को लेकर है और किस जीव को कार्यकारी है ।'

पृ० २८८ पर कहा है—'जैसे वैद्य रोग भेटचा चाहे है । जो शीत का आधिक्य देखे, तो उष्ण औषधि बतावे और आताप का आधिक्य देखे तो शीतल औषधि बतावे । तैसे श्री गुरु रागादिक छुड़ाया चाहे है । जो रागादिक पर का मानि स्वच्छन्द होय निरुद्धमी हो ताको उपादानकारण की मुख्यता करि रागादिक आत्मा का है ऐसा श्रद्धान कराय । बहुरि जो रागादिक आपका स्वभाव मानि तिनिका नाश का उद्यम नाहीं करे है, ताको निमित्तकारण की मुख्यता करि रागादिक परभाव हैं ऐसा श्रद्धान कराय है ।'

मो० मा० प्र० के उपयुक्त दोनों वाक्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाना जीवों को नानाप्रकार का मिथ्यात्व रोग लग रहा है । क्योंकि मिथ्यात्व रोग नानाप्रकार का है, अतः उसका उपचार भी नाना उपदेशरूपी औषधियों द्वारा बतलाया गया है । इसलिये किसी भी उपदेश को सर्वथा न समझ लेना चाहिये । अपने मिथ्यात्वरूपी रोग के कारण को पहिचान कर, उन नाना उपदेशरूपी औषधियों में से उस कारण को दूर करनेवाली औषधि का सेवन करेगा तो रोग उपशांत हो जायगा । यदि विपरीत औषधि का सेवन करेगा तो मिथ्यात्वरूपी रोग पुष्ट हो जाएगा । समयसार गाथा ५० से ५५ तक में निश्चयनय की अपेक्षा रागादि को पुद्गलमय कहे और गाथा ५६ में व्यवहारनय की अपेक्षा जीव के कहे है । यदि कोई निश्चयनय के कथन को सत्यार्थ मान और व्यवहारनय के कथन को असत्यार्थ मान अपने-आपको रागादि से सर्वथा भिन्न अनुभवे है । तिसको व्यवहारनय की उपदेश रूपी औषधि का सेवन करना चाहिये, अर्थात् व्यवहारनय के उपदेश को सत्यार्थ मान अर्थात् रागादि को आत्मा के भाव मानकर उनको दूर करने का उपाय करना चाहिये । अन्यथा उसका मिथ्यात्वरूपी रोग दूर नहीं होगा । किन्तु निश्चयनय के उपदेशरूपी औषधि सेवन करने से उसका मिथ्यात्वरूपी रोग पुष्ट होता जायगा । इसी बात को मो० मा० प्र० पृ० २९१ पर कहा है ।

'यहाँ कोऊ कहे—हमको तो बंध मुक्ति का विकल्प करना नाहीं जानै शास्त्र विषै ऐसा कहा है—'जो बंधउ मुक्कउ मुणइ, सो बंधइ गिभंतु ।' याका अर्थ—जो जीव बंध्या, मुक्त भया माने है, सो निःसंदेह बंधे है । ताको कहिये है—जो जीव केवल पर्यायदृष्टि होय बंध मुक्तअवस्था को ही माने है, द्रव्यस्वभाव का ग्रहण नाहीं करे है, तिनको ऐसा उपदेश दिया है, जो द्रव्यस्वभाव को न जानता जीव बंध्या मुक्त भया माने, सो बंधे है । बहुरि जो सर्वथा ही बंध मुक्ति न होय, तो सो जीव बंधे है, ऐसा काहे को कहे । और बंध के नाश का मुक्त होने का उद्यम काहे को करिये है । काहे को आत्मानुभव करिए है । तातें द्रव्यदृष्टि करि एकदशा है । पर्यायदृष्टि करि अनेक अवस्था हो हैं, ऐसा मानना योग्य है, ऐसे ही अनेकप्रकार करि केवल निश्चय का अभिप्रायतै विरुद्ध श्रद्धानादि करै है । जिनवानी विषे तो नाना अपेक्षा, कहीं कैसा कहीं कैसा कहीं कैसा निरूपण किया है । यह अपने अभिप्रायतै निश्चयनय की मुख्यता करि जो कथन किया होय, ताहि कौं ग्रहिकरि मिथ्यादृष्टि को धारै है ।'

पृ० २९२ पर कहा है—'यह चितवन जो द्रव्यदृष्टि करि करो हो, तो द्रव्य तो शुद्ध-अशुद्ध सर्वपर्यायनिका समुदाय है । तुम शुद्ध ही अनुभव काहे कौ करौ हो । अर पर्यायदृष्टि करि करो ही तो तुम्हारे तो वत्तमान अशुद्ध-पर्याय है । तुम आपकौ शुद्ध कैसे मानो हो ? बहुरि जो शक्ति अपेक्षा शुद्ध मानो हो तो मैं ऐसा होने योग्य हूँ, ऐसा मानो । ऐसे काहे कौ मानो हो । तातें आपको शुद्धरूप चितवन करना अस है । काहे तै—तुम आपको सिद्ध समान मान्या तो यह संसार-अवस्था कौन के है । अर तुम्हारे केवलजानादिक हैं तो ये मतिजानादिक कौन के है । अर

द्रव्यकर्म नोकर्म रहित हो तो ज्ञानादिक की व्यक्तता क्यों नहीं ? परमानन्दमय हो तो अब कर्तव्य कहाँ रह्या ? जन्म-मरण दुख ही नाही तो दुखी कैसे होते हो ? तातें अन्य अवस्थाविषै अन्य अवस्था मानना भ्रम है ।

पृ० २९३ पर कहा है—‘आपकी द्रव्यपर्यायरूप अवलोकना । द्रव्यकरि सामान्य स्वरूप अवलोकना पर्यायकरि विशेषरूप अवधारना । ऐसे ही चितवन किये सम्यग्दृष्टि होय है ।’

इन उपयुक्त कथनों में यह कहा गया है ‘निश्चय की मुख्यता करि जो कथन किया होय ताहि को ग्रहण करि मिथ्यादृष्टि होय है ।’ यदि निश्चयनय भूतार्थ है और वस्तु का जैसा स्वरूप है तैसा निरूप है (पृ० ३६६), तो निश्चयनय के कथन को ग्रहण करनेवाला मिथ्यादृष्टि क्यों ? ‘शुद्धरूप चितवन करना भ्रम है’ (पृ० २९२) ऐसा क्यों ?

व्यवहारनय करि जीव की मुक्त अवस्था है । निश्चयनय करि तो जीव न प्रमत्त है और न अप्रमत्त है, किन्तु एक अवस्थारूप है । व्यवहारनय का कथन जो मुक्तअवस्था को उपादेय न माने अर्थात् यदि व्यवहारनय को उपादेय न माने तो ‘बन्ध के नाश का मुक्त होने का उद्यम काहे को करिये है काहे को आत्मानुभव करिये है ।’ पृ० २९१ के इस कथन से स्पष्ट है कि व्यवहारनय के कथन को भी उपादेय माना गया है । पृ० २९८ पर भी कहा है—बहुिर जो तू कहैगा, कई सम्यग्दृष्टि भी तपश्चरण नाहीं करे हैं । ताका उत्तर—यहु कारण विशेष तं तप न होय सकै है । परन्तु श्रद्धानविषै तो तप को भला जाने है । ताके साधन का उद्यम राखे है ।’ यहाँ पर भी व्यवहारनय के कथन जो तप, सम्यग्दृष्टि उसको श्रद्धानि विषै भला जाने है । (अर्थात् उपादेयरूप श्रद्धान करे है ।) और तप के साधन का उद्यम राखे है (अर्थात् सम्यग्दृष्टि अनशनादि तप का उपादेयरूप से श्रद्धान करे है और उस तप को उपादेय मान उसके साधन का प्रयत्न करे है) यहाँ पर भी व्यवहारनय के कथन अनशनादि तप को उपादेय रूप से श्रद्धान करने को और ग्रहण करने को कहा है ।

पृ० २९३ पर ‘द्रव्यकरि सामान्य स्वरूप अवलोकना, पर्यायकरि विशेष अवधारना । ऐसे ही चितवन किये सम्यग्दृष्टि होय है ।’ वस्तु सामान्यरूप भी है और विशेषरूप भी है । ‘सामान्य’ निश्चयनय का विषय है, ‘विशेष’ व्यवहारनय का विषय है । सामान्य-विशेष दोनों रूप अर्थात् ‘ऐसे भी है, ऐसे भी है’ इसरूप चितवन करनेवाला सम्यग्दृष्टि है । यह इस कथन का तात्पर्य है । यदि कोई निश्चयनय के कथन ‘सामान्य’ को सत्यार्थ माने और व्यवहारनय के विषय विशेष (परिणमन) को असत्यार्थ मानेगा तो उसके मत में वस्तु नित्य कूटस्थ हो जाने से अर्थक्रियाकारी नहीं रहेगी, जिससे वस्तु के अभाव का प्रसंग आजायगा और मांख्यमत की तरह एकान्त-मिथ्यादृष्टि हो जायगा ! इसीलिये निश्चयनय के कथन ‘सामान्य’ और व्यवहारनय का कथन ‘विशेष’; दोनों की श्रद्धा करनेवाले को सम्यग्दृष्टि कहा है ।

पृ० २९६ पर भी कहा है—‘केवल आत्मज्ञान ही तै तो मोक्षमार्ग होइ नाहीं । सप्त तत्त्वनिका श्रद्धान ज्ञान भए व रागादिक दूर किये मोक्षमार्ग होगा । सो सप्ततत्त्वनिका विशेष जानने की जीव-अजीव के विशेष व कर्म के आस्रव-बन्धादिक का विशेष अवश्य जानना योग्य है, जातें सम्यग्दर्शन-ज्ञान की प्राप्ति होय । बहुिर तहाँ पीछे रागादि दूर करने, सो जे रागादिक बंधावने के कारण तिनको छोड़ि जे रागादिक घटावने के कारण होय तहाँ उपयोगकी लगाना’ यहाँ पर निश्चयनय का कथनरूप जो आत्मज्ञान उसके तो मोक्षमार्गपने का निषेध किया । और व्यवहारनय का कथन ‘सात तत्त्व का श्रद्धान ज्ञान व रागादि औपाधिक भावों का दूर करना’ इसको मोक्षमार्ग कहा है ।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सो० मा० प्र० में स्वयं दो प्रकार का कथन पाया जाता है। अतः पृ० ३६६ व ३६९ के उपदेश को सर्वथा न समझ लेना चाहिये। मो० मा० प्र० में स्वयं कहा है—'इसलिये जो उपदेश हो उसको सर्वथा न समझ लेना चाहिये। उपदेश के अर्थ को जानकर वहाँ इतना विचार करना चाहिये कि यह उपदेश किसप्रकार है, किस प्रयोजन को लेकर है और किस जीव को कार्यकारी है।'

जो पृ० ३६६ व ३६९ के कथन को सर्वथा मान बैठे हैं क्या वे मोक्षमार्गप्रकाशक की स्वाध्याय करनेवाले कहे जा सकते हैं ?

यहाँ तक निश्चयनय व व्यवहारनय के सम्बन्ध में मोक्षमार्गप्रकाशक के अनुसार कथन हुआ। अब आर्ष-ग्रन्थ के अनुसार कथन किया जाता है।

यदि यह कहा जाय कि निश्चयनय की दृष्टि में व्यवहारनय का विषय अभूतार्थ है, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि व्यवहारनय का विषय सर्वथा अभूतार्थ है। दूसरे जिसप्रकार निश्चयनय की दृष्टि में व्यवहारनय का विषय अभूतार्थ है उसीप्रकार व्यवहारनय की दृष्टि में निश्चयनय का विषय अभूतार्थ है। इन दोनों कथनों के समर्थन में आर्षवाक्य इसप्रकार हैं—

'ननु सौगतोपि ब्रूते व्यवहारेण सर्वज्ञः, तस्य किमिति ब्रूषणं क्षीयते भवद्भिरिति ? तत्र परिहारमाह—सौगतादिमते यथा निश्चयापेक्षया व्यवहारो मृषा, तथा व्यवहाररूपेणापि व्यवहारो न सत्य इति। जैनमते पुनर्व्यवहारनयो यद्यपि निश्चयापेक्षया मृषा तथापि व्यवहाररूपेण सत्य इति। यदि पुनर्लोकव्यवहाररूपेणापि सत्यो न भवति तर्हि सर्वोपि लोकव्यवहारो मिथ्या भवति, तथा सत्यतिप्रसंगः। एवमात्मा व्यवहारेण परद्रव्यं जानाति पश्यति निश्चयेन पुनः स्वद्रव्यमेवेति'। (समयसार गाथा ३६१ टीका)

अर्थ इसप्रकार है—

प्रश्न—जैसे कुन्दकुन्दभगवान ने गाथा ३६१ में 'परद्रव्य को व्यवहारनय से जानता है।' उसीप्रकार बौद्ध भी व्यवहारनय से सर्वज्ञ कहते हैं। फिर आप बौद्धों का क्यों खण्डन करते हैं।

उत्तर—जैसे निश्चयनय की अपेक्षा बौद्ध व्यवहारनय को भूठ मानते हैं उसीप्रकार व्यवहाररूप से भी व्यवहार को सत्य नहीं मानते, किन्तु जैनमत में यद्यपि निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहारनय भूठा है तथापि व्यवहाररूप से सत्य है। यदि व्यवहारनय लोक व्यवहाररूप से भी सत्य न हो तो समस्तलोक व्यवहार मिथ्या हो जायगा और ऐसा होने से अतिप्रसंगदोष आजायगा। यह आत्मा व्यवहारनय से परद्रव्य को जानता देखता है और निश्चयनय से स्वद्रव्य को जानता देखता है।

श्री समयसार गाथा १४ की टीका में भी कहा है—'आत्मनोऽनादिबद्धस्य बद्धस्पृष्टत्वपरिणामानुभूय-भावतायां बद्धस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकांततः पुद्गलास्पृश्यमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं....।'

अर्थ—अनादिकाल से बंधे हुए आत्मा का पर्याय से (व्यवहारनय से) अनुभव करने पर बद्धस्पृष्टता भूतार्थ है, तथापि पुद्गल से किंचित्मात्र भी स्पर्शित न होने योग्य आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर (निश्चयनय से) बद्धस्पृष्टता अभूतार्थ है।

जिनको उपर्युक्त आर्ष पर श्रद्धा नहीं है और यह मानते हैं कि जैसा व्यवहारनय का कथन है वैसा नहीं है, उनके मत में सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होती और न जिनवाणी सिद्ध होती है तथा द्वादशांग की रचना, शास्त्ररचना भी सिद्ध नहीं होती, क्योंकि यह सब व्यवहारनय का विषय सत्य नहीं है अर्थात् अवस्तु है।

जिसप्रकार निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहारनय का विषय सत्य नहीं है अर्थात् अस्तु है, उसीप्रकार व्यवहारनय की अपेक्षा निश्चय का विषय भी अस्तु है। कहा भी है—

द्वन्द्वद्विगुणत्वं अवत्यु णियमेण पञ्जवण्यस्स ।

तह पञ्जवत्थु अवत्थुमेव द्वन्द्वद्विगुण्यस्स ॥१०॥ [सं० त०]

अर्थ—जिसप्रकार पर्यायद्विवाले के अर्थात् व्यवहारनयावलम्बी के निश्चयनय अर्थात् द्रव्याधिकनय का कथन नियम से अस्तु है उसीप्रकार द्रव्याधिकद्विवाले के निश्चयनयावलम्बी के पर्यायाधिक अर्थात् व्यवहारनय का विषयभूत पदार्थ अस्तु है।

कहीं-कहीं पर आगम में यह कहा गया है कि निश्चयनय भूतार्थ का कथन करता है और व्यवहारनय अभूतार्थ का कथन करता है। जैसे समयसार गाथा ११ में कहा है—

‘व्यहारोऽभूयत्यो भूयत्यो देसिवो दु सुद्वणवो ।’

अर्थात्—व्यवहारनय अभूतार्थ है और निश्चयनय भूतार्थ है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी पुरुषार्थसिद्धिउपाय श्लोक ५ में कहा है—

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम् ।

अर्थात्—निश्चयनय भूतार्थ है और व्यवहारनय अभूतार्थ है।

यहाँ पर भूतार्थ और अभूतार्थ शब्दों का अर्थ विचारा जाता है।

भूतार्थ शब्द ‘भूत’ और ‘अर्थ’ इन दो शब्दों से मिलकर बना है। ‘भूत’ शब्द का अर्थ ‘द्रव्य’ भी है (हिन्दी शब्दसागर पृ० ७६०) और existing (विद्यमान) भी है (Sanskrit-English dictionary P 409)।

‘अर्थ’ शब्द का अर्थ ‘प्रयोजन, अभिप्राय’ भी है और ‘पदार्थ’ भी है। इसीप्रकार ‘भूतार्थ’ शब्द का अर्थ ‘द्रव्य प्रयोजनवाला’ अथवा ‘विद्यमान पदार्थ’ इमसे यह स्पष्ट हो जाता है कि निश्चयनय का प्रयोजन (विषय) द्रव्य है इसलिये निश्चयनय भूतार्थ है। अथवा निश्चयनय का विषय ‘सदा विद्यमान पदार्थ’ है अर्थात् अस्तु का ध्रुव अंश है इसलिये निश्चयनय भूतार्थ है।

अभूतार्थ शब्द में ‘अ’ के अर्थ इसप्रकार हैं—

प्रतिषेधयति समस्तं प्रसक्तमर्थं तु जगति नोशब्दः ।

स पुनस्तद्वयवे वा तस्मादर्थान्तरे व स्यात् ॥ (घ. पृ. ५ पृ. ४४)

अर्थ—जगत् में ‘न’ यह शब्द प्रसक्त समस्त अर्थ का तो प्रतिषेध करता है। किन्तु व प्रसक्त अर्थ के अवयव अर्थात् एकदेश में अथवा उससे भिन्न अर्थ में रहता है।

अतः ‘अभूत’ का अर्थ ‘द्रव्य से भिन्न अर्थ अर्थात् पर्याय’। अथवा ‘ईषत् विद्यमान पदार्थ अर्थात् पर्याय’। अस्तु के द्रव्य अंश (ध्रुव अंश) के समान पर्याय सदा विद्यमान नहीं रहती, किन्तु किंचित् काल तक विद्यमान रहती है।

व्यवहारनय का विषय या प्रयोजन पर्याय है अतः व्यवहारनय अभूतार्थ है।

यहाँ पर भूतार्थ का अर्थ भूठ नहीं है। यदि अभूतार्थ का अर्थ भूठ मान लिया जावे तो व्यवहारनय झूठ हो जायगी। भूठ के द्वारा अज्ञानी जीवों को यथार्थ नहीं समझाया जा सकता और न भूठ के द्वारा परमार्थ का उपदेश दिया जा सकता है। झूठ किसी को भी प्रयोजनवान नहीं हो सकता और न पूज्य हो सकता है, किन्तु आर्षग्रन्थों में कहा है कि व्यवहार के द्वारा अज्ञानी जीव संबोधे जाते हैं, परमार्थ का उपदेश दिया जाता है तथा व्यवहारनय प्रयोजनवान है और पूज्य है।

‘अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्य भूतार्थम् ।’ (पु० सि० उ० श्लोक ६) ।

आचार्य महाराज अज्ञानी जीवों को संबोधने के लिये व्यवहारनय का उपदेश देते हैं।

‘तह व्यवहारेण विणापरमत्युवएसणमसक्कं ॥८॥ (समयसार)

अर्थात्—व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश देना अशक्य है। (इसका यह अर्थ कभी नहीं हो सकता कि ‘भूठ के बिना परमार्थ का उपदेश देना अशक्य है।’)

व्यवहारदेसिदा पुण जे वु अपरमेद्विदा भावे ॥१२॥ (समयसार) ।

अर्थात्—जो अनुत्कृष्ट अवस्था में स्थित हैं उनको व्यवहारनय का उपदेश प्रयोजनवान है।

जइ जिनमयं पवज्जइ तो मा व्यवहारं गिच्छए सुयह ।

एक्केण विणा छिउजइ तित्थं अभ्णेण उण तच्चं ॥

अर्थात्—यदि तुम जिनमत की प्रवर्तना करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों को छोड़ो। क्योंकि व्यवहार के बिना मोक्षमार्ग (तीर्थ) का नाश हो जायगा और निश्चय के बिना तत्त्व (तीर्थफल) का नाश हो जायगा। ‘तीर्थतीर्थफलयोरित्थमेव व्यवस्थितत्वात् ।’ तीर्थ और तीर्थफल की ऐसी व्यवस्था होती है। (समयसार गाथा १२ टीका) । इसलिये शुद्धनय का विषय जो शुद्धात्मा, उसकी प्राप्ति जब तक न हो तब तक व्यवहारनय प्रयोजनवान है।

पद्मानन्दि पञ्चविंशति का श्लोक ६०८ में ‘व्यवहृतिः पूज्या ।’ इन शब्दों द्वारा ‘व्यवहारनय पूज्य है’, ऐसा कहा है।

इन आर्षवाक्यों के विरुद्ध ‘व्यवहारनय’ को भूठ, हेय, छोड़ने योग्य कैसे कहा जा सकता है। निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा वस्तु को स्याद् नित्य, स्यादनित्य माननेवाले का ज्ञान भ्रमात्मक कैसे हो सकता है।

अनेकान्त और स्याद्वाद के द्वारा ही इस जीव का कल्याण हो सकता है।

—जं. ग. 31-12-64; 14-1-64/Pages 9-12, 9-10, ट. ला. जैन, मेरठ

नयों की हेयोपादेयता; व्यवहार को हेय मानने में दोष

शंका—क्या निश्चयनय उपादेय और व्यवहारनय हेय है ?

समाधान—अध्यात्म में द्रव्याधिकनय को निश्चयनय और पर्यायाधिकनय को व्यवहारनय कहते हैं।

‘व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रितत्वात्....निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात्’ (समयसार टीका)

अर्थात्—व्यवहारनय पर्यायाश्रित है। निश्चयनय द्रव्याश्रित है।

भगवान ने दोनों (द्रव्याधिक, पर्यायाधिक) नयों का कथन किया है। भगवान का उपदेश भी दोनों नयों के आधीन है, एक नय आधीन नहीं है। इसी बातको श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—

‘द्वौ हि नयो भगवता प्रणीतौ द्रव्याधिकपर्यायाधिकश्च तत्र न खल्वेकनयायत्तादेशना कितु तदुभयायत्ता।’

अर्थात् द्रव्याधिक और पर्यायाधिक दोनों ही नय भगवान ने कहे हैं। भगवान का उपदेश एक नय के आधीन नहीं है, किन्तु दोनों नयों के आधीन है।

यदि निश्चय (द्रव्याधिक) नय को उपादेय और व्यवहार (पर्यायाधिक) नय को हेय मान लिया जाये तो निम्न दोषों का प्रसंग आ जाएगा—

१. ‘मोक्ष का अभाव हो जाएगा।’ निश्चयनय का विषय द्रव्य अर्थात् सामान्य है पर्यायों नहीं हैं। बन्ध-मोक्ष, संसारी और सिद्ध पर्यायों हैं जो निश्चयनय का विषय नहीं, किंतु बन्धमोक्ष के विकल्प से रहित सामान्य-आत्मा अर्थात् अबन्ध आत्मा है। श्री कुन्दकुन्द भगवान तथा श्री अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार में कहा भी है—

णवि होवि अप्पमत्तो ण, पमत्तो जाणओ दु जो भावो ।

एवं भणंति सुद्धं णामो जो, सो उ सो चेव ॥६॥

अर्थ—जो ज्ञायकभाव (आत्मा) है वह अप्रमत्त (मुक्त) भी नहीं और प्रमत्त (संसारी) भी नहीं है। इसप्रकार इसे शुद्ध कहते हैं और जो ज्ञाता (आत्मा) है, वह तो वही है।

जीवे कम्मं बद्धं पुट्टं चेदि व्यवहारणयभणिवं ।

सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्टं ह्वइ कम्मं ॥१४१॥

अर्थ—जीव में अर्थात् जीव के प्रदेशों के साथ कर्म बँधा हुआ है और स्पृशित है ऐसा व्यवहारनय का कथन है और जीव में कर्म अबद्ध और अस्पृशित हैं ऐसा निश्चयनय का कथन है।

‘एकस्य बद्धो न तथा परस्य’ [कलश ७०]

अर्थात्—जीव कर्म से बन्धा है ऐसा व्यवहारनय का पक्ष है और नहीं बँधा हुआ है ऐसा निश्चयनय का पक्ष है।

जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्धपुट्टं अणणयं णियदं ।

अविसेसमसंजुतं तं सुद्धणयं वियाणाहि ॥१४॥

अर्थ—जो नय आत्मा को बंधरहित, पर के स्पर्श से रहित, अन्यस्वरहित, अचल, विशेषरहित, अन्य के संयोग से रहित ऐसे पाँच भावरूप से देखता है वह निश्चयनय है।

इन श्रावणवाक्यों से स्पष्ट हो जाता है कि निश्चयनय की दृष्टि में आत्मा अबद्ध है। जो अबद्ध है उसके मोक्ष का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि बंध से छूटने का नाम मोक्ष है, अर्थात् मोक्ष तो बन्धपूर्वक है। कहा भी है—

मुक्तश्चेत् प्राक्भवेद्बन्धो नो बन्धो मोचनं कथम् ।
अबन्धे मोचनं नैव मुञ्चेरथो निरर्थकः ॥

अर्थ—यदि जीव मुक्त है तो पहले इस जीव के बन्ध अवश्य होना चाहिए, क्योंकि यदि बन्ध न हो तो मोक्ष (छूटना) कैसे हो सकता है । इसलिये अबन्ध (न बन्धे हुए) की मुक्ति नहीं हुआ करती ।

कोई मनुष्य पहले बँधा हुआ हो, फिर छूटे, तब वह मुक्त कहलाता है । ऐसे ही जो जीव पहले कर्मों से बँधा हो उसीको मोक्ष होती है ।

निश्चयनय की अपेक्षा बन्ध है ही नहीं । इसलिये निश्चयनय से बन्धपूर्वक मोक्ष भी नहीं है । 'बंधश्च निश्चयनयेन नास्ति, तथा बंधपूर्वको मोक्षोऽपि ।'

इसप्रकार निश्चयनय को उपादेय और व्यवहारनय को हेय मानने से संसार और मोक्ष के अभाव का प्रसंग आजायगा । इसके अतिरिक्त 'मोक्षमार्ग के अभाव' का दूसरा दूषण आ जायगा ।

२. 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' [मोक्षशास्त्र]

अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मोक्षमार्ग हैं । परन्तु निश्चयनय का विषय अभेद है अतः निश्चयनय की दृष्टि में न दर्शन है, न ज्ञान है और न चारित्र है । श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा भी है—

व्यवहारेणुबदिस्सइ णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं ।

णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥७॥ [सम्यत्सार]

अर्थात्—आत्मा के चारित्र, दर्शन, ज्ञान ये तीनों भाव व्यवहारनय से हैं । निश्चयनय से ज्ञान भी नहीं है, दर्शन भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है, आत्मा तो ज्ञायकशुद्ध है ।

निश्चयनय की दृष्टि में जब ज्ञान-दर्शन-चारित्र ही नहीं हैं तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है यह सूत्र व्यर्थ हो जाता है । इस सम्बन्ध में प्राचीन गाथा भी है—

अहं जिणमयं पवज्जइ तो मा व्यवहारं णिच्छए मुयहं ।

एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चवं ॥

अर्थात्—जो तुम जिनमत को प्रवर्ताना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयों को मत छोड़ो, क्योंकि एक व्यवहारनय के बिना तो तीर्थ अर्थात् मोक्षमार्ग और दूसरे निश्चयनय के बिना तत्त्व अर्थात् वस्तुस्वभाव का नाश हो जायगा ।

इन आर्षवाक्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग व्यवहारनय के आश्रित है । निश्चयनय के आश्रित मोक्षमार्ग नहीं है । निश्चयनय का विषय जब बन्ध और मोक्ष ही नहीं है तो मोक्षमार्ग कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है । इसप्रकार व्यवहारनय के हेय मान लेने से मोक्षमार्ग के अभाव का प्रसंग आता है । तीसरा दूषण 'सर्वज्ञता' के अभाव का आता है जो निम्न प्रकार है—

जाणदि पस्सदि सध्वे व्यवहारणएण केवली भगवं ।

केवल्लणाणी जाणदि पस्सदिणियमेण अप्पाणं ॥१५९॥ [नियमसार]

अर्थ—व्यवहारनय से श्री केवली भगवान सर्वज्ञों को देखते और जानते हैं, किन्तु निश्चयनय से केवल-ज्ञानी मात्र आत्मा अर्थात् अपने आप को देखते जानते हैं ।

सुणु व्यवहारणयस्स य वत्तब्बं से समासेण ॥३६०॥

जह परदब्बं सेडिदि हू सेडिया अप्पणो सहावेण ।

तह परदब्बं जाणइ णायो वि सयेण भावेण ॥३६१॥ [समयसार]

अर्थ—व्यवहारनय के वचन संक्षेप से कहे जाते हैं उनको सुनो । जैसे खड़िया अपने स्वभाव से भीतग्रादि पर द्रव्य को सफेद करती है उसीप्रकार आत्मा भी परद्रव्य को अपने स्वभाव से जानता है ।

श्री जयसेनाचार्य भी टीका में लिखते हैं—

‘यथैव च श्वेतमृत्तिका कुड्मपं श्वेतं करोतीति ध्यवह्रियते तथैव च ज्ञानं ज्ञेयं वस्तु जानात्येवं ध्यवहारोऽस्तीति । किंच यदि ध्यवहारेण परद्रव्यं जानाति तर्हि निश्चयेन सर्वज्ञो न भवति । सौगतोऽपि ब्रूते ध्यवहारेण सर्वज्ञः तस्य किमिति दूषणं बीद्यते भवद्भिरिति ? तत्र परिहारमाहसौगतादिमते यथा निश्चयापेक्षया ध्यवहारो मृषा, तथा व्यवहाररूपेण ध्यवहारो न सत्य इति, जैनमते पुनर्ध्यवहारनयो यद्यपि निश्चयापेक्षया मृषा तथापि ध्यवहाररूपेण सत्य इति । एवमात्मा ध्यवहारेण परद्रव्यं जानाति पश्यति निश्चयेन पुनः स्वद्रव्यमेवेति ।’

अर्थ—जिसप्रकार श्वेतमृत्तिका खड़िया भीत ग्रादि को श्वेत करती है ऐसा व्यवहार होता है उसीप्रकार ज्ञान-ज्ञेय वस्तुओं को जानता है ऐसा व्यवहार होता है ।

प्रश्न—यदि व्यवहारनय से परद्रव्य को जानता है तो निश्चयनय से सर्वज्ञ का अभाव है । बौद्ध भी व्यवहारनय से सर्वज्ञ कहते हैं । तो फिर आप उनको क्यों दूषण देते हैं ?

उत्तर—बौद्ध जिसप्रकार निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार को मृषा (झूठ) मानते हैं उसीप्रकार वे व्यवहारनय को व्यवहारदृष्टि से भी सत्य नहीं मानते, किन्तु जैनमत में यद्यपि निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार मृषा है तथापि व्यवहारनय की अपेक्षा सत्य है । इसप्रकार व्यवहारनय से आत्मा परद्रव्य को जानता-देखता है निश्चयनय से अपने को ही जानता है ।

अतः व्यवहारनय को हेय मानने से सर्वज्ञता का लोप हो जाता है, मोक्ष और मोक्षमार्ग के अभाव का प्रसंग आ जाता है ।

—जै. ग. 2-1-67/VII-VIII/ लक्ष्मीचंद्र जैन

मोक्षमार्ग में व्यवहारनय क्या संबंध है ?

शंका—मोक्षमार्ग में व्यवहारनय क्या संबंध है ?

समाधान—श्री अर्हंत भगवान की दिव्यध्वनि के द्वारा मोक्षमार्ग का उपदेश दिया गया है । वह उपदेश द्रव्याधिक (निश्चय) नय और पर्यायाधिक (व्यवहार) नय के अधीन दिया गया है किसी एक नय के अधीन नहीं दिया गया है । श्री अमृतचन्द्राचार्य पंचास्तिकाय भाषा ४ की टीका में लिखते हैं—‘भगवान ने दो नय कहे

१. ‘द्वौ हि नयो भगवता पणीतौऽध्याधिकः पर्यायाधिकश्च । तत्र न खल्वेकनयायत्तादेनना, किन्तु तदुभयायत्ता ।’

है—द्रव्याधिक और पर्यायाधिक । वहाँ (दिव्यध्वनि में) कथन एक नय के अधीन नहीं होता, किन्तु दोनों नयों के अधीन होता है ।' श्री पंचास्तिकाय में श्री कुन्दकुन्दभगवान ने भी मोक्षमार्ग का उपदेश दोनों नयों के अधीन दिया है—

सम्मत्तणजुत्तं चारित्तं रागदोसपरिहीणं ।
 मोक्खस्स हवदि मग्गे मव्वार्णं लद्धबुद्धीणं ॥१०६॥
 सम्मत्तं सद्दहणं भावाणं तैसिमधिगमो णाणं ।
 चारित्तं समभावो विसयेसु विरुद्धमग्गाणं ॥१०७॥
 धम्मादी सद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं ।
 चेद्दा तवंहि चरिया ववहारो मोक्खमग्गो त्ति ॥१०८॥

अर्थ—सम्यक्त्व और ज्ञान से संयुक्त ऐसा चारित्र जो कि रागद्वेष से रहित हो वह लब्धबुद्धि भव्यजीवों को मोक्ष का मार्ग होता है । तपपदार्यों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, उनका अवबोध सम्यग्ज्ञान है, मार्ग में विरुद्धवालों का विषयों में जो समभाव है वह चारित्र है । धर्मादि अस्तिकाय का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, अज्ञ पूर्व सम्बन्धी ज्ञान सो सम्यग्ज्ञान है और तप में चेष्टा सो चारित्र है ।

इसप्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने उक्त तीन गाथाओं में व्यवहार मोक्षमार्ग का उपदेश दिया है । वे ही कुन्दकुन्दाचार्य निश्चयमोक्षमार्ग का उपदेश इसप्रकार देते हैं—

णिच्छयणयेण भणिवो तिहि, तेहि समाहिदो हु जो अण्पा ।
 ण कुणदि किच्चिदि अण्णं ण, मुयदि सो मोक्खमग्गो त्ति ॥१६१॥

अर्थ—जो आत्मा सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्र इन तीनों द्वारा वास्तव में समाहित होता हुआ अन्य कुछ भी करता नहीं या छोड़ता नहीं है वह निश्चय से मोक्षमार्ग कहा गया है ।

पंचास्तिकाय पृ० २३० पर श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं—'इसप्रकार वास्तव में शुद्धद्रव्य के आश्रित, अभिन्न साध्य-साधनभाववाले निश्चयनय के आश्रय से मोक्षमार्ग का प्ररूपण किया गया । और जो पहले दर्शया गया था वह स्वपरहेतुक पर्याय के आश्रित, भिन्न साध्य-साधनभाववाले व्यवहारनय के आश्रय से प्ररूपित किया गया था । इसमें परस्पर विरोध आता है ऐसा भी नहीं है, क्योंकि सुवर्ण और सुवर्णपाषाण की भाँति निश्चय-व्यवहार का साध्य-साधनपना है । इसीलिये जिन भगवान का मार्ग, उपदेश या शासन निश्चय व व्यवहार, दोनों नयों के आधीन है ।

गाथा १६० की टीका में भी श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं—'व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग के साधनपने को प्राप्त होता है । जैसे सुवर्णपाषाण अग्नि के द्वारा शुद्ध होता है उसी प्रकार व्यवहार मोक्षमार्ग के द्वारा आत्मा शुद्ध होती है । जिसप्रकार सुवर्ण की शुद्धता स्वयं सुवर्ण की है अन्य द्रव्य में से नहीं आई उसीप्रकार निश्चयनय से वह शुद्धता आत्मा की है अन्य द्रव्य में से नहीं आती ।'

१ 'एवं हि बुद्धदस्याश्रितमभिन्नसाध्यसाधनभावं निश्चयनयमाश्रित्य मोक्षमार्गप्ररूपणम् । यत्तु पूर्वमुद्दिष्टं तदस्यपरप्रत्ययपर्यायाश्रितं भिन्नसाध्यसाधनभावं व्यवहारनयमाश्रित्य प्ररूपितम् । न चैतद्विपतिषिद्धं निश्चयव्यवहारयोः साध्यसाधनभायत्वात्सुवर्णसुवर्णपाषाणवत् । अतएवोभयनयायत्ता परमेस्वरौ तीर्थप्रवर्तनेति ।' [राघवन्द यथमात्मा पंचास्तिकाय पृ. २३०]

गाथा १६१ की टीका के अन्त में भी अमृतचन्द्राचार्य लिखते हैं कि निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग का साध्य-साधनपना अत्यन्त घटित होता है ।

इसीलिये श्री कुन्वकुन्व भगवान ने व्यवहारनय को प्रयोजनवान कहा है—

मुद्धोमुद्धावेसो णादब्बोपरमभाववरिसीहि ।

व्यवहारवेसिदा पुण जे दु अपरमेद्धिदा भावे ॥१२॥ [स. सा.]

अर्थ—जो परमभाव को प्राप्त हो गये अर्थात् पूर्णज्ञान-चारित्र्यवान होगये उनको तो शुद्ध का उपदेश करने वाला शुद्धनय जानने योग्य है और जो जीव अपरमभाव अर्थात् श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र्य के पूर्णभाव को नहीं पहुँच सके साधकअवस्था में हो ठहरे हुए हैं, वे व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य हैं ।

इसकी टीका में सुवर्ण का दृष्टान्त देकर यह कहा गया है कि जिनको शुद्धसुवर्ण समान शुद्धात्मा की प्राप्ति हो गई है उनको उत्कृष्ट असाधारणभावों का अनुभव होने से शुद्धनय (निश्चयनय) ही प्रयोजनवान है; किन्तु जो पुरुष प्रथम द्वितीयादि अनेक पाकों की परम्परा से पच्यमान अशुद्ध सुवर्ण के समान अनुत्कृष्ट-मध्यम भावों में स्थित हैं, उनको अनुत्कृष्टभावों का अनुभव होने से व्यवहारनय प्रयोजनवान है, क्योंकि तीर्थ के फल की ऐसी ही व्यवस्था है । टीका में इसके प्रमाणस्वरूप यह गाथा भी उद्धृत की गई है—

जइ जिणमयं पवज्जह, तो मा व्यवहारणिच्छए मुयह ।

एकेण विणा छिज्जइ, तित्थंअप्पेण पुण तच्चं ॥

अर्थ—हे भव्य जीवो ! जो तुम जिन मतको प्रवर्तना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयों को मत छोड़ो, क्योंकि व्यवहारनय के छोड़ने से तो तीर्थ (मोक्ष-मार्ग) का नाश हो जायगा और निश्चयनय के छोड़ने से तत्त्व (मोक्ष) का नाश हो जायगा ।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये जिनवचनों को सुनना, धारण करना, गुरुभक्ति, जिनबिम्ब-दर्शन आदि व्यवहारमार्ग में प्रवृत्त होना प्रयोजनवान है । जिनको सम्यग्दर्शन तो हो गया, किन्तु साक्षात् शुद्धात्मा की प्राप्ति नहीं हुई, उनको अणुव्रत-महाव्रत का ग्रहण, समिति-गुप्ति पालन पंचपरमेष्ठी का ध्यान, शास्त्र-अभ्यास आदि व्यवहारमार्ग प्रयोजनवान है ।

मोक्षमार्ग में प्राथमिक जीवों के लिये व्यवहारनय ही प्रयोजनवान है, इस बातको श्री १०८ अमृतचन्द्राचार्य पंचास्तिकाय गाथा १७२ की टीका में इसप्रकार कहते हैं—

‘व्यवहारनयेन भिन्नसाध्यसाधनभावमवलम्ब्यानादिभेदवासितबुद्धयः सुखेनैवावतरन्ति तीर्थं प्राथमिकाः ।’

अर्थ—अनादिकाल से भेदवासित बुद्धि होने के कारण प्राथमिक जीव व्यवहारनय से भिन्नसाध्य-साधनभाव का अवलम्बन लेकर सुख से तीर्थ (मोक्षमार्ग) का प्रारम्भ करते हैं ।

व्यवहारनय से बहुत से जीवों का उपकार होता है अतः व्यवहारनय का अनुसरण करना चाहिये । स्वर्ण गौतम गणधर ने व्यवहारनय का आश्रय लिया है । श्री वीरसेनस्वामी ने भी ज. ध. पु. १ में इसप्रकार कहा है—

‘जो बहुजीवाणुगहकारी व्यवहारणओ सो खेव समस्सिदब्बो सि मत्तेणावहारिय गोवमथेरेण मंगलं तत्थ कयं ।’

अर्थ—जो व्यवहारनय बहुत जीवों का अनुग्रह करनेवाला है उसीका आश्रय करना चाहिये, ऐसा मन में निश्चय करके गौतम स्वविर ने चौबीस अनुयोगद्वारों के आदि में मंगल किया है ।

जब इन आगम प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि व्यवहारनय भी मोक्षमार्ग में प्रयोजनवान है तो व्यवहारनय सर्वथा हेय कैसे हो सकता है ?

शंका—बया व्यवहारनय सर्वथा असत्य (झूठ) है ?

समाधान—प्रत्येक नय अपने विषय में सत्य होता है, क्योंकि नय द्वारा किसी एक धर्म की मुख्यता से वस्तु का कथन होता है, किन्तु विवक्षितनय का विषय अपने प्रतिपक्षीनय की दृष्टि से असत्य है । जैसे व्यवहारनय की दृष्टि से 'जीव कर्मों से बँधा हुआ है' यह सत्य है, किन्तु निश्चय की दृष्टि से अबद्ध है अर्थात् कर्मों से बँधा हुआ नहीं है । इसी बातको श्री अमृतचन्द्राचार्य समयसार की टीका में कहते हैं—'आत्मनोऽनादि बद्धस्य बद्धस्पृष्टत्व-पययिणानुभूयमानतायां बद्धस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकांततः पुद्गलास्पृश्यमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं ।'

अर्थ—अनादिकाल से बँधे हुए आत्मा का पुद्गलकर्मों से बँधने-स्पष्टित होनेरूप अवस्था का अनुभव करने पर (व्यवहारनय से) बद्धस्पृष्टता भूतार्थ है सत्यार्थ है, तथापि आत्मा पुद्गल से किञ्चित्मात्र भी स्पष्टित होने योग्य नहीं है ऐसे आत्मस्वभाव को अनुभव करने पर (निश्चयनय से) बद्ध-स्पृष्टता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है ।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहारनय का विषय सत्यार्थ है, किन्तु मात्र निश्चयनय की दृष्टि से असत्यार्थ कहा गया है । जहाँ कहीं पर व्यवहारनय को अभूतार्थ या असत्यार्थ कहा गया है वहाँ पर मात्र निश्चयनय की दृष्टि से असत्यार्थ कहा गया है । व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ नहीं है । यदि व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ होता तो उसका उपदेश क्यों दिया जाता अथवा गौतम गणधर उसका आश्रय क्यों लेते ? किन्तु सर्वज्ञदेव ने व्यवहारनय का उपदेश दिया तथा श्री गौतम गणधर ने उसका आश्रय लेकर मंगल किया है इससे यह सिद्ध होता है कि व्यवहारनय भूतार्थ-सत्यार्थ है । श्री बीरसेनाचार्य ने जयधवल में कहा भी है—

व्यवहारणं पञ्च पुण गोदमसामिणा चतुर्वीसण्हमणियोगद्वाराणमादीए मंगलं कवं ण च व्यवहारणओ चप्पलओ; तत्तो व्यवहाराणुसारीसिस्ताण पउत्तिवंसणावो । ज. ध. पु. १ पृ. ८

अर्थ—यदि कहा जाय कि व्यवहारनय असत्य है, तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि उससे व्यवहार का अनुसरण करनेवाले शिष्यों की प्रवृत्ति देखी जाती है । श्री गौतम स्वामी ने व्यवहारनय का आश्रय लेकर चौबीस अनुयोगद्वारों की आदि में मंगल किया है ।

जैनधर्म के मूलसिद्धान्त 'अनेकान्त' को समझने वाले विद्वान् कभी किसी नय को सर्वथा असत्यार्थ या हेय नहीं कहते हैं । अपितु अपने-अपने विषय की अपेक्षा उनको सत्यार्थ मानते हैं । जैसा कि ज० ध० पु० १ पृ० २५७ पर कहा गया है—

णियपवयणिज्ज सच्चा, सक्खणया परविद्यालसे भोहा ।

ते उण ण विट्ठसमओ विभयइ सच्चे व असिए वा ॥ [सन्मति तर्क १ । २८]

ये सभी नय अपने-अपने विषय के कथन करने में समीचीन हैं और दूसरे नयों के निराकरण करने में मूढ़ हैं । अनेकान्तरूप समय के ज्ञाता पुरुष 'यह नय सच्चा है और यह नय झूठा है', इसप्रकार का विभाग नहीं करते हैं ।

जिसप्रकार निश्चयनय की दृष्टि से व्यवहारनय के विषय असत्य हैं उसी प्रकार व्यवहारनय की दृष्टि से निश्चयनय का विषय भी असत्य है। निश्चयनय भी सर्वथा सत्य नहीं है।

दब्बट्टिठयवत्तव्वं अवत्थु णियमेण पञ्जवणयस्स ।
तह पञ्जववत्थु अवत्थुमेव दब्बट्टियनयस्स ॥

अर्थ—पर्यायार्थिक (व्यवहार) नय की अपेक्षा द्रव्यार्थिक (निश्चय) नय का विषय अस्तु (असत्यार्थ) है और द्रव्यार्थिक (निश्चय) नय की अपेक्षा पर्यायार्थिक (व्यवहार) नय का विषय अस्तु (असत्यार्थ) है ।

व्यवहारनय को सर्वथा असत्यार्थ तथा हेय मानने का दुष्परिणाम—

जो इन आर्षवाच्यों की श्रद्धा नहीं करते और व्यवहारनय को सर्वथा अभूतार्थ व हेय मानकर व्यवहारनय को छोड़ देते हैं और निश्चयनय को सर्वथा सत्यार्थ व उपादेय मानकर उसका पक्ष ग्रहण करते हैं, उनको मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, किन्तु नरक और निगोद जैसी कुगतियों में भ्रमण करना पड़ता है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं—‘यदि व्यवहार का उपदेश न दिया जावे और मात्र निश्चयनय का एकान्त किया जाय तो ब्रह्म-स्थावर जीवों का घात निःशंकपने से करना सिद्ध हो जायगा, क्योंकि निश्चयनय जीव को शरीर से भिन्न कहता है। जैसे भस्म के मर्दन करने में हिंसा का अभाव है उसीतरह उनके मारने में भी हिंसा नहीं सिद्ध होगी, किन्तु हिंसा का अभाव ठहरेगा। तब उनके घात होने से बंध का भी अभाव ठहरेगा। रागी-द्वेषी, मोही जीव कर्म से बंधता है और उस कर्म बंध से छूटना मोक्ष कहा गया है, किन्तु निश्चयनय की अपेक्षा, राग-द्वेष, मोह से जीव भिन्न होने के कारण, बंध और मोक्ष का अभाव है। बंध और मोक्ष के अभाव में मोक्ष के उपाय का उपदेश व्यर्थ हो जायगा। इसलिये व्यवहारनय को उपादेय कहा है।’ स. स. गाथा ४६ टीका।

श्री पंडितवर जयचन्द्रजी छाबड़ा समयसार की गाथा १२ की टीका का अनुवाद करते हुए लिखते हैं—‘यदि व्यवहारनय को सब (सर्वथा) असत्यार्थ जानकर छोड़ें तो शुभोपयोगरूप व्यवहार छोड़ें और शुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति हुई नहीं इसलिये उलटा अशुभोपयोग में ही आकर अष्ट हुआ यथाकथंचित् स्वेच्छारूप प्रवर्तें तब नरकादिगति तथा परम्परा निगोद को प्राप्त होकर संसार में ही भ्रमण करता है।’

स० सा० पृ० १७, रायचन्द्र ग्रन्थमाला

श्री अमृतचन्द्राचार्य श्री पंचास्तिकाय गाथा १७२ की टीका में कहते हैं—‘जो जीव केवल निश्चयनय के ही अवलम्बी हैं, वे व्यवहाररूप स्वसमयमयी क्रिया-कर्मकाण्ड को आडम्बर जान ब्रतादिक में विरागी (उदासीन) हो रहे हैं और अर्द्ध उन्मीलित लोचन से ऊर्ध्वमुखी होकर स्वच्छंदवृत्ति को धारण करते हैं। कोई-कोई अपनी बुद्धि से ऐसा मानते हैं कि हम स्वरूप को अनुभवते हैं ऐसी ममभ से सुखरूप प्रवर्तें हैं। भिन्न साध्य-साधनरूप व्यवहार को तो मानते नहीं, निश्चयनयरूप अभिन्न साध्य-साधन को अपने में मानते हुए यो ही बहक रहे हैं, वस्तु को पाते नहीं, न निश्चयपद को प्राप्त होते हैं, न व्यवहारपद को ग्रहण करते हैं; किन्तु बीच में ही प्रमादीरूप मदिरा के प्रभाव से चित्त में मतवाले हुए मूर्च्छित से हो रहे हैं। जैसे कोई बहुत घी, खाण्ड, दुग्ध इत्यादि गरिष्ठवस्तु

१. तमंतरेण तु व्रतीराण्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् तस्यथावराणां भ्रमन इव निःशंकमुपमर्दनेन हिंस्रभावाद्यवश्येय बंधस्याभावाः । तथा स्वतोद्दिष्टविमूढो जीवो वदध्यमानो मोघनीय इति तमंतरेण तु रागद्वेष-मोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येय मोक्षस्याभावात् ।’

के पान-भोजन से सुथिर हो ऐसे झालसी हो रहे हैं, अथवा अपने उत्कृष्टदेह के बल से जड़ हो रहे हैं अथवा भयानक मनकी भ्रष्टता से मोहित-विक्षिप्त हो गये हैं या चैतन्यभाव से रहित वनस्पति से हो रहे हैं। तथा मुनि अवस्था में करने योग्य कर्मचेतना (षडावश्यक) पुण्यबंध के भय से, अवलम्बन नहीं करते और परम निःकर्मदशारूप ज्ञान-चेतना (वीतरागनिर्विकल्पसमाधि अवस्था) को अंगीकार करी नहीं, इसकारण अतिशय चंचलभावों के धारी हैं और प्रगट-अप्रगटरूप प्रमाद के आधीन हो रहे हैं। 'वे निश्चयत्वलम्बी महा अशुद्धोपयोग से कर्मफलचेतना से प्रधान होते हुए वनस्पति के समान जड़ हैं और केवल पाप ही के बांधने वाले हैं' ।'

पंचास्तिकाय पृ० २५०-२५१ रायचन्द्र ग्रन्थमाला

मोक्षमार्ग दो नय आधीन है दो नयरूप है—

अनेकान्तात्मक होने से जिसप्रकार वस्तु की सिद्धि निश्चय-व्यवहारनय के अविरोध द्वारा होती है उसी प्रकार मोक्षरूपी इष्ट सिद्धि भी निश्चय-व्यवहार के अविरोध द्वारा होती है।

श्री पंचास्तिकायशास्त्र का तात्पर्य लिखते हुए श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं—'इस यथार्थ पारमेश्वरशास्त्र का परमार्थ से वीतरागपना ही तात्पर्य है। सो इस वीतरागपने का व्यवहार-निश्चय के अविरोध द्वारा ही अनुसरण किया जाय तो इष्टसिद्धि होती है, अन्यथा नहीं' ।' पंचास्तिकाय गाथा १९२ टीका

रायचन्द्र ग्रन्थमाला से प्रकाशित समयसार पृ० २७ पर भी लिखा है—साक्षात् शुद्धनय (निश्चयनय) का विषय जो शुद्ध आत्मा उसकी प्राप्ति जब तक न हो तब तक व्यवहार प्रयोजनवान है। ऐसा स्याद्वादमत में श्री गुरु का उपदेश है।' इसी विषय का निम्न कलश है—

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यापदांके, जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वांतमोहाः ।

सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चं, रजवमनयपक्षाक्षुष्णमीक्षन्त एव ॥४॥

अर्थ—निश्चय-व्यवहाररूप जो दो नय उनके विषय के भेद से आपस में विरोध है। उस विरोध को दूर करनेवाला स्यात्पद कर चिह्नित जो जिनभगवान का वचन उसमें जो पुरुष रमते हैं—प्रचुर प्रीतिसहित अभ्यास करते हैं वे पुरुष ही मिथ्यात्वकर्म के उदय का वमनकर इस अतिशयरूप परमज्योति प्रकाशमान शुद्धआत्मा का शीघ्र ही अवलोकन करते हैं। यह समयसाररूप शुद्धात्मा नवीन नहीं उत्पन्न हुआ है—पहले कर्म से आच्छादित था वह प्रगट व्यक्तरूप हो गया। सर्वथा एकान्तरूप कुनय की पक्षकर खंडित नहीं होता—निर्बाध है।

मोक्षमार्ग निश्चय व व्यवहार से दो स्वरूप है। तत्त्वानुशासन में भी कहा है—

१. 'येऽत्र केवल निश्चयावलम्बिनः सकलक्रियाकर्मकाण्डाडम्बरविटवतबुद्धयोऽर्धमालितविलोचनपटाः किमपि स्वबुद्ध्यावलोकयावलोकय यथासुखामास्ते; ते खल्ववधीरितिभिन्नसाध्यसाधनभाय अभिन्नसाध्यसाधनाभावमल-भमाना अन्तराल एव प्रमादकादम्बरीमदभरालसघेतसो भक्ता इव, मूर्छिता इव सुषुप्ता इव, पभूतघृतमितोपलपाय-सासादित साहित्या इव, समुल्लण्णबलसञ्जनितजाड्या इव, दारुणमनोभ्रंजविहितमोहा इव मुदितविभिष्टचैतन्या वनस्पतय इव, मौनीन्दी कर्मचेतनां पुण्यबंधभयेनानवलम्बमाना अनासादितपरमनैक्यैरूपज्ञानचेतनाविश्रान्तयो व्यकृताध्यवतप्रमादतन्द्रा परमागतकर्मफल चेतनापधानप्रयृतयो वनस्पतय इव केवल पापमेव बध्नाग्नि ।'

२. 'परमार्थतो वीतरागत्यमेव तात्पर्यमिति । तदिदं वीतरागत्यं व्यवहार निश्चयाविधेनेवानुगम्यमानं भवति समीहितसिद्धये न पुनरन्यथा ।'

मोक्षहेतुः पुनर्द्वेषा निश्चय-व्यवहारतः ।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद्वितीयस्तस्य साधनः ॥२८॥

अर्थ—मोक्षमार्ग निश्चय और व्यवहार से दो प्रकार का है । पहला साध्यरूप और दूसरा साधनरूप है । निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकाररूप मोक्षमार्ग से रहित मोक्ष की सिद्धि नहीं है । इसी बातको श्री जयसेनाचार्य पंचास्तिकाय गाथा १०६ की टीका में कहते हैं—‘निश्चयव्यवहारमोक्षकारणे सति मोक्षकार्यं संभवति, तत्कारणाभावे मोक्षकार्यं न संभवति ।’

अर्थात्—निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग के होने पर ही मोक्षकार्य होना सम्भव है और निश्चयव्यवहार मोक्षमार्ग के अभाव में मोक्षकार्य संभव नहीं है ।

इसी बातको श्री अमृतघन्द्राचार्य भी कहते हैं—

सम्यक्त्वचारित्रबोध-लक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः ।
मुख्योपचाररूपः प्रापयतिपरमपदं पुरुषम् ॥२२२॥ पु० सि० उ०

अर्थ—निश्चय-व्यवहाररूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य वाला मोक्षमार्ग आत्मा को परमपद प्राप्त कराता है ।

‘निश्चयव्यवहाराभ्यां साध्यसाधकरूपेण परस्परसापेक्षाभ्यामेव भवति मुक्ति सिद्धये न च पुनर्निरपेक्षाभ्या-
निति वार्तिक ।’ पंचास्तिकाय गाथा १७२, श्री जयसेनाचार्य कृत टीका

अर्थ—परस्पर सापेक्ष साध्यसाधकरूप निश्चय-व्यवहार के द्वारा मोक्ष की सिद्धि होती है, निरपेक्ष निश्चय-व्यवहार के द्वारा मोक्ष की सिद्धि नहीं होती, यह वार्तिक है ।

जिसप्रकार मनुष्य के शरीर में अप्रैरेशन होने पर जखम (घाव) को धोना तथा पट्टी बाँधना आवश्यक है उसीप्रकार सेफ्टिक के निराकरण के लिये दवाई लेना भी उतना ही आवश्यक है । इन अंतरंग और बहिरंग दोनों प्रकार की दवाई में से यदि किसी भी एकप्रकार की दवाई का प्रयोग न किया जावे तो जखम को आराम नहीं होगा, क्योंकि ये दोनों प्रकार की दवाई एक दूसरे की अपेक्षा रखती हैं । मोक्षमार्ग में भी निश्चय और व्यवहार दोनों रत्नत्रय की आवश्यकता है । निश्चय और व्यवहार इन दोनों रत्नत्रय में से किसी भी एक रत्नत्रय के अभाव में मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती । यह बात उपर्युक्त आर्षवाक्यों में कही गई है । इसी बातको पंडितवर दौलतरामजी छहड़ाला में इन शब्दों द्वारा कहते हैं—

मुख्योपचार दु भेद यौ, बड़भागि रत्नत्रय धरें ।
अरु धरेंगे ते शिव लहें, तिन मुजस जल जगमल हरें ॥

अर्थात्—जो भाग्यशाली पुरुष निश्चय और व्यवहार इन दो प्रकार के रत्नत्रय को धारण करते हैं या धारण करेंगे उनको मोक्ष की प्राप्ति होती है । उनका सुयशरूपी जल संसाररूपी मल को हरता है ।

इसप्रकार व्यवहार रत्नत्रय भी मोक्षमार्ग में प्रयोजनवान तथा उपयोगी है । जो मनुष्य व्यवहार को सर्वथा हेय जान ग्रहण नहीं करते हैं, वे नरक-निगोद आदि दुर्गति में भ्रमण करते हैं ।

—जै. ग. 19, 26-3-64/IX, IX/घे. प्र. पा.

व्यवहारनिश्चय नय की उपयोगिता

शंका—शुद्ध निश्चयनय किस अवस्था में प्रयोजनवान है और व्यवहारनय किस अवस्था में प्रयोजनवान है ?

समाधान—इस सम्बन्ध में श्री समयसारजी में गाथा सं० १२ इसप्रकार है—

शुद्धो शुद्धादेशो णायव्वो परमभाववरिसीहि ।

व्यवहारदेसिवा पुण जे तु अपरमेट्टिवा भावे ॥

अर्थ—जो (अन्तिम पाक से उतरे हुए शुद्ध स्वर्ण के समान) उत्कृष्ट भाव का अनुभव करने वाले हैं उनको तो शुद्धनय—जो शुद्ध का उपदेश करनेवाला है, जानने योग्य है । जो पुरुष (प्रथम, द्वितीय आदि अनेक पाकों की परम्परा से पच्यमान अशुद्धस्वर्ण के समान) अनुत्कृष्टभाव में स्थित हैं, वे व्यवहार का उपदेश करने योग्य हैं ।

जिनके तीन मकार (मद्य, मांस, मधु) पाँच उदम्बरफल इन आठ का त्याग नहीं है अर्थात् जो मधु आदि का तथा सूखे हुए पाँच उदम्बर फलों का औषधि आदि में प्रयोग करते हैं वे जिनधर्म के उपदेश देने वाले तो क्या, उपदेश सुनने के भी पात्र नहीं हैं । श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में इसप्रकार कहा है—

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ष्यं ।

जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ॥७४॥

अर्थ—अनिष्ट, दुस्तर और पापों के स्थान इन आठों का त्याग करके निर्मल बुद्धिवाले पुरुष जिनधर्म के उपदेश के पात्र होते हैं ।

—जै. सं. 22-11-56/VI/ दे. घ.

१. भेद निश्चय का विषय नहीं है

२. कोई भी नय अथवा नय का विषय असमीचीन नहीं होता

शंका—‘शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि में भेद नहीं है ।’ क्या इसका यह अभिप्राय है कि पदार्थ में ही भेद नहीं है ? आगम में जो भेद का कथन है क्या वह अवास्तविक, झूठ, काल्पनिक है ? यदि वस्तु सर्वथा अभेद अखंड-रूप है तो क्या ऐसी वस्तु सत् रूप हो सकती है ?

समाधान—‘शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि में भेद नहीं है’ इसका यह अभिप्राय है कि ‘भेद’ शुद्ध निश्चयनय का विषय नहीं है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वस्तु में भेद ही नहीं है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है ।

अनेकान्त में अनेक का अर्थ एक से अधिक और ‘अन्त’ का अर्थ ‘धर्म’ है, अतः प्रत्येक वस्तु में अनेक अर्थात् एक से अधिक धर्म होते हैं । अथवा एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी दो धर्मों को अनेकान्त कहते हैं । श्री अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार टीका के स्याद्वादाधिकार में कहा भी है—

‘एकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकांतः ।’

अर्थ—एक वस्तु में वस्तुत्व की उपजानेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकांत है ।

अर्थात्—यदि एकवस्तु में परस्पर विरुद्ध दो धर्मों को न माना जावे तो वस्तु का ही लोप हो जायगा। जैनेतर समाज एकवस्तु में दो विरुद्धधर्मों को स्वीकार नहीं करती, क्योंकि परस्पर विरुद्ध दो धर्मों को स्वीकार करने से वस्तु नित्य भी है अनित्य भी है (ऐसा भी है, ऐसा भी है) ऐसा अमात्मक ज्ञान होने से प्रमाण ज्ञान न रहकर संशय ज्ञान हो जायगा। अनेकान्त का यथार्थ समझे बिना जैनेतर और कुछ जैन विद्वानों को भी अनेकान्त के विषय में ऐसा भ्रमात्मक ज्ञान हो गया है, इसलिये वे अनेकान्त का स्वरूप 'नित्य है अनित्य नहीं है; नियति (पर्यायों का क्रमनियत) है, अनियत नहीं है; काल है (सर्वकार्य अपने नियतकाल पर होते हैं), अकाल नहीं है' कहकर एक ही धर्म को सिद्ध करते हैं, क्योंकि 'नित्य है' इसमें 'नित्य' धर्म को स्वीकार किया गया है, 'अनित्य नहीं है' इसमें 'अनित्य' धर्म को स्वीकार नहीं किया, किन्तु उसका निषेध कर नित्यधर्म के ही अस्तित्व का कथन किया गया है। अनेकान्त का ऐसा स्वरूप मानने वाले 'अनेकान्त' के मानने वाले नहीं हैं, किन्तु एकान्त मिथ्यात्व को मानने वाले हैं।

वस्तु अनेकान्तात्मक है, इसका अर्थ यह है कि वस्तु भेदाभेदात्मक, नित्यानित्यात्मक, नियति-अनियति-आत्मक इत्यादिरूप है। परस्पर विरुद्ध दो धर्मों में से एकधर्म द्रव्याधिक (निश्चय) नय का विषय है और दूसरा पर्यायाधिक (व्यवहार) नय का विषय है, क्योंकि नय का लक्षण 'विकलादेश' है अर्थात् नय एकधर्म को ग्रहण करती है।

भेद-अभेद इन परस्पर विरोधी दो धर्मों में से यद्यपि 'भेद' निश्चयनय का विषय नहीं है, तथापि इसका यह अर्थ नहीं कि 'भेद' सर्वथा नहीं है, भ्रूठ है, काल्पनिक है, अवास्तविक है इत्यादि। भेद के अभाव में अभेद के अभाव का प्रसंग आ जायगा, क्योंकि 'सर्व सप्रतिपक्ष' है। ऐसा जैनधर्म का मूल सिद्धान्त है।

कहा भी है—

'सर्वस्स सप्पडिवक्खस्सुवलंभादो ।' [ज. ध. पु. १ पृ. ५३]

अर्थ—समस्त (पदार्थ) अपने प्रतिपक्ष सहित ही उपलब्ध होते हैं।

'पडिवक्खाभावे अप्पिवस्स वि अभावप्पसंगा ।' [ध. पु. ६ पृ. ६३]

अर्थ—प्रतिपक्षी के अभाव में विवक्षित के अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है।

'सर्वस्स सप्पडिवक्कस्स उवलंभण्णाणुववत्तीदो ।' [ध. पु. १४ पृ. २३४]

अर्थ—सब सप्रतिपक्ष पदार्थों की उपलब्धि अन्यथा बन नहीं सकती। इन सब आर्षवाक्यों से सिद्ध हो जाता है कि यदि 'अभेद' है तो उसका प्रतिपक्षी भेद अवश्य है।

'भेद' व्यवहारनय का विषय है, क्योंकि व्यवहार, विकल्प, भेद तथा पर्याय इन शब्दों का एक ही अर्थ है। गो. सा. जी. गाथा ५०२ में कहा भी है—

'व्यहारो य वियप्पो भेदो तह पण्णओ त एण्हो ।'

वस्तु में परस्पर विरोधी दो धर्म हैं। उनमें से एकधर्म निश्चयनय का विषय है और दूसरा धर्म व्यवहार-नय का विषय है। दोनों धर्म सत्यार्थ हैं, इसलिये दोनों नयों का विषय भी सत्यार्थ है। जब दोनों नयों का विषय भी सत्यार्थ है तो दोनों नय भी सत्यार्थ हैं।

दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ मानने को जो भ्रम बतलाते हैं वे स्वयं भ्रम में पड़े हुए हैं, क्योंकि उन्होंने नय के यथार्थस्वरूप को नहीं समझा है अथवा वे एकांत मिथ्यादृष्टि हैं। कहा भी है—

धिष्यद्वयणिज्जसच्चा सव्वणया परविद्याल्लो मोहा ।

ते उण ण विद्वुसमओ विभयइ सच्चे व अल्लिए वा ॥ ज. ध. पु. १ पृ. २५७

अर्था—ये सभी नय अपने विषय के कथन करने में समीचीन हैं और दूसरे नयों के निराकरण में मूढ़ हैं। अनेकांतरूप समय के ज्ञाता पुरुष 'यह नय सच्चा है और यह नय झूठा है' इसप्रकार का विभाग नहीं करते।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी समयसार गाथा १४ की टीका में कहा है—

'आत्मनोनाविबद्धस्य बद्धस्पृष्टत्वपर्यायिणानुभूयमानतायां बद्धस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकांततः पुद्गलस्पृश्यमात्म-
स्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थ.....।'

अर्था—अनादिकाल से बंध को प्राप्त हुए आत्मा का, पुद्गल से स्पृशितरूप पर्याय की अपेक्षा (व्यवहारनय की दृष्टि से) अनुभव करने पर बद्धस्पृष्टता भूतार्थ है, तथापि पुद्गल से किंचित्मात्र भी स्पृशित न होने योग्य आत्मस्वभाव की अपेक्षा (निश्चयनय से) अनुभव करने पर बद्ध-स्पृष्टता अभूतार्थ है।

यहाँ पर अभूतार्थ का अर्थ सर्वथा झूठ है ऐसा नहीं है, किन्तु निश्चयनय का विषय नहीं है। यह अर्थ ग्रहण करना चाहिये।

'भेद' वस्तु का धर्म है जो वास्तविक है झूठ नहीं है और व्यवहारनय का विषय है।

—जै. ग. 8-10-64/IX/ जयप्रकाश

**सापेक्षनय मोक्ष का कारण है निश्चय निरपेक्ष व्यवहार व्यवहाराभास है,
अग्रहंत का स्वरूप जानकर उनकी पूजा करना व्यवहाराभास नहीं है**

शंका—व्यवहार और निश्चयनय का परस्पर स्वरूप क्या विपरीत है या एक दूसरे का पूरक है? कई लोगों की ऐसी मान्यता है कि यदि दृष्टि में निश्चयनय का लक्ष्य नहीं है तो वह 'व्यवहार' व्यवहाराभास है। हमारे बहुत से पूर्वज निश्चयनय को नहीं जानते तो क्या उनकी पूजनावि सभ क्रियायें व्यवहाराभासकोटि की हैं? आप उक्तमत से कहाँ तक सहमत हैं? विस्तारपूर्वक समझाइये।

समाधान—नय का लक्षण इसप्रकार है—'उच्चारण किये गये अर्थपद और उसमें किये गये निक्षेप को देखकर (समझकर) पदार्थ को ठीक निर्णयतक पहुँचा देते हैं, इसलिये वे 'नय' कहलाते हैं ॥३॥ अनेक गुण और अनेकपर्यायोंसहित, अथवा उनके द्वारा एक परिणाम से दूसरे परिणाम में, एकक्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में और एककाल से दूसरे काल में अविनाशी स्वभावरूप से रहनेवाले द्रव्य को ले जाता है अर्थात् द्रव्य का ज्ञान करा देता है उसे नय कहते हैं ॥४॥' ष० खं० पु० १ पृ० १०-११।

नयका कथन इसलिये किया जाता है कि—'यह नय पदार्थों का जैसा स्वरूप है उसरूप से उनके ग्रहण करने में निमित्त होने से मोक्ष का कारण है ॥८५॥ नय श्रेयस् अर्थात् मोक्ष का अपदेश अर्थात् कारण है, क्योंकि वह पदार्थों के यथार्थरूप से ग्रहण करने में निमित्त है।' (ज. ध. पु. १ पृ. २११) मो. शा. अ. १ सूत्र ६ में भी

कहा है—'प्रमाणनयैरधिगमः ।' अर्थात् 'प्रमाण और नय से वस्तु का ज्ञान होता है ।' प्रमाण और नय से उत्पन्न वाक्य भी उपचार से प्रमाण और नय है, उन दोनों से उत्पन्न उभयबोध विधि-प्रतिषेधात्मक वस्तु को विषय करने के कारण प्रमाणता को धारण करते हुए भी कार्य में कारण का उपचार करने से प्रमाण व नय है, इसप्रकार सूत्र में ग्रहण किये गये हैं । नयवाक्य से उत्पन्नबोध प्रमाण ही है, नय नहीं है, इस बात के ज्ञापनार्थ 'उन दोनों से वस्तु का ज्ञान होता है' ऐसा कहा जाता है । (ष० ख० पु० ९ पृ० १६४) ।

उक्त आगमप्रमाणों से यह स्पष्ट है कि नय के द्वारा वस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है इसलिए 'नय' मोक्ष का कारण है । यहाँ पर यह नहीं कहा गया कि निश्चयनय तो मोक्ष का कारण है और व्यवहारनय मोक्ष का कारण नहीं है । निश्चय या व्यवहार कोई भी नय हो यदि अन्यनय सापेक्ष है तो मुनय है, मोक्ष का कारण है यदि अन्यनय निरपेक्ष है तो मिथ्यात्व व संसार का कारण है ।

व्यवहारनय और निश्चयनय का स्वरूप अनेक प्रकार से कथन किया गया है उन सबका यहाँ पर लिखना असम्भव है फिर भी कुछ लक्षण इसप्रकार हैं—

बंधक और मोक्षक ग्रन्थ परमाणु के साथ संयुक्त होनेवाले और उससे वियुक्त होनेवाले परमाणु की भाँति आत्मद्रव्य 'व्यवहारनय' से बंध और मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करनेवाला है । अकेले वध्यमान और मुच्यमान ऐसे बंधमोक्षोचित स्निग्धत्व-रूक्षत्वगुरारूप परिणत परमाणु की भाँति आत्मद्रव्य निश्चयनय से बंध और मोक्ष में श्रद्धैत का अनुसरण करनेवाला है । (प्र. सा. परिशिष्टनय नं० ४४ व ४५) ।

यहाँ पर यह कथन किया गया है कि आत्मा द्रव्यकर्मों से बंधता और मुक्त होता है यह तो व्यवहारनय का विषय है । इस कथन में यह गौरा है कि आत्मा अपने रागादिभावों से द्रव्यकर्म से बंधता और वीतरागभाव के कारण द्रव्यकर्म से मुक्त होता है, क्योंकि रागादि व वीतरागभावों के बिना आत्मा कर्मों से बद्ध व मुक्त नहीं हो सकता जैसा कि समयसार गाथा १५० में कहा है—'रत्तोबंधदि कम्मं सु'चदि जीवो विरागसंपत्तो ।'

निश्चयनय के इस कथन में 'कि आत्मा अपने रागादिभावों से बंधता है और वीतरागभावों से मुक्त होता है' यह बात गौरा है कि आत्मा अपने भावों के कारण कर्मों से बंधता व मुक्त होता है, क्योंकि दूसरे द्रव्य के संयोग के बिना अकेला द्रव्यबंध को प्राप्त नहीं हो सकता है । 'मोक्ष' बंधपूर्वक होता है । जब अकेले द्रव्य में बंध ही नहीं तो मोक्ष का कथन ही नहीं हो सकता है । इसप्रकार निश्चयनय व व्यवहारनय के द्वारा एक ही पदार्थ का कथन है । व्यवहारनय में 'द्रव्यबंध' मुख्य है 'भावबंध' गौरा है । निश्चयनय के कथन में 'भावबंध' मुख्य है 'द्रव्यबंध' गौरा है । कहा भी है—'अपितानपितासिद्धेः ॥३२॥' (मो. शा. अ. ५) मुख्य व गौरा से वस्तु की सिद्धि होती है ।

सामान्य (द्रव्य) विशेष (पर्याय) रूप वस्तु है । विशेषों (पर्यायों) में अनुवृत्त (अन्वय) रूप से स्थित रहनेवाला 'सामान्य' (द्रव्य) है । कहा भी है—'परापरविवर्तव्यापि द्रव्यमूढता मृदिव स्थास्तादिव ॥५॥'

अर्थात्—पूर्वकालभावी और उत्तरकालभावी विशेष-पर्याय तिनविषै व्यापने वाला जो द्रव्य सो ऊर्ध्वता सामान्य है । जैसे स्थास, कोश, कुसूल आदि मृतिका की अवस्थाविवै मृतिका व्यापी है । उस सामान्य (द्रव्य) का क्रम से होनेवाला परिणमन सो विशेष (पर्याय) है । कहा भी है—'एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्याया आत्मनि हर्षविषादादिवत् ॥८॥ (परीक्षा मुख अध्याय ४)

अर्थात् एकद्रव्य विषै क्रमभावी परिणाम हैं ते पर्याय हैं जैसे आत्मा विषै हर्ष-विषाद अनुक्रमतै होय हैं ते पर्याय हैं। इस कथन से यह स्पष्ट है कि सामान्य के बिना 'विशेष' और विशेष के बिना 'सामान्य' नहीं होता। एकका कथन करने पर दूसरे का कथन हो ही जाता है।

पर्याय (विशेष) का कथन करने वाला 'व्यवहारनय' है और द्रव्य (सामान्य) का कथन करनेवाला 'निश्चयनय' है। कहा भी है—'व्यवहारनयः किल पर्यायाधितत्वात् । निश्चयनयस्तु द्रव्याधितत्वात् ।'

(स. सा. गाथा ५६ आत्मख्याति टीका)

'पर्याय' का मुख्यरूप से कथन करने पर 'द्रव्य' का गौरवरूप से कथन हो जाता है और 'द्रव्य' का मुख्यरूप से कथन करने पर 'पर्याय' का गौरवरूप से कथन हो जाता है अतः व्यवहारनय से भी वस्तु का ज्ञान होता है और निश्चयनय से भी वस्तु का ज्ञान होता है क्योंकि दोनों नय सापेक्ष हैं।

निश्चयनय व व्यवहारनय इन दोनों नयों से वस्तु का ज्ञान होता है तो समयसार में 'निश्चयनय' को भूतार्थ और 'व्यवहारनय' को अभूतार्थ क्यों कहा गया ? 'भूतार्थ' का अर्थ है जो 'एक' में हो और 'अभूतार्थ' का अर्थ जो 'एक' में न हो किन्तु अपने होने में दूसरे (अन्य) की भी अपेक्षा रखता हो। निश्चयनय का विषय 'सामान्य' है। 'सामान्य' अनादि-अनन्त होने से अकार्य-अकारण है और उत्पाद-व्ययरहित है। अतः निश्चयनय का विषय 'सामान्य' मात्र एक द्रव्य में होने से और अन्य की अपेक्षा न रखने से भूतार्थ है। किन्तु व्यवहारनय का विषय 'पर्याय' है। 'पर्याय' की उत्पत्ति प्रतिसमय होती है। वह उत्पत्ति अंतरंग (स्व) और बहिरंग (पर) के निमित्तवश होती है। कहा भी है—'उभयनिमित्तवशाद् भावान्तरावाप्तिरुत्पादनमुत्पादः । मृत्पिण्डश्च घटपर्यायिवत् ।' (स. सि. अ. ५ सू. ३० ।)

अर्थात् अन्तरंग और बहिरंग निमित्त के वशसे प्रतिसमय जो नवीनअवस्था की प्राप्ति होती है उसे उत्पाद कहते हैं। जैसे मिट्टी के पिण्ड की घटपर्याय। इसप्रकार व्यवहारनय के विषय 'पर्याय' की उत्पत्ति मात्र एक 'स्व' से न होकर स्व और पर इन दो के निमित्त से होने के कारण 'अभूतार्थ' है।

निश्चयनयनिरपेक्ष 'व्यवहार' व्यवहाराभास है, किन्तु निश्चयनयसापेक्ष व्यवहारनय सुनय है। अरहंत-भगवान की पूजन होती है। अरहंत का स्वरूप बिना जाने अरहंतपूजन होती नहीं है। जो अरहंत को द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने से जानता है वह अपनी आत्मा को जानता है और उसका मोह नाश को अवश्य प्राप्त होता है। (प्र. सा. गा. ८०)। जो अरहंत का स्वरूप जानकर पूजन करता है उसकी क्रियायें व्यवहाराभास कैसे हो सकती हैं? समयसार तो सर्वनयपक्ष से रहित है। कहा भी है—'सध्वण्यपक्खरहिदो भगिदो जो सो समयसारी' और इस समयसार को सम्यग्दर्शन कहते हैं। (समयसार गाथा १४४)।

—जं. स. 13-3-58/VI/ गुलाबचन्द त्राह, लखनऊ

१. 'प्रथम निश्चय, फिर व्यवहार'; यह मान्यता जिनवाणी के विरुद्ध है
२. कार्य को नहीं उत्पन्न करने पर भी कारणपने का अस्तित्व

शंका—व्यवहार पूर्वक निश्चय अथवा निश्चय पूर्वक व्यवहार? क्या प्रथम व्यवहार होता है? फिर निश्चय होता है या प्रथम निश्चय फिर व्यवहार होता है?

समाधान—प्रथम व्यवहार फिर निश्चय होता है, क्योंकि व्यवहार कारण और निश्चय कार्य है। अनादिकाल से मिथ्यात्व के कारण परिभ्रमण करते हुए इस जीव को सर्वप्रथम प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है।

क्षयोपशम या क्षायिकसम्यक्त्व नहीं होता । कारण यह है कि क्षायिकसम्यक्त्व तो क्षयोपशमसम्यक्त्व के पश्चात् होता है और क्षयोपशमसम्यक्त्व उसी जीव के होता है, जिसके सम्यक्त्व प्राप्ति के द्वारा मिथ्यात्व के तीन टुकड़े (सम्यक्त्व, मिश्र प्रकृति और मिथ्यात्वप्रकृतिरूप) हो गये हों, प्रथमोपशमसम्यक्त्व से पूर्व पाँच लब्धियाँ होती हैं । उनमें तीसरी 'देशनालब्धि' है । देशनालब्धि का अर्थ है तत्त्वोपदेश की प्राप्ति । ये पाँच लब्धियाँ मिथ्यात्वगुणस्थान में होती हैं, अनिवृत्तिकरण के अनन्तर समय में मिथ्यात्वकर्म के उदयाभाव से और मिथ्यात्व व चार अनन्तानुबन्धीकषाय के उपशम से प्रथमोपशमसम्यक्त्व की प्राप्ति होती है । देशनालब्धि की प्राप्ति व्यवहार है, क्योंकि कारण है और प्रथमोपशमसम्यक्त्व की प्राप्ति निश्चय है । देशनालब्धि से पूर्व अनादिमिथ्यादृष्टि को यह भी ज्ञान नहीं होता कि जीव (आत्मा) भी कोई पदार्थ है । आत्मा का नाम तक सुने बिना उमको जानने की रुचि कैसे हो सकती है । आत्मासम्बन्धी उपदेश बिना 'आत्मा कोई वस्तु है' ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता । अतः प्रथम देशनालब्धि (व्यवहार) पश्चात् उपशमसम्यक्त्व (निश्चय) होता है । देखो—ष. ख. पु. ६, पृ. २०४ ।

प्रतिशंका—यह तो सिद्धान्त ग्रन्थों की अपेक्षा से कहा है, परन्तु आध्यात्मिकग्रन्थों में तो ऐसा नहीं है ।

समाधान—आध्यात्मिकग्रन्थों में भी यही कहा गया है कि प्रथम व्यवहार पश्चात् निश्चय होता है । श्री समयसार गाथा ३८ की टीका में श्री अमृतचन्द्रसुरि ने इसप्रकार लिखा है—'यो हि नामानादिमोहोन्मत्ततयात्यन्तमप्रतिबुद्धः सन् निर्विष्येण गुरुणानवरतं प्रतिबोध्यमानः कथंचनापि प्रतिबुध्य निजकरतलधिन्यस्तविस्मृतचामीकरावसोकनन्यायेन परमेश्वरमात्मानं ज्ञात्वा श्रद्धायानुचर्य च सम्यगोकात्मारामो भूतः स खल्वहमात्मात्मप्रत्यक्षं प्रत्यक्षं चिन्मात्रं ज्योतिः'.....।

अर्थ—जो अनादि-मोहरूप अज्ञान से उन्मत्तता के कारण अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था और विरक्तगुरु से निरंतर समभाये जाने पर जो किसीप्रकार से समझकर जैसे कोई मुट्टी में रखे हुए सोने को भूल गया हो और सोने को देखे, इस न्याय से आत्मा को जानकर उसका श्रद्धान और आचरण करके जो सम्यक्प्रकार से एक आत्माराम हुआ वह 'मैं' ऐसा अनुभव करता हूँ कि 'मैं अनुभव-प्रत्यक्ष चेतनमात्र ज्योति हूँ' । यहाँ पर प्रथम गुरुउपदेश आदि अर्थात् व्यवहार पश्चात् आत्मश्रद्धान अर्थात् निश्चय कहा है । इसीप्रकार गाथा नं० ३५ की टीका में कहा है जैसे कोई पुरुष घोबी के घर से भ्रमवश दूसरे का वस्त्र लाकर उसे अपना समझ ओढ़कर सोते हुए स्वयं अज्ञानी हो रहा है, किन्तु जब दूसरा व्यक्ति कहता है—'मंक्षु प्रतिबुध्य स्वापर्यपरिवर्तितमेतद्वस्त्रं मामकमित्यसकृद्वाक्यं शृण्वन्नखिलैश्चिह्नैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेतत्परकीयमिति ज्ञात्वा ज्ञानी सन्मुंचति तच्चचिचिवरमचिरात्' तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह मेरा वस्त्र बदले में आ गया है, यह मेरा है सो मुझे दे दे । तब बारम्बार कहे गये इस वाक्य को सुनता हुआ वह सर्वचिह्नों से भली-भाँति परीक्षा करके अवश्य ही यह वस्त्र दूसरे का ही है, ऐसा जानकर ज्ञानी होता हुआ उस वस्त्र को शीघ्र ही त्याग देता है । इसीप्रकार आत्मा भी भ्रमवश परद्रव्य के भावों को ग्रहण करके उन्हें अपना जानकर अपने में ही एक रूपकर सो रहा है और स्वयं अज्ञानी हो रहा है । जब श्रीगुरु कहते हैं—'मंक्षु प्रतिबुध्यस्वेकः खल्वयमात्मेत्यसकृच्छ्रौतं वाक्यं शृण्वन्नखिलैश्चिह्नैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेते परमावा इति ज्ञात्वाज्ञानी सन् मुंचति सर्वापरभावानचिरात्' तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह तेरा आत्मा वास्तव में एक ही है । तब बारम्बार कहे गये इस आगम के वाक्य को सुनता हुआ वह ज्ञानी समस्त चिह्नों से भली-भाँति परीक्षा करके अवश्य ही ये परभाव हैं, यह जानकर ज्ञानी होता हुआ सर्व परभावों को तत्काल छोड़ देता है । यहाँ पर भी प्रथम गुरु का उपदेश आदि अर्थात् व्यवहार, पश्चात् ज्ञानी हुआ अर्थात् निश्चय हुआ । श्री समयसार की गाथा नं० १२ में तो इस विषय को स्पष्ट ही कर दिया है—

सुद्धो सुद्धावेसो, णायव्वो परमभावदरिसीहि ।

व्यवहारदेसिदा पुण, जे वु अपरमेट्ठिदा भावे ॥१२॥

अर्थ—जो शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धावान हुए तथा पूर्णज्ञान चारित्रवान हो गये उन्हें तो शुद्धात्मा का उपदेश करनेवाला शुद्धनय जानने योग्य है। और जो जीव अपरमभाव अर्थात् श्रद्धा तथा चारित्र के पूर्णभाव को नहीं पहुँच सके हैं, साधक अस्थिति में ही स्थित हैं वे व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य हैं। व्यवहार को तीर्थ और निश्चय को तीर्थफल कहा है 'तीर्थतीर्थफलयोरित्थमेव व्यवस्थितत्वात्'। [समयसार गाथा नं० १२ पर आत्मख्याति टीका] उक्त हिन्दीअनुवाद में इसका भावार्थ कोष्ठक में इसप्रकार दिया है 'जिससे तिरा जाय वह तीर्थ है ऐसा व्यवहारधर्म है और पार होना व्यवहार धर्म का फल है।' जो मनुष्य पार हो गया उसको तिरने की क्या आवश्यकता है। अतः निश्चय के पश्चात् व्यवहार होता है, ऐसा कहना निरर्थक है।

प्रतिशंका—जिस मनुष्य को शुद्ध आत्मस्वरूप का ही निश्चय नहीं हुआ वह उसकी प्राप्ति का उपाय कैसे करेगा। जिसप्रकार बम्बई का निश्चय हो जाने पर ही बम्बई जाने का प्रयत्न होता है। अतः प्रथम निश्चय पश्चात् व्यवहार होता है।

समाधान—यह दृष्टान्त विषम है। इस दृष्टान्तद्वारा निश्चयसम्यक्त्व के पश्चात् व्यवहारचारित्र सिद्ध किया गया है, परन्तु इस दृष्टान्त से यह सिद्ध नहीं होता कि निश्चयसम्यक्त्व के पश्चात् व्यवहारसम्यक्त्व या निश्चयचारित्र के पश्चात् व्यवहारचारित्र होता है। जिस हेतु द्वारा बम्बई का निश्चय किया गया वह हेतु ही तो व्यवहार है। इसीप्रकार जो तत्त्वोपदेशादि आत्मस्वरूप के निश्चय में कारण है वह व्यवहार है, क्योंकि, पंडितवर दौलतरामजी ने छहढाला की तीसरीढाल में व्यवहार को 'हेतु नियत को होई' ऐसा कहा है। इसीप्रकार आराधना-सार गाथा १२ में कहा है कि व्यवहार-आराधना निश्चय-आराधना का कारण है। अतः प्रथम तत्त्वोपदेशादि की प्राप्ति (व्यवहार) पश्चात् आत्मस्वरूप का निश्चय होता है।

प्रतिशंका—निश्चय हो जाने पर ही पर में कारणपने का उपचार किया जाता है। जब तक निश्चय की प्राप्ति न हो जावे तब तक किसी में कारणपने का आरोप करना कैसे सम्भव है? अतः प्रथम निश्चय पश्चात् व्यवहार होता है।

समाधान—जिस पदार्थ में 'कारणपने' का उपचार किया जाता है, उस पदार्थ में कारणपने की शक्ति पहले से ही थी या कार्य होने के पश्चात् आई है? यदि कारणपने की शक्ति पहले से ही थी तो कार्य पश्चात् कारणपने का आरोप किया जाता है, यह कहना नहीं बनता। यदि कार्य के पश्चात् कारणशक्ति उत्पन्न हुई तो वह कारणशक्ति कार्य की उत्पत्ति में अक्रिचित्कर रही; क्योंकि कार्य तो पहले ही हो चुका था। यदि यह कहा जावे कि कारणपने की कोई शक्ति नहीं है, कारणपने की केवल कल्पना करली जाती है। तो उस पर यह प्रश्न उठता है कि प्रतिविशिष्ट पदार्थ में ही कारणपने की कल्पना क्यों की जाती है। घट की उत्पत्ति में कुम्भकार को ही क्यों कारण कहा जाता है? उसके छोटे-छोटे बालकों को जो घट की उत्पत्ति के समय वहाँ खेल रहे थे, घट की उत्पत्ति में कारण क्यों नहीं कहा जाता। अतः यह सिद्ध हो जाता कि कारणपना काल्पनिक नहीं है। जिसमें कारणपने की शक्ति होती है उसी को कारण कहा जाता है। धर्मद्रव्य का लक्षण गतिहेतुत्व, अधर्मद्रव्य का लक्षण स्थितिहेतुत्व और आकाशद्रव्य का अवगाहनहेतुत्व कहा है—

गमणणिमित्तं धम्ममधम्मं ठिदि जीवपुण्णलाणं च ।

अवगहणं आयासं, जीवादी सव्वदव्वाणं ॥३०॥ नियमसार

यदि जिससमय जीव और पुद्गल गमन करते हैं, केवल उसी समय धर्मद्रव्य में गतिहेतुत्व का उपचार किया जाता है, तो धर्मद्रव्य का लक्षण 'गतिहेतुत्व' नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि त्रैकालिक असाधारणगुण को लक्षण कहते हैं। अन्यथा अतिव्याप्ति-अव्याप्तिदोष आ जायगा। इसीप्रकार जीवादि को अवगाहन देने के समय ही आकाश में अवगाहनहेतुत्व कहा जाय तो अलोकाकाश के अभाव का प्रसंग आ जायगा, क्योंकि अलोकाकाश तो जीवादि को अवगाहन नहीं देता और अवगाहन न देने के कारण अलोकाकाश में अवगाहनहेतुत्व भी नहीं कहा जा सकेगा और अवगाहनहेतुत्व लक्षण के अभाव में अलोकाकाश लक्ष्य के अभाव का भी प्रसंग आ जायगा। अतः विशिष्टपदार्थ का हेतुत्व विद्यमान है। कार्य होने पर ही कारण का उपचार होता है, ऐसी बात नहीं है। अतः प्रथम निश्चय फिर व्यवहार; यह सिद्ध नहीं होता है।

प्रतिशंका—जहाँ कारण होते हुए भी कार्य नहीं होता वहाँ कारणपने ने क्या किया ? जैसे किसी को तत्त्वोपदेश सुनने पर भी सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती है।

समाधान—कार्य को उत्पन्न न करने पर भी कारणत्वशक्ति का अभाव सिद्ध नहीं होता है। श्री वीरसेन स्वामी ने इस विषय को बहुत स्पष्ट किया है—

‘मंगलं काऊण पारद्वकज्जाणं क्हिं पि विग्घुवलंभादो तमकाउण पारद्वकज्जाणं पि कत्थं वि विग्घाप्ताव-
दंसणादो जिण्णिदणमोक्कारो ण विग्घविणासओत्ति ? ण एस दोसो कयाकयभेसयाणं बाहीणमविणासविणासदंसणे-
णावगयवियहिचारस्स वि मारिचादि-गुणस्स भेसयत्तुवलंभादो । ओसहाणमोसहत्तं ण विणस्सदि, असज्जवाहिबदिस्सि-
सज्जवाहिविसए चेव तेसिं वावारब्भुवगमादोत्ति चे जदि एवं तो जिण्णिदणमोक्कारो वि विग्घविणासओ, असज्जविग्घ-
फलकम्मभुज्जिदूण सज्जविग्घफलकम्मविणासे वावारदंसणादो । ण च ओसहेण समाणो जिण्णिदणमोक्कारो, णाण-
ज्ञाणसहायस्स संतस्स णिव्विग्घगिगस्स अवज्जिदणणाण व असज्जविग्घफलकम्ममाणमभावादो ।’

शंका—मंगल करके भी प्रारम्भ किये गये कार्यों में कहीं पर बिघ्न पाये जाने से, और उसे न करके भी प्रारम्भ किये गये कार्यों के कहीं पर बिघ्नों का अभाव देखे जाने से जिनेन्द्र नमस्कार बिघ्नविनाशक नहीं है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जिन व्याधियों की औषधि की गई है उनका अविनाश और जिनकी औषधि नहीं की गई है उनका विनाश देखे जाने से व्यभिचार जात होने पर भी मरीच अर्थात् कालीमिर्च आदि औषधि-द्रव्यों में औषधित्वगुण पाया जाता है। यदि कहा जाय कि औषधियों का औषधित्व [उनके सर्वत्र अचूक न होने पर भी] इसकारण नष्ट नहीं होता, क्योंकि, असाध्यव्याधियों को छोड़करके केवल साध्यव्याधियों के विषय में ही उनका व्यापार माना गया है, तो जिनेन्द्र-नमस्कार भी उसीप्रकार बिघ्नविनाशक माना जा सकता है, क्योंकि, उसका भी व्यापार असाध्यविघ्नों के कारणभूत कर्मों को छोड़कर साध्यविघ्नों के कारणभूत कर्मों के विनाश में देखा जाता है। दूसरी बात यह है कि सर्वथा औषधि के समान जिनेन्द्रनमस्कार नहीं है, क्योंकि जिस-प्रकार निर्विघ्न अग्नि के होते हुए न जल सकने वाले ईन्धनों का अभाव रहता है उसीप्रकार उक्त नमस्कार के ज्ञान व ध्यान की सहायता युक्त होने पर असाध्यविघ्नोत्पादक कर्मों का भी अभाव होता है। प. खं. पु. ९ पृ. ५

एक कार्य के लिये अनेक कारण होते हैं जैसे रोटी बनाने में आटा, जल, अग्नि आदि अनेक कारण होते हैं। यदि उनमें से किसी एक कारण अर्थात् आटा, जल या अग्नि का अभाव हो तो कार्य अर्थात् रोटी नहीं बन सकती। इसीप्रकार सम्यक्त्वोत्पत्ति में तत्त्वोपदेश के अतिरिक्त ज्ञानावरणकर्म का विशेष क्षयोपशम, मिथ्यात्व का मंदोदय परिणामों में विशुद्धता, तथा तत्त्वाभ्यासरूप पुरुषार्थ की भी आवश्यकता होती है। इन कारणों में से किसी भी एक कारण के अभाव में मात्र तत्त्वोपदेश सुनने से सम्यक्त्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

प्रतिशंका—एक कारण से भिन्न-भिन्न कार्यों की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? वेश्या के मृतकशरीर के देखने से साधु, कामीपुरुष व कुत्ते के भिन्न-भिन्न भाव पाये जाते हैं । कार्य के हो जाने पर ही कारण का केवल आरोप किया जाता है । अतः कार्य अर्थात् निश्चय प्रथम होता है और कारण का उपचार अर्थात् व्यवहार, निश्चय के पश्चात् होता है ।

समाधान—एकद्रव्य में अनन्त गुण पाये जाते हैं । अतः भिन्न-भिन्न गुणों की अपेक्षा एक कारण से अनेककार्यों की उत्पत्ति में कोई विरोध नहीं है । जैसे एकअग्नि के निमित्त से भात का पकना, कपड़े का जलना और प्रकाश आदि अनेक कार्य होते हुए पाये जाते हैं । अथवा अन्यद्रव्य के संयोग से एक ही कारण से अनेककार्य होने में कोई विरोध नहीं है । एक ही औषधि को यदि उष्णजल के साथ सेवन किया जावे तो उसका परिणाम अन्य प्रकार का होगा, यदि उसी औषधि को शीतलजल के साथ सेवन किया जावे तो उसका परिणाम अन्यप्रकार का होगा । वेश्या के मृतकशरीर के दृष्टान्त में साधु को असमान जाति मनुष्यपर्यायि कारण पड़ी कि यह अमूल्य मनुष्य भव वृथा विषय भोगों में खो दिया । कामी पुरुष को वेश्या का रूप कारण पड़ा जिससे उसके विषय सेवन की इच्छा हुई और कुत्ते को रस गुण कारण पड़ा जिससे उसके मांस-भक्षण के भाव हुए । अथवा साधु, कामी पुरुष और कुत्ते के भिन्न-भिन्न प्रकार की कषाय थी जिनके संयोग से एक ही कारण से अनेक कार्यों की उत्पत्ति हुई । श्री बीरसेन स्वामी ने भी कहा है—‘कथं पुन एसो जिणिदणमोषकारो एवको चेव संतो अणेयकज्जकारो? ण, अणेयविहणणचरण सहेज्जस्स अणेयकज्जुप्पायणेविरोहाभावादो ।’

अर्थ—तो फिर यह जिनेन्द्र नमस्कार एक ही होकर अनेककार्यों का करनेवाला कैसे होगा ? नहीं, क्योंकि अनेक प्रकार के ज्ञान व चारित्र्य की सहायता युक्त होते हुए उसके अनेककार्यों के उत्पादन में कोई विरोध नहीं है (ब.खं. पु. ९ पृ. ४) । अतः कार्य (निश्चय) के पश्चात् कारण (व्यवहार) कहना किसी भी आगम या युक्ति से सिद्ध नहीं होता । यदि कहीं पर किसी आगम में ‘प्रथम निश्चय फिर व्यवहार’, ऐसा कहा हो तो शंकाकार उस आगम को प्रमाणस्वरूप में उपस्थित करे, जिससे उस पर विचार हो सके ।

—जं. ग. 14, 21-2-63/IX/ हरीधन्द

व्यवहारपूर्वक निश्चय होता है

शंका—लोग मोक्ष के असली स्वरूप को नहीं समझते अतः वास्तविकस्वरूप का ज्ञान कराने के लिये निश्चयपूर्वक ही व्यवहार के द्वारा शुद्धस्वरूप का ज्ञान कराने वास्ते उन्होंने (श्री कानजीस्वामी ने) ग्रन्थों की रचना की । फिर भी पण्डित उनसे बिना कारण द्वेषबुद्धि कर मनोजवक्ता की निन्दा कर कर्म का खोटा बन्ध कर रहे हैं ।

समाधान—शंकाकार के कहने का आशय यह है कि निश्चयपूर्वक ही व्यवहार होता है । जैसा कि श्री कानजीस्वामी ने चंद्र २४८० के विशेषाङ्क आत्मधर्म पृ० ४२३ पर इसप्रकार लिखा है—‘पहले व्यवहार और फिर निश्चय ऐसा माननेवालों के अभिप्राय में और अनादिकालीन मिथ्यादृष्टि के अभिप्राय में कोई अन्तर नहीं है, दोनों व्यवहारमूढ़ हैं ।’ फिर पण्डित लोग श्री कानजीस्वामी के इस मतका खण्डन क्यों करते हैं ?

१. नोट—निमित्त-दृष्टि से देखने पर इसे ऐसा भी कहा जा सकता है कि एक वेश्या के मृतशरीररूप निमित्त में कितनी अविष्ट हैं कि उसने तीन जनों में तीन भिन्न-२ परिणाम करा दिये ।

—सम्पादक

इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम यह कहना है कि श्री कानजीस्वामी के इस मतका खण्डन सोनगढ़ से प्रकाशित मोक्षशास्त्र पृष्ठ १३७ के इन शब्दों द्वारा हो रहा है। वे शब्द इसप्रकार हैं—'व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शन का कारण नहीं हो सकता किन्तु उसका व्यय (अभाव) होकर निश्चय सम्यग्दर्शन का उत्पाद सुपात्र जीवों को अपने पुरुषार्थ से होता है।' सोनगढ़ मोक्षशास्त्र के उक्त वाक्यों से स्पष्ट है कि प्रथम व्यवहार सम्यग्दर्शन होता है उसके बाद निश्चयसम्यग्दर्शन होता है जबकि उक्त आत्म धर्म में निश्चय को पूर्व में कहा है और व्यवहार को उसके (निश्चयके) पश्चात् कहा है।

स्वयं श्रीकानजीस्वामी ने आत्मधर्म नं० १३४, पृष्ठ ३९, कालम २ में इसप्रकार कहा है—'निश्चयरत्नत्रय वह मोक्षमार्ग है और व्यवहाररत्नत्रय उससे विपरीत अर्थात् बन्धमार्ग है।' यहाँ पर व्यवहाररत्नत्रय को बन्धमार्ग अर्थात् संसारमार्ग अथवा संसार-कारण कहा है और निश्चयरत्नत्रय को मोक्षमार्ग कहा है। संसारपूर्वक मोक्ष होता है ऐसा सिद्धांत है, क्योंकि जीव अनादिकाल से निगोद में पड़ा हुआ था। जब संसार पहले है और फिर मोक्ष है तो संसार कारण अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय भी पहले होगा और मोक्षमार्ग अर्थात् निश्चयरत्नत्रय उसके बाद में होगा। यदि निश्चयरत्नत्रय को पहले और निश्चयके पश्चात् व्यवहार को माना जावे तो मोक्षपूर्वक संसार होने का प्रसंग आ जावेगा अर्थात् मुक्त जीव भी कर्मबन्ध से सहित होकर संसार में भ्रमण करने लगेंगे। इसप्रकार श्री कानजीस्वामी का उक्तमत स्ववचनबाधित है।

इस विषय में महान् आचार्यों का कहना है कि व्यवहार साधन है और निश्चय साध्य है। साधन से ही साध्य की सिद्धि होती है, क्योंकि साधन के होने पर ही साध्य की प्राप्ति होती है अतः साधन व साध्य का अविनाभावी सम्बन्ध है। साधन पूर्व में होता है अर्थात् व्यवहारनय पूर्व में होता है। आगमप्रमाण इसप्रकार है—
तीर्थतीर्थफलयोरित्थमेव व्यवस्थितत्वात् । उक्तं च—

जइ जिणमयं पवउजह ता मा व्यवहारणिञ्छए सुयह ।

एकेण विणा छिउजइ तित्थं अप्पेण उण तच्चं ॥ स. सा. १२ आत्मख्याति टीका ॥

अर्थ—तीर्थ और तीर्थके फलकी ऐसी ही व्यवस्था है। (जिससे तिरा जाए वह तीर्थ है, ऐसा व्यवहार धर्म है और पार होना व्यवहार धर्म का फल है।) अन्यत्र भी कहा है—आचार्य कहते हैं कि हे भव्यजीवों ! यदि तुम जिनमत का प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों को मत छोड़ो, क्योंकि व्यवहार के बिना तीर्थ का नाश हो जायगा और निश्चय के बिना तत्त्व का नाश हो जायगा।

[नोट—यह किसी पण्डित की निजी बात नहीं है, किन्तु समयसार की बात है। अब निश्चय को पहले कहने वाले विचार करें कि तीर्थफल पहले होता है या तीर्थ ।]

श्री परमात्मप्रकाश अध्याय २ गाथा १२ की टीका में कहा है—भेदरत्नत्रयात्मको व्यवहारमोक्षमार्गो साधको भवति, अभेद रत्नत्रयात्मकः पुनर्निश्चयमोक्षमार्गः साध्यो भवति, एवं निश्चयव्यवहार मोक्षमार्गयोः साध्य-साधकभावो ज्ञातव्यः सुवर्णसुवर्णपाषाणवत् इति ।

अर्थ—भेदरत्नत्रयात्मक व्यवहारमोक्षमार्गसाधक होता है और अभेदरत्नत्रयात्मक निश्चयमोक्षमार्ग साध्य होता है। इसप्रकार निश्चय व व्यवहारमोक्षमार्ग के साध्य-साधकभाव जानना चाहिये जिसप्रकार सुवर्णपाषाण साधक है और सुवर्ण साध्य है।

श्री परमात्मप्रकाश अ० २ गाथा १४ (अथवा गाथा १४०) की टीका में इसप्रकार कहा है— साधको व्यवहारमोक्षमार्गः, साध्यो निश्चयमोक्षमार्गः । अत्राह शिष्यः । निश्चयमोक्षमार्गो निर्विकल्पः तत्काले सविकल्प-मोक्षमार्गो नास्ति कथं साधको भवतीति ? अत्र परिहारमाह— भूतनैगमनयेन परम्परया भवतीति ।

अर्थ — व्यवहारमोक्षमार्ग साधक है और निश्चयमोक्षमार्ग साध्य है । यहां पर शिष्य प्रश्न करता है कि निश्चयमोक्षमार्ग निर्विकल्प है उस समय (काल) सविकल्पमोक्षमार्ग नहीं होता फिर सविकल्प (व्यवहार) मोक्ष-मार्ग कैसे साधक हो सकता है ? आचार्य महाराज उत्तर देते हैं—भूतनैगमनय की अपेक्षा से (व्यवहाररत्न-त्रयात्मकमोक्षमार्ग निश्चयरत्नत्रयात्मकमोक्षमार्ग का) परम्परया साधक है ।

[नोट—यहां पर भी व्यवहारमोक्षमार्ग को निश्चयमोक्षमार्ग का साधक कहा है । इसके आधार पर इससे विरुद्ध कथन करना उचित नहीं है जैसा सोनगढ़ मोक्षशास्त्र पृ० १२२ पर किया है ।]

इसी गाथा की भाषा टीका में इसप्रकार लिखा है—‘जो अनादिकाल का यह जीव विषय कषायों से मलिन हो रहा है, सो व्यवहार साधन के बिना उज्ज्वल नहीं हो सकता, जब मिथ्यात्व अत्रत कषायादिक की क्षीणता से देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा करे, तत्त्वों का जानपना होवे, अशुभक्रिया मिट जावे, तब वह अध्यात्म का अधिकारी हो सकता है । जैसे मलिन कपड़ा धोने से रंगने योग्य होता है, बिना धोये रंग नहीं लगता इसलिये परम्परया मोक्ष का कारण व्यवहाररत्नत्रय कहा है ।

[नोट—यदि व्यवहाररत्नत्रय का अभाव निश्चयरत्नत्रय का साधक है तो व्यवहाररत्नत्रय का अभाव तो निगोदिया जीव के भी है, क्या वहाँ भी निश्चयरत्नत्रय हो जाएगा । फिर मोक्षशास्त्र (सोनगढ़ से प्रकाशित) के पत्र १३७ पर ‘व्यवहाररत्नत्रय निश्चय का साधन नहीं है, किन्तु व्यवहार का अभाव निश्चय का साधन है’ ऐसा लिखना कहाँ तक उचित है । साधन किसे कहते हैं, यह कथन आगे किया जावेगा ।]

मोक्षमार्ग साधन है और मोक्ष साध्य है । मोक्षमार्ग तीर्थ है और मोक्ष तीर्थफल है । मोक्षअवस्था में मोक्षमार्ग का सद्भाव नहीं अपितु अभाव है । यदि इससे यह निष्कर्ष निकाला जावे कि मोक्ष का साधन मोक्षमार्ग का अभाव है, मोक्षमार्ग साधन नहीं है तो मिथ्यात्व को भी मोक्ष के साधनपने का प्रसंग आ जायेगा । अतः मोक्ष-मार्ग का अभाव मोक्ष का साधन नहीं है, किन्तु मोक्षमार्ग मोक्ष का साधन है । इसीप्रकार व्यवहाररत्नत्रय निश्चय-रत्नत्रय का साधन है । श्री अमृतचन्द्रसूरिजी ने भी समयसार-आत्मख्याति टीका के अन्त में ‘उपाय-उपेय’ भाव का कथन करते हुए इसप्रकार लिखा है—‘अनादिकाल से मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र्य द्वारा स्वरूप से च्युत होने के कारण संसार में भ्रमण करते हुए, सुनिश्चलतया ग्रहण किये गये व्यवहार सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्य के पाक प्रकर्ष की परम्परा से क्रमशः स्वरूप में आरोहण कराये जाते आत्मा के अन्तर्मन जो निश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यरूप भेद है तद्रूपता के द्वारा स्वयं साधकरूप से परिणामित होता हुआ तथा परमप्रकर्ष की पराकाष्ठा को प्राप्त रत्नत्रय प्रवर्तित जो सकल कर्म के क्षय उससे प्रज्वलित हुए जो अस्खलित विमल स्वभावभावत्व द्वारा स्वयं सिद्धरूप से परिणामता ऐसा एक ही ज्ञान मात्र उपाय-उपेयभाव को सिद्ध करता है । अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय की वृद्धि की परम्परा से जब स्वरूप अनुभव होता है तब निश्चयरत्नत्रय होता है । निश्चयरत्नत्रय वृद्धि को प्राप्त होता हुआ पूर्ण होने पर मोक्ष होता है ।

श्री पंचास्तिकाय की तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति में १५९ गाथा की टीका के पश्चात् इसप्रकार लिखा है— निश्चयव्यवहारयोः साध्यसाधनभावत्वात् सुवर्णसुवर्णपाषाणवत् अर्थात् निश्चय और व्यवहार के साध्य-साधनभाव है जैसे सुवर्ण और सुवर्णपाषाण के माध्य-साधनभाव होता है, (व्यवहार साधन है और निश्चय साध्य है ।)

श्री बृहद्ब्रह्मसंग्रह गाथा १४१ की टीका में इसप्रकार लिखा है—अत्र व्यवहारसम्यक्त्वमध्ये निश्चयसम्यक्त्वं किमर्थं व्याख्यातमितिचेद ? व्यवहारसम्यक्त्वेन निश्चयसम्यक्त्व साध्यते इति साध्यसाधनभावज्ञापनार्थमिति ।

अर्थ—प्रश्न : यहाँ इस व्यवहारसम्यक्त्व के व्याख्यान में निश्चयसम्यक्त्व का वर्णन क्यों किया ?
उत्तर—व्यवहारसम्यक्त्व से निश्चयसम्यक्त्व साधा जाता है । इस साध्यसाधनभाव को बतलाने के लिये व्यवहार-सम्यक्त्व के व्याख्यान में निश्चयसम्यक्त्व का वर्णन किया है ।

श्री बृहद्ब्रह्मसंग्रह गाथा १३ की टीका में भी इसप्रकार लिखा है—अहंतसर्वज्ञप्रणीत निश्चयव्यवहारनय साध्यसाधकभावेन मन्यते इत्यविरतसम्यग्दृष्टैर्लक्षणम् ।

अर्थ—अविरतसम्यक्त्वो यह मानता है कि अहंत सर्वज्ञ के कहे हुए निश्चयनय साध्य है, व्यवहारनय साधक है ।

साधन का अर्थ इसप्रकार है—क्रियोत्पादक हेतुभेदे । क्रियायाः परिनिष्पत्तिर्यद् व्यापारादनन्तरम्, विवक्ष्यते यदा यत्रकरण तत्तत्वास्मृतम् । अर्थात् क्रिया की उत्पत्ति में जो हेतु (कारण) होता है वह 'साधन' अथवा जिस व्यापार के अनन्तर (पश्चात्) क्रिया की निष्पत्ति होती है वह व्यापार साधन कहलाता है । अथवा जिस भाव प्रवर्तों बिना जो अगला भाव न प्रवर्तों वह भावसाधन कहलाता है ।

उपर्युक्त आगमप्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि व्यवहार साधन है जो पहले होता है और निश्चय साध्य है जो व्यवहार के होने पर होता है । अर्थात् व्यवहार के अनन्तर होता है । अतः सोनगढ़ के निम्न मतों का स्वतः खण्डन हो जाता है—

(१) पहले व्यवहार फिर निश्चय ऐसा मानने वाला मिथ्यादृष्टि है । (आत्मधर्म विशेषांक, वर्ष ९)

(२) निश्चयरत्नत्रय मोक्षमार्ग है और व्यवहाररत्नत्रय उससे विपरीत अर्थात् बन्धमार्ग है ।

(आत्मधर्म नं० १३४ पृष्ठ ३९)

(३) व्यवहार करते-करते उसके आश्रय से निश्चयरत्नत्रय हो जाएगा, ऐसा जो मानता है, उसकी श्रद्धा विपरीत है । (आत्मधर्म नं० १३४ पृ० ३९)

(४) व्यवहारसम्यग्दर्शन निश्चयसम्यग्दर्शन का कारण नहीं है (सोनगढ़ मोक्षशास्त्र पृ० १३७)

[पण्डित लोग किसी द्वेषबुद्धि से श्री कानजीस्वामी के मत का खण्डन नहीं करते । वे तो प्रामाणिक प्राचीन आचार्य रचित दि० जैनशास्त्र के अनुकूल व्याख्यान करते हैं । यदि आगम अनुकूल व्याख्यान से दिगम्बर जैन आगमविरुद्ध मान्यताओं का खण्डन होता हो तो इसमें पण्डितों का क्या दोष । इसमें तो आगमविरुद्ध कथन करने वालों का दोष है ।]

— जौ. सं. 14-11-57/.....

व्यवहाररत्नत्रय पहले होता है, तत्पश्चात् निश्चयरत्नत्रय

शंका—व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का कारण है या नहीं ? व्यवहाररत्नत्रय पहले होता है या निश्चयरत्नत्रय पहले होता है ?

समाधान—सुवर्ण और सुवर्णपाषाण में जिसप्रकार साध्य-साधनभाव है, उसीप्रकार निश्चयरत्नत्रय और व्यवहाररत्नत्रय में साध्य-साधनपना है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पंचास्तिकाय में कहा भी है—

‘न चैतद्विप्रतिषिद्धं निश्चयव्यवहारयोः साध्यसाधनभावत्वात् सुवर्ण-सुवर्णपाषाणवत् । अतएवोभयनयात्ता पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तनेति ॥ (गा. १५९ टीका)

निश्चयमोक्षमार्ग साधनभावेन पूर्वोद्दिष्टव्यवहारमार्ग निर्देशोऽयम् ॥ (गाथा १६० की उत्थानिका)

अतो निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गयोः साध्यसाधनभावो नितरामुपपन्न इति । (गा. १६१ टीका) ।

अर्थ—निश्चयरत्नत्रय और व्यवहाररत्नत्रय में परस्पर विरोध आता है, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि सुवर्ण और सुवर्णपाषाण की भाँति निश्चय और व्यवहार का साध्य-साधनपना है, इसीलिये पारमेश्वरी अर्थात् जिन-भगवान की तीर्थप्रवर्तना दोनों नयों के आधीन है। (गा. १५९ टीका)

निश्चयमोक्षमार्ग के साधनरूप से पूर्वोद्दिष्ट व्यवहारमोक्षमार्ग अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय का यह निर्देश है। (गा. १६० की उत्थानिका)

निश्चयमोक्षमार्ग अर्थात् निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और व्यवहारमोक्षमार्ग अर्थात् व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का साध्य-साधनपना अत्यन्त घटित होता है।

जिसप्रकार सुवर्णपाषाण साधन है और सुवर्ण साध्य है उसीप्रकार व्यवहारसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय साधन है और निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अर्थात् निश्चयरत्नत्रय साध्य है। जिसप्रकार सुवर्णपाषाण पहले होता है, पश्चात् उसके द्वारा सुवर्ण प्राप्त किया जाता है, इसीप्रकार व्यवहार पहले होता है, पश्चात् उसके द्वारा निश्चय प्राप्त किया जाता है।

—दौ. ग. 4-3-71/V/ सुलतानसिंह

निश्चय व व्यवहार में साध्यसाधक भाव मानने से ही मुक्ति की सिद्धि होती है

शंका—‘व्यवहाररत्नत्रय करते-करते निश्चयरत्नत्रय हो जायेगा’ ऐसा जो मानता है क्या वह मिथ्यादृष्टि है ?

समाधान—व्यवहाररत्नत्रय पूर्वक ही निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति होती है। व्यवहाररत्नत्रय के बिना निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति नहीं हो सकती अतः व्यवहाररत्नत्रय निश्चयरत्नत्रय का कारण है। ‘व्यवहाररत्नत्रय का अभाव होने पर निश्चयरत्नत्रय की उत्पत्ति होती है अतः व्यवहाररत्नत्रय निश्चयरत्नत्रय का कारण नहीं है किन्तु व्यवहाररत्नत्रय का अभाव निश्चयरत्नत्रय के लिये कारण है।’ ऐसी मान्यता भी ठीक नहीं है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि के व्यवहाररत्नत्रय का अभाव होने पर निश्चयरत्नत्रय का प्रसंग आ जावेगा, किन्तु मिथ्यादृष्टि के निश्चयरत्नत्रय होता ही नहीं। यथार्थश्रद्धान, ज्ञान व चारित्ररूप सामान्यरत्नत्रय उभय (व्यवहार व निश्चय) रत्नत्रय में समानरूप से पाया जाता है अतः ‘व्यवहाररत्नत्रय का सर्वथा अभाव निश्चय का कारण है’ ऐसा कहना उचित नहीं है। यद्यपि कारणसमयसार के विनाश होने पर कार्यसमयसार का उत्पाद होता है, किन्तु उन दोनों का आधारभूत परमात्मद्रव्य ध्रौव्यरूप से रहता है। (वृ० ब्रह्मसंग्रह गाथा २२ टीका)

‘व्यवहाररत्नत्रय कारण है और निश्चयरत्नत्रय उस (व्यवहाररत्नत्रय) का कार्य है।’ इस विषय में आगम प्रमाण इसप्रकार है—

(१) संवर और निर्जरा का कारण, विशुद्ध-ज्ञान दर्शन स्वभाव निज आत्मा है, उसके स्वरूप का सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरणरूप निश्चयरत्नत्रय है, तथा उस निश्चयरत्नत्रय का साधक व्यवहाररत्नत्रय है। (वृ० द्रव्यसंग्रह दूसरे अधिकार के प्रारम्भ में छहद्रव्यों की चूलिकारूप विस्तार व्याख्यान)

(२) व्यवहारसम्यक्त्व से निश्चयसम्यक्त्व साधा जाता है। इसप्रकार निश्चय व व्यवहार में साध्य-साधकभाव है। (वृ० द्रव्यसंग्रह गाथा ४१ टीका)

(३) निश्चयचारित्र को साधनेवाला व्यवहारचारित्र का व्याख्यान (वृ. द्रव्यसंग्रह गाथा ४५ की टीका)।

(४) व्यवहारचारित्र से साध्य जो निश्चयचारित्र है उसका निरूपण करते हैं।

(वृ० द्रव्यसंग्रह गाथा ४६ की उत्थानिका)

(५) निश्चयरत्नत्रयस्वरूप निश्चय मोक्षकारण निश्चयमोक्षमार्ग और इसीतरह व्यवहाररत्नत्रयरूप व्यवहारमोक्षहेतु व्यवहारमोक्षमार्ग, इन दोनों के पहले साध्य-साधकभाव से (निश्चयमोक्षमार्ग साध्य है, व्यवहार-मोक्षमार्ग साधक है) पहले कहा है। (वृ० द्रव्यसंग्रह गाथा ४७ की टीका)

(६) निश्चय व व्यवहार का स्वर्ण और स्वर्णपाषाण के समान साध्य-साधनभाव है। (पंचास्तिकाय गाथा १०६ की उत्थानिका)।

(७) निजशुद्धात्मा की रूचि, ज्ञान और निश्चल अनुभवरूप निश्चयमोक्षमार्ग है। इसका साधक व्यवहार-मोक्षमार्ग है जो किसी अपेक्षा अनुभव में आनेवाले अज्ञान की वासना के विलय होने से भेदरत्नत्रय स्वरूप है। इस व्यवहार मोक्षमार्ग का साधन करता हुआ गुणस्थानों के चढ़ने के क्रम से जब यह आत्मा अपने शुद्ध आत्मिक-द्रव्य की भावना से उत्पन्न नित्य भानन्द सुखामृतरस के स्वाद से तृप्तिरूप परमकला के अनुभव करने के द्वारा अपने ही शुद्ध आत्मा के आश्रित निश्चयनय से भिन्नसाध्य भिन्नसाधकभाव के अभाव से यह आत्मा ही मोक्षमार्ग-रूप हो जाता है। (पंचास्तिकाय गाथा १६१ श्री जयसेन टीका अथवा गाथा १७२ पर श्री अमृतचन्द्र स्वामी की टीका)।

(८) अनादिकाल से मिथ्यादर्शन ज्ञानचारित्र द्वारा स्वरूपच्युत होने के कारण संसार में भ्रमण करते हुए, सुनिश्चलता ग्रहण किये गये व्यवहार-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के पाक के प्रकर्ष की परम्परा से क्रमशः स्वरूप में आरोहण कराये जाते आत्मा को अन्तर्मग्न जो निश्चयसम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप भेद है तद्रूपता के द्वारा स्वयं साधकरूप से परिणमित होता है, तथा परमप्रकर्ष की पराकाष्ठा को प्राप्त रत्नत्रय की अतिशयता से प्रवर्तित जो सकलकर्म के क्षय उससे प्रज्वलित हुए जो अतवलित विमल स्वभावभावत्व द्वारा स्वयं सिद्धरूप से परिणमता ऐसा एक ही ज्ञानमात्र उपाय-उपेयभाव को सिद्ध करता है। (समयसार, उपाय-उपेयभाव)।

(९) समयसार गाथा १२ तथा पंचास्तिकाय गाथा १६० इन दोनों की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने 'अप्रमत्तगुणस्थान तक व्यवहाररत्नत्रय होता है' ऐसा कहा है। इससे भी सिद्ध होता है व्यवहाररत्नत्रय साधक और निश्चयरत्नत्रय साध्य है

आचार्य कहते हैं कि 'निश्चय व व्यवहार को साध्यसाधकरूप से मानने से ही मुक्ति की सिद्धि तथा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है' जो ऐसा नहीं मानता उसको मुक्ति की सिद्धि नहीं होती।

(अ) 'बीतरागता' निश्चय तथा व्यवहारनय के साध्य-साधकरूप से परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा से ही होती है। बिना अपेक्षा के एकान्त से मुक्ति की सिद्धि नहीं हो सकती। जो निश्चय-व्यवहार को परस्पर साध्य-साधक समझकर व्यवहार करते हैं वे ही मुक्ति के पात्र होते हैं। (पंचास्तिकाय गाथा १७२ थी जयसेन स्वामी की टीका)।

(ब) सर्वज्ञदेव प्रणीत निश्चय-व्यवहारनय को साध्य-साधकभाव से मानता है, परन्तु भूमि की रेखा के समान क्रोध आदि अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से आत्मनिन्दासहित होकर इन्द्रियसुख का अनुभव करता है वह 'अविरतसम्यग्दृष्टि' चौथे गुणस्थानवर्ती है। (बृहद्ब्रह्मसंग्रह गाथा १३ की टीका)।

यदि यहाँ पर तर्क की जावे कि व्यवहाररत्नत्रय तो स्वपर-प्रत्यय आश्रित, भिन्न साध्य-साधनभावी भेदमयी और रागसहित है, किन्तु निश्चयरत्नत्रय तो निजशुद्धात्माश्रित, अभिन्न साध्य-साधनभावी, अभेदमयी है और रागरहित है अतः 'व्यवहाररत्नत्रय' निश्चयरत्नत्रय का कारण नहीं हो सकती। कारण के समान कार्य होता है ऐसा न्याय है।

इसका समाधान यह है कि—कारण के समान कार्य होता है, किन्तु कारण-कार्य सर्वथा समान नहीं होते, एकदेश समान होते हैं। यदि कारण-कार्य सर्वथा समान हो जावें तो कारण-कार्य में भेद का अभाव हो जाने से दोनों एक हो जावेंगे। इसप्रकार कारण-कार्य का ही अभाव हो जावेगा। अतः कारण-कार्य कथंचित् समान कथंचित् असमान होते हैं ऐसा अनेकान्त है एकान्त नहीं है।

जैसे मृत्तिका (मिट्टी का) पिंड तथा मिट्टी के घड़े में मिट्टी की अपेक्षा से समानता है किन्तु पिंड व घट पर्याय की अपेक्षा से असमानता है। यदि इस अपेक्षा से भी असमानता न हो तो मिट्टी के पिंड से ही जलधारण क्रिया होने लगेगी।

जैसे १५ वानी का स्वर्ण १६ वानी के स्वर्ण के लिये कारण है। स्वर्ण की अपेक्षा से १५ वानी स्वर्ण व १६ वानी (शुद्ध) स्वर्ण में समानता है, किन्तु शुद्धता और अशुद्धता की अपेक्षा दोनों में अग्रमानता है। यदि इस अपेक्षा से भी दोनों समान हों तो स्वर्ण को सोलहवां ताप देने की आवश्यकता नहीं थी।

इसीप्रकार व्यवहाररत्नत्रय व निश्चयरत्नत्रय में कथंचित् असमानता है, किन्तु रत्नत्रय की अपेक्षा समानता है। व्यवहाररत्नत्रय के पाक की प्रकर्षता ही तो निश्चयरत्नत्रय है। (इस विषय के सम्बन्ध में वृ० ब्रह्मसंग्रह गाथा ३४ की टीका देखनी चाहिये)।

उपर्युक्त आगम प्रमाणों से यह सिद्ध हो गया कि निश्चयरत्नत्रय (कार्य) साध्य है और व्यवहाररत्नत्रय साधक (कारण) है। ऐसा श्रद्धान करने से ही सम्यग्दर्शन तथा मुक्ति की प्राप्ति होगी। अन्यप्रकार श्रद्धान करने से सम्यग्दर्शन तथा मुक्ति की सिद्धि नहीं हो सकती।

— जं. सं. 26-12-57/ पवनकुमार जैन

यावत् छद्मस्थ जीवों के अशुद्धनिश्चयनय होता है

शंका—मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से क्षीणकषाय गुणस्थान तक अशुद्धनिश्चयनय अथवा व्यवहारनय होता है यह कथन किसप्रकार ठीक है ?

समाधान—जीव का स्वभाव चेतना है। चेतना के दो भेद हैं ज्ञान और दर्शन। बारहवें गुणस्थान तक ज्ञानावरण और दर्शनावरणकर्म का उदय रहता है जिसके कारण जीव के स्वभाव का घात रहता है। स्वभावघात की अपेक्षा से ही जीव बारहवें गुणस्थानतक परसमय कहा गया है, इसीलिये अशुद्धनिश्चयनय अथवा व्यवहारनय होता है ऐसा कथन किया गया है।

बहिरंतरप्पभेयं परसमयं भण्णये जिणिदेहिं ।

परमप्पो सगसमयं तब्भेयं जाण गुणठाणे ॥१४८॥

मिस्सोत्ति बाहिरप्पा तरतमया तुरिय अंतरप्पजहण्णा ।

संतोत्ति मज्झिमतंर खीणुत्तम परम जिणसिद्धा ॥१४०॥ (समयसार)

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने इन दो गाथाओं में यह बतलाया है प्रथम तीनगुणस्थानोंतक जीव तरतमता से बहिरात्मा है। चौथे गुणस्थान में जघन्य अन्तरात्मा है। उपशांतमोह गुणस्थानतक मध्यम-अन्तरात्मा है, क्षीणकषाय गुणस्थान में उत्कृष्ट अन्तरात्मा है। श्री अरहंत व सिद्ध भगवान परमात्मा हैं। जिनेन्द्र भगवान ने बहिरात्मा और अन्तरात्मा को परसमय कहा है, परमात्मा को स्वसमय कहा है। इसप्रकार बारहवेंगुणस्थान तक जीव परसमय है, ऐसा व्याख्यान स्पष्टरूप से पाया जाता है।

सुद्धो सुद्धादेसो णायब्बो परमभाव दरिसीहिं ।

व्यवहारवेसिदा पुण जे तु अपरमे द्विदा भावे ॥१२॥ (समयसार)

जो पूर्ण ज्ञान-चारित्रवान हो गये हैं उनको तो एक शुद्धनिश्चयनय प्रयोजनवान है और जो अपरमभाव अर्थात् श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र के पूर्ण भाव को नहीं पहुँच सके अर्थात् परमात्मपद को नहीं पहुँच सके उनके लिये व्यवहारनय ही प्रयोजनवान है।

बारहवेंगुणस्थान तक ज्ञान पूर्ण नहीं होता है इसीलिए परमात्म पद को प्राप्त नहीं हुए हैं, क्योंकि छद्मस्थ है। छद्मस्थ अवस्था में अनेकभेद होने के कारण व्यवहारनय प्रयोजनवान है।

—जं. ग. 15-6-72/VII/ टी. ला. मित्तल

सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग हैं; इस वाक्य का ग्राहक व्यवहारनय है

शंका—‘सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः’ यह सूत्र व्यवहारनय की अपेक्षा है या निश्चयनय की अपेक्षा है ?

समाधान—यह सूत्र व्यवहारनय की अपेक्षा से है। कहा भी है—

व्यवहारेणुवदिस्सइ णाणिसस चरित्तं दंसणं णाणं ।

णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥७॥ (समयसार)

ज्ञानी (जीव) के चारित्र, दर्शन, ज्ञान ये तीनभाव व्यवहारनय से कहे जाते हैं। निश्चयनय कर ज्ञान भी नहीं है चारित्र भी नहीं है दर्शन भी नहीं है, एक ज्ञायक है, इसलिए शुद्ध कहा गया है।

‘पुनरप्यध्यात्मभाषय नया उच्यन्ते । तावन्मूलनयो द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च । तत्र निश्चयनयोऽभेदविषयो व्यवहारोभेदविषयः ।’ (आलापपद्धति)

अध्यात्मभाषा की अपेक्षा नय का कथन करने पर निश्चयनय और व्यवहारनय इसप्रकार दो मूलनय हैं। निश्चयनय अग्नेद विषय को ग्रहण करता है और व्यवहारनय भेद विषय को ग्रहण करता है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य ऐसा भेद करना व्यवहारनय का विषय है, निश्चयनय की दृष्टि में दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य ऐसा भेद नहीं है, किन्तु उसका विषय एक अखण्ड आत्मा है।

—जं. ग. 13-5-71/VII/ र. ला. जैन

व्यवहार-निरपेक्ष निश्चय मिथ्या है तथा निश्चय निरपेक्ष व्यवहार मिथ्या है

शंका—‘निरपेक्षा नया मिथ्याः सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥’ इसका क्या अर्थ है और निश्चयनय व व्यवहारनय पर कैसे घटित होता है ?

समाधान—यह वाक्य देवागम कारिका १०८ का उत्तरार्ध है। श्री पं० जयचन्दजी ने इसका अर्थ इसप्रकार किया है—‘जे परस्पर अपेक्षारहित नय हैं ते तो मिथ्या हैं। बहुरि जे परस्पर अपेक्षासहित नय हैं, ते वस्तु स्वरूप हैं। ते अर्थ-क्रिया को करें ऐसा वस्तुकुं साधें हैं। निरपेक्षपणा है सो तो प्रतिपक्षीधर्म का सर्वथा निराकरण स्वरूप है। बहुरि प्रतिपक्षी धर्म तँ उपेक्षा कहिए उदासीनता सो सापेक्षपणा है। प्रतिपक्षी धर्म तँ उपेक्षा सो सुनय बहुरि प्रतिपक्षी धर्म का सर्वथा त्याग सो दुर्नय है ऐसी सर्व का उपसंहार संक्षेप समेटना जानना।

व्यवहारनय से निरपेक्ष निश्चयनय मिथ्या है इसीप्रकार निश्चयनय से निरपेक्ष व्यवहारनय भी मिथ्या है। व्यवहारनयसापेक्ष निश्चयनय सुनय है। निश्चयनयसापेक्ष व्यवहारनय सुनय है। निश्चयनय यदि व्यवहारनय का निराकरण करे तो दुर्नय है। यदि गौण करे तो सुनय है। इसीप्रकार व्यवहारनय यदि निश्चयनय का निराकरण करे तो दुर्नय है, यदि गौण करे तो सुनय है। कहा भी है—

‘अपितानपितसिद्धेः ॥३२॥’ तत्त्वार्थसूत्र

मुख्यता और गौणता की अपेक्षा एक वस्तुमें परस्पर दो विरोधी-धर्मों की सिद्धि होती है।

—जं. ग. 13-8-70/IX/.....

व्यवहारनय भी कथंचित् सत्यार्थ है

शंका—‘दिगम्बर जैन ग्रन्थों में जो व्यवहारनय का कथन है, वह वास्तविक नहीं है किन्तु अभूतार्थ है।’ क्या इसप्रकार की चाबी (Master Key) के द्वारा दिगम्बर जैन आगमग्रन्थों का अर्थ खोलने से मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है ?

समाधान—निश्चयनय द्रव्याश्रित होने से स्वाभाविक भाव का अवलम्बन लेकर प्रवर्तमान होता है और व्यवहारनय पर्यायाश्रित होने से औपाधिकभाव का अवलम्बन लेकर प्रवर्तमान होता है। (समयसार गाथा ५६ आत्मउपाति टोका) ‘निश्चयनय करके यह जीव न कर्ता है, न भोक्ता है तथा क्रोधादि भावों से भिन्न है’ तब दूसरे पक्ष में व्यवहारनय की अपेक्षा इस जीव के कर्तापन, भोक्तापना तथा क्रोधादिक से अभिन्नपना है, क्योंकि निश्चय और व्यवहारनय एक दूसरे की अपेक्षा रखने वाले हैं। परन्तु जो कोई निश्चयव्यवहार के परस्पर अपेक्षारूप नय-विभागों को नहीं मानते; उनके मत में जैसे निश्चयनय से जीव कर्ता नहीं है और क्रोधादि से भिन्न है तैसे व्यवहार से भी अकर्ता व क्रोधादि से भिन्न है। ऐसा मानने पर जैसे मिट्टी के कर्भबन्ध नहीं होता वैसे अन्य जीवों के

क्रोधादि परिणामन न होने से कर्मबन्ध नहीं होगा। जब जीवों के कर्मबन्ध नहीं तब संसार का अभाव हो जायगा। संसार का अभाव होने पर इसी जीव के सदा मुक्तपना प्राप्त हो जाएगा। यह बात प्रत्यक्ष से विरोधरूप है। इससे निश्चयएकान्त मानना मिथ्या है।' (समयसार गाथा ११३-११५ तात्पर्यवृत्ति टीका)

मोक्षमार्गप्रकाशक-अध्याय सात में भी इसप्रकार कहा है—'द्रव्यदृष्टि करि एक दशा है। पर्यायदृष्टि कर अनेक अवस्था हो है। ऐसा मानना योग्य है। ऐसे ही अनेक प्रकार करि केवल निश्चयनय का अभिप्रायतै विरुद्ध अदानादिक करे हैं। जिनवाणी विषै नाना नय अपेक्षा कहीं कैसा, कहीं कैसा निरूपण किया है। यह अपने अभिप्रायतै निश्चयनय की मुख्यता करि जो कथन किया होय, ताही को ग्रहि करि मिथ्यादृष्टि को धारे है। द्रव्यकरि सामान्य-स्वरूप अवलोकना, पर्याय करि विशेष अवधारना। ऐसे ही चितवन किये सम्यग्दृष्टि हो है। जातै सांचा अवलोकै बिना सम्यग्दृष्टि कैसे नाम पावे।'

समयसार गाथा ६ भावार्थ में भी इसप्रकार कहा है—'जीव में जो प्रमत्त-अप्रमत्त के भेद हैं वे परद्रव्य के संयोगजनितपर्याय हैं। यह अशुद्धता द्रव्यदृष्टि में गीण है, व्यवहार है, अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, उपचार है। द्रव्यदृष्टि शुद्ध है, निश्चय है, भूतार्थ है, परमार्थ है, सत्यार्थ है। इसलिये आत्मा ज्ञायक है, उसमें भेद नहीं है इसलिए वह प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है। यहाँ यह भी जानना चाहिये कि जिनमत का कथन स्याद्वादरूप है, इसलिए अशुद्धनय को सर्वथा असत्यार्थ न माना जावे, क्योंकि स्याद्वाद प्रमाण से शुद्धता और अशुद्धता दोनों वस्तु के धर्म हैं और वस्तुधर्म वस्तु का सत्त्व है; अन्तर मात्र इतना ही है कि अशुद्धता परद्रव्य के संयोग से होती है।

समयसार गाथा ४६ की आत्मस्थिति टीका में व्यवहारनय के कथन को वास्तविक स्वीकार किये बिना क्या दोष आ जायेंगे, उनको बताते हैं—'व्यवहारनय के बिना, परमार्थ से शरीर को भिन्न बताया जाने पर, जैसे भस्म को मसल देने से हिंसा का अभाव है, उसी प्रकार त्रस-स्थावर जीवों को निःशक्तया मसल देने (घात करने) में भी हिंसा का अभाव उहरेगा और इस कारण बन्ध का ही अभाव सिद्ध होगा। दूसरे परमार्थ के द्वारा जीव राग-द्वेष-मोह से भिन्न बताया जाने पर भी रागी-द्वेषी, मोही जीव कर्म से बँधता है, उसे छुड़ाना है—ऐसे मोक्ष के उपाय के ग्रहण का अभाव हो जाएगा और इससे मोक्ष का ही अभाव होगा।' इस कथन के अनुसार व्यवहारनय को वास्तविक स्वीकार किये बिना बन्ध (संसार) व मोक्ष दोनों के अभाव का प्रसंग आजाएगा जो प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

किसी ने प्रश्न किया कि इस जीव से प्राण भिन्न हैं कि अभिन्न, यदि अभिन्न कहें तो जैसे जीव का नाश नहीं है वैसे प्राणों का भी विनाश नहीं होगा तो फिर हिंसा क्या होमी? यदि जीव से प्राणों को भिन्न मानें तो फिर जीव के प्राणों का घात करने पर जीव का क्या बिगाड़? कुछ नहीं; इससे इस तरह भी हिंसा न हुई। इसका भाचार्य समाधान करते हैं कि कायादि प्राणों के साथ किसी अपेक्षा भेद है और कश्चित् अभेद है। किस कारण से है कि जैसे गरम लोहे के पिण्ड में से उस वर्तमानकाल में अग्नि अलग नहीं की जा सकती इसीतरह शरीर में जब आत्मा तिष्ठता है तब उस वर्तमानकाल में उसे अलग नहीं कर सकते। इसकारण व्यवहारनय से प्राणों के साथ जीव का अभेद है। निश्चय से भेद है, क्योंकि मरण के समय काय, प्राण आदि जीव के साथ नहीं जाते। यदि एकान्त से जीव और प्राणों का सर्वथा भेद माना जाय तो जैसे दूसरों के शरीर को छेदते-भेदते हुए भी अपने को दुःख नहीं होता तैसे अपनी काय को भी छेदते हुए दुःख नहीं होना चाहिये सो बात नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष से विरोधरूप है। फिर प्रश्नकर्ता कहता है कि व्यवहार से ही तो हिंसा हुई निश्चय से नहीं हुई। इस पर आचार्य कहते हैं कि यह बात तुमने सत्य कही। जैसे व्यवहार से हिंसा है वैसे पाप भी व्यवहार से है तथा नरक आदि के दुःख भी व्यवहार से है, यह बात हमको सम्मत है। यदि नरकआदि के दुःखों से तुमको प्रीति है तो हिंसा

करो, यदि भय है तो हिंसा को छोड़ो' (समयसार गाथा ३४४ तात्पर्यवृत्ति टीका) इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि जो व्यवहारनय को वास्तविक नहीं मानते उनको नरक के दुःखों से भय नहीं, किन्तु प्रीति है इसलिये वे हिंसादिपापों का त्याग नहीं करते ।

नियमसार गाथा १५९ में कहा है कि केवलीभगवान सर्वपदार्थों को जानते-देखते हैं यह कथन व्यवहारनय से है, परन्तु नियम करके अर्थात् निश्चयकरके केवलजानी अपने आत्मस्वरूप को ही जानते-देखते हैं—

जाणदि पस्सदि सच्चं, व्यवहारणण केवलीभगवं ।

केवलजाणी जाणदि, पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥ नि. सा. १५९ ॥

यदि शंकाकार कथित चाबी (Master Key) के द्वारा इस गाथा का अर्थ खोला जावे तो व्यवहारनय का यह कथन 'कि केवली भगवान सर्वपदार्थों को देखते जानते हैं' असत्यार्थ है, अवास्तविक है जिससे सर्वज्ञता का अभाव हो जाता है । सौगत-बौद्ध भी व्यवहारनय से सर्वज्ञ को स्वीकार करते हैं और व्यवहारनय को असत्यार्थ मानते हैं, फिर सौगत और जैनधर्म में कोई अन्तर नहीं रहेगा । इस विषय में समयसार गाथा ३६५ की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने इसप्रकार कहा है—'यहाँ पर शिष्य ने कहा कि सौगत भी कहता है कि व्यवहार से सर्वज्ञ है, उसको दूषण क्यों दिया जाता है? इसका समाधान आचार्य करते हैं कि बौद्धादिकों के मत में जैसे निश्चय की अपेक्षा व्यवहार मिथ्या है वैसे व्यवहाररूप से भी व्यवहार सत्य नहीं है परन्तु, जैनमत में व्यवहारनय यद्यपि निश्चयनय की अपेक्षा से मिथ्या है तो भी व्यवहाररूप से सत्य है । यदि लोकव्यवहार व्यवहाररूप से भी सत्य न होय तो सर्व ही लोकव्यवहार मिथ्या हो जावे, ऐसा होने पर अतिप्रसंग हो जाय अर्थात् प्रसंग से बाहर हो जाय इससे यह कहना ठीक है कि यह आत्मा व्यवहारनय से परद्रव्य को देखता जानता है, परन्तु निश्चय से तो अपने ही आत्मद्रव्य को देखता-जानता है ।'

जब व्यवहारनय को सर्वथा असत्यार्थ कहने वाला यह विचारकर कि 'प्राण प्राण है । अन्न अन्न है । अन्न प्राण नहीं, प्राण अन्न नहीं । अन्न को प्राण कहना सर्वथा असत्यार्थ है ।' अन्न त्याग देता है और अपने प्राणों का नाश करने लगता है अर्थात् मरण को प्राप्त होने लगता है तब अनेकान्तवादी कार्यकारण की यथार्थता के द्वारा व्यवहारनय को सत्यार्थ दिखाकर उसके प्राणों की रक्षा करता है अर्थात् नाश नहीं होने देता ।

जब व्यवहारनय को असत्यार्थ कहनेवाला यह विचारकर कि 'घी का घड़ा कहना उपचार है, सर्वथा असत्यार्थ है । घी तो घी है और घड़ा घड़ा है । घी घड़ा नहीं है और घड़ा घी नहीं है । घड़े के नाश से घी का नाश नहीं और घी के नाश से घड़े का नाश नहीं है ।' घी से भरे हुए मिट्टी के घड़े को ग्रीष्मकाल की दोपहर की धूप में रेत पर रखकर और घड़े को फोड़कर घी को रेत में मिलाने को तैयार होता है तब अनेकान्तवादी आध्यात्म-प्राप्त्यर्थता के द्वारा व्यवहारनय को सत्यार्थ दिखाकर घी की रक्षा करता है ।

जब व्यवहारनय को असत्यार्थ कहनेवाला यह कहकर 'अर्हन्त की दिव्यध्वनि कहना असत्यार्थ है, दिव्य-ध्वनि तो शब्दमयी पुद्गल जड़ है और अर्हन्त चेतनमयी आत्मा है । एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नहीं होता अतः दिव्यध्वनि का कर्ता पुद्गल है और अर्हन्त नहीं है, दिव्यध्वनि (जिनवाणी) की प्रमाणाता का नाश (अभाव) करता है तब अनेकान्तवादी निमित्त-नैमित्तिक की यथार्थता के द्वारा व्यवहारनय को सत्यार्थ दिखाकर जिनवाणी की प्रमाणाता की रक्षा करता है ।

समयसार कलस ७० से ७९ तक व्यवहार व निश्चयनय के विषय 'बद्ध-अबद्ध, मूढ़-अमूढ़, रागी-अरागी, द्वेषी-अद्वेषी, कर्ता-अकर्ता, भोक्ता-अभोक्ता, जीव-अजीव, सूक्ष्म-स्थूल, कारण-अकारण, कार्य-अकार्य, भाव-अभाव, एक-अनेक, सान्त-अनन्त, नित्य-अनित्य, वाच्य-अवाच्य, नाना-अनाना, चेत्य-अचेत्य, दृश्य-अदृश्य, भाव-अभाव' बताकर दोनों नयों का पक्षपात बताया है और दोनों नयों के पक्षपात छोड़ने का उपदेश दिया है।

व्यवहारनय के कथन को अवास्तविक मानने से न तो बन्ध (संसार) सिद्ध होता है न मोक्ष सिद्ध होता है, न हिंसा सिद्ध होती है, सर्वज्ञता का अभाव होता है, जिनवाणी की प्रभावाता का अभाव होता है। इसप्रकार अनेक दूषण आते हैं।

व्यवहारनय के कथन को अवास्तविक माननेरूप चाबी (Master Key) के द्वारा यदि दिग्म्बरजैनागम का अर्थ खोला जावेगा तो मोक्षमार्ग की प्राप्ति न होकर नरक-निगोदमार्ग की प्राप्ति अवश्य हो जावेगी।

व्यवहार व निश्चय दोनों अपने-अपने विषय का यथार्थ प्रतिपादन करते हैं। दोनों की सापेक्षता से ही वस्तुस्वरूप की सिद्धि होती है। जैसे निश्चयनय की अपेक्षा से वस्तु नित्य है, व्यवहारनय से वस्तु अनित्य है, विशेष है। वस्तुस्वरूप न केवल नित्य ही है और न केवल अनित्य है, न केवल सामान्य ही है और न केवल विशेष ही है। किन्तु कथञ्चित् नित्य है, कथञ्चित् अनित्य है, कथञ्चित् सामान्य है, कथञ्चित् विशेष है अथवा वस्तुस्वरूप नित्यानित्यात्मक है। सामान्यविशेषात्मक है।

श्री प्रवचनसार के परिशिष्ट में श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने कहा है—'जितने वचनपन्थ हैं, उतने वास्तव में नयवाद है और जितने नयवाद हैं, उतने ही परसमय हैं। परसमयों (मिथ्यामतियों) का वचन सर्वथा (अर्थात् अपेक्षारहित) कहा जाने से वास्तव में मिथ्या है और जैनों का वचन कथञ्चित् अपेक्षासहित कहा जाने से वास्तव में सम्यक् है।'

दिग्म्बर जैनागम में जो व्यवहारनय से कथन है वह अवास्तविक नहीं है, किन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा से वह कथन वास्तविक है। इसप्रकार दि० जैनागम का अर्थ करने से मोक्षमार्ग की सिद्धि होगी।'

—जं. सं. 12-12-57/VI/ब. प्र. स. पटना

उपचरित स्वभाव का ग्राहक व्यवहार नय भी समीचीन है

शंका—क्या व्यवहार-उपचार का वर्णन करने वाला मिथ्यादृष्टि है ?

समाधान—आलापपद्धति स्वभावअधिकार में द्रव्य के स्वभाव का कथन श्री देवसेनाचार्य ने निम्नप्रकार किया है—

१. (अ) व्यवहार अपने अर्थ में उतना ही सत्य है, जितना कि निरुचय। श्रीयुत् पं. फूलचन्द्रजी त्रि. भास्वी [कामी] [वर्णा अधिनन्दन ग्रंथ पृ. ३५४-५५]

(ब) 'श्रीमद् राजवन्द' में लिखा है—नयनिरुचय एकांत थी, आमां नहीं कहेल। एकांते व्यवहार नहि, बल्ले साथ रहेल ॥१३२॥ आत्मसिद्धि पृ. ६२१

अर्थ—भास्वी में एकांत से निरुचयनय को नहीं कहा, अथवा एकांत से व्यवहार नय को भी नहीं कहा। दोनों ही जहाँ-जहाँ जिस जिस तरह घटते हैं, उस तरह साथ रहते हैं।

‘स्वभावा कथ्यन्ते—अस्तिस्वभावः, नास्तिस्वभावः, नित्यस्वभावः, अनित्यस्वभावः, एकस्वभावः, अनेकस्वभावः, भेदस्वभावः, अभेदस्वभावः, मध्यस्वभावः, अभव्यस्वभावः, परमस्वभावः, एते द्रव्याणामेकावश सामान्यस्वभावाः, चेतनस्वभावः, अचेतनस्वभावः, मूर्तस्वभावः, अमूर्तस्वभावः, एकप्रदेशस्वभावः, अनेकप्रदेशस्वभावः, विभावस्वभावः, शुद्धस्वभावः, अशुद्धस्वभावः, उपचरितस्वभावः एते द्रव्याणां वश विशेषस्वभावाः ॥२८॥ जीव पुद्गलयोरेकविंशतिः ॥२९॥’

अर्थ—स्वभाव का कथन किया जाता है—अस्तिस्वभाव, नास्तिस्वभाव, नित्यस्वभाव, अनित्यस्वभाव, एकस्वभाव, अनेकस्वभाव, भेदस्वभाव, अभेदस्वभाव, भव्यस्वभाव, अभव्यस्वभाव, परमस्वभाव ये द्रव्यों के ११ सामान्य स्वभाव हैं। चेतनस्वभाव, अचेतनस्वभाव, मूर्तस्वभाव, अमूर्तस्वभाव, एकप्रदेशस्वभाव, अनेकप्रदेशस्वभाव, विभावस्वभाव, शुद्धस्वभाव, अशुद्धस्वभाव, उपचरितस्वभाव, ये द्रव्यों के दस विशेषस्वभाव हैं। जीव और पुद्गल में उपयुक्त २१-२१ (११ सामान्य और १० विशेष स्वभाव पाये जाते हैं।

इन सूत्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ‘उपचार’ भी द्रव्य का स्वभाव है। द्रव्य के स्वभाव का कथन करनेवाला नय मिथ्या नहीं हो सकता है।

श्री देवसेनाचार्य उपचरितस्वभाव की व्युत्पत्ति तथा भेद कहते हैं—

‘स्वभावस्याप्यन्यत्रोच्चारानुपचरितस्वभावः ॥१२३॥ स द्वेषा कर्मज-स्वाभाविकभेदात् । यथा जीवस्य मूर्तस्त्वचेतनत्वे । यथा सिद्धात्मनां परज्ञता परदर्शकत्वं च ॥१२४॥

अर्थ—स्वभाव का भी अन्यत्र उपचार करना उपचरितस्वभाव है ॥१२३॥ वह उपचरितस्वभाव कर्मज और स्वाभाविक के भेद से दो प्रकार का है। जैसे जीव के मूर्तत्व और अचेतनत्व कर्मज उपचरितस्वभाव हैं। तथा जैसे—सिद्ध आत्माओं के पर का जानपना तथा पर का दर्शकत्व स्वाभाविक उपचरितस्वभाव है ॥१२४॥

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि परपदार्थों को जानना व देखना उपचरित स्वभाव है। समस्त परपदार्थों को जाने बिना सर्वज्ञ हो नहीं सकता, अतः सर्वज्ञता उपचरितस्वभाव है।

इसीप्रकार अर्थात् उपचरितस्वभाव के कारण संसारीजीव मूर्तिक है, कहा भी है—

‘संसारस्था रूपा कम्मविमुक्का अरुवगया ॥’ गो. जी. गा. ५६३

कर्म-बंध के कारण संसारीजीव मूर्तिक है। कर्मबंध से मुक्त सिद्धजीव अमूर्तिक है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी कहा है—

तथा च मूर्तिमानात्मा सुराभिर्भवदर्शनात् ।

नह्यमूर्त्तस्य नभसो मदिरा मदंकारिणी ॥१९॥ [तत्त्वार्थसार, बंध अधिकार]

आत्मा (जीव) मूर्तिक होने के कारण मदिरा से पागल हो जाती है, किन्तु अमूर्तिक आकाश में मदकारिणी नहीं होती है।

यदि उपचरित स्वभाव और अनुपचरितस्वभाव इन दोनों में से किसी एक का एकांत पक्ष लिया जावे अर्थात् प्रतिपक्षी को स्वीकार न किया जाय तो ऐसा एकान्तपक्ष ग्रहण करने से क्या दोष आता है इसका कथन श्री देवसेनाचार्य करते हैं—

‘उपचरितैकान्तपक्षेऽपि नात्मज्ञता सम्भवति नियमितपक्षत्वात् ॥१४८॥

तथात्मनोऽनुपचरितपक्षेऽपि परज्ञतादीनां विरोधः स्यात् ॥१४९॥’ [आलापपद्धति]

उपचरितस्वभाव के एकान्तपक्ष में आत्मज्ञता सम्भव नहीं है क्योंकि उपचरितस्वभाव का परज्ञान नियत-पक्ष है। आत्मज्ञता तो अनुपचरितस्वभाव है, किन्तु उपचरितएकान्तपक्ष में अनुपचरित का निषेध है। उसीप्रकार अनुपचरित एकान्तपक्ष में आत्मा के परज्ञता अर्थात् सर्वज्ञता का अभाव हो जायगा। सर्वज्ञता का अभाव इष्ट नहीं है अतः उपचरित स्वभाव को स्वीकार करना होगा और अनुपचरित एकान्तपक्ष का निषेध करना होगा।

उपचरितस्वभाव किस नय का विषय है इसके लिये श्री देवसेनाचार्य निम्नसूत्र कहते हैं—

‘असद्भूतव्यवहारेण उपचरितस्वभावः ॥१७६॥’ [आलापपद्धति]

उपचरितस्वभाव असद्भूतव्यवहारनय का विषय है। जो नय द्रव्यगतस्वभाव को विषय करता है वह नय मिथ्या नहीं हो सकता है। सम्यक्नय से तो वस्तु का यथार्थज्ञान होता है। कहा भी है—

द्रव्याणां तु यथारूपं तल्लोकेऽपि व्यवस्थितम् ।

तथा ज्ञानेन संज्ञाते नयोऽपि हि तथाविधः ॥११॥ [आलापपद्धति]

द्रव्यों का जिसप्रकार का स्वरूप है, वह लोक में व्यवस्थित है। ज्ञान से द्रव्यों का स्वरूप उसीप्रकार जाना जाता है, नय भी उसीप्रकार जानता है।

सद्भूतव्यवहारनय, असद्भूतव्यवहारनय, शुद्धनिश्चयनय, अशुद्धनिश्चयनय, कोई भी नय हो यदि वह सापेक्ष है तो सम्यक् है, यदि निरपेक्ष है तो मिथ्या है।

दुर्नयैकान्तमारूढा भावा न स्वार्थिकाहिताः ।

स्वार्थिकास्तदविपर्यस्ता निःकलंकास्तथा यतः ॥ [नयचक्र पृ० ६३]

दुर्नय एकांत को लिये हुए भाव सम्यगर्थवाले नहीं होते अर्थात् मिथ्यार्थवाले होते हैं। जो नय एकांत से रहित भाववाले हैं अर्थात् सापेक्ष हैं वे समीचीन (सम्यक्) अर्थ को बतलाने वाले हैं।

व्यवहार-निरपेक्ष निश्चयनय सम्यगर्थवाला नहीं है अर्थात् मिथ्यार्थवाला है। निश्चय-सापेक्ष व्यवहारनय सम्यगर्थवाला है मिथ्याअर्थवाला नहीं है।

—जं. ग. 26-4-73/VII/.....

अनेकान्तरूपी चाबी के द्वारा जैन शास्त्रों का अर्थ खोलना चाहिए

शंका—क्या व्यवहारनय के कथन द्वारा वस्तु स्वरूप का निर्णय नहीं करना चाहिए ?

समाधान—सर्वप्रथम ‘नय’ के स्वरूप व फल पर विचार किया जाता है। नय का स्वरूप इसप्रकार है—
‘उच्चारण किये गये अर्थपद और उसमें किये गये निक्षेप को देखकर अर्थात् समझकर पदार्थ को ठीक निर्णय तक पहुँचा देते हैं इसलिए वे नय कहलाते हैं।’ घ. खं. पु. १ पृ. १०

नय का फल—‘यह नय, पदार्थों का जैसा स्वरूप है उसरूप से उनके ग्रहण करने में निमित्त होने से मोक्ष का कारण है। इसलिए नय का कथन किया जाता है।’ ज. घ. पु. १ पृ. २११। ‘प्रमाणनयैरधिगमः ॥६॥’

मो. शा. सू. ६ अ. १ अर्थात् सम्यग्दर्शनआदि रतनत्रय और जीवादितत्त्वों का ज्ञान प्रमाण और नय से होता है। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए ष. खं. पु. ९ पृ. १६४ पर लिखा है—'नयवाक्यों' से उत्पन्न बोध प्रमाण ही है, नय नहीं है, इस बात के ज्ञापनार्थ 'उन दोनों प्रमाण-नय से वस्तु का ज्ञान होता है' ऐसा कहा जाता है।' श्री ज. घ. पु. १ पृ. २०९ पर भी कहा है 'जिसप्रकार प्रमाण से वस्तु का बोध होता है उसीप्रकार नयवाक्य से भी वस्तु का ज्ञान होता है, यह देखकर तत्त्वार्थ सूत्र में 'प्रमाणनयैरधिगमः' इसप्रकार प्रतिपादन किया है।'

उक्त आगमप्रमाणों का सारांश यह है कि 'प्रत्यक्ष-परोक्षआदि प्रमाणों में से प्रत्येक प्रमाण के द्वारा तथा निश्चय, व्यवहार आदि नयों में से प्रत्येक नय के द्वारा वस्तु का यथार्थज्ञान होकर अज्ञान की निवृत्ति होती है।' इन आगमप्रमाणों में यह नहीं कहा गया कि प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा या निश्चयनय के द्वारा ही वस्तु का बोध (अधिगम-ज्ञान) होगा, परोक्षआदि प्रमाणों के द्वारा या व्यवहारआदि नयों के द्वारा वस्तु का अधिगम (निर्णय) नहीं होगा। अतः प्रत्येक प्रमाण के द्वारा अथवा प्रत्येकनय के द्वारा वस्तु का निर्णय हो सकता है।

वस्तु नित्यानित्यात्मक है। जिसप्रकार निश्चयनय नित्यअंश के कथन के द्वारा नित्यात्मक वस्तु का निर्णय कराता है उसीप्रकार व्यवहारनय अनित्य-अंश के कथन के द्वारा नित्यानित्यात्मक वस्तु का निर्णय कराता है। यदि व्यवहारनय द्वारा कथित अनित्य-अंश के द्वारा वस्तु का यथार्थनिर्णय न होता तो 'अनित्यभावना' द्वारा संवर नहीं हो सकता था। मो. शा. अ. ९ सू. १, २ व ७ के द्वारा अनित्यभावना से संवर कहा है। वस्तुस्वरूप का अनिर्णय तो मिथ्यात्व है उसके द्वारा संवर असम्भव है।

जो मात्र एक (निश्चयनय) नय के पक्षपाती हैं उनके लिये समयसार कलश ७०-८९ के द्वारा उपदेश दिया गया है इसमें कलश नं० ८३ इसप्रकार है—

एकस्य नित्यो न तथा परस्य चित्तद्वयोर्द्विविदि पक्षपातौ ।

यस्तस्ववेदी क्युतपक्षपात स्तस्यास्तनित्यं खलु चिन्चिवेव ॥८३॥

अर्थ—जीव नित्य है ऐसा एक नय का पक्ष है और जीव नित्य नहीं है ऐसा दूसरे नय का पक्ष है, इसप्रकार चित्तस्वरूप जीव के सम्बन्ध में दो नयों के दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरंतर चित्तस्वरूप जीव चित्तस्वरूप ही है।

अतः किसी एक नय के पक्षपात को छोड़कर 'स्यात्' (कथंचित्) पद के द्वारा निश्चय व व्यवहारनय के विरोध को दूर कर जैनागम का अर्थ खोलना चाहिये।

दुर्निवारनयानीक विरोध-ध्वंसनौषधिः ।

स्यात्कारजीविता जीयाज्जैनीसिद्धांतपद्धतिः ।२॥ (पंचास्तिकाय तत्त्व प्रदीपिका)

अर्थ—जिनेन्द्र से आई हुई सिद्धांतपद्धति जयवन्त हो। कैसी है सिद्धांतपद्धति? जो नयसमूह के दुर्निवार विरोध को दूर करने के लिये औषधि है और 'स्यात्' पद जिसका प्राण है।

अतः अनेकान्तरूपी चाबी (Master Key) के द्वारा जैन शास्त्रों का अर्थ खोलना चाहिये, मात्र निश्चयनयरूपी चाबी के द्वारा जैनशास्त्रों का अर्थ खोलने से अथवा वस्तु निर्णय करने से एकान्तमिथ्यात्व की उत्पत्ति होगी जिससे अनन्तसंसार में भ्रमण करना पड़ेगा।

अतः 'स्यात्' पद सापेक्ष व्यवहारनय से भी वस्तु का निर्णय हो सकता है। किन्तु व्यवहारनय का एकांत-पक्ष भी ग्रहण नहीं करना चाहिये।

—जं. सं. 19-12-57/V-VI/ रतनकुमार जैन

१. दुनिया के मिथ्या एकान्त मिलकर अनेकान्त को जन्म नहीं देते

२. निरपेक्ष नयों का समूह सम्यगनेकान्त नहीं है

शंका—जैनसन्देश १-१-७० के सम्पादकीय में पं० दरबारीलालजी कोठिया का मत है कि दुनिया के मिथ्याएकान्त मिलकर अनेकान्त को जन्म देते हैं। इसपर आचार्यों का मत क्या है ?

समाधान—इस सम्बन्ध में श्री समन्तभद्राचार्य विरचित आप्तमीमांसा का निम्नलिखित श्लोक प्रस्तुत किया जाता है, जिससे यह विषय स्पष्ट हो जायगा—

मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति नः ।

निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेष्यकृत् ॥१०८॥

श्री पं० जयधन्वजी छाबड़ा कृत अर्थ—इहां अन्यवादी तर्क करें जो तुमने वस्तु का स्वरूप नय और उपनय का एकान्त का समूहकूँ द्रव्यकरि कहा, सो नयन का एकान्तकूँ तो तुम मिथ्या कहते आबो हो, सो मिथ्या नयनका समूह भी मिथ्या ही होय ? ताकूँ आचार्य कहे हैं—जो मिथ्या नयनका समूह है सो तो मिथ्या ही है। बहुरि हमारे जैनीनि के नयन के समूह हैं सो मिथ्या नाहीं। जातँ ऐसा कहा है—जे परस्पर अपेक्षा रहित नय हैं, ते तो मिथ्या हैं, बहुरि जे परस्पर अपेक्षासहित नय हैं, ते वस्तुस्वरूप हैं, ते अर्थ-क्रिया कूँ करै ऐसा वस्तुकूँ साथै हैं। निरपेक्षपणा है, यो तो प्रतिपक्षीधर्म का सर्वथा निराकरण स्वरूप है। बहुरि प्रतिपक्षीधर्म तँ उपेक्षा कहिये उदासीनता सो सापेक्षपणा है। उपेक्षा न होय अर प्रतिपक्षी धर्मकूँ मुख्य करै तो प्रमाण-नय में विशेष न ठहरे है। प्रमाण-नय और दुर्नय का ऐसा ही लक्षण बणै है। दोउ धर्म का समान ग्रहण सो तो प्रमाण, बहुरि प्रतिपक्षी धर्म ते उपेक्षा सो सुनय, बहुरि प्रतिपक्षी धर्म का सर्वथा त्याग सो दुर्नय ऐसैँ सर्वका उपसंहार संक्षेप से जानना ॥१०८॥

श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारकृत व्याख्या—यहाँ अनेकान्त के प्रतिपक्षी द्वारा यह आपत्ति की गई है कि जब एकान्तों को मिथ्या बतलाया जाता है तब नयों और उपनयोंरूप एकान्तों का समूह जो अनेकान्त और तदात्मक वस्तुत्व है वह भी मिथ्या ठहरता है, क्योंकि मिथ्याओं का समूह मिथ्या ही होता है। इस पर ग्रन्थकार महोदय कहते हैं कि यह आपत्ति ठीक नहीं है, क्योंकि हमारे यहां कोई वस्तु मिथ्या एकान्त के रूप में नहीं है। जब वस्तु का एकधर्म दूसरे धर्म की अपेक्षा नहीं रखता, उसका तिरस्कार कर देता है—तो वह मिथ्या कहा जाता है और जब वह उसकी अपेक्षा रखता है, उसका तिरस्कार नहीं करता, तो वह सम्यक् माना जाता है। वास्तव में वस्तु निरपेक्ष एकान्त नहीं है, जिसे सर्वथा एकान्तवादी मानते हैं, किन्तु सापेक्षएकान्त है और सापेक्षएकान्तों के समूह का नाम ही अनेकान्त है, तब उसे और तदात्मकवस्तु को मिथ्या कैसे कहा जा सकता है ? नहीं कहा जा सकता।

श्री पं० दरबारीलालजी कोठिया इससे पूर्ण सहमत होंगे कि मिथ्यानयों का समूह सम्यगनेकान्त नहीं है, किन्तु सुनयों का समूह ही सम्यगनेकान्त है, क्योंकि कोठियाजी स्वयं श्री जुगलकिशोरजी कृत व्याख्या के प्रकाशक हैं।

श्री पूज्यपादाचार्य ने भी कहा है—

‘त एते गुणप्रधानतया परस्परतंत्रताः सम्यग्दर्शनहेतवः पुरुषार्थक्रियासाधनसामर्थ्यात्तन्त्वादय इव यथोपायं विनिवेश्यमानाः पटादिसंज्ञाः स्वतन्त्राश्चासमर्थाः ।’

अर्थ—ये सब नय गौण-मुख्यरूप से एक दूसरे की अपेक्षा करके ही सम्यग्दर्शन के हेतु हैं। जिसप्रकार पुरुष की अर्थ क्रिया और साधनों की सामर्थ्यवशा यथायोग्य निवेशित किये गये तन्तु आदि पटादिक संज्ञा को प्राप्त होते हैं और स्वतन्त्र रहने पर (पटरूप) कार्यकारी नहीं होते हैं, उसीप्रकार ये नय समझने चाहिए।

तन्तु और पट के रक्षांत द्वारा श्री पूज्यपादाचार्य ने यह स्पष्ट कर दिया कि जिसप्रकार निरपेक्ष तन्तुओं का समूह पटरूप कार्य को करने में असमर्थ है। उसीप्रकार निरपेक्षनयों का समूह अर्थात् मिथ्यानयों का समूह भी अनेकान्तरूप वस्तुस्वरूप को सिद्ध करने में असमर्थ होने से सम्यग्दर्शन को उत्पन्न नहीं कर सकता है। तन्तुओं का समूह परस्पर एक दूसरे का सापेक्ष ही कर ही पटरूप कार्य को करने में समर्थ होता है। उसीप्रकार सापेक्षनयों का समूह ही अनेकान्तरूप वस्तुस्वरूप को सिद्ध करने में समर्थ होने से सम्यग्दर्शन का हेतु है।

एकान्तवादियों के निरपेक्ष (मिथ्या) नयों का समूह सम्यग्नेकान्त नहीं होता है, किन्तु सापेक्ष (सम्यक्) नयों का समूह ही सम्यग्नेकान्त होता है।

— डॉ. ग. 19-3-70/IX-X/.....

यदि द्रव्यदृष्टि में मरण नहीं तो 'जीओ और जीने दो' का उपदेश क्यों ?

शंका—द्रव्यदृष्टि से एक व्यक्ति न तो दूसरे को मार सकता है और न बचा सकता है, तब 'जीओ और जीने दो' का उपदेश क्यों दिया गया ?

समाधान—पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है। श्री माणिक्यनन्दि आचार्य ने कहा भी है—

‘सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः ॥११॥’

सूत्र में 'सामान्य-विशेषात्मा' ऐसा विशेषण पदार्थ के लिए दिया गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि पदार्थ न केवल सामान्यरूप है, न केवल विशेषरूप है, और न स्वतन्त्र उदयरूप है, अपितु उभयात्मक है।

‘अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्पूर्वोत्तराकार परिहारवाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च’ ॥२॥

वस्तु सामान्य-विशेष धर्मवाली है, क्योंकि वह अनुवृत्तप्रत्यय और व्यावृत्तप्रत्यय की विषय है, तथा पूर्वाकार का परिहार उत्तराकार की प्राप्ति और स्थितिलक्षण परिणाम के साथ उसमें अर्थक्रिया पाई जाती है।

सामान्यदृष्टि की मुख्यता में वस्तु अनुवृत्तप्रत्यय की विषय होती है तथा स्थिति लक्षणवाली होती है, उसमें सदा एकरूपता रहती है; व्यावृत्तप्रत्यय पूर्वाकार का परिहार, उत्तर आकार की प्राप्ति तथा अनेकरूपता गौण रहती है। इस सामान्यदृष्टि को द्रव्यदृष्टि भी कहते हैं और विशेषदृष्टि को पर्यायदृष्टि कहते हैं। चूंकि वस्तु सामान्य विशेषात्मक है इसीलिये भगवान ने द्रव्याधिक और पर्यायाधिक ऐसे दो नय कहे हैं। वस्तु का कथन दोनों नयों के आधीन होता है, किसी एक नय के आधीन नहीं होता है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पंचास्तिकाय में कहा भी है—

‘द्वौ हि नयो भगवता प्रणीतो द्रव्याधिकः पर्यायाधिकश्च । तत्र न खल्वेकनयायता देशना किन्तु तदुभयायता ।’

अर्थ—भगवान ने दो नय कहे हैं—द्रव्याधिक और पर्यायाधिक । दिव्यध्वनि में उपदेश एकनय के आधीन नहीं होता, किन्तु दोनों नयों के आधीन होता है ।

‘द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौद्रव्याधिकः । द्रव्यम् सामान्यमुत्सर्गः अनुवृत्तिरित्यर्थः । तद्विषयो द्रव्याधिकाः ।’
[स. सि. १/६ व ३३]

द्रव्य जिसका प्रयोजन है वह द्रव्याधिकनय है । द्रव्य का अर्थ सामान्य, उत्सर्ग और अनुवृत्ति है, इनको विषय कराने वाला द्रव्याधिकनय है ।

‘पर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायाधिकः । पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थः । तद्विषयः पर्यायाधिकः [स. सि. १/६ व ३३]

पर्याय जिस नय का प्रयोजन है, वह पर्यायाधिकनय है । पर्याय का अर्थ विशेष, अपवाद और व्यावृत्त है । इसको विषय करने वाला पर्यायाधिकनय है ।

इन उपर्युक्त आर्षप्रमाणों से यह सिद्ध है कि द्रव्यदृष्टि अर्थात् द्रव्याधिकनय का विषय सामान्य है, पर्याय नहीं है, क्योंकि पर्याय पर्यायाधिकनय का विषय है । अतः द्रव्यदृष्टि में न बंध है, न मोक्ष है, न मोक्षमार्ग है, न मनुष्य है, न तिर्यच है, न देव है, न नारकी है, न जन्म है, न मरण है, न जीव है, न प्राणी है, क्योंकि ये सब विशेष हैं, पर्याय हैं, व्यावृत्तिरूप हैं ।

जब जीवन, मरण द्रव्यदृष्टि का विषय नहीं है तब द्रव्यदृष्टि में जीओ और जीने दो यह प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है । जैसे रसनाइन्द्रिय का विषय खट्टा, मीठा आदि रस की पर्यायें हैं, किन्तु काला, नीला आदि वर्णगुण की पर्यायें रसनाइन्द्रिय का विषय नहीं हैं, चक्षुइन्द्रिय का विषय हैं । नेत्रइन्द्रिय से रहित रसनाइन्द्रिय से यह प्रश्न करना कि अमुक पदार्थ किस वर्ण का है, एक मूर्खता है ।

पर्यायदृष्टिनिरपेक्ष मात्र द्रव्यदृष्टि मिथ्यादृष्टि है । प्रवचनसार में कहा भी है—

‘नारकाविपर्यायरूपो न भवाम्यहमिति परसमया मिथ्यादृष्टयो भवन्तीति ।’

‘मैं सर्वथा नारकादि पर्यायरूप नहीं हूँ’ ऐसा मानने वाले परसमय मिथ्यादृष्टि हैं, क्योंकि पर्याय के बिना द्रव्य का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता है । श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा भी है—

गण्य विना परिणामं अत्थो अत्थं विरोह परिणामो ।

दृग्गुणपञ्जयत्थो अत्थो अत्थित्तिगिद्वत्तो ॥१०॥ [प्रवचनसार]

लोक में परिणाम (पर्याय) के बिना पदार्थ नहीं है और पदार्थ के बिना पर्याय नहीं है । द्रव्य, गुण व पर्याय में रहनेवाला पदार्थ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यस्वरूप अस्तित्व से बना हुआ है ।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी कहा है—‘न खलु परिणाममन्तरेण वस्तु सत्तामालंबते वस्तुनो द्रव्यादिभिः परिणामात् पृथगुपलम्भाभावाग्निःपरिणामस्य खरभृङ्गकल्पत्वात् ।’ निश्चय से पर्याय के बिना वस्तु अस्तित्व की धारण नहीं करती । पर्याय से भिन्न वस्तु की उपलब्धि नहीं होती, क्योंकि पर्यायरहित वस्तु गधे के सींग के समान है ।

श्री देवसेनाचार्य ने भी कहा है—'निविशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवत् ।' विशेषरहित सामान्य निश्चय से गधे के सींग के समान है । इसीलिये श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि द्रव्य और पर्याय इन दोनों का अनन्यपना है ।

पञ्जयविजुदं दष्टे दष्टविजुत्सा य पञ्जया णत्थि ।

दोहं अण्णभूदं भावें समणा परूवित्ति ॥ पंचास्तिकाय गाथा १२

पर्याय (विशेष) से रहित द्रव्य (सामान्य) और द्रव्य (सामान्य) से रहित पर्याय (विशेष) नहीं होती, क्योंकि दोनों का अनन्यपना है ।

— जं. ग. 12-12-74/VI/ गं. न. सोनी

अशुद्धतर नय का अभिप्राय

शंका—धवल पुस्तक १ पर सम्यक्त्व के तीन लक्षण दिये हैं, उनमें अशुद्धनय से क्या तात्पर्य है ?

समाधान—ध. पु. १ पृ. १५१ पर (१) शुद्धनय के आश्रय से सम्यक्त्व का लक्षण प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य की प्रकटता है; (२) तत्त्वार्थ अर्थात् आत्म, आगम और पदार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं, यह लक्षण अशुद्धनय की अपेक्षा से है; (३) अशुद्धतरनय की अपेक्षा तत्त्वरुचि को सम्यक्त्व कहते हैं ।

प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये जीव के परिणाम हैं । सम्यग्दर्शन भी जीव के श्रद्धागुण की पर्याय है । प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्यलक्षण और सम्यग्दर्शनलक्षण एकद्रव्य के आश्रय होने से सद्भूतव्यवहारनय का विषय है, क्योंकि 'तत्रैकवस्तुविषयः सद्भूतव्यवहारः' ऐसा सूत्रवाक्य है । ध. पु. १ पृ. १५१ पर असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा से सद्भूतव्यवहारनय को शुद्धनय कहा गया है । निश्चयनय की अपेक्षा लक्ष्य-लक्षण ऐसा ही सम्भव नहीं है, क्योंकि 'निश्चयनयोऽभेद विषयः' ऐसा सूत्र है । यहाँ पर शुद्धनय से प्रयोजन निश्चयनय से नहीं हो सकता है ।

आत्म, आगम, पदार्थ का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, यह लक्षण असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा से है, क्योंकि आत्म, आगम, पदार्थ श्रद्धेय और जीव की पर्याय श्रद्धान, ये दोनों भिन्नवस्तु हैं । 'भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहारः' ऐसा आर्षवाक्य है । सद्भूतव्यवहारनय की दृष्टि से असद्भूतव्यवहारनय को अशुद्ध कहा गया है ।

यद्यपि तत्त्वरुचि लक्षण भी असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा से है, किन्तु श्रद्धा और रुचि शब्दों के अर्थ-भेद के कारण 'तत्त्वरुचि' लक्षण को अशुद्धतरनय कहा गया है । श्रद्धान का अर्थ है विपरीता-भिनिवेश से रहित होना । इच्छा प्रकट करना रुचि है । कहा भी है—

'सद्दृष्टि य श्रद्धाति च तत्र विपरीताभिनिवेशरहितो भवति । रोचेदि य रोचते च मोक्षकारणतया तत्रैव रुचिकरोति ।'

रुचि की अपेक्षा श्रद्धा शब्द सम्यग्दर्शन के अतिनिकट है, अतः तत्त्वश्रद्धानलक्षण की अपेक्षा तत्त्वरुचिलक्षण को अशुद्धतरनय से कहा गया है ।

नयशास्त्र के ज्ञान विना आगम का यथार्थबोध नहीं हो सकता है ।

—जं. ग. 10-12-70/VI/ ट. ला. जैन

'सफेद पत्थर', यह सद्भूत व्यवहार का उदाहरण है

शंका—सफेद पत्थर में वर्णगुण की सफेद पर्याय को 'वृहद्-द्रव्य-स्वभाव-प्रकाशक नयचक्र' में सद्भूत-व्यवहार का विषय कैसे कहा ? स्पष्ट करें ?

समाधान—अशुद्धद्रव्यों में गुण-गुणी या पर्याय-पर्यायी को भेदरूप से ग्रहण करना उपचरितसद्भूत-व्यवहारनय का विषय है। शुद्धद्रव्यों में गुण-गुणी या पर्याय-पर्यायी को भेदरूप से ग्रहण करना अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय का विषय है। बन्धरूप से प्राप्त एकक्षेत्रावगाही दो द्रव्यों के सम्बन्ध को ग्रहण करना अनुप-चरितसद्भूतव्यवहारनय का विषय है। पृथग्भूत दो द्रव्यों के सम्बन्ध को ग्रहण करना उपचरितसद्भूतव्यवहारनय का विषय है। सफेद पत्थर में पत्थर के वर्णगुण की सफेद पर्याय से प्रयोजन होने के कारण यह सद्भूतव्यवहारनय का विषय है। वर्णगुण की सफेद पर्याय और पत्थर के प्रदेश भिन्न-भिन्न नहीं हैं। यदि भिन्न प्रदेश होते तो असद्भूतव्यवहार का विषय होता।

—पृष्ठ 16-11-79/ज. ला. जैन, भीण्डर

संश्लेष सम्बन्ध किस नय का विषय है ?

शंका—आलापपद्धति सूत्र २१३ में संश्लेषसम्बन्ध को उपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय का विषय कहा गया है, किन्तु सूत्र २२८ में संश्लेषसम्बन्ध को अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय का विषय कहा गया है, तो कैसे ?

समाधान—आलापपद्धति में नयों का कथन सिद्धांत की अपेक्षा और अध्यात्म की अपेक्षा दो प्रकार से किया गया है। सूत्र २१३ में सिद्धांत की अपेक्षा से कथन है। सिद्धान्त में अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय नहीं है।

सूत्र २२८ में अध्यात्म की अपेक्षा से कथन है। अध्यात्म में असद्भूतव्यवहारनय के उपचरित और अनुपचरित ऐसे दो भेद हैं। इसप्रकार विवक्षाभेद से दोनों सूत्रों के कथन में अन्तर हो गया है। दोनों ही अपनी-अपनी अपेक्षा से यथार्थ हैं।

—जं. ग. 22-4-76/VIII/ जे. एल., जैन

आगमनय व अध्यात्मनय की तरह प्रमाण के दो भेद नहीं हैं

शंका—जैसे अध्यात्मभाषा से नय कहे जाते हैं तथा आगम भाषा (आगम-पद्धति) से भी; वैसे ही क्या प्रमाण के भी दो भेद किये जा सकते हैं या नहीं ? शंका का अभिप्राय यह है कि आगमप्रमाण तथा अध्यात्मप्रमाण; ऐसे दो भेद भी किये जा सकते हैं या नहीं ? कृपया स्पष्ट करें कि धवल कीनसा ग्रन्थ है ?

समाधान—आगमप्रमाण तथा अध्यात्मप्रमाण ऐसे प्रमाण के दो भेद मेरे देखने में नहीं आये। धवल भी अध्यात्मग्रन्थ है, ऐसा धवल, पुस्तक संख्या १३ में कहा है।

—पृष्ठ 28-12-78/ज. ला. जैन, भीण्डर

नय-निक्षेप में अन्तर

शंका—निक्षेप और नय में क्या अन्तर है ?

समाधान—नामादिक के द्वारा वस्तु में भेद करने के उपाय को न्यास या निक्षेप कहते हैं और ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं (धवल पु. १ पृ. १७)। अर्थात् निक्षेप विषय है और नय विषयी है, इसप्रकार इन दोनों में भेद है।

—जं. ग. 28-11-63/IX/ र. ला. जैन, मेरठ

नाम निक्षेप की परिभाषा [मतद्वय]

शंका—नाम निक्षेप की सही परिभाषा क्या समझें ?

समाधान—नाम-निक्षेप की परिभाषा के विषय में आचार्यों में मतभेद है। श्री बीरसेनाचार्य ने नामनिक्षेप की परिभाषा इसप्रकार की है—‘अन्य निमित्तों की अपेक्षारहित किसी की ‘मंगल’ ऐसी संज्ञा करते को नाममंगल कहते हैं। नामनिक्षेप में संज्ञा के चार निमित्त होते हैं, जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया (पृ० १७)। वाच्यार्थ की अपेक्षारहित ‘मंगल’ यह शब्द नाम मंगल है (पृ० १९)। (धवल पृ० १) श्री पूज्यपादाचार्य ने नामनिक्षेप की परिभाषा इसप्रकार की है—‘संज्ञा के अनुसार गुणरहित वस्तु में व्यवहार के लिये अपनी इच्छा से की गई संज्ञा को नाम कहते हैं।’ (स. सि. अ. १ सूत्र ५)। इन दोनों आचार्यों को गुरु परम्परा से भिन्न-भिन्न उपदेश प्राप्त हुए थे अतः उन उपदेशों के अनुसार नाम-निक्षेप की भिन्न-भिन्न परिभाषा हो गई। केवली व श्रुतकेवली का वर्तमान में अभाव होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि कौनसा उपदेश यथार्थ है। (ध. पु. १-पृ. २२२)।

शंका—यदि किसी मनुष्य का नाम ‘शेरसिंह’ रखा जावे तो क्या यह नामनिक्षेप नहीं है ? यदि नहीं, तो क्या है ?

समाधान—श्री पूज्यपादाचार्य के मतानुसार मनुष्य का नाम ‘शेरसिंह’ यह नाम निक्षेप है, क्योंकि व्यवहार के लिए अपनी इच्छा से की गई संज्ञा है। श्री बीरसेनाचार्य के मतानुसार यदि उस मनुष्य में ‘सिंह’ जैसी क्रिया पाई जाती है तो उस मनुष्य की ‘शेरसिंह’ संज्ञा, क्रिया निमित्तक होने से, नामनिक्षेप हो सकती है। यदि उस मनुष्य में सिंह जैसे गुण या क्रिया नहीं हैं तो वह नामनिक्षेप की परिभाषा में नहीं आता, मात्र लोक व्यवहार है।

—डॉ. ग. 18-6-64/IX/२. ला. जैन, मेरठ

स्थापनानिक्षेप किस नय का विषय है ?

शंका—स्थापनानिक्षेप कौनसे नय का विषय है ? और उस नय का स्वरूप क्या है ?

समाधान—स्थापनानिक्षेप नंगमसंग्रह और व्यवहार इन तीनों नयों का विषय है, क्योंकि इन तीनों द्रव्याधिकनयों के छहों निक्षेप विषय हैं। इस बात को स्वीकार करने में कोई विरोध नहीं आता। कहा भी है—‘दृक्चक्षुष्योर्गणं तिष्णमेवेदं स गणायं विसए छुष्णं णिवसेवणमत्थित्तं पडि विरोहाभावादो।’ घ. खं. पु. १४ पृ. ५२ ॥ इन तीनों नयों का लक्षण स. सि. अ. १, सू. ३३ की टीका अनुसार इसप्रकार है—‘अनभिनिर्वृत्तार्थसंकल्पनाग्राही नंगमः। स्वजात्यविरोधेनैकद्रव्यमुपानीय पर्यायानाक्रान्तभेदानविशेषेण समस्तग्रहणात्संग्रहः। संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः।’

अर्थ—अनिष्पन्नार्थ में संकल्पमात्र को ग्रहण करनेवाला नय नंगम है। भेदसहित सब पर्यायों को अपनी जाति के अविरोध द्वारा एक मानकर सामान्य से सबको ग्रहण करनेवाला नय संग्रहनय है। संग्रहनय के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थों का विधिपूर्वक अवहरण अर्थात् भेद करना व्यवहारनय है।

—डॉ. सं. 6-6-57/.../ जैन स्याध्याय मण्डल, कुशामन

स्थापना निक्षेप

शंका—चेतन की चेतन में स्थापना होती है या नहीं ? नाटक में जो पार्ट करते हैं वह कौनसा निक्षेप है?

समाधान—चेतन तो गुण है। चेतनगुण की चेतनगुण में स्थापना से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं। नाटक में जो राजा का भेष धारण किया जाता है वह एक अवस्था की स्थापना है। इसका स्थापना निक्षेप में ही अन्तर्भाव होता है।

—जं. ग. 16-5-63/IX/ प्रो. मनोहरलाल जैन

अन्य प्रतिमा के सामने अन्य भगवान की स्थापना किस निक्षेप से ?

शंका—साक्षात् प्रतिमा को भगवान माना जाता है तो स्थापना निक्षेपसे और पारबनाथ की प्रतिमा के सामने शांतिनाथ की स्थापना, आह्वानन किया जाता है तो कौन से निक्षेप से, आज ये भगवान मोक्ष गये या जन्मे सो कौन से निक्षेप से ?

समाधान—पारबनाथ की प्रतिमा के सामने शांतिनाथभगवान का आह्वानन आदि किया जाता है सो भी स्थापनानिक्षेप है। पंडितवर सदासुखदासजी ने श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार की टीका में लिखा है 'एक तीर्थकर में एक का भी संकल्प और चौबीस का भी संकल्प संभव है। अर प्रतिमा के चित्त हैं सो प्रतिमा के चरणचौकी में नामादिक व्यवहार के अर्थ हैं अर एक अरहन्त परमात्मा स्वरूपकरि एक रूप है अर नामादिक करि अनेक स्वरूप है। सत्यार्थ ज्ञानस्वभाव तथा रत्नत्रयरूपकरि वीतरागभावकरि पंचपरमेष्ठीरूप एक ही प्रतिमा जाननी।' विशेष के लिये पं० सदासुखदासजी की टीका सहित रत्नकरण्ड श्रावकाचार पृष्ठ ३१६-३२९ 'सस्ती ग्रन्थमाला' देखना चाहिए।

'आज ये भगवान मोक्ष गये या जन्मे' ऐसा कथन नैगमनय की अपेक्षा से है अथवा स्थापनानिक्षेप की अपेक्षा से है, क्योंकि भूतकाल की स्थापना वर्तमानकाल में की जाती है।

—जं. सं. 15-8-57/..../श्रीमती कपूरीदेवी

भावी नो आगमद्रव्य निक्षेप विषयक स्वरूप-स्पष्टीकरण

शंका—धवल पु० ९ पृ० ७ पर भावी नोआगमद्रव्यनिक्षेप का लक्षण इसप्रकार किया गया है—'अविध्य-काल में जिनपर्याय से परिणमन करनेवाला भावीद्रव्यजिन है।' इसके साथ-साथ अविध्यकाल में जिनप्राभुत को जाननेवाले जीव के नोआगमभावीजिनत्व का निवेद्य इसलिये किया है कि आगम संस्कार पर्याय का आधार होने से अतीत-अनागत व वर्तमान आगमद्रव्य के नो आगमद्रव्यत्व का विरोध है, किन्तु ध. पु. ३ पृ. १५ पर लिखा है—'जो जीव अविध्यकाल में अनन्तविषयक शास्त्र को जानेगा उसे भावी नोआगमद्रव्यानन्त कहते हैं।' एक ही आचार्य के वचनों में भावी नोआगम-द्रव्य-निक्षेप के लक्षण में परस्पर विरोध क्यों है ?

समाधान—परस्पर विरोध नहीं है, विवक्षा भेद से दोनों लक्षणों में भेद हो गया है। धवल पु० ९ पृ० ७ पर 'जिन' की अपेक्षा से भावी नो आगमद्रव्य निक्षेप का लक्षण किया गया है। 'जिन' जीव द्रव्य की पर्याय विशेष है। अतः जीव जिनपर्याय से परिणमन कर सकता है, किन्तु संख्या न द्रव्य है, न गुण है, न पर्याय है। जिनों की संख्या हीनअधिक हो सकती है, इसीलिए जघन्य, उत्कृष्ट व मध्यम तीनप्रकार की संख्या का कथन किया गया है। संख्या परसापेक्ष धर्म है। अनन्त भी संख्या है। अतः अनन्तसंख्या जीवद्रव्य नहीं है, न जीवद्रव्य की पर्याय है और

न गुण है। संख्या श्रुतज्ञान का विषय होने से अनन्तभावीनोआगमद्रव्यनिक्षेप का लक्षण श्रुतज्ञान की अपेक्षा से किया गया है। 'जिन' जीवद्रव्य की पर्याय है अतः जिनभावी नो आगमद्रव्यनिक्षेप का लक्षण श्रुतज्ञान की अपेक्षा से न करके जीव की पर्याय की अपेक्षा से किया गया है।

—जं ग. 6-5-76/VIII/ ज. ला. जैन, भीण्डर

अर्थ एवं परिभाषा

आगम में 'अन्तर' शब्द का अर्थ

शंका— प्रकारान्तर, भवान्तर, अर्थान्तर, समयान्तर, आत्मान्तर, पदार्थान्तर इसप्रकार के अनेक शब्द आगम में पाये जाते हैं। यहां पर 'अन्तर' शब्द किस अर्थ का सूचक है ?

समाधान—यहां पर 'अन्तर' शब्द का अभिप्राय 'भिन्न, दूसरा या अन्य' से है। जैसे 'प्रकारान्तर' अर्थात् विवक्षित प्रकार से भिन्न अन्यप्रकार से। 'भवान्तर' विवक्षित भवके अतिरिक्त अन्यभव या दूसराभव। 'अर्थान्तर' विवक्षितअर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ। 'समयान्तर' विवक्षितसमय से दूसरा समय। इसप्रकार अन्यत्र भी जान लेना चाहिए।

—जं. ग. 16-7-70/रो. ला. नि.

'अक्षर' से अभिप्राय

शंका—सूक्ष्मनिगोदिया के अक्षर के अनन्तवैभाग ज्ञान होना बतलाया है। यह अक्षर कौनसा है? क्या प्राचीन अक्षर या कोई दूसरा अक्षर या अक्षर का अर्थ केवलज्ञान भी हो सकता है ?

समाधान—ध० पु० १३ पृ० २६२ पर इस सम्बन्ध में विम्नप्रकार कथन है—

'सूक्ष्मनिगोद लब्धपर्याप्तक के जो जघन्यज्ञान होता है उसका नाम 'लब्ध्याक्षर' है। इसका प्रमाण केवलज्ञान का अनन्तवैभाग है। यह ज्ञान निरावरण है, क्योंकि अक्षर के अनन्तवैभाग नित्य उद्घाटित रहता है, ऐसा आगमवचन है, अथवा इसके आवृत्त होने पर जीव के अभाव का प्रसंग आता है।'

इसप्रकार श्री वीरसेनाचार्य ने 'अक्षर' शब्द से केवलज्ञान को ग्रहण किया है, क्योंकि केवलज्ञान में वृद्धि और हानि नहीं होती, इसलिए केवलज्ञान को अक्षर कहा है।

—जं. ग. 8-2-68/IX/ घ ला. सेठी

अणु-परमाणु; प्रमेय-प्रमाण में अन्तर

शंका—प्रमेय और प्रमाण में क्या अन्तर है? ऐसे ही अणु और परमाणु में क्या अन्तर है ?

समाधान—प्रमाण का जो विषय है वह प्रमेय है। पदार्थ प्रमेय है। पदार्थ का यथार्थ ज्ञान प्रमाण है। प्रमेय और प्रमाण में विषय और विषयी का अन्तर है। अणु और परमाणु दोनों शब्दों का एक अर्थ है। जिसका भाग न हो सके ऐसे अविभागी पुद्गल को अणु या परमाणु कहते हैं। कालद्रव्य भी अप्रदेशी अथवा एकप्रदेशी है उसकी अवगाहना भी पुद्गलपरमाणु के बराबर है, अतः कालद्रव्य को भी कालाणु कहते हैं।

—जं. ग. 6-13-5-65/XIV/ मगनमाला

‘अनिर्वृत्तता’ का अर्थ

शंका—सर्वार्थसिद्धि १।२३ में ‘कस्मादनिर्वृत्तता’ शब्द आया है। इसमें अनिर्वृत्तता का क्या अर्थ है ?

समाधान—संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ में निर्वृत्ति का अर्थ निष्पत्ति, समाप्ति दिया है। यहाँ पर अचिन्तित-अर्थ व अर्धचिन्तितअर्थ ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि परपदार्थ के चिन्तनकार्य की समाप्ति नहीं हुई है, अथवा निष्पत्ति नहीं हुई है। विपुलमतिमनःपर्यय ज्ञान का विषय चिन्तित पदार्थ तो है ही, किन्तु जिन पदार्थों का अभी चिन्तन नहीं हुआ, ऐसे अचिन्तित अर्थ को और जो पदार्थ अभी अर्धचिन्तित हैं अर्थात् जिन पदार्थों के चिन्तन की अभी तक निष्पत्ति या समाप्ति नहीं हुई, उनको भी विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानी जानता है।

—पञ्चाधार 77-78/ज. सा. जैन, भीण्डर

‘अनुभूति’

शंका—पुरुषार्थसिद्धिचुपाय भव्य प्रबोधिनी टीका में अनुभूति लब्धिरूप भी और उपयोगरूप भी की है। क्या अनुभूति लब्धिरूप भी मानी जाएगी ?

समाधान—अनुभूति के अनेक अर्थ हैं—

(१) अनुभूति का अर्थ प्रतीति (श्रद्धा) है। कहा भी है—‘संवित्युपलब्धि प्रतीत्यानुभूति रूपं ।’

—पञ्चास्तिकाय पृ. २९-३० रायचन्द्र ग्रन्थमाला

(२) अनुभूति का अर्थ चेतना व वेदना भी है। कहा भी है—‘चेतनानुभूत्युपलब्धि वेदना नामेकार्थत्वात् ।’

—पं० का० पृ० ७९

(३) अपने आपका जानना, अनुभवन (अनुभूति) है। कहा भी है—‘स्वस्थानुभवनमर्थवत् ।’ परीक्षामुख।
अर्थ—आपका अनुभव आपके है जैसे अन्यअर्थ का अनुभवन है तैसे ही आपका है। अर्थात् अनुभव (अनुभूति) का अर्थज्ञान है।

(४) अनुभवन (अनुभूति) का अर्थ दर्शनोपयोग भी है, कहा भी है—

(अ) ‘आलोकनवृत्तिर्वादर्शनम् । अस्थ गमनिका, आलोकन इत्यालोकनमात्मा, वर्तनं वृत्तिः आलोकनस्य वृत्तिरालोकनवृत्तिः स्वसंवेदनं, तद्दर्शनमिति ।’ ध. १ पृ० १४८-१४९ ।

अर्थ—आलोकन अर्थात् आत्मा के व्यापार को दर्शन कहते हैं। जो अवलोकन करता है, उसे आलोकन या आत्मा कहते हैं। वर्तन अर्थात् व्यापार को वृत्ति कहते हैं। आलोकन की वृत्ति को स्वसंवेदना कहते हैं और वही दर्शन है।

(आ) ‘यद्यस्य ज्ञानस्योत्पादकं स्वरूपसंवेदनं तस्य तद्दर्शनव्यपदेशात् ।’ ध. १ पृ० ३८१

अर्थ—जिस ज्ञान को उत्पन्न करनेवाला स्वरूपसंवेदन (अनुभूति) है वही दर्शन कहा जाता है।

(इ) ‘ततः स्वरूपसंवेदनं दर्शनमित्यङ्गीकर्तव्यम् ।’ ध. १ पृ. ३८३

अर्थ—इसलिये स्वरूपसंवेदन दर्शन है, ऐसा स्वीकार कर लेना चाहिए।

जहाँ पर अनुभूति को लब्धिउपयोग रूप कहा हो वहाँ पर अनुभूति का अर्थ 'ज्ञान' जानना चाहिए । क्योंकि प्रतीति अर्थात् श्रद्धा लब्धिउपयोग रूप नहीं होती ।

—जं. ग. 14-10-65/X/ब. पन्नालाल

अवस्थान काल व प्रवेशान्तर काल की सोदाहरण परिभाषाएँ

शंका—ध० पु० ७ पृ० ४६९ के 'जिस मार्गणा व जिस गुणस्थान का अवस्थान काल से प्रवेशान्तर काल दीर्घ होता है ।' इस वाक्य का क्या अभिप्राय है ?

समाधान—लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य मार्गणा में एकजीव का अवस्थानकाल क्षुद्रभव है और प्रवेशान्तरकाल पत्योपम का असंख्यातवाँभाग है जो अवस्थानकाल से अधिक है । यदि कोई भी जीव लब्ध्यपर्याप्तकमनुष्यों में उत्पन्न न हो (प्रवेश न करे) तो उत्कृष्ट से पत्योपम के असंख्यातवैभागकालतक उत्पन्न न हो अतः प्रवेशान्तरकाल पत्योपम का असंख्यातवाँभाग बतलाया है । ध. पु. ७ पृ. ४६९ सूत्र १० ।

इसीप्रकार वैक्रियिकमिश्रकाययोगी का एक जीव का अवस्थान काल अन्तर्मुहूर्त है और प्रवेशान्तर काल उत्कृष्ट रूप से १२ मुहूर्त है—धवल पु. ७ पृ. ४८५ सूत्र २६ । इसीप्रकार आहारककाययोगी आहारकमिश्रकाययोगी के विषय में पृ० ४८ सूत्र २९ से जान लेना चाहिये ।

दूसरे गुणस्थान में एक जीव का अवस्थानकाल छहमावली है और तीसरेगुणस्थान में अवस्थानकाल अन्तर्मुहूर्त है, किंतु प्रवेशान्तरकाल दोनों का पत्य का असंख्यातवाँ भाग है । ध. पु. ७ पृ. ४९३ सूत्र ६२ ।

इसीप्रकार बारहवेंगुणस्थान व चौदहवेंगुणस्थान में एक जीवका अवस्थानकाल अन्तर्मुहूर्त है और प्रवेशान्तरकाल छहमाह है । ध. पु. ५ पृ. २९ सूत्र १७ ।

विवक्षितमार्गणा या गुणस्थान में एकजीव का उत्कृष्टकाल अवस्थानकाल है और नानाजीवों की अपेक्षा उत्कृष्ट अन्तरकाल 'प्रवेशान्तरकाल' है ।

—जं. ग. 20-4-72/IX/चप्रवाल

अवहारकाल एवं प्रतिभाग

शंका - अवहारकाल, प्रतिभाग का क्या अर्थ है ?

समाधान—'अवहारकाल' जिससे भाग दिया जाय । जिस संख्या से गुणा या भाग दिया जाय उस संख्या का जो भाग होता है उसको प्रतिभाग कहते हैं । जैसे—ध. पु. ३ पृ. २९८ पर लिखा है—'आवली के असंख्यातवै-भाग का संख्यातवै भाग गुणाकार है ।' यहाँ पर 'संख्यातवाँभाग' प्रतिभाग है ।

—जं. ग. 7-12-67/VII/ट. ला. जैन

'इयति पर्यायान्' का अर्थ

शंका—स० सि० अ० १ सूत्र १७ की टीका के नवीनसंस्करण में लिखा है 'पर्यायों से प्राप्त होता है', किन्तु पूर्वसंस्करण में 'पर्यायों को प्राप्त होता है' ऐसा लिखा है । इन दोनों में कौनसा अर्थ ठीक है ?

समाधान—सर्वार्थसिद्धि में मूलपाठ इसप्रकार है—

'इयति पर्यायांस्तैर्वायते इत्यर्थो ब्रह्मम् ।'

इसका अर्थ 'जो पर्यायों को प्राप्त करता है' ऐसा होता है, क्योंकि 'पर्यायान्' द्वितीया का बहुवचन है। 'ऋ' धातु से 'इयति' बना है जो लट्लकार में प्रथमपुरुष का एकवचन है। 'ऋ' धातु का अर्थ 'प्राप्त करना' है। अतः 'इयति पर्यायान्' का अर्थ 'पर्यायों को प्राप्त करता है' ऐसा होता है।

—ज. ग. 25-3-76/VII/ र. ला. जैन

'जिणुद्दिट्ठ' का अर्थ

शंका—हाल के किसी एक लेख में रयणसार गाथा १२५ के 'जिणुद्दिट्ठ' का अर्थ 'जिनेन्द्र के द्वारा देखा गया है' ऐसा किया गया है। क्या यह अर्थ ठीक है ?

समाधान—'दिट्ठं' शब्द का अर्थ 'दर्शन' व 'कथन' दोनों होते हैं किन्तु 'जिणुद्दिट्ठ' में 'उद्दिट्ठं' शब्द का अर्थ 'कथितम्' होता है। जिनेन्द्र भगवान ने किसप्रकार देखा है यह तो छद्मस्थ के द्वारा जाना या कहा नहीं जा सकता है उसको तो केवलज्ञानी ही जानते हैं। जैसे केवली ने काल के सबसे छोटे अंश 'समय' को निरंश देखा है या एकसमय में १४ राजू गमन की अपेक्षा सांश देखा है अथवा परमाणु को सावयव देखा है या निरवयव देखा है। 'नय' श्रुतज्ञान का भेद है। [स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २६३।] जिनेन्द्र ने वस्तु को भिन्न-भिन्नियों के द्वारा देखा है या प्रमाण के द्वारा देखा है या प्रमाण व नय दोनों के द्वारा देखा है। छद्मस्थ अपने ज्ञान के द्वारा जिनेन्द्र के ज्ञान को नहीं देख सकता। इसीलिये किसी भी आचार्य ने यह नहीं कहा कि 'मैं वह कहूँगा जो जिनेन्द्र ने देखा है'; किन्तु आचार्यों ने तो यह लिखा है कि 'मैं वह कहूँगा जो जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।' श्री कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं समयसार की प्रथम गाथा में कहते हैं—'योच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीमणियं।' अर्थात् 'अहो! केवली श्रुतकेवली के द्वारा कथित वह समयसारप्राभृत कहूँगा।'

'एकद्रव्य दूसरेद्रव्य का कर्ता नहीं है।' जिनका ऐसा एकान्त सिद्धान्त है उनको तो यह इष्ट है कि केवली या श्रुतकेवली ने शब्दरूप कुछ भी नहीं कहा। क्योंकि केवली या श्रुतकेवली चैतनरूप होने से परद्रव्यरूप पुद्गलमयी शब्दों के कर्ता नहीं हो सकते। इसलिये जिनेन्द्र ने ऐसा कहा है इसको प्रमाण न मानकर 'जिनेन्द्र ने ऐसा देखा है' इसीको प्रमाण मानते हैं और इस आधार पर जिनेन्द्र कथित 'अनेकान्त', 'स्याद्वाद' तथा 'सब सप्रतिपक्ष है' इन सिद्धान्तों का खण्डनकर 'एकान्त नियतिवादरूप मिथ्यात्व' का 'क्रमबद्धपर्याय' के नाम से प्रचार कर रहे हैं।

प्र० सा० गाथा २३ में भी 'उद्दिट्ठं' शब्द का प्रयोग हुआ है और श्री जयसेनाचार्य ने 'उद्दिट्ठं' शब्द का अर्थ 'कथित' किया है। अतः रयणसार गाथा १२५ में उद्दिट्ठं का अर्थ 'देखना' न होकर कथित होना चाहिए, छद्मस्थ तो वही जान सकता है और उसी की श्रद्धा कर सकता है जो श्री जिनेन्द्र ने कहा है। श्री जिनेन्द्र ने जितना देखा है उस सबको श्री गणधर भी नहीं जान सकते हैं।

व्याप्य-व्यापकरूप से एकद्रव्य की पर्याय दूसरेद्रव्य की पर्याय की कर्ता नहीं हो सकती, किन्तु निमित्त-नैमित्तिकरूप लें तो एकद्रव्य की पर्याय दूसरेद्रव्य की पर्याय की कर्ता होती है। यदि ऐसा न माना जावे तो दिव्यध्वनि या द्वादशाङ्ग या समयसारादि ग्रन्थों को अप्रामाण्यता का प्रसङ्ग आ जायगा। जैसे व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध से उपादानकर्ता होता है वैसे ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से निमित्तकर्ता भी होता है। निमित्तकर्ता

१. ऐसा ही अर्थ, अर्थात् जिणुद्दिट्ठं = जिनकथितम्; डॉ देवेन्द्रकुमारजी शारदा; नीमव ने भी रयणसार के अनुवाद में गाथा १०६ पृष्ठ १५१ में किया है।

—सम्पादक

की मुख्यता से समयसार गाथा ५०-५५ में रागादिक को निश्चय से पुद्गलद्रव्य की पर्याय कहा है। इसीप्रकार समयसार गाथा २७८ व २७९ में स्फटिकमणि का दृष्टान्त देकर यह कहा गया है कि जीव स्वयं रागादिरूप नहीं परिणमता, किन्तु अन्य (पुद्गल कर्मों) के द्वारा रागी किया जाता है।

आर्षग्रन्थों में कहीं पर उपादानकर्ता की मुख्यता से कथन है, कहीं पर निमित्तकर्ता की मुख्यता से कथन है। इनमें से किसी एक का एकान्ताग्रह करना मिथ्यात्व है।

—जै. ग. 13-12-65/VIII/ ट. ला. जैन

‘उपकार’

शंका—‘शरीर वाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानां’ इस सूत्रानुसार शरीर, बचन, मन आदि पुद्गलों का उपकार है, किन्तु यह ही तो संसार-बुःख की जड़ है फिर इन्हें उपकार किस अपेक्षा कहा ?

समाधान—अध्याय पाँच में ‘उपकार’ से प्रयोजन निमित्त या सहकारीकारण से है। उपकार का अर्थ यहाँ इष्टकारक नहीं ग्रहण करना।

—जै. ग. 31-10-63 /IX/ ट. ला. जैन, मेरठ

उपक्रमण काल की परिभाषा

शंका—उपक्रमणकाल किसे कहते हैं ?

समाधान—निरन्तर उत्पन्न होने के काल को अथवा निरन्तर प्रवेश होने के काल को अथवा निरन्तर आयके काल को उपक्रमणकाल कहते हैं। जैसे देवगति में जीवों के निरन्तर उत्पन्न होने के काल को उपक्रमणकाल कहते हैं। अन्य गुणस्थान से आकर तीसरेगुणस्थान में जीवों के निरन्तर प्रवेशकाल को उपक्रमणकाल कहते हैं।

—जै. ग. 20-4-72 /IX/ बल्लपाल

‘कांजी’ का अर्थ

शंका—रत्नकरण्ड भावकाचार श्लोक १४० की टीका में ‘कांजी’ शब्द आया है। इसका क्या अर्थ है ?

समाधान—खटास से युक्त पेय को ‘कांजी’ कहते हैं, जैसे इमली आदि का पानी या तक्र आदि।

—जै. ग. 27-7-72 /IX/ ट. ला. जैन

काल क्षय

शंका—ध० पु० ८ पृ० १७ हिन्दी पंक्ति १२ पर और पृ० ४४ हिन्दी पंक्ति १० पर ‘कालक्षय’ शब्द आया है। इसका क्या अभिप्राय है ?

समाधान—जो सप्रतिपक्ष बंधप्रकृतियाँ हैं, उनका बंध अपने नियतकालतक होता है। नियतकाल के समाप्त होने पर विवक्षितप्रकृति का बंध रुक जाता है और प्रतिपक्षप्रकृतियों का बंध प्रारम्भ हो जाता है। जैसे असातावेदनीयकर्मप्रकृति की प्रतिपक्ष सातावेदनीय कर्मप्रकृति है। साता व असातावेदनीय कर्मप्रकृतियों में से प्रत्येक का जघन्यबंधकाल एकसमय है और उत्कृष्टबंधकाल अन्तर्मुहूर्त है (महाबंध पु० १ पृ० ४७)। सातवैगुणस्थान से मात्र साता का ही बंध होता है। छठेगुणस्थानतक असातावेदनीयकर्म का बंधकाल क्षय (समाप्त) हो जाने पर

सातावेदनीय का बंध प्रारम्भ हो जावेगा । सातावेदनीयकर्म का बंधकाल क्षय हो जाने पर असाता का बंध होने लगेगा । छठेगुणस्थानतक साता या असाता कर्मप्रकृति का एक अन्तमुहूर्तकाल से अधिक कालतक बंध नहीं हो सकता है ।

—जौ. ग. 20-4-72 /IX/ यशपाल

‘कुशील’ का अभिप्राय

शंका—तत्त्वार्थसूत्र में निर्ग्रन्थमुनि के पुलाक आदि पांच भेद बतलाये हैं । उनमें से एक भेद कुशील भी है । यहाँ पर ‘शील’ शब्द का क्या अर्थ है ?

समाधान—शील का अर्थ आत्मा का वीतरागस्वभाव है (अष्टपाहुड पृ० ६०८) । दसवें गुणस्थान तक सूक्ष्मराग रहता है वहाँ तक निर्ग्रन्थमुनि की कुशील संज्ञा है । दसवेंगुणस्थान के आगे चारित्रमोहनीय कर्मोदय के अभाव के कारण जीव पूर्ण वीतराग हो जाता है अर्थात् अन्तरंग व बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह से रहित हो जाता है, अतः उसकी निर्ग्रन्थ (वीतरागछप्रस्थ) संज्ञा हो जाती है ।

—जौ. ग. 16-7-70/ रो ला मि.

क्षपणा व विसंयोजना में अन्तर

शंका—विसंयोजना और क्षपणा क्या पर्यायवाची शब्द हैं ? यदि हैं तो किस ग्रन्थ में कहाँ पर लिखा है ?

समाधान—विसंयोजना और क्षपणा पर्यायवाची शब्द नहीं हैं । जिस कर्म की क्षपणा हो जाती है उसकी पुनः सत्ता या बंध नहीं हो सकता, किन्तु जिसकी विसंयोजना होती है उसकी पुनः सत्ता व बंध सम्भव है । विसंयोजना मात्र अनन्तानुबंधीकषाय की होती है अन्यप्रकृतियों की विसंयोजना नहीं होती । ज. ध. पु. पृ. २१९ पर कहा भी है—‘अनन्तानुबंधी चतुष्क के स्कन्धों को परप्रकृतिरूप से परिणमा देने को विसंयोजना कहते हैं । विसंयोजना का इसप्रकार लक्षण करने पर निजकर्मों की परप्रकृति के उदयरूप से क्षपणा होती है, उनके साथ व्यभिचार आ जायगा सो भी बात नहीं है, क्योंकि अनन्तानुबंधी को छोड़कर पररूप से परिणत हुए अन्य कर्मों की पुनः उत्पत्ति नहीं पाई जाती । अतः विसंयोजना का लक्षण अन्यकर्मों की क्षपणा में घटित न होने से अतिव्याप्ति दोष नहीं आता ।

—जौ सं 25-12-58/V/ ब्र. राधमल

१. क्षय, विसंयोजना एवं उदयानाची का स्वरूप

२. ‘क्षय’ को प्राप्त कर्म का पुनः आत्मव नहीं होता ।

शंका—कर्मों का क्षय या प्रकृतियों का क्षय कहा जाता है । उसका यही तात्पर्य है कि उन कर्म या प्रकृतियों का उदय, बंध व सत्त्व से अभाव होता है ? या उदय के अभाव अर्थात् अनुदय को क्षय कहा जाता है ? यदि उदय के अभाव को क्षय कहते हैं तब उदयानाची क्षय का क्या अर्थ है ? क्षय का लक्षण स. सि. पृ. १४९ पर २।१ की टीका में दिया है—‘क्षय आत्यन्तिकी निवृत्तिः’, अर्थात् कर्मों का आत्मा से सर्वथा दूर हो जाना क्षय है । क्षय हो जाने पर क्या किसी कर्म का दुबारा आत्मव हो सकता है ।

समाधान—जिनकर्मों का क्षय होता है उन कर्मोंका अर्थात् कर्म प्रकृतियों का कम से कम एक आवली पूर्व बंध-व्युच्छित्ति अर्थात् संवर हो जाता है, क्योंकि कर्मबंध के पश्चात् एकआवली कालतक उस कर्म का

उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदीरणा, उपशम या क्षय आदि कुछ नहीं हो सकता अतः इस आवलीकाल को बंधावली या अचलावली कहा गया है ।

सत्ता, व्युच्छित्ति का नाम 'क्षय' है । जिसकर्म की सत्ता (सत्त्व) नहीं है उसकर्म का उदय भी नहीं हो सकता । अतः कर्मप्रकृति का क्षय हो जाने पर उसप्रकृति का उदय क्षय हो ही जाता है । किन्हीं कर्मप्रकृतियों की उदय-व्युच्छित्ति और सत्त्व-व्युच्छित्ति एकसाथ होती है और किन्हीं कर्मप्रकृतियों की उदयव्युच्छित्ति पूर्व में हो जाती है और उसके पश्चात् सत्त्वव्युच्छित्ति होती है ।

कर्मप्रकृतियों का आत्मा से सर्वथा दूर हो जाना 'क्षय' है । इसका अभिप्राय यह है कि जिन कर्मप्रकृतियों का सत्त्व नष्ट हो जाने पर पुनः उत्पत्ति नहीं होती उस सत्त्व के नाश का नाम 'क्षय' है । अनन्तानुबन्धीकषाय का सत्त्व नष्ट हो जाने पर पुनः उत्पत्ति पाई जाती है । इसीलिये अनन्तानुबन्धीकषाय के सत्त्व नाम का नाम 'क्षय' न देकर 'विसंयोजना' कहा है । कहा भी है—

'का विसंयोजना ? अणंताणुबंधिचउक्कखंधाणं परसरुवेण परिणमणं विसंयोजना; ण पदोदयकम्मक्ख-
वणाए वियहिचारो, तेसि परसरुवेण परिणदाणं पुणरुप्पत्तीए अभावादो ।' ज. ध. पु. २ पृ. २१९

अर्थ—विसंयोजन किसे कहते हैं ? अनन्तानुबन्धीचतुष्क के स्कन्धों के परप्रकृतिरूप से परिणामा देने को विसंयोजना कहते हैं । विसंयोजना का इसप्रकार लक्षण करने पर जिन कर्मों की परप्रकृति के उदयरूप से क्षपणा होती है उनके साथ व्यभिचार आजायगा सो भी बात नहीं है, क्योंकि अनन्तानुबन्धी को छोड़कर पररूप से परिणत हुए अन्य कर्मों की पुनः उत्पत्ति नहीं पाई जाती ।

'खविदाणमणंताणुबंधीणं व पुणरुप्पत्ती एदासि' पयडीणमणुभागस्स किष्ण जायदे ? ण, अणंताणुबंधीणं व संजलणादीणं विसंजयोणाभावेण पुणरुप्पत्तीए विरोहादो । ण खविदाणं पुणरुप्पत्ती, णिष्णुआणं पि पुणो संसारित्त-
प्पसंगादो । ण च एवं णिरासवाणं संसारुप्पत्तिविरोहादो ।' (ज. ध. पु. ५ पृ. २०७)

अर्थ—जैसे अनन्तानुबन्धी की क्षपणा हो जाने पर उसकी पुनः उत्पत्ति हो जाती है वैसे ही अन्यप्रकृतियों के अनुभाग की पुनः उत्पत्ति क्यों नहीं होती ? अन्यप्रकृतियों की क्षपणा के पश्चात् पुनः उत्पत्ति नहीं होती । क्योंकि अनन्तानुबन्धीकषायों की तरह संज्वलन आदि की विसंयोजना का अभाव होकर उनकी पुनः उत्पत्ति होने में विरोध है । यदि यह कहा जावे कि नष्ट होने पर भी उनकी पुनः उत्पत्ति हो जाय तो क्या हानि है ? किन्तु ऐसा कहना योग्य नहीं है, क्योंकि क्षय को प्राप्त हुई प्रकृतियों की पुनः उत्पत्ति नहीं होती, यदि होने लगे तो मुक्त हुए जीवों का पुनः संसारी होने का प्रसंग उपस्थित होगा, किन्तु मुक्त जीव पुनः संसारी नहीं होते, क्योंकि जिनके कर्मों का आस्रव नहीं होता उनके संसार की उत्पत्ति मानने में विरोध आता है । अर्थात् जिन कर्मों का क्षय हो चुका है उनका पुनः आस्रव नहीं होता ।

जब सर्वघातीस्पर्धकों का अनुभाग अनन्तगुणा क्षीणहोकर देशघातीरूप से उदय में आता है और सर्वघाती-
रूप उदय का अभाव है । इसप्रकार उन सर्वघाती स्पर्धकों की उदयभावी क्षय संज्ञा है । कहा भी है—

'सव्वघादि फद्दयाणि अणंतगुणहीणाणि होद्वण देसघादिकद्दयत्तलेण परिणमिय उदयसावं गच्छंति, तेसिमणंत-
गुणहीणसं खओ णाम ।' [धवल पु. ७ पृ. ९२]

अर्थ—सर्वधातिस्पर्धक अनन्तगुणे हीन होकर और देशधातिस्पर्धकों में परिणत होकर उदय में आते हैं। उन सर्वधाती स्पर्धकों का अनन्तगुणहीनत्व ही क्षय कहलाता है। (यही उदयाभावी क्षयका स्वरूप है)।

—जं. ग. 27-12-65/VIII/२. ला. जैन

'चतुर्थम' का अभिप्राय

शंका—तत्त्वार्यंराजवार्तिक अ० १ सूत्र ७ वा० १४ में 'चतुर्थम' शब्द आया है। इसका क्या अभिप्राय है ?

समाधान—सामायिकसंयम और छेदोपस्थापनासंयम आदि के भेद से चारित्र पाँच प्रकार का है किन्तु सामायिकसंयम और छेदोपस्थापनासंयम—ये दोनों संयम एक हैं क्योंकि इनमें अनुष्ठानकृत भेद नहीं है। उसी संयम का द्रव्याधिकनय की अपेक्षा से सामायिकसंयम नाम है और पर्यायाधिकनय की अपेक्षा से छेदोपस्थापनासंयम नाम है। धवल पु० १ सूत्र १२३ की टीका में कहा भी है—'सकलव्रतानामेकत्वमापाद्य एक्यमोऽपादानाद् द्रव्याधिकनयः सामायिकशुद्धिसंयमः। तदैवैकं व्रतं पञ्चधा बहुधा वा विपाद्य धारणात् पर्यायाधिकनयः छेदोपस्थापनशुद्धिसंयमः। निशितबुद्धि जनानुग्रहार्थं द्रव्याधिकनयदेशना, मन्दधियामनुग्रहार्थं पर्यायाधिकनयदेशना। ततो नानयोः संयमयोरनुष्ठानकृतौ विशेषोऽस्तीति। द्वितय देशनानुगृहीत एक एव संयम इति चैन्नैष दोषः इष्टत्वात्।'।

सम्पूर्णव्रतों को सामान्य की अपेक्षा एक मानकर एक्यम को ग्रहण करनेवाला होने से सामायिकशुद्धिसंयम द्रव्याधिकनयरूप है। उसी एक व्रत को पाँच अथवा अनेकप्रकार के भेद करके धारण करनेवाला होने से छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयम पर्यायाधिकनयरूप है। यहाँ पर तीक्ष्णबुद्धि मनुष्यों के अनुग्रह के लिए द्रव्याधिकनय का उपदेश दिया गया है। मन्दबुद्धि प्राणियों का अनुग्रह करने के लिये पर्यायाधिकनय का उपदेश दिया गया है। इसलिए इन दोनों संयमों में अनुष्ठानकृत कोई विशेषता नहीं है। उपदेश की अपेक्षा सामायिक व छेदोपस्थापना के भेद से संयम दो प्रकार का है; वास्तव में तो वह एक ही है।

इसप्रकार सामायिकसंयम, परिहारविशुद्धिसंयम, सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयम, यथाख्यातशुद्धिसंयम, यम चार प्रकार का हो जाता है। अथवा

सामायिकसंयम प्रमत्त आदि गुणस्थानों में भिन्न-भिन्न होता है अतः इन चारों गुणस्थानों की अपेक्षा यम चारप्रकार का है।

—पतावार/च. ला. जैन, बीठडर

जन्मसंतति तथा कर्मनिबर्हण का अर्थ

शंका—जन्मसंतति व कर्मनिबर्हण में क्या अन्तर है ?

समाधान—'जन्मसंतति' का अर्थ है जन्म का प्रवाह अर्थात् संसार। 'कर्मनिबर्हण' का अर्थ है पौद्गलिक कर्मों का नाश। कहा भी है—

'कर्मनिबर्हणं—संसारदुःखसम्पादककर्मणां निबर्हणो विनाशकः।'

संसार के दुःखों को देने वाले जो कर्म उनका नाश करने वाला 'कर्मनिबर्हण' है। अर्थात् कर्म जन्मसंतति के कारण हैं। उन कर्मों का विनाशक कर्मनिबर्हण है।

—जं. ग. 23-7-70/VII/रो. ला. मित्तल

जीव और अन्तरात्मा में अन्तर

शंका—जीव और अन्तरात्मा में क्या अन्तर है ?

समाधान—‘इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास इन चारप्राणों से अथवा चैतन्यरूप प्राण से जो जीता है, जीता था और जीवेगा’ उसको जीव कहते हैं—**द्रव्यसंग्रह माथा ३** चित्त के रागद्वेषादिक दोषों के और आत्मा के विषय में जिसकी ध्रान्ति दूर हो गई है वह अन्तरात्मा है—**समाधितंत्र श्लोक ५** । इसप्रकार जीव व अन्तरात्मा के लक्षणों से दोनों का अन्तर जाना जाता है । ‘जीव’ शब्द में बहिरात्मा (पहिले से तीसरे गुणस्थान तक के जीव) अन्तरात्मा (चौथे से बारहवेंगुणस्थान तक के जीव) व परमात्मा (तेरहवें-चौदहवें गुणस्थानवाले जीव व सिद्धजीव) तीनोंप्रकार के जीव गर्भित हो जाते हैं किन्तु ‘अन्तरात्मा’ शब्द से बहिरात्मा और परमात्मा जीवों से रहित, केवल सम्यग्दर्शजीव (चौथे से बारहवें तक) ही ग्रहण होते हैं । इसप्रकार ‘जीव’ व ‘अन्तरात्मा’ में अन्तर जानना चाहिये ।

—जं. सं 4-9-58/V/ भागण्ड जैन, बजारस

ज्ञान सामान्य का अर्थ

शंका—‘ज्ञानसामान्य को देखते हुए केवलज्ञान के मति आदि अवयव मानने में कोई विरोध नहीं आता; ज्ञान विशेष की अपेक्षा से ये अवयव नहीं हैं ।’ यह धवल १३ पृ० २१५ का वाक्य है ? यहाँ ज्ञान सामान्य का क्या मतलब है ?

समाधान—धवल पु० १३ पृ० २१५ पर ज्ञान सामान्य से अभिप्राय ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद से है ।

—पत्र 28-6-80/ज ला. जैन, भीण्डर

‘त्रिशुद्धा भिक्षा’ एवं उद्दिष्ट आहार का अर्थ

शंका—उपासकाध्ययन श्लोक ८९० में क्षुल्लक के लिये त्रिशुद्धा भिक्षा बतलाई है । यहाँ पर ‘त्रिशुद्धा’ से क्या अभिप्राय है ?

समाधान—कृत, कारित, अनुमोदना से रहित भिक्षा, त्रिशुद्धा भिक्षा है । यह तो दसवीं प्रतिमा में हो जाती है । ग्यारहवीं प्रतिमा (क्षुल्लक) के तो उद्दिष्टाहार का त्याग है, वह तो भिक्षु है ।

जो णव कोडि विसुद्धं, भिषखायरेण भुंजवे भोज्जं ।

जायण-रहियं जोगं, उद्दिष्टाहार-विरवो सो ॥३९०॥ [स्वामि कार्तिकेय अनुप्रेक्षा]

जो श्रावक भिक्षाचरण के द्वारा बिना याचना किये, नवकोटि से शुद्ध योग्यआहार को ग्रहण करता है वह उद्दिष्टआहार का त्यागी है । अपने उद्देश्य से बनाये हुए आहार को ग्रहण न करना उद्दिष्टआहार का त्याग है ।

—जं. ग. 5-9-74/VI/ब. फूजण्ड

‘नारकानित्याशुभतरलेश्या’.... में नित्य का अर्थ

शंका—‘नारकानित्याशुभतरलेश्यापरिणामवेहवेदनाविक्रियाः’, इस सूत्र में ‘नित्य’ शब्द का क्या अर्थ है ? ‘नित्य’ का अर्थ कूटस्थ होता है तो क्या नारकियों की लेश्या व वेदना आदि में हीन अधिकता नहीं होती ?

समाधान—इस सूत्र में 'नित्य' शब्द 'आभीक्ष्ण्य' अर्थ में प्रयोग हुआ है। इस सूत्र में नित्य शब्द का अर्थ कूटस्थ या अविचल नहीं ग्रहण करना चाहिये। कहा भी है—

'आभीक्ष्ण्यवचनाभित्य प्रहसितवत् । यथा नित्यप्रहसितो देवदत्त इत्युच्यते योऽभीक्ष्णं प्रहसति, न च तस्य प्रहसनानिवृत्तिः, कारणे सति भावात् । तथा अशुभकर्मोदयनिमित्तवशात् लेश्याद्योऽनारतं प्रादुर्भवन्तीति आभीक्ष्ण्यवचनो नित्यशब्दः प्रयुक्तः ।' रा. वा. ३-३-४

अर्थात्—'आभीक्ष्ण्य' अर्थ में नित्य शब्द का प्रयोग हुआ है जैसे नित्य हँसनेवाला (सदा हँसने वाला) पुरुष। हास्य के कारणों के उपस्थित रहने पर बार-बार हँसने के कारण देवदत्त जिसप्रकार नित्य प्रहसित अर्थात् सदा हँसनेवाला कहा जाता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि देवदत्त का हँसना कभी बन्द न होता हो या हँसने में हीन अधिकता न होती हो। कारण की उपस्थिति में सदा हँसने के कारण नित्य हँसनेवाला कहा जाता है, किन्तु कारणों के अभाव में उसका हँसना बन्द हो जाता है। उसी प्रकार जब तक अशुभ-लेश्या आदि के कारण अशुभ कर्मोदय आदि विद्यमान रहते हैं तब तक सदा अशुभ लेश्या आदि उत्पन्न होते रहते हैं, किन्तु कारणों के अभाव हो जाने पर उनकी भी निवृत्ति हो जाती है तथा उनकी निवृत्ति होने पर नरक निवास छोड़ देना पड़ता है। इसलिये इस सूत्र में नित्य शब्द आभीक्ष्ण्य अर्थ का द्योतक है।

—जै. ग. 7-11-68/XIV/दो. ला. जैन

प्रकृतिबन्ध का लक्षण

शंका—प्रकृतिबंध का लक्षण क्या है।

समाधान—प्रकृति का अर्थ स्वभाव है। कहा भी है—

'प्रकृतिः स्वभावः निम्बस्य का प्रकृति ? तिक्तता । गुडस्य का प्रकृतिः ? मधुरता । तथा ज्ञानावरणस्य का प्रकृतिः ? अर्थानवगमः । दर्शनावरणस्य का प्रकृतिः । अर्थानालोकनम् । वेद्यस्य सदसत्लक्षणस्य सुखदुःख-संबन्धनम् । दर्शनमोहस्य तत्त्वार्थाश्रद्धानम् । चारित्रमोहस्यासंयमः । आयुषो भवधारणम् । नाम्नो नारकादिनाम-करणम् । गोत्रस्योच्चैर्निचैःस्थानसंशब्दनम् । अन्तरायस्य दानादिविघ्नकरणम् । तदेवंलक्षणं कार्यं प्रक्रियते प्रभवत्यस्या इति प्रकृतिः ।' सर्वार्थसिद्धि ८।३

अर्थ—'प्रकृति' का अर्थ स्वभाव है। जिसप्रकार नीम की क्या प्रकृति है ? कडुवापन। गुड़की क्या प्रकृति है ? मीठापन। उसीप्रकार ज्ञानावरणकर्म की क्या प्रकृति है ? अर्थ का ज्ञान न होना। दर्शनावरणकर्म की क्या प्रकृति है ? अर्थ का अवलोकन नहीं होना। सुख-दुःख का संवेदन कराना साता और असातावेदनीय की प्रकृति है। तत्त्वार्थ का श्रद्धान न होने देना दर्शनमोह की प्रकृति है। असंयमभाव चारित्रमोह की प्रकृति है। भवधारण आयु-कर्म की प्रकृति है। नारकादि नामकरण नामकर्म की प्रकृति है। उच्च और नीच स्थान का संशब्दन गोत्रकर्म की प्रकृति है तथा दानादि में विघ्न करना अन्तरायकर्म की प्रकृति है। इसप्रकार का कार्य किया जाता है अर्थात् जिससे होता है वह प्रकृति है।

जिससमय तक बंध नहीं होता है उससमय तक उन कर्मखण्डगणानों में उपर्युक्त कार्य करने का स्वभाव उत्पन्न नहीं होता है। कर्मखण्डगणानों में उपर्युक्त कार्य करने का स्वभाव उत्पन्न हो जाना प्रकृतिबंध है।

—जै. ग. 14-1-71/VII/ रो. ला. मित्तल

पाप और कषाय में अन्तर

शंका—पाप और कषाय में क्या अन्तर है ?

समाधान—‘पाति रक्षति आत्मानं शुभाविति पापम् ।’ जो आत्मा को शुभ से बचाता है वह ‘पाप’ (सर्वार्थसिद्धि) ।

‘सुहृदुखसुबहुसत्सं कश्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स ।

संसारहूरमेरं तेण कसायो लि णं वेत्ति ॥२८२॥ (गौ० जी०)

अर्थ—सुख दुःख आदि अनेक प्रकार के धान्य को उत्पन्न करनेवाले तथा जिसकी संसाररूप मर्यादा अत्यन्त दूर है ऐसे कर्मरूपी क्षेत्र को जो कर्षण करती है उन्हें कषाय कहते हैं ।

इसप्रकार पाप और कषाय के लक्षण भेद से दोनों का अन्तर सहज ज्ञात हो जाता है । कषाय पाप है किन्तु ‘पाप’ मात्र कषाय नहीं है । कषाय के अतिरिक्त मिथ्यादर्शन आदि भी पाप हैं ।

—जौ. सं. 28-8-58/V/ भागसंद जौन, बनारस

पुण्य-पाप के भेद व परिभाषाएँ

शंका—पापानुबन्धी पुण्य, पापानुबन्धी पाप, पुण्यानुबन्धी पुण्य व पाप किसे कहते हैं ?

समाधान—पुण्य के उदय में अशुभ भावों द्वारा पाप का बन्ध करना पापानुबन्धीपुण्य है । पाप के उदय में अशुभ भावों के द्वारा पाप का बन्ध करना पापानुबन्धीपाप है । पुण्य के उदय में शुभभावों द्वारा पुण्यबन्ध करना पुण्यानुबन्धी पुण्य है । पाप के उदय में शुभ भावों द्वारा पुण्यबन्ध करना पुण्यानुबन्धी पाप है । पुण्य तथा पाप के उदय में समताभाव द्वारा बन्ध का अभाव करते हुए निर्जरा करनी कार्यकारी है ।

—जौ. सं. 17-5-56/VI/ म्. व. मुण्यफरमगट

पृथक्त्व = ९५, ४७, २३, १५ आदि भी होते हैं

शंका—तिर्यञ्चगति में पंचेन्द्रिय तिर्यचपर्याप्तकों के सभ्यक्त्व प्रकृति व सभ्यमिध्यात्वप्रकृति के सत्व का उत्कृष्टकाल पूर्वकोटि पृथक्त्व से अधिक तीनपत्य ही क्यों कहा है ? ४७ पूर्वकोटि अधिक तीनपत्य क्यों नहीं कहा ? जब कि पंचेन्द्रियतिर्यचपर्याप्तकों में एक जीव का उत्कृष्ट अवस्थान इतना पाया जाता है ।

समाधान—‘पूर्वकोटि प्रथक्त्व’ से यहाँ ४७ पूर्वकोटि ग्रहण करना चाहिये । ‘पृथक्त्व’ शब्द ‘विपुल’ अर्थात् ‘बहुत’ का वाची है अतः ‘पृथक्त्व’ शब्द से यथासंभव ९५, ४७, २३, १५ आदि संख्या ग्रहण की जा सकती हैं । ‘पृथक्त्व’ शब्द से ४७ संख्या ग्रहण कर लेने पर शंकाकार का प्रश्न समाप्त हो जाता है ।

(ष० खं० पु० ७, पु० १२२-१२३ सूत्र १५ व टीका, क० पा० पु० २ पृ० २६२)

—जौ. सं. 24-7-58/V/ जि. कु. जैन, पानीपत

प्रतिगणधर देव

शंका—प्रतिगणधरदेव कौन हैं ? क्या आरातीय आचार्य ही प्रतिगणधरदेव हैं ?

समाधान—‘प्रति’ शब्द के अनेक अर्थ हैं। यहां प्रति शब्द का प्रयोग ‘समान’ अर्थ में हुआ है। जो मुख्य गणधर के समान हो वह प्रति गणधरदेव अर्थात् मुख्य गणधर के अतिरिक्त जो अन्य गणधर हैं वे प्रतिगणधरदेव कहलाते हैं। उनके वचनों के अनुसार आरातीय आचार्यों ने ग्रन्थों की रचना की है।

—पताघार/ज. ला. जैन, भीण्डर

प्रतीति (श्रद्धा) के पर्यायवाची शब्द

शंका—मिथ्यादृष्टिजीव भी समाधि लगाता है तथा दूसरे भी। तब क्या ध्यानावस्था में उस मिथ्यादृष्टि को आत्मा का भाव है? चौथे गुणस्थान में क्या आत्मानुभव होता है?

समाधान—चौथे गुणस्थान में आत्मा की प्रतीति, रुचि अथवा श्रद्धा होती है। प्रतीति के ही पर्यायवाची नाम ‘संवित्ति, उपलब्धि, प्रतीति, अनुभूति, स्वसंवेदन’ है (पंचास्तिकाय पृ० २९-३० रायचन्द्र ग्रन्थमाला)। परीक्षामुख में भी कहा है—‘स्वस्थानुभवनमर्थवत्’ अर्थात्—जैसे अर्थ का निश्चयज्ञान होय है वैसे ही स्व का अनुभवन (निश्चयज्ञान) होता है। निश्चयज्ञान (श्रद्धा) को अनुभवन कहते हैं।

—जै. ग. 31-10-63/IX/ क्षु. आदिसागर

पातनिका

शंका—बृहद्ब्रह्मसंग्रह में पृ० ३ पर ‘समुदाय पातनिका’ शब्द आया है। पातनिका शब्द का क्या अर्थ है?

समाधान—‘पातन’ शब्द से पातनिका बना है। ‘पातन’ का अर्थ डालना है। आगे कहा जानेवाला श्लोक, गाथा, सूत्र किस विषय में डाला जावे उसकी सूचना देने वाला ‘पातनिका’ शब्द है। अतः यहां पर ‘पातनिका’ का अर्थ भूमिका है। इसे अंग्रेजी में Head Note कहते हैं।

—जै. ग. 13-5-76, VI/ ट. ला. जैन

‘प्रदेश’ का लक्षण

शंका—(१) खंघं सयल समत्थं, तस्स य अद्धं षणंति वेसोत्ति ।

अद्धं च पवेसो, अविभागी होदि परमाणु ॥ (ति.प., गो.सा.जी., पं.का., भा.सं., बसु. श्र.)

(२) जावदियं आयासं, अविभागी पुग्गलाणु वट्टद्धं ।

तं खु पवेस जाणे, सब्बाणुद्वाण दाणरिहं ॥ (द्र० सं०)

उपर्युक्त दोनों गाथाओं में वर्णित प्रदेश के लक्षण में आकाश-पाताल का अन्तर है, एक के अनुसार स्कन्ध का चौथाई ‘प्रदेश’ होता है और दूसरी के अनुसार पुद्गल के अविभागी टुकड़े द्वारा रोका हुआ क्षेत्र ‘प्रदेश’ होता है, दोनों में इतना फर्क क्यों? पहली में अविभागी परमाणु और प्रदेश को एक न बताकर अलग-अलग बताया है जबकि दूसरी में परमाणु और प्रदेश को एक (अविनाभावी) बताया है, ऐसा क्यों?

समाधान—उपर्युक्त पहली गाथा में जो ‘पवेसो’ शब्द आया है उसका अर्थ स्कन्ध का चौथाई भाग है और दूसरी गाथा में जो ‘पवेस’ शब्द आया है उसका अर्थ है पुद्गल परमाणु के द्वारा रोका हुआ आकाश का क्षेत्र। एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं; इसमें कोई बाधा नहीं है। जिसप्रकार ‘दर्शन’ शब्द का अर्थ ‘देखना’ भी है, ‘श्रद्धान’ भी है और ‘मत’ भी है। शब्द संख्यात हैं और पदार्थ अनन्त हैं अतः एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं।

—जै. सं. 21-6-56/VI/ट. ला. जै. केकड़ी

‘प्रस्तार’ का अर्थ

शंका—सर्वार्थसिद्धि अ० ४ सूत्र २० में प्रस्तार शब्द आया है। इस शब्द का क्या अभिप्राय है ?

समाधान—सर्वार्थसिद्धि अध्याय ४ सूत्र २० में प्रस्तार का अर्थ पटल है। पूर्व पटल से उत्तर पटल में सुख, आयु आदि की वृद्धि होती जाती है। विशेष के लिये तिलोपयण्णत्ती अ. न गा. ४६३-५०९ देखना चाहिए।

—पताघाट अग्रत 77/ ध. ला. जैन, भीषड्ड

भक्ति और श्रद्धा में अन्तर

शंका—भक्ति और श्रद्धा में क्या अन्तर है ? शास्त्रोक्त विधि से स्पष्ट कीजिये।

समाधान—‘गुणों में अनुराग’ भक्ति है। ‘प्रतीति, वचि’ श्रद्धा है। सम्यग्दृष्टि श्रावक के तत्त्वश्रद्धान हरे समय रहता है, किन्तु भक्ति हरसमय नहीं होती।

—जै. सं. 4-9-58/V/ भागघट जैन, बनारस

भावपरमाणु का अर्थ

शंका—सर्वार्थसिद्धि पृ० ४५६ पंक्ति १६ में ‘भावपरमाणु’ का क्या अर्थ है ?

समाधान—भावपरमाणु का अर्थ ‘पर्याय की सूक्ष्मता’ है। कहा भी है—

भावपरमाणु पर्यायस्य सूक्ष्मत्वं [तत्त्वार्थवृत्ति पृ० ३१२]

—जै. ग. 10-6-65/IX/ ट. ला. जैन, मेरठ

मरणावली का अर्थ

शंका—पंचसंग्रह पेज ५३ पर लिखा है कि—‘मिश्रगुणस्थान को छोड़कर आगे से लेकर प्रमत्तसंयत तक के जीवों के मरणावली के शेष रहने पर आयुकर्म की उदीरणा नहीं होती।’ यहां मरणावली का क्या मतलब है ?

समाधान—उदयावली से उपरितन निषेकों के द्रव्य का उदयावली में दिया जाना उदीरणा है। जिसकर्म की स्थिति एकआवली मात्र रह गई है उसकी उदीरणा संभव नहीं है। आयु की जब एक आवली मात्र शेष स्थिति रह जाती है अर्थात् मरण होने से एक आवली पूर्व (मरणावली) आयुकर्म की उदीरणा रुक जाती है, यानी उस अन्तिम आवली या मरणावली में आयु की उदीरणा नहीं होती। आयु की जब अन्तिम आवली शेष रह जाती है उस अन्तिमआवली को मरणावली कहते हैं।

—जै. ग. 20-8-64/IX/ ध. ला. सेठी

‘यवमध्यसिद्ध’ का अर्थ

शंका—त० रा० वा० (ज्ञानपीठ) के पृ० ६४८ पर अवगाहनानुयोग में जो ‘यवमध्यसिद्धाः संख्येवगुणाः’ ऐसा लिखा है इसका स्पष्टार्थ क्या है ?

समाधान—त० रा० वा० अध्याय १० सूत्र ९ वार्तिक १४ की टीका में सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना ५२५ धनुष और जघन्य अवगाहना ३३ हाथ बतलाई है।

‘तत्रोत्कृष्टं पञ्चधनुः शतानि पञ्चविंशत्युत्तराणि । जघन्यम् अर्द्धचतुर्थारत्नयः देशोनाः ।

५२५ धनुष के २१०० हाथ होते हैं, क्योंकि ४ हाथ का एक धनुष होता है । २१०० हाथ में से ३३ हाथ कम करने पर २०९६३ हाथ होते हैं जिनका मध्य १०४८८ हाथ होते हैं अथवा २६२ धनुष से कुछ अधिक होता है । १०४८८ को अवगाहना वाले सिद्ध यवमध्य सिद्ध हैं ।

—ज. ग 27-3-69/IX/ क्षु. श्रीसलसागर

योग-संक्रान्ति

शंका—सर्वार्थसिद्धि पृ० ४५५ पंक्ति २७ पर योगसंक्रान्ति का लक्षण बतलाते हुए कहा है— ‘काययोग को छोड़कर दूसरे योग को स्वीकार करता है और दूसरे योग को छोड़कर काययोग को स्वीकार करता है ।’ इससे क्या यह भी फलित होता है कि मन, वचन, काय तीनों का पलटन हो सकता है ? अर्थात् मन हो फिर वचन हो फिर काय हो फिर मन या वचन हो, आदि आदि ?

समाधान—संक्रान्ति का अर्थ पलटन है । मन, वचन, काय इन तीनों योगों में से कोई एकयोग छूटकर अन्य कोई ऐसा योग हो जावे वह भी पलटकर अन्य योग हो जावे । इसप्रकार पलटन को योगसंक्रान्ति कहते हैं । शंकाकार ने योग-संक्रान्ति का अर्थ ठीक समझा है ।

—ज. ग. 3-6-65/XV/ २. ला जॉन, मेःठ

मोह और राग में अन्तर

शंका—‘मोह’ और ‘राग’ इन शब्दों को कैसे समझा जा सकता है ? इन दोनों में क्या अन्तर है ?

समाधान—सम्यग्दर्शन व चारित्र्य का घात करे वह मोहनीयकर्म है कहा भी है—

‘मोहयति मुह्यतेऽनेनेति वा मोहनीयम् ।’ स० सि० ८।४

जो मोहित करता है वह मोहनीयकर्म है अथवा जिसके द्वारा जीव मोहित हो वह मोहनीयकर्म है ।

‘अं तं मोहणीयं कम्मं सं दुविहं, वंसणमोहणीयं चारित्रमोहणीयं चैव ॥२०॥’ ध. पु. ६ पृ. ६०

वह मोहनीयकर्म दो प्रकार का है—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय ।

राग तथा द्वेष ये दोनों चारित्रमोहनीयरूप हैं, क्योंकि क्रोध व मान द्वेषरूप हैं माया व लोभ रागरूप हैं ।

‘इसप्रकार यद्यपि मोह शब्द से राग-द्वेष का भी ग्रहण हो जाता है तथापि समयसार आदि ग्रन्थों में जहाँ पर मोह राग-द्वेष शब्द का प्रयोग हुआ है वहाँ पर मोहशब्द से दर्शन-मोह और रागादि शब्द से चारित्रमोह इसप्रकार ग्रहण करना चाहिये ।

‘मोहशब्देन वरानिमोहो रागाद्विशब्देन चारित्रमोह इति सर्वत्र ज्ञातव्यं ।’

इसलिये समयसार गाथा ३६ की टीका में कहा है—

‘एवमेव मोह पवपरिवर्त्तनेन रागद्वेष-क्रोध-मान-माया-लोभ-कर्मनोकर्म-मनोवचनकाय-श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसन-स्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि ।’

इसप्रकार गाथा ३६ में जो मोहपद है उसे पलटकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन ये सोलह जुदे-जुदे सोलह गाथा सूत्रों कर व्याख्यान करने।

इन १६ में मिथ्यात्व नहीं लिया गया है, क्योंकि मोह शब्द से मिथ्यात्व का ग्रहण हो जाता है। रागादि को पृथक् लिखा है। इससे ज्ञात होता है कि मोह शब्द से रागादि का ग्रहण नहीं होता है।

—जं. ग. 20-8-70/VII/ ट. हा. जैन मेरठ

राजू का अर्थ

शंका—एक राजू में कितने योजन होते हैं ? अर्द्ध रज्जू में कितने योजन बनेंगे ?

समाधान—एक राजू में असंख्यात योजन होते हैं। अर्द्ध राजू में भी असंख्यात योजन होते हैं।

—पत्र 28-1-79/ज. ला. जैन, भीण्डर

'लब्धि' के विभिन्न अर्थ

शंका—लब्धि का क्या मतलब है ?

समाधान—लाभ को लब्धि कहते हैं (रा. वा. अ. २ सूत्र १८) विशेष तप से जो ऋद्धि प्राप्त होती है वह लब्धि है (रा. वा. अ. २ सूत्र ४७) दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पाँच लब्धियाँ हैं (रा. वा. अ. २ सूत्र ५) ; ज्ञानावर्णकर्म के क्षयोपशमविशेष को लब्धि कहते हैं (रा. वा. अ. २ सूत्र १८) । क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य व करण ये पाँच लब्धियाँ हैं। (लब्धिसार) इसप्रकार अनेक ग्रन्थ स्थलों पर 'लब्धि' शब्द का भिन्न-भिन्न अभिप्रायों को लेकर प्रयोग किया गया है। जहाँ जैसा अभिप्राय हो वहाँ वैसा जान लेना चाहिये।

—जं. ग. 2-4-64/IX/ मगनमाला

लोक की परिभाषा

शंका—पुण्य-पाप के सुख-दुःखरूप फल जिसके द्वारा देखे जायें उसका नाम लोक है अथवा जो पदार्थों को देखे-जाने उसका नाम लोक है। इन दोनों प्रकार के अर्थों से तो आत्मा के ही लोकपना सिद्ध होता है। इस पर शंका होती है कि आगम में जो छह द्रव्यों के समूह को लोक कहा है वह किसप्रकार है ?

समाधान—लोक का व्युत्पत्ति-अर्थ इसप्रकार भी है—

'लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादिपदार्था यत्र स लोकः तस्माद्दहिर्भूतमनन्तशुद्धाकाशमलोकः'

—पंचास्तिकाय गाथा ३ टीका

जहाँ जीवादि पदार्थ (छह द्रव्य) दिखलाई पड़ें वह लोक है, इसके बाहर अनन्त शुद्धाकाश है सो अलोक है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने लोक का लक्षण इसप्रकार कहा है—

पोग्गलजीवणिद्धो धम्ममाधम्मस्थिकायकालद्धो।

वट्टदि आगासे ओ लोगो सो सव्वकाले दु ॥१२८॥ (प्रवचनसार)

टीका—‘स्वलक्षणं हि लोकस्य षड्द्रव्यसमवायात्मकत्वं, अलोकस्य पुनः केवलाकाशात्मकत्वम् ।’

गाथार्थ—आकाश में जो भाग पुद्गल और जीव से संयुक्त है तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय एवं काल से समृद्ध है वह क्षेत्र सर्वकाल में लोक है ।

टीकार्थ—लोक का स्वलक्षण षड्द्रव्य-समवायात्मकत्व है अर्थात् छहद्रव्यों का समुदायरूप है और अलोक केवल आकाशात्मक है ।

धम्माधम्मा कालो पुग्गलजीवा य सन्ति जावदिये ।

आयासे सो लोपो तत्तो परवो अलोगुत्ति ॥२०॥ (बृह्व् द्रव्यसंग्रह)

टीका—‘लोक्यन्ते इत्यन्ते जीवादिपदार्था यत्र स लोक इति ।’

गाथार्थ—धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव ये पांचो द्रव्य जितने आकाश में हैं वह ‘लोकाकाश’ है और उस लोकाकाश के बाहर ‘अलोकाकाश’ है ।

टीकार्थ—जहां जीवादि पदार्थ लोक्यन्ते अर्थात् देखने में आते हैं वह लोक है ।

अथवा ‘लोक’ का रूढ़िबल से अर्थ करने पर छहद्रव्यों के समुदाय को लोक कहा है ऐसा अर्थ हो जाता है । कहा भी है—

‘षड्द्रव्यसमूहो लोकः इत्यार्षस्य विरोध इति, तन्न किं कारणात् ? खडो क्रियाया व्युत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ।’ (रा० वा० ५।१२)

—जै. ग. 2-11-72/VII/रो ला. मित्तल

लोकपाल का अर्थ परमेष्ठी

शंका—सन्मतिसंदेश नवम्बर १९६६ में ‘घडिब पंच लोगपाल’ यह वाक्य उद्धृत किया गया है । इसमें ‘पंच लोगपाल’ का क्या अर्थ है ? क्या क्षेत्रपाल अर्थ करना ठीक है ?

समाधान—यह वाक्य ध० पु० १३ पृ० २०२ का है । पंक्ति ४ में यह लिखा है—

‘सितामु पुधसूवासु उक्कच्छिण्णामु वा कदअरहंतादिपंचलोगपालपडिमाओ सेलकम्मणि णाम जिणहरादीणं षडसालादिसु अभेदेण घडिदपडिमाओ गिहकम्मणि णाम । कुड्डेसु अभेदेण घडिदपंचलोगपालपडिमाओ भित्ति-कम्मणिणाम ।’

अर्थ—अलग रखी हुई शिलानों में या उखाड़कर अलग की गई शिलानों में जो अरहन्त आदि पांच लोकपालों (पंच परमेष्ठियों) की प्रतिमाएँ बनाई जाती हैं वे शैलकर्म हैं । जिनमन्दिर आदि की चन्द्रशाला आदिकों में अभिसरूप से घड़ी गई प्रतिमाएँ गृहकर्म हैं । भीतों में उनसे अभिस्र बनाई गई पांच लोकपालों (पंच परमेष्ठियों) की प्रतिमाएँ भित्ति कर्म हैं ।

यहाँ पर ‘पंचलोगपाल’ का प्रयोजन पंचपरमेष्ठियों से है ।

—जै. ग. 5-10-67 /VII/ र. ला. जैन, मेरठ

‘विडम्बना’ का अर्थ

शंका—समयसार गाथा ९१ जं कुण्ड भावमादा...की आत्मख्याति टीका में ‘विडम्बयंते योषितो’ शब्द आया है यहां विडम्बना से क्या अर्थ लेना चाहिए ?

उत्तर—विडम्बना का अर्थ विकारी चेष्टा है ।

—पताघार 8-7-80/ज. ला. जैन, भीण्डर

विसंयोजना का अर्थ

शंका—सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धी चतुष्क की विसंयोजना होती है । विसंयोजना का क्या अर्थ है ?

समाधान—ज० ध० में श्री वीरसेनाचार्य ने विसंयोजना का लक्षण निम्नप्रकार कहा है—

‘का विसंजोयणा ? अणंताणुबन्धि चउषककखलंधाणं परसरूवेण परिणमणं विसंजोयणा । ण परोदयकम्म-कखण्णाए वियहिचारो, तेसिं, परसरूवेण परिणदाणं पुणरुप्पत्तीए अभावादो ।’ (ज. ध. पु. २ पृ. २१९)

अर्थ—विसंयोजना किसे कहते हैं ? अनन्तानुबन्धीचतुष्क के स्कन्धों के परप्रकृतिरूप से परिणमा देने को विसंयोजना कहते हैं ?

विसंयोजना का इसप्रकार लक्षण करने पर जिनकर्मों की परप्रकृति के उदयरूप से क्षणता होती है उनके साथ व्यभिचार (अतिव्याप्ति) आज्ञायगा सो भी बात नहीं है, क्योंकि अनन्तानुबन्धी को छोड़कर पररूप से परिणत हुए अन्य कर्मों की पुनः उत्पत्ति नहीं पाई जाती है । अतः विसंयोजना का लक्षण अन्य कर्मों की क्षणता में घटित न होने से अतिव्याप्ति दोष नहीं आता है ।

—जं. ग. 9-4-70/VI/रो ला. मित्तल

संकर दोष

शंका—संकरदोष क्या है ?

समाधान—श्री पं० हीरालालजी द्वारा संपादित प्रमेयरत्नमाला पृ० २७७ पर संकरदोष का लक्षण निम्न प्रकार लिखा है—

‘सर्वेषां युगपत् प्राप्तिः संकरः । परस्परान्तरभावसमानाधिकरणयोर्धर्मयोरेकत्रसमावेशः संकरः ।’

सबके एकसाथ प्राप्त होने के प्रसंग का नाम संकर है । जैसे शरीर को आत्मा मानने पर उसमें एकसाथ ज्ञायक-स्वभावता व जडस्वभावता दोनों का प्रसंग प्राप्त होता है, यह संकरदोष है ।

—जं. ग. 19-12-68/VIII/ मगनमाला जैन

व्रतादि शब्दों की व्युत्पत्ति

शंका—व्रत, संयम और चारित्र में क्या अन्तर है ? क्या ये पर्यायवाची शब्द हैं ?

समाधान—हिंसादिक पापों से विरत होना ‘व्रत’ कहलाता है; प्रतिज्ञा करके जो नियम लिया जाता है वह व्रत है । यह करने योग्य है और यह नहीं करने योग्य है, इस प्रकार नियम करना व्रत है । (स. सि. ७।१) ।

'सम्' उपसर्ग सम्यक् अर्थ का वाची है इसलिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक 'यताः' अर्थात् जो बहिरंग और अन्तरंग आस्रवों से विरत हैं, उन्हें 'संयत' कहते हैं। (ष० ख० १।३६९) प्राणीन्द्रियेष्वशुभप्रवृत्तेर्विरतिः संयमः— प्राणी और इन्द्रियों के विषय में अशुभप्रवृत्ति के त्याग को संयम कहते हैं। (स. सि. ६।१२)। जो आचरण करता है, जिसके द्वारा आचरण किया जाए या आचरण करना मात्र 'चारित्र' है। (स० सि० १।११)। स्वरूपे चरणं चारित्रं स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः अपने स्वरूप में आचरण चारित्र है, वही आत्मप्रवृत्ति है। प्रवचनसार गाथा ७। इसप्रकार व्रत, संयम व चारित्र का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है। स्थूलदृष्टि से ये तीनों शब्द पर्यायवाची हैं।

—जं. सं. 10-5-56/VI/ क. दे. ग.या

'संकलेश' से अभिप्राय

शंका—सातवें गुणस्थानवाला जब छठे गुणस्थान के सम्मुख होता है तो उसके संकलेशपरिणामों की अधिकता से आहारकद्वय प्रकृति का उत्कृष्टस्थितिबंध होता है। यहाँ पर संकलेशपरिणाम का क्या अभिप्राय है ?

समाधान—तीन शुभआयु के अतिरिक्त अन्यप्रकृतियों का उत्कृष्टस्थितिबंध तत्प्रायोग्य संकलेशपरिणामों से होता है। आहारकद्वय प्रकृतियों का बंध सातवें-आठवें गुणस्थान में होता है। आहारकद्वय प्रकृतियों के बंध करने वाले जीव के उत्कृष्टस्थितिबंध के प्रायोग्य संकलेश परिणाम अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थान से गिरते समय ही सम्भव हैं। कहा भी है—

'आहार० आहार० अंगी० उषक० द्विदि० कस्त० ? अण्णदरस्स अप्पमत्तसंजदस्स सागार० जाग० तप्पाओगसंक्किल्लिद्व० पमत्ताभिमुहस्स ।' [महाबंध पु० २ पृ० २५७]

अर्थ—आहारकशरीर और आहारकशरीरअङ्गोपाङ्ग के उत्कृष्टस्थितिबंध का स्वामी कौन है ? जो साकार, जातृत है तत्प्रायोग्य संकलेशपरिणामवाला है और प्रमत्तसंयतगुणस्थान के अभिमुख है, ऐसा अन्यत्र अप्रमत्तसंयतजीव उक्त दो प्रकृतियों के उत्कृष्टस्थितिबंध का स्वामी है।

यहाँ पर संकलेशसे अभिप्राय विशुद्धि की हीनता से है।

—जं. ग. 10-7-67/VII/ र. ला जंन

समवाय सम्बन्ध का स्वरूप

शंका—समवायसम्बन्ध किसे कहते हैं ?

समाधान—ध. पु. १५ पृ. २४ पर श्री वीरसेनाचार्य ने समवाय का स्वरूप निम्नप्रकार बतलाया है—

'को समवायो ? एगसेण अबुवसिद्धाणं मेलणं ।'

अयुतसिद्ध पदार्थों का एकरूप से मिलने का नाम समवाय है।

'कमंस्कन्धेः सह सर्वजीवावयवेषु अमत्सु तत्समवेतशरीरस्थापि तद्वध्नमो भवेदिति चेन्न, तद्वध्नमणावस्थायां तत्समवायाभावात् । शरीरेण समवायाभावे मरणमदोक्त इति चेन्न, आयुषः क्षयस्य मरणहेतुत्वात् । पुनः कथं संघटत इति चेन्नानाभेदोपसंहृतजीवप्रदेशानां पुनः संघटनोपलम्भात् ।' (ध. पु. १ पृ. २३४)

यहाँ पर जीवप्रदेशों का और पौद्गलिकशरीर का समवायसम्बन्ध बतलाया है।

‘शरीरनामकर्मोद्यत् पुद्गलविपाकिन आहारवर्गणागतपुद्गलस्कन्धाः समवेतानन्तपरमाणुनिष्पादिता आत्मावष्टब्धक्षेत्रस्थाः कर्मस्कन्ध सम्बन्धतो सूतिभूतमात्मानं समवेतत्वेन समाश्रयन्ति ।’ (ध. पु. १ पृ. २५४)

यहाँ पर आहारवर्गणा सम्बन्धी पुद्गलस्कन्ध का और आत्मा का समवायसम्बन्ध बतलाया है, किन्तु श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने गुण-गुणी के तादात्म्यसम्बन्ध को समवायसम्बन्ध कहा है ।

समवत्ती समवाओ अपुधब्भूदो, य अजुदसिद्धो य ।

तस्हा दब्धगुणाणं अजुवा, सिद्धित्ति णिद्धिहा ॥५०॥ (पंचास्तिकाय)

टीका—द्रव्यगुणानामेकास्तित्वनिर्वृत्तित्वावनाविरनिधना सहवृत्तिर्ह समवत्तित्वम् । स एव समवायो जैानाम्, तदेव संज्ञादिभ्यो भेदेऽपि वस्तुत्वेनामेवादपृथग्भूतत्वम्, तदेव युतसिद्धि निबन्धनस्यास्तित्वान्तरस्याभावाद-युतसिद्धस्त्वम् । ततो द्रव्यगुणानां समवत्तित्वसंज्ञासमवायभाजामयुतसिद्धिरेव, न पृथग्भूतत्वमिति ॥

समवर्तीपना वह समवाय है, वही अपृथक्पना है और अयुतसिद्धपना है । इसलिये द्रव्य और गुणों की अयुतसिद्धि कही गई है । द्रव्य और गुण एक अस्तित्व से रचित हैं, इसलिए उनकी जो अनादि-अनन्त सहवृत्ति है वही वास्तव में समवर्तीपना है, वही जैनों के मत में समवाय है, संज्ञा आदि भेद होने पर भी वस्तुरूप से अभेद होने से वही अपृथक्पना है, युतसिद्धि के कारणभूत अस्तित्वांतर का अभाव होने से वही अयुतसिद्धिपना है । इसलिये समवत्तित्वस्वरूप समयवाले द्रव्य और गुणों को अयुतसिद्धि ही है, पृथक्पना नहीं है । इसप्रकार श्री धीरसेनाचार्य ने अनादिनिधन दो द्रव्यों के बंध-सम्बन्ध को समवायसम्बन्ध कहा है और श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने द्रव्य और गुण के तादात्म्यसम्बन्ध को समवायसम्बन्ध कहा है ।

—जौं ग. 4-12-75/.....

‘सम्यग्दर्शन’ का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ

शंका—‘सम्यग्दर्शन’ में ‘सम्यक्’ शब्द का क्या अर्थ है और ‘दर्शन’ शब्द का क्या अर्थ है ?

समाधान—‘सम्यक्’ शब्द का अर्थ प्रशंसा (समीचीन) है । सम्यगित्यव्युत्पन्नः शब्दो व्युत्पन्नो वा । अञ्चतेः क्वी समञ्चतीति सम्यग् । अस्यार्थः प्रशंसा (स. सि. १।१)

अर्थ—‘सम्यक्’ शब्द अव्युत्पन्न अर्थात् रौढ़िक और व्युत्पन्न अर्थात् व्याकरणासिद्ध है । जब यह व्याकरण से सिद्ध किया जाता है तब सम् उपसर्ग पूर्वक अञ्चधातु से क्विप् प्रत्यय करने पर ‘सम्यक्’ शब्द बनता है । संस्कृत में इसकी व्युत्पत्ति ‘समञ्चति इति सम्यक्’ इसप्रकार होती है । प्रकृत में इसका अर्थ प्रशंसा है ।

‘दर्शन’ शब्द का अर्थ श्रद्धान है । सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में कहा भी है—

‘दृशेरालोकार्थत्वात् श्रद्धानार्थगतिर्नोपपद्यते ? धातूनामनेकार्थत्वाददोषः । प्रसिद्धार्थत्यागः कुत इति चेन्मोक्षमार्गप्रकरणत् ।’

‘दृशि’ धातु से बने हुए दर्शन शब्द का यद्यपि प्रसिद्ध अर्थ आलोक (देखना) है तथापि मोक्षमार्ग का प्रकरण होने से ‘दृशि’ धातु का अर्थ ‘श्रद्धान’ करने में कोई दोष नहीं है ।

‘भावानां यथात्म्यप्रतिपत्तिविषयश्रद्धानसंग्रहार्थं दर्शनस्य सम्पन्नशेषणम् ।’

अर्थ—पदार्थों के यथार्थ ज्ञानमूलक श्रद्धान का संग्रह करने के लिये दर्शन के पहले सम्यक् विशेषण दिया है। पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होने पर जो पदार्थों का श्रद्धान होता है वह सम्यक्दर्शन है।

—जौ. ग. 25-2-71/IX/ सुप्रतानसिंह जैन

सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्त्व में कथंचित् अन्तर

शंका—चारित्रपाहुड़ गाथा १८ में 'सम्मद्वंसण पस्सदि' अर्थात् सम्यग्दर्शन को देखनेवाला बतलाया है, सो कैसे ? वहाँ सम्यग्दर्शन और सम्यक्त्व का अलग-अलग अभिप्राय लिया गया है जबकि ये दोनों पर्यायवाची हैं ?

समाधान—चारित्रपाहुड़ की गाथा १८ निम्नप्रकार है—

सम्मद्वंसण पस्सदि जाणदि णालेण दब्बपज्जाया ।

सम्मणेण य सद्दहदि य परिहरदि चरिस्सजे दोसे ॥१८॥

इस गाथा में सम्यग्दृष्टि के दर्शनोपयोग अर्थात् सामान्यावलोकन को सम्यग्दर्शन कहा है इसीलिये उसका कार्य पस्सदि बतलाया है। 'सम्मणेण य सद्दहदि' अर्थात् मिथ्यात्व के अभाव में होनेवाला सम्यक्त्वगुण उसका कार्य श्रद्धान बतलाया है। इस गाथा में सम्यग्दर्शन और सम्यक्त्व पर्यायवाची नहीं है।

—गौ. ग. 26-10-67/VII/ र. ला. जैन

'सर्वगत चंद्र' का अभिप्राय

शंका—स. सि. अ. ७ सूत्र २१ पृ. २७२ (सम्पा. पं. कू. च. सि. शा.) में लिखा है कि 'जैसे राजकुल में चंद्र को उपचार से सर्वगत कहा जाता है'; इसका क्या अभिप्राय है ?

समाधान—स. सि. अ. ७ सूत्र २१ पृ. २७२ में 'चंद्र' से अभिप्राय बौद्धसाधु का है। उनके लिये राज-महल में कोई रोक टोक नहीं। तथापि संडास आदि ऐसे स्थान हैं जहाँ बौद्धसाधु नहीं जाते तथापि उपचार से उनको सर्वगत कहा गया है।^१

—पताघार अग्रस्त, 77/ज. ला. जैन, भीण्डर

सल्लेखना/समाधिमरण

शंका—सल्लेखना तथा समाधिमरण में केवल पर्याय भेद ही है या अर्थ भेद भी है।

समाधान—सत् और लेखना इन दो शब्दों से सल्लेखना शब्द बना है। अर्थात् काय और कषाय को भले प्रकार कृश करना। समाधि का अर्थ त्याग है अर्थात् काय से ममत्वभाव व कषाय का त्याग करना समाधि है। समाधि का अर्थ कठिन समय में धैर्य धारण करना भी है, अर्थात् मरण समय में धैर्य धारण करके आर्तरीदरूप परिणाम न होने देना। इसप्रकार सल्लेखना और समाधिमरण का प्रायः एक ही भाव है।

—जौ. ग. 20-3-67/VII/ जगन्नाथ

१. विशेष के लिए ब्लोक धार्तिक भाग ६ पृ. ६१०, प्रथम अनुच्छेद पढ़ना चाहिए।

—सम्पादक

सहवर्ती पर्याय अर्थात् गुण

शंका—गुण को सहवर्ती पर्याय कहा है सो कैसे ?

समाधान—पर्याय का अर्थ गुण भी है, धर्म भी है । (संस्कृत-हिन्दी कोश पृ. ५९५) । यहाँ पर पर्याय का अर्थ 'धर्म' लेना । सहवर्ती पर्याय (धर्म) को गुरा कहते हैं । इसमें कोई बाधा नहीं आती ।

—जौ. ग. 26-10-67/VII/ र. ला. जैन

सूच्यंगुल अर्थात् पीण इन्च

शंका—'सूच्यंगुल' का इन्च या सेंटीमीटर में क्या प्रमाण है ?

समाधान—२४ सूच्यंगुल का एक हाथ अर्थात् आधा गज या १८ इंच होते हैं ।

इहि अगुलेहिवादो बेवादेहि, विहस्थिणाभाय ।

दोष्णि विहस्थी हस्थो, देहस्थेहि हवे रिबकू ॥११४॥ (ति. प. प्र. अ.)

छह अंगुलों का पाद, दो पादों का वितस्ति (बालिस्त) दो वितस्ति का हाथ इस माप के द्वारा एक सूच्यंगुल पौन-इन्च के बराबर होती है । पौन-इन्च १.६ सेंटीमीटर के बराबर होता है । इसप्रकार सूच्यंगुल का प्रचलित माप में ज्ञान हो जाता है ।

—जे. ग. 22-4-76/ ज ला. जैन, भीण्डर

स्यादाकृतम् का अर्थ

शंका—स्यादाकृतम् का क्या अर्थ है ?

समाधान—'स्यात्' का अर्थ 'आकृतम्' किया है । 'स्यात्' का अर्थ कथञ्चित् अर्थात् वक्ता के अभिप्राय की अपेक्षा 'आकृतम्' का अर्थ भी वक्ता का अभिप्राय है । वक्ता के अभिप्राय को नय भी कहते हैं अथवा अपेक्षा भी कहते हैं । इसप्रकार स्यात् शब्द का जो प्रयोजन है वही आकृतम् शब्द का प्रयोजन है ।

—पतावार / ज ला. जैन, भीण्डर

विविध

नमस्कार स्वरूप महामंत्र अनाद्यन्त है परन्तु प्रकृत णमोकारमंत्र के कर्ता पुष्पवन्ताचार्य हैं

शंका—घ. पु. सं. ३ की प्रस्तावना से प्रतीत होता है कि णमोकारमंत्र का वर्तमानरूप अनादि नहीं है । क्या यह ठीक है ? क्या इस मंत्र के रचयिता भी पुष्पवन्त आचार्य थे ?

समाधान—पंच नमस्कार मंत्र अनादि है । कहा भी है—

एसो पञ्चणमोकारो सव्वपावप्पणात्तणो ।

मंगलेसु च सव्वेसु पढमं होदि मंगलं ॥७१३॥ [सुलाराधना]

अर्थ—यह पंचनमस्कारमंत्र सर्वपापों का नाश करनेवाला है और सब मंगलों में प्रथममंगल है। 'सब मंगलों में प्रथममंगल है' इससे ज्ञात होता है कि पंचनमस्कार मंत्र अनादि है। मंत्र व अनिबद्ध मंगल श्लोकरूप नहीं होते। जैसे 'णमो जिगाणं' अनिबद्ध मंगल है, किन्तु श्लोकरूप नहीं है। षट्खंडागम के जीवस्थान का मंगल-रूप जो णमोकार है वह श्लोकरूप है। इसलिये श्री वीरसेनाचार्य ने ध० पु० १ पृष्ठ ४१ पर लिखा है—

'तच्च मंगलं दुविहं णिबद्धमणिबद्धमिदि । तत्थ णिबद्धं णाम, जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण णिबद्ध-देवदा-णमोक्कारो तं णिबद्धमंगलं । जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण कयदेवदा-णमोक्कारो तमणिबद्धमंगलं । इदं पुण जीवदुणं णिबद्ध-मंगलं । यतो 'इमेसि चोद्दसण्हं जीव समासाणं' इदि एदस्स सुत्तस्सादीए णिबद्ध 'णमो अरिहंताणं' इच्चादि देवदाणमोक्कारं-वंसणादो ।'

अर्थ—वह मंगल दो प्रकार का है, निबद्ध-मंगल और अनिबद्ध-मंगल। जो ग्रन्थ के आदि में ग्रन्थकार के द्वारा इष्ट-देवता नमस्कार निबद्ध कर दिया जाता है अर्थात् श्लोकारूप से रचा जाता है, उसे निबद्ध-मंगल कहते हैं। और जो ग्रन्थकार के द्वारा देवता को नमस्कार किया जाता है (किन्तु श्लोकादि के द्वारा संग्रह नहीं किया जाता है) उसे अनिबद्ध-मंगल कहते हैं। उसमें से यह पंचनमस्कार मंत्र 'जीवस्थान' नामका प्रथमखंडागम निबद्ध-मंगल है, क्योंकि 'इमेसि चोद्दसण्हं जीव समासाणं' इत्यादि जीवस्थान के प्रथमसूत्र के पहले 'णमो अरिहंताणं' इत्यादिरूप से देवता-नमस्कार निबद्धरूप से देखने में आता है। ध० पु० १ पु० १०३ पर भी कहा है—

'णिबद्धाणिबद्धभेएण दुविहं मंगलं । तत्थेदं कि णिबद्धमाहो अणिबद्धमिदि ? ण ताव णिबद्धमंगलमिदं, महाकम्मपयडिपाहुडस्स कवियादि चउवीसअणियोगावयवस्स आदीए गोदमसाणिणा परविदस्स भूदबलिभडारएण वेयणाखंडस्स आदोए मंगलदुं तत्तो आणेदुण ठविदस्स णिबद्धत्तविरोहादो । ण च वेयणाखंडं महाकम्मपयडिपाहुडं, अबयवस्स अबयवित्त-विरोहादो । ण च भूदबली गोदमो, वियलमुदधारयस्स धरसेणाइरियसीसस्स भूदबलिस्स सयल-सुदधारयबडुमाणंतेवासिगोदमत्तविरोहादो । ण चाण्णो पयारो णिबद्धमंगलत्तस्स हेदुभूदोअत्थि । तम्हा अणिबद्ध-मंगलमिदं ।'

अर्थ—निबद्ध और अनिबद्ध के भेद से मंगल दो प्रकार है। उनमें से 'णमो जिगाणं' यह मंगल निबद्ध है अथवा अनिबद्ध ? यह 'णमो जिगाणं' निबद्धमंगल तो हो नहीं सकता, क्योंकि, कृति आदि चीबीसग्रन्थयोगद्वारों-रूप अवयवों वाले महा कर्मप्रकृतिप्राभृत के आदि में श्री गौतमस्वामी ने इसकी प्ररूपणा की है और श्री भूतबलि भट्टारक ने वेदनाखंड के आदि में मंगल के निमित्त इसे वहाँ से लाकर स्थापित किया है, अतः इसे निबद्ध मानने में विरोध है। और वेदनाखंड महाकर्म प्रकृतिप्राभृत है नहीं, क्योंकि अवयव के अवयवी होने का विरोध है। और न श्री भूतबलि भी गौतम ही हैं, क्योंकि विकलभृतधारक और श्री धरसेनाचार्य के शिष्य श्री भूतबलि को सकलभृत-धारक और श्री वर्धमानस्वामी के शिष्य श्री गौतम होने का विरोध है। इसके अतिरिक्त निबद्धमंगलत्व का हेतुभूत और कोई प्रकार है नहीं। अतः 'णमो जिगाणं' यह अनिबद्धमंगल है।

यद्यपि पंचनमस्कार मंत्र अनादि है तथापि उसी की श्लोकरूप रचना श्री पुष्पदंत आचार्यकृत है, ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि श्री वीरसेनाचार्य ने इस पंचनमस्कारमंत्र के श्लोक को जीवस्थान का निबद्धमंगल कहा है।

यह प्रश्न बहुत गंभीर है, पूर्व में इस पर चर्चा भी हो चुकी है। आशा है विद्वत्मंडल इस विषयपर गंभीरता से विचारकर निष्पक्षदृष्टि से शांतिपूर्वक प्रकाश डालने की कृपा करेगा। इस समाधान में श्री वीरसेनाचार्य का आशय प्रकट किया गया है।

—जं. ग. 4-7-66/IX/र. ला जैन एम. फॉम

अरिहंत या अरहंत; दोनों ठीक हैं

शंका—‘णमो अरिहंताणं’ पद के विषय में ‘भूवल्लय’ ग्रन्थ में बताया गया है कि—मंगल की आदि में शत्रुवाची (अरि) अमंगल शब्दों का प्रयोग ठीक नहीं अतः ‘अरहंताणं’ पाठ ज्यादा उचित है। प्राचीन ग्रन्थों में भी ‘अरहंताणं’ पाठ ही पाया जाता है, किन्तु ध्वला में ‘अरिहंताणं’ पाठ दिया गया है ऐसी हालत में ‘भूवल्लय’ की युक्ति कहाँ तक ठीक है ?

समाधान—‘भूवल्लय’ ग्रन्थ मेरे पास नहीं है और न वह मेरे देखने में आया है। ‘अरिहंत’ व ‘अरहंत’ के अर्थ में अन्तर नहीं है। स्वयं ध्वलटीका में ‘अरिहंत’ के तीन अर्थ किये गये हैं। ‘अरि’ (मोहनीयकर्म) अथवा ‘रज’ (ज्ञानावरण, दर्शनावरण व मोहनीयकर्मों) अथवा ‘रहस्य’ (अंतरायकर्म) के नाश से तथा (सातिशायपूजा के योग्य होने से) ‘अर्हन्’ होने से ‘अरिहंत’ हैं (ष० खं० पु० १ पृ० ४२-४४)।

मूलाचार में भी ‘अर्हंत’ पद का इसीप्रकार निरुक्ति द्वारा अर्थ किया है—

‘अरिहंति णमोकारं अरिहा पूजा सुखस्तमा लोए ।

रजहंता अरिहंति स अरहंतो तेण उच्चंवे ॥४॥

अर्थ—अर्हंतपरमेष्ठी नमस्कार के योग्य होने से उनको अर्हत् कहते हैं। वे पूजा के योग्य हैं अतः अर्हंत हैं। ‘रजस्’ का (ज्ञानावरण और दर्शनावरण का) उन्होंने नाश किया है अतः वे अर्हंत हैं। ‘अरि’ (मोह का और अन्तराय का) हन्ता-नाश करनेवाले होने से वे अर्हंत हैं। ऐसे कारणों से वे ऐसी अवस्था को—अर्हत्पदवी को प्राप्त हुए हैं अतः वे अर्हंत-सर्वज्ञ हैं, सर्वलोकों के—त्रैलोक्य के नाथ हैं ऐसे उनका स्वरूप कहा जाता है।

‘अरिहंत’ व ‘अरहंत’ दोनों शब्दों के अर्थ में अन्तर न होने से दोनों में से किसी एक शब्द के लिखने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती।

—जं. सं. 6-3-58/VI/र. ला. कटारिया, केकड़ी

णमोकार मंत्र का उच्चारण काल ३ उच्छ्वास

शंका—णमोकार मंत्र का उच्चारण क्या तीन श्वास जितने काल में करना चाहिये ?

समाधान—णमोकारमंत्र यद्यपि गाथारूप है तथापि इसका उच्चारण तीनउच्छ्वासकाल में होना चाहिए। णमोकारमंत्र की गाथा निम्नप्रकार है—

णमो अरिहंताणं णमोसिद्धाणं णमोआइरियाणं ।

णमो उवज्जायाणं णमो लोए सध्वसाहणं ॥१॥ ध. पु. १ पृ. ८

अर्थ—लोक में सर्वअरिहंतों को नमस्कार हो, लोक में सर्वसिद्धों को नमस्कार हो, लोक में सर्वआचार्यों को नमस्कार हो, लोक में सर्वउपाध्यायों को नमस्कार हो, लोक में सर्वसाधुओं को नमस्कार हो।

‘सर्वं नमस्कारेण्वत्तन सर्वलोक शब्दावन्तदीपकत्वावध्याहृतंय्यी सकलक्षेत्रगतत्रिकालगोचराहंवाविदेवता प्रणमनार्थम् ।’ ध. पु. १ पृ० ४२

पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार करने में, इस णमोकारमंत्र में जो 'सर्व' और 'लोक' पद हैं वे अन्तदीपक हैं, अतः सम्पूर्णक्षेत्र में रहनेवाले त्रिकालवर्ती अरिहंत आदि देवताओं को नमस्कार करने के लिये उन्हें प्रत्येक नमस्कारात्मकपद के साथ जोड़ लेना चाहिए।

'छत्तीसगाहूच्चारण कालेण (३६) अट्ठसदुसासकालेण वा कालमुद्धी समप्पदि ॥१०८॥

—ध० पु० ९ पृ० २५४

'छत्तीस (३६) गाथाओं के उच्चारण काल से अथवा एक सौ आठ (१०८) उच्छ्वासकाल से कालशुद्धि समाप्त होती है।

यहाँ पर णमोकारमंत्र की गाथा के ३६ बार उच्चारणकाल को १०८ उच्छ्वासकाल के बराबर कहा है। अतः णमोकार मंत्र की गाथा का एक बार उच्चारणकाल तीन उच्छ्वास के बराबर होता है।

—जं. ग. 25-11-71/VIII/ २. ला. जैन

पंच परमेष्ठी में पाँचों देवत्व को प्राप्त होते हुए भी सभी चरमशरीरी नहीं हैं

शंका—नमस्कारमंत्र पाँचों परमेष्ठियों को नमस्काररूप महामंत्र कहा है। इसमें पाँचों ही चरमशरीरी होते हैं या श्री अर्हंत व सिद्धभगवान के अतिरिक्त अन्य तीन चरमशरीरी नहीं होते? खुलासा लिखने की कृपा करें। जो चरमशरीरी नहीं, उसको नमस्कार क्यों की जावे?

समाधान—नमस्कारमंत्र में चरमशरीरी या अचरमशरीरी की अपेक्षा से नमस्कार नहीं किया गया है। वीतरागता व विज्ञानता अथवा सम्यक् रत्नत्रयगुण की अपेक्षा नमस्कार किया गया है। श्री धवल ग्रन्थ प्रथम पुस्तक में इसका विशेष विवेचन है। उसका कुछ भाग यहाँ पर दिया जाता है—'पांच परमेष्ठियों को नमस्कार करने में, इस णमोकार मंत्र में जो 'सर्व' और 'लोक' पद हैं वे अन्तदीपक हैं। अतः सम्पूर्ण क्षेत्र में रहनेवाले त्रिकालवर्ती अरिहंत आदि देवताओं को नमस्कार करने के लिए उन्हें प्रत्येक नमस्कारात्मकपद के साथ जोड़ लेना चाहिए।

शंका—जिन्होंने आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लिया है ऐसे अरिहंत और सिद्धपरमेष्ठी को नमस्कार करना योग्य है, किन्तु आचार्यादिक तीनपरमेष्ठियों ने आत्मस्वरूप को प्राप्त नहीं किया, इसलिये उनमें देवपना नहीं आ सकता है। अतएव उन्हें नमस्कार करना योग्य नहीं? इसका उत्तर इसप्रकार दिया गया है—

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, अपने भेदों से अनन्तभेदरूप रत्नत्रय ही देव है, अतएव रत्नत्रय से युक्त जीव भी देव है, अन्यथा सम्पूर्ण जीवों को देवपना प्राप्त होने की आपत्ति आ जायगी। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि आचार्यादिक भी रत्नत्रय के यथायोग्य धारक होने से देव हैं, क्योंकि अरिहंतादिक से आचार्यादिक में रत्नत्रय के सद्भाव की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है।

आचार्यादिक परमेष्ठियों में स्थित तीन रत्नों का सिद्धपरमेष्ठी में स्थित रत्नों से भेद भी नहीं है। यदि दोनों के रत्नत्रय में सर्वथा भेद मान लिया जावे, तो आचार्यादिक में स्थित रत्नों के अभाव का प्रसंग आवेगा।

आचार्यादिक और सिद्धपरमेष्ठी के सम्यग्दर्शनादि रत्नों में कारण-कार्य के भेद से भेद नहीं माना जा सकता है, क्योंकि आचार्यादिक में स्थित रत्नों के अवयवों के रहने पर ही तिरोहित दूसरे रत्नावयवों का अपने आवरणकर्मों के अभाव हो जाने के कारण आविर्भाव पाया जाता है।

आचार्यादिक और सिद्धों के रत्नों में परोक्ष और प्रत्यक्ष जन्य भेद भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि, वस्तु के ज्ञानसामन्य की अपेक्षा दोनों एक हैं। केवल एक ज्ञान के अवस्था भेद से भेद नहीं माना जा सकता। यदि ज्ञान में उपाधिकृत अवस्थाभेद से भेद माना जावे, तो निर्मल और मलिनदशा को प्राप्त दर्पण में भी भेद मानना पड़ेगा। आचार्यादिक और सिद्धों के रत्नों में अवयव और अवयवीजन्य भी भेद नहीं है, क्योंकि, अवयव अवयवी से सर्वथा अलग नहीं रहते हैं।

शंका—सम्पूर्णरत्नत्रय को ही देव माना जा सकता है, रत्नों के एकदेश को देव नहीं माना जा सकता ?

समाधान—ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि, “रत्नों के एक देश में देवपने का अभाव मान लेने पर रत्नों की समग्रता में देवपना नहीं बन सकता है।” घ. पु. १ पृ. ५२-५३।

—खं. ग. 2-4-64/IX/ मगनमाला

केवलज्ञान होने पर मुनि के कमण्डलु पिच्छिका का क्या होता है ?

शंका—आज तक अनन्त केवली हुए। केवलज्ञान के बाद उनके पिच्छी-कमण्डलु कहाँ जाते हैं क्योंकि समवसरण में केवली के पास कमण्डलु-पिच्छी नजर नहीं आते हैं ?

समाधान—क्षपक श्रेणी प्रारम्भ हो जाने के पश्चात् ही कमण्डलु-पिच्छिका की आवश्यकता नहीं रहती। केवलज्ञान होने के पश्चात् क्या होता है, यह कथन आगम में देखने में नहीं आया।

—ज. ला. जैन, भीण्डट/पत्र-8-7-80

आप्त के अभाव-प्राप्त १८ दोषों के नाम

शंका—१८ दोष कौन से हैं ? इस विषय में कुछ भिन्न मत भी पाये जाते हैं क्या ? क्योंकि कहीं रति-अरति भी दोष में बताया गया है और कहीं नहीं।

समाधान—श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने आप्तसम्बन्धी १८ दोषों का कथन इसप्रकार किया है।

छुहतप्ह भीरुसो रागोमोहोचिताजराश्रमिच्चू ।
स्वेदं खेदं मदो रइ विभ्रियणिदा जायुध्वेगो ॥६॥ नियमसार

क्षुधा, लृषा, भय, रोष, राग, मोह, चिन्ता, जरा, रोग, मृत्यु, स्वेद, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म, उद्वेग; ये १८ दोष आप्त में नहीं होते हैं।

श्री समन्तभद्राचार्य ने १८ दोष निम्न प्रकार कहे हैं—

धुत्पिपासाजरातड्क जन्मान्तकभयस्मयाः ।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥६॥ र. क. आ.

जिसके भूख, प्यास, जरा, रोग, जन्म, मरण, भय, मद, राग, द्वेष, मोह और च शब्द से चिन्ता, रति, अरति, खेद, स्वेद, निद्रा, विस्मय ये १८ दोष नहीं हैं वह आप्त है।

संस्कृत टीका—'च शब्दान्चिन्तारतिनिद्राविस्मयविषदस्वेवखेदा गृह्णन्ते ।'

श्री कुम्भकुम्भाचार्य ने 'रोष' कहा है उसके स्थान पर श्री समन्तभद्राचार्य ने 'द्वेष' कहा है। श्री कुम्भकुम्भाचार्य ने 'उद्वेग' कहा है, उसके स्थान पर श्री समन्तभद्राचार्य ने 'अरति' कहा है। मात्र नाम भेद है, अभिप्राय एक है। रोष का अर्थ क्रोध है। क्रोध द्वेषरूप है। इष्टवियोग में विकलभाव (घबराहट) उद्वेग है। अनिष्ट का संयोग अरति है। इनमें भी विशेष अन्तर नहीं है।

'द्वय-क्षेत्र-काल-भावेसु जेसिमुदण जीवस्स अरई समुप्पज्जइ तेसिमरदि ति सण्णा ।' ध. पु. ६ पृ. ४७

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में जीव के अरुचि उत्पन्न होना अरति है।

—जं. ग. 27-7-72/IX/ २. ला. जॉन, एम. कॉम.

(१) सामान्य केवलियों के दो कल्याणक होते हैं

(२) विदेह में ८ आर्य खण्डों में एक तीर्थकर नियम से सदा रहते हैं

शंका—विदेहक्षेत्र में जो बीस भगवान हमेशा उसी नाम के रहते हैं तो एक भगवान के मुक्त होने के बाद उसी नाम के दूसरे भगवान के जन्म में कितना अन्तराल पड़ता है, क्योंकि कम से कम गर्भ के नौ माह का अन्तराल तो अवश्य पड़ना चाहिये ? उनके कितने कल्याणक होते हैं ? सामान्यकेवलियों के कितने कल्याणक होते हैं ?

समाधान—विदेहक्षेत्र में १६० आर्यखण्ड हैं और २० शाश्वत तीर्थकर हैं। अतः आठ आर्यखण्डों में एक तीर्थकर होता है। आठ आर्यखण्डों में से किसी एक आर्यखण्ड में केवलज्ञानसहित एक तीर्थकर विद्यमान है तो अन्य शेष सात आर्यखण्डों में से किसी एक आर्यखण्ड में तीर्थकर का गर्भ जन्म तथा तपकल्याणक हो जाता है। विद्यमान तीर्थकर के मोक्ष होने पर तुरन्त दूसरे तीर्थकर की केवलज्ञानोत्पत्ति हो जाती है। इसप्रकार आठ आर्यखण्डों में से किसी एक आर्यखण्ड में तीर्थकर अवश्य विद्यमान रहता है। इनके पाँचों ही कल्याणक होते हैं। सामान्यकेवलियों के केवलज्ञान और निर्वाण ये दो कल्याणक होते हैं। तीर्थकरकेवली या सामान्यकेवली के अनन्तवतुष्टय में कुछ अन्तर नहीं होता।

—जं. ग. 6-5-65/XIV/ भगनमाला

सामान्य केवलियों के दो कल्याणक होते हैं

शंका—सामान्यकेवलियों के कल्याणक होते हैं या नहीं ?

समाधान—सामान्यकेवलियों के गर्भ व जन्म व तपकल्याणक तो नहीं होते, किन्तु प्रथमानुयोग ग्रन्थों में केवलज्ञान व मोक्ष के समय देवों का जाना बताया है। उनकी गंधकुटी भी होती है। जिससे ज्ञात होता है कि सामान्यकेवलियों के केवलज्ञान व मोक्षकल्याणक होते हैं, किन्तु ये कल्याणक तीर्थकरों के कल्याणक के समान नहीं होते, क्योंकि उनके तीर्थकरप्रकृति का उदय नहीं होता है।

—जं. सं०. 30-1-58/VI/ रामदास कंठाना

क्या तीर्थंकर की वाणी से किसी को लाभ नहीं होता ?

शंका—क्या तीर्थंकर की वाणी से किसी को लाभ नहीं होता ?

समाधान—कार्य-कारण सिद्धान्त की भूल के कारण सोनगढ़ के नेता 'तीर्थंकर की वाणी से किसी को लाभ नहीं होता', ऐसा मानते हैं। उनकी यह मान्यता आर्षग्रन्थ विरुद्ध है। इसीलिये मई १९६५ में शास्त्रपरिषद् के अधिवेशन में २१ बातों को लेकर सोनगढ़साहित्य के विरोध में प्रस्ताव पास हुआ था।

जिनवाणी से भव्यजीवों को लाभ होता है। इस सम्बन्ध में यहाँ पर कुछ आर्षप्रमाण दिये जाते हैं।

पंचास्तिकाय प्रथम गाथा में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने 'तित्ठुअणहिदमधुरविसद्वक्काणं' इन शब्दों द्वारा यह बतलाया है कि जिनेन्द्रदेव की वाणी तीन लोक का हित करनेवाली है तथा मधुर एवं विशद है।

इसकी टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य लिखते हैं—

'त्रिभुवनमूर्ध्वाधोमध्यलोकवर्तीसमस्तएव जीवसलोकस्तस्मै निर्वाधाधविशुद्धात्मतत्त्वोपलम्भोपायाभिधायि-
त्वादितकरम् ।

अर्थ—जिनेन्द्रवाणी अर्थात् दिव्यध्वनि लोकवर्ती समस्त जीवसमूह को निर्वाध विशुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि का उपाय कहने वाली है, इसलिये हितकर है।

इसी गाथा की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने निम्नलिखित गाथा उद्धृत की है—

अभिमतफलसिद्धे रभ्युपायः सुबोधः ।

स च भवति गुशास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात् ॥

अर्थात्—इष्ट फल (मोक्ष) की सिद्धि का उपाय सम्यग्ज्ञान है। वह सम्यग्ज्ञान यथार्थ आगम से होता है। उस आगम की उत्पत्ति आत्म (जिनवाणी) से होती है।

जिनवाणी से अज्ञान का नाश होकर सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति होती है तथा असंख्यातगुराश्रेणीरूप कर्मों की निर्जरा होती है।

जिय-मोर्हिधण जलणो अण्णाणतमंधवार-दिणयरओ ।

कम्म-मल-कलुस-पुसओ जिणवयणमिवोवही सुहयो ॥५०॥ [ध. १ पृ. ५९]

अर्थ—जिनागम जीवके मोहरूपी ईंधन को भस्म करने के लिये अग्नि के समान है, अज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकार को नष्ट करने के लिये सूर्य के समान है, कर्ममल (द्रव्यकर्म) और कर्मकलुष (भावकर्म) को मार्जन करनेवाला समुद्र के समान है और परम सुभग है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य पंचास्तिकाय की दूसरी गाथा में जिनवाणी से निर्वाण बतलाते हैं।

समणमुहुग्गदमट्ठं चवुग्गविणिवारणं स णिव्वाणं ।'

अर्थात्—जिनवाणी पदार्थों का कथन करनेवाली है, चारगति का निवारण करनेवाली है और निर्वाण को देने वाली है।

श्री नरेन्द्रसेनाचार्य सिद्धांतसार में कहते हैं—

अज्ञानान्धतमस्तोमविद्व्वस्ताशेषवर्षिणाः ।

भक्ष्याः परयन्ति सूक्ष्मार्थान्गुह्यभानुवर्चोऽशुभिः ॥१-२७॥

मिथ्यावर्षिनविज्ञानसन्निपातनिपीडभात् ।

गुह्यवाक्यप्रयोगेण सर्वे मुञ्चन्ति मानवाः ॥१।२८॥

अर्थ—अज्ञानरूप अंधकार समूह से वस्तुओं को अवलोकन करने की जिनकी शक्ति नष्ट हो गई है ऐसे भक्तजीवों को गुरुवचन ही सूक्ष्मपदार्थ को दिखाते हैं ।

गुरुपदेश के प्रयोग से सब मनुष्य मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञानरूपी ज्वर की पीड़ा से मुक्त होते हैं । अर्थात् जिनवाणी से मिथ्यात्व का नाश होकर अज्ञानीजीव ज्ञानी बन जाता है ।

इन आचार्यवाक्यों के विरुद्ध सोनगढ़वाले यह कहते हैं कि जिनवाणी से किसी को लाभ नहीं होता ।

विधाय मातः प्रथमं त्वदाभयं श्रयन्ति तन्मोक्षपदं महर्षयः ।

प्रथीपमाश्रित्य गृहे तमस्तते यदीप्सितं वस्तु लभते मानवः ॥१५।१२॥

अर्थ—हे जिनवाणी माता ! महामुनि जब पहिले तेरा अवलम्बन लेते हैं तब कहीं मोक्ष को पाते हैं । ठीक भी है कि मनुष्य अंधकार से व्याप्त घर में दीपक का अवलम्बन लेकर ही इच्छित वस्तु प्राप्त करता है ।

अगोचरे वासरकृत्प्रिशाकृतोर्धनस्य यच्चेतसि वर्तते तमः ।

विभिद्यते धामधिदेवते त्वया त्वमुत्तमज्योतिरिति प्रणोयसे ॥१५।२०॥

अर्थ—हे जिनवाणी ! मनुष्यों के चित्त में जो अज्ञान स्थित है उसे न तो सूर्य नष्ट कर सकता है और न चन्द्रमा ही । परन्तु हे देवी ! उसको तू नष्ट करती है, इसलिये जिनवाणी को उत्तमज्योति कहा जाता है ।

सोनगढ़वालों का मूल आधार इष्टोपदेश श्लोक ३५ है, जिसमें 'नाज्ञो विज्ञत्वमायाति अर्थात् मूर्ख ज्ञानी नहीं हो सकता' ऐसा कहा है । यहाँ पर 'अज्ञः' अर्थात् मूर्ख से अभिप्राय अभव्यजीव से है । संस्कृत टीका में कहा भी है—'अज्ञस्तत्त्वज्ञानोत्पत्त्ययोग्योऽभव्याधिः ।' अर्थात् 'अज्ञः' से अभिप्राय अभव्य का है, जो तत्त्वज्ञानोत्पत्ति के अयोग्य है ।

यदि इष्टोपदेश श्लोक ३५ का यह अर्थ कर दिया जाय कि कोई भी अज्ञानी ज्ञानी नहीं हो सकता तो मोक्षमार्ग का ही अभाव हो जायगा, क्योंकि प्रत्येक जीव अनादि से मिथ्यादृष्टि है । जितने भी सिद्ध हुए वे भी अनादि से अज्ञानी थे और उपदेशादि के द्वारा उनको सम्यग्दर्शन का लाभ हुआ अर्थात् ज्ञानी बने हैं ।

यदि उपदेश को सम्यग्दर्शन में हेतु न माना जाय तो अधिगमज सम्यग्दर्शन के अभाव का प्रसंग आ जायगा । मोक्षशास्त्र अध्याय १ सूत्र ३ 'तन्निर्गर्वाधिगमाद्वा' में यह बतलाया है कि वह सम्यग्दर्शन निसर्ग और परोपदेश से होता है । इसकी टीका में श्री पूज्यपादआचार्य ने लिखा है कि निसर्ग और अधिगमज दोनों सम्यग्दर्शन में दर्शनमोहनीयकर्म का उपशम, क्षय, क्षयोपशमरूप अन्तरंगकारण समान है, किन्तु जो बाह्यउपदेश के बिना होता है वह नैसर्गिक है और जो परोपदेशपूर्वक जीवादिपदार्थों के ज्ञान के निमित्त से होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है । यही इन दोनों में भेद है ।

‘यत्परोपदेशपूर्वकजीवाद्याधिगमनिमित्तं तदुत्तरम् । इत्यनयोरयंभेदः ।’

अपने इन वचनों का विरोध श्री पूज्यपाद आचार्य इष्टोपदेश गाथा ३५ में नहीं कर सकते थे, इसलिये उन्होंने गाथा ३५ में अन्य पदार्थों को कार्य की उत्पत्ति में निमित्तकारण स्वीकार किया है।

उपदेश से भव्य जीवों को लाभ होता है ऐसा स्पष्ट कथन श्री पूज्यपाद आचार्य ने स. सि. अ. ५ सूत्र २१ की टीका में किया है, जो निम्नप्रकार है—

“आचार्य उभयलोक-फल-प्रदोपदेशदर्शनेन तदुपदेशविहितक्रियानुष्ठानेन च शिष्याणामनुग्रहे वर्तते ।”

अर्थ—आचार्य दोनों लोक में सुखदायी उपदेश द्वारा तथा उस उपदेश के अनुसार क्रिया में लगाकर शिष्यों का उपकार करता है।

‘जिनबाणी से किसी को लाभ नहीं होता।’ इस धारणा से सोनगढ़वालों का दूसरा आधार योगसार गाथा ५३ है। किन्तु मूलगाथा उद्धृत नहीं की गई है। इस गाथा में “सत्यपदं तह ते वि जड अप्पा जे ण मुणंति।” इन शब्दों द्वारा यह बतलाया है कि अभव्यप्राणी शास्त्र को तो पढ़ लेते हैं, किन्तु आत्मा को नहीं जानते, क्योंकि वे अभव्य हैं। इसी बात को श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार में कहा है—

मोक्खं असहहतो अभवियससो दु जो अधीएज्ज ।

पाठो ण करेवि गुणं असहहंतस्स षाणं तु ॥२९४॥

अर्थ—अभव्यजीव को मोक्ष की श्रद्धा नहीं होती वह अभव्य शास्त्र को पढ़ता है, परन्तु ज्ञान की श्रद्धा न होने से उसको शास्त्र पठन का फल नहीं होता।

जो अभव्यजीव होते हैं उनको अभव्यसम्बन्धी गाथायें इष्ट होती हैं। किन्तु श्री योगीन्द्रदेव तथा श्री कुन्दकुन्द आचार्य भव्य थे इसलिये उन्होंने उपदेश से लाभ होना स्वीकार किया है।

संसारहं भय-भीयहं मोक्खहं लालसयाहं ।

अप्पा-संबोहण-कयइ कय दोहा एकमणाहं ॥३॥ [योगसार]

अर्थ—जो संसार से भयभीत हैं और मोक्ष के लिये जिनकी लालसा है अर्थात् भव्यजीवों को संबोधन के लिये एकाग्र चित्त से मैंने इन दोहों की रचना की है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य भी मोक्षमार्ग में आगम की प्रधानता बतलाते हैं।

णिच्छित्ति आगमदो आगम चेट्टा तदो जेट्टा ॥३॥३२॥

अर्थात्—सर्वज्ञ-वीतराग प्रणीत आगम से पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है, इसकारण आगमाभ्यास की प्रवृत्ति प्रधान है।

आगमहीणो समणो खेवप्पाणं परं क्रियाणावि ॥३॥३६॥

अर्थात्—आगमाभ्यास से रहित मुनि भी स्व और पर को नहीं जानता।

“आगमचक्खु साहू” ॥३॥३४॥

अर्थात्—मुनि के मोक्षमार्ग की सिद्धि के लिये आगमरूपी नेत्र होते हैं। मुनि मोक्षमार्ग की सिद्धि आगम के द्वारा करते हैं।

यदि उपदेश से भव्यजीवों का भला न होता तो श्री कुन्दकुन्दादि आचार्य ग्रन्थों की रचना क्यों करते और उपदेश क्यों देते ?

शब्दात्पदप्रसिद्धिः पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति ।

अर्थात्तत्त्वज्ञानं तत्त्व ज्ञानात्परं श्रेयः ॥२॥ (धवल पु० १)

अर्थ—शब्द से पद की सिद्धि होती है पद की सिद्धि से उसके अर्थ का निर्णय होता है। अर्थ—निर्णय से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है और तत्त्वज्ञान से परम-कल्याण होता है।

ज. घ. पु. १ पृ. ६ पर श्री बीरसेनाचार्य ने कहा कि परमागम के उपयोग से कर्मों का नाश होता है।

“सं च परमागमुपजोगादो चेव णस्सदि । ण वेदमसिद्धं ; सुह-सुद्धपरिणामे हि कम्मकखयाभावे तक्ख-याणुववसीदो ।”

अर्थ—यदि कोई कहे कि परमागम के अभ्यास से कर्मों का नाश होता है यह बात असिद्ध है सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि शुभ या शुद्ध परिणामों से कर्मों का क्षय न माना जाय तो फिर कर्मों का क्षय हो ही नहीं सकता।

इन आर्षवाक्यों से सिद्ध है कि जिनवाणी से भव्यजीवों का भला होता है, इनका खंडन अनार्षवाक्यों से नहीं हो सकता।

—जं. ग. 12-6-66/IX/.....

क्या उपदेश देना जड़ की क्रिया है ?

शंका—मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें (सोनगढ़ से प्रकाशित) के पृ. १७८ पर लिखा है—“उपदेश देना मुनि का लक्षण नहीं है, उपदेश तो जड़ की क्रिया है आत्मा उसे कर नहीं सकता।” क्या यह मत ठीक है ?

समाधान—सोनगढ़ का यह मत “उपदेश तो जड़ की क्रिया है, आत्मा उसे कर नहीं सकता” आर्षग्रन्थ विरुद्ध है। मूल उपदेश के कर्ता श्री तीर्थंकर अरिहंत भगवान हैं, क्योंकि उनके उपदेश के आधार से श्री गणधर देव द्वादशांग की रचना करते हैं। तीर्थंकर भगवान का उपदेश गुरुपरम्परा से श्री कुन्दकुन्दादि आचार्यों को प्राप्त हुआ था, जिसके आधार पर उन्होंने समयसार, पंचास्तिकाय, प्रश्नचनसार, धवल, जयधवल आदि ग्रन्थों की रचना की। आज जो हमको ज्ञान प्राप्त है वह इन आर्ष ग्रन्थों के स्वाध्याय से ही उत्पन्न हुआ है।

जिनवाणीरूप उपदेश को यदि मात्र जड़ की क्रिया मान लिया जाय और श्री तीर्थंकर भगवान को उसका कर्ता न माना जावे तो भेषगर्जना के समान जिनवाणी के भी प्रामाणिकता के अभाव का प्रसंग आ जायगा। जिनवाणी की प्रामाणिकता के अभाव में द्वादशाङ्ग तथा समयसार आदि अन्य सब आर्षग्रन्थ भी प्रामाणिक नहीं रहेंगे। श्री पूज्यपाद आचार्य ने कहा भी है—

जयो वक्तारः सर्वज्ञस्तीर्थंकर इतरो वा श्रुतकेवली आरातीयश्चेति । तत्र सर्वज्ञेन परमविष्णोपरमाचिन्त्य केवलज्ञानविभूतिविशेषेण अयं त आगम उद्दिष्टः । तस्य प्रत्यक्षदर्शित्वात्प्रक्षीणदोषत्वाच्च प्रामाण्यम् । तस्य साक्षाच्छिष्यैर्बुद्ध्यतिशयार्द्धियुक्तं गणधरैः श्रुतकेवलिभिरनुस्मृतग्रन्थरचनमङ्गपूर्वं लक्षणम् । तत्प्रमाणम् तत्प्रमाण्यात् आरातीयैः पुनराचार्यैः कालदोषात्संक्षिप्तायुर्मतिबलशिष्यानुग्रहार्थं दशवैकालिकाद्युपनिबद्धम् । तत्प्रमाणमयं तस्तदेवेदमिति क्षीरार्णवजलं घटगृहीतमिव ।” स. सि. १।२०

अर्थ—वक्ता तीन प्रकार के हैं—सर्वज्ञ तीर्थंकर या सामान्य केवली तथा श्रुतकेवली और आरातीय । इनमें से परमऋषि सर्वज्ञ उत्कृष्ट और अचिन्त्यकेवलज्ञानरूप विभूतिविशेष से युक्त हैं, इस कारण उन्होंने अर्थरूप से आगम का उपदेश दिया है । ये सर्वज्ञ प्रत्यक्षदर्शी और दोषमुक्त हैं, इसलिये प्रमाण हैं । इनके साक्षात् शिष्य और बुद्धि की अतिशयरूप ऋद्धि से युक्त गणधर-श्रुतकेवलियों ने अर्थरूप आगम का स्मरण कर अंग और पूर्व-ग्रन्थों की रचना की । सर्वज्ञदेव की प्रमाणता के कारण ये भी प्रमाण हैं । आरातीय आचार्यों ने कालदोष से जिनकी आयु, मति और बल घट गया है ऐसे शिष्यों का उपकार करने के लिए दशवैकालिक आदि ग्रन्थ रचे । जिसप्रकार क्षीरसागर का जल घट में भर लिया जाता है । उसीप्रकार ये ग्रन्थ भी अर्थरूप से वे ही हैं, इसलिये प्रमाण हैं ।

पंचास्तिकाय को प्रथम गाथा में जिनेन्द्रभगवान को नमस्कार करते हुए श्रीकुन्दकुन्दाचार्य लिखते हैं—
“तद्गुणहृदमधुरविसद वक्ष्काणं ।” अर्थात् जिनेन्द्रभगवान की चाणी तीनलोक को हितकर मधुर एवं विशद है । इसकी टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य लिखते हैं “समस्तवस्तुयाथात्म्योपदेशित्वात् प्रेक्षावत्प्रतीक्ष्यत्वमाख्यातम् ।” अर्थात्—जिनदेव समस्त वस्तु के यथार्थ स्वरूप के उपदेशक होने से विचारवंत बुद्धिमान पुरुषों के बहुमान के योग्य हैं ।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार की प्रथम गाथा में “वोच्छामि समयपाहुड, निणमो सुयकेवली भणियं ।” इन शब्दों द्वारा यह कहा है कि ‘केवलीश्रुतकेवली के द्वारा उपदिष्ट यह समयसार प्राभूत कर्हंगा ।’

समयसार गाथा ५ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने बतलाया कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य के दौभव का जन्म, सर्वज्ञदेव गणधर आदि तथा पूर्वाचार्य के उपदेश से हुआ था ।

ध. पु. १ पृ० ३६८ पर श्री वीरसेनाचार्य ने “तस्यज्ञानकार्यत्वात्” इन शब्दों द्वारा यह बतलाया है कि दिव्यध्वनि (जिन-उपदेश) ज्ञान का कार्य है ।

इन सब महानाचार्यों ने उपदेश को जड़ की क्रिया नहीं बतलाया है, किन्तु सर्वज्ञदेव को उपदेशदाता बतलाया है अथवा केवलज्ञान का कार्य बतलाया है ।

शास्त्रपरिषद् के प्रस्ताव का उत्तर देते हुए जनवरी १९६६ के हिन्दी आत्मधर्म पृ० ५६५ उत्तर पृ० २९ पर सोनगढ़ के नेताओं ने लिखा है—“श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव सर्वज्ञभगवान की साक्षी देकर कहते हैं ।” यहाँ सोनगढ़ वालों ने उपदेश देना श्री कुन्दकुन्दाचार्य की क्रिया स्वीकार की है । फिर उनका यह लिखना “उपदेश तो जड़ की क्रिया है । आत्मा उसे कर नहीं सकता ।” स्व वचन-ब्राधित है ।

सोनगढ़वालों ने उत्तर में शास्त्राधार नं० १ में मात्र समयसार गाथा नं० ८६, ८७, ३२१, ३२२, ३२३ का उल्लेख किया है, किन्तु मूल गाथा या उनका अर्थ उनकी टीका उद्धृत नहीं की है । गाथा ८७ में तो मिथ्यात्व, अज्ञान आदि जीव, अजीव के भेद से दो प्रकार के बतलाये हैं जिसका इस प्रकरण से कोई सम्बन्ध नहीं

है। और गाथा ३२१ से ३२३ में यह बतलाया है कि नर-नारकादि जीव की पर्यायों का आत्मा कर्त्ता नहीं है, किन्तु प्रवचनसार गाथा ११७-११८ में 'णरणारतिरियसूरा जीवा खलु गाम कम्मणिव्वत्ता।' जीव की नर, नारक, तिर्यंच, देवपर्यायों का कर्त्ता नामकर्मरूप पुद्गल को बतलाया है। इसप्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने जीवद्रव्य की नर, नारकादि पर्यायों का कर्त्ता आत्मा को न मानकर पौद्गलिक नामकर्मको स्वीकार किया है और समयसार व पंचास्तिकाय की प्रथम गाथाओं में अरहंतभगवान को पौद्गलिक वचनों (उपदेश) का कर्त्ता बतलाया है। समयसार गाथा ८६ में जो द्विक्रियावादी को मिथ्यादीष्टि कहा है वहाँ पर उपादान की अपेक्षा से कथन है। इस गाथा में 'उपदेश' के विषय में कुछ वर्णन नहीं है। अतः यह गाथा भी प्रकरण से बाहर है।

सभी आचार्यों ने श्री अरहंतभगवान को श्री गणधरदेव तथा अन्य आचार्यों को उपदेशदाता बतलाया है, किसी भी आचार्य ने उपदेश को मात्र जड़ की क्रिया नहीं बतलाया। आर्षवाक्यों का खण्डन अनार्षवाक्यों द्वारा नहीं हो सकता है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक का प्रमाण सोनगढ़वालों ने दिया है, किन्तु मोक्षमार्गप्रकाशक में तो 'उपदेश को अरहंत भगवान की क्रिया' बतलाया है जो निम्नप्रकार है—

मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० २ पर 'अरहंत' का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—बहुिर जिनके वचननिर्तं लोकविषं धर्मतीर्थं प्रवर्ते है, ताकरि जीवनि का कल्याण हो है।

मोक्षमार्गप्रकाशक पृ० ५ पर आचार्य का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—'धर्मोपदेश देते हैं।'

मोक्षमार्गप्रकाशक पृ० १५ पर लिखा है—'तीर्थकर केवलीनिका, जाकरि अन्य जीवनि के पदनिका अर्थनिका ज्ञान होय ऐसा, दिव्यध्वनिकरि उपदेश हो है।' 'सो केवलज्ञानी विराजमान होइ जीवनिको दिव्यध्वनिकरि उपदेश देता भया।'

मोक्षमार्ग-प्रकाशक पृ० १८ पर लिखा है—'प्रथम मूल उपदेशदाता तो तीर्थकर केवली भये सो तो सर्वथा मोह के नाशते सर्व कषायनि करि रहित हैं।'

मोक्षमार्गप्रकाशक पृ० १९ पर लिखा है—'मूल ग्रन्थ कर्त्ता तो गणधर हैं ते आप चार ज्ञान के धारक हैं धर साक्षात् केवली का दिव्यध्वनि उपदेश सुने हैं ताका अतिशयकरि सत्यार्थ ही भासैं हैं अर ताही के अनुसार ग्रन्थ बनावैं हैं।'

सोनगढ़वालों ने स्वयं अपने उत्तर पृ० २९ तथा आत्मधर्म पृ० ५६५ पर 'श्री कुन्दकुन्दाचार्य सर्वज्ञ भगवान की साक्षी देकर कहते हैं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की क्रिया का कर्त्ता हो सकता है, ऐसा माननेवाले द्विक्रियावादी मिथ्यादीष्टि हैं।' यह लिखकर स्वीकार कर लिया कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य तो जीवद्रव्य हैं और उन्होंने पुद्गलरूप वचनों को कहा अर्थात् उपदेश श्री कुन्दकुन्दभगवान की क्रिया थी, जड़ की क्रिया नहीं थी।

इसप्रकार सोनगढ़वालों के उत्तर से सोनगढ़ की मान्यता का खंडन होता है। आज तो विगम्बरेतर समाज के ग्रन्थों के आधार पर जैनधर्म का उपहास होता है, कल को सोनगढ़ के साहित्य पर से जैनधर्म का उपहास होगा, क्योंकि सोनगढ़साहित्य में कार्य-कारणभाव के विषय में महान् भूल है। उस भूल के कारण ही सोनगढ़ के नेता उपदेश को जड़ की क्रिया' कहते हैं। जैनतर समाज में क्या यह उपहास का कारण नहीं बनेगा ?

—जै. ग. 6-6-66/IX/.....

मोक्ष का कारण कौनसा रत्नत्रय ?

शंका—साक्षात् मोक्ष का कारण क्या तेरहवें गुणस्थान का रत्नत्रय है या चौदहवें गुणस्थान का रत्नत्रय है अथवा १४वें गुणस्थान के अन्तिमसमय का रत्नत्रय साक्षात् मोक्ष का कारण है ?

समाधान — इस सम्बन्धी कोई एकांत नहीं है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य और उनके टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्य ने वीतरागता को साक्षात् मोक्ष का कारण कहा है, उनका कहना है कि रागी कर्म से बंधता है और विरागी (वीतरागी) कर्म से छूटता है। 'रसो बंधदि कम्मं मुञ्चति जीवो विरागसंपत्तो ।'

'यः खलु रक्तोऽवश्यमेव कर्म बध्नीयात् विरक्त एव मुञ्चेतेत्ययमागमः ।'

अर्थात्—रागी कर्म बांधता है और वीतरागी कर्मों से मुक्त होता है, यह आगम है।

श्री उभास्वामी ने मोक्षशास्त्र में भी कहा है कि 'बन्ध के कारणों के अभाव होने और निर्जरा से सबकर्मों का प्रात्यंतिकक्षय होना ही मोक्ष है तथा कषाय के अभाव में मात्र ईर्यापथआस्रव होता है, जो कि १२वें १३वें गुणस्थान में होता है। मोक्षशास्त्र में १२वें गुणस्थानवाले को वीतराग छद्मस्थ कहा है।

श्री पूज्यपादस्वामी तथा श्री अकलंकदेव ने १४वें गुणस्थान में साक्षात् मोक्ष का कारण माना है, क्योंकि १४वें गुणस्थान में आस्रव का भी निरोध हो जाता है। कहा भी है 'समुच्छिन्नक्रियानिर्वात' ध्यान में सर्वप्रकार के कर्मबन्ध के कारणरूप आस्रव का भी निरोध हो जाने से तथा बाकी के बचे सब कर्मों को नाश करने की शक्ति के उत्पन्न हो जाने से अयोगकेवली के संसार के सर्वप्रकार के दुःखजाल के सम्बन्ध का उच्छेद करनेवाला सम्पूर्ण यथाख्यात चारित्र-ज्ञानदर्शनरूप साक्षात् मोक्ष का कारण उत्पन्न होता है।

श्री विद्यानन्दआचार्य ने निश्चयनय से अयोगकेवली के अन्तिमसमय के रत्नत्रय को मोक्ष का कारण माना है, किन्तु व्यवहारनय से उससे पूर्व का अर्थात् १३वें आदि गुणस्थान के रत्नत्रय को भी मोक्ष का कारण माना है और साथ में यह भी सूचना दी है कि तत्त्ववेदियों को इसमें कोई विवाद नहीं है।

रत्नत्रितयरूपेणायोग केवलिनोऽतिमे ।

क्षणे विवर्तते ह्येतवबाध्यं निश्चितात्प्रयात् ॥

व्यवहारनयाभित्या श्वेतप्र्रागेव कारणम् ।

मोक्षस्येति विवादेन पर्याप्तं तत्त्ववेदिनाम् ॥

इसप्रकार भिन्न-भिन्न दृष्टिकोरणों से भिन्न-भिन्न कथन है। स्याद्वादियों को इसमें कोई विवाद नहीं है, किन्तु जो एकांतमिथ्यादृष्टि हैं वे दुराग्रह के कारण अपने एकांतपक्ष को पुष्ट करते जाते हैं, स्याद्वाद को वे पढ़ना या सुनना भी नहीं चाहते। इस एकांत पक्ष के दुराग्रह के कारण संसार में नाना मिथ्यामतों की उत्पत्ति हुई है, हो रही है और होवेगी।

—जै. ग. 20-2-67 /VI/.....

क्या आर्षग्रन्थ कुशास्त्र हैं ?

शंका—क्या दि० जैन आर्षग्रन्थ कुशास्त्र हैं ?

समाधान—छहदाला की दूसरी ढाल के तेरहवें पद्य में कुशास्त्र के लक्षण का कथन है । यथा—

एकान्तवाद दूषित समस्त, विषयादिक पोषक अप्रशस्त ।
कपिलादि रचित श्रुत को अभ्यास सो है कुबोध बहु वेन त्रास ॥

इस पद्य में कपिलादि द्वारा रचित शास्त्रों को कुशास्त्र बतलाया गया है, क्योंकि उनमें एकान्त अर्थात् निरपेक्षदृष्टि से एकान्त का कथन है तथा उनमें पाँचइन्द्रियों के विषयों के पोषण का उपदेश है ।

इस छहदाला की टीका सोनगढ़ से प्रकाशित हुई है । जिसमें उपर्युक्त पद्य की व्याख्या करते हुए निम्न-प्रकार लिखा है—

‘दया, दान, महाव्रतादि के शुभभाव जो कि पुण्यास्त्र हैं उससे तथा मुनि को आहार देने के शुभभाव से संसारपरित (अल्पमर्यादित) होना बतलाये, तथा उपदेश देने के शुभभाव से धर्म होता है आदि जिनमें विपरीत कथन हों वे शास्त्र एकान्त और अप्रशस्त होने के कारण कुशास्त्र हैं, क्योंकि उनमें प्रयोजनभूत साततत्त्वों की यथार्थता नहीं है ।’

दि० जैन आर्षग्रन्थों में दया दान महाव्रत को धर्म तथा संसार के अभाव का अर्थात् मोक्ष का कारण कहा गया है और सोनगढ़ की व्याख्या के अनुसार वे भी कुशास्त्र हैं इसलिए श्री महावीरजी में पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा के शुभ अवसर पर मई १९६४ में शास्त्रपरिषद् के अधिवेशन में सोनगढ़ की उपर्युक्त व्याख्या के विरोध में प्रस्ताव पास हुआ था ।

सोनगढ़ से प्रकाशित जनवरी १९६६ के हिन्दी आत्मधर्म में इस प्रस्ताव का उत्तर देते हुए पृ० ५५१ पर लिखा है—‘श्वेताम्बरशास्त्रों में व्रत, दान, दयादि के शुभभावों से संसार परित होना लिखा है, दिगम्बरशास्त्र तो दयादि के शुभभावों से पुण्य होना मानते हैं, संसार का अभाव होना नहीं मानते अतः उपरोक्त दृष्टि से कथन आया है ।’

दया, दान, व्रत को धर्म तथा इनसे संसार का अभाव व मोक्ष की प्राप्ति प्रायः सभी दिगम्बर जैन आर्ष-ग्रन्थों में बतलाई गई है । उनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ पर भी किया जाता है । श्री कुन्दकुन्दाचार्य भूलाचार पर्याप्तिअधिकार में कहते हैं—

दद्वद्वूण सव्वजीवे दमिद्वूण य इंदियाणि तह पंच ।
अद्विहकम्मरहिया णिव्वाणमणुत्तरं जाथ ॥२३८॥

अर्थ—सर्व जीवों पर दया तथा स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों के दमन द्वारा आठकर्मों से रहित होकर सबसे उत्कृष्ट मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

आद्या सद्गतसंचयस्य जननी सौख्यस्य सत्संपदा ।

भूलं, धर्मतरोरनश्वरपदारोहैकनिःश्रेणिका ॥ पद्मनन्दि. पंच. १।८

अर्थ—यहाँ धर्मात्मा सज्जनों को सबसे पहिले प्राणियों के विषय में नित्य ही दया करनी चाहिये, क्योंकि वह दया समीचीन व्रतसमूह सुख एवं उत्कृष्ट सम्पदाओं की मुख्य जननी है, तथा दयाधर्मरूपी वृक्ष की जड़ है और मोक्षमहल पर चढ़ने के लिये अपूर्व नसैनी है ।

दयामूलस्तु यो धर्मो महाकल्याणकारणम् ।
 दग्ध-धर्मेषु सोऽन्येषु विद्यते नैव जातुचित् ॥२३॥
 जिनेन्द्रविहिते सोऽयं मार्गो परमदुर्लभे ।
 सदा सन्निहिता येन त्रैलोक्याग्रमवाप्यते ॥२४॥ पद्मपुराण पर्व=५

अर्थ—जो धर्म दयामूलक है वही महाकल्याण (मोक्ष) का कारण है। संसार के अन्य अधमधर्मों में वह दयामूलक धर्म नहीं पाया जाता। वह दया मूलक धर्म, जिनेन्द्रभगवान के द्वारा प्रणीत परम दुर्लभ मार्ग में सदा विद्यमान रहता है और दयाधर्म के द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है।

पूयाफलेण तिलोए सुरपुञ्जो ह्वेइ सुद्धमणो ।
 दाणफलेण तिलोए सारसुहं भुञ्जदे णियवं ॥१४॥ रयणसार

अर्थ—पूजा के फल से देवताओं के इन्द्र द्वारा पूजित त्रिलोक का अधीश अर्थात् अरहंत होता है और दान के फल से त्रिलोक में सारभूत उत्तमसुख अर्थात् मोक्षसुख को भोगता है।

दिष्णइ सुपत्तदाणं वित्तेसदो होइ भोग-सग्गमही ।
 णिब्बाणसुहं कमसो णिहिद्धं जिणवरिदेहि ॥१६॥

अर्थ—सुपात्र को दान प्रदान करने से भोगभूमि तथा स्वर्ग के सुखको प्राप्त होकर अनुक्रम से मोक्षसुख पाता है जिनेन्द्र ने ऐसा दान का फल कहा है।

पात्रभूतास्त्रदानाच्च शक्त्याद्यास्तपंचन्ति ते ।
 ते भोगभूमिमासाद्य प्राप्नुवन्ति पर पदम् ॥१०६॥

दानतो सातप्राप्तिश्च स्वर्गमोक्षैककारणम् ॥१०८॥ पद्मपुराण पर्व १२३

अर्थ—जो शक्तिसम्पन्न मनुष्य, पात्रों के लिये भद्र देकर सन्तुष्ट करते हैं वे भोगभूमि पाकर परम पद मोक्षपद को प्राप्त होते हैं। दान से सुखकी प्राप्ति होती है और दान स्वर्ग तथा मोक्ष का प्रधानकारण है।

अशुद्धधर्मोऽप्रधर्मश्च श्रेयसः महाविस्तार-सङ्गतः ।
 परो निर्गन्धधूराणां कीर्तितोऽत्यन्तदुःसहः ॥८५॥१८॥ पद्मपुराण

अर्थात्—अणुव्रत और महाव्रत ये दोनों मोक्ष के मार्ग हैं। अणुव्रत परम्परा से मोक्ष का कारण है और महाव्रत साक्षात् मोक्ष का कारण है।

‘भव्यानामशुभिर्न तैरनणुभिः सोऽप्योऽत्र मोक्षः परं’ । पद्मनन्दि ७।२६

अर्थात्—भव्यजीवों को अणुव्रत अथवा महाव्रतों के द्वारा केवल मोक्ष ही सिद्ध करने योग्य है।

तद्विपर्ययतो मोक्षहेतवः पंच सूत्रिताः ।
 सामर्थ्यादत्र नातोस्ति विरोधः सर्वथा गिराम् ॥८१॥३॥ इलोकवार्तिक

इस श्लोक में श्री महानाचार्य विद्यानन्दजी ने यह बतलाया कि बंध के कारण मिथ्यादर्शन, अकिरति, प्रमाद, कषाय और योग सूत्र में बतलाये गये हैं। इस सूत्र की सामर्थ्य से यह भी सिद्ध होता है कि इनके उलटे सम्यग्दर्शन, व्रत, अप्रमत्त, अकषाय और अयोग ये पाँच मोक्ष के कारण हैं। इसप्रकार इस श्लोक में व्रत को मोक्ष का कारण बतलाया गया है।

इनके अतिरिक्त अनेक दिग्म्बर जैन आर्षग्रन्थ हैं जिनमें श्री कुम्भकुम्भादि दिग्म्बर जैन आचार्यों ने दया, दान, महाव्रतरूप भावों को मोक्ष का कारण बतलाया है। सोनगढ़सिद्धान्त अनुसार ये सब कुशास्त्र हैं।

अर्नार्षग्रन्थों के आधार पर आर्षग्रन्थों का खण्डन नहीं हो सकता है। सोनगढ़ के नेताओं ने अपने कथन के समर्थन में एक भी आर्षग्रन्थ का प्रमाण नहीं दिया है।

जिस साहित्य में दिग्म्बर जैन आचार्यों के कथन का विरोध हो वह दिग्म्बरजैनसाहित्य नहीं हो सकता है।

सोनगढ़ के नेताओं से निवेदन कि यदि वे स्व-पर का कल्याण चाहते हैं तो उनको अपने साहित्यमें परिवर्तन करना होगा। आर्षग्रन्थ विरुद्ध बातों को निकालना होगा।

शास्त्रपरिषद् के प्रस्ताव का सुन्दर उत्तर भूल को स्वीकार करना था, न कि उस भूल की पुनर्पुष्टि करना।

—गौ. ग. 2-5-66/VII/.....

अहिंसा और सोनगढ़ सिद्धान्त

शंका—दि० जैनधर्म में 'अहिंसा परमो धर्मः' एक मूल सिद्धांत माना जाता है, किन्तु यह जैनधर्म का निज का सिद्धांत नहीं है, क्योंकि जैनियों के भगवान महावीर ने अहिंसा या जीवदया का उपदेश नहीं दिया है, ऐसा जैन साहित्य से स्पष्ट है। जैन साहित्य के वे वाक्य निम्न प्रकार हैं—

'भगवान ने पर-जीवों की दया पालने को कहा है या अहिंसा बतलाई है अथवा कर्मों का वर्णन किया है— इसप्रकार मानना न तो भगवान को पहिचानने का वास्तविक लक्षण है और न भगवान के द्वारा कहे गये शास्त्रों को ही पहिचानने का। यह बात मिथ्या है कि भगवान ने दूसरे जीवों की दया स्थापित की है।' [सोनगढ़-भोक्षशास्त्र]

इससे ज्ञात होता है कि जैनधर्म में अहिंसा व जीवदया का सिद्धांत वैदिकधर्म से लिया गया है, क्योंकि उसमें कहा है—

दया धर्म को मूल है, पाप मूल अभिमान।

तुलसी दया न छोड़िये, जब लग घट में प्राण ॥

नोट—यह एक अजैन का प्रश्न है जिस पर गम्भीर विचार होना चाहिये।

शंकाकार का बहुत आभार है कि दि० जैनधर्म के नाम पर प्रकाशित होने वाले ऐसे साहित्य को वह दि० जैनों की दृष्टि में लाया है।

समाधान—भोक्षशास्त्र, मूल जो संस्कृत में है वह तो श्री उमास्वामी विरचित है जिसमें अहिंसा और जीवदया का उपदेश है। इस पर जो भाषा टीका सोनगढ़ से प्रकाशित हुई है, जिसके वाक्य शंकाकार ने उद्धृत किये हैं, यह दि० जैन सिद्धान्तानुकूल नहीं है। क्योंकि श्री कुम्भकुम्भादि आचार्यों ने भगवान के उपदेश अनुसार अहिंसा व जीवदया को धर्म बतलाया है।

धर्मो दयाविमुद्धो, पद्मज्जा सम्बसंगपरिचरता ।

देवो ववगयमोहो उदयकरो सम्बजीवानं ॥२५॥ बोधपाहुड़

अर्थ—दयाकरि विशुद्ध तो धर्म है, प्रत्रज्या सर्वपरिग्रहते रहित है, जिसका मोह नष्ट हो गया वह देव है । ये भव्यजीवों के मनोरथ पूर्ण करनेवाले अर्थात् मुक्ति देनेवाले हैं ।

छज्जीव छडायदणं णिच्चं मणवयणकायजोएहि ।

कुरु दय परिहर मुणिवर भावि अपुव्वं महासत्तं ॥१३१॥ भावपाहुड़

इस गाथा में भी श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने छहकाय (पांच स्थावर और एक त्रस) अर्थात् सब जीवों पर मन, वचन, काय से दया करने का आदेश दिया है ।

जीवदया दम सच्चं अचोरियं बंभचेर-संतोसे ।

सम्महं सण णाले तथो य सीलस्स परिवारो ॥१९॥ शीलपाहुड़

अर्थ—जीवदया, इंद्रियों का दमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य संतोष, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और तप ये सर्वशील (जीवस्वभाव) के परिवार हैं ।

आद्या सद्गतसंचयस्य जननी सौख्यस्य सत्संपदां,

मूलं धर्मंतरोरनश्वर-पदारोहैक निःश्रेणिका ।

कार्या सदिभरिहाङ्गिषु प्रथमतो नित्यं दया धार्मिकैः

धिङ् नामाप्यदयस्य तस्य च परं सर्वत्र शून्या दिशः ॥१-८॥ प. नं. पं. वि.

अर्थ—यहां धर्मात्मा सज्जनों को सबसे पहिले प्राणियों के विषय में नित्य ही दया करनी चाहिये, क्योंकि वह दया समीचीन व्रतसमूह सुख एवं उत्कृष्ट सम्पदाओं की मुख्य जननी अर्थात् उत्पादक है । दया धर्मरूपी वृक्ष को जड़ है, तथा अविनश्वरपद अर्थात् मोक्षमहल पर चढ़ने के लिये नसैनी का काम करती है । निर्दय पुरुष का नाम लेना भी निन्दाजनक है, उसके लिये सर्वत्र दिशायें शून्य जैसी हैं ।

जन्तुकुर्पादितमनसः समितिषु साधोः प्रवर्तमानस्य ।

प्राप्तेन्द्रिय-परिहारं संयममाहुमहामुनयः ॥११९६॥ पद्य० पं०

अर्थ—जिसका मन जीव-अनुकम्पा से भीम रहा है तथा जो ईर्या, भाषा आदि (देखकर चलना, देखकर वस्तु को रखना उठाना जिससे जीवों को बाधा न हो तथा हित-मित्त-वचन बोलना, कठोरवचन नहीं कहना) पांचसमितियों में प्रवर्तमान है ऐसे साधु के द्वारा षट्काय (सर्व) जीवों की रक्षा और अपनी इंद्रियों का दमन किया जाता है उसे गणधरदेवादि महामुनि संयम कहते हैं ।

येथां जिनोपवेशेन कारुष्यामृतपुरिते ।

चित्ते जीवदया नास्ति तेषां धर्मः कुतो भवेत् ॥६१३७॥

मूलं धर्मंतरोराद्या व्रतानां धाम संपदाम् ।

गुणानां निधिरित्यङ्गिदया कार्या विवेकिभिः ॥६१३८॥

सर्वे जीवदयाधारा गुणास्तिष्ठन्ति मानुषे ।

सूत्रधाराः प्रसूनानां हाराणां च सरा इव ॥३९॥ पद्य० पं०

अर्थ—जिनभगवान के दयालुत्तरूप अमृत से परिपूर्ण उपदेश से जिन श्रावकों के हृदय में प्राणिदया प्रगट नहीं होती है उनके धर्म कहां से हो सकता है। अर्थात् नहीं हो सकता ? इसका अभिप्राय यह है कि जिनगृहस्थों का हृदय जिनागम का अभ्यास करने के कारण दया से ओत-प्रोत हो चुका है वे ही गृहस्थ वास्तव में धर्मात्मा हैं। जिनका चित्त दया से आर्द्र नहीं हुआ है वे कभी भी धर्मात्मा नहीं हो सकते, कारण कि धर्म का मूल तो दया है ॥ ६।३७ ॥

प्राणिदया धर्मरूपी वृक्ष की जड़ है, व्रतों में मुख्य है, सम्पत्तियों का स्थान है और गुराणों का भण्डार है। इसलिये विवेकी जीवों को प्राणिदया अवश्य करनी चाहिये ॥६।३८॥

मनुष्यों में सब ही गुण जीव दया के आश्रय से इसप्रकार रहते हैं जिसप्रकार पुष्पों की लड़ियाँ सूत के आश्रय से रहती हैं। अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि गुणों के अभिलाषी श्रावक को प्राणियों के विषय में दयालु अवश्य होना चाहिए।

णिज्जिय-दोसं देधं सव्व-जिवाणं दयावरं धम्मं ।

वज्जिय-गंथं च गुरुं जो मण्णदि सो हु सद्धिदी ॥३१७॥ स्वा. का. अ.

अर्थ—जो दोषरहित को देव और सब जीवों पर दया को उत्कृष्टधर्म तथा परियहरहित को गुरु मानता है वही सम्यग्दर्शि है अर्थात् जो जीवदया को धर्म नहीं मानता वह सम्यग्दर्शि नहीं है।

हिंसा पाचं त्ति मदो दया-पहाणो जवो धम्मो ॥४०६॥ स्वा. का.

अर्थ—हिंसा पाप है और धर्म दयाप्रधान है।

दया भावो विय धम्मो हिंसाभावो ण भण्णदे धम्मो ।

इदि संदेहाभावो णिस्संका णिम्मत्ता होवी ॥४१५॥ स्वा. का.

अर्थ—दयाभाव धर्म है हिंसाभाव धर्म नहीं है जिसको इसमें संदेह नहीं है उसीका निर्मल निःशंकित सम्यग्दर्शन होता है।

धम्मो वत्थुसहावो क्षमादिभावो य दसविहो धम्मो ।

रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥४७८॥ स्वा. का.

अर्थ—वस्तु का स्वभाव धर्म है, क्षमादि दसभाव धर्म हैं, रत्नत्रयधर्म है, और जीवों की रक्षा धर्म है।

मोहमयगारवेहिं य मुक्का जे करुणभाव संजुत्ता ।

ते सव्व दुरियखंभं हणंति चारित्तखग्गेण ॥१५९॥ भावपाहुड

अर्थ—जो मुनि मोह, मद, गौरव इतिकरि रहित है और करुणा भावकरि सहित है चारित्ररूपी खड्गकरि पापरूपी स्तंभ है ताहि हणे है।

सो धम्मो जत्थ दया सोवि तवो विसयणिग्गहो जत्थ ।

दस अट्टदोस रहिओ सो देवो णत्थि संदेहो ॥ नियमसार गाथा ६ की टीका

अर्थ—वह धर्म है जहाँ दया है, इसमें संदेह नहीं है।

यत्स्याप्रमादयोगेन प्राणिषु प्राणहायनम् ।
सा हिंसा रक्षणं तेवामहिंसां तु सतां मता ॥३१८॥
एका जीवदयैकत्र परत्र सकलाः क्रियाः ।
परं फलं तु सर्वत्र कृषेच्चिन्तामलेरिव ॥३६१॥ उपासकाध्ययन

अर्थ—प्रमाद के योग से प्राणियों के प्राणों का घात करना हिंसा है और उनकी रक्षा करना अहिंसा है ॥३१८॥

अर्थ—अकेली जीव दया एक ओर है और बाकी की सब क्रियाएँ दूसरी ओर हैं । अर्थात् अन्य सब क्रियाओं से जीवदया श्रेष्ठ है । अन्य सब क्रियाओं का फल खेती की तरह है और जीवदया का फल चित्तमणि के समान है ॥३६१॥

‘धर्मं शर्मकरं दयामुण्यं’ ॥७॥ आत्मानुशासन

अर्थात्—दयामयी धर्म सुख करने वाला है ।

दयादमत्यागसमाधिसंततेः पथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान् । नयत्यवश्यं वचसामगोचरं, विकल्पदूरं परमं किमप्यसौ ॥१०७॥ आत्मानु०

अर्थ—हे भव्य ! तू प्रयत्न करके सरलभाव से दया, इंद्रियदमन, दान और ध्यान की परम्परा के मार्ग में प्रवृत्त हो । वह मार्ग निश्चय से किसी ऐसे मोक्ष को प्राप्त कराता है जो वचनातीत है और समस्त विकल्पों से रहित है ।

धर्मोनाम कृपामूलं सा तु जीवानुकम्पना ।

अशरभ्यशरभ्यत्वमतौ धार्मिक-लक्षणम् ॥५१३५॥ क्षत्रबुद्धामणि

अर्थ—धर्म का मूल दया है और वह दया जीवों की अनुकम्पारूप है । अरक्षितप्राणियों की रक्षा करना ही धर्मात्मा का लक्षण है ।

सम्मतस्स पहाणो अणुकांवा वणिओ गुणो जम्हा ।

पारद्धिरमणसीलो सम्मतनिराहओ तम्हा ॥९४॥ वसु० धावकाचार

अर्थ—सम्यग्दर्शन का प्रधानगुण अनुकम्पा अर्थात् दया है, अतः शिकार खेलनेवाला मनुष्य सम्यग्दर्शन का विराधक होता है ।

पवित्रीक्रियते येन येनैवोद्धियते जगत् ।

नमस्तस्मै दयाद्रायि धर्मकल्पात्रिपायवै ॥१॥ (ज्ञानार्णव/धर्मभाषना)

अर्थ—जिसधर्म से जगत् पवित्र किया जाता है, तथा उद्धार किया जाता है और जो धर्म दयारूपी रससे आद्रित (गीला) और हरा है उस धर्मरूपी कल्पवृक्ष के लिये मेरा नमस्कार है ।

तस्मास्ति जीवलोके जिनेन्द्रदेवेन्द्रचक्रकल्याणम् ।

यत्प्राप्नुवन्ति मनुजा न जीवरक्षानुरागेण ॥५७॥ ज्ञानार्णव सर्ग ८

अर्थ—इस जगत् में जीवरक्षा के अनुराग से मनुष्य कल्याणरूप पद को प्राप्त होता है । जिनेन्द्र, देवेन्द्र, चक्रवर्ती आदि ऐसा कोई भी कल्याणपद नहीं है जो दयावान नहीं पाते ।

सूनुतं करुणाकान्तमविरुद्धमनाकुलम् ।

अग्रार्थं गौरवाश्लिष्टं वचः शास्त्रे प्रशस्यते ॥९१५॥ (ज्ञानार्णव)

अर्थ—जो वचन सत्य हों, करुणा से व्याप्त हों वे ही वचन प्रशंसनीय हैं ।

ध्याने ह्यु परते धीमान् मनःकुर्यात्समाहितम् ।

निर्वेदपदमापन्नं मग्नं वा करुणाम्बुधौ ॥९१॥ ज्ञानार्णव सर्ग ३१

अर्थ—ध्यान को पूर्ण होने पर धीमान् पुरुष मन को सावधानरूप वैराग्यपद को प्राप्त करें अथवा करुणारूपी समुद्र में मग्न करें ।

गुप्ती जोग-निरोहो समिदी यं पमाद-वञ्जणं चैव ।

धम्मो दयापहाणो सुतत्तचित्ता अणुप्पेहा ॥९७॥ स्वामि. का. संवरानुप्रेक्षा

अर्थात्—दयाप्रधानधर्म संवर का कारण है ।

श्री वीरसेनाचार्य धवल अध्यात्मग्रन्थ में करुणा को जीवस्वभाव कहते हैं ।

“करुणाए कारणं कम्मं करुणे त्ति किं न युत्तं ? न, करुणाए जीवसहावस्स कम्मजणिवत्तविरोहादो । अकरुणाए कारणं कम्मं वत्तव्वं ? न एस दोसो, संजमघादिकम्ममाणं फल भावेण तस्से अह्भुवगमादो ।”

(ध. पु. १३ पृ. ३६१-३६२)

अर्थ—करुणा का कारणभूत कर्म करुणाकर्म है, यह क्यों नहीं कहा ? नहीं, क्योंकि करुणा जीव-स्वभाव है, उस करुणा को कर्मजनित मानने में विरोध आता है । तो फिर अकरुणा का कारण कर्म कहना चाहिये ?

यह कोई दोष नहीं, क्योंकि अकरुणा संयमघाती (चारित्रमोहनीय) कर्म का फल है ।

धवल के उपर्युक्त कथन से तथा पद्मनन्दिपंचविंशति श्लोक ११९६ से स्पष्ट है कि जीवदया संयम है और संयम आत्मस्वभाव तथा संवर-निर्जरारूप है । मनुष्यपर्याय की सफलता संयम से है ।

दशलक्षण पूजन में भी जीवदया को संयम कहा है—

काय छहों प्रतिपाल, पंचेन्द्रिय मन वश करो ।

संजम रत्न संभाल, विषय चोर बहू फिरत हैं ॥

तत्त्वचर्चा में जब आर्षग्रन्थों के प्रमाण दिये गये तो सोनगढ़ वालों ने इसका निम्नप्रकार उत्तर दिया है जो विशेष विचारणीय है ।

“शास्त्रों के उपर्युक्त प्रमाण उपस्थित कर यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई है कि जीवदया को धर्म मानना मिथ्यात्व नहीं है । इसमें सन्देह नहीं कि उनमें कुछ ऐसे भी प्रमाण हैं जिनमें संवर के कारणों में दया का अन्तर्भाव हुआ है । ऐसे ही यहाँ जो अनेक प्रमाण संग्रह किये गये हैं उनके विविध प्रयोजन बतलाकर उनके द्वारा पर्यायान्तर में दया को पुण्य और धर्म उभयरूप सिद्ध किया है । ये सब प्रमाण तो लगभग बीस ही हैं । यदि पूरे जिनागम में से ऐसे प्रमाणों का संग्रह किया जाय तो एक स्वतन्त्र विशालग्रन्थ हो जाय । पर इन प्रमाणों के आधार से क्या पुण्यभावरूप दया को इतने मात्र से मोक्ष का कारण माना जा सकता है ।”

इसप्रकार सोनगढ़ वाले आर्षग्रन्थों के प्रमाणों की अवहेलना करके जिन-सिद्धांत विरुद्ध नये सिद्धान्त का प्रचार कर रहे हैं। आचार्यरचित ग्रन्थों की टीका में उन सिद्धांतों को लिख दिया है जो दि० जैनसिद्धांत के अनुकूल नहीं हैं और यह साहित्य दि० जैन धर्म पर एकप्रकार का कलंक है। इसी साहित्य के कारण अर्जनों को जैनधर्म के विषय में नाना शंकायें उत्पन्न होने लगी हैं। उपर्युक्त शंका इसका एक उदाहरण है।

जैनधर्म में दया का सर्वत्र उपदेश है और दया को मोक्ष का कारण माना गया है। दया पुण्यभाव भी है, क्योंकि यह आत्मा को पवित्र करती है।

“पुनात्यात्मानं पूथतेज्जेनेति वा पुण्यम्” (स. सिद्धि ६।३)

अर्थ—जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है वह पुण्य है।

‘दयाधर्म है’, इसलिये कहा गया है कि दया जीव को संसार दुःखों से निकालकर मोक्षसुख में धरती है। श्री समन्तभद्राचार्य ने धर्म का लक्षण इसप्रकार कहा है—

“संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ।”

अर्थात्—जो जीवों को संसार के दुःखों से निकालकर उत्तमसुख में पहुँचाता है वह धर्म है।

जिन भाइयों ने सोनगढ़साहित्य को पढ़कर ‘दयाधर्म है’, ऐसा मानना छोड़ दिया हो उनसे प्रार्थना है कि वे उपर्युक्त आर्षवाक्यों के अनुकूल अपनी यथार्थ श्रद्धा बनाने की कृपा करें।

जिसप्रकार मोक्षशास्त्र अध्याय ६ में सम्यक्त्व को बंध का कारण कहा गया है उसीप्रकार यदि करुणा को भी बंध का कारण कह दिया गया हो तो उसका यह अभिप्राय है कि करुणा तो जीव स्वभाव होने से बंध का कारण नहीं है, किन्तु निचलीअवस्था में उसके साथ जो रागांश हैं वह पुण्यबंध का कारण है।

करुणा अर्थात् जीवरक्षा संयम है और संयम बंध का कारण नहीं है वह संबं-निर्जरा का कारण है। दिगम्बरेतर-समाज में जीवदया को धर्म नहीं माना गया, उसीके संस्कारवश सोनगढ़-मोक्षशास्त्र में उपर्युक्त वाक्य लिखे गये हैं जिससे एक अर्जन को यह लिखना पड़ा कि जिनभगवान ने दया का उपदेश नहीं दिया। इसप्रकार के साहित्य के लिये ही महासभा ने बहिष्कार का निर्णय लिया है।

—जै. ग. 21-1-65/VIII/ वी. पी. शर्मा

वानर / वनमानुष

शंका—वानर, वनमानुष आदि तिर्यञ्च हैं या मनुष्य ? इनके नाम से और आकार आदि से तो इनमें मनुष्यत्व सिद्ध होता है। सप्रमाण बताइये।

समाधान—म० पु० ८/२३०-२३३ में वानर को तिर्यञ्च कहा है। वानर और मनुष्य के आकार में भी अन्तर है। वानर को किसी भी प्रकार से मनुष्य कहना उचित नहीं है। वनमानुष मनुष्य होते हैं, किन्तु वन में रहने के कारण नागरिक मनुष्यों जैसे नहीं होते हैं। उनकी बोलचाल, रहनसहन के ढंग आदि में विशेष अन्तर होता है जैसे किसी मनुष्य के बच्चे को भेड़िया उठाकर ले जावे और उसको पाल ले तो उस बच्चे की बोलचाल, रहन-सहन आदि सब भेड़िया जैसी होती है।

—जै. सं. 28-6-56/VI/ट. ला. जैन, केकड़ी

एक कुत्ते के शरीर में दो कुत्तों के जीव नहीं रह सकते

शंका—एक कुत्ते की गरदन काटकर दूसरे कुत्ते की गरदन पर जोड़ दी गई। वह कुत्ता दोनों मुंह से खाता पीता भोंकता है, ऐसा रूती समाचार है। एक वृक्ष की डाली काटकर दूसरे वृक्ष पर लगा दी जाती है फल भी आते हैं। गर्दन कटे कुत्ते की आत्मा क्या दूसरे कुत्ते में प्रवेश कर गई। या दोनों कुत्तों की आत्मार्थे एक शरीर में जुड़ गई ? यदि सम्पूर्ण कुत्ते की आत्मा गर्दन में ही रह गई तो किस कर्म के उदय से क्या हुआ ?

समाधान—जिस कुत्ते की गर्दन काटी गई, उस कुत्ते की आत्मा तो मृत्यु को प्राप्त हो गई और कर्मोद्भय अनुसार अन्य पर्याय में उत्पन्न हो गई। जिस कुत्ते के यह गर्दन जोड़ी गई उस कुत्ते के आत्मप्रवेश इस गर्दन में प्रवेश कर गए। दोनों मुंह में एक ही कुत्ते की आत्मा है। संसारी जीव के प्रदेशों में संकोच-विस्तार करने की शक्ति है अतः उस कुत्ते की आत्मा के प्रदेशों का दूसरी गर्दन में प्रवेश करने में कोई बाधा नहीं है। जिस वृक्ष की डाली काटी गई है उस वृक्षके आत्मप्रवेश उस डाली में से निकलकर और संकुचित होकर उस वृक्ष में ही समा गये। जिस वृक्ष पर वह डाली लगाई गई है उस वृक्ष के आत्मप्रवेश विस्तार करके उस डाली में प्रवेश कर गए अथवा एक वृक्ष में नाना एकेन्द्रिय जीव भी रह सकते हैं, किन्तु एक कुत्ते के शरीर में दो कुत्तों के जीव नहीं रह सकते।

—जै. सं. 1-1-59/V/ सिट्टेमल जैन, सिरौज

१. कानजी स्वामी के जन्म के समय इन्द्र का आसन कम्पायमान नहीं हुआ, न ही जन्मोत्सव हुआ

२. पंचमकाल में सम्यग्दर्शित जन्म नहीं लेता

शंका—गुजराती आत्मधर्म ज्येष्ठ। बी. नि. सं. २४७४ में यह लिखा है कि जिससमय गुरुदेव भी कानजीस्वामी का जन्म हुआ उससमय स्वर्गलोक में इन्द्र का आसन कम्पायमान हुआ और देवों ने जन्मोत्सव मनाया। इसप्रकार का डामा भी सोनगढ़ में खेला गया। क्या वर्तमान में जम्बूद्वीप, भरतक्षेत्र, आर्यखंड में ऐसा कोई विशिष्टपुरुष जन्म ले सकता है कि जिसका जन्मोत्सव देव स्वर्गलोक में मनावें ? क्या पंचमकाल में सम्यग्दर्शित जीव जन्म ले सकता है ?

समाधान—वर्तमानकाल हूँडा अवसर्पणी का पंचम दुःखमकाल है। भरतक्षेत्र में इसकाल में सम्यग्दर्शित या विशेष पुण्यशालीजीवों का जन्म नहीं होय है। मिथ्यादृष्टिजीवों का ही जन्म होय है। अतः ऐसे जीवों के जन्म के समय स्वर्ग में देवों ने जन्मोत्सव मनाया हो या इन्द्र का आसन कम्पायमान हुआ हो असम्भव व आगमविरुद्ध है। श्री रत्नकरण्ड आवकाचार की टीका में पंडितवर सदासुखदासजी ने लिखा भी है—‘इस दुःखमकाल में जे मनुष्य उपजे हैं’ ते पूर्वजन्म में मिथ्यादृष्टि, अत-संयमरहित होय ते भरत क्षेत्र में पंचमकाल के मनुष्य होय हैं अर कोऊ मिथ्याधर्मी कुतप, कुदान, मन्दकषाय प्रभाव सूं आवें सो राज्य ऐश्वर्य धनभोग सम्पदा नीरोगता पाय अल्पआयु इत्यादिक भोग पाप-उपार्जन करनेवाले अन्याय-अभक्ष्य मिथ्यामार्ग में प्रवर्तनकरि संसारपरिभ्रमण करें हैं।’ सम्यग्दर्शन के विषय में श्री समन्तभद्रस्वामि ने इसप्रकार कहा है—‘जो व्रती नहीं है और सम्यग्दर्शन करके शुद्ध हैं वे नरकगति को, तिर्यचगति को, नपुंसकपने को, स्त्रीपने को, दुष्कुल को, रोग को, अल्पायु को और दरिद्रता को नहीं प्राप्त होते हैं। सम्यग्दर्शन से सहित प्राणी मरकर मनुष्यों में तिलक के समान श्रेष्ठ (राजा) होते हैं।’ अतः श्री कानजीस्वामी का जन्म मिथ्यात्वसहित मिथ्यात्वकुल में हुआ, अतः उनके जन्म के समय इन्द्र का आसन कम्पायमान होना या स्वर्ग में जन्मोत्सव होना असम्भव है।

—जै. सं. 6-11-58/V/सट्टदारमल जैन, सिरौज

विभिन्न अनुयोगों की अपेक्षा परिग्रह की व्याख्या

शंका—भरत महाराज के पास में तीन खण्ड की सामग्री तथा छियानवे हजार स्त्रियाँ होते संते उनको वैरागी कौनसा अनुयोग कहता है ? और एक भिखारी के पास में परिग्रह नहीं है तो भी उनको महापरिग्रहधारी कौनसा अनुयोग कहता है ?

क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य और सुवर्ण आदि दस प्रकार का परिग्रह कौनसे अनुयोग की अपेक्षा से किया गया है और मूर्च्छा परिग्रह कौन से अनुयोग की अपेक्षा से किया है ?

समाधान—भरतजी महाराज चक्रवर्ती थे अतः वे तीनखण्ड के नहीं, किन्तु भरतक्षेत्र के छहों खण्डों के राजा थे। भरतजी महाराज सम्यग्दृष्टि थे, वे बाह्य परिग्रह में लीन नहीं थे। इस अपेक्षा से प्रथमानुयोग में उनको वैरागी (वीतरागी) कहा है। मो० मा० प्र० अ० ८ में इसप्रकार कहा है—“बहुरि कहीं जो शब्द का अर्थ होता होई सो तो न ग्रहण करना। अर तहाँ जो प्रयोजनभूत अर्थ होय सो ग्रहण करना जैसे कहीं किसी का अभाव कह्या होय अर तहाँ किंचित् सद्भाव पाइए, तो तहाँ सर्वथा अभाव ग्रहण न करना। किंचित् सद्भाव कौ न गिण अभाव कह्या है, ऐसा अर्थ जानना। सम्यग्दृष्टि के रागादिक का अभाव कह्या तहाँ ऐसा अर्थ जानना।” भिखारी के पास परिग्रह न होते हुए भी परिग्रह की इच्छा अधिक है अतः उसको प्रथमानुयोग, चरणानुयोग आदि ग्रन्थों में परिग्रही कहा है।

क्षेत्र, वास्तु आदि को और मूर्च्छा को परिग्रह, चरणानुयोग कहता है। सर्वाधिसिद्धि अ० ७ सू० १७ में कहा है मूर्च्छा परिग्रहः ॥१७॥ का मूर्च्छा ? बाह्यानां गोमहिषमणिमुक्ताफलादीनां चेतनाचेतनानामाभ्यन्तराणां च रागादीनामुपाधिनां संरक्षणार्जनसंस्कारादिसंक्षणाध्यावृत्तिमूर्च्छा। अर्थ—मूर्च्छा परिग्रह है ॥१७॥ मूर्च्छा क्या है ? गाय, भैंस, मणि और मोती आदि चेतन-अचेतन बाह्यउपाधि का तथा रागादिरूप आभ्यन्तर उपाधि का संरक्षण, अर्जन और संस्कार आदि व्यापार ही मूर्च्छा है। क्षेत्र, वास्तु आदि बाह्यपदार्थ मूर्च्छा के आश्रयभूत हैं अतः इनको भी परिग्रह कहा है और इनका निषेध किया है। कहा भी है—तहि किमर्थो बाह्यवस्तुप्रतिषेधः। अध्यवसान प्रतिषेधार्थः। अध्यवसानस्य हि बाह्यवस्तु आश्रयभूतं। न हि बाह्यवस्त्वनाधिस्थ अध्यवसानमात्मनं लभते। अर्थ—बाह्यवस्तु का निषेध किसलिये किया जाता है ? अध्यवसान के निषेध के लिये बाह्यवस्तु का निषेध किया जाता है। अध्यवसान को बाह्यवस्तु आश्रयभूत है, बाह्यवस्तु का आश्रय किये बिना अध्यवसान अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं होता (उत्पन्न नहीं होता)।

—जै. सं. 23-5-57 /..../०।न. इया. मण्डल, कुषामन

धर्म से वास्तविक शान्ति तथा भोग-सामग्री दोनों मिलते हैं

शंका—धर्म से क्या वास्तविक शान्ति ही मिलती है, भोग सामग्री क्या नहीं मिलती ?

समाधान—धर्म से वास्तविक शान्ति तो मिलती ही है, किन्तु भोग सामग्री भी मिलती है। जिन भावों से मोक्षसुख मिलता है उन भावों से स्वर्गसुख मिलना तो कोई कठिन बात नहीं है। जिसमें दो कोस ले चलने की शक्ति है वह आधा कोस तो सुखपूर्वक ले चल सकता है। कहा भी है—

‘यत्र भावः शिवं वस्ते धीः कियद्दूरवतिनी ।

यो न्यस्याशु गम्यति क्रोशार्थे किं सीदति ? ॥४॥’ (इष्टोपदेश)

इसीप्रकार तत्त्वानुशासन में भी कहा है—

‘ध्यातोऽर्हस्तिद्रूपेण चरमाङ्गस्य मुक्तये ।
तद्व्यानोपासपुण्यस्य स एवान्यस्य भुक्तये ॥१९४॥’

अर्थात्—अरहन्त और सिद्ध के रूप में ध्याया गया यह आत्मा, चरमशरीर धारण करनेवाले की मुक्ति देने में समर्थ होता है और जो चरमशरीर नहीं है, किन्तु उसध्यान से जिसने पुण्य पैदा किया है उसे भुक्ति (भोगों को) देनेवाला होता है। इसीप्रकार मूलाक्षर अधिकार ५ तथा ३८ में कहा है।

—जौ. सं 4-12-58/V/ रामदास कंठाना

आगम व प्रत्यक्ष प्रमाण से पुनर्जन्म सिद्ध है

शंका—पुनर्जन्म है यह ठीक कैसे मानें ? कोई प्रमाण हो तो बताओ।

समाधान—किसी भी असत्द्रव्य का उत्पाद व सत्द्रव्य का व्यय नहीं होता, किन्तु द्रव्यसत् रहते हुए भी अपनी अवस्था में परिणमन करता रहता है। श्री पंचास्तिकाय में कहा भी है—

उत्पत्तीव विनासो द्रव्यस य नत्थि अत्थि सवभावो ।
विगमुत्पादधुवत्तं करंति तस्सेव पजजाया ॥११॥
भावस्स नत्थि नासो नत्थि अभावस्स चेव उत्पादो ।
गुणपज्जयेसु भावा उत्पादवए पकुब्धंति ॥१५॥
मण्डुसत्तरेण णट्ठो देही ह्वेदि इवरो वा ।
उभयत्त जीवभावो ण अस्सदि ण जायदे अण्णो ॥१७॥

अर्थ—द्रव्य का उपजना अथवा विनाश नहीं है सत्तामात्र स्वरूप है। तिसही द्रव्य के परिणाम उत्पाद, व्यय, धीव्य को करते हैं। सत् रूप पदार्थ का नाश नहीं है और अवस्तु का उपजना नहीं है। जो पदार्थ है वह गुणपर्यायों में ही उत्पाद और व्यय को करते हैं। मनुष्यपर्याय का विनाश होकर जीव देवपर्यायरूप परिणमता (उत्पन्न होता या जन्मता) है। दोनों पर्यायों में जीव ही है। अन्य कुछ न नाश है और न जन्म है।

वर्तमान विज्ञान ने भी यही स्वीकार किया है कि सत् का व्यय नहीं और असत् का उत्पाद नहीं है। समाचारपत्रों में ऐसे अनेक समाचार प्रकाशित होते हैं कि अमुक बालक ने अपने पहले भव की बातें बतलाई जो सत्य हुईं। १९४९ के समाचार पत्रों में परमानन्द के विषय में प्रकाशित हुआ था जिसकी सहारनपुर व मुरादाबाद में सोडा फेक्ट्री थी, मरकर बरेली में एक प्रोफेसर के पुत्र उत्पन्न हुआ। वह मुरादाबाद व सहारनपुर आया और अपने मकान, भाई, स्त्री, पुत्र, मित्र, मिस्त्री आदि को पहचान लिया। यह सब प्रत्यक्ष देखा गया है।

अतः आगम प्रमाण व प्रत्यक्ष प्रमाण से पुनर्जन्म सिद्ध है।

—जौ. सं. 30-1-58/VI/मनोहर राजाराम घोड़के, परलीबंजनभय

देशभूषण व कुलभूषण की मूर्ति बन सकती है ? वह पूजनीय है

शंका—तीर्थंकरों के सिवा क्या किसी मोक्षगामी की मूर्ति नहीं बनाई जा सकती ? यदि नहीं तो सिद्धक्षेत्र कुंवलगिरि क्षेत्र पर श्री १००८ देशभूषण और कुलभूषण की मूर्ति कैसे बनाई गई ?

समाधान—श्री अरहंत भगवान की प्रतिमा स्थापित हो सकती है और होती है। श्री देशभूषण व कुलभूषण भी अरहंत हुए हैं अतः उनकी भी प्रतिमा हो सकती है। श्री सिद्धभगवान की प्रतिमा भी होती है। श्री देशभूषण व कुलभूषण इससमय सिद्धअवस्था को प्राप्त हैं अतः उनकी प्रतिमा बन सकती है और वह पूजनीय है।

—जै. सं. 30-1-58/VI/मनोहर राजाराम घोड़के परली बेदनाथ (बीड़)

मूर्ति-निर्माण

शंका—धातु की ५ इंच पद्यासन मूर्ति गृहस्थ के चैत्यालय में प्रतिष्ठा कराके विराजमान की जाती है या नहीं ? क्योंकि आजकल इंचों के प्रमाण से ही मूर्तियाँ बनाई जाती हैं।

समाधान—प्रतिमा अंगुल के प्रमाण से बनती चाहिए। गृह चैत्यालय में १, ३, ५, ७, ९ व ११ अंगुल की प्रतिमा विराजमान हो सकती है। एक अंगुल ३/४ इंच का होता है, अतः प्रतिमा ७ अंगुल अर्थात् ५ ३/४ इंच की होनी चाहिए, पाँच इंच की नहीं।

—जै. सं. 24-5-56/VI/ अ. ना. ऋषभदेव

ईश्वर / मूर्तिपूजा

शंका—ईश्वर निराकार है तो फिर उन्हें आकार देकर अर्थात् उनकी मूर्ति बनाकर क्यों पूजा जाता है ?

समाधान—आकार का अर्थ मूर्तिक है। स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णसहित को मूर्तिक कहते हैं। ईश्वर अर्थात् सिद्ध भगवान के कर्मों का सम्बन्ध नहीं रहा है अतः वे सर्वप्रकार से अमूर्तिक हो गये हैं। अमूर्तिक हो जाने के कारण सिद्धभगवान को अमूर्तिक कहा है। अथवा सिद्धभगवान अनन्त हैं और उनका आकार भिन्न-भिन्न है। कोई एक प्रतिनियत आकार नहीं है। इसप्रकार ईश्वर का कोई एक नियत आकार नहीं कहा जा सकता। इस अपेक्षा से भी ईश्वर को अनिदिष्ट संस्थान अर्थात् निराकार कहा है, किन्तु हर एक तीर्थंकर भगवान का आकार है, क्योंकि बिना आकार के किसी भी द्रव्य की सत्ता नहीं होती है। उन तीर्थंकर भगवान की मूर्ति में स्थापना करके मूर्ति की पूजा की जाती है। जिनेन्द्र भगवान की मूर्ति की यथार्थपूजा से परिणामों में विशुद्धता आती है, परिणाम निर्मल होते हैं। उन आत्म परिणामों के निमित्त से कर्मों की निर्जरा होती है।

—जै. सं. 2-8-56/VI/नि. कु. ज्ञमरीतलैया

प्रतिमा पर चिह्न-निर्णय का आधार

शंका—भगवान की प्रतिमा पर चिह्न किस आधार पर बनाये गये ?

समाधान—अभिधान चिन्तामणि (हेमकोश) में इन चिह्नों को तीर्थंकरों की ध्वजाओं के चिह्न बताया है तथा भाष्य में यह और विशेष बताया है कि ये चिह्न तीर्थंकरों के दक्षिण अंग में होते हैं। (पृ० १७, काण्ड १,

श्लोक ४७-४८) । पूजासार समुच्चय ग्रन्थ में भी इन चिह्नों को ध्वजा के चिह्न ही प्रतिपादन किया है । जो मूर्तियाँ बिना चिह्नों की होती हैं, वे तीर्थकरों से भिन्न सामान्य केवलियों की होती हैं । अनेकान्त वर्ष १, किरण २ में पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने भी लिखा है कि “यह मानना ज्यादा भ्रष्टा होगा कि ये चिह्न तीर्थकरों की ध्वजाओं के चिह्न हैं और शायद इसी से मूर्ति के किसी अंग पर न दिए जाकर आसन पर दिये जाते हैं ।” चर्चा समाधान में पं० भूधरदासजी ने लिखा है कि “तीर्थङ्कर के दाहिने पाँव में जो चिह्न जन्म से ही सौई प्रतिमा के आसन विषे जानता”

जम्भणकाले जस्स दु दाहिण पायम्मि होई जो चिह्णं ।
तं लक्खण पाउत्तं, आगमसुत्तेसु जिणदेहं ॥

—जं. सं. 21-11-57/ प. ला., अम्बाला

महापुराण, हरिवंशपुराण आदि प्रामाणिक हैं

शंका—महापुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण आदि ग्रन्थ प्रामाणिक हैं या नहीं । बहुत से व्यक्ति इनको प्रामाणिक नहीं मानते । क्या यह ठीक है ?

समाधान—महापुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण प्राचीन प्रामाणिक वीतराग आचार्यों द्वारा विरचित हैं, अतः प्रामाणिक हैं । अन्य ग्रन्थ भी जो प्राचीन प्रामाणिक वीतराग आचार्य द्वारा रचे गये हैं वे सब प्रामाणिक हैं । आगमविरुद्ध युक्ति होती नहीं है, क्योंकि वह युक्त्याभासरूप होगी । (ण च सुत्तविरुद्धानुत्ती होदि तिस्से सुत्तिया-भासत्तादी । षट्खण्डागम पु० ९ पृ० ३२) । जो व्यक्ति इन ग्रन्थों को प्रामाणिक नहीं मानते वे स्वयं विचार करें कि उनकी यह मान्यता कहाँ तक ठीक है ?

—जं. सं. 9-1-58/VI/ ला. घ. नाहटा, केकड़ी

आगम/प्रामाणिक और अप्रामाणिक

शंका—आगम की प्रामाणिकता, अप्रामाणिकता का निर्णय कैसे होता है ?

समाधान—प्रमाण के अनेक भेदों में से आगम भी प्रमाण का एक भेद है । (परीक्षामुख अ. ३ सू. २) मोक्षमार्ग में आगम की सर्वोत्कृष्ट आवश्यकता है । क्योंकि मुक्ति का कारणीभूत जो तत्त्वज्ञान है वह आगमज्ञान से प्राप्त होता है । कहा भी है—सब प्राणी शीघ्र ही यथार्थ सुखको प्राप्त करने की इच्छा करते हैं । सुख की प्राप्ति समस्त कर्मों का क्षय हो जाने पर होती है, कर्मों का क्षय व्रतों से होता है । वे सम्यक् व्रत सम्यग्ज्ञान के अधीन हैं । सम्यग्ज्ञान आगम से प्राप्त होता है । (आत्मानुशासन श्लोक ९)

श्रमण रत्नत्रय की एकाग्रता को प्राप्त होते हैं । किन्तु वह एकाग्रता स्व-पर पदार्थ के निश्चयवान के होती है । पदार्थों का निश्चय आगम द्वारा होता है । इसलिये आगम अभ्यास मुख्य है । (प्र. सा. गा. २३२) आगम हीन श्रमण निज पर को नहीं जानता । पदार्थों को नहीं जानता हुआ भिक्षु कर्मों का किस प्रकार क्षय कर सकता है । (प्र. सा. गाथा २३३) इसीलिए साधुओं को आगम चक्षु वाले कहा है । क्योंकि केवलज्ञान की सिद्धि के लिए भगवन्त श्रमण आगम-चक्षु होते हैं । (प्र. सा. गाथा २३४)

आगम का लक्षण :

जो केवलज्ञानपूर्वक उत्पन्न हुआ है, प्रायः अतीन्द्रिय पदार्थों को विषय करने वाला है, अचिन्त्य स्वभावी है और युक्ति के विषय से परे है, उसका नाम आगम है (धवल पु० ६ पृ० १५१)

कौनसा आगम प्रमाण है :

जिस आगम का दोष और आवरण से रहित अरहंत परमेष्ठी ने अर्थरूप से व्याख्यान किया है, जिसको निर्मल बुद्धिरूप अतिशय से युक्त और निर्दोष गणधरदेव ने धारण किया है, जो ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न गुरुपरम्परा से चला आ रहा है; जिसका पहले का वाच्यवाचक भाव अभी तक नष्ट नहीं हुआ है और जो दोषावरण से रहित तथा निष्प्रतिपक्ष सत्य स्वभाववाले पुरुष के द्वारा व्याख्यात होने से श्रद्धा के योग्य है; ऐसे आगम की आज भी उपलब्धि होती है। कालसम्बन्धी ज्ञान-विज्ञान से सहित होने के कारण प्रमाणाता को प्राप्त आचार्यों द्वारा इसके अर्थ का व्याख्यान किया गया है। इसलिये आधुनिक आगम भी प्रमाण है। (धवल पु० १ पृ० १९६-१७) गणधरदेव ने जिनकी ग्रन्थरचना की, ऐसे अंग आचार्यों परम्परा से नित्य चले आ रहे हैं। परन्तु काल के प्रभाव से उत्तरोत्तर क्षीण होते हुए आ रहे हैं। अतएव जिन आचार्यों ने आगे श्रेष्ठ बुद्धि वाले पुरुषों का अभाव देखा, जो स्वयं अत्यन्त पापभीरु थे, और जिन्होंने गुरु परम्परा से श्रुतार्थ ग्रहण किया है या तीर्थ-विच्छेद के भय से उस समय अवशिष्ट रहे हुए अंग सम्बन्धी अर्थ को पोथियों में लिपिबद्ध किया है, अतएव उनमें असूत्रपना नहीं आ सकता है। अतः आगम की प्रमाणाता के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसका कर्ता आचार्य हो और उसको गुरु-परम्परा से श्रुतार्थ प्राप्त हुआ हो। यदि इन दोनों में से एक की भी कमी है तो वह ग्रन्थ आगम या प्रमाणाता की कोटि को प्राप्त नहीं हो सकता।

अप्रामाणिक ग्रन्थ :

जो ग्रन्थ आचार्यों द्वारा नहीं रचे गए हैं अथवा उन आचार्यों द्वारा रचे गये हैं, जिनको गुरु परम्परा से श्रुतार्थ प्राप्त नहीं हुआ है, अथवा आर्ष-परम्परा के विच्छेद हो जाने के पश्चात् रचे गए हैं, वे ग्रन्थ प्रमाणाता को कैसे प्राप्त हो सकते हैं? वीतरागता और विज्ञानता से पुरुष में प्रमाणाता आती है। इसीलिए उन आचार्यों को प्रामाणिक माना है जिन्होंने गुरु परम्परा से श्रुतार्थ ग्रहण किया है।

श्रीमान् पं० राजमलजी, श्रीमान् पं० टोडरमलजी, श्रीमान् पं० आशाधरजी आदि सम्भव है अपने समय के उच्चकोटि के विद्वान् हों, किन्तु न तो वे आचार्य थे और न आर्ष परम्परा से उन्होंने श्रुतार्थ ग्रहण किया था। इसलिए वे प्रमाणा पुरुष नहीं थे। अतएव उनके द्वारा रचे गए स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रमाण कोटि को प्राप्त नहीं हो सकते हैं। यदि स्वार्थवश या पक्षपातवश उनके ग्रंथों को प्रमाण मान लिया जावेगा, तो आजकल मुनियों, क्षुल्लकों, ब्रह्मचारी तथा पण्डितों द्वारा रचे गए ग्रंथों को क्यों न प्रमाणाता प्राप्त होगी, इतना ही नहीं शंखनादी, श्री स्वामी दयानन्द आदि द्वारा रचित ग्रंथों को भी प्रमाणाता का प्रसंग आ जावेगा, क्योंकि उन्होंने भी जैन आगम को पढ़ा था। कहा भी है—वक्ता की प्रमाणाता से वचन में प्रमाणाता आती है। इस न्याय के अनुसार अप्रामाणभूत पुरुष के द्वारा व्याख्यात किया गया आगम अप्रामाणाता को कैसे नहीं प्राप्त होगा। अर्थात् अवश्य प्राप्त होगा (धवला पु० १ पृ० १९६)। आर्षपरम्परा के विच्छेद को या अप्रमाण वचन रचना को आर्षपना प्राप्त नहीं हो सकता।

पंचाध्यायादि ग्रंथ आचार्यों द्वारा नहीं रचे गए और न उनके कर्ताओं को गुरुपरम्परा से उपदेश प्राप्त हुआ था, इसी कारण यह ग्रन्थ प्रामाणिक नहीं है। दूसरे इन ग्रंथों में एक स्थल पर ही नहीं, किन्तु अनेक स्थलों पर आगम अनुसार कथन नहीं पाया जाता। अपितु धवल आदि व नयचक्र आदि आगम ग्रन्थों के विरुद्ध कथन

पाया जाता है। यदि उनका उल्लेख किया जावे तो एक पुस्तक बन जावेगी। अतः जिनमें अनेक स्थलों पर आगम अनुसार कथन नहीं हैं, वे ग्रन्थ प्रामाणिक कैसे हो सकते हैं? प्रामाण्यता आगम की है। आशा है कि विद्वत्परिषद् इन ग्रंथों का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन कर और आचार्य-रचित आगम से मिलान करने के पश्चात् इनके सम्बन्ध में निष्पक्ष और निःस्वार्थ भाव से अपने विचार प्रकट करने की कृपा करेगी।

आचार्यरचित ग्रन्थ प्रामाणिक हैं

शंका—जिसप्रकार आजकल अनेक मुनि व आचार्य शिषिलाचारी हैं, क्या यह नहीं हो सकता कि ८००-१००० वर्ष पूर्व भी कोई आचार्य ब्रह्मालिंगो रहे हों, ऐसे आचार्य द्वारा रचित ग्रन्थ आगम की कोटि में कैसे? क्यों न केवल तीर्थंकर और श्रुतकेवली की रचना ही प्रामाणिक मानी जाय ?

समाधान—तीर्थंकर की दिव्यध्वनि प्रामाणिक है क्योंकि वह केवलज्ञान का कार्य है। 'तस्य ज्ञानकार्यत्वात्' धवल १ पृ० ३६८। इस दिव्यध्वनि के आधार से श्री गणधरदेव ने द्वादशाङ्ग की रचना की। इस द्वादशाङ्ग का उपदेश गुरुपरम्परा से आचार्यों को प्राप्त हुआ और उस उपदेश के अनुसार ग्रंथों की रचना हुई। श्री समयसार गाथा ५ की टीका में भी श्री अमृतचन्द्राचार्य ने 'निर्मल विज्ञानघनांतरनिमग्नपरापरप्रसादीकृतशुद्धात्मतत्त्वानुशासन जन्मा' इन शब्दों द्वारा यह बतलाया है कि सर्वज्ञदेव और गणधरदेव से लेकर अपने गुरु पर्यंत जो उपदेश तथा पूर्व आचार्यों के अनुसार जो उपदेश है, उससे मेरे ज्ञानका जन्म हुआ है उस ज्ञान से ग्रंथ की रचना श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने की है। पूर्व आचार्यों के परम्परा से प्राप्त उपदेश अनुसार ग्रंथों की रचना की है अतः वे प्रामाणिक हैं।

श्री वीरसेनाचार्य ने भी कहा है।

'नाप्यार्षसन्ततेविच्छेदो विगतदोषावरणार्हद्व्याख्यातार्थस्यार्षस्य चतुरमलबुद्ध्यतिशयोपेतनिर्दोषगणभृदव-धारितस्य ज्ञानविज्ञानसम्पन्नगुरुपर्वक्रमेणायतस्याविनष्टप्राक्तनवाच्यवाचकभावस्य विगतदोषावरणनिष्प्रतिपक्षसत्य-स्वभावपुरुषव्याख्यातत्वेन, श्रद्धाप्यमानस्योपलंभात्। अप्रमाणमिदानीन्तन आगमः आरातीय पुरुषव्याख्यातार्थस्वाविति चेन्न, ऐवंयुगीनज्ञानविज्ञानसम्पन्नतया प्राप्तप्रमाण्याचार्यव्याख्यातार्थत्वात्। कथं छद्मस्थानां सत्यवादित्वमिति चेन्न, यथाश्रुतव्याख्यातृणां तद्विरोधात्। धवल १ पृ० १९६-१९७

अर्थ—आर्षपरम्परा का विच्छेद भी नहीं है, क्योंकि, जिसका दोष और आवरण से रहित अरहंत परमेष्ठी ने अर्थरूप से व्याख्यान किया है, जिसको चार निर्मल बुद्धिरूप अतिशय से युक्त और निर्दोष गणधरदेव ने धारण किया है, जो ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न गुरुपरम्परा से चला आ रहा है, जिसका पहले का वाच्य-वाचक अभी तक नष्ट नहीं हुआ है और जो दोषावरण से रहित तथा निष्प्रतिपक्ष सत्यस्वभाववाले पुरुष के द्वारा व्याख्यात होने से श्रद्धा के योग्य है ऐसे आगम की आज भी उपलब्धि होती है। यदि कहा जाय कि आधुनिक आगम अप्रामाण्य है, क्योंकि अर्वाचीन पुरुषों ने इसके अर्थ का व्याख्यान किया है। यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस कालसम्बन्धी ज्ञान-विज्ञान से सहित होने के कारण प्रामाण्यता को प्राप्त आचार्यों के द्वारा इसके अर्थ का व्याख्यान किया गया है, इसलिये आधुनिक आगम भी प्रामाण्य है। यदि यह शंका की जाय कि छद्मस्थों के सत्यवादीपना कैसे माना जा सकता है? तो यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि श्रुत के अनुसार व्याख्यान करनेवाले आचार्यों के प्रामाण्यता मानने में कोई विरोध नहीं है।

आचार्यों के सत्यमहाव्रत होता है अतः उनके असत्यभाषण का अभाव होता है, इसलिये असत्यभाषण का अभाव भी आगम की प्रामाण्यता का ज्ञापक है—'तद्भावो वि आगमस्स पमाणं जाणावेवि।' धवल पु. ९ पृ. १०९।

जिनके इतनी भी कषाय कम नहीं हुई कि असत्यभाषण का सर्वथा त्यागकर महाव्रत ग्रहण कर सकें ऐसे गृहस्थों के वचन कैसे प्रमाणकोटि को प्राप्त हो सकते हैं ? कहा भी है—

‘ण च राग-दोष मोहोवहो जहुत्तस्थपरुवओ, तत्थ सच्चवयणणियमाभावाओ ।’

अर्थात्-राग-द्वेष व मोह से युक्त जीव यथोक्त अर्थों का प्ररूपक नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें सत्यवचन के नियम का अभाव है । (धवल पु० ९ पृ० १२७) ।

रागादिदोषाकुलमानसेयं ग्रन्थः कियंते विषयेषु लोलैः ।

कार्याः प्रमाणं न विचक्षणैस्ते जिघृक्षुभिर्धर्ममगर्हणीयम् ॥३१॥

अर्थ—रागादि दोषनिकर व्याकुल और विषयनिविर्ष चंचल जो पुरुष (गृहस्थ) तिनकर जे ग्रन्थ कहिये हैं ते ग्रन्थ अनिष्ट धर्म कूं ग्रहण करने के बाँछक प्रवीण पुरुषनिकर प्रमाण करना योग्य नहीं ।

—अमितगति भावकाधार १।३९

द्रव्यआगम राग-द्वेष, भय से रहित आचार्यपरंपरा से आया हुआ है, इसलिये उसे अप्रमाण मानने में विरोध आता है (ज. ध. १ पृ. ८३) । वक्ता की प्रमाणता से वचन की प्रमाणता होती है । ऐसा न्याय होने से आचार्यों के व्याख्यान और उनके द्वारा उपसंहार किया गया ग्रन्थ प्रमाण है, अन्यथा अतिप्रसंग दोष आजायगा । (ज० ध० पु० १ पृ० ८५) ।

—जं. ग. 6-12-65/VIII/ र. ला. वॉन, मेरठ

पंचाध्यायी के प्रणेता पं० राजमल्लजी हैं

शंका—पंचाध्यायी कौन से आचार्यकृत है ?

समाधान—पंचाध्यायी किसी आचार्य की वृत्ति नहीं है, किन्तु इसके कर्ता कवि राजमल्लजी हैं । इसमें सन्देह का कोई स्थान नहीं है ।

श्री पं० राजमल्लजीकृत लाटीसंहिता का पंचाध्यायी से निकट का सम्बन्ध है । सम्यक्त्व के प्रकरण के सैंकड़ों श्लोक लाटीसंहिता और पंचाध्यायी दोनों में एकसे हैं । कुछ दूसरे श्लोक भी मिलते-जुलते हैं । यह सादृश्य पंचाध्यायी के दूसरे अध्याय के ३७२ वें श्लोक और लाटीसंहिता के तीसरे सर्ग के २७ वें श्लोक से चालू होकर पंचाध्यायी के ३९९ वें श्लोक पर और लाटीसंहिता के ५४ वें श्लोक पर समाप्त होता है । इसके पश्चात् पंचाध्यायी के ४१० वें श्लोक से और लाटीसंहिता के ५५ वें श्लोक से यह सादृश्य चालू होकर पंचाध्यायी के ४३४ वें श्लोक पर और लाटीसंहिता के ७९ वें श्लोक पर पूरा होता है । पंचाध्यायी के श्लोक ४३५-४३६ तथा लाटीसंहिता के श्लोक ८० व ८१ ये दो श्लोक एकसे हैं । पंचाध्यायी के ४३९ वें श्लोकसे और लाटीसंहिता के ८२ वें श्लोकसे पुनः सादृश्य चालू होकर पंचाध्यायी के ४७६ वें श्लोक पर और लाटीसंहिता के ११९ वें श्लोक पर समाप्त होता है । आगे पंचाध्यायी के ४७७ वें श्लोकसे और लाटीसंहिता के चौथे अध्याय के प्रथमश्लोक से यह सादृश्य चालू होकर पंचाध्यायी के ७२० वें श्लोक पर और लाटीसंहिता के २४२ वें श्लोक पर समाप्त होता है । पंचाध्यायी में ७४३ वें श्लोक से और लाटीसंहिता के २४३ वें श्लोक से यह सादृश्य चालू होकर पंचाध्यायी के ७७१ वें श्लोक पर और लाटीसंहिता के २७२ वें श्लोक पर समाप्त होता है । आगे पंचाध्यायी में ७७२ वें श्लोक से और लाटीसंहिता में २७६ वें श्लोक से यह सादृश्य चालू होकर पंचाध्यायी में ८१७ वें श्लोक पर और लाटीसंहिता में ३२२ वें श्लोक पर समाप्त होता है ।

विशेष के लिये 'बीर' नामक पत्र के वर्ष ३ अंक ११-१२ में श्री जुगलकिशोरजी मुस्तार का लेख देखना चाहिए। इस लेख के प्रकाशित हो जाने के पश्चात् पंचाध्यायी के कर्ता विषयक भ्रम दूर हो गया है और यह निर्विवाद मान लिया गया है कि पंचाध्यायी के कर्ता श्री पं० राजमलजी ही हैं।

—जं. ग. 13-7-72/VII/ ता. घ. म. कु.

उपसर्ग आदि के समय देवों द्वारा रक्षा का हेतु

शंका—किसी को दुःख सुख हो रहा है, क्या देव उसको अवधिज्ञान द्वारा जान जाते हैं? तब जो रक्षार्थ आते हैं तो क्या पहले जन्म के सम्बन्ध से आते हैं या कोई और कारण है?

समाधान—दूसरे जीवों को जो सुख-दुःख हो रहा है, देव उसको अवधिज्ञान द्वारा जान सकते हैं। पूर्वभवं के सम्बन्ध से भी देव उस जीव की रक्षार्थ आ सकता है। और अन्य कारणों से भी आ सकता है। कोई एकान्त नियम नहीं है। जैसे देव का करुणाभाव, उस जीव का पुण्य उदय आदि अनेक कारण हो सकते हैं।

—जं. ग. 17-7-67/VI/ ज. घ. म. कु.

तीर्थंकर व सामान्य केवली की प्रतिमा में अन्तर

शंका—चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमा में और केवली की प्रतिमा में कुछ अन्तर है या नहीं?

समाधान—चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमाओं पर उनके चिह्न होते हैं, किन्तु सामान्यकेवली की प्रतिमा पर कोई चिह्न नहीं होता है। तीर्थंकरकेवली व सामान्यकेवली दोनों अर्हन्त होते हैं अतः दोनों की अर्हन्त प्रतिमा का आकार होता है।

—जं. सं. 17-1-57/VI/ व. वा. इजारीबाग

धवला के द्रव्यप्रमाणानुगम में निर्दिष्ट संख्या उत्कृष्टतः है

शंका—धवला पु० ३ द्रव्यप्रमाणानुगम में जो संख्याएँ दी गई हैं वे नियत हैं या उत्कृष्ट हैं या तद्ब्यतिरिक्त?

समाधान—धवला पु० ३ में जो संख्याएँ दी गई हैं वे उत्कृष्टतः हैं। अभिप्राय यह है कि उससे अधिक नहीं हो सकते, किंचिदून हो सकते हैं।

—पद्माघाट / ज. ला. गौन, भीण्डर

'भक्तामर स्तोत्र' के १७वें १८वें श्लोक में 'राहु' शब्द उचित है

शंका—भक्तामर स्तोत्र के १७वें व १८वें श्लोक में श्री जिनेन्द्रदेव की उपमा क्रमशः सूर्य और चन्द्रमा से दी गई है किन्तु जिनेन्द्र को राहु के ग्रहण से रहित बतलाया गया है। दोनों संस्कृत श्लोकों में 'राहु' शब्द का ही प्रयोग किया गया है जो इस प्रकार है—१७वें श्लोक में 'न राहुगन्धः ।' तथा १८वें श्लोक में 'गन्धं न राहुवचनस्य ।' किन्तु चन्द्रमा और सूर्य के ग्रहण के हेतु क्रमशः राहु और केतु हैं। 'केतु' के स्थान पर 'राहु' का प्रयोग क्यों किया गया?

समाधान—संस्कृत-हिन्दी कोश में राहु को सूर्य व चन्द्रमा दोनों को ग्रस्त करने वाला लिखा है। हरिश्चंपुराण पर्व ६ में भी सूर्य व चन्द्रमा दोनों के नीचे राहु का विमान बतलाया है।

अरिष्ठमणिमूर्तीनि समान्यञ्जनपुञ्जकैः ।

भान्ति राहु विमानानि चन्द्रार्काद्यः स्थितानि तु ॥१०॥

अर्थ—राहु के विमान अरिष्ठ मणिमय हैं, अञ्जन की राशि के समान ग्राम हैं तथा चन्द्रमा और सूर्य के विमानों के नीचे स्थित हैं।

उपर्युक्त दृष्टि से ही भक्तार स्तोत्र के १७वें १८वें दोनों श्लोकों में 'राहु' शब्द का प्रयोग किया गया है।

—जै. न. 3-9-70/VI/अनिलकुमार गुप्ता

१ अपने योग्य सर्व गुणस्थानों के क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिकचारित्र व केवलज्ञान में समानता

२. रत्नत्रय की पूर्णता ही मोक्ष की साक्षात् हेतु है

शंका—'अयोगिकेवलिनः सम्पूर्णयथाख्यातचारित्रज्ञानदर्शनं सर्वसंसार-दुःखजालपरिष्वङ्गोच्छेदजननं साक्षा-न्मोक्षकारणमुपजायते।' ऐसा श्री पूज्यपादस्वामी व श्री अकलंकदेव का वाक्य है। इसमें 'सम्पूर्ण' विशेषण मात्र 'यथाख्यातचारित्र' के लिये है या 'यथाख्यातचारित्र-ज्ञान-दर्शन' इन तीनों के लिये है ?

समाधान—इस वाक्य में मोक्ष के कारण अर्थात् मोक्षमार्ग का प्रकरण है। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र इन तीनों की एकता मोक्षमार्ग है क्योंकि 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः,' ऐसा सूत्र है। इसलिए 'सम्पूर्ण' चारित्र-ज्ञान-दर्शन इन तीनों का अर्थात् रत्नत्रय का विशेषण है, मात्र चारित्र का विशेषण नहीं है।

श्री भास्कररत्नविद्याचार्य ने भी इस सूत्र की व्याख्या में 'सम्पूर्ण' को दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों के विशेषण रूप से लिखा है।

'ततः समुच्छिन्नसर्वात्मप्रदेश परिस्पन्दो निवृत्ताऽशेषयोगः समुच्छिन्नक्रियानिवृत्तिध्यानस्वभावो भवति । ततः सम्पूर्णक्षायिकदर्शनज्ञानचारित्रः कृतकृत्यो विराजते ।'

इसलिये 'सम्पूर्ण' सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र तीनों का विशेषण है, क्योंकि ये तीनों ही मोक्ष के कारण (मोक्षमार्ग) हैं। 'सम्पूर्ण' को मात्र यथाख्यातचारित्र का विशेषण कहना भूल है।

शंका—समुच्छिन्न क्रियानिवृत्ति शुद्धध्यान १४ वें गुणस्थान में होता है। ८ जुलाई १९६५ के जैनसंदेश में भी चौदहवें गुणस्थान में रत्नत्रय की पूर्णता बतलाई है। क्या चौदहवें गुणस्थान से पूर्व का सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र अपूर्ण है ? क्या तेरहवें गुणस्थान के क्षायिकसम्यग्दर्शन, केवलज्ञान और क्षायिकचारित्र में कोई कमी रह जाती है ? क्या तेरहवें गुणस्थान के रत्नत्रय के अविभागप्रतिच्छेद की संख्या से चौदहवें गुणस्थान के रत्नत्रय के अविभागप्रतिच्छेदों की संख्या अधिक है ?

समाधान—एक ही बीज यदि जघन्य, मध्यम या उत्कृष्ट भूमि में बो दिया जाय तो उस बीज के फल में विभिन्नता हो जाती है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य आदि महान् ग्रन्थकारों ने भी इसी बात को कहा है।

‘णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव ।’

संस्कृत टीका—‘यथा जघन्यमध्यमोत्कृष्टभूमिवशेन तान्येव बीजानि भिन्नभिन्नफलं प्रयच्छन्ति ।’

यद्यपि मिथ्यात्वआदि सत्प्रकृतियों के क्षय होने पर क्षायिकसम्यग्दर्शन पूर्ण हो जाता है फिर भी वह अवगाढ व परमावगाढ संज्ञा को प्राप्त नहीं होता । पूर्णश्रुतज्ञान होने पर उसी क्षायिकसम्यग्दर्शन की अवगाढ संज्ञा हो जाती है और केवलज्ञान होने पर परमावगाढ संज्ञा हो जाती है ।

दृष्टिः साङ्गाङ्गाह्यप्रवचनमवगाह्योस्थिता यावगाढा ।

केवलत्यालोकिताथे हचिरिह परमावादिगाढैतिरूढा ॥

अर्थात्—अंग और अंगबाह्यसहित जैनशास्त्र ताको अवगाहि करि जो तिपजी दृष्टि से अवगाढदृष्टि है । यह अवगाढ सम्यक्त्व जानना । बहुरि केवलज्ञान करि जो अवलोक्या पदार्थ विषे श्रद्धान से इहां परमावगाढदृष्टि प्रसिद्ध है । यह परमावगाढ सम्यक्त्व जानना ।

क्या क्षायिक व अवगाढसम्यग्दर्शन अपूर्ण है और परमावगाढ सम्यग्दर्शन पूर्ण है ? क्या क्षायिकसम्यग्दर्शन, अवगाढ सम्यग्दर्शन और परमावगाढ सम्यग्दर्शन के अविभाग प्रतिच्छेदों में तरतमता है ? सम्यग्दर्शन में तरतमता उत्पन्न करनेवाले दर्शनमोहनीयकर्म के क्षय हो जाने पर क्षायिकसम्यग्दर्शन के अविभागप्रतिच्छेदों में तरतमता का अभाव हो जाता है ।

इसीप्रकार चारित्रमोहनीयकर्म का क्षय हो जाने पर क्षायिकचारित्र के अविभागप्रतिच्छेदों की तरतमता का अभाव हो जाता है । जिसप्रकार क्षायिकसम्यग्दर्शन, ज्ञान की अपेक्षा, अवगाढ व परमावगाढ संज्ञा को प्राप्त होते हैं, क्षायिकचारित्र भी अयोगी की अपेक्षा परमयथाख्यातचारित्र संज्ञा को प्राप्त हो जाता है । क्षायिकचारित्र और परमयथाख्यातचारित्र के अविभागप्रतिच्छेदों में हीनाधिकता नहीं है ।

तेरहवेंगुणस्थान के क्षायिकज्ञान (केवलज्ञान) और चौदहवेंगुणस्थान के केवलज्ञान के अविभागप्रतिच्छेदों में भी कोई अन्तर नहीं है ।

इसप्रकार तेरहवें और चौदहवेंगुणस्थान के रत्नत्रय में कोई अन्तर नहीं है । जिसप्रकार वही का वही बीज किन्तु भूमि की विभिन्नता के वश से फल में विभिन्नता हो जाती है, उसीप्रकार वही का वही क्षायिक-रत्नत्रयरूपी बीज सयोगकेवली और अयोगकेवलीरूप भूमि की विभिन्नता से फल की निष्पत्ति में विभिन्नता हो जाती है । उस फल की विभिन्नता के कारण ही उस क्षायिकरत्नत्रय की ‘पूर्ण’ आदि विभिन्न संज्ञा है ।

जो विद्वान् अपेक्षाओं को न समझकर चौदहवेंगुणस्थान के रत्नत्रय को पूर्ण मानकर क्षायिकरत्नत्रय में तरतमता मानते हैं उनको, ‘क्षायिकभावानां न हानिर्नापि वृद्धिरिति ।’ अर्थात् ‘क्षायिकभावों की हानि नहीं होती और वृद्धि भी नहीं होती’, इन आखंवाक्यों का भी श्रद्धान करना चाहिये ।

यद्यपि क्षायिकरत्नत्रय क्षायिकरूप से सम्पूर्ण है तथापि वह मुक्ति को उत्पादन करने के लिये आयुकर्म की शेष स्थिति (काल) की अपेक्षा रखता है ।

कार्य को उत्पत्ति की अपेक्षा से चौदहवेंगुणस्थान के रत्नत्रय को सम्पूर्ण कहने में स्याद्वादियों को कोई बाधा नहीं है । श्री अकलंकदेव ने कहा भी है—

‘द्रव्याविद्याह्यनिमित्तसन्निधाने सत्याभ्यन्तरसम्भग्वर्शनादिभोक्षमाणंप्रकर्षावाप्ती कृत्स्नकर्मसंक्षयात् मोक्षो विवक्षितस्ततो न बोधः ।’

क्षाधिकरत्नत्रय होनेपर आत्मा घातियाकर्मों से अत्यन्त निवृत्त हो जाता है और आत्मा में घात्यन्तिक-विशुद्धि आ जाती है इसलिये क्षायिक की अपेक्षा क्षायिकरत्नत्रय अपूर्ण नहीं हो सकता । श्री अकलंकदेव ने भी कहा है । ‘आत्मनोऽपि कर्मणोऽत्यन्तविनिवृत्तौ विशुद्धिरात्यन्तिकी क्षय इत्युच्यते ।’ श्री विद्यानन्दस्वामी ने भी कहा है—‘सयोगकेवलिरत्नत्रयमयोगिकेवलिचरमसमयपर्यन्तमेकमेव ।’ तेरहवेंगुणस्थान का रत्नत्रय और चौदहवें-गुणस्थान के अन्तिमसमयतक का रत्नत्रय एक ही है ।

—जं. ग. 30-1-67/IX/.....

सिद्धों के १४ गुण

शंका—अनन्तव्रत कथा में सिद्धों के १४ गुणों का वर्णन आया है । वे १४ गुण कौन से हैं ? इस कथा में १४ अवधिज्ञानी मुनियों का भी वर्णन है । उन १४ अवधिज्ञानी मुनियों के नाम क्या हैं ?

समाधान—सिद्धों के अनन्तगुण हैं उनमें से कोई से १४ गुणों के नाम उच्चारण किये जा सकते हैं । सम्यक्त्व ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्म, अत्रगाहन, अगुरुलघु, अव्याबाध, गतिरहितता, इन्द्रियरहितता, शरीररहितता, योगरहितता, वेदरहितता, कषायरहितता १४ गुणों का अथवा अन्य १४ गुणों का वर्णन हो सकता है । (बृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा १४, टीका) । अवधिज्ञानीमुनि भी अनन्त हो चुके हैं । गत चतुर्थकाल में भी असंख्यात अवधि-ज्ञानीमुनि हुए हैं । इनमें से किन्हीं १४ का नाम लिया जा सकता है ।

—जं. सं. 8-1-59/V/ टीकपंचद जैन, पधेदद

निर्वाण के समय भगवान् नीचे (पृथ्वी पर) आ जाते हैं

शंका—केवलज्ञान होने पर केवली भगवान् भूभाग से ५ हजार धनुष ऊँचे उठ जाते हैं । योग निरोध होने पर समवसरण गंधकुटी आदि विघट जाते हैं, तो क्या वे अधर ही रहते हैं अथवा निर्वाण के समय नीचे पृथ्वी पर आ जाते हैं अर्थात् मुक्ति किस स्थान से होती है ?

समाधान—निर्वाण के समय केवली भगवान् नीचे आ जाते हैं अन्यथा ‘स्थलगत’ सिद्धों का कथन नहीं बन सकेगा । स्थलगत, जलगत व आकाशगत सिद्ध होते हैं ।

—जं. सं. 4-12-58/V/....

कर्मभूमि की आदि में धान्यादि की स्वयं उत्पत्ति

शंका—अमृतादि की सात-सात दिन वर्षा होने के बाद भूमि में लता, गुल्म आदि स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं तो बीजरह् शब्द की कोई जरूरत नहीं रही । जैसे बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज ऐसा अनादिकाल से चला आता है ।

समाधान—लता, गुल्म आदि सम्पुच्छन हैं । अतः इनकी उत्पत्ति बीज से ही हो, ऐसा एकांतनियम नहीं है । बाह्यद्रव्यों के संयोग से यदि इनके योग्य योनिस्थान बन जावे तो इनकी उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं है । द्वीन्द्रियआदि जीवों की भी इसप्रकार उत्पत्ति देखी जाती है । कर्मभूमि की आदि में भी धान्य आदि की स्वयं उत्पत्ति देखी जाती है ।

—जं. सं. 5-2-59/V/ मा. सु. रावका, व्यावर

कब कौनसा परिवर्तन प्रारम्भ होता है, यह नहीं कहा जा सकता

शंका—यह अज्ञानीजीव अनादि से इस पंचपरिवर्तनरूप संसार में अमण कर रहा है। इनमें कब किस-परिवर्तन का प्रारम्भ और अन्त होता है इसका भी उल्लेख किसी ग्रन्थ में है क्या ?

समाधान—पंच परिवर्तन में से किसी भी परिवर्तन का काल नियत नहीं है, किन्तु इतना नियत है कि वह काल अनन्त है और हीनाधिकता के कारण वह अनन्तकाल भी अनेक प्रकार का है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि किस जीव का परिवर्तन काल कब प्रारम्भ होगा और कब समाप्त होगा ?

—जै. ग. 31-7-69/V/.....

मस्तिष्क एवं मन में अन्तर

शंका—मस्तिष्क मनका ही एक अंग समझना चाहिए या स्वतन्त्र अंग है ?

समाधान—मस्तिष्क और मन इन दोनों के स्थान भिन्न-भिन्न हैं। अतः मस्तिष्क स्वतन्त्र अंग है।

'हृदय में आठ पांखुरीवाले कमल समान बन रहा द्रव्यमय भी मनोवर्गणां नामक पुद्गलों से निर्मित है।' (श्लोकवार्तिक खंड ६ पृ० १४९) किन्तु मस्तिष्क ललाट में होता है।

मस्तिष्क का कार्य हिताहित का विचार तथा स्मृति आदि है। मन का कार्य शिक्षा व आलाप को ग्रहण करना है।

सिक्खा-किरियुदेवसालावग्गाही सणोवलंबेण ।

जो जीवो सो सण्णी तब्बिवरीवो असण्णी वु ॥६६१॥ (गो० जी०)

जो जीव मन के द्वारा शिक्षा उपदेश आलाप को ग्रहण करता है वह संज्ञी अर्थात् मनसहित जीव है। जो शिक्षा उपदेश आलाप को ग्रहण नहीं कर सकता मनरहित अर्थात् असंज्ञीजीव है।

'संज्ञिनः समनस्काः ।' इस सूत्र द्वारा यह बतलाया है कि जिन जीवों के मन है वे संज्ञी हैं।

—जै. ग. 10-12-70/VI/ट. ला. जैन

शास्त्रों का मूल से [संस्कृत या प्राकृत से] स्वाध्याय ही उत्तम है

शंका—शास्त्रों की रचना अधिकतर प्राकृत व संस्कृत भाषा में हुई है। पंडितों द्वारा जिनका हिन्दी अनुवाद हुआ है। क्या हिन्दी अनुवाद मात्र पढ़ने से शास्त्र का यथार्थ व पूर्ण ज्ञान हो सकता है ?

समाधान—आर्षग्रन्थों का यथार्थ व पूर्ण ज्ञान करने के लिये संस्कृत व प्राकृत का बोध होना आवश्यक है। विद्वानों ने ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद करके बहुत उपकार किया, क्योंकि जिनको संस्कृत व प्राकृत का ज्ञान नहीं है, वे भी हिन्दी अनुवाद से ग्रन्थों की स्वाध्याय कर सकते हैं। फिर भी अनुवाद तो अनुवाद ही है। किसी ने कहा भी है—'Translation is after all translation. It loses its half charm.'

—जै. ग. 2-12-71/VIII/टो. ला. मितल

दूसरों के परिणामों को कभी मलिन नहीं करना चाहिए

शंका—स्वर्गों के देव राम, लक्ष्मण के प्रेम की परीक्षा करने के लिये मध्य लोक में आये । लक्ष्मण को कहा 'राम मर गया ।' इतने में लक्ष्मण ने प्राण त्याग कर दिया । देवों को पापबंध हुआ या नहीं ?

समाधान—शुभ, अशुभ और शुद्ध इन तीनप्रकार का जीवपरिणाम होता है । उपर्युक्त परिणाम शुद्ध और शुभ, इन दो प्रकार का तो नहीं हो सकता, क्योंकि, शुभ परिणाम तो मंदकषाय के सद्भाव में होता है और शुद्धपरिणाम कषाय के अभाव में होता है । अतः पारिषोपन्याय से देवों के उक्त परिणाम अशुभ ही हो सकते हैं और अशुभोपयोग में पापबंध होता है । 'शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य' शुभ से पुण्य बंध होता है और अशुभ से पाप बंध होता है । (भो. शा. अ. ६ सूत्र ३) । अतः हमको कौतूहल या परीक्षारूप से भी ऐसे वचन उच्चारण नहीं करने चाहिये जिससे दूसरों के परिणाम को कष्ट होवे ।

—जै. सं. 18-10-56/VI/ जैनवीरदल; त्रिवाङ्ग

किसी की कृति में किसी अन्य को परिवर्तन करने का कोई अधिकार नहीं है

शंका—श्री पं० मुञ्जालाल रांधेलिया सागर ने छहडाला में निम्न परिवर्तन किया है । क्या उनका ऐसा करना ठीक है ? मूल पाठ (१) जो सत्यारथरूप सुनिश्चय कारण सो व्यवहारो (२) हेतु नियत को होई । परिवर्तित पाठ (१) जो सत्यारथरूप सु निश्चय कारण से व्यवहारो । (२) हेतु नियत के होई ।

समाधान—रांधेलियाजी हो या अन्य कोई सज्जन हो, किसी को भी दूसरे की कृति में एक अक्षर का भी हेर-फेर करने का अधिकार नहीं है । छहडाला श्री पं० दीलतरामजी कृत है जिसमें प्रायः आचार्य कृत संस्कृत श्लोकों का पद्यरूप में अनुवाद हैं । अतः छहडाला के अक्षरों में हेर-फेर करना महान् अनुचित व अन्याय है । यदि छहडाला की कथनी से कोई विद्वान् सहमत नहीं है तो भी उसको छहडाला में परिवर्तन करने का अधिकार नहीं है ।

—जै. ग. 13-8-70/IX/....

१. प्रवचनसार के अनुवाद विषयक किसी स्थल पर आक्षेप का परिहार

२. "अर्थ आगम से अबाधित होने चाहिए"

शंका—महावीरजी से प्रकाशित प्रवचनसार के सम्बन्ध में जैनसन्देश में यह लिखा जा रहा है कि कुछ स्थलों पर शब्द के अनुसार अनुवाद नहीं किया गया है । आपने ऐसा क्यों किया ?

समाधान—श्री महावीरजी से जो प्रवचनसार प्रकाशित हुआ है उसका अनुवाद स्वर्गीय पं० अजितकुमारजी ने किया था । मैंने तो मात्र विषय सूची, विशेष-शब्द-सूची, शुद्धिपत्र तैयार किया है । तथा प्रकाशन के लिये भिन्न संस्थाओं से प्रकाशित प्रवचनसार व ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी का भाषानुवाद यह सामग्री श्री पं० अजितकुमारजी के पास भेज दी थी जिससे उनके मूल पाठ को शुद्ध करने तथा भाषानुवाद में कठिनाई न हो । मूलपाठ भेदों की सूची भी साथ में प्रकाशन से पूर्व भेज दी गई थी । श्री ब्र० लाडमलजी ने ग्रन्थ के आरम्भ में इस बातका स्पष्ट उल्लेख भी कर दिया है—

‘श्री बदीप्रसादजी सरावगी पटना ने द्रव्य सहायता दी है तथा श्री रतनचन्द्रजी मुख्तार सहारनपुर ने विषय-सूचि, विशेष-शब्द-सूची आदि बनाई है। श्री पं० सरनारामजी ने हिन्दी अनुवाद में अनेक सुभाव दिये हैं और स्वर्गीय पं० अजितकुमारजी ने इसके सम्पादन का कार्य अपने हाथ में लिया था। अतः मैं इन सबका आभारी हूँ।’

जैनसन्देश में प्रवचनसार सम्बन्धी जो लेख प्रकाशित हुए हैं वे मात्र ईर्ष्या भाव को लेकर लिखे गये हैं, इसीलिये उन लेखों के प्रतिवाद की कोई आवश्यकता नहीं समझी गई। यदि ईर्ष्याभाव से न लिखे जाते तो जहाँ कहीं अशुद्धि थी तो उसके स्थान पर शुद्ध पाठ क्या होना चाहिए, ऐसा भी उल्लेख उन लेखों में होना चाहिए था। धवल, जयधवल, महाबंध, सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रन्थों में जहाँ-जहाँ पर अनुवाद आदि में अशुद्धपाठ मिला उसके स्थान पर शुद्धपाठ क्या होना चाहिए उसका सुभाव भी दिया जाता जिससे स्वाध्याय प्रेमी व सम्पादक उस पर विचार कर सकते।

कहीं कहीं पर माना कि शब्दों का अनुवाद कर देने से सिद्धांत से विरोध आ जाता है, इसलिए इसप्रकार अनुवाद लिखा जाता है जिससे सिद्धांत से विरोध न आये। जैसे तत्त्वार्थसूत्र दूसरे अध्याय में सूत्र ५१ है ‘न देवाः।’ इसका शब्दानुवाद होता है ‘देव नहीं होते हैं।’ किन्तु ऐसा अर्थ करने से सिद्धांत से विरोध आता है अतः शब्दानुवाद न करके इसका अर्थ किया जाता है। ‘देवों में नपुंसक वेद नहीं होता है।’ यह अर्थ सिद्धांत के अविच्छेद है।

इतना ही नहीं, कहीं-कहीं पर शब्द का अन्यथा भी अर्थ करना पड़ता है, क्योंकि शब्दकोष के अनुसार अर्थ करने पर सिद्धांत से विरोध आता है। श्री कुन्वकुन्वाचार्य की बारस अष्टवेकखा में निम्न गाथा आई है—

सर्वे वि पोगला खलु एगे भुत्तुच्चिहया हु जीवेण ।
असई अणंतखुत्तो पोगलपरियट्टससारे ॥

श्री पं० उपसैन जैन एम० ए० एल० एल० बी० द्वारा इस गाथा का अर्थ निम्नप्रकार किया गया है—

‘पुद्गलपरावर्तनरूप संसार में इस एक जीव ने सम्पूर्ण पुद्गलवर्णणाओं को निश्चय से बार बार (अनंत-बार) ग्रहण कर और भोगकर छोड़ा है।

श्री पं० फूलचन्द्रजी ने इस गाथा का अर्थ इसप्रकार किया है—‘इस जीव ने सभी पुद्गलों को क्रम से भोगकर छोड़ दिया और इसप्रकार यह जीव अनन्तबार पुद्गलपरिवर्तनरूप संसार में धूमता रहता है।’

अन्य विद्वानों द्वारा भी इसका अर्थ यह किया गया है—‘इस पुद्गलपरिवर्तनरूप संसार में समस्त पुद्गल इस जीव ने एक एक करके पुनः पुनः अनन्तबार भोग कर छोड़े हैं।’

प्रायः सभी विद्वानों ने ‘सर्व’ शब्द का अर्थ कोष के अनुसार ‘समस्त’ ‘सम्पूर्ण’ ‘सभी’ आदि किया है जो सिद्धांत सम्मत नहीं है, क्योंकि आज तक समस्त जीवों द्वारा भी सम्पूर्ण पुद्गल द्रव्य नहीं भोगा गया है। समस्त जीवों द्वारा भूतकाल में जो पुद्गलद्रव्य भोगा गया है उसका प्रमाण समस्त जीवराशि गुणित भूतकाल के समय गुणित एकसमयप्रबद्ध अर्थात् अनन्त से भाजित समस्त जीवराशि का वर्ग। इसको गणित में इसप्रकार लिख सकते हैं—समस्त जीव^२ = अनन्त। सम्पूर्ण पुद्गल द्रव्य का प्रमाण है—समस्तजीवराशि गुणित समस्तजीवराशि गुणित अनन्त अर्थात् अनन्त से गुणित समस्तजीवराशि का वर्ग अथवा अनन्त × (समस्त जीव^२) इससे ज्ञात होता है कि समस्त जीवों द्वारा भी भूतकाल में आज तक पुद्गलद्रव्य का मात्र अनन्तवर्षांश भोगा गया है। अतः उपर्युक्त गाथा में पुद्गलद्रव्य के एकदेश के लिए ‘सर्व’ शब्द का प्रयोग हुआ है। [धवल ४।३२६]

श्री गुणधराचार्य विरचित कषायपाहुड़ में निम्न गाथा आयी है—

सम्भक्तपढमलंभस्सऽणंतरं पच्छदो य मिच्छत् ।

लंभस्स अपढमस्सदु भजियव्वो पच्छदो होवि ॥१०५॥

शब्दकोष के अनुसार विद्वानों ने इस गाथा का अर्थ निम्नप्रकार किया है—

‘सम्यक्त्व की प्रथमबार प्राप्ति के अनन्तर पश्चात् मिथ्यात्व का उदय होता है। किन्तु अग्रथमबार सम्यक्त्व की प्राप्ति के पश्चात् वह भजितव्य है।’

यद्यपि शब्दकोष अनुसार यह अर्थ ठीक है, किन्तु सिद्धांत से यह अर्थ बाधित होता है; क्योंकि अनादि मिथ्यादृष्टि भी प्रथमबार सम्यक्त्व को प्राप्तकर मिथ्यात्व को न भी प्राप्त हो, किन्तु क्षयोपशमसम्यक्त्व को प्राप्त होकर द्वितीयोपशम को प्राप्त कर लेवे।

उपर्युक्त गाथा में ‘पढम’ का अर्थ ‘प्रथमोपशम’ और ‘अपढम’ का अर्थ ‘क्षयोपशम’ तथा ‘अणंतरं पच्छदो’ का अर्थ ‘अनंतर पूर्व’ करना होगा जो किसी भी शब्द-कोष में नहीं मिलेगा। इन शब्दों का ऐसा अर्थ करने से गाथा का अर्थ इस प्रकार हो जाता है—‘प्रथमोपशमसम्यक्त्व की प्राप्ति से अनंतर पूर्व मिथ्यात्व नियम से होता है, किन्तु क्षयोपशमसम्यक्त्व की प्राप्ति से पूर्व मिथ्यात्व भजितव्य है अर्थात् मिथ्यात्व ही भी और न भी हो।

‘सामण्ण’ अर्थात् सामान्य शब्द का अर्थ कोष में ‘समान या साधारण’ दिया है। किसी भी कोष में ‘सामान्य’ का अर्थ ‘आत्मपदार्थ’ नहीं दिया गया है किन्तु ‘जं सामण्णग्गहणं’ में ‘सामान्य’ शब्द का प्रयोग ‘आत्म-पदार्थ’ के लिये किया गया है।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्दों का अर्थ इसप्रकार होना चाहिए जिससे सिद्धान्त खण्डित न होता हो, अपितु सिद्धान्त के अनुकूल हो।

सम्यग्दर्शन का अन्तरंग साधन दर्शनमोहनीयरूप द्रव्यकर्म का उपशम, क्षय या क्षयोपशम है। दर्शन-मोहनीयद्रव्यकर्म तीन प्रकार का है—सम्यक्त्वप्रकृति, मिथ्यात्वप्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति। दर्शनमोहनीय द्रव्यकर्म की इन तीनों प्रकृतियों के उपशम होने पर आत्मा में उपशम-सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, और इन तीनों प्रकृतियों के क्षय होने पर आत्मा में क्षायिकसम्यग्दर्शन प्रगट होता है, तथा इनके क्षयोपशम अर्थात् मिथ्यात्व प्रकृतिरूप द्रव्यमोह और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिरूप द्रव्यमोह इनके स्वमुख अनुदय होने पर और सम्यक्त्वप्रकृतिरूप द्रव्यमोह के उदय होने पर आत्मा में क्षयोपशमसम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है। यदि मिथ्यात्वप्रकृतिरूप द्रव्यमोह या सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिरूप द्रव्यमोह का स्वमुख उदय ही तो आत्मा में सम्यग्दर्शनगुण प्रकट नहीं हो सकता। यह दिग्म्बर जैनधर्म का मूल सिद्धान्त है।

श्री जयसेनाचार्य ने प्रवचनसारादि ग्रन्थों की टीका में मोह, राग-द्वेष इन तीन शब्दों का प्रयोग किया है। इनमें से मोहशब्द का प्रयोग मिथ्यात्वभाव के लिये और राग-द्वेष शब्द का प्रयोग कषाय व नोकषायरूप भावों के लिये हुआ है।

प्रवचनसार गाथा ४५ की टीका के ‘द्रव्यमोहोदयेऽपि सति यदि शुद्धात्मभावनाबलेन भावमोहेन न परिणमति ।’ इन शब्दों के अर्थ पर विचार करना है।

द्रव्यमोह तीनप्रकार का है मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व । 'द्रव्यमोहोदय' का अर्थ 'मिथ्यात्व-प्रकृतिरूप द्रव्यमोह' तो किया नहीं जा सकता, क्योंकि इसके उदय में जीव मिथ्यादृष्टि होता है तथा सर्वज्ञप्रणीत मार्ग से विमुख, तत्त्वार्थों के श्रद्धान करने में निरुत्सुक, हिताहित के विचार करने में असमर्थ होता है । अथवा आस आगम और पदार्थों में श्रद्धाना को उत्पन्न करनेवाला कर्म मिथ्यात्वकर्म कहलाता है । अतः मिथ्यात्वप्रकृतिरूप द्रव्यमोह का तो उदय ही और जीव भावमोह अर्थात् मिथ्यात्वभावरूप न परिणामे ऐसा मानने से सिद्धांत से विरोध आता है ।

'द्रव्य-मोहोदय' का अर्थ 'सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिरूप द्रव्य मोह' भी नहीं किया जा सकता, इसके उदय में जीव के सम्यक्त्व और मिथ्यात्व इन दोनों के संयोगरूप भाव होते हैं । कहा भी है—

'सम्मत्त-मिच्छत्तभावानं संजोगसमुद्गदभावस्स उप्पापयं कम्मं समसमिच्छत्तंणाम ।'

अतः सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिरूप द्रव्यमोह के उदय होने पर जीव भावमोह (मिथ्यात्वभाव) रूप न परिणामे ऐसा मानने पर भी सिद्धांत से विरोध आता है, क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्व के उदय में सम्यक्त्व के साथ मिथ्यात्वभाव भी होते हैं ।

अतः पारिशेषन्याय से 'द्रव्यमोहोदये' का अर्थ 'सम्यक्त्व प्रकृतिरूप द्रव्यमोह' होता है । जिसके उदय होने पर मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्वरूप द्रव्यमोह स्वमुख से स्वरसरूप उदय में नहीं आते हैं इसलिए आत्मा भावमोह अर्थात् मिथ्यात्वरूप नहीं परिणामता है । यह सम्यक्त्वप्रकृतिरूप द्रव्यकर्म सम्यक्त्व का सहकारी है इसीलिए इसका नाम सम्यक्त्वप्रकृति कर्म रखा गया है ।

बंध की अपेक्षा से दर्शनमोहनीयकर्म मिथ्यात्वरूप एक ही प्रकार का है, किन्तु सम्यक्त्व परिणाम के द्वारा अथवा करणलब्धि के द्वारा उस मिथ्यात्वरूप द्रव्यकर्म के तीन टुकड़े हो जाते हैं । उनमें सम्यक्त्वप्रकृति द्रव्यमोह तत्त्वार्थश्रद्धानरूप वेदकसम्यक्त्वरूप आत्मपरिणामों को नष्ट करने में समर्थ नहीं है, जैसे मन्त्रों द्वारा निर्विष किया हुआ विष मारनेवाला नहीं होता है । कहा भी है—'सम्यक्त्व प्रकृतिस्तु कर्मविशेषोभवति तथापि यथा निर्विषीकृतं विषं मरणं न करोति तथा शुद्धात्माभिमुखपरिणामेन मंत्रस्थानीयविशुद्धविशेषमात्रेण विनाशितमिथ्यात्वशक्तिः यत् क्षायोपशमिकादिलब्धिपंचकजनितप्रथमोपशमिकसम्यक्त्वानंतरोत्पन्नवेदकसम्यक्त्वस्वभावं तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं जीव-परिणामं न हन्ति तेनकारणेनोपचारेण सम्यक्त्वहेतुत्वात्कर्मविशेषोऽपि सम्यक्त्वं भण्यते ।' अजमेर का समयसार पृ. ३०१

यदि 'द्रव्यमोहोदय' का अर्थ 'चारित्रमोहनीय द्रव्यकर्म के उदय करके यह कहा जाय कि चारित्रमोहनीय कर्मोदय होते हुए भी जीव भावमोह अर्थात् रागद्वेषरूप न परिणामे तो भी सिद्धांत से विरोध आता है, क्योंकि चारित्रमोहनीयकर्म का उदय दसबेंगुणस्थानतक रहता है और दसबेंगुणस्थान में भी जीव के सूक्ष्मसांपराय अर्थात् सूक्ष्मलोभ या भावरारगरूप परिणाम अबुद्धिपूर्वक होते हैं ।

यदि कोई भी सज्जन प्रवचनसार गाथा ४५ टीका के उक्त वाक्यों का अन्यप्रकार से ऐसा अर्थ करे जिससे सिद्धांत बाधित नहीं हो तो उस अर्थ का सहर्ष स्वागत किया जायगा और यथासम्भव इस अर्थ में सुधार भी कर दिया जायगा ।

प्रवचनसार में प्रेस की अनेक अशुद्धियाँ रह गई हैं जिनका शुद्धि-पत्र बनाकर श्री पं० अजितकुमारजी अनुवादक व. सम्पादक महोदय के पास भेजा भी गया था, किन्तु पंडितजी का अचानक स्वर्गवास हो जाने के कारण

वह नहीं मिला इसलिए इस ग्रन्थ के साथ प्रकाशित नहीं हो सका। यदि कोई सज्जन शुद्धिपत्र बनाकर श्री ब्र० लाङ्गलजी के पास भेजने का कष्ट करें तो वह शुद्धिपत्र प्रकाशित हो सकता है।

—जं. ग. 15-3-73 /VI/ ट. ला. जैन, मेरठ

शान्तिनाथपूजा के प्रथम छन्द का अर्थ

शंका—श्री पं० वृन्दावनकृत भगवान् शान्तिनाथपूजा के इस प्रथमछन्द का क्या अर्थ है—

या भय कानन में चतुरानन, पाप पनामन घेरि हमेरी ।
आत्म जानन मानन ठानन, वामन होन बई सठ मेरी ॥
तामब भानन आप ही हो यह, छानन आन न आनन देरी ।
आन गही शरनागत को, अब श्रीपतिजी पत राखहु मेरी ॥

समाधान—इस छन्द का भाव इसप्रकार हो सकता है—इस संसाररूप वन में चारों ओर पापरूपी सिंह ने मुझे घेर रखा है। इस शठ (पापी) ने आत्मा का जानना, मानना और आचरण (ज्ञान, दर्शन, चारित्र) नहीं होने दिया। उस शठ के मद को चूर करने में आपही समर्थ हो अन्य कोई समर्थ नहीं है। ऊहापोह कर मैंने यह निश्चय कर लिया है। अतः आपके सन्मुख पुकार कर रहा हूँ और अब आपकी शरण ग्रहण करली है। हे श्रीपतिजी आप मेरी टेव (बात) को राखो।

—जं. ग. 17-11-77/VIII/ पं. नन्दलाल

‘चउ कर्म की त्रैसठ प्रकृति नाश’ का अर्थ

शंका—चार घातिया कर्मों की ४७ प्रकृतियाँ होती हैं। किन्तु पूजन में ‘चउकर्म की त्रैसठ प्रकृति नाश’ क्यों कहा है ?

समाधान—कर्म की कुल १४८ प्रकृतियाँ फलदान की अपेक्षा निम्नलिखित चारप्रकारों में विभक्त की गई हैं। १. जीव विपाकी, २. पुद्गल विपाकी, ३. भवविपाकी, ४. श्रेत्र विपाकी।

जीवविपाकी ७८ प्रकृतियाँ—५ जानावरण, ९ दर्शनावरण, ५ अंतरायकर्म, २८ मोहनीयकर्म, नामकर्म की २७ तीर्थकर प्रकृति, उच्छ्वास, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त, सुस्वर, दुःस्वर, आदेय, अनादेय, यशःकीर्ति, अयशःकीर्ति, त्रस, स्थावर, प्रशस्तविहायोगति, अप्रशस्त विहायोगति, सुभग, दुर्भग, गति ४, जाति ५, २ गोत्रकर्म, २ वेदनीय कर्म।

पुद्गलविपाकी ६२ प्रकृतियाँ—५ शरीर, ३ अंगोपांग, १ निर्माण, ५ बन्धन, ५ संघात, ६ संस्थान, ६ संहनन, ५ वर्ण, ५ रस, ८ स्पर्श, २ गंध, १ अगुहलघु, १ उपघात, १ परघात, १ आतप, १ उद्योत, १ प्रत्येक, १ साधारण, १ स्थिर, १ अस्थिर, १ शुभ, १ अशुभ।

भवविपाकी ४ प्रकृतियाँ—नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु, देवायु।

श्रेत्रविपाकी ४ प्रकृतियाँ—नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी।

विपाक की अपेक्षा इन चारप्रकार के कर्मों में से, जीवविपाकी ५५ प्रकृतियाँ (५ ज्ञानावरण, ९ दर्शना-वरण, ५ अंतराय, २८ मोहनीयकर्म, २ गति, ४ जाति, १ स्थावर, १ सूक्ष्म), पुद्गलविपाकी ३ प्रकृतियाँ (१ उद्योत, १ आतप, १ साधारण), भवविपाकी की ३ प्रकृतियाँ (नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु) और क्षेत्रविपाकी २ प्रकृतियाँ (नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी) इन (५५ + ३ + ३ + २) ६३ प्रकृतियों के नाश होने पर तेरहवेंगुणस्थान में अरहंतावस्था प्रगट होती है। जीव विपाकी, पुद्गलविपाकी, भवविपाकी, क्षेत्रविपाकी इन चार-कर्मों की ये ६३ प्रकृतियाँ हैं अतः पूजन में 'चउकर्म की त्रैसठ प्रकृति नाश।' यह पाठ ठीक प्रतीत होता है। विद्वान् इस पर विशेष विचारने की कृपा करें।

—जै. ग. 17-6-71/IX/रो ला. मित्तल

ध० पु० १ पृ० २०८ पर उद्धृत सूत्र

शंका—ध० पु० १ पृ० २०८ पर 'वंचिविय-तिरिक्खअपउजत्त-मिच्छाइट्ठी दव्वपमालेण केवडिया, असंखेज्जा इदि।' सूत्र कहां से उद्धृत किया गया ?

समाधान—यह सूत्र धवल पु० ३ पृ० २३९ पर सूत्र ३७ है, किन्तु वहाँ 'मिच्छाइट्ठी' शब्द नहीं है। और वहाँ अन्य गुणस्थानों की संख्या को बताने वाले सूत्र भी नहीं हैं, इससे सिद्ध होता है कि यह सूत्र मिथ्यादृष्टि के सम्बन्ध में है, क्योंकि प्रत्येक गतिमार्गसा में मिथ्यात्वगुणस्थान अवश्य होता है।

—जै. ग. 19-10-67/VIII/ र. ला. जैन; मेरठ

अष्टमी व चतुर्दशी का महत्त्व

शंका—अष्टमी और चतुर्दशी का महत्त्व क्या है और क्यों है ? शास्त्रोक्तविधि से स्पष्ट कीजिये। यदि पक्ष में उक्त दोनों दिवसों को छोड़कर कोई भी दो दिन धर्मोत्सव के लिये निश्चित कर लिये जावें तो आगम में क्या बाधा आती है ? स्पष्ट कीजिये।

समाधान—मोक्षमार्ग में चारित्र का बहुत महत्त्व है। कहा भी है 'चारित्तं खलु धम्मो' अर्थात् चारित्र ही धर्म है। चारित्र की सर्व जघन्यअवस्था श्रावक के निरतिचार अष्टमूलगुण हैं और सर्वोत्कृष्ट अवस्था चौदहवें गुण-स्थान में परमयथाख्यातचारित्र है। अतः अष्टमूलगुण की सूचक अष्टमी और चौदहवें गुणस्थान की सूचक चौदस पर्व दिवस हमेशा से मनाये जा रहे हैं। अन्य दिवस की अपेक्षा पर्व के दिन चारित्र में विशेष प्रवृत्ति होती है। अष्टमी, चतुर्दशी को पर्व मानने में अन्य भी कारण हो सकते हैं। हमेशा से अष्टमी, चतुर्दशी पर्व माने जा रहे हैं इनको छोड़कर अन्य दिन को पर्व मानना स्वेच्छाचारी बनना है। जिससे पूर्वाचार्यों की आज्ञा की अवहेलना अथवा आचार्यों की अविनय का दोष आता है। फिर जो भी पर्व दिवस माना जावेगा उसमें भी 'क्यों' का प्रश्न खड़ा रहेगा। अतः अष्टमी चतुर्दशी को परम्परा अनुसार पर्व दिवस मानना उचित है।

—जै. सं. 4-9-58/V/ भागधंद जैन, बनारस

१. अगद्वन भी एक प्रका-समाधान में आया था कि अष्ट कर्मों का नाश करने का संदेन अष्टमी द्वारा तथा चतुर्दश गुणस्थानों से पाठ होने का संदेन चतुर्दशी द्वारा (यथासंख्या) प्राप्त होता है; अतः अष्टमी तथा चतुर्दशी का महत्त्व है।

दशलक्षणपर्व भाद्रपद, माघ व चैत्र मास में ही क्यों मनाये जाते हैं ?

शंका—धी अष्टाह्निकापर्व क्रम से चार-चार मास बाद होता है, परन्तु दशलक्षण पर्व भादों मास के बाद माघमास में आता है, जो कि पाँच मास बाद आता है। इसके बाद चैत्रमास में आता है, जो केवल दो मास बाद ही आ जाता है। इसका क्या कारण है ?

समाधान—अवसर्पिणी के दुःखमा-दुःखमा छठाकाल के अन्त विषै ४९ दिन तक पवन अत्यन्तशीत, क्षार-रस, विष, कठोर अग्नि, धूलि, धुवाँ की वर्षा होई है—जिससे अवशेष रहे मनुष्यादिक ते भी नष्ट हो हैं। बहुरि विष और अग्नि की वर्षानि करि दगध भई पृथ्वी सौ एक योजन मात्र नीची ताई काल के वशते चूर्ण होई है। तत्पश्चात् उत्सर्पिणी का अतिदुषमा नामा प्रथमकाल की आदि में ४९ दिन तक क्रमते जल, दुग्ध, घी, अमृत आदि रसनि की वर्षा होई है। जिससे पृथ्वी उष्णता को छोड़ शीतल सुगन्ध हो जाय है और विजयार्ध की गुफा से जीव तो निकल पृथ्वी पर आजावें हैं। त्रिलोकसार गाथा ८६६-८७०

जिस दिन ये जीव गुफा से पृथ्वी पर आये वह दिन भाद्रपद शुक्ला पंचमी था, क्योंकि युग अथवा उत्सर्पिणी की आदि श्रावणकृष्णा प्रतिपदा को होती है। श्रावण के तीस दिन और भाद्रपद शुक्ला चौथ तक १९ दिन; इसप्रकार भाद्रपद शुक्ला चौथ तक जल, दूध, घी आदि की वर्षा समाप्त हो जाती है। इस उपलक्ष में भाद्रपद शुक्ला पंचमी से दशलक्षण प्रारम्भ होता है। दसों धर्मद्वारा व रत्नत्रय के द्वारा परिणामों में इतनी विशुद्धता आ जाती है कि असोजकृष्णा प्रतिपदा को वह जीव अन्य सब जीवों से द्वेषभाव त्यागकर क्षमा धारण करता है। अन्य जीवों से भी और विशेषकर उन जीवों से, जिनसे किसी कारण कुछ मनमुटाव हो गया हो, बैरभाव त्याग अपने प्रति क्षमाभाव धारण करने की प्रार्थना करता है, जिससे कषायभावों के संस्कार आगे न चलने पावें। इसप्रकार इस पर्व में क्षमावर्णी का बहुत महत्व है, जो प्रायः दशलक्षणपर्व के पश्चात् हर स्थान में मनाई जाती है।

प्रत्येक कषाय चारप्रकार की होती है—१ अनन्तानुबन्धी, २ अप्रत्याख्यान, ३ प्रत्याख्यान, ४ संज्वलन। इनमें से अनन्तानुबन्धीकषाय सम्यक्त्व और चारित्र्य की घातनेवाली है, अप्रत्याख्यानावरणीकषाय देशसंयम को, प्रत्याख्यानावरणीकषाय सकलसंयम को और संज्वलनकषाय यथाख्यातचारित्र्य का घात करती है। (षट्खंडागम पुस्तक ६, पृष्ठ ४२ से ४४ तक व जीवकाण्ड गोम्मटसार गाथा २८२)

यदि किसी भी कषाय के संस्कार ६ मास से अधिक रहते हैं तो वह कषाय सम्यक्त्व का घात करनेवाली अनन्तानुबन्धी कषाय होती है। (गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ४६)

किसी भी कषाय के संस्कार ६ मास से अधिक न होने पावें, किन्तु ६ माह से पूर्व ही वे संस्कार दशलक्षण व क्षमावर्णी पर्व द्वारा नष्ट हो जावें। अतः भादोंमास से ५ माह पूर्व चैत्र मास में और भादोंमास से ५ माह पश्चात् माघमास में दशलक्षण व क्षमावर्णी पर्व मनाये जाते हैं।

दशलक्षण पर्व भादों, माघ व चैत्रमाह में चिरकाल से मनाये जा रहे हैं। अतः इसमें 'क्यों' का प्रश्न ही नहीं होता। जिननगरों में माघ व चैत्रमास में दशलक्षण पर्व न मनाया जाता हो वहाँ के भाइयों को माघ व चैत्र में भी दशलक्षणपर्व मनाना चाहिए।

—ज. सं. 19-6-58/V/हरीचंद जैन, एटा

मावों से पुण्य-पाप / निचली दशा में व्यवहारनय का उपदेश करने योग्य है

शंका—एक भूखे जीव को दुःखी देखकर खाने के लिये रोटी दे दी जावे। उस भूखे ने वह रोटी न खाकर उस रोटी से जानवरों को मारने का कार्य किया तो वह हिंसारूपी पाप किसको लगेगा ?

समाधान—भूखे को रोटी देनेवाले ने तो रोटी देकर त्याग किया। त्याग आत्मा का स्वभाव है। दसधर्म में त्याग भी एक धर्म है। त्यागधर्म पापबन्ध का कारण नहीं हो सकता है। जिस भूखे ने रोटी स्वयं न खाकर उस रोटी द्वारा जीवघात का कार्य किया, उस भूखे को पाप लगेगा। यद्यपि निश्चयनय से जीव न मरता है और न दूसरों के द्वारा मारा जा सकता है, किन्तु व्यवहारनय से जीव मरता भी है और दूसरों के द्वारा मारा भी जाता है। यदि व्यवहारनय को सर्वथा असत्यार्थ माना जावे तो जैसे भस्म को मसल देने में हिंसा का अभाव है उसीप्रकार ब्रह्म-स्थावर जिवों को निःशक्तया मसल देने में भी हिंसा का अभाव ठहरेगा और इस कारण बन्ध का ही अभाव सिद्ध होगा। बन्ध के अभाव में मोक्ष का भी अभाव हो जावेगा। (स० सा० गा० ४६ की आत्मख्याति टीका)। निचलीग्रवस्था अर्थात् अपरमभाव में स्थित जीवों के लिए व्यवहारनय का उपदेश करने योग्य है (स.सा.गा. १२)।

—टी. ग. 24-1-63/VII/ मो. ला.

सम्यग्दर्शन का लक्षण

शंका—सम्यग्दर्शन का लक्षण भिन्न-भिन्न कहा गया है जैसे—

- (क) सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान
- (ख) सत्त्वों का श्रद्धान
- (ग) भेदविज्ञान
- (घ) स्वानुभव

इन चारों में से सम्यग्दर्शन का यथार्थ लक्षण क्या है ?

समाधान—भेद-विज्ञान और स्वानुभव ये दोनों तो ज्ञान की पर्याय हैं अतः ये दोनों सम्यग्दर्शन के लक्षण नहीं हो सकते। कहा भी है—

'ज्ञेयज्ञातृत्वत्वतया प्रतीतिलक्षणेन सम्यग्दर्शनपर्यायिण ज्ञेय ज्ञातृत्व तथानुभूति-लक्षणेन ज्ञानपर्यायिण।' (प्रवचनसार गाथा २४२ की टीका)

ज्ञेयत्व और ज्ञातृत्व की यथार्थ प्रतीति जिसका लक्षण है वह सम्यग्दर्शन पर्याय है, ज्ञेयत्व और ज्ञातृत्व की यथार्थ अनुभूति जिसका लक्षण है वह ज्ञानपर्याय है।

इसप्रकार श्री अमृतचन्द्राचार्य ने अनुभूति अर्थात् अनुभव को ज्ञानकी पर्याय कहा है और प्रतीति को दर्शन की पर्याय कहा है।

भेदविज्ञान में तो 'विज्ञान' शब्द स्वयं ज्ञान का द्योतक है।

'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् । अस्य गमनिकोच्यते, आप्तागमपर्यार्यस्तत्त्वार्थस्तेषु, श्रद्धानजमनुरक्तता सम्यग्दर्शनमिति लक्ष्यनिर्देशः ।' (ध० पु० १ पृ० १५१)

तत्त्वार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं, इसका अर्थ यह है कि आप्त, आगम, पदार्थ को तत्त्वार्थ कहते हैं। यहाँ पर सम्यग्दर्शन लक्ष्य है।

इसप्रकार तत्त्वार्थ श्रद्धान कहो या सच्चेदेव, गुरु, शास्त्र का श्रद्धान कहो दोनों एक ही हैं। शब्द भेद है, अभिप्राय भेद नहीं है।

—छं. ग. 10-4-69/V/इन्द्रोरीलाल

द्रव्य में भूतभाविपर्याय विद्यमान नहीं हैं

शंका—असत् पर्याय उत्पन्न नहीं हो सकती, क्योंकि असत् का उत्पाद नहीं हो सकता। इसलिये प्रत्येक द्रव्य में उसकी सर्व पर्यायें विद्यमान रहती हैं और उनमें से एक-एक क्रम से प्रगट होती हैं और शेष पर्यायें तिरोहित रहती हैं। जैसे सिनेमा की सर्व तसवीरों रील पर विद्यमान रहती हैं, किन्तु उनमें से क्रमानुसार एक-एक तसवीर प्रगट होती रहती है और शेष तसवीरें तिरोहित रहती हैं। जिसप्रकार समस्त तसवीरों के समूह का नाम एक सिनेमा है उसीप्रकार सर्व पर्यायों के समूह का नाम द्रव्य है।

समाधान—असत् द्रव्य का उत्पाद नहीं हो सकता। जितने भी जीवों की संख्या हमेशा से है, उतनी ही संख्या आज भी है। उसप्रमाण में एक जीवद्रव्य की वृद्धि न आज तक हुई और न होगी। क्योंकि असत् द्रव्य का उत्पाद नहीं होता। प्रत्येक द्रव्य की एक समय में वर्तमान पर्याय विद्यमान रहती है शेष पर्यायों का उस समय प्रध्वंसाभाव या प्रागभाव है अर्थात् अभाव है।

द्रव्य का लक्षण सत् है और 'सत्' उत्पाद, व्यय, ध्रौव्ययुक्त है। श्री कुन्वकुन्वाचार्य ने कहा भी है—

'द्वयं सत्त्वक्षणं उत्पादव्यय-ध्रुवत्तसंजुक्तं।' पंचास्तिकाय, गाथा १० यदि सर्वपर्यायों को सर्वथा सत् माना जाय तो उत्पाद और व्यय घटित नहीं होंगे। उत्पाद-व्यय के न होने पर सत् भी सिद्ध नहीं हो सकेगा। सत् के अभाव में द्रव्य के अभाव का प्रसंग आ जायगा। श्री वीरसेनाचार्य ने कहा भी है—

'सव्वहा संतस्स संभवविरोहादो, सव्वहा संते, कज्जकारणभावाशुचवसीदो। किं चविप्पडिसेहादो ण संतस्स उप्पसी। जदि अत्थि, कधं तस्सुप्पत्ती? अहं उप्पज्जइ; कधं तस्स अत्थित्थिनिदि।' [धवल पु. १५ पृ. १८]

अर्थ—सर्वथा सत् की उत्पत्ति का विरोध है। सर्वथा सत् होने पर कार्य-कारणभाव ही घटित नहीं होता। इसके अतिरिक्त असंगत होने से सत् की उत्पत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि यदि पर्याय कारण-व्यापार के पूर्व में भी विद्यमान है तो फिर उसकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है? और यदि वह पर्याय कारण-व्यापार से उत्पन्न होती है तो फिर उसका पूर्व में विद्यमान रहना कैसे संगत कहा जावेगा?

इस आर्षवाक्य से सिद्ध है कि एक वर्तमानपर्याय विद्यमान है भावीपर्याय वर्तमान में विद्यमान नहीं है, किन्तु द्रव्य में उनरूप परिणमन करने की शक्ति है। जैसा कारण मिलेगा वैसी पर्याय उत्पन्न हो जावेगी। कहा भी है—

'तद्व्यापाद्भाभितं हि तद्भावभावित्वम् ॥३॥५९॥'

अर्थ—उस कारण के सद्भाव में उस पर्याय का होना कारण के व्यापार के आधीन है।

—छं. ग. 26-12-66/VII/देवकुमार

अन्योन्याभाव सब द्रव्यों में होता है

शंका—श्री पं० गोपालदासजी वरैया ने दो पुद्गलों की दो पर्यायों में अन्योन्याभाव बताया है, पुद्गल के अलावा अन्य जीवादि द्रव्यों में अन्योन्याभाव होता ही नहीं है ऐसा लिखा है। जबकि कवचपाहुड़-जयधवल प्रथम-साग पृ० २५० व २५१ पर यह अन्योन्याभाव प्रत्येक द्रव्य में बतलाया है और न मानने पर सर्वात्मकता का दोष बतलाया है। कृपया स्पष्ट करें दोनों में क्या ठीक है ?

समाधान—जयधवल पु० १ पृ० २५१ पर 'अभावकान्तपक्षेऽपि भावापह्नववादिनाम् ।' का अर्थ श्री पं० फूलचन्दजी तथा श्री पं० कैलाशचन्दजी ने इसप्रकार किया है—'एकद्रव्य की एकपर्याय का उसकी दूसरीपर्याय में जो अभाव है उसे अन्यापोह या इतरेतराभाव कहते हैं। इस इतरेतराभाव के अपलाप करने पर प्रतिनियतद्रव्य की सभी पर्यायें सर्वात्मक हो जाती हैं।' विशेषार्थ में भी लिखा है—'आशय यह है कि इतरेतराभाव को नहीं मानने पर एक द्रव्य की विभिन्न पर्यायों में कोई भेद नहीं रहता—सब पर्याय सबरूप हो जाती हैं।' धवल पु. १५ पृ. ३० पर इसी कारिका के विशेषार्थ में श्री पं० बालचंदजी ने लिखा है—'अतएव एकद्रव्य की विभिन्न पर्यायों में परस्पर भेद को प्रकट करनेवाले अन्योन्याभाव को स्वीकार करना ही चाहिये।' श्री अष्टसहस्री में भी कहा है—'स्वभावा-न्तरात्स्वभावव्यावृत्तिरन्यापोहः। यथा वर्तमाने घट स्वभाववत्पटस्वभावस्य व्यावृत्तिः।' इससे सिद्ध होता है कि अन्योन्याभाव सब द्रव्यों में होता है।

—जं. ग. 7-8-67/VII/र. ला.

मन्दिरस्थ प्रतिमापंचपरमेष्ठी की होती है

शंका—जिनमन्दिर में जो प्रतिमाजी विराजमान है वह प्रतिमाजी जैनसिद्धांत के अनुसार किस अवस्था की समझनी चाहिये ?

समाधान—जिनमन्दिर में जो प्रतिमा हैं वे मुख्यरूप से अरिहंत व सिद्ध अवस्था की हैं, किन्तु गौणरूप से पाँचों परमेष्ठियों की हैं, क्योंकि पाँचों परमेष्ठी पूजनीक हैं। नमस्कारमंत्र में पाँचों परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है। यदि यह कहा जावे कि आचार्यादिक तीन परमेष्ठियों ने आत्मस्वरूप को प्राप्त नहीं किया है, इसलिये उनमें देवपना नहीं आ सकता है, अतएव उनको नमस्कार करना योग्य नहीं है ?

इसका उत्तर श्री बीरसेन आचार्य ने निम्न प्रकार दिया है—

'देवोहि नाम त्रीणि रत्नानि स्वभेदतोऽनन्त-भेदभिन्नानि, तद्विशिष्टो जीवोऽपि देवः, अन्यथाशेषजीवानामपि देवत्वापत्तेः ततः आचार्यादयोऽपि देवा रत्नत्रयास्तित्वं प्रत्यविशेषात् ।'

अर्थ—अपने-अपने भेदों से अनन्तभेदरूप रत्नत्रय ही देव हैं, अतएव रत्नत्रय से युक्त जीव भी देव हैं, यदि रत्नत्रय की अपेक्षा देवपना न माना जावे तो सम्पूर्ण जीवों को देवपना प्राप्त होने की आपत्ति आ जाएगी। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि आचार्यादिक भी देव हैं, क्योंकि अरिहंतादिक से आचार्यादिक में रत्नत्रय के सद्भाव की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है। अर्थात् जिसप्रकार अरिहंत और सिद्धों के रत्नत्रय पाया जाता है, उसी प्रकार आचार्यादिक के भी रत्नत्रय का सद्भाव पाया जाता है। इसलिये आंशिक रत्नत्रय की अपेक्षा इनमें देवपना बन जाता है।

—जं. ग. 1-11-65/VII/ गुलाबचंद टेणमचंद

द्रव्य पूजा-विधान आगमोक्त है

शंका—क्या शास्त्रों में द्रव्यपूजा का कथन नहीं है ?

समाधान—द्रव्यपूजा का सविस्तार कथन श्रावणग्रंथों में पाया जाता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी द्रव्यपूजा का कथन किया है।

उसहादि जिणवराणं नामणिरुत्ति गुणाशुकिंत्ति च ।

काऊण अच्चिबूण य तिसुद्धि पणमो यवो लेओ ॥१-२६॥ सूलाचार

श्री वसुनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्यकृत संस्कृतटीका—

‘अच्चिबूण य अर्चयित्वा च गन्धपुष्पधूपादिभिः प्रासुकैरानीर्तैर्द्रव्यरूपैश्च विध्यैर्निराकृतमलपटलसुगन्धैश्चतु-
विंशतितीर्थकरपदयुगलानामर्चनं कृत्वा ।’

अर्थात्—लाये हुए प्रासुक गंध पुष्प धूपादिकों से जिनेश्वरों के चरणों को पूजना चाहिए।

अबभुट्टाणं अंजलि भासणदाणं च अतिहिपूजा य ।

लोगाणुवित्ति विणओ देवदपूयासविह्वेण ॥७-९३॥

आचार्य वसुनन्दि कृत टीका—‘स्त्रविभवेन स्वविस्तानुसारेणदेवपूजा ।’

अर्थात्—अपने वित्त के अनुसार देव पूजा करना।

इसके पश्चात् श्री सोमवेद आदि आचार्यों ने द्रव्यपूजा का विशद विवेचन किया।

—जं. ग. 26-10-67/VII/ पूर्णचंद्र एडवोकेट

शूद्रमुक्ति / स्त्रीमुक्ति

शंका—आगम में मनुष्य के सम्पूर्ण कुल और योनियों में चौदहों गुणस्थानों की योग्यता प्रतिपादित की है तो क्या शूद्रमुक्ति और स्त्रीमुक्ति सम्भव है ? स्पष्ट करें।

समाधान—शूद्र व स्त्रियों की कुलसंख्या तथा योनि पृथक् नहीं है। जो मनुष्यों के कुल व योनि हैं वह शूद्रों व स्त्रियों की भी हैं। अतः सम्पूर्ण मनुष्य कुलों व योनियों के मोक्ष कहने से शूद्र अर्थात् नीच गोत्री व स्त्री अर्थात् महिला (द्रव्यस्त्री) को मुक्ति सिद्ध नहीं होती। नीच गोत्र वाले के पाँचवाँ गुणस्थान तक हो सकता है, क्योंकि उससे ऊपर के छठे आदि गुणस्थानों में नीचगोत्र का उदय नहीं है। द्रव्यस्त्री (महिला) के भी सवस्त्र होने के कारण पंचम गुणस्थान से अधिक नहीं हो सकता।

—जं. सं. 28-6-56/VI/र. ला. जैन, केकड़ी

चरणानुयोग / अनगार चरित्र / निश्चल चित्त बनाने का उपाय

शंका—चित्त की निश्चल अवस्था कैसे प्राप्त हो ?

समाधान—निश्चल रहना तो चित्त का स्वभाव है। उस निश्चलता का घातक जो कर्म है उस कर्म का क्षय करने से चित्त की निश्चल अवस्था स्वयमेव हो जावेगी। प्रवचनसार गाथा ७ की टीका में कहा भी है—

‘निर्विकारनिश्चलचित्तवृत्तिरूपचारित्रस्य विनाशकचारित्रमोहभिधानः क्षोभ इत्युच्यते ।’

निर्विकार निश्चल चित्तवृत्तिरूप चारित्र का विनाशक चारित्रमोह के नाम से कहा जानेवाला क्षोभ है । यह क्षोभ चारित्रमोहनीयकर्म से उत्पन्न होता है । चारित्रमोहनीयकर्म के अभाव में निश्चल चित्तवृत्ति के विनाशक क्षोभ का भी अभाव हो जायगा ।

‘दर्शनचारित्रमोहनीयोदयापादितसमस्तमोहक्षोभाभावाद्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणामः ।’

—प्रवचनसार भाषा ७ टीका

दर्शनमोहनीयकर्मोदय से मोह उत्पन्न होता है और चारित्रमोहनीयकर्मोदय से क्षोभ उत्पन्न होता है । दर्शनमोहनीयकर्म और चारित्रमोहनीयकर्मोदय के अभाव में मोह और क्षोभ (चंचल चित्तवृत्ति) का अभाव हो जाता है । इनके अभाव में जीव का अत्यन्त निर्विकार (निश्चल) परिणाम होता है ।

—जै. ग. 2-11-72/VII/रो. ला. जैन

अशोकवृक्ष जीव के शोक को दूर करता है

शंका—अशोकवृक्ष में दूसरे जीवों के शोक को दूर करने की विशेषता होती है क्या ?

समाधान—अशोकवृक्ष में दूसरे जीवों के शोक को दूर करने की शक्ति होती है, इसी कारण उसको अशोकवृक्ष की संज्ञा दी गई है ।

रेजेऽशोकतरुसौ रुन्धन्मार्गं ध्योमन्त्रमहेशानाम् ।

तन्वन्योजनविस्तृताः शाखा धुन्वन शोकमयमदो ध्वानाम् ॥ २३/३९ ॥ (महापुराण)

अर्थ—आकाश में चलने वाले देव और विद्याधरों के स्वामियों का मार्ग रोकता हुआ अपनी एक योजन विस्तारवाली शाखाओं को फँलाता हुआ और शोकरूपी अन्धकार को नष्ट करता हुआ वह अशोकवृक्ष बहुत ही अधिक शोभायमान हो रहा था ।

सर्वतु कुसुमेनान्यसर्वशोकापहारिताम् ।

अशोकेनाभिपुञ्ज्यत्वं सुमनीवृष्टि पूजया ॥५७/१६४॥ (हरिश्चंद्रपुराण)

अर्थ—सब ऋतुओं के फूलों से युक्त अशोकवृक्ष के द्वारा अन्य समस्त जीवों के शोक दूर करने की सामर्थ्य को, पुष्पवृष्टिरूप पूजा के द्वारा पूज्यता को प्रकट कर रहे थे ।

—जै. ग. 23-7-70/VII/ रतनलाल जैन

सत्य अर्थ सद्यथा धजात नहीं हो सकता

शंका—सत्य अज्ञात है, उस सत्य को उन विचारों से कैसे जाना जा सकता है जो विचार ज्ञात हैं ?

समाधान—कोई भी सत् रूप अर्थ (विद्यमान अर्थ, सद्भावात्मक अर्थ) ऐसा नहीं है जो कि किसी न किसी ज्ञान का विषय न हो, क्योंकि अर्थ उसको ही कहते हैं जो जाना जाय । कहा भी है—

‘वर्तमानपर्यायाणामेव किमित्यर्थं त्वमिष्यत इति चेत् ? न ‘अयंते परिच्छिद्यते’ इति न्यायतस्तत्रार्थत्वो-
पलम्भात् ।’ जयधवल पु० १ पु० २२-२३

अर्थ—केवल वर्तमानपर्याय को ही अर्थ क्यों कहा जाता है ? ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि जो जाना जाता है उसको अर्थ कहते हैं, इस व्युत्पत्ति के अनुसार वर्तमानपर्यायों में ही अर्थपना पाया जाता है ।

जितने भी सत् रूप अर्थ हैं उनका कोई न कोई जाता अवश्य है अन्यथा उसकी अर्थ संज्ञा नहीं बन सकती, क्योंकि जो जाना जाता है वह अर्थ है । इसलिये यह कहना कि 'सत्यार्थ' अज्ञात है उचित नहीं है ।

यदि सत्यार्थ किसी व्यक्ति विशेष को अज्ञात है तो ज्ञाता पुरुषों के उपदेश द्वारा उस अज्ञात को भी वह सत्यार्थ ज्ञात हो सकता है । इसलिये सत्यार्थ सर्वथा अज्ञात नहीं हो सकता ।

—जं. ग. 7-11-68/XIV-XV/ रोजनलाल

मिथ्यादृष्टि मनुष्य-तिर्यंच के अवधिज्ञान की संज्ञा विभंगावधि या कु-अवधि है

शंका—देशावधिज्ञान क्या सम्यग्दृष्टि मनुष्य-तिर्यंचों के ही होता है या मिथ्यादृष्टि के भी हो सकता है ?

समाधान—देशावधिज्ञान मनुष्य, तिर्यंच, देव व नारकी चारों गतियों में मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के हो सकता है, किन्तु उसकी संज्ञा देशावधि न होकर विभंगावधि या कु-अवधि होती है । कहा भी है—

'विभंगणानं सण्णि मिच्छाद्विणीं वा सासणसम्माद्विणीं वा ॥११७॥ पज्जत्ताणं अत्थि, अपज्जत्ताणं पत्थि ॥११८॥' (धवल पु. १ पृ. ३६२)

अर्थ—विभंगावधिज्ञान संज्ञीमिथ्यादृष्टिजीवों के तथा सासादनसम्यग्दृष्टिजीवों के होता है, किन्तु वह पर्याप्तकों के ही होता है अपर्याप्तकों के नहीं होता है ।

—जं. ग. 26-11-70/VII/ गम्भीरमल सोनी

आजकल शुद्धोपयोग नहीं है

शंका—कलिकाल में बीतरागचारित्र की असम्भवता किस अनुयोग की अपेक्षा से है । बिना शुद्धोपयोग के भी सम्यग्दर्शन हो सकता है या नहीं ? यदि होता है तो किस प्रकार—

समाधान—आजकल पंचमकाल में भरतक्षेत्र में शुक्लध्यान का निषेध है, किन्तु धर्मध्यान का निषेध नहीं है । धर्मध्यान शुभभाव है । श्री कुन्दकुन्द भगवान ने कहा है—

अरहे दुस्समकाले धम्मज्जाणं हवेइ साहुस्स ।

तं अप्पसहावठिडे ण हु मण्णइ सोवि अण्णाणी ॥७६॥ मो. पा.

अर्थ—इस भरतक्षेत्र विषे दुःषमकाल जो पंचमकाल ता विषे साधु-मुनि के धर्मध्यान होय है, सो यह धर्मध्यान आत्मस्वभाव के विषे स्थित हैं । तिस मुनि के होय है । यह न माने सो अज्ञानी है जाकू धर्मध्यान के स्वरूप का ज्ञान नाही है ।

अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः ।

धर्म्यध्यानं पुनः प्राहु श्रेणिभ्यां प्राग्विवातिनाम् ॥८३॥ तत्त्वानुशासन

अर्थ—यहाँ भरतक्षेत्र में इस पंचमकाल में जिनेन्द्रदेव शुक्लध्यान का निषेध करते हैं परन्तु दोनों श्रेणियों से पूर्ववर्ती होने वाले धर्मध्यान का निषेध नहीं है ।

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव जायध्वं ।
असुहं च अट्टरद्दं सुधधम्मं जिणवरिदेहिं ॥७६॥ भावपाट्ट

अर्थ— शुभ, अशुभ व शुद्ध ऐसे तीनप्रकार के भाव जानने चाहिए । अर्त और रीद्रध्यान अशुभ है और धर्मध्यान शुभभाव है । ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ।

‘सर्वपरित्यागः परमोपेक्षासंयमो वीतरागचारित्रं शुद्धोपयोग इति यावदेकार्थः’ प्रवचनसार पृ० ३१५

अर्थ—सर्वपरित्याग, परमोपेक्षा संयम, वीतरागचारित्र और शुद्धोपयोग में एकार्थवाची हैं । आजकल परमोपेक्षा संयम नहीं है, इसलिए शुद्धोपयोग भी नहीं है ।

शुद्धोपयोग के बिना सम्यग्दर्शन होता है, क्योंकि मिथ्यात्वगुणस्थान में शुद्धोपयोग नहीं हो सकता है । यदि शुद्धोपयोग पूर्वक ही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति मानी जावेगी तो मिथ्यात्वगुणस्थान में भी शुद्धोपयोग का प्रसंग आ जावेगा, जिससे आगम से विरोध आ जायगा ।

—जै. ग. 24-10-66/VI/ पं. श्रांतिकुमार

वैयावृत्ति एवं साधु-समाधि भावना

शंका—वैयावृत्य एवं साधु-समाधि में क्या अन्तर है ।

समाधान—तीर्थंकरप्रकृति के बंध के लिये सोलह भावनाओं का कथन मोक्षशास्त्र अध्याय ६ सूत्र २४ में है तथा ध्वल पुस्तक ८ सूत्र ४१ पृ. ७९ पर है । इन सोलह भावनाओं में साधु-समाधि और वैयावृत्यकरण ये दो भावनाएँ भी हैं ।

सर्वार्थसिद्धि टीका में साधु-समाधि का अर्थ इसप्रकार कहा है—‘जैसे भण्डार में आग लग जाने पर बहुत उपकारी होने से आग को शांत किया जाता है उसीप्रकार अनेक प्रकार के व्रत और शीलों से समृद्ध मुनि के तप करते हुए किसी कारण से विघ्न उत्पन्न होने पर संधारण करना शान्त करना साधु-समाधि है ।’ ध्वल पुस्तक ८ में इस भावना का नाम ‘साधु-समाधि संधारणता’ दिया है । इसका स्वरूप पृ० ८८ पर इसप्रकार कहा गया है—‘दर्शन, ज्ञान व चारित्र में सम्यक् अवस्थान का नाम समाधि है । सम्यक् प्रकार से धारण या साधन का नाम संधारण है । समाधि का संधारण समाधि-संधारण है और उसके भाव का नाम समाधि संधारणता है । किसी भी कारण से गिरती हुई समाधि को देखकर सम्यग्दृष्टि प्रवचनवत्सल प्रवचनप्रभावक विनयसम्पन्न शीलव्रतातिचारवर्जित- और अरहंतादिकों में भक्तिमान होकर चूंकि उसे धारण करता है इसलिए वह समाधि संधारण है ।’

वैयावृत्य का लक्षण सर्वार्थसिद्धि में इसप्रकार है—‘गुणी पुरुष के दुःख में आ पड़ने पर निर्दोष उस दुःख का दूर करना वैयावृत्य है ।’ ध्वल पुस्तक ८ में इस भावना का नाम ‘साधुओं की वैयावृत्ययोग युक्तता’ दिया है और पृ० ८८ पर इसका स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—‘व्यावृत्य अर्थात्—रोगादि से व्याकुल साधु के विषय में जो किया जाता है उसका नाम वैयावृत्य है । जिस सम्यक्त्व, ज्ञान, अरहंतभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, एवं प्रवचनवत्सल-त्वादि से जीव वैयावृत्य में लगता है वह वैयावृत्ययोग अर्थात् दर्शनविशुद्धतादि गुण हैं । उनसे संयुक्त होने का नाम वैयावृत्ययोगयुक्तता है ।’

इसप्रकार ध्वलाकार के मत से गिरती हुई समाधि को देखकर स्वयं उसको धारण करता है वह साधु समाधि है । ‘रोगादि से व्याकुल साधु का दुःख दूर करना’ वैयावृत्य है । अतः स्व और पर का भेद है ।

—जै. ग. 16-5-63/IX/ प्रो. म. ला. जैन

संयोजना सत्य का स्वरूप

शंका—‘संयोजना सत्य’ का क्या स्वरूप है ?

समाधान—१४ पूर्वों में से छठा सत्यप्रवादपूर्व है उसमें दसप्रकार के सत्य का कथन है। उस दसप्रकार के सत्य में से छठा सत्य संयोजनासत्य है। इस संयोजना सत्य का स्वरूप ध्वलसिद्धांतग्रन्थ में निम्न प्रकार दिया है—

‘सूपचूर्णवासानुलेपनप्रघर्षादिषु पद्मकरहंससर्बतोभद्रक्रीञ्चव्यूहाविषु इतरेतरद्रव्याणां यथाविभागसन्निवेशा-
विभाषिकं यद्वचस्तत्संयोजनासत्यम् ।’

अर्थ—धूप के सुगन्धी-चूर्ण के अनुलेपन और प्रघर्षण के समय, अथवा पद्म, मकर, हंस, सर्बतोभद्र और क्रीञ्चआदिरूप व्यूह रचना के समय सचेतन अथवा अचेतन द्रव्य के विभागानुसार विधिपूर्वक रचना विशेष के प्रकाशक जो वचन वह संयोजनासत्य है।

हरिधंशपुराण में संयोजनासत्य का स्वरूप निम्नप्रकार कहा है—

चेतनाचेतनद्रव्यसन्निवेशा विभागकृत् ।

वचः संयोजना-सत्यं क्रीञ्चव्यूहादिगोचरम् ॥१०/१०३॥

श्री पं० पन्नालाल साहित्याचार्य कृत अर्थ—

‘जो चेतन-अचेतन द्रव्यों के विभाग को करनेवाला न हो उसे संयोजनासत्य कहते हैं। जैसे क्रीञ्चव्यूह आदि। भावार्थ—क्रीञ्चव्यूह, चक्रव्यूह आदि सेनाओं की रचना के प्रकार हैं और सेनाएँ चेतनाचेतन पदार्थों के समूह से बनती हैं, पर जहाँ अचेतन पदार्थों की विवक्षा न कर केवल क्रीञ्चाकार रची हुई सेना को क्रीञ्चव्यूह और चेतन पदार्थों की विवक्षा न कर केवल चक्र के आकार रची हुई सेना को चक्रव्यूह कह देते हैं; वहाँ संयोजना सत्य होता है।’

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ पर ‘चेतन-अचेतन द्रव्यों के विभाग को करनेवाला न हो’ इसका अभिप्राय है—‘चेतन अचेतन द्रव्यों की विवक्षा करनेवाला न हो।’ चेतन-अचेतन द्रव्यों का संकर करने वाला हो’ ऐसा अभिप्राय न ग्रहण करना चाहिए।

—जं. सं. 16-7-70/ रौ. ला. जैन

शुद्धोपयोग के गुणस्थान

शंका—चौथे गुणस्थानवाले को जब शुद्धोपयोग होता है तो उसके उससमय किसी प्रकार का विचार होता है या नहीं? यदि होता है तो क्या आत्मा को छोड़कर परद्रव्य का द्रव्यदृष्टि से विचार करते हुए भी उसके शुद्धोपयोग हो सकता है या नहीं? जितनी देर यह आत्मा का या परद्रव्य का द्रव्यदृष्टि से विचार करता है उतनी देर क्या नियम से शुद्धोपयोग होता ही है ?

समाधान—चौथे गुणस्थान में शुद्धोपयोग नहीं होता है। यथार्थ शुद्धोपयोग तो अकषाय अवस्था में होता है जो ग्यारहवें आदि गुणस्थानों में होता है। उपभ्रम व क्षपकश्रेणी में भी शुद्धोपयोग की मुख्यता है। उपचार से अप्रमत्त-सातवें गुणस्थान में भी शुद्धोपयोग कह दिया जाता है, क्योंकि वहाँ पर भी कषाय (संज्वलन) की

मन्दता है। गो० भा० प्र० अ० ७ में कहा है—‘ताका अभाव माने ज्ञान का अभाव होय तब जड़पना भया सो आत्मा के होता नहीं। तातें विचार तो रहे है, बहुरि जो कहिए, एक सामान्य (द्रव्यदृष्टि) का ही विचार रहता है, विशेष (पर्याय) का नाहीं तो सामान्य का विचार तो बहुत काल रहता नाहीं वा विशेष की अपेक्षा सामान्य का स्वरूप भासता नाहीं। बहुरि कहिए—आपही का विचार रहता है, पर का नाहीं, तो पर विषे पर बुद्धि भये बिना आप विषे निजबुद्धि कैसे आवे।’ इसी अधिकार में यह भी कहा है—‘चौथा गुणस्थान विषे कोई अपना स्वरूप चिन्तवन करे है ताके भी आस्रव बन्ध अधिक है, वा गुणश्रेणी निर्जरा नाहीं है। पंचम षष्ठम गुणस्थान विषे आहार-विहारादि क्रिया होते परद्रव्य चितवन तैं भी आस्रवबन्ध थोरा ही है वा गुणश्रेणी निर्जरा हुआ करे है। तातें स्वद्रव्य-परद्रव्य के चितवनतैं निर्जराबन्ध नाहीं। रागादि घटे निर्जरा है, रागादिक भये बन्ध है।’

—जै. सं. 19-7-56/VI/....

चाण्डाल को देव कहना नैगमनय एवं द्रव्य निक्षेप का विषय

शंका—श्री रत्नकरण्ड भावकाचार में सम्यग्दर्शनसहित चाण्डाल का देह भी पूजनीय है ऐसा लिखा है, इस पर आप पूर्णरूप से प्रकाश डालें।

समाधान—यह शंका पर्यायदृष्टि से की गई है, क्योंकि चाण्डाल, देह, सम्यग्दर्शन, शास्त्र, पूजनीय ये सब पर्याय हैं। शंकाकार ने १५ मई के पत्र में लिखा था कि द्रव्यदृष्टि ही मोक्षमार्ग है।

श्री र. क. श्रा. के जिस श्लोक से शंकाकार का अभिप्राय है, वह श्लोक इसप्रकार है।

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम् ।

देवा देवं विदुर्भस्मगूढांगारन्तरोजसम् ॥२८॥

‘मातङ्ग-देहजम्’ का अभिप्राय चाण्डाल शरीर नहीं है, किन्तु चाण्डाल पुत्र से है, क्योंकि शरीर जो जड़ है वह सम्यग्दर्शन से सम्पन्न नहीं हो सकता है। ‘सम्यग्दर्शन सहित चाण्डाल का देह भी पूजनीय है’ ऐसा श्री रत्नकरण्ड भावकाचार में नहीं कहा गया है। अतः श्री मुकुटलाल की शंका में कोई सार नहीं है। फिर भी इस श्लोक नं० २८ के अभिप्राय पर आर्षग्रन्थानुसार विचार किया जाता है—

अर्थ इस प्रकार है—अन्तरंग में अज्ञानवाले भस्म से ढके हुए अंगारे के समान, सम्यग्दर्शन से सम्पन्न चाण्डाल पुत्र को भी देव (गराधरदेव) ने देव कहा है।

‘चाण्डाल पुत्र को देव कहा है’ इसमें जो ‘देव’ शब्द है उसके अर्थ पर तथा नयविभाग पर विचार होना चाहिए।

पंचनमस्कारमंत्र में अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, और साधु को नमस्कार किया गया है, किन्तु अविरतसम्यग्दृष्टि या देशविरतसम्यग्दृष्टि को नमस्कार नहीं किया गया है। यदि अविरतसम्यग्दृष्टि या देशविरत-सम्यग्दृष्टि पंचपरमेष्ठियों के समान देव होते तो उनको भी नमस्कार किया जाता, किन्तु उनको नमस्कार नहीं किया गया अतः वे देव नहीं हैं, क्योंकि वे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यरूप रत्नत्रय से युक्त नहीं हैं। श्री बीरसेनाचार्य ने कहा भी है—

‘देवो हि नाम त्रीणि रत्नानि स्वभेदतोऽनन्तमेवभिन्नानि, तद्विशिष्टो जीवोऽपि देवः अन्यथाशेषजीवानामपि देवत्वापत्तेः।’

अर्थ—अपने-अपने भेदों से अनन्तभेदरूप रत्नत्रय ही देव है, अतएव रत्नत्रय से (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य से) युक्त जीव देव है। यदि रत्नत्रय की अपेक्षा देवपना न माना जावे तो सम्पूर्ण भव्यजीवों को देवपना प्राप्त होने की आपत्ति आ जायगी।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य भी प्रथमचरण में कहते हैं—

‘सद्दहमाणो अत्ये असंजवा वा ण णिव्वादि ।’

पदार्थों का यथार्थ श्रद्धान करनेवाला अर्थात् सम्यग्दृष्टि यदि असंयत हो तो निर्वाण को प्राप्त नहीं होता है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी कहा है—

‘असंयतस्य च यथोक्तात्मतत्त्वप्रतीतिरूपं श्रद्धानं यथोक्तात्मतत्त्वानुभूतिरूपं ज्ञानं वा किं कुर्यात् ? ततः संयमशून्यात् श्रद्धानात् ज्ञानाद्वा नास्ति सिद्धिः। अतः आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानामयोगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं विद्यतेतैव ।’

असंयत को, यथोक्त आत्मतत्त्व की प्रतीतिरूप श्रद्धान यथोक्त आत्मतत्त्व की अनुभूतिरूप ज्ञान क्या करेगा ? अर्थात् कुछ नहीं करेगा अथवा कुछ कार्यकारी नहीं है। इसलिये संयमशून्य (चारित्र्यरहित) श्रद्धान-ज्ञानसे सिद्धि नहीं होती। आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयतत्व के अयुग्मत्व के मोक्षमार्गत्व घटित नहीं होता। अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य की युग्मत्ता ही मोक्षमार्ग है, मात्र सम्यग्दर्शन-ज्ञान मोक्षमार्ग नहीं है। जहां मोक्षमार्ग नहीं है वहां देवत्व भी नहीं है।

चाण्डालपुत्र के चारित्र्य नहीं हो सकता, क्योंकि ऊंच वर्णवाला ही मुनिदीक्षा के योग्य है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा भी है—

वण्णोसु तीसु एवको कल्लाणंगो तवोसहो वयसा ।

सुमुहो कुंझारहिवो लिगगहरो हवदि जोग्गो ॥

‘ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनवर्णों में से कोई एक वर्णधारी हो, जिसका शरीर रोम रहित हो, तपस्या को सहन करनेवाला हो, सुन्दर मुखवाला हो तथा लोकापवाद से रहित हो वह पुरुष जिनबीक्षा ग्रहण करने के योग्य होता है।’

यदि कहा जाय कि चाण्डाल के द्रव्यचारित्र्य न हो, भावचारित्र्य तो हो सकता है, क्योंकि द्रव्यचारित्र्य शरीराश्रित है और भावचारित्र्य जीवाश्रित है। सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने सूत्रप्राप्त में कहा भी है—

णिज्जेलपाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिदेहि ।

एवको वि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे ॥१०॥

‘तीर्थंकर परमदेव ने नग्नमुद्रा के धारी निर्ग्रन्थमुनि को ही पाणिपात्र में आहार लेने का उपदेश दिया है। यह एक निर्ग्रन्थमुद्रा ही मोक्षमार्ग है, इसके अतिरिक्त शेष सब अमार्ग हैं मोक्षमार्ग नहीं है।’

ण वि सिज्जइ कथधरो जिणसासरो जइ वि होइ तित्थयरो ।

णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥ २३ ॥

‘जिनशासन में कहा है कि वस्त्रधारी पुरुष सिद्धि को प्राप्त नहीं होता, भले ही वह तीर्थंकर भी क्यों न हो ? नग्न वेष ही मोक्षमार्ग है, शेष सब उन्मार्ग (मिथ्यामार्ग) हैं ।’

पंचमहर्ष्वयजुत्तो तिहिपुत्तिहि जो स संजदो होई ।

णिगंथमोक्खमग्गो सो होदि हु बंदणिज्जो य ॥२०॥

‘जो पांचमहाव्रत और तीनगुप्तियों से सहित है वही संयत अर्थात् संयमी-मुनि होता है। निर्ग्रन्थ ही मोक्षमार्ग है। निर्ग्रन्थ साधु ही वन्दना अर्थात् नमस्कार के योग्य है।’ इससे स्पष्ट हो जाता है कि जो निर्ग्रन्थसाधु नहीं हैं वे वन्दने योग्य नहीं हैं। चाण्डाल पुत्र निर्ग्रन्थसाधु नहीं हो सकता, इसलिये वह वन्दने योग्य नहीं है।

एकं जिणस्स रूवं वीयं द्वियं उक्खिदुसावयाणं तु ।

अवरद्वियाण तइयं चउत्थ पुण लिगबंसणं पत्थि ॥१८॥ (दर्शनपाहुड़)

‘एक जिनमुद्रा अर्थात् नग्नरूप, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों का अर्थात् क्षुल्लक या ऐलक और तीसरा आयिकाओं का, इसप्रकार जिनशासन में तीन लिङ्ग कहे गये हैं। चौथा लिग जिनशासन में नहीं है।’ चाण्डालपुत्र के ये तीनों लिग नहीं हैं अतः वह इच्छाकार के योग्य भी नहीं है।

‘न तासां भावसंयमोऽस्तिभावसंयमाविनाभाविबस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः ।’

‘उनके (वस्त्रधारियों के) भावसंयम नहीं है, क्योंकि भावसंयम के मानने पर उनके भाव-असंयम का अविनाभावी वस्त्रादिक का ग्रहण करना नहीं बन सकता है।’

द्रव्यलिगं समास्थाय भावलिगो भवेद्यतिः ।

विना तेन न वन्द्यः स्यान्नानाव्रतघरोऽपि सन् ॥

द्रव्यलिगमिदं ज्ञेयं भावलिगस्य कारणं । (अष्टपाहुड़ पृ० २०७)

‘मुनि द्रव्यलिग धारणकर भावलिगी होता है। नानाव्रतों का धारक होने पर भी द्रव्यलिग के बिना वन्दनीय नहीं है, नमस्कार के योग्य नहीं है। इस द्रव्यलिग को भावलिग का कारण जानना चाहिए।’ चाण्डालपुत्र द्रव्यलिग को धारण नहीं कर सकता, अतः वह वन्दनीय नहीं है।

‘देव’ शब्द का दूसरा अर्थ इसप्रकार है—

‘अणिमाद्यष्टगुणावष्टम्भत्वेन दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवाः ।’ (ध. पु. १ पृ. २०३)

जो अणिमादि आठऋद्धियों की प्राप्ति के बल से क्रीड़ा करते हैं उन्हें देव कहते हैं। चाण्डालपुत्र के अणिमादि आठऋद्धियों की प्राप्ति नहीं है अतः चाण्डालपुत्र देव नहीं है। चाण्डालपुत्र के देवगति नाम कर्म का उदय नहीं है, इसलिए भी वह देव नहीं है।

प्रश्न यह होता है कि सम्यग्दर्शनयुक्त चाण्डालपुत्र को श्री सभंतभद्राचार्य ने रस्नकरुण्ड धावकाचार में देव क्यों कहा है ? जैनागम में नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव ये चार निक्षेपों तथा नैगम आदि साततन्त्रों के द्वारा कथन किया गया है।

चाण्डालपुत्र यद्यपि वर्तमानपर्याय में देव नहीं है तथापि सम्यग्दर्शनसहित होने के कारण अगली पर्याय में देव होगा, क्योंकि सम्यग्दर्शन देवायु के बन्ध का कारण है, ऐसा 'सम्यक्त्वं च' सूत्र द्वारा कहा गया है। अतः द्रव्यनिक्षेप से सम्यग्दृष्टिचाण्डालपुत्र को देव कहने में कोई आपत्ति नहीं है। कहा भी है—

'अणागद्य पञ्जाय विसेसं पडुच्च गहियाहिमुहियं दध्वं अतदभावं वा ।'

आगे होनेवाली पर्याय को ग्रहण करने के सम्मुख हुए द्रव्य को, उस आगामीपर्याय की अपेक्षा द्रव्यनिक्षेप कहते हैं अथवा वर्तमानपर्याय की विवक्षा से रहित द्रव्य को ही द्रव्यनिक्षेप कहते हैं।

सम्यक्त्वसहित चाण्डालपुत्र नैगमनय से देव है। जैसे किसी मनुष्य को पापी लोगों का समागम करते हुए देखकर, नैगमनय से कहा जाता है कि यह पुरुष नारकी है; वैसे ही सम्यग्दृष्टिचाण्डालपुत्र को सत्समागम करते हुए देखकर नैगमनय से कहा जाता है कि यह पुरुष देव है। कहा भी है—

**कं पि णरं दट्ठूण य पावज्जणसमागमं करेमाणं ।
भोगमणएण भण्णइ णेरइओ एस पुरिसो त्ति ॥**

श्री समंतभद्राचार्य ने द्रव्यनिक्षेप तथा नैगमनय की अपेक्षा सम्यग्दृष्टिचाण्डालपुत्र को देव कहा है। अथवा शक्ति की अपेक्षा देव कहा है। कहा भी है—

'बहिरात्मावस्थायामन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेण भाविर्नैगमनयेन व्यक्तिरूपेण च विज्ञेयम् । अन्तरात्मावस्थायां तु बहिरात्मा भूतपूर्वनयेन घृतघटवत्, परमात्मस्वरूपं तु शक्तिरूपेण भाविर्नैगमनयेन व्यक्तिरूपेण च । परमात्मावस्थायां पुनरन्तरात्मबहिरात्मद्वयं भूतपूर्वनयेनेति ।' (द्रव्यसंग्रह पृ. ४७)

बहिरात्मा (मिथ्यादृष्टि) की दशा में अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्तिरूप से रहते हैं और भावीनैगमनय से व्यक्तिरूप से भी रहते हैं ऐसा समझना चाहिए। अन्तरात्मा की अवस्था में बहिरात्मा घृत-घट के समान भूतपूर्वनय से रहता है और परमात्मा का स्वरूप शक्तिरूप से रहता है तथा भावीनैगमनय की अपेक्षा व्यक्तिरूप से भी जानना चाहिये। परमात्मवस्था में अन्तरात्मा तथा बहिरात्मा भूतपूर्वनय की अपेक्षा जानने चाहिये।

सम्यग्दृष्टिचाण्डालपुत्र अन्तरात्मा है, अतः उसमें परमात्मापन अर्थात् देवत्वशक्तिरूप से है।

भावनिक्षेप तथा एवंभूतनय की अपेक्षा सम्यग्दृष्टिचाण्डालपुत्र में देवत्व नहीं है। कहा भी है—

'वर्तमानपर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः ।' [घ. पु. १ पृ. २९]

वर्तमानपर्याय से युक्त द्रव्य को भावनिक्षेप कहते हैं। सम्यग्दृष्टिचाण्डालपुत्र के वर्तमान में मनुष्यपर्याय है, देवपर्याय नहीं है, अतः वह देव नहीं है।

जैसे मनुष्य जब नरकगति में पहुंचकर नरक के दुःख अनुभव करने लगता है तभी वह नारकी है ऐसा एवंभूतनय कहता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टिचाण्डालपुत्र जब देवगति में पहुंचकर देव के मुख का अनुभव करने लगता है तभी वह देव है ऐसा एवंभूतनय कहता है। कहा भी है—

**णिरयगई संपत्तो जइया अण्हवइ णारयं दुक्खं ।
तइया सो णेरइओ एवंबूदो णओ भणदि ॥**

चाण्डाल यदि मात्र सम्यग्दर्शनसहित होने के कारण पूजनीय हो जाता है तो जिन्होंने तीर्थंकर आदि के उपसर्ग को दूर किया तथा समवशरण में साक्षात् तीर्थंकरभगवान के दर्शन करते हैं और दिव्यध्वनि सुनते हैं ऐसे उच्चगोत्री व्यंतरदेव व देवांगनाएँ, भवनवासी देव व देवांगनाएँ, सूर्य चन्द्रमा आदि देव व देवांगनाएँ सम्यग्दर्शन के कारण भी पूजनीय हो जायेंगे ।

श्री महावीरस्वामी के जीव को शेर की पर्याय में तथा श्री पार्ष्णनाथ के जीव को हाथी की पर्याय में सम्यग्दर्शन हो गया था, किन्तु किसी भी मनुष्य या देव ने शेर व हाथी की अष्टद्रव्य से पूजा नहीं की और न नमस्कार किया ।

राजा श्रेणिक का जीव क्षायिकसम्यग्दृष्टि तीर्थंकरप्रकृति का निरन्तर बन्ध करनेवाला प्रथम नरक में है, किन्तु कोई भी देव उस नारकी की पूजा या नमस्कार करने नहीं गया । स्वर्ग से श्री बलदेव का जीव श्रीकृष्ण के जीव को मिलने के लिये अधोलोक में गया था । यद्यपि श्रीकृष्ण का जीव सम्यग्दृष्टि है और निरन्तर तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध कर रहा है तथापि श्री बलदेव के जीव ने न तो अष्टद्रव्य से पूजा की और न नमस्कार किया ।

ये कुछ दृष्टान्त बालजनों को समझाने के लिए दिए गये हैं । कोई भी मनुष्य या तिर्यच मात्र सम्यग्दर्शन के कारण देव नहीं हो जाता है, मरकर देवगति व देवायु के उदय होने से देवपर्याय में उत्पन्न होने पर देव होगा । नैगमनय से उस मनुष्य या तिर्यच को देव कह सकते हैं, जैसे रसोई के लिए जल लानेवाला कहता है कि रसोई बना रहा हूँ, मात्र जल लाने से रसोई नहीं बन जाती ।

वर्तमान में जो भोजन है वह नैगमनय से विष्टा है और खेत में पड़ा हुआ विष्टारूपी खाद नैगमनय से अन्न है । यदि मात्र नैगमनय को ध्यान में रखा जावे तो भोजन करना संभव नहीं है । भोजन तो भावनिक्षेप तथा एवंभूतनय की दृष्टि से ही संभव है ।

अतः नय और निक्षेप को ध्यान में रखकर आर्षप्रश्नों का अर्थ समझना चाहिए ।

—जै. ग. 29-7-71/VII/ मुकुटलाल, बुलन्दशहर

१. सत्यासत्य वचन एवं उनके भेद-प्रभेद

२. दस सत्यों में व्यवहारनय के विषय निहित हैं, अतः व्यवहार सत्य है

शंका—सत्य-असत्य का क्या लक्षण है ? जैन आगमानुसार वास्तविक वचन ही क्या सत्य वचन है ?

समाधान—मोक्षशास्त्र अध्याय ७ सूत्र १४ में असत्यवचन का लक्षण निम्नप्रकार कहा है—

‘असदभिधानमनूतम् ।’

अर्थ—अप्रशस्त वचन कहना असत्य है ।

श्री सर्वार्थसिद्धि टीका में कहा है—‘जिससे प्राणियों को पीड़ा होती है उसे अप्रशस्त कहते हैं, भले ही वह विद्यमान पदार्थ को विषय करता हो या अविद्यमान पदार्थ को विषय करता हो । जिससे हिंसा हो वह वचन असत्य है, ऐसा निश्चय करना चाहिये ।’

श्री तत्त्वार्थवृत्ति टीका में लिखा है—'प्रमाद के योग से अप्रशस्त वचन कहना असत्य है। प्राणियों को पीड़ाकारक वचन असत्य है। हिंसाकारक वचन असत्य है। कर्णकर्कश, हृदयनिष्ठुर, मनमें पीड़ा करनेवाला, विप्रलापयुक्त, विरोधयुक्त, प्राणियों के वध-बंधन आदि को करनेवाले, बैर उत्पन्न करनेवाले, कलह आदि करनेवाले, त्रास करनेवाले, गुरु आदि की अवज्ञा करनेवाले आदि वचन भी असत्य हैं। 'यह कर्तव्य है, यह हेय है, त्याज्य है।' प्रमत्तयोग के अभाव में यथार्थ स्वरूप के कहने से इसप्रकार के अप्रशस्त वचन भी सत्य हैं।

श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने पुरुषार्थसिद्धिउपाय श्लोक ९१ से १०० तक असत्य वचन का कथन किया है, जो इस प्रकार है—

यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि ।
तदनुत्तमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः ॥९१॥

अर्थ—जो कुछ भी प्रमत्तयोग से यह असत् वचन कहा जाता है उसे अनृत (असत्य) जानना चाहिये। उसके चार भेद हैं।

स्वक्षेत्रकालभावंः सदपि हि यस्मिन्निधिद्यते वस्तु ।
तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽन्न ॥९२॥

अर्थ—जिसवचन में अपने क्षेत्र, काल, भाव करके विद्यमान वस्तु निषेधी जाती है, वह प्रथम असत्य होता है, जैसे यहाँ देवदत्त नहीं है।

असदपि हि वस्तुरूपं यत्र, परक्षेत्रकालभावंस्तः ।
उद्भाष्यते द्वितीयं, तदनुत्तमस्मिन्मथास्ति घटः ॥९३॥

अर्थ—निश्चय करि जिस वचन में पर क्षेत्र, काल, भावों करके अविद्यमान वस्तु का अस्तित्व प्रगट किया जाता है वह दूसरा असत्य है। जैसे यहाँ पर घट है।

वस्तु सदपि स्वरूपात्पररूपेणाभिधीयते यस्मिन् ।
अनुत्तमिदं च तृतीयं विज्ञेयं भौरिति यथाश्चः ॥९४॥

अर्थ—अपने स्वरूप से सत् वस्तु भी पररूप से कही जाती है, यह तीसरा असत्यवचन जानना चाहिए। जैसे गाय को घोड़ा कहना इसप्रकार।

गर्हितमवहासंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत् ।
सामान्येन त्रेधा मतमिदमनृतं तुरीयं तु ॥९५॥

अर्थ—यह चौथा असत्य सामान्यपने से गर्हित, सावद्य (पाप सहित) और अप्रियवचनरूप से तीन प्रकार का माना गया है।

पैशुन्यहासगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च ।
अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम् ॥९६॥

अर्थ—चुगली, हास्ययुक्त, कठोर, मिथ्यात्व, प्रलाप (गप्प-शप्प) और शास्त्रविरुद्धवचन ये सब गर्हित (निन्द्य) वचन कहे गये हैं।

छेदन-भेदन-भारण-कर्षणवाणिज्य-चौर्यवचनादि ।
तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिबध्नाद्याः प्रवर्तन्ते ॥९७॥

अर्थ—जो छेदन, भेदन, भारण, कर्षण (खेती) व्यापार चोरी आदि के वचन वे सब सावद्य वचन हैं, क्योंकि प्राणिहिंसा की प्रवृत्ति करते हैं ।

अरतिकरं भीतिकरं खेवकरं वैरशोककलहकरम् ।
यदपरमपि तापकरं परस्य, तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम् ॥९८॥

अर्थ—जो वचन दूसरों को अरति का करने वाला हो, भय करने वाला हो, खेद करने वाला हो, वैर-शोक-कलह का करने वाला हो तथा और भी आताप का करने वाला होवे वह सब अप्रिय वचन जानना ।

हेतौ प्रमत्तयोगे निदिष्टे सकलवितथवचनानाम् ।
हेयानुष्ठानावेरनुवदनं भवति नासत्यम् ॥१००॥

अर्थ—समस्त ही असत्य वचनों का कारण प्रमत्तयोग कहा गया है, किन्तु हेय व कर्तव्य आदि के वचन असत्य नहीं हैं ।

इसप्रकार असत्यवचन का कथन है । सत्यवचन दस प्रकार का है—

जणवदसम्मदिठवणा, णामे रूढे पडुच्चववहारे ।
संभावणे य भावे, उवभाए दसविहं सच्चं ॥२२२॥
भत्तं देवी चदंप्यह पडिमा त ह्य होदि जिणदत्तो ।
सेवो दिग्धो रज्जवि कूरोत्ति य जं हवे वयणं ॥२२३॥
सबको जंबूदीणं पल्लट्टदि पाववज्जवयणं च ।
पल्लोत्तमं च कमसो जणवदसच्चाविदिट्टंता ॥२२४॥ गो० जी०

अर्थ—जनपदसत्य, सम्मत्तिसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीत्यसत्य, व्यवहारसत्य, संभावना-सत्य, भावसत्य, उपमासत्य इसप्रकार सत्य के दसभेद हैं । उक्त दसप्रकार के सत्यवचन के ये दस इष्टान्त हैं । भक्त, देवी, चन्द्रप्रभप्रतिमा, जिनदत्त, श्वेत, दीर्घ, भ्रातृपकाया जाता है, शक्र (इंद्र) जम्बूद्वीप को पलट सकता है, 'यह प्रासुक है' ऐसा वचन, और पत्योपम ।

भावार्थ—तत् तत् देशवासी मनुष्यों के व्यवहार में जो शब्द रूढ़ हो रहा है उसको जनपदसत्य कहते हैं । जैसे भक्त, भ्रातृ, वटक आदि भिन्न-भिन्न शब्दों से एक ही चीज को कहा जाता है । २. बहुत मनुष्यों की सम्मति से जो सर्व-साधारण में रूढ़ हो उसको सम्मत्तिसत्य कहते हैं । जैसे पट्टराणी के अतिरिक्त किसी साधारण स्त्री को भी देवी कह देना । ३. किसी वस्तु में उससे भिन्न वस्तु के समारोप करने वाले वचन को स्थापनासत्य कहते हैं । जैसे श्री चन्द्रप्रभ भगवान की प्रतिमा को चन्द्रप्रभ कहना । ३ दूसरी कोई अपेक्षा न रखकर केवल व्यवहार के लिये जो किसी का संज्ञाकर्म करना इसको नामसत्य कहते हैं । जैसे जिनदत्त । यद्यपि उसको जिनेन्द्र ने नहीं दिया तथापि व्यवहार के लिये उसे जिनदत्त कहते हैं । ५. पुद्गल के रूपादिक अनेक गुणों में से रूप की प्रधानता से जो वचन कहा जाय उसको रूपसत्य कहते हैं । जैसे किसी मनुष्य को श्वेत कहना । यद्यपि उसके शरीर में अन्य वर्ण भी पाये जाते हैं । अथवा उसके शरीर में रसादिक के रहने पर भी ऊपर से रूपगुण की अपेक्षा उसको श्वेत

कहना । ६. किसी विवक्षित पदार्थ की अपेक्षा से दूसरे पदार्थ के स्वरूप का कथन करना इसको प्रतीत्यसत्य कहते हैं । जैसे किसी छोटे या पतले पदार्थ की अपेक्षा से दूसरे पदार्थ को दीर्घ (बड़ा लम्बा स्थूल) कहना । ७ नैगमादि नयों की प्रधानता से जो वचन बोला जाय उसको व्यवहारसत्य कहते हैं । जैसे नैगमनय की प्रधानता से—भात पकता है । ८. असंभवता का परिहार करते हुए वस्तु के किसी धर्म का निरूपण करने में प्रवृत्त वचन को संभावनासत्य कहते हैं । जैसे शक्र (इंद्र) जम्बूद्वीप को उलट सकता है । ९. आगमोक्त विधि-निषेध के अनुसार अतीन्द्रिय पदार्थों में संकल्पित परिणामों को भाव कहते हैं, उसके आश्रित जो वचन हों उसको भावसत्य कहते हैं । जैसे शुष्क, पक्व, तप्त और तमक, मिर्च, खटाई आदि से अच्छी तरह मिलाया हुआ द्रव्य प्रासुक होता है । यहाँ पर यद्यपि सूक्ष्म जीवों को इंद्रियों से देख नहीं सकते तथापि आगम-प्रमाण से उसकी प्रासुकता का वर्णन किया जाता है । १०. प्रसिद्ध सदृश पदार्थ को उपमा कहते हैं । इसके आश्रय से जो वचन बोला जाय उसको उपमासत्य कहते हैं । जैसे पत्य । यहाँ पर रोमखण्डों का आधारभूत खड्डा 'पत्य' होता है । इसलिये उसको पत्य कहते हैं । इस संख्या को उपमासत्य कहते हैं । ये दस प्रकार के सत्य के दृष्टान्त हैं । अन्य भी इसी तरह जानना चाहिए ।

व्यवहारनय के विषय भी इन दसप्रकार के सत्य में आजाते हैं । व्यवहारनय को असत्य कहना उचित नहीं है ।

—जं. ग. 24-12-64/VIII-XI/ ट. ला. जैन, मेरठ

सापेक्ष पर्याय दृष्टि से मोक्षमार्ग सम्भव है

शंका—क्या पर्यायदृष्टि से मोक्षमार्ग सम्भव है ?

समाधान—जो वस्तु जिसरूप से है उस वस्तु का उसीरूप से श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है । आलापपद्धति सूत्र ९५ में कहा है कि वस्तु सामान्य विशेषात्मक है ।

‘सामान्यविशेषात्मक वस्तु ॥९५॥’

सामान्य-विशेषात्मक वस्तु में से 'सामान्य' को द्रव्य कहते हैं और 'विशेष' को पर्याय कहते हैं । श्री पूज्यपादाचार्य ने कहा भी है—

‘द्रव्यं सामान्यमुत्सर्गः अनुवृत्तिरित्यर्थः । तद्विषयो द्रव्याधिकः । पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थः । तद्विषयः पर्यायाधिकः ।’ सर्वार्थसिद्धि १।३३

द्रव्य का अर्थ सामान्य, उत्सर्ग और अनुवृत्ति है । इस सामान्य को विषय करनेवाला नय अथवा दृष्टि द्रव्याधिकनय अथवा द्रव्यदृष्टि है । पर्याय का अर्थ विशेष अपवाद और व्यावृत्ति है । इस विशेष को विषय करने वाला पर्यायाधिकनय अथवा पर्यायदृष्टि है ।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी इसी प्रकार कहा है—

अनुप्रवृत्तिः सामान्यं द्रव्यं चकार्थवाचकाः ।

नयस्तद्विषयो यः स्याज्ज्ञेयो द्रव्याधिको हि सः ॥३९॥

व्यावृत्तिश्च विशेषश्च पर्यायरश्चैकवाचकाः ।

पर्यायविषयो यस्तु स पर्यायाधिक सतः ॥४०॥ तत्त्वार्थसार प्रथमाधिकार

अनुप्रवृत्ति, सामान्य और द्रव्य में तीनों शब्द एकार्थवाची हैं। जो नय द्रव्य को विषय करता है वह द्रव्याधिकनय अर्थात् द्रव्यदृष्टि है। व्यावृत्ति, विशेष और पर्याय ये तीनों शब्द एकार्थवाची हैं। जो नय पर्याय को विषय करता है वह पर्यायाधिकनय अर्थात् पर्यायदृष्टि है।

द्रव्यदृष्टि में पर्यायें गौण होने से जीव न संसारी है और न मुक्त है, क्योंकि संसारी और मुक्त ये दोनों पर्यायें हैं। अतः द्रव्यदृष्टि में मोक्ष और मोक्षमार्ग ये दोनों पर्याय होना सम्भव नहीं है। इसीप्रकार श्रद्धागुण की मिथ्यादर्शन व सम्यग्दर्शन ये दोनों पर्यायें हैं। समयसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में कहा भी है—

‘शुद्धद्रव्याधिकनयेन शुभाशुभपरिणमनाभावात् भवत्यप्रमत्तः प्रमत्तश्च । प्रमत्तशब्देन मिथ्यादृष्ट्यादि प्रमत्तांतानि षड्गुणस्थानानि, अप्रमत्तशब्देन पुनरप्रमत्ताद्ययोग्यांतान्यष्ट गुणस्थानानि गृह्यते ।’

—समयसार पृ० ७ अजमेर से प्रकाशित

शुद्धद्रव्याधिकनय से जीव में शुभ या अशुभरूप परिणमन करने का अभाव है, इसलिये जीव न तो प्रमत्त ही है और न अप्रमत्त ही है। मिथ्यादृष्टिगुणस्थान से लेकर प्रमत्तविरतगुणस्थान तक इन छह गुणस्थानों में जीव की जो अवस्था है वह प्रमत्त अवस्था है। अप्रमत्तविरत गुणस्थान से लेकर अयोगकेवली गुणस्थानतक इन आठ गुणस्थानों में जीव की जो पर्यायें हैं वे अप्रमत्तावस्था हैं। इसप्रकार द्रव्यदृष्टि में न बंधमार्ग है और न मोक्षमार्ग है। यह पर्यायदृष्टि में ही सम्भव है, जैसा कहा भी है—

पाहुबभवदि य अण्णो पज्जाओ पज्जाओ वयदि अण्णो ।

दब्बस्स तं पि दब्बं शेव पण्हं ण उत्पण्णं (प्र. सा. २।११)

‘प्रादुर्भवति च जायते अन्यः कश्चिदर्शनन्तजानसुखादिगुणास्पदभूतः शाश्वतिकः परमात्मावाप्तिरूपः स्वभावद्रव्यपर्यायः । पर्यायो व्येति विनश्यति अन्यः पूर्वोक्तमोक्षपर्यायाद्भूतो निश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपस्यैव मोक्षपर्यायस्योपादानकारणभूतः तदपि शुद्धद्रव्याधिकनयेन परमात्मद्रव्यं नैव नष्टं न चोत्पन्नम् ।’

यहां पर यह बतलाया गया है कि पर्यायदृष्टि से जीव की अनन्तज्ञान-मुख आदि गुणवाली शाश्वतिक मुक्तअवस्थारूप स्वभावद्रव्यपर्याय उत्पन्न होती है और उस मुक्तअवस्था (पर्याय) से भिन्न निश्चयरत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधिरूप तथा मोक्षपर्याय की उपादानकारण ऐसी मोक्षमार्गपर्याय का व्यय (नाश) होता है, किन्तु द्रव्याधिकदृष्टि से जीव द्रव्य न उत्पन्न होता और न नष्ट होता है। अर्थात् द्रव्यदृष्टि में न मोक्ष है और न मोक्षमार्ग है तथा न सम्यग्दृष्टि है और न मिथ्यादृष्टि है क्योंकि ये सब पर्यायें हैं।

यद्यपि शुद्धात्मरुचिपरिच्छित्तिनिश्चलानुभूतिलक्षणस्य संसारावसानोत्पन्नकारणसमयसारपर्यायस्य विनाशो भवति तथैव केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारपर्यायस्योत्पादश्च भवति, तथाप्युभय पर्यायपरिणतात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यत्वं पदार्थत्वादिति ।’ प्रवचनसार गा० १८ टीका

शुद्धात्मा की रुचिरूप सम्यक् श्रद्धान, उसी का सम्यग्ज्ञान तथा उसी की अनुभूति में निश्चलत्वारूप चारित्र्य इस रत्नत्रयमय लक्षण को रखनेवाले संसार के अन्त में होनेवाले कारणसमयसाररूप मोक्षमार्ग पर्याय का यद्यपि नाश होता है और उसीप्रकार केवलज्ञान आदि की प्रगटारूप कार्यसमयसाररूप मोक्षपर्याय का उत्पाद होता है तो भी दोनों ही पर्यायों में रहने वाले आत्मद्रव्य का ध्रौव्यपना रहता है।

यहां पर भी यही बतलाया गया कि पर्यायदृष्टि में ही मोक्षमार्गपर्याय का व्यय और मोक्षपर्याय का उत्पाद सम्भव है। द्रव्यदृष्टि में उत्पाद व व्यय न होने के कारण न मोक्ष है और न मोक्षमार्ग है।

उत्पत्तीव विनाशो द्रव्यस्य य न्त्वि अन्वि सर्वभावो ।

विगमुत्पादधुवत् करेति तस्सेव पञ्जायाः ॥११॥ पं० का०

टीका—द्रव्यार्थाप्यनाशमनुत्पादमनुच्छेदं सत्स्वभावमेव द्रव्यम् । तदेव पर्यायार्थाप्यनाशोत्पादं सोच्छेदं चावबोद्धव्यम् ।'

द्रव्यदृष्टि से द्रव्य को उत्पादरहित, विनाशरहित सत्स्वभाववाला जानना चाहिए, किन्तु पर्यायदृष्टि से उत्पादवाला, विनाशवाला जानना चाहिए ।

'ज्ञानावरणादिभावद्रव्यकर्मपर्यायाः सुष्ठु संश्लेषरूपेणानादिसंतानेन बद्धास्तिष्ठन्ति तावत्, यदा कालादिलब्धिवशाद्भेदरत्नत्रयात्मकव्यवहारनिश्चयमोक्षमार्गं लभते तदा तेषां ज्ञानावरणादि भावानां द्रव्य-भावकर्मरूप-पर्यायानामभावां विनाशं कृत्वा पर्यायाधिकनयेनाभूतपूर्वसिद्धो भवति, द्रव्याधिकनयेन पूर्णमेव सिद्धरूप इति वातिकम् ।' पं० का० गा० २०

इस संसारीजीव का अनादिप्रवाहरूप से ज्ञानावरणादि आठों कर्मों के साथ संश्लेषरूप बंध चला आ रहा है । जब कोई भव्यजीव कालादिलब्धि के वश से भेदरत्नत्रयस्वरूप व्यवहारमोक्षमार्ग को और अभेदरत्नत्रयस्वरूप निश्चयमोक्षमार्ग को प्राप्त करता है तब वह भव्यजीव उन ज्ञानावरणादिकर्मों की द्रव्य और भावरूप अवस्थाओं का नाश करके पर्यायदृष्टि से सिद्धभगवान् हो जाता है । वह सिद्धपर्याय पूर्व में कभी प्राप्त नहीं हुई थी, उस सिद्धपर्याय को प्राप्त कर लेता है । द्रव्यदृष्टि से तो पहिले से ही यह जीव स्वरूप से ही सिद्धरूप है अर्थात् द्रव्यदृष्टि में मोक्ष मार्ग सम्भव नहीं है ।

एकान्तपर्यायदृष्टि से बौद्धमतरूप दूषण आता है और एकान्त द्रव्यदृष्टि से सांख्यमतरूप दूषण आता है क्योंकि 'क्षणिककान्तरूपं बौद्धमतं निरर्थकान्तरूपं सांख्यमतं ।' ऐसा आर्षवचन है । 'जैनमते पुनः परस्परसापेक्षद्रव्य-पर्यायत्वान्नास्ति दूषणं ।' किन्तु जैनमत में परस्पर सापेक्ष द्रव्यदृष्टि पर्यायदृष्टि मानने से कोई दूषण नहीं आता । 'यद्यपि शुद्धनिश्चयेन शुद्धजीवस्तथापि पर्यायाधिकनयेन कथंचित्परिणामित्वे सत्यनादिकर्मोदिव्यवशाद्वागाद्युपाधि-परिणामं गृह्णति स्फटिकवत् । यदि पुनरेकतेनापरिणामी भवति तदोपाधि परिणामो न घटते ।'

—अजमेर से प्रकाशित समयसार पृ० ३०१ ।

यद्यपि शुद्धनिश्चयनय से जीव शुद्ध है फिर भी पर्यायदृष्टि से कथंचित् परिणामीपना होने पर अनादिकाल से धारा प्रवाहरूप से चले आये कर्मोदय के वश से यह जीव स्फटिक पाषाण के समान ही रागादिरूप उपाधि परिणाम को ग्रहण करता है । यदि द्रव्यदृष्टि के एकान्त से यह जीव अपरिणामी ही हो तो इस जीव के रागादि उपाधिरूप परिणाम कभी घटित नहीं हो सकता है । जब एकान्त द्रव्यदृष्टि में इस जीव के रागादिपरिणाम घटित नहीं हो सकते तो मोक्ष भी घटित नहीं हो सकता ।

'पर्यायाधिकनयविभागेद्वैवमनुष्यादिरूपैर्विनश्यति जीवः । न नश्यति कश्चिद्द्रव्याधिकनयविभागेः । यस्मादेशं नित्यानित्यस्वभावां जीवरूपं ।'

यह जीव पर्यायदृष्टि से देव, मनुष्यादि पर्यायों के द्वारा विनाश को प्राप्त होता है । द्रव्यदृष्टि से जीव नाश को प्राप्त नहीं होता है । इसप्रकार जीव नित्य, अनित्य स्वभाववाला है । द्रव्यदृष्टि से जीव नित्य अपरिणामी है और पर्यायदृष्टि से अनित्य परिणामी है । जो एकान्त से जीव को नित्य अपरिणामी मानते हैं वे सांख्यमतवालों के समान मिथ्यादृष्टि हैं ।

‘स जीवो मिथ्यादृष्टिरनाहंतो ज्ञातव्यम् । कथं मिथ्यादृष्टिः ? इति चेत् यदेकांतेन नित्यकूटस्थोऽपरिणामी टंकोत्कीर्णः सांख्यमतवत् ।’

जो एकांत द्रव्यदृष्टि से जीव को नित्य कूटस्थ अपरिणामी और टंकोत्कीर्ण मानता है तो वह सांख्यमत-वालों के समान मिथ्यादृष्टि है, अर्हंतमत का माननेवाला नहीं है ।

यद्यपि द्रव्यदृष्टि से सर्व जीव एक समान हैं उनमें कोई भेद नहीं है तथापि पर्यायदृष्टि से जीव तीन प्रकार के हैं । श्री कुन्दकुम्भाचार्य मोक्षप्राप्त में कहते हैं—

तिपयारो सो अप्या परमंतर वाहिरो बु वेहीणं ।
तत्थ परो साइज्जइ अंतोबाएण चयहि बहिरप्या ॥४॥ मोक्षप्राप्त
बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु ।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायात् बहिरस्यजेत् ॥४॥ समाधि तन्त्र

सर्व प्राणियों में बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा इस तरह तीनप्रकार का आत्मा है । आत्मा के उन तीन भेदों (पर्यायों) में से बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्मा के उपाय से परमात्मा अवस्था का ध्यान करो । उस परमात्मरूप पर्याय के ध्यान से जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

तं सव्यस्थब्रिट्ठं, इट्ठं अमरामुरप्पहाणेहि ।
ये सद्धंति जीवा, तेसि दुक्खाणि खीयंति ॥१९-१॥ प्रवचनसार

‘एवं निर्दोष परमात्मश्रद्धानामोक्षो भवतीति कथनरूपेण तृतीयस्थले गाथा गता ।’

स्वर्गवासी देव तथा भवनत्रिक के इन्द्रों से पूजनीय और सर्व पदार्थों में श्रेष्ठ ऐसे परमात्मा का जो भव्य जीव श्रद्धान करते हैं उनके सब दुःख नाश को प्राप्त हो जाते हैं । इसतरह निर्दोष परमात्मा के श्रद्धान से मोक्ष होती है, ऐसा कहते हुए तीसरे स्थल में गाथा पूर्ण हुई ।

परमात्माअवस्था जीव की पर्याय है, उस परमात्मपर्याय के श्रद्धान व ध्यान को मोक्षमार्ग बतलाया गया है ।

श्री अमृतचन्द्राचार्य का निम्न कलश भी दृष्टव्य है—

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा ।
बविरतमनुभाध्यव्याप्तकल्माषितायाः ॥
मम परमविशुद्धिः शुद्ध चिन्मात्रमूर्ते-
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ॥ ३ ॥

श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं—यद्यपि शुद्धद्रव्यदृष्टि कर तो मैं शुद्ध हूँ चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ, परन्तु मेरी परिणति (पर्याय) मोहकर्म के उदय के कारण मैली रागादिरूप हो रही है । शुद्धात्मा की कथनीरूप जो यह समयसार ग्रन्थ है, उसकी टीका करने का फल यह चाहता हूँ कि मेरी परिणति (पर्याय) रागादि से रहित होकर शुद्ध ही अर्थात् मेरे शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति हो ।

इस कलश में श्री अमृतचन्द्राचार्य की वर्तमान अशुद्धपर्याय पर दृष्टि रही है, जिसकी शुद्धि के लिये टीका रची गई है। यही मोक्षमार्ग है।

शंका—क्या पर्यायदृष्टि मिथ्यादृष्टि है ?

समाधान—तत्त्वार्थसूत्र में श्रीमदुमास्वामी आचार्य ने सम्यग्दर्शन का लक्षण निम्नप्रकार कहा है—

‘तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥२॥ जीवाजीवास्त्रवबन्धसंवरनिर्जराभोक्षास्तत्त्वम् ॥४॥’ जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों का श्रद्धानं सम्यग्दर्शन है।

यहाँ पर ‘पर्यायदृष्टि मिथ्यादृष्टि’ के सिद्धांत को माननेवाला कहता है कि ‘जीव और अजीव इन दो द्रव्यों का श्रद्धानं सम्यग्दर्शन है’ इसप्रकार सूत्र की रचना होती चाहिये थी, क्योंकि आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तो पर्याय हैं। इसपर श्री अकलंकदेव निम्न उत्तर देते हैं—

‘अनेकान्ताच्च । द्रव्याधिकपर्यायाधिकयोर्गुणप्रधानभावेन अर्पणानर्पणभेदात् जीवाजीवयोरास्रवादीनां स्यादन्तर्भावः स्यादन्तर्भावः । पर्यायाधिकगुणभावे द्रव्याधिकप्राधान्यात् आस्रवादिप्रतिनियतपर्यायार्थानर्पणात् अनादिपारिणामिकचैतन्याचैतन्यादि द्रव्यार्थार्पणाद् आस्रवादीनां स्याज्जीवेश्जीवेश्चैतन्यादन्तर्भावः । तथा द्रव्याधिकगुणभावे पर्यायाधिकप्राधान्याद् आस्रवादिप्रतिनियतपर्यायार्थार्पणाद् अनादिपारिणामिकचैतन्याचैतन्याविद्रव्यार्थाऽनर्पणाद् आस्रवादीनां जीवाजीवयोः स्यादन्तर्भावः । तदपेक्षया स्यादुपदेशोऽर्थवान् ।’ त० रा० धा०

वस्तुतः जीव, अजीव और आस्रव आदि में परस्पर भेद भी है और अभेद भी है ऐसा अनेकान्त है, अतः अनेकान्तदृष्टि से विचार करना चाहिये। पर्यायदृष्टि गौण होने पर और द्रव्याधिकदृष्टि की प्रधानता रहने पर अनादि पारिणामिक जीव और अजीवद्रव्य की मुख्यता होने से आस्रवादि पर्यायों की विवक्षा न होने पर उन आस्रवादि पर्यायों का जीव और अजीव में अन्तर्भाव हो जाता है, अतः जीव और अजीव इन दो पदार्थों का श्रद्धानं सम्यग्दर्शन है। किन्तु जिससमय उन आस्रवादि पर्यायों को पृथक्-पृथक् ग्रहण करनेवाली पर्यायाधिकदृष्टि की मुख्यता होती है तथा द्रव्यदृष्टि गौण होती है तब आस्रव आदि पर्यायों का जीव और अजीव में अन्तर्भाव नहीं होता। अतः पर्यायदृष्टि से इन आस्रव आदि पर्याय का उपदेश सार्थक है निरर्थक नहीं है। अर्थात् आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन पर्यायों का श्रद्धानं सम्यग्दर्शन है, यह उपदेश पर्यायदृष्टि से यथार्थ है।

एकान्त मिथ्यामतों का समूह अनेकान्त नहीं है, क्योंकि उनके मतों में नयों में परस्पर सापेक्षता नहीं है। कहा भी है—

ते सापेक्षता सुणया गिरवेक्षता ते वि दुष्णया ह्येति ।

सयल-ब्रह्महार-सिद्धी सुणयादो होदि नियमेण ॥२६६॥ स्वा. का. अ.

संस्कृत टीका—‘सापेक्षाः स्वविपक्षापेक्षासहिताः ।

ये नय सापेक्ष हों अर्थात् अपने विपक्ष की अपेक्षा करते हैं तो सुनय होते हैं। यदि नय निरपेक्ष हों अर्थात् विपक्ष की अपेक्षा से रहित हों तो दुर्नय होते हैं। द्रव्यदृष्टि यदि पर्यायदृष्टि से सापेक्ष है तो सुदृष्टि है। यदि द्रव्यदृष्टि पर्यायदृष्टि से निरपेक्ष है तो कुदृष्टि है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी कहा है—

एते परस्परापेक्षाः सम्यग्ज्ञानस्य हेतवः ।

निरपेक्षाः पुनः सन्तो मिथ्याज्ञानस्य हेतवः ॥५१॥ त. सा. प्रथमाधिकार

ये नय यदि परस्पर सापेक्ष रहते हैं अर्थात् अपने विपक्ष की अपेक्षा रखते हैं तो सम्यग्ज्ञान के हेतु होते हैं और यदि निरपेक्ष रहते हैं अर्थात् अपने विपक्ष की अपेक्षा नहीं रखते हैं तो मिथ्याज्ञान के हेतु होते हैं । यदि द्रव्य-दृष्टि पर्यायदृष्टि सापेक्ष है और पर्यायदृष्टि द्रव्यदृष्टि सापेक्ष है तो सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान की कारण है । यदि द्रव्यदृष्टि पर्यायदृष्टि निरपेक्ष है और पर्यायदृष्टि द्रव्यदृष्टि निरपेक्ष है तो मिथ्यादर्शन व मिथ्याज्ञान के कारण है ।

जिसप्रकार 'न देवाः' इस सूत्र के आधार पर यदि कोई देव पर्याय का निषेध करने लगे तो वह विद्वान् नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसने पूर्वापर प्रकरण अनुसार सूत्र का अर्थ नहीं समझा । इसी प्रकार 'मैं सुखी दुखी मैं रंक राव' छहदाला के इस वाक्य के आधार पर जैनसन्देश के सम्पादक ने 'पर्यायदृष्टि मिथ्यादृष्टि' ऐसा सिद्धांत बतलाने का प्रयत्न किया है सो यह उसकी भूल है, क्योंकि उन्होंने पूर्वापर प्रकरण पर दृष्टि नहीं दी ।

प्रकरण इसप्रकार है—

चेतन को है उपयोग रूप, विनमूरति चिनमूरति अनूप ।
पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतै न्यारी है जीव चाल ॥
ताकों न जान विपरीत मान, करि करै देह में निज पिछान ।
मैं सुखी दुःखी मैं रंक राव, मेरो धन गृह गोधन प्रभाव ॥
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीन ।
तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान ॥

जो कोई जीव के लक्षण उपयोग को स्वीकार नहीं करता, किन्तु शरीर को ही आपा मानता है, शरीर की उत्पत्ति से अपनी उत्पत्ति और शरीर के नाश से अपना नाश मानता है । शरीर के सुख में अपने आप को सुखी और शरीर के दुःख में अपने आपको दुःखी मानता है, उसको यहाँ पर मिथ्यादृष्टि कहा है, जिसको अपने ज्ञान निधि की खबर नहीं है, बाह्य निधि के कारण अपने आपको रंक व राव मानता है उसको यहाँ पर मिथ्यादृष्टि कहा है ।

छहदाला में पर्यायदृष्टि को मिथ्यादृष्टि नहीं कहा है बल्कि पर्यायदृष्टि का उपदेश दिया गया है और पर्यायदृष्टि से मुक्ति बतलाई गई है । वह कथन इसप्रकार है—

'यह मानुष परजाय सुकुल सुनिवो जिनवानी ।
इह विधि गये न मिलै सुमणि ज्यों उदधि समानी ॥'
'बहिरातमता हेय जानि तजि, अन्तर आत्म हूजै ।
परमात्म को ध्याय निरन्तर जो गित आनन्द पूजै ॥'

अप्यनामि चक्रवर्ती पर्यायदृष्टि से विचार करते हैं—

'मैं चक्री पद पाय निरन्तर भोगे भोग घनेरे ।
तो भी तनिक भये नहीं पूरण भोग मनोरथ मेरे ॥'

इस पर्यायदृष्टि को रखते हुए भी बज्रनामिच्छकवर्ती मिथ्यादृष्टि नहीं हुए ।

‘पर्यायदृष्टि मिथ्यादृष्टि’ यदि इस सिद्धांत को मान लिया जाय तो अनित्य, अशरण, संसार, अशुचि आदि भावनाओं का श्रद्धान करनेवालों के मिथ्यात्व का प्रसंग आ जायगा, क्योंकि ये भावना पर्यायदृष्टि की अपेक्षा से सम्भव है, द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से अनित्य आदि भावना सम्भव नहीं है, क्योंकि द्रव्यदृष्टि में नित्यता स्वीकार की गई है ।

राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार ।
मरना सबको एक दिन, अपनी अपनी बार ॥
दल बल देई देवता, मात पिता परिवार ।
मरती विरियां जीव को, कोई न राखन हार ॥
दाम बिना निधन दुखी, तृष्णावश धनवान ।
कहूं न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान ॥

इसप्रकार पर्यायदृष्टि से श्रद्धा करनेवाला मिथ्यादृष्टि नहीं है अपितु सम्यग्दृष्टि है ।

सामायिकपाठ में अपने दोषों की पर्यायदृष्टि से निम्नप्रकार आलोचना करनेवाला मिथ्यादृष्टि नहीं हो सकता, वह तो सम्यग्दृष्टि है ।

हा हा ! मैं दुठ अपराधी, त्रस जीवन राशि विराधी ।
थावर की जतन न कीनी, उर में कसणा नहीं लीनी ॥

२७ मई १९७१ के जैनसन्देश के सम्पादकीय लेख में निम्न श्लोक उद्धृत किया गया है ।

एकः सदा शाश्वतिको भमात्मा, विनिर्मलः साधिगम स्वभावः ।
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ता, न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः ॥

सामायिकपाठ के इस श्लोक में यह नहीं कहा गया कि द्रव्यदृष्टि तो सम्यग्दृष्टि और पर्यायदृष्टि तो मिथ्यादृष्टि । यहाँ पर यह बतलाया गया है कि मेरी आत्मा एक है और सदा शाश्वत है । यह द्रव्यदृष्टि से कथन है । मेरी आत्मा निर्मल और साधिगम है, यह स्वभावदृष्टि से कथन है । कर्मजनित औपाधिक भाव मेरे स्वभाव नहीं हैं और नाशवान हैं यह विभावपर्यायदृष्टि से कथन है ।

यहाँ पर द्रव्यदृष्टि से आत्मा को सदा शाश्वत अर्थात् अनादि अनन्त बतलाया गया है । आत्मा-अनादि-काल से कर्मों से बँधी हुई है अतः शुद्ध नहीं है । अतः द्रव्याधिकनय का विषय शुद्ध या अशुद्धात्मा नहीं है, किन्तु शुद्ध व अशुद्ध विशेषणों रहित सामान्य आत्मा है । श्रीदेवसेन आचार्य ने आलापपद्धति में कहा भी है—

‘निजनिजप्रदेशसमूहैरखण्डवृत्त्या स्वभावविभावपर्यायान् द्रवति द्रोष्यति अनुद्रवति द्रव्यम् ।’ जो अपने-अपने प्रदेश समूह के द्वारा अखण्डपने से अपनी-अपनी स्वभाव-विभावपर्यायों को प्राप्त होता है, होवेगा और हो चुका है वह द्रव्य है ।

यदि द्रव्यदृष्टि का विषय शुद्धद्रव्य माना जाय तो वह विभावपर्यायों को प्राप्त नहीं हो सकता । अतः द्रव्यदृष्टि का विषय, शुद्धाशुद्ध विशेषणों से रहित सामान्य आत्मा है ।

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने भी प्रवचनसार गाथा १० की टीका में 'ऊर्ध्वता सामान्यलक्षणे द्रव्ये' शब्दों द्वारा द्रव्य का लक्षण ऊर्ध्वतासामान्य बतलाया है।

'परापरदिव्यतं व्यापिद्रव्यमूर्ध्वता मुदिबि स्थानाविषु ।' परीक्षामुद्र

पूर्व और उत्तर पर्यायों में रहनेवाले द्रव्य को ऊर्ध्वतासामान्य कहते हैं। जैसे स्थान, कोश, कुशूल घटादि पर्यायों में मिट्टी रहती है।

यदि द्रव्यदृष्टि के विषयभूत आत्मद्रव्य के साथ शुद्ध विशेषण लगा दिया जाये तो वह अशुद्धपर्यायों में नहीं रह सकेगा, किन्तु संसारी अशुद्धपर्याय में आत्मद्रव्य रहता है। अतः शुद्धाशुद्ध विशेषणों से रहित सामान्य आत्मा द्रव्यदृष्टि का विषय है।

'सामान्यनयेन हारस्त्रयामसूत्रवद्व्यापि ।' ॥१६॥ प्रवचनसार परिशिष्ट

सामान्यदृष्टि अर्थात् द्रव्यदृष्टि से आत्मा सर्वपर्यायों में व्याप्त होकर रहता है जैसे मोती की माला का डोरा माला के काले, पीले, शुक्ल वर्णवाले सब दानों में व्याप्त होकर रहता है।

यह सामान्य आत्मा जब शुद्ध पर्याय को व्याप्त करके रहता है तब शुद्ध पर्याय से तन्मय होने के कारण शुद्धात्मद्रव्य कहलाता है। जब अशुद्धपर्याय को व्याप्त करके रहता है तब अशुद्धपर्याय से तन्मय होने के कारण अशुद्धात्मद्रव्य कहलाता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार में कहा भी है—

परिणमदि जेण इत्थं तवकालं तम्मयं ति पण्णत्तं ।

तम्हा धम्मपरिणवो आत्ता धम्मो मुत्तेयव्वो ॥८॥

जीवो परिणमदि जवा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो ।

सुद्धेण तवा सुद्धो हवदि हि परिणामसम्भावो ॥९॥

द्रव्य जिसकाल में जिसपर्याय से परिणामन करता है अर्थात् जिसपर्याय को व्याप्त करता है उसकाल में वह द्रव्य उसरूप है ऐसा जिनैन्द्र द्वारा कहा गया है। इसलिये धर्मपर्याय को प्राप्त आत्मा को धर्मात्मा जानना चाहिये। जीव जब शुभपर्याय से परिणामन करता है अर्थात् शुभपर्याय को प्राप्त करता है तब वह जीव स्वयं शुभ हो जाता है। वही जीव जब अशुभपर्याय से परिणामन करता है अर्थात् अशुभपर्याय को प्राप्त करता है तब वह जीव स्वयं अशुभ हो जाता है। जब वही जीव शुद्धभाव से परिणामन करता है अर्थात् शुद्धपर्याय को व्याप्त करके रहता है तब वह जीव स्वयं शुद्ध हो जाता है, क्योंकि जीव परिणामन स्वभावनाला है। इन तीनों अवस्थाओं में रहनेवाला जो सामान्य आत्मद्रव्य है वह द्रव्यदृष्टि का विषय है।' तातं द्रव्यदृष्टि करि एक दशा है, पर्यायदृष्टि करि अनेक अवस्था हो है, ऐसा मानना योग्य है। सो शुद्ध, अशुद्ध अवस्था पर्याय है। इस पर्याय अपेक्षा (संसारी व सिद्ध में) समानता मानिये सो यह मिथ्यादृष्टि है। तातं आपका द्रव्यपर्यायरूप अवलोकना। द्रव्यकरि सामान्य स्वरूप अवलोकना, पर्याय करि विशेष अवधारणा। ऐसे ही चिंतवन किये सम्यग्दृष्टि हो है। जातं सांचा अवलोकने बिना सम्यग्दृष्टि कैसे नाम पावे ।'

श्री गौतमगणधर प्रथमोपशमसम्यक्त्व को उत्पन्न करनेवाले जीव की योग्यता का कथन निम्नप्रकार करते हैं—

उवसामेतो कम्हि उवसामेदि ? चक्रुसु वि गवीसु उवसामेदि । चक्रुसु वि गवीसु उवसामेतो पंचिदिएसु उवसामेदि, णो एइविद्य विगालिदियेसु । पंचिदिएसु उवसामेतो सण्णीसु उवसामेदि, णो असण्णीसु । सण्णीसु उवसामेदि, णो असण्णीसु । सण्णीसु उवसामेतो गम्भोवक्कतिएसु उवसामेदि, णो सम्मुच्छिमेसु । गम्भोवक्कतिएसु उवसामेतो पज्जत्तएसु उवसामेदि णो अपज्जत्तएसु । पज्जत्तएसु उवसामेतो संखेज्जवत्साउगेसु वि उवसामेदि, असंखेज्जवत्साउगेसु वि । धवल पु० ६ पृ० २३८

अर्थ—दर्शनमोहनीयकर्म को उपशमाता हुआ यह जीव कहाँ उपशमाता है ? चारों ही गतियों में उपशमाता है । चारों ही गतियों में उपशमाता हुआ पंचेन्द्रियों में उपशमाता है, एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियों में नहीं उपशमाता है । पंचेन्द्रियों में उपशमाता हुआ संज्ञियों में उपशमाता है, असंज्ञियों में नहीं उपशमाता । संज्ञियों में उपशमाता हुआ गर्भोपक्रान्तिकों में (गर्भजजीवों में) उपशमाता है, सम्मूच्छिमों में नहीं । गर्भोपक्रान्तिकों में उपशमाता हुआ पर्याप्तकों में उपशमाता है, अपर्याप्तकों में नहीं । पर्याप्तकों में उपशमाता हुआ संख्यातवर्ष की आयुवाले जीवों में भी उपशमाता है और असंख्यातवर्ष की आयुवाले जीवों में भी उपशमाता है । अर्थात् उपशमसम्यक्त्व उत्पन्न करता है ।

गणधर ने सम्यक्त्वोत्पत्ति का यह सब कथन पर्यायदृष्टि से किया है । 'पर्यायदृष्टि मिथ्यादृष्टि' यदि सिद्धांत होता तो गणधर महाराज पर्यायदृष्टि से क्यों कथन करते ?

श्री गुणधराचार्य कषायपाहुड़ में कहते हैं—

सव्वणिरय भवरोगेसु दीवसमूहे गुह जोदिस विमारो ।
अभिजोग्ग-अणभिजोग्गे उवसामो होइ बोद्धव्वो ॥
सागारे पट्टवगो णिट्टवगो मज्झिमो य सजियव्वो ।
जोगे अण्णवरम्हि य जहण्णगो तेउलेस्साए ॥ (क.पा. ४३० व ४३२)

सर्व नरकों में, सर्वप्रकार के भवनवासी देवों में, सर्वद्वीप और समुद्रों में, सर्वव्यन्तरदेवों में, समस्त ज्योतिष्कदेवों में, विमानवासीदेवों में, अभियोग्यजाति के तथा अनभियोग्यजाति के देवों में दर्शनमोहनीयकर्म का उपशम होता है । साकारोपयोग में वर्तमानजीव ही दर्शनमोहनीयकर्म के उपशमन का प्रस्थापक होता है, किन्तु निष्ठापक और मध्यमभवस्थावर्ती जीव भजितव्य है । तीनों योगों में से किसी एकयोग में वर्तमान और तेजोलेश्या के जघन्य अंग को प्राप्त जीव दर्शनमोह का उपशामक होता है । अर्थात् उपशमसम्यक्त्व को उत्पन्न करता है । सम्यक्त्वोत्पत्ति का यह सब कथन भी पर्यायदृष्टि से किया गया है । इससे स्पष्ट है कि सापेक्ष पर्यायदृष्टि से सम्यक्त्व उत्पन्न होता है ।

द्रव्यदृष्टि से सामान्यदृष्टि, क्योंकि 'सामान्यं द्रव्यं कैकार्थवाचकाः ।' तत्त्वार्थसार

किन्तु सामान्य की अपेक्षा विशेष बलवान् होता है । कहा भी है—

'सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत् ।'

सामान्य शास्त्र तें विशेष बलवान् है, क्योंकि विशेष ही तें नीकें निर्णय हो है । इसीलिए श्री कुन्वकुन्दाचार्य ने पंचास्तिकाय के मोक्षमार्गप्ररूपक दूसरे अधिकार में जीवतत्त्व का पर्यायों की अपेक्षा विशेष कथन किया है । गाथा १०९ में संसारी व मोक्षपर्याय की अपेक्षा से जीवतत्त्व का कथन है । गाथा ११० से १२२ तक इन्द्रिय, गति, भव्य, अभव्य कर्ता, भोक्ता आदि पर्यायों की अपेक्षा संसारीजीव का विशेष कथन है । जीवपदार्थ के कथन का उपसंहार करते हुए श्री कुन्वकुन्दाचार्य लिखते हैं—

एवमभिगमम जीवं अप्णोहि वि पञ्जएहि बहुणेहि ।
अभिगच्छहु अञ्जीवं णाणंतरिदेहि त्तिणेहि ॥१२३॥ पंचास्तिकाय

इसप्रकार अन्य भी बहुत सी पर्यायों द्वारा जीव को जानकर, ज्ञान से अन्य ऐसे जड़ लिंग द्वारा अजीव-पदार्थ को जानो ।

यदि द्रव्यदृष्टि सम्यग्दृष्टि तथा पर्यायदृष्टि मिथ्यादृष्टि ऐसा सिद्धांत होता तो श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्ष-मार्गप्ररूपक अधिकार में जीवपदार्थ का पर्यायों की अपेक्षा क्यों कथन करते ? श्री अमृतचन्द्राचार्य 'बहुभिः पर्यायैः जीवमधिगच्छेत् ।' अर्थात् बहुपर्यायों द्वारा जीव को जानो ऐसी आज्ञा क्यों देते ?

यथार्थदृष्टि सो सम्यग्दृष्टि । पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है । जिसकी मात्र सामान्य पर दृष्टि है विशेष (पर्याय) पर दृष्टि नहीं है, वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है ।

२७ मई १९७१ के 'जैनसन्देश' के सम्पादकीय लेख में जो प्रवचनसार का उल्लेख है अब उस पर विचार किया जाता है ।

उक्त सम्पादकीय लेख में प्रवचनसार गाथा १८९ की टीका का कुछ भाग उद्धृत किया गया है, किन्तु इस टीका का द्रव्यदृष्टि या पर्यायदृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं है और न इस टीका का मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि से कोई सम्बन्ध है । वह टीका इसप्रकार है—

'रागादिपरिणाम एवात्मनः कर्म, स एव पुण्यपापहृतम् । रागपरिणामस्यैवात्मा कर्ता तस्यैवोपादाता हाता चेत्येव शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको निश्चयनयः यस्तु पुद्गल परिणाम आत्मनः कर्म स एव पुण्यपापहृतं पुद्गलपरिणाम-स्यात्मा कर्ता तस्योपादाता हाता चेति सोऽशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको व्यवहारनयः । उभावप्येतौ स्तः, शुद्धाशुद्धत्वेनोभ-यथा द्रव्यस्य प्रतीयमानत्वात् । किन्त्वत्र निश्चयनयः साधकतमत्वादुपात्तः, साध्यस्य हि शुद्धत्वेन द्रव्यस्य शुद्धत्व-द्योतकत्वाभिरचयनय एव साधकतमो न पुनरशुद्धत्वद्योतको व्यवहारनयः ॥१८९॥' प्रवचनसार

यहाँ पर रागादि परिणामों को आत्मा के कर्म और आत्मा उन रागादि का कर्ता आदि है ऐसा कथन करनेवाले नय को शुद्धद्रव्य का निरूपण करनेवाला निश्चयनय कहा है । पौद्गलिककर्म आत्मा के कर्म और आत्मा उन पौद्गलिककर्मों का कर्ता आदि है ऐसा कथन करनेवाले नय को अशुद्धद्रव्य का निरूपण करनेवाला व्यवहारनय कहा है ।

यहाँ पर 'शुद्धद्रव्य व निश्चयनय तथा अशुद्धद्रव्य व व्यवहारनय' ये शब्द किस अभिप्राय से प्रयोग किए गए हैं, इसको समझने के लिए अध्यात्मनयों के स्वरूप का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है । अध्यात्मनयों का कथन इसप्रकार है—

'पुनरप्यध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते ॥ तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च ॥ तत्र निश्चयनयोऽभेदविषयो, व्यवहारो भेदविषयः ॥ तत्र निश्चयो द्विविधः शुद्धनिश्चयोऽशुद्धनिश्चयश्च ॥ तत्र निरुपाधिकगुणगुण्यभेदविषयकः शुद्धनिश्चयो यथा केवलज्ञानावयो जीव इति ॥ सोपाधिक विषयोऽशुद्धनिश्चयो यथा मतिज्ञानावयो जीव इति ॥ व्यवहारो द्विविधः सद्ब्रू तव्यवहारोऽसद्ब्रू तव्यवहारश्च ॥ तत्रैकवस्तुविषयः सद्ब्रू तव्यवहारः ॥ भिन्न वस्तुविषयोऽ-सद्भूतव्यवहारः ॥'

अर्थ—फिर भी अध्यात्मभाषा से नयों का कथन करते हैं। नयों के दो मूल भेद हैं, एक निश्चयनय और दूसरा व्यवहारनय। निश्चयनय का विषय अभेद है और व्यवहारनय का विषय भेद है। निश्चयनय दो प्रकार का है। १. शुद्धनिश्चयनय, २. अशुद्धनिश्चयनय। उनमें से जो नय कर्मजनित रागादि विकार से रहित गुण-गुणी को अभेदरूप से ग्रहण करता है वह शुद्धनिश्चयनय है। जैसे केवलज्ञानादि स्वरूप जीव है। जो नय कर्मजनित रागादि-विकारसहित गुण और गुणी को अभेदरूप से ग्रहण करता है वह अशुद्धनिश्चयनय है। जैसे मतिज्ञानादि स्वरूप जीव। व्यवहारनय दो प्रकार का है, १. सद्भूतव्यवहारनय, २. असद्भूतव्यवहारनय। एक-एक वस्तु को विषय करनेवाला सद्भूतव्यवहारनय है। भिन्न वस्तुओं को विषय करनेवाला असद्भूतव्यवहारनय है।

प्रवचनसार गाथा १८९ की टीका में जो आत्मा को रागादि परिणामों का कर्ता और रागादि परिणामों को कर्म कहा गया है, वह एक ही वस्तु में कर्ता-कर्म के भेदरूप से कथन है अतः वह सद्भूतव्यवहारनय का कथन है। पौद्गलिककर्म आत्मा के कर्म और आत्मा पौद्गलिककर्मों का कर्ता है, यह कथन असद्भूतव्यवहारनय का है, क्योंकि पुद्गल और आत्मा ये दो भिन्न वस्तु हैं। शुद्धनिश्चयनय का विषय तो रागादिविकारीभावों से रहित शुद्धआत्मा है।

श्री कुन्वकुन्वाचार्य ने तथा उनके टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्य ने निश्चय और व्यवहार इन दो ही शब्दों का प्रयोग किया है। भेद-प्रतिभेदों का निर्देश नहीं किया है। जहाँ पर शुद्धनिश्चयनय को निश्चय कहा गया है, वहाँ पर शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा अशुद्धनिश्चयनय को व्यवहार कह दिया गया है। जहाँ पर असद्भूतव्यवहारनय को व्यवहार कहा गया है, वहाँ पर असद्भूतव्यवहार की अपेक्षा सद्भूतव्यवहारनय को निश्चय कहा गया है।

प्रवचनसार गाथा १८९ की टीका में 'शुद्धद्रव्य' का प्रयोजन निरुपाधि आत्मद्रव्य से नहीं है, क्योंकि निरुपाधि आत्मद्रव्य रागादिविकारीपरिणामों का कर्ता नहीं हो सकता है, किन्तु 'एकद्रव्य' से प्रयोजन है, क्योंकि रागादिपरिणाम का कर्ता व कर्म दोनों एकद्रव्य की पर्यायें हैं। 'निश्चयनय' का प्रयोजन सद्भूतव्यवहारनय है, क्योंकि एक द्रव्य में कर्ता कर्म का भेद सद्भूतव्यवहारनय का विषय है। 'व्यवहारनय' का प्रयोजन असद्भूतव्यवहारनय से है, क्योंकि सोपाधि आत्मा और पौद्गलिककर्मों में अर्थात् दो भिन्न वस्तुओं में कर्ता-कर्म का सम्बन्ध बतलाना असद्भूतव्यवहार का विषय है। अशुद्धद्रव्य का प्रयोजन आत्मा और पुद्गल के परस्पर सम्बन्ध से है।

इसप्रकार प्रवचनसार गाथा १८९ की टीका का द्रव्यदृष्टि व पर्यायदृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं है अतः द्रव्यदृष्टि व पर्यायदृष्टि की चर्चा में प्रवचनसार गाथा १८९ की टीका का उल्लेख करना अप्रासंगिक है।

२७ मई १९७१ के जैनसन्देश के सम्पादकीय लेख में प्रवचनसार गाथा ९४ का उल्लेख है। इस गाथा में 'जे पज्जयेसु णिरत्ता जीवा परसमयिणा त्ति णिद्धिदा ।' [गा० ९४ पूर्वार्ध] जो यह कहा गया है, वह एकान्त पर्यायदृष्टिवालों की अपेक्षा से कथन है। जैसा कि श्री अमृतचन्द्राचार्य की टीका के 'निरगल्लकान्तदृष्टयो' शब्दों से स्पष्ट है। सापेक्ष पर्यायदृष्टि वाला भी मिथ्यादृष्टि है, ऐसा नहीं कहा गया है।

यदि द्रव्यदृष्टि भी पर्यायदृष्टि निरपेक्ष है तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। श्री जयसेनाचार्य ने प्रवचनसार गाथा ९३ की टीका में कहा है—

'पज्जयमूढा हि परसमया—यस्मादित्थंभूत द्रव्य-गुण-पर्याय परिज्ञानमूढा अथवा नारकादिपर्यायरूपो न भवान्महमिति भेदविज्ञानमूढाश्च परसमया मिथ्यादृष्टयो भवन्तीति ।'

‘पञ्जयमूढा हि परसमया’ अर्थात् जो इसप्रकार द्रव्य, गुण, पर्याय के यथार्थज्ञान से मूढ है अथवा मैं नारकी आदि पर्यायरूप सर्वथा नहीं हूँ । इसप्रकार भेदविज्ञान में मूढ है, वह वास्तव में मिथ्यादृष्टि है ।

अतः सापेक्ष द्रव्यदृष्टि सुदृष्टि, निरपेक्ष द्रव्यदृष्टि मिथ्यादृष्टि । सापेक्ष पर्यायदृष्टि सुदृष्टि, निरपेक्ष पर्यायदृष्टि मिथ्यादृष्टि ।

प्रवचनसार गाथा १० में कहा भी है—

‘णत्व विणा परिणामं अत्थो अत्थं विरतेह परिणामो ।’

इसलोक में पर्याय के बिना पदार्थ नहीं है और पदार्थ के बिना पर्याय नहीं है । प्रदेश की अपेक्षा पदार्थ और पर्याय अपृथक् है ।

अतः सापेक्ष पर्यायदृष्टि से मोक्षमार्ग सम्भव है ।

—जै. म. 8-15-22/7-71/ मुकुटलाल धुलन्दप्रह्वर

पुण्य का विवेचन

(१) पुण्य की व्याख्या

श्री पूज्यपाद महान् आचार्य हुए हैं जिन्होंने ‘समाधिशतक’, ‘इष्टोपदेश’ जैसे ग्रन्थों की रचना की है जिनमें एतत्त्व अविभक्त आत्मा का कथन है । इन्हीं श्री पूज्यपाद आचार्य ने ‘सर्वार्थसिद्धि’ ग्रन्थ में पुण्य की व्याख्या इसप्रकार की है—

‘पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्, तत्सङ्घेद्यादि ।’ [स. सि. ६।३]

अर्थ—जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है, वह पुण्य है । जैसे साता वेदनीय आदि ।

‘पुण्य’ और ‘मंगल’ एकार्थवाची हैं । इसलिये जो मंगल के पर्यायवाची शब्द हैं वे ही पुण्य के भी पर्यायवाची शब्द हैं ।

श्री वीरसेन स्वामी महान् आचार्य हुए हैं जिन्होंने ‘धवल’ व ‘जयधवल’ अध्यात्म ग्रन्थों की रचना की है । जिनको समझने वाले विरले ही पुरुष हैं । उन वीरसेन आचार्य ने धवल पु० १ पृ० ३१-३२ पर निम्नप्रकार से लिखा है—

‘मंगलस्यैकार्थं उच्यते, मंगलं पुण्यं पूतं पवित्रं प्रशस्तं शिवं शुभं कल्याणं भद्रं सौख्यमित्येवमादीनि मंगल-पर्यायवचनानि । एकार्थं प्ररूपणं किमिति चेत्, यतो मंगलार्थोऽनेकशब्दाभिधेयस्ततोऽनेकेषु शास्त्रेषु नैकाभिधानः मंगलार्थः प्रयुक्तश्चिरन्तनाचार्यैः । सोऽयामोहेन शिष्यैः सुखेनाद्यगम्यत इत्येकार्थं उच्यते । ‘यद्येकशब्देन न जानाति ततोऽप्येनापि शब्देन ज्ञापयितव्यः’ इति वचनाद्वा । मंगलस्य निरुक्तिरुच्यते, मलं गालयति विनाशयति घातयति बहति हृन्ति विशोध्यति विध्वंसयतीति मंगलम् । तन्मलं द्विविधं द्रव्यभावमलभेदात् । द्रव्यमलं द्विविधं, बाह्यम-स्येतरं च । तत्र स्वेद-रजोमलादि बाह्यम् । घन-कठिन-जीव-प्रदेशनिबद्ध-प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेश विभक्त-ज्ञाना-वरणाच्छाद्यविध-कर्माभ्यन्तर द्रव्यमलम् । अज्ञानादर्शनाविपरिणामो भावमलम् ।’

अर्थात्—मङ्गल, पुण्य, पूत, पवित्र, शिव, शुभ, कल्याण भद्र और सौख्य इत्यादि मङ्गल के पर्यायवाची नाम हैं ।

शंका—मङ्गल के एकार्थवाचक अनेक शब्दों का प्रतिपादन किसलिये किया जाता है ?

उत्तर—अनेक पर्यायवाची नामों के द्वारा मङ्गलरूप अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है, इसलिये प्राचीन आचार्यों ने अनेक शास्त्रों में भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा मङ्गल रूप अर्थ का प्रयोग किया है ।

जो मल का गालन करे, विनाश करे, दहन करे, घात करे, शोधन करे, विध्वंस करे, उसे मंगल कहते हैं । वह मल दो प्रकार का है । द्रव्यमल, भावमल । ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के कर्म द्रव्यमल हैं । अज्ञान और अदर्शन आदि (राग, द्वेष, मोह आदि) परिणामों को भावमल कहते हैं ।

श्री यतिवृषभ आचार्य ने भी तिलोपपणसि (१-८, ९, १४) में पुण्य अपरनाम मङ्गल के पर्यायवाची नाम बतलाकर यह कहा है कि पुण्य, द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के मलों को गलाकर आत्मा को पवित्र करता है । गाथा इस प्रकार है—

पुण्यं पूदपवित्ता पसत्थसिवभद्वेलेमकल्लाणा ।
 सुहसोक्खादी सब्बे णिच्चिद्धा मंगलस्स पज्जाया ॥८॥
 गालयदि विणासयदे घादेवि बहेवि हंति सोधयदे ।
 विद्धंसेवि मलाई जम्हा तम्हा य मंगलं भणिवं ॥९॥
 अहवा बहुभेयगयं णाणाधरणादिदव्वभावमलमेवा ।
 तादं गालेइ पुठं जदो तवो मंगलं भणिवं ॥१४॥

अर्थ—पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, भद्र, क्षेम, कल्याण शुभ और सौख्य इत्यादिक सब मंगल के ही समानार्थक शब्द कहे गये हैं । (पुण्य और मंगल इन दोनों शब्दों के अर्थ में कोई अन्तर नहीं है । जो मंगल का अर्थ है, वही पुण्य का अर्थ है ।) ॥८॥ क्योंकि यह मलों को गलाता है, विनष्ट करता है, घातता है, दहन करता है, हनता है, शुद्ध (पवित्र) करता है और विध्वंस करता है, इसलिये इसे मंगल अर्थात् पुण्य कहते हैं ॥९॥ अनेक भेद—युक्त ज्ञानावरणादि कर्मरूप द्रव्य मलों और अज्ञान अदर्शन आदि भावमलों को यह गलाता है इसलिये यह मंगल अथवा पुण्य कहा गया है ।

इन आर्ष वाक्यों से स्पष्ट हो जाता है कि 'मंगल' और 'पुण्य' ये दोनों एकार्थवाची हैं । जो आत्मा के द्रव्यकर्म और भावकर्म रूपी मल का नाश करके आत्मा को पवित्र करता है, उसे 'पुण्य' कहा गया है । आर्ष ग्रन्थों में 'पुण्य' की परिभाषा इस प्रकार दी गई है ।

पुण्य की उपर्युक्त परिभाषा ध्यान में रहने से पुण्य-सम्बन्धी चर्चा ठीक-ठीक सरलता से समझ में आ सकती है । अर्थात् जो आत्मा को पवित्र करे ऐसा पुण्य क्या सर्वथा त्याज्य अथवा हेय है या आत्मा के पवित्र हो जाने पर यह पुण्य स्वयं छूट जाता है । 'मैं हिंसा, भूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि पापों का त्याग करता हूँ ।' इसप्रकार प्रतिज्ञा-पूर्वक पाप का त्याग किया जाता है क्या इसी प्रकार प्रतिज्ञा-पूर्वक पुण्य का भी त्याग किया जाता है ? क्या किसी ने ऐसी प्रतिज्ञा की है ? क्या इस प्रकार की प्रतिज्ञा करने का किसी आर्ष ग्रन्थ में उपदेश है ? पाठकों के लिये यह सब विचारणीय है ।

शंका—पंचास्तिकाय गाथा १३२ में तो शुभ परिणाम को पुण्य और अशुभ परिणाम को पाप कहा है और इन दोनों को बन्ध का कारण कहा है । इस प्रकार शुभ परिणाम पुण्य का लक्षण है ?

समाधान—जीव का शुभ परिणाम पुण्य है, क्योंकि पुण्य का पर्यायवाची शुभ है, ऐसा श्री यतिवृषभाचार्य व श्री वीरसेन आचार्य ने तिस्रोपपणति व धवल में कहा है। जीव के शुभपरिणाम का लक्षण गाथा १३२ पंचास्तिकाय में नहीं दिया गया है। शुभ भाव का लक्षण श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने गाथा ६४ व ६५ में इस प्रकार कहा है—

वद्वत्थकायछप्पणतत्त्वपयत्थेसु सत्तणवएसु ।
 बंधणमुक्खे तवकारणरूढे वारतशुभेक्खे ॥६४॥
 रयणत्तयस्स रूढे अज्जाकम्मो दयाइसद्धम्मे ।
 इच्छेवमाइगो जी वट्टइ सो होइ सुहभावो ॥६५॥

अर्थ—छह द्रव्य, पंचास्तिकाय, सात तत्व, नव पदार्थ, बंध, मोक्ष, बंध के कारण, बारह भावना, रत्नत्रय, आर्य कर्म, दया आदि धर्म, इत्यादिक भावों में जो वर्तन करता है, वह शुभ भाव है।

शुभ भाव से दसवें गुणस्थान तक यद्यपि कर्म-बन्ध होता है तथापि उस बन्ध से कर्म-निर्जरा अति-अधिक होती है। इसलिये शुभ भावरूप जीव पुण्य आत्मा की पवित्रता का कारण है।

(२) जीव पुण्य

उपरि उक्त पुण्य दो प्रकार का है। एक जीव पुण्य, व दूसरा अजीव पुण्य। जो जीव पुण्य-भाव अर्थात् शुभ-भाव से युक्त हो वह जीव-पुण्य है। जो पुद्गल पुण्य भाव से युक्त हो वह अजीव-पुण्य है। पुण्य का पर्यायवाची शुभ भी है। इसलिये पुण्यभाव को शुभ भाव भी कह सकते हैं।

जीव तीन प्रकार के हैं—(१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा, (३) परमात्मा। मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है। छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा है। अरहन्त और सिद्ध परमात्मा है। इनमें से बहिरात्मा पाप-जीव है। अन्तरात्मा पुण्य-जीव है। परमात्मा पुण्य पाप से रहित है।

‘जीविदरे कम्मच्चे पुण्णं पावोत्ति होवि पुण्णं तु ।’ [गो० जी० गा० ६४३]

श्री पं० टोडरमलजी ने इसकी भाषा टीका में लिखा है—

‘जीव पदार्थ—सम्बन्धी प्रतिपादन विषै सामान्यपत्तं गुणस्थान विषै मिथ्यादृष्टि और सासादन एतौ पाप जीव हैं। बहुरि मिश्र है (तीसरे मिश्र गुणस्थान-वर्ती जीव) ते पुण्य-पापरूप मिश्र जीव हैं। जातै युगपत् सम्यक्त्व अर मिथ्यात्वरूप परिणए हैं। बहुरि असंयत तो सम्यक्त्व करि संयुक्त हैं, देशसंयत सम्यक्त्व अर देशव्रत करि संयुक्त हैं, अर प्रमत्तादिक सम्यक्त्व अर सकल व्रत करि संयुक्त हैं, तातै ये पुण्य जीव हैं।’

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा १९० की संस्कृत टीका में लिखा है—

‘अपिशब्दाद्वा पुण्यपापरहितो जीवो भवति ।
 कोऽसौ ? अहंन् सिद्धपरमेष्ठी जीवः ।’

इस गाथा की भाषा टीका में श्रीमान् पण्डित कंसाशचन्द्रजी ने लिखा है—

‘अपि शब्द से यह जीव जब ग्रहन्त अथवा सिद्ध परमेष्ठी हो जाता है तो यह पुण्य और पाप दोनों से रहित हो जाता है। जीव पदार्थ का वर्णन करते हुए सामान्य से गुणस्थानों में से मिथ्यादृष्टि और सासादन गुण-स्थानवर्ती जीव तो पापी हैं। मिश्रगुणस्थान वाले जीव पुण्य-पापरूप हैं; क्योंकि उनके एक साथ सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूप मिले हुए परिणाम होते हैं तथा असंयत सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्व सहित होने से, देशसंयत सम्यक्त्व और व्रत से सहित होने से और प्रमत्त संयत आदि गुणस्थान-वर्ती जीव सम्यक्त्व और महाव्रत से सहित होने से पुण्यात्मा जीव हैं।’

जीवाजीवो पुरा प्रोक्तौ, सम्यक्त्वव्रतज्ञानवान् ।

जीवः पुण्यं तु पापं, स्यान्मिथ्यात्वादिकलंकवान् ॥ आचारसार ३१२७

अर्थ—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य को धारण करने वाला अन्तरात्मा पुण्यरूप है और जो मिथ्यात्व आदि से कलंकित हैं वे पापरूप हैं।

यदि यह शंका की जाय कि अन्तरात्मा पुण्य-पाप दोनों ही प्रकार के कर्मों का बन्ध करता है फिर भी उपर्युक्त आर्ष ग्रंथों में उसको पुण्य जीव क्यों कहा गया है? तो यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि अन्तरात्मा के कर्म-बन्ध होने पर भी संवर-पूर्वक कर्म-निर्जरा अधिक होती है। इसलिए अन्तरात्मा के द्वारा जीव पवित्र होकर परमात्मा बन जाता है। अतः उपर्युक्त आर्ष ग्रंथों में अन्तरात्मा को पुण्य कहा जाना उचित है। क्योंकि पुण्य वह है जिसके द्वारा आत्मा पवित्र होती है।

श्री पूज्यपाद आचार्य ने ‘समाधितन्त्र’ में कहा भी है—

बहिरन्तः परश्चेपि त्रिधात्मा सर्वदेहिषु ।

उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद् बहिस्स्थजेत् ॥४॥

संस्कृत टीका—‘उपेयादिति । तत्र तेषु त्रिधात्मसु मध्ये उपेयात् स्वीकुर्यात् परमं परमात्मानं । कस्मात् ? मध्योपायात् मध्योऽन्तरात्मा स एवोपायस्तस्मात् तथा बहिः बहिरात्मानं मध्योपायादेव त्यजेत् ॥४॥

अर्थात्—सर्व संसारी जीव तीन प्रकार के हैं, बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा। आत्मा की इन तीन प्रकार की अवस्थाओं में अंतरात्मा के द्वारा परमात्मा-अवस्था को प्राप्त करना चाहिये और बहिरात्म-अवस्था को छोड़ना चाहिये।

श्री पूज्यपाद आचार्य ने ‘समाधितंत्र’ में ‘अन्तरात्मा’ द्वारा परमात्म-अवस्था को प्राप्त करना चाहिए। इन शब्दों द्वारा यह बतलाया है कि ‘अन्तरात्मा द्वारा आत्मा पवित्र होती है। और ‘सर्वार्थसिद्धि’ में ‘पुण्य’ के द्वारा आत्मा पवित्र होती है’ यह कहा है। इन दोनों कथनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्तरात्मा पुण्य है। उपर्युक्त श्लोक में बहिरात्मा अर्थात् पाप को तो त्याज्य बतलाया है। इसका कारण यह है कि पुण्य के द्वारा आत्मा पवित्र होती है अर्थात् परमात्म-पद प्राप्त होता है, उसको त्याज्य कैसे कहा जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति पुण्य को हेय जान ग्रहण न करे तो उसकी आत्मा पवित्र नहीं हो सकती अर्थात् वह परमात्म-पद प्राप्त नहीं कर सकता।

श्री पं० दौलतरामजी ने भी उपर्युक्त श्लोक के अनुसार बहिरात्मा को हेय बतलाया है और अन्तरात्मा को उपादेय बतलाया है—

बहिरात्मता हेय जानि तजि, अन्तर आत्म हूजं ।

परमात्म को ध्याय निरन्तर, जो नित आनन्द पूजं ॥ छहड़ाला ३१६

अन्तरात्मा अथवा पुण्य को उपादेय बताने का कारण यह है कि इसके द्वारा आत्मा पवित्र होती है और परमात्म-पद प्राप्त होता है। किन्तु परमात्म-पद प्राप्त हो जाने पर अन्तरात्मा अर्थात् पुण्य का स्वयमेव अभाव हो जाता है, क्योंकि परमात्मा पुण्य-पाप (अन्तरात्मा, बहिरात्मा) से रहित है।

ऐसा एक भी जीव नहीं जिसने पुण्य अर्थात् अन्तरात्मा के बिना परमात्म-पद प्राप्त किया हो, क्योंकि कारण के बिना कार्य की सिद्धि नहीं होती। आर्ष ग्रन्थों में बहिरात्मा को पाप जीव कहा गया है। निरतिशय बहिरात्मा यद्यपि पाप जीव है तथापि भ्रम से उसको पुण्य जीव मानकर पुण्य का सर्वथा निषेध करना उचित नहीं है।

पुण्यभाव अर्थात् शुभभाव मोक्ष का भी कारण है।

श्री वीरसेन आचार्य तथा श्री यतिबुधभाचार्य ने मंगल के पर्यायवाची नामों का उल्लेख करते हुए पुण्य और शुभ को पर्यायवाची कहा है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने शुभ भाव का लक्षण 'रयणसार' में इसप्रकार कहा है—

दशवृत्तिकायछप्पणतच्चपयत्थेसु सत्तणवएसु ।
 बंधणमोक्खे तक्कारणरूवे वारसण्णवेक्खे ॥६४॥
 रयणत्तयत्सरूवे अज्जाकम्मे दयाइसद्धम्मे ।
 इच्चेवमाइगो जो वट्टइ सो होइ सुहभावो ॥६५॥

अर्थ—छह द्रव्य, पंचास्तिकाय, सात तत्त्व, नव पदार्थ, बंध, मोक्ष, बंध के कारण, मोक्ष के कारण, बारहभावना, रत्नत्रय, आर्य (शुभ, श्रेष्ठ) कर्म, दया आदि धर्म, इत्यादिक भावों में जो वर्तन करता है वह शुभ भाव होता है।

श्री प्रवचनसार गाथा २३० की टीका में शुभभाव के कुछ पर्यायवाची नाम दिये हैं जो इस प्रकार हैं—

अपहृतसंयमः सरागचारित्रं शुभोपयोग इति यावदेकार्षः ।

अर्थ—अपहृत-संयम, सरागचारित्र और शुभोपयोग ये एकार्षवाची शब्द हैं।

उपयुक्त लक्षणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शुभ भाव सम्यग्दृष्टि के संभव हैं, मिथ्यादृष्टि के शुभ भाव संभव नहीं हैं।

पुण्य भाव से अर्थात् शुभभाव से जहाँ पुण्य कर्म का बंध होता है वहाँ संवर और निर्जरा भी होती है। यही कारण है कि अन्तरात्मा अर्थात् जीव पुण्य को परमात्मा का कारण बतलाया गया है जिसका उल्लेख सप्रमाणा पीछे किया जा चुका है। श्री वीरसेन आचार्य ने स्पष्ट शब्दों में शुभ भाव से संवर और निर्जरा का उल्लेख किया है।

'सुह-सुद्ध-परिणामेहि कम्मखयाभावे तक्खयाण्णवत्तीदो ।' (जयधवल पु० १ पृ० ६)

अर्थ—यदि शुभ व शुद्ध परिणामों से कर्मों का क्षय न माना जाय तो फिर कर्मों का क्षय हो ही नहीं सकता है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी इसी बात को 'प्रवचनसार' में कहा है—

एसा पसत्थभूवा समाण्णं वा पुणो धरत्थाण ।
 चरिया परेत्ति भणिदा ता एव परं लहवि सोक्खं ॥४५॥

अर्थ—यह प्रशस्तभूत चर्या अर्थात् पुण्य, शुभ भाव मुनियों के होते हैं और गृहस्थों के तो मुख्य रूप से होते हैं और उसी से परम सौख्य को अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होते हैं, ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है ।

श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने भी इस गाथा की टीका में यही कहा है—

‘गृहिणां तु समस्तविरतेरभावेन शुद्धात्म-प्रकाशनस्याभावात्कषाय-सद्भावात्प्रवर्तमानोऽपि स्फटिक-सम्पर्क-णाकंतेजस इवंधसां रागसंयोगेन शुद्धात्मनोनुभवात्क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः ।’

अर्थात्—शुभोपयोग गृहस्थ के तो, सर्वविरति के अभाव से शुद्धात्मप्रकाशन का अभाव होने से, कषाय के सद्भाव के कारण प्रवर्तमान होता हुआ भी शुभभाव मुख्य है । क्योंकि गृहस्थ को राग के संयोग से शुद्धात्मा का अनुभव होता है, जिस प्रकार इन्धन को स्फटिक के सम्पर्क से सूर्य के तेज का अनुभव होता है । इसलिये वह शुभोपयोग क्रमशः परम-निर्वाण के सौख्य का कारण होता है ।

श्री अमृतचन्द्र आचार्य पुनः ‘प्रवचनसार’ गाथा २५६ की टीका में शुभोपयोग अर्थात् पुण्य-भाव को मोक्ष का कारण बतलाते हैं ।

‘शुभोपयोगस्य सर्वज्ञव्यवस्थापितवस्तुषु प्रणिहितस्य पुण्योपचयपूर्वकोऽप्यनुभावावोपलम्भः ।’

अर्थ—सर्वज्ञ-कथित वस्तुओं में उपयुक्त शुभोपयोग का फल पुण्य-संचय-पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति है ।

‘समयसार’ गाथा १४५ की टीका में भी श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने इसी प्रकार कहा है—

‘शुभाशुभौ मोक्षबन्धमार्गौ तु प्रत्येकं केवलजीवपुद्गलमयत्वाद्देवौ तदनेकत्वे सत्यपि केवलपुद्गलमयबन्ध-मार्गाभितत्वेनाश्रयाभेदादेकं कर्म ।’

यहाँ पर जीव के शुभ भाव को मोक्षमार्ग कहा गया है ।

जिणवरचरणंबुरुहं णमंति जे परममत्तिरायेण ।

ते जम्मवेलिभूलं खणंति वरभावसत्थेण ॥१५३॥ (भावपाहुड)

इस गाथा में श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा है कि जो भव्य जीव उत्तम भक्ति और अनुराग से जिनेन्द्र भगवान के चरणकमलों को नमस्कार करते हैं, वे उस भक्ति-मयी उत्तम शुभभावरूप हथियार के द्वारा संसाररूपी बेल को जड़ से खोद देते हैं अर्थात् संसार का जड़ मूल से नाश कर देते हैं ।

तं देवाधिदेवदेवं जविवरवसहं गुरुं तिलोयस्स ।

पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खयं जंति ॥६॥

(श्रीकुन्दकुन्द कृत प्रवचनसार पृ० ९०)

अर्थात्—जो मनुष्य देवाधिदेव, यतिवरवृषभ, तीन लोक के गुरु श्री जिनेन्द्र भगवान की आराधना करता है वह आराधनारूप शुभ-भाव से अक्षय अनन्त सुख अर्थात् मोक्ष सुख को प्राप्त करता है ।

अरहंतणमोकारं भावेण य जो करेदि पयवमदी ।

सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥७-५॥ [मू. धा.]

इस गाथा में श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने बतलाया है कि जो भक्त भावपूर्वक अरहंत को नमस्कार करता है वह शीघ्र ही नमस्कार रूप शुभ भाव से सम्पूर्ण दुखों से मुक्त होता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है ।

भसीए जिणवरणं खीयदि जं पुक्खसंचियं कम्मं,
आयरियपसाएण य विज्जा मंता य सिज्जंति ॥७-८१॥ [मू. चा.]

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने इस गाथा के पूर्वार्ध में बतलाया है कि जिनेश्वर की भक्ति रूप शुभ भाव से संवित कर्म का नाश होता है ।

जम्हा विसोदि कम्मं अट्टविहं चाउरंगमोक्खो य ।
तम्हा वदंति विवुसो विणओत्ति विलीणसंसारो ॥७-९०॥ [मू. चा.]

इस गाथा में श्री कुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं—'विनय रूप शुभ भाव से आठ प्रकार के कर्मों का नाश होकर चतुर्गति संसार से आत्मा मुक्त होता है ।

विणएण विप्पहीणस्स हृदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा ।
विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकल्लाण ॥७-९०५॥

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने इस गाथा में बतलाया है कि विनय रूप शुभभाव का फल सर्व कल्याण अर्थात् मोक्ष है ।

विणओ मोक्खहारो विणयदो संजमो तवो णाणं ।
विणएणाराहिज्जदि आइरिओ सव्वसंघो य ॥७-९०६॥ [मू. चा.]

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने विनय रूप शुभभाव को मोक्ष का द्वार बतलाया है ।

तम्हा सव्वपयसो विणयसं मा कदाइ छंडेज्जो ।
अप्पमुवोवि य दुरिसो खवेदि कम्माणि विणएण ॥७-९०८॥

श्री कुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं—कभी विनय का त्याग नहीं करो, पूर्ण प्रयत्न से विनय का पालन करो, क्योंकि अल्प ज्ञानी भी विनय रूप शुभ भाव से कर्मों का क्षय करता है ।

इसप्रकार श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने तथा श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने 'प्रवचनसार', 'अष्टपाहुड' व 'मूलाचार' आदि ग्रंथों में शुभोपयोग से तथा भक्तिरूप शुभोपयोग से व विनयरूप शुभोपयोग से मोक्ष की प्राप्ति बतलाई है । जिससे परमात्म-पद प्राप्त होता हो ऐसा शुभोपयोग रूप पुण्य सर्वथा हेय नहीं हो सकता, वह कथञ्चित् उपादेय भी है, इसीलिये श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने इसको पालन करने का उपदेश दिया है ।

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं ।
असुहं च अट्टरुहं सुहं घम्मं जिणवरिदोहं ॥७६॥ [भाव पाहुड]

भाव तीन प्रकार का जानना चाहिये, शुभ, अशुभ और शुद्ध । आर्तध्यान, रौद्रध्यान अशुभ भाव हैं, धर्मध्यान शुभ भाव है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ।

जिस धर्मध्यान को श्री उभास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र में 'परे मोक्षहेतु' सूत्र द्वारा, मोक्ष का कारण कहा है, उस धर्मध्यान को श्री कुन्वकुन्द आचार्य ने उपर्युक्त गथा में शुभोपयोग कहा है। अर्थात् शुभोपयोग मोक्ष का कारण है ऐसा श्री कुन्वकुन्द आचार्य का कहना है।

भाष्य पाठ्य गथा ७६ में जिस धर्मध्यान को शुभोपयोग कहा है उसी धर्मध्यान से मोहनीय कर्म का क्षय होता है। श्री वीरसेन आचार्य ने कहा भी है—

'मोहनीयविनासो पुण धम्मज्झाणफलं, सुहुमसांपरायचरिन्समए तस्स विणासुबलंभादो ।'

[धवल पु० १३ पृ० ८१]

अर्थ—मोहनीय कर्म का विनाश करना धर्मध्यान (शुभ भाव, पुण्य भाव) का फल है, क्योंकि सूक्ष्म-साम्पराय दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में मोहनीय कर्म का विनाश देखा जाता है।

श्री वीरसेन आचार्य ने जिनपूजा आदि शुभ भावों से कर्म—निर्जरा का कथन किया है और कर्मों की निर्जरा मोक्ष का कारण है।

'जिनपूजा-वंदन-णामंसरोहि य बहुकम्मपदेशणिज्जखलंभादो ।' (धवल पु. १० पृ. २८९)

अर्थ—जिनपूजा, वंदना और नमस्कार आदि शुभभावों से भी बहुत कर्मप्रदेशों की निर्जरा पाई जाती है।

निर्जरा मोक्ष का साधन है। इसलिये जिनपूजा आदि शुभ भाव मोक्ष के कारण हैं। ऐसा श्री कुन्वकुन्द आचार्य ने भी 'रयणसार' में कहा है—

पूयाफलेण तिलोए सुरपुज्यो हवेइ सुद्धमणो ।

दाणफलेण तिलोए सारसुहं भुजवे णियदं ॥१४॥

अर्थात्—यदि कोई शुद्ध मन अर्थात् इंद्रिय सुख की अभिलाषा से रहित जिनपूजा करता है तो उस पूजा रूप शुभभाव का फल तीन लोक में देवों से पूजित अरहंत पद है और दान रूप शुभ भाव का फल तीनलोक का सार-सुख अर्थात् मोक्ष का सुख मिलता है।

श्री समन्तभद्र आचार्य ने भी स्तुतिविद्या में, जिनभक्ति रूप शुभ भाव से संसार का नाश होता है ऐसा कहा है—

जन्मारभ्यशिक्षी स्तवः स्मृतिरपि क्लेशान्मुधेनौ पदे ।

भक्तानां परमौ निघी प्रतिकृतिः सर्वार्थसिद्धिः परा ॥११५॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान का स्तवन रूप शुभभाव संसार रूपी अटवी को नष्ट करने के लिये अग्नि के समान है।

अर्थात् जिस प्रकार अग्नि अटवी को नष्ट करती है उसी प्रकार जिनेन्द्र का स्तवन रूप शुभ भाव भी संसार के भ्रमण को नष्ट कर देता है और मोक्ष को प्राप्त करा देता है। जिनेन्द्र का स्मरण दुखरूप समुद्र से पार होने के लिये नौका के समान है।

अर्थात् जिनेन्द्र के स्मरण मात्र से यह जीव संसार के दुखों से छूट जाता है। जिनेन्द्र के चरणकमल भक्त-पुरुषों के लिये उत्कृष्ट खजाने के समान हैं। जिनेन्द्र की श्रेष्ठ प्रतिमा सब कार्यों की सिद्धि करनेवाली है।

गत्वैकस्तुतमेव वासमधुना, तं ये च्युतं स्वगते ।
यत्स्येति सुशर्मपूर्णमधिकां शान्तिं ब्रजित्वाध्वना ॥
यद्भवत्या शमिताकुशाधयमरुज तिष्ठेशजनः स्वालये ।
ये सद्भोग कवायतिथ यजते, ते मे जिना सुश्रिये ॥११६॥

इस श्लोक में श्री समन्तभद्र आचार्य ने यह बतलाया है कि जिनेन्द्र को नमस्कार करने मात्र से पूर्ण-अनंत सुख प्राप्त हो जाता है और भक्ति से यह जीव अधिक शांति को पाकर रत्नत्रय रूप मार्ग के द्वारा स्वालय अर्थात् मोक्ष में जाकर निवास करता है।

इन दोनों श्लोकों में श्री समन्तभद्र आचार्य ने भक्ति रूप शुभोपयोग का फल मोक्षप्राप्ति बतलाया है।

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवत तादृशः ।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥१७॥ [समाधितंत्र]

श्री पूज्यपाद आचार्य ने इस श्लोक में कहा है—अपने से भिन्न अरहंत परमात्मा की उपासना-आराधना करके उन्हीं के समान परमात्मा हो जाता है। जैसे दीपक से भिन्न अस्तित्व रखने वाली बत्ती भी दीपक की आराधना करके (उसका सामीप्य प्राप्त करके) दीपक-स्वरूप हो जाती है।

सिद्धज्योतिरतीव निर्मलतरज्ञानकमूर्ति-स्फुरद्-
वर्तिर्दीपमिवोपसेव्य लभते योगी स्थिरं तत्पदम् ॥८१२॥ [पद्म-नन्दि पंचविंशति]

अर्थ—जिस प्रकार बत्ती दीपक की उपासना करके उसके पद को प्राप्त कर लेती है, अर्थात् दीपकस्वरूप परिणाम जाती है, उसी प्रकार अत्यन्त निर्मल ज्ञान-स्वरूप सिद्ध-ज्योति की आराधना करके योगी भी स्वयं सिद्ध-पद को प्राप्त कर लेता है।

पवित्रं यन्निरातंक सिद्धानां पदमभ्ययम् ।
दुष्प्राप्यं विदुषामर्थ्यं प्राप्यते तज्जिनाचर्कः ॥१२।३९॥ [अमितगति श्रावकाचार]

अर्थात्—जिनदेव के पूजक पुरुष सिद्ध पद को प्राप्त होते हैं।

एकाऽपि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गति निवारयितुम् ।
पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिधियं कृतिजनम् ॥१५५॥ [उपासकाध्ययन]

श्री पं० कंलाशचन्द्रजी इसी 'उपासकाध्ययन' ग्रन्थ में इसका अर्थ लिखते हैं—

'अकेली एक जिनभक्ति ही ज्ञानी के दुर्गति का निवारण करने में, पुण्य का संचय करने में और मुक्ति रूपी लक्ष्मी को देने में समर्थ है।

एकाऽपि शक्ता जिनदेवभक्तिर्या दुर्गतेर्वारयितुं हि जीवान् ।
आसीद्वितस्त्रोक्ष्यपरं परार्थपुण्यं नवं पूरयितुं समर्था ॥२२।३८॥ (वरागचरित)

इस श्लोक में भी यह कहा गया है कि जिनदेव की भक्ति से उत्कृष्ट सुख अर्थात् मोक्षसुख प्राप्त होता है।

सर्वागमावगमतः खलु तत्त्वबोधो,
मोक्षाय वृत्तमपि संप्रति दुर्घटं नः ।
जाड्यात्तथा कुतनुतस्त्वयि भक्तिरेव
देवास्ति सैव भवतु क्रमतस्तदर्थम् ॥२१६॥ (प. पं.)

अर्थ—हे देव ! मुक्ति का कारणभूत जो तत्त्वज्ञान है वह ज्ञान निश्चयतः समस्त आगम के ज्ञान लेने पर प्राप्त होता है । सो जड़बुद्धि होने से वह हमारे लिए दुर्लभ है । इसी प्रकार उस मोक्षका कारणभूत जो चरित्र है वह भी शरीर की दुर्बलता से इस समय हमें नहीं प्राप्त हो सकता है । इस कारण आप में जो मेरी भक्ति रूप शुभ परिणाम है, वही क्रमशः मुझको मुक्ति का कारण है ।

चारित्र्यं यदभाणि केवलदृशा देव त्वया मुक्तये,
पुंसा तत्खलु भावशेन विषमे काले कलौ दुर्धरम् ।
भक्तिर्या समभूविह त्वयि दृढा पुण्यैः पुरोपाजितैः,
संसारार्णवतारणे जिन ततः संवास्तु पोतो मम ॥१३०॥ (प० पं०)

अर्थ—हे जिनदेव ! आपने जो मुक्ति के लिए चारित्र्य बतलाया है, उसे निश्चय से मुझ जैसा पुरुष इस विषम पंचम काल में धारण नहीं कर सकता है । इसलिए पूर्वोपाजित महान् पुण्य से जो मेरी आपमें दृढ़ भक्ति हुई है, वही मुझे इस संसार रूपी समुद्र से पार होने के लिए जहाज के समान है । जिस प्रकार जहाज से समुद्र पार किया जाता है, उसी प्रकार यह जीव जिनेन्द्र-भक्ति रूप शुभ भाव से संसार से पार होकर मोक्ष पहुँच जाता है ।

संश्लेषजणिवकरणा णिस्सल्ला मंदरोव्व णिवकंपा ।
जस्स दढा जिणभत्ती तस्य भवं णत्थि संसारे ॥७४५॥ (मूलाराधना)

अर्थ—संसारभय से उत्पन्न हुई, मिथ्यात्व-माया-निदान से रहित, मेरु पर्वतके समान निश्चल ऐसी जिन-भक्ति जिसके अंतःकरण में है उस पुरुष को संसार में भव धारण नहीं करने पड़ते अर्थात् उसका संसार नष्ट होकर उसे मुक्ति-लाभ होता है ।

तह सिद्धचेदिए पवयणे य आइरियसव्वसाधुसु ।
भत्ती होवि समत्था संसारच्छेवणे तिग्वा ॥७४७॥
विज्जा वि भत्तिवंतस्स सिद्धिमुवयादि होदि सफला य ।
किह पुण विव्वुदिबीजं सिज्झहिदि अभत्तिमंतस्स ॥७४८॥

अर्थ—सिद्ध परमेष्ठी, उनकी प्रतिमा, आगम, आचार्य, सर्वसाधु, इनमें की हुई तीव्र भक्ति संसार का नाश करने में समर्थ होती है, जो भक्तिमान् है उसको इष्ट पदार्थ अर्थात् मोक्ष मिलता है और जो सिद्धादि की भक्ति नहीं करता उसको मुक्ति बीज अर्थात् रत्नत्रय प्राप्त नहीं होता ।

‘चेदियभत्ता य चेत्यानि जिनसिद्धप्रतिबिंबानि कृत्रिमाकृत्रिमाणि तेषु भक्ताः । यथा शत्रूणां मित्राणां वा प्रतिकृतिदर्शनाद् द्वेषो रागश्च जायते । यदि नाम उपकारोऽनुपकारो वा न कृतस्तथा प्रतिकृत्या तत्कृतापकारस्योप-कारस्य वा अनुस्मरणे निमित्तताऽस्ति तद्वज्जिनसिद्धगुणाः अनन्तज्ञानदर्शन-सम्यक्त्व-वीतरागत्वावयवस्तत्र यद्यपि न सन्ति, तथापि तद्गुणानुस्मरणं संपादयन्ति, सादृश्यात्तच्च गुणानुस्मरणं अनुरागात्मकं ज्ञानदर्शने सन्निधापयति । ते च संवरनिर्जरे महत्तयो संपादयतः । तस्माच्चैत्यभक्तिमूपयोगिनीं कुरुत ।’ (मूलाराधना गाथा ३०० टीका)

अर्थ—हे मुनिगण ! आप अरहन्त और सिद्ध की अकृत्रिम और कृत्रिम प्रतिमाओं की भक्ति करो । जैसे शत्रुओं की अथवा मित्रों की फोटो दीख पड़ने पर द्वेष और प्रेम उत्पन्न होता है, यद्यपि उस फोटो ने उपकार अथवा अनुपकार कुछ भी नहीं किया है तथापि वह शत्रुकृत—अपकार और मित्रकृत—उपकार का स्मरण होने में कारण है । वैसे ही जिनेश्वर और सिद्धों के अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, सम्यग्दर्शन, वीतरागतादिक गुण यद्यपि अरहन्त प्रतिमा में और सिद्ध प्रतिमा में नहीं हैं तथापि उन गुणों का स्मरण होने में वे प्रतिमा कारण होती हैं, क्योंकि अरहन्त और सिद्धों का उन प्रतिमाओं में सादृश्य है । यह गुणस्मरण अनुरागस्वरूप होने से ज्ञान और श्रद्धान को उत्पन्न करता है और इससे नवीन कर्मों का अपरिमित संवर और पूर्व—बंधे हुए कर्मों की महानिर्जरा होती है । इसलिये शुद्धात्म-स्वरूप की प्राप्ति होने में सहायक ऐसी चैत्यभक्ति हमेशा करो ।

कर्म भक्त्या जितेन्द्राणां, क्षयं भरत गच्छति ।

क्षीणकर्मा पदं याति यस्मिन्ननुपमं सुखम् ॥३२॥१८३॥ पद्मपुराण

अर्थ—हे भरत ! जितेन्द्रदेव की भक्तिरूप शुभभाव से कर्म क्षय को प्राप्त हो जाते हैं और जिसके कर्म क्षीण हो जाते हैं, वह अनुपम (अतन्दित्र्य) सुख से सम्पन्न परम-पद अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है ।

'जिनबिंबानि भव्यजनभक्त्यनुसारेण गीर्वाणनिर्वाणपद-प्रदायीनि गरुडमुद्रया यथा गरलापहरणं तथा चैत्य-लोकनमात्रेणैव दुरितापहरणं भवत्यथरचैत्यस्यापि वन्दना कार्या' ॥ (चारित्रसार पृ० १५०)

अर्थ—जिनबिंब भव्य लोगों की भक्ति के अनुसार स्वर्ग और मोक्ष पद देते हैं । जिस प्रकार गरुडमुद्रा से विष दूर हो जाता है, उसी प्रकार जिनबिंब के दर्शन मात्र से पापों का नाश हो जाता है । इसलिये जिनबिंब की वन्दना करनी चाहिये और जिनबिंब के आश्रय होने से चैत्यालय की भी वन्दना करनी चाहिये ।

प्रशस्ताध्यवसायेन संचितं कर्म नाशयते ।

काष्ठं काष्ठांतकेनेव दीप्यमानेन निश्चितम् ॥८५॥ अमितगति श्रावकाचार

अर्थ—जैसे जाज्वल्यमान आग से काठ का नाश होता है वैसे ही शुभ परिणाम अर्थात् पुण्य रूप जीव परिणाम से संचित कर्म नाश को प्राप्त होता है ।

'आप्त-मीमांसा' कारिका ९५ की टीका में 'अष्टशती' और 'अष्टसहस्री' के आधार पर इस प्रकार लिखा है 'विशुद्ध तो मंद कषाय रूप परिणाम कू' कहिये है । बहुरि संक्लेश तीव्र कषाय रूप परिणाम कू' कहिए है । तहाँ विशुद्धि का कारण, विशुद्धि का कार्य, विशुद्धि का स्वभाव ये ती विशुद्धि के अंग हैं, बहुरि आर्त्त-रोद्र ध्यान का अभाव सो विशुद्धि का कारण है । बहुरि सम्यग्दर्शनादिक विशुद्धि के कार्य हैं । बहुरि धर्म, शुक्ल ध्यान के परिणाम हैं, ते विशुद्धि के स्वभाव हैं । तिस विशुद्धि के होते ही आत्मा आप विषं तिष्ठे है ।'

इन तीस आर्षग्रन्थों के प्रमाणों से यह सिद्ध है कि शुभोपयोग, शुभ भाव, विशुद्ध भाव या पुण्यभाव इनसे मोक्ष की प्राप्ति होती है । इनसे अधिक प्रमाण भी दिये जा सकते थे किन्तु कलेवर बड़ जाने के भय से नहीं दिये गये । जिनको आर्षग्रन्थों पर श्रद्धा है उनके लिए उपर्युक्त तीस प्रमाण भी पर्याप्त हैं ।

(३) अजीब पुण्य (पौद्गलिक पुण्यकर्म) मोक्षमार्ग में सहकारीकारण है

पुण्य की परिभाषा—

'पुनात्यात्मनं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्, तत्सद्देहादि ।'

अर्थ—जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है, वह पुण्य है, जैसे साता-वेदनीय आदि ।

‘तत्त्वार्थसूत्र’ के छठे अध्याय के सूत्र तीन में पाप व पुण्यकर्म के आस्रव का कथन है । इस सूत्र की ‘सर्वार्थसिद्धि’ टीका में श्री पूज्यपाद महानाचार्य ने सातावेदनीय आदि पुण्य कर्मों के द्वारा आत्मा पवित्र होता है, ऐसा उपर्युक्त वाक्य में स्पष्ट रूपसे कथन किया है । इस पर शंका स्वाभाविक है कि पुद्गल कर्म तो बंध-रूप है । वह आत्मा की पवित्रता का कैसे कारण हो सकता है ? किन्तु यह शंका ठीक नहीं है । क्योंकि पुण्योदय के बिना मोक्षमार्ग के योग्य (उत्तम संहनन, उच्चगोत्र आदि) सामग्री नहीं मिल सकती । इसलिये आर्षग्रन्थों में पुण्यकर्म को मोक्षप्राप्ति में सहकारी कारण बतलाया है ।

‘मोक्षस्यापि परमपुण्यातिशय-चारित्र्यविशेषात्मकपौरुषाभ्यामेव संभवात् ।’ (अष्टसहस्री पृ० २५७)

अर्थ—परम पुण्य के अतिशय से तथा चारित्र्य रूप पुरुषार्थ से (इन दोनों से) मोक्ष की प्राप्ति होती है । यहाँ पर श्री विद्यानन्द महान् तार्किक आचार्य ने यह बतलाया है कि मोक्ष मात्र रत्नत्रय से ही नहीं प्राप्त होता किन्तु रत्नत्रय रूपी पुरुषार्थ को परम पुण्यकर्मोदय की सहकारिता की भी आवश्यकता है । इस प्रकार पुण्यकर्म भी मोक्ष-प्राप्ति में अत्यन्त उपयोगी है । यही बात श्री कुन्दकुन्द आचार्य कृत ‘धर्मास्तिकाय’ गाथा ८५ की टीका में भी कही गयी है —

‘यथा रागादि-दोष-रहितः शुद्धात्मानुभूति-सहितो निश्चय-धर्मो यद्यपि सिद्धगतेरुपादानकारणं भव्यानां भवति तथापि निदान-रहित-परिणामोपाजित-तीर्थकर-प्रकृत्युत्तमसंहननादि-विशिष्टपुण्यरूपकर्मापि सहकारी कारणं भवति, तथा यद्यपि जीवपुद्गलानां गतिपरिणतेः स्वकीयोपादानकारणमस्ति तथापि धर्मास्तिकायोऽपि सहकारी कारणं भवति ।’

अर्थ—जिस प्रकार रागादि दोष-रहित शुद्धात्मानुभूति रूप निश्चयधर्म भव्यों को सिद्धगति के लिये यद्यपि उपादान कारण है तथापि निदान-रहित परिणामों से उपाजित तीर्थकर प्रकृति, उत्तम संहनन आदि विशिष्ट पुण्यकर्म भी सिद्धगति के लिये सहकारी कारण हैं, (यदि विशिष्ट पुण्यकर्म की सहकारिता न हो तो भव्य जीव सिद्धगति को प्राप्त नहीं हो सकते) उसी प्रकार गतिपरिणत जीव पुद्गल, अपनी-अपनी गति के लिये, यद्यपि स्वयं उपादान कारण हैं तथापि उस गति में धर्मद्रव्य सहकारी कारण होता है अर्थात् धर्मद्रव्य के बिना जीव और पुद्गलों की गति नहीं हो सकती, जैसे ऊर्ध्वगमन-स्वभावी सिद्ध जीव भी लोक के अन्त तक ही गमन करते हैं, क्योंकि उसके आगे धर्मद्रव्य का अभाव है ।

उत्तम संहनन आदि विशिष्ट पुण्यकर्मोदय के बिना आज तक कोई भी जीव मोक्ष नहीं गया और न जा सकता है । इसलिये मोक्ष के लिये पुण्यकर्म सहकारी कारण है ।

‘मूलाचार प्रदीप’ पृ० २०० पर भी कहा है—

‘पुण्य-प्रकृतयस्तीर्थपदादि-सुख-खानयः ।’

अर्थात्—ये पुण्यकर्मप्रकृतियाँ तीर्थकर आदि पदों के सुख देने वाली हैं ।

पुण्यात् सुरासुरनरोरगभोगसाराः

धीरायुरप्रमितरूपसमृद्धयो गीः ।

साम्राज्यमन्द्रमपुनर्भवभावनिष्ठ-
मार्हन्त्यमन्त्यरहिताखिलसौख्यमग्र्यं ॥१६-२७२॥ [महापुराण]

अर्थ—सुर, असुर, मनुष्य और नाग इनके इन्द्र आदि के उत्तम-उत्तम भोग, लक्ष्मी, दीर्घ आयु, अनुपम रूप, समृद्धि, उत्तम दारणी, चक्रवर्ती का साम्राज्य, इन्द्रपद, जिसको पाकर पुनः संसार में जन्म नहीं लेना पड़े—ऐसा अरहंत पद और अनन्त समस्त सुख देनेवाला श्रेष्ठ निर्वाणपद इन सबकी प्राप्ति पुण्यकर्म से ही होती है ।

पुण्याच्चक्रधरभियं विजयिनीमन्द्रीं च विव्यभियं,
पुण्यातीर्थकरभियं च परमां नैःश्रेयसीञ्चाप्नुते ।
पुण्यादित्यसुभृच्छ्रियां चतसृणामाविर्भवेद् भाजनं,
तस्मात्पुण्यमुपार्जयन्तु सुधियः पुण्याग्जिनेन्द्रागमात् ॥३०१२९॥ (म० पु०)

अर्थ—पुण्यकर्म से सबको विजय करनेवाली चक्रवर्ती की लक्ष्मी प्राप्त होती है, इन्द्र की विव्य-लक्ष्मी भी पुण्यकर्म से मिलती है, पुण्यकर्म से ही तीर्थकर की लक्ष्मी प्राप्त होती है और परम कल्याण रूप मोक्ष-लक्ष्मी भी पुण्यकर्म से ही मिलती है । इस प्रकार यह जीव पुण्यकर्म से ही चारों प्रकार की लक्ष्मी का पात्र होता है । इसलिये हे सुधी ! तुम भी जिनेन्द्र भगवान् के पवित्र आगम के अनुसार पुण्य का उपार्जन करो ।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी 'प्रवचनसार' गाथा ४५ में 'पुण्यफला अरहंता' शब्दों द्वारा यह कहा है कि अरहंत पद पुण्य कर्म का फल है ।

नेकाक्षैर्विकलाक्षपंचकरणासंज्ञजैर्जातु या,
लब्धा बोधिरगण्यपुण्यवशतः संपूर्णपर्याप्तिभिः ।
भव्यैः संज्ञिभिराप्तलब्धिविधिभिः कैश्चित्कवाचित्कवचित्,
प्राप्या सा रमतां मदीयहृदये स्वर्गापिवर्गप्रदा ॥१०१४३॥ (आचारसार)

अर्थात्—रत्नत्रय की प्राप्ति को बोधि कहते हैं । यह बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति एकेन्द्रिय, विकल-त्रय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को कभी प्राप्त नहीं होती है । पर्याप्त संज्ञी पञ्चेन्द्रिय भव्य जीव को लब्धिविधि प्राप्त हो जाने पर भी यह बोधि किसी को कभी किसी क्षेत्र में महान् पुण्य कर्म के वश से प्राप्त होती है । स्वर्ग व मोक्ष को देनेवाली वह बोधि (रत्नत्रय) प्राप्त होने पर मेरे हृदय में सदा विराजमान रहे ।

'उत्तरेकादशोपासकैर्बध्यमाण-दशधर्माधारैश्च मनुष्यगती केवलज्ञानोपलक्षितजीवव्यसहकारिकारणसंबंध-प्रारंभस्थानानंतानुपमप्रभावस्याचिन्त्यविशेषविभूतिकारणस्य त्रैलोक्यविजयकरस्य तीर्थकरनामगोत्रकर्मणः कारणानि षोडशभावना भावयितव्या इति ।' (चारित्रसार पु० ५०)

अर्थ—इस संसार में तीर्थकर नामकर्म और गोत्रकर्म मनुष्यगति में उत्पन्न हुए जीवों को केवलज्ञान से उपलक्षित करने में सहकारी कारण है । तीर्थकर कर्म के उदय का प्रभाव अनन्त और उपमा रहित है । वह स्वयं जिसका चित्तवन भी नहीं किया जा सकता, ऐसी विशेष विभूति का कारण है और तीनों लोकोंका विजय करने वाला है । इसलिये जिन ग्यारह प्रकार के श्रावकों का वर्णन किया गया है उनको आगे कहे जाने वाले उत्तम क्षमा आदि दश धर्मों को धारण कर उस तीर्थकर नामकर्म की कारण-भूत सोलह भावनाओं का चित्तवन करना चाहिये ।

उपर्युक्त प्रमाणों के अतिरिक्त इस सम्बन्ध में अन्य अनेक आर्ष ग्रंथों के प्रमाण हैं जिनको विद्वन्मण्डल भले प्रकार जानता है। उन सबमें यह विषय विशद रूप से स्पष्ट किया गया है कि पुण्यकर्म की सहकारिता के बिना कोई भी जीव मोक्ष नहीं जा सकता। नीच गोत्र रूप पाप कर्मोदय में संयम धारण नहीं हो सकता है। उच्च गोत्रवाले के ही संयम होता है और संयम के बिना मोक्ष नहीं होता।

(४) क्या पुण्य भी पाप के समान सर्वथा हेय है ?

समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, परमात्म-प्रकाश, अष्टपाद्गुह्य आदि ग्रन्थों के आधार पर यद्यपि यह कहा जा सकता है कि पुण्य व पाप समान हैं, हेय हैं, त्याज्य हैं, तथापि यह विचारणीय है कि जीवपुण्य व जीवपाप तथा अजीवपुण्य व अजीवपाप क्या सर्वथा समान हैं, या किसी अपेक्षा से उनमें विशेषता भी है अथवा पुण्य सर्वथा हेय ही है या किसी अपेक्षा से उपादेय भी है ?

प्रथम चार प्रकरणों के पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीव-पुण्य और अजीव-पुण्य मोक्षमार्ग में उपयोगी होने के कारण उपादेय भी हैं फिर भी इस प्रकरण में इस पर विशेष विचार किया जाता है, क्योंकि वर्तमान में यह प्रश्न बहूत ही महत्त्वपूर्ण है।

बहिरात्मा [जीव पाप] और अन्तरात्मा (जीवपुण्य) दोनों संसारी हैं, क्योंकि—

‘आत्मोपधितकर्मवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः ॥रा. वा. २।१०।१॥’

अपने किये हुए कर्मों से स्वयं पर्यायान्तर को प्राप्त होना संसार है। इसलिये संसारी जीव की अपेक्षा से बहिरात्मा [जीवपाप] और अन्तरात्मा [जीवपुण्य] दोनों समान हैं अथवा बहिरात्मा [जीव पाप] और अन्तरात्मा [जीव-पुण्य] दोनों पर-समय हैं, इसलिये भी समान हैं।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा भी है—

बहिरंतरपमेयं परसमयं भण्यते जिनिदेहि ।

परमप्या सगसमयं तन्मेयं जाण गुणठाले ॥१४८॥ (रयणसार)

अर्थात्—बहिरात्मा और अन्तरात्मा परसमय है और परमात्मा स्वसमय है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।

इसलिये अन्तरात्मा (जीवपुण्य) को हेय कहा गया है।

श्री ‘परमात्मप्रकाश’ गाथा १४ की टीका में कहा भी है—

‘वीतरागनिर्विकल्पसहजानन्दैकशुद्धात्मानुभूतिलक्षणपरमसमाधिस्थितः सन् पण्डितोऽन्तरात्मा विवेकी स एव भवति । इति अन्तरात्मा हेय-रूपो, योऽसौ परमात्मा भणितः स एव साक्षादुपादेय इति भावार्थः ॥१४॥

अर्थात्—वीतराग निर्विकल्प सहजानन्द एक शुद्ध आत्मा की अनुभूति है लक्षण जिसका, ऐसी निर्विकल्प समाधि में जो मुनि स्थित है, वही पण्डित है, अन्तरात्मा है अथवा विवेकी है। इस प्रकार अन्तरात्मा हेय है और परमात्मा साक्षात् उपादेय है।

इस प्रकार निर्विकल्प समाधि में स्थित अन्तरात्मा (पुण्यजीव) को हेय बतलाया गया है। यदि कोई इस उपदेश को एकान्त से ग्रहण करले और पुण्यजीव अर्थात् अन्तरात्मा को हेय जान त्याग करदे तो उसका परिणाम यह होगा कि वह स्वयं तो बहिरात्मा अर्थात् मिथ्यादृष्टि अथवा पापात्मा हो जायगा और पुण्य को हेय बतलाकर दूसरों को भी मिथ्यादृष्टि बना देगा।

स्याद्वादी इस उपदेश को अनेकान्त दृष्टि से ग्रहण करके अन्तरात्मा अर्थात् पुण्यजीव को परमात्मा की अपेक्षा हेय मानते हुए भी बहिरात्मा अर्थात् मिथ्यात्व अथवा पाप की अपेक्षा परमोपादेय मानता है। उसको प्राप्त करने अथवा उसमें स्थित रहने का निरन्तर वह प्रयत्न करता है। क्योंकि अन्तरात्मा (पुण्य) परमात्मा होने का साधन है।

जितना मिथ्यात्व और सम्यक्त्व में अन्तर है उतना ही पाप और पुण्य में अन्तर है। पुण्य और पाप के लक्षण में भेद है इसलिये भी पुण्य और पाप में अन्तर है। जो आत्मा को पवित्र करता है या जिसे आत्मा पवित्र होती है वह पुण्य है। जो आत्मा को शुभ से बचाता है वह पाप है। (सर्वार्थसिद्धि ६।३)

शंका — सम्यग्दृष्टि नारकी पापी है और मिथ्यादृष्टि देव पुण्यात्मा है। अतः सम्यग्दृष्टि को पुण्यजीव और मिथ्यादृष्टि को पाप-जीव कहना उचित नहीं है।

समाधान — सम्यग्दृष्टि नरक के दुख भोगता हुआ भी पुण्यात्मा है, क्योंकि उसको वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान है और मिथ्यादृष्टि स्वर्ग के सुख भोगता हुआ भी पापात्मा है, क्योंकि उसको वस्तुस्वरूप का यथार्थ श्रद्धान नहीं है।

इसी बात को 'परमात्मप्रकाश' गाथा २।५६ की टीका में कहा है—

'सम्यक्स्वरहिता जीवाः पुण्यसहिता अपि पापजीवा भवन्ते । सम्यक्त्वसहिताः पुनः पूर्वभवान्तरोपाजित पापफलं भुञ्जाना अपि पुण्यजीवा भवन्ते ।'

अजीवपुण्य और अजीवपाप दोनों पुद्गल द्रव्यमय हैं और जीव के परिणामों से इनका बंध होता है, इसलिये अजीव-पुण्य और अजीव-पाप दोनों समान हैं। किन्तु अजीव पुण्य मोक्षमार्ग में सहकारी कारण है, क्योंकि उच्चगोत्र के उदय के बिना सकलचारित्र धारण नहीं हो सकता और वज्रवृषभनाराच संहनन के बिना मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता, जबकि अजीवपाप मोक्षमार्ग में बाधक है, क्योंकि नीचगोत्र के उदय में सकलचारित्र नहीं हो सकता और हीन-संहननवाला कर्मों का धय नहीं कर सकता। मोक्षमार्ग में सहकारिता और बाधकता के कारण 'पुण्य' और 'पाप' कर्मप्रकृतियों में अन्तर है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि देव भी यह सांख्य करता है कि कब उत्तम संहननवाला मनुष्य बनूँ और सकलचारित्र धारण कर मोक्ष प्राप्त करूँ।

मश्ववर्गैश्च तपो, मश्ववर्गैश्च महृष्ववं सयलं ।

मश्ववर्गैश्च ज्ञानं, मश्ववर्गैश्च वि णिव्वाणं ॥२९०॥ (स्वा० का०)

अर्थ—मनुष्यगति में ही तप होता है। मनुष्यगति में ही समस्त महाव्रत होते हैं। मनुष्यगति में ही ध्यान होता है। मनुष्यगति से ही मोक्ष होता है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि भी मोक्ष के साधनरूप मनुष्यगति आदि अजीवपुण्य की इच्छा करता है। वह इच्छा सांसारिक सुख की वांछा न होने से निदान नहीं है, किन्तु मोक्ष की कारण है। कहा भी है—

अशुभाच्छुभमायातः शुद्धः स्याद्यमागमात् ।
रवेरप्राप्तसंध्यस्य तमसो न समुदगमः ॥१२२॥

ननु ज्ञानाराधनापरिणतस्य तपः श्रुत-विषयरोगेन रागित्वात्कथं मुक्तत्वं स्यात् इत्याशंक्याह—

विधूततमसो रागस्तपः श्रुतनिबन्धनः ।
सध्याराग इवाकस्य जन्तोरभ्युदयाय सः ॥१२३॥ (आत्मानुशासन)

श्लोकार्थ—यह भव्य आगम ज्ञान के प्रभाव से अशुभ से शुभ को प्राप्त होता हुआ समस्त कर्म-मल से रहित होकर शुद्ध हो जाता है । जैसे सूर्य जब तक प्रभात काल की लालिमा को नहीं प्राप्त होता है तब तक वह अन्धकार को नष्ट नहीं करता ।

यहाँ प्रश्न होता है कि ज्ञान-आराधना-परिणत जीव के तप और श्रुत सम्बन्धी राग होने से, उसको मुक्ति कैसे हो सकती है, क्योंकि वह रागी है ? इस शंका का आचार्य उत्तर देते हैं—

श्लोकार्थ—मिथ्याज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट कर देनेवाले प्राणी के अर्थात् सम्यग्दृष्टि के जो तप और शास्त्र-विषयक अनुराग होता है, वह राग उस सम्यग्दृष्टि के स्वर्ग व मोक्ष के लिये होता है अर्थात् स्वर्गमोक्ष का कारण है । जिस प्रकार सूर्य की प्रभातकालीन लालिमा उस सूर्य की अभिवृद्धि का कारण होती है ॥१२३॥

श्री वीरसेन आचार्य ने भी 'जयधवल' ग्रन्थ में यही बात कही है—

'लोहो सिया पेज्जं, तिरयण-साहणविसयलोहावो सग्गापवग्गाणमुप्पत्ति-वंसणावो अबसेसवत्थु-विसयलोहो णो पेज्जं, तत्तो पावुप्पत्तिवंसणावो ॥ (ज० घ० १ पृ० ३६९)

श्री पं० कैलाशचन्द्रजी तथा श्री पं० कूलचन्द्रजी कृत अर्थ—लोभ कथंचित् पेज्ज (राग) है, क्योंकि रत्नत्रय के साधक-विषयक लोभ से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति देखी जाती है तथा शेष पदार्थ-विषयक लोभ पेज्ज नहीं है, क्योंकि उससे पाप की उत्पत्ति देखी जाती है ।

इन श्रावण प्रमाणों से सिद्ध है कि सम्यग्दृष्टि भी मोक्ष के साधनभूत पुण्य की इच्छा करता है ।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य स्वयं पुण्य-पाप का अन्तर बतलाते हुए कहते हैं—

वरं वयतवेहि सग्गो भा दुक्खं होउ गिरई इयरेहि ।
छायातवट्टियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं ॥ २५ ॥ (मोक्ष-पाहुड़)

अर्थ—व्रत और तप रूप शुभ भावों से [पुण्य भावों से] स्वर्ग प्राप्त होना उत्तम है तथा अव्रत और अतप [अशुभ भाव, पाप भाव] से नरक में दुख प्राप्त होना ठीक नहीं है । जैसे छाया और धूप में बैठने वालों में महान् अन्तर है, वैसे ही व्रत [शुभ] और अव्रत [अशुभ] पालने वालों में महान् अन्तर है ।

यद्यपि जीवत्व भाव की अपेक्षा से संसारी और मुक्त जीव समान हैं तथापि कर्म-बंध और अन्ध की अपेक्षा से संसारी जीव और मुक्त जीव में महान् अन्तर है । उसी प्रकार यद्यपि परसमय की अपेक्षा बहिरात्मा अर्थात् मिथ्यादृष्टि अथवा पापी जीव और अन्तरात्मा अर्थात् सम्यग्दृष्टि अथवा पुण्यात्मा समान हैं तथापि मिथ्या-त्वभाव-अयथार्थश्रद्धान और सम्यक्त्व-भाव यथार्थ-श्रद्धान की अपेक्षा बहिरात्मा और अन्तरात्मा में महान् अंतर है ।

इसी प्रकार शुभ और अशुभ कर्म पौद्गलिक होने की अपेक्षा यद्यपि समान हैं तथापि मोक्षमार्ग में साधकता और बाधकता की अपेक्षा तथा सुख और दुःख की अपेक्षा इन (पुण्य कर्म और पाप कर्म) में महान् अन्तर है अतः अन्तरात्मा, पुण्यजीव और पुण्यकर्म कथञ्चित् उपादेय हैं, सर्वथा हेय नहीं हैं ।

यदि यह कहा जाय कि व्यवहारनय से पुण्य कथञ्चित् उपादेय हो सकता है किन्तु निश्चयनय से तो पुण्य सर्वथा हेय ही है । सो ऐसा कहला भी ठीक नहीं है, क्योंकि निश्चय नय में हेय-उपादेय का विकल्प नहीं होता ।

श्री कुन्वकुन्द आचार्य ने 'वारस अणुसेवखा' गाथा ८६ में 'हेयमुवादेय निच्छये णत्थि' इन शब्दों द्वारा बतलाया है कि निश्चयनय से न कोई हेय है और न कोई उपादेय है ।

इस प्रकार अनेकान्त का आश्रय लेकर पुण्य और पाप का यथार्थ स्वरूप समझना चाहिए । यदि कोई एकान्त की हठ ग्रहण करेगा तो उसको संसार में भ्रमण करना पड़ेगा ।

(५) एक ही परिणाम से दो विभिन्न कार्य

यहाँ प्रश्न होता है कि शुभोपयोग (पुण्य भाव) से बंध होता है और जो बंध का कारण है वह मोक्ष का कारण नहीं हो सकता है, क्योंकि बंध और मोक्ष दोनों का एक कारण नहीं हो सकता है ?

इस प्रश्न में दो बातें विचारणीय हैं (१) जो मोक्ष का कारण है क्या उससे बंध नहीं हो सकता ? (२) शुभोपयोग अर्थात् पुण्य-भाव वाले जीव के अथवा पुण्य-जीव के जो बंध होता है वह किस प्रकार का होता है ? इनमें से प्रथम वार्ता पर विचार किया जाता है—

श्री कुन्वकुन्द, श्री पूज्यपाद आदि आचार्यों ने स्पष्ट रूप से कहा है कि एक ही कारण से मोक्ष भी हो सकता है और पुण्यबंध होकर सांसारिक सुख भी मिल सकते हैं ।

जिणवरमयेण जोई झाले जाएह सुद्धमग्गाणं ।

जेण सहइ णिष्वाणं ण सहइ किं तेण सुरलीयं ॥२०॥

जो जाइ जोयणसयं बियहेल्लेकेण लेइ गुहभारं ।

सो किं कोसद्धं पि हु ण सक्कए जाहु भुवणयले ॥२१॥ (मोक्ष पाहुड)

श्री कुन्वकुन्द आचार्य कहते हैं कि जिन भगवान् के मत से योगी शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है जिससे वह मोक्ष पाता है; उसी आत्मध्यान से क्या स्वर्गलोक प्राप्त नहीं करता ? अर्थात् अबश्य प्राप्त कर सकता है ॥२०॥ जैसे जो पुरुष भारी बोझ लेकर एक दिन में सौ योजन जाता है; वही पुरुष क्या भूमि पर आधा कोस भी नहीं चल सकता अर्थात् सरलता से चल सकता है ॥२१॥ (यहाँ पर यह बतलाया गया है कि जिस आत्मध्यान से मोक्ष की प्राप्ति होती है उसी आत्मध्यान से पुण्यबंध होकर उसके फलस्वरूप स्वर्ग में देव होता है ।)

यत्र भावः शिवं वत्ते, द्योः कियद्दूरवर्तिनी ।

यो नयस्याशु गव्यूर्ति, क्रोशार्धे किं स सीदति ? ॥४॥ (इष्टोपवेश)

अर्थ—जो परिणाम भव्य प्राणियों को मोक्ष प्रदान करते हैं, मोक्ष देने में समर्थ हैं, ऐसे आत्मपरिणामों के लिये स्वर्ग कितनी दूर है ? कुछ दूर नहीं है, वह तो उसके निकट ही समझो अर्थात् स्वर्ग तो स्वात्मध्यान से

पेदा किये हुए पुण्य का एक फल मात्र है। जैसे जो भार ढोनेवाला अपने भार को दो कोस तक आसानी और शीघ्रता के साथ ले जा सकता है, तो क्या वह अपने भार को आधा कोस ले जाते हुए खिन्न होगा ? नहीं होगा ॥४॥ यहाँ पर भी यही कहा गया है—आत्मा के जो परिणाम मोक्ष के कारण हैं उन्हीं आत्मपरिणामों से पुण्यबंध होकर स्वर्गलोक मिलता है।

गुरूपदेशमासाद्य ध्यायमानः समाहितैः ।

अनन्तशक्तिरात्माय भुक्ति मुक्ति च यच्छति ॥ (त. अ. गा. १९६)

अर्थ—गुरु का उपदेश मिलने पर एकाग्र-ध्यातियों के द्वारा यह अनन्त शक्ति-युक्त अर्हन् आत्मा का ध्यान किया जाता है जो मुक्ति तथा भुक्ति (पुण्य के फल रूप भोगों) को प्रदान करता है।

ओंकारं बिन्दु-संयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।

कामदं मोक्षदं चैव ओंकाराय नमो नमः ॥

अर्थात्—मुनिजन बिन्दुसहित ओंकार का नित्य ध्यान करते हैं। वह ओंकार पुण्य के फलस्वरूप भोगों तथा मोक्ष को देने वाला है। इसलिये ओंकार को नमस्कार हो।

श्री वीरसेन आचार्य भी कहते हैं कि रत्नत्रय स्वर्ग का भी मार्ग है और मोक्ष का भी मार्ग है—

‘स्वर्गापवर्गमार्गत्वाद्दत्तत्रयं प्रवरः । स उद्यते निरूप्यते अनेनेति प्रवरवादः ॥’ (ध० १३।२८७)

अर्थ—स्वर्ग का मार्ग और मोक्ष का मार्ग होने से रत्नत्रय का नाम प्रवर है। उसका वाद अर्थात् कथन इसके द्वारा किया जाता है, इसलिये इस आगम का नाम प्रवरवाद है। (यहाँ पर भी यही कहा गया है कि रत्नत्रय मोक्ष का भी कारण है और पुण्यबंध का भी कारण है, जिससे स्वर्ग मिलता है।)

एक ही आत्मपरिणाम से मोक्ष और पुण्यबंध कैसे हो सकता है ? इसका विशद विवेचन श्री पूज्यपाद आचार्य ने सर्वार्थसिद्धि में इस प्रकार किया है—

‘ननु च तपोऽभ्युदयाङ्गमिष्टं देवेन्द्रादिस्थानप्राप्तिहेतुत्वाभ्युपगमात्, तत् कथं निर्जराङ्गं स्यादिति ? नञ् दोषः, एकस्यानेककार्यबर्शनादग्निवत् । यथाऽग्निरेकोऽपि विकलेवनमस्माङ्गारादिप्रयोजन उपलभ्यते तथा तपोऽभ्युदय-कर्मक्षयहेतुरित्यत्र को विरोधः ।’

अर्थ—तप को अभ्युदय का कारण मानना इष्ट है, क्योंकि वह देवेन्द्र आदि स्थान-विशेष की प्राप्ति के हेतु रूप से स्वीकार किया गया है अर्थात् तप को पुण्यबंध का कारण माना गया है। इसलिये वह निर्जरा का कारण कैसे हो सकता है ? यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि अग्नि के समान तप एक होते हुए भी इसके अनेक कार्य देखे जाते हैं। जैसे अग्नि एक है तथापि उसके विकलेदन, भस्म और अंगार आदि अनेक कार्य उपलब्ध होते हैं वैसे ही तप अभ्युदय और कर्मक्षय [मोक्ष] इन दोनों का कारण है। ऐसा मानने में क्या विरोध है ?

यहाँ पर अग्नि का दृष्टान्त देकर यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जैसे एक अग्नि से अनेक कार्य देखे जाते हैं उसी प्रकार एक ही तप से पुण्यबंध और कर्मनिर्जरा दोनों कार्य देखे जाते हैं।

इसी बात को श्री वीरसेन आचार्य भी कहते हैं—

‘अरहंतणमोकारो संपहिय बंधादो असंखेज्जगुणकम्मखयकारओ त्ति तस्य वि मुणीणं पवुत्तिप्पसंगादो ।
उक्तं च—

अरहंतणमोकारं भावेण य जो करेदि पयडमवी ।

सो सव्वदुक्खमोक्खं पावइ अचिरेण कालेण ॥ (जयधवल पु. १ पृ. ९)

अर्थ—अरहंत-नमस्कार तत्कालीन बन्ध की अपेक्षा असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा का कारण है, उसमें भी मुनियों की प्रवृत्ति प्राप्त होती है। कहा भी है—जो विवेकी जीव भावपूर्वक अरहंत को नमस्कार करता है वह अतिशीघ्र समस्त दुखों से मुक्त हो जाता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है। यही बात श्री पं० कौलाशचन्द्रजी व पं० फूलचन्द्रजी ने ‘जयधवला’ में लिखी है।

यद्यपि अरहंत नमस्कार से कुछ बंध भी होता है तथापि उस बंध की अपेक्षा कर्म-निर्जरा असंख्यातगुणी है, इसीलिये अरहंत-नमस्कार करनेवाला अति शीघ्र मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार एक ही परिणाम के बन्ध और निर्जरा दोनों कार्य होते हैं तथा मोक्ष भी होता है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने ‘दर्शनपाहुड’ में कहा है—

सेयासेयध्विदण्ह उद्धवदुस्सील सीलवंतो वि ।

सीलफलेणभ्युदयं तत्तो पुण सहइ णिव्वाणं ॥१६॥

अर्थ—श्रेय और अश्रेय को जाननेवाला मिथ्यात्व को नष्ट करके सम्यग्दृष्टि हो जाता है। सम्यग्दर्शन के फलस्वरूप अभ्युदयसुख पाकर फिर मोक्षसुख पाता है।

यद्यपि सम्यक्त्व मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी है तथापि वह भी बन्ध का कारण है। श्री उमास्वामि आचार्य ‘तत्त्वार्थसूत्र’ अध्याय ६ में लिखते हैं—

“सम्यक्त्वं च ॥ २१ ॥”

अर्थात्—सम्यग्दर्शन देवायु के बन्ध का कारण है।

इस ‘तत्त्वार्थसूत्र’ पर श्री पूज्यपाद आचार्य विरचित सर्वार्थसिद्धि टीका है। उसमें लिखा है।

‘किम् ? देवस्यायुष आस्रव इत्यनुवर्तते,’

अर्थ इस प्रकार है—

शंका — सम्यक्त्व क्या है ?

समाधान—देवायु का आस्रव है। इस पद की पूर्व सूत्र से अनुवृत्ति होती है।

यही बात श्री अकलंकदेव ने ‘राजवार्तिक’ टीका में कही है।

श्री भूतसागर आचार्य ‘तत्त्वार्थवृत्ति’ में कहते हैं—

‘सम्यक्त्वं तत्त्व-भद्धानलक्षणं देवायुरास्रवकारणं भवति ।’

अर्थ—तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण रूप सम्यग्दर्शन देवायु के आस्रव का कारण है।

इसी सूत्र की टीका में श्री विद्यानन्द आचार्य ‘श्लोकवार्तिक’ में लिखते हैं—

सम्यग्दृष्टेरनंतानुबन्धि-क्रोधाद्यभावतः ।
जीवेश्वजीवताश्रद्धापायान्मिथ्यात्वहानितः ॥६॥
हिंसायास्तत्स्वभावाया निवृत्तेः शुद्धिवृत्तितः ।
प्रकृष्टस्यायुषो वैवस्यान्नवो न विरुध्यते ॥७॥

अर्थ—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ कषायों का अभाव हो जाने से, जीव में अजीव की श्रद्धा का नाश हो जाने से, मिथ्यात्व चले जाने से, हिंसा और उसके स्वभाव का त्याग कर देने से और भुङ्ग प्रवृत्ति से सम्यग्दृष्टि के उत्कृष्ट देवायु का बन्ध होने में कोई बाधा नहीं है ।

श्री पूज्यपाद आदि सभी महानाचार्यों ने 'सम्यक्त्व से ही उत्कृष्ट देवायु का बन्ध होता है', ऐसा कहा है । इनमें से किसी भी आचार्य ने यह नहीं कहा कि मात्र राग से उत्कृष्ट देवायु का बन्ध होता है । यदि मात्र राग से उत्कृष्ट देवायु का बन्ध होने लगे तो 'सम्यक्त्वं च' यह सूत्र निरर्थक हो जायेगा ।

श्री अमृतचन्द्र आचार्य (समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय के टीकाकार) ने भी 'तत्त्वार्थसार' में सम्यक्त्व आदि से देवायु के आस्रव का कथन किया है ।

सरागसंयतश्चैव, सम्यक्त्वं देशसंयमः ।
इति देवायुषो ह्येते भवन्त्यास्रवहेतवः ॥३४॥

अर्थ—सरागसंयम, सम्यक्त्व और देशसंयम ये देवायु के आस्रव (बन्ध) के कारण हैं ।

इन्हीं सम्यग्दर्शन, देशसंयम और संयम को निर्जरा का कारण बतलाया गया है । श्री अमृतचन्द्र सूरि ने कहा भी है—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः संयतासंयतस्ततः ।
संयतस्तु ततोऽनन्तानुबन्धि-प्रवियोजकः ॥५५॥
ह्रमोहक्षपकस्तस्मात्तथोपशमकस्ततः ।
उपशान्तकषायोऽतस्ततस्तु क्षपको मतः ॥५६॥
ततः क्षीणकषायस्तु घातिमुक्तस्ततो जिनः ।
दशैते क्रमतः सन्त्यसंङ्ख्येयगुणनिर्जराः ॥५७॥

यहाँ पर असंख्यातगुणी निर्जरा के दस स्थान बतलाये गये हैं । इनमें से असंख्यातगुणी निर्जरा के प्रथम तीन स्थान सम्यक्त्व, देश संयम और संयत के हैं ।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन आदि निर्जरा के कारण भी हैं और बन्ध के कारण भी हैं ।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने 'रयणसार' में और 'दर्शन-पाहुड' में कहा है कि सम्यग्दर्शन से सुगति प्राप्त होती है—

सम्मत्सगुणाइ सुग्गइ मिच्छादो होइ दुग्गई णियमा ।
इदि जाण किमिह वहुणा जं ते रुचेइ तं कुणहो ॥६६॥

अर्थात्—सम्यक्त्व गुण से इन्द्र, चक्रवर्ती आदि सुगति नियम से मिलती है और मिथ्यात्व से नरकादि दुर्गति मिलती है । ऐसा जानकर जो तुमको रुचे सो करो ।

सम्यग्दर्शन से निर्जरा भी होती है और वह सुगति के बन्ध का कारण भी है ।

श्री समन्तभद्राचार्य ने सम्यग्दर्शन का फल वर्णन करते हुए 'रत्नकरण्डभावकाचार' में कहा है कि सम्यग्दर्शन के प्रभाव से जीव नरक, तीर्थच गति को, नपुंसक और स्त्री पर्याय को तथा निधकुल को, अङ्गों की विकलता को, अल्पायु तथा दरिद्रता को प्राप्त नहीं होता किन्तु देवेन्द्र, चक्रवर्ती तथा तीर्थंकर पद को प्राप्त होता है ।

नव-निधि-सप्तद्वय-रत्नाधीशाः सर्वभूमिपतयश्चक्रम् ।

वर्तयितुं प्रभवन्ति स्पष्टदृशः अन्नमौलेशेखरचरणाः ॥३८॥

अमराऽसुरनरपतिभिर्धमधरपतिभिश्च नूतपादाऽम्भोजाः ।

दृष्ट्या सुनिश्चिताऽर्था वृषचक्रधरा भवन्ति लोक-शरण्याः ॥३९॥

अर्थ—जो निर्मल सम्यग्दर्शन के धारक है वे नवनिधियों तथा चौदह रत्नों के स्वामी और षट्खंड के अधिपति होते हैं, चक्ररत्न को प्रवर्तित करने में समर्थ होते हैं और उनके चरणों में राजाओं के मुकुट-शेखर भुक्ते हैं अर्थात् मुकुटबद्ध राजा उन्हें सदा प्रणाम किया करते हैं । वे धर्मचक्र के धारक तीर्थंकर होते हैं जिनकी देवेन्द्र, असुरेन्द्र, नरेन्द्र तथा गणधर स्तुति करते हैं और जो लौकिक जनों के लिये शरणभूत होते हैं ।

श्री समन्तभद्र आचार्य के उपर्युक्त कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सम्यग्दर्शन से वह पुण्य-बंध होता है जिसके फलस्वरूप चक्रवर्ती, देवेन्द्र, तीर्थंकर आदि पद प्राप्त होते हैं, क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीव इस प्रकार का पुण्यकर्मबंध नहीं कर सकता जिसका फल चक्रवर्ती, तीर्थंकर आदि पद हो ।

'धवल' पु० ८ तथा 'तत्त्वार्थसूत्र' आदि सभी आर्ष ग्रन्थों में दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओं को तीर्थंकरप्रकृति के बंध का कारण बतलाया है । श्री भास्करनन्दि आचार्य ने दर्शनविशुद्धि की व्याख्या करते हुए लिखा है—

'दर्शनं तत्त्वार्थ-श्रद्धानलक्षणं प्रागुक्तम् । तस्य विशुद्धिः सर्वातिचारविनिमुक्तिरुच्यते । दर्शनस्य विशुद्धि-दर्शनविशुद्धिः ।'

अर्थ—दर्शन का लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान है । जो सम्यग्दर्शन सर्व अतिचारों से रहित है वह विशुद्ध सम्यग्दर्शन होता है । सम्यग्दर्शन की विशुद्धि दर्शनविशुद्धि है ।

यह दर्शनविशुद्धि यद्यपि मोक्ष का कारण है, क्योंकि इसके बिना सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र नहीं होता तथापि तीर्थंकरप्रकृति के बंध का मुख्य कारण है । 'सुखबोध-तत्त्वार्थवृत्ति' में कहा भी है—

'दर्शनविशुद्धिसहितानि तीर्थंकरत्वस्य नाम्नस्त्रिजगदाधिपत्यफलस्यास्रव-कारणानि भवन्ति । तत एव दर्शन-विशुद्धिः प्रथममुपात्ता प्राधान्यव्यापनार्था तदभावे तदनुपपत्तेः ।'

अर्थ—ये सोलह भावनाएँ पृथक्-पृथक् भी दर्शनविशुद्धि से सहित, तीन जगत् के अधिपतिरूप फलवाली तीर्थंकरप्रकृति के आस्रव का कारण होती हैं । दर्शनविशुद्धि तीर्थंकर प्रकृति के बंध का प्रधान कारण है । क्योंकि दर्शनविशुद्धि के अभाव में तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध नहीं होता । इसलिये सोलह कारण भावनाओं में दर्शन विशुद्धि को प्रथम कहा गया है ।

(६) रत्नत्रय से बन्ध

शंका—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य ये तो संवर, निर्जरा व मोक्षके कारण हैं और राग-द्वेष आलस्य तथा बन्ध के कारण हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य राग-द्वेष रूप नहीं हैं, अतः ये बन्ध के कारण नहीं हो सकते।

श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने कहा भी है—

योगात्प्रदेशबन्धः, स्थितिबन्धो भवति तु कषायत् ।

दर्शनबोधचारित्र्यं, न योगरूपं कषायरूपं च ॥२१५॥ (पु० सि० उ०)

अर्थात्—योग से प्रदेश-बन्ध तथा कषाय से स्थिति-बन्ध होता है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र्य न योगरूप हैं और न कषाय रूप हैं इसलिये ये बन्ध के कारण नहीं हैं।

समाधान—इन्हीं अमृतचन्द्र आचार्य ने 'तत्त्वार्थसार' के आलस्य अधिकार श्लोक नं० ४३ में सम्यग्दर्शन व संयम से देवायु का बन्ध और श्लोक संख्या ४९ से ५२ में सम्यग्दर्शन, ज्ञान तथा तप आदि से तीर्थंकरप्रकृति के बन्ध का कथन किया है। वे श्लोक इस प्रकार हैं—

सरागसंयमश्चैव सम्पत्त्वं वेशसंयमः ।

इति देवायुषो ह्येते भवन्त्यालस्यहेतवः ॥४३॥

विशुद्धिर्दर्शनस्योर्ध्वंस्तपस्त्यागी च शक्तितः ।

मार्गप्रभावना चैव संपत्तिर्विनयस्य च ॥४९॥

शीलव्रतानतीचारो, नित्यं संवेगशीलता ।

ज्ञानोपयुक्तताभीक्ष्णं, समाधिश्च तपस्विनः ॥५०॥

द्वैयानृत्यमनिर्हाणिः वड्विघ्नाऽवश्यकस्य च ।

भक्तिः प्रवचनाचार्य-जिनप्रवचनेषु च ॥५१॥

वात्सल्यं च प्रवचने षोडशंते यथोविताः ।

नाम्नस्तीर्थंकरत्वस्य भवन्त्यालस्यहेतवः ॥५२॥

एक ही आचार्य 'गुरुवार्थसिद्धचुपाय' में तो यह कथन करे कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य से बन्ध नहीं होता है और 'तत्त्वार्थसार' में यह कथन करे कि सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्र्य से तीर्थंकरप्रकृति आदि का बन्ध होता है। एक ही आचार्य द्वारा इसप्रकार परस्परविरुद्ध कथन होने में क्या कारण है यह बात विशेष विचारणीय है।

इसके लिये सर्व प्रथम 'कारण' की व्याख्या जानना अत्यन्त आवश्यक है।

जिसका कार्य के साथ अन्वय व व्यतिरेक हो, वह कारण होता है। कहा भी है—

'पञ्जाबाभावाभ्यां यस्योत्पत्त्यनुत्पत्ती तस् तत्कारणमिति लोकेऽपि सुप्रसिद्धत्वात् ।'

(प्रमेय-रत्नमाला १।१३)

अर्थ—जिसके सद्भाव में जिस कार्य की उत्पत्ति हो और जिसके अभाव में कार्य की उत्पत्ति न हो, वह पदार्थ उस कार्य का कारण होता है, यह बात लोक में भी सुप्रसिद्ध है ।

‘यद्यस्मिन् सत्येव भवति चासति न भवति तत्तस्य कारणमिति न्यायात् ।’ (धवल पु. १२।२८९)

अर्थ—जो जिसके होने पर ही होता है और जिसके न होने पर नहीं होता है, वह उसका कारण होता है ।

‘यस्यस्य भावाभावानुविधानतो भवति तत्तस्येति वदन्ति तद्विद इति न्यायात् ।’ (धवल पु. १४ पु. १३)

अर्थ—जो जिसके सद्भाव और असद्भाव का अविनाभावी होता है वह उसका है । यह कार्यकारण भाव के ज्ञाता कहते हैं, ऐसा न्याय है ।

कार्य-कारण भाव की इस व्याख्या से सिद्ध होता है कि तीर्थंकर आदि प्रकृतियों का बन्ध सम्यग्दर्शन आदि के सद्भाव में होता है और सम्यग्दर्शन आदि के अभाव में मिथ्यादृष्टि के तीर्थंकर आदि प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है इसीलिये श्री अमृतचन्द्र आदि आचार्यों ने तीर्थंकर आदि प्रकृतियों के बन्ध का कारण सम्यग्दर्शन आदि को बतलाया है ।

तीर्थंकर आदि प्रकृतियों का कारण मात्र सम्यग्दर्शन नहीं है किन्तु राग का सद्भाव भी कारण है, क्योंकि राग के सद्भाव में ही तीर्थंकर प्रकृति आदि का बन्ध होता है, राग के अभाव में वीतराग सम्यग्दृष्टि के तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नहीं होता ।

यदि कहा जाय कि एक कार्य का एक ही कारण होता है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि कार्य मात्र एक कारण से उत्पन्न नहीं होता किन्तु अनेक कारणों रूप अखिल अनुकूल सामग्री से और प्रतिकूल कारणों के अभाव में उत्पन्न होता है । कहा भी है—

‘सामग्री जनिका कार्यस्य नैकं कारणम् ।’ (आप्त-परीक्षा कारिका ९)

अर्थात्—सामग्री (जितने कार्य के जनक होते हैं उन सबको सामग्री कहा जाता है) कार्य की उत्पादक है, एक ही कारण कार्य का उत्पादक नहीं है ।

‘कारण-सामग्रीदो उत्पन्नभाणस्स कज्जस्स विपलकारणादो समुत्पत्तिविरोहा ।’

अर्थ—कारणसामग्री से उत्पन्न होनेवाले कार्य की विकल कारणों से उत्पत्ति का विरोध है ।

‘कार्यस्थानेकोपकरणसाध्यत्वात् ।’ (रा. वा. ५।१७।३१)

अर्थ—कार्य की उत्पत्ति अनेक कारणों से होती है । अनेक कारणों से कार्य सिद्ध होता है ।

इस प्रकार तीर्थंकर प्रकृति आदि के बन्ध में राग भी कारण है और सम्यग्दर्शन आदि भी कारण है । जैसे मछली की गति में जल भी कारण है और घर्म-द्रव्य भी कारण है, रागादि की उत्पत्ति में अशुद्ध जीव भी कारण है और कर्मोदय भी कारण है ।

अनेक कारणों में से कहीं पर किसी एक कारण की मुख्यता से कथन होता है और कहीं पर अन्य कारण की मुख्यता से कथन होता है, किन्तु इस मुख्यता का यह अभिप्राय है कि अन्य कारण गौरव हैं अथवा उनकी विवक्षा नहीं है, उन अन्य कारणों का अभाव इष्ट नहीं होता है । ‘अपितानर्पितसिद्धेः ॥५।३२॥’ (त. सू.)

जैसे माता-पिता दोनों के संयोग से पुत्र की उत्पत्ति होती है। किन्तु विवक्षा-वश कोई उस पुत्र को पिता का कहता है और कोई उसको माता का कहता है। श्री 'समयसार' की टीका में कहा भी है।

'एते मिथ्यात्वादिभावप्रत्ययाः शुद्धनिश्चयेनाचेतनाः खलु स्फुटं । कस्मात् ? पुद्गलकर्मादय-संभवा यस्मा-
दिति । यथा स्त्रीपुरुषाभ्यां समुत्पन्नः पुत्रो विवक्षान्शेन देवदत्तायाः पुत्रोऽयं केचन वदन्ति, देवदत्तस्य पुत्रोऽयमिति
केचन वदन्ति, इति दोषो नास्ति । तथा जीवपुद्गलसंयोगेनोत्पन्नाः मिथ्यात्वरारागादिभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चयेना-
शुद्धोपादानरूपेण चेतना जीवसंबद्धाः शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेणाचेतनाः पौद्गलिकाः । परमार्थतः पुनरेकान्तेन न
जीवरूपाः न च पुद्गलरूपाः शुद्धाहरिद्रयोः संयोगपरिणामवत्, ये केचन वदन्त्येकान्तेन रागादयो जीवसम्बन्धि-
पुद्गलसम्बन्धि-नो वा तदुभयमपि वचनं मिथ्या । कस्मादिति चेत् पूर्वोक्तस्त्रीपुरुषदृष्टान्तेन संयोगोद्भवत्वात् ॥'

(समयसार गा. १११ की टीका)

यहाँ पर पुत्र का दृष्टान्त देकर यह बतलाया है कि 'जिस प्रकार से स्त्री तथा पुरुष दोनों के संयोग से उत्पन्न हुए एक ही पुत्र को विवक्षा के वश से कोई तो उस पुत्र को देवदत्ता-माता का कहता है और कोई देवदत्त पिता का कह देता है। इसमें कोई दोष नहीं है। उसी प्रकार जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हुए मिथ्यात्व-रागादि भाव अशुद्ध निश्चय नय से चेतन रूप हैं, जीव के हैं, और शुद्ध निश्चय नय से अचेतन हैं, पौद्गलिक हैं। एकान्त से न जीवरूप हैं और न पुद्गल रूप हैं, जैसे चूना और हल्दी के संयोग से रक्त वर्ण उत्पन्न हो जाता है। जो इन मिथ्यात्व-रागादि को जीवरूप ही हैं या पुद्गल ही हैं, ऐसा एकान्त से कहते हैं, उनके वचन मिथ्या (झूठे) हैं, क्योंकि स्त्री-पुरुष के दृष्टान्त के समान इन रागादि को उत्पत्ति जीव और पुद्गल दोनों के संयोग से हुई है।

इसी प्रकार सम्यक्त्व आदि और रागादि के संयोग से तीर्थंकर आदि कर्मों का बन्ध होता है। विवक्षा-वश कहीं पर सम्यक्त्व आदि से तीर्थंकर आदि कर्मों का बन्ध कहा गया है और कहीं पर रागादि से तीर्थंकर आदि का बन्ध कहा गया है, नय-ज्ञाताओं के लिए इसमें कोई दोष नहीं है। एकान्त से तीर्थंकर आदि कर्मों का बन्ध न मात्र सम्यक्त्व आदि से होता है और न मात्र रागादि से होता है।

श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने स्वयं 'पुरुषार्थसिद्धधुपाय' में कहा भी है—

सम्यक्त्वचरित्राभ्यां तीर्थंकराहारकर्मणो बन्धः ।

योऽप्युपदिष्टः समये न नयविदां सोऽपि दोषाय ॥२१७॥

अर्थ—सम्यक्त्व और चरित्र से तीर्थंकर और आहार शरीर का बन्ध होता है, ऐसा जो आगम में उपदेश दिया गया है, वह नय के जानने वालों को दोष के लिए नहीं है अर्थात् नय के जाननेवालों को उसमें कोई शंका उत्पन्न नहीं होती है।

सति सम्यक्त्वचरित्रे तीर्थंकराहारबन्धको भवतः ।

योगकषायो तस्मात्तपुनरस्मिन्नुदासीनम् ॥ १२८ ॥

अर्थ—सम्यक्त्व और चरित्र के होने पर ही योग और कषाय तीर्थंकर व आहारक का बन्ध करते हैं, किन्तु सम्यक्त्व व चरित्र न होने पर योग और कषाय तीर्थंकर व आहार का बन्ध नहीं कर सकते। इसलिए सम्यक्त्व व चरित्र इसमें उदासीन हैं प्रेरक नहीं हैं।

जीव और पुद्गल धर्मद्रव्य के सद्भाव में ही गमन करते हैं, उसके अभाव में वे गमन नहीं कर सकते इसलिये गतिहेतुत्व लक्षण वाला धर्मद्रव्य जीव और पुद्गल की गति में उदासीन कारण है, प्रेरक कारण नहीं है। उसी प्रकार सम्यक्त्व व चारित्र के सद्भाव में ही योग और कषाय तीर्थंकर प्रकृति आदि का बन्ध कर सकते हैं और सम्यक्त्व व चारित्र के अभाव में योग व कषाय उसका बन्ध नहीं कर सकते, इसीलिये धर्मद्रव्य के समान सम्यक्त्व व चारित्र को उदासीन कारण कहा है, प्रेरक कारण नहीं कहा है।

इस प्रकार श्री अमृतचन्द्र आचार्य के 'तत्त्वार्थसार' व 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' इन दोनों ग्रन्थों के कथनों में कोई विरोध नहीं है। जिनको नय-विवक्षा का ज्ञान नहीं है अथवा जिनकी एकान्तदृष्टि है, उनको ही श्री अमृतचन्द्र आचार्य के दोनों कथनों में विरोध प्रतिभासित होता है।

शंकाकार ने जो 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' का श्लोक २१५ अपनी शंका में उद्धृत किया है उससे भी 'तत्त्वार्थसार' के इस कथन में कि दर्शन व चारित्र से तीर्थंकर आदि का बन्ध होता है, कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि श्लोक २१५ में शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा कथन है। 'सर्वे शुद्धाह शुद्धनया' अर्थात् शुद्ध निश्चय नयसे सब जीव शुद्ध हैं अथवा 'शुद्धनया सुद्धभावाणं' शुद्ध नय से जीव शुद्ध भावों का कर्ता है अर्थात् बन्ध का कर्ता नहीं है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी कहा है कि रत्नत्रय से बंध भी होता है और मोक्ष भी होता है—

बंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गो त्ति सेविदग्वाणि ।

साधूहि इवं मणिदं तेहिं दु बंधो व मोक्खो वा ॥१६४॥ (पंचास्तिकाय)

अर्थ—दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग हैं, इसलिये वे सेवने योग्य हैं ऐसा साधुओं ने कहा है परन्तु उनसे बंध भी होता है और मोक्ष भी होता है।

इसकी टीका में अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—

'यह दर्शन-ज्ञान-चारित्र यदि अल्प भी पर-समय प्रवृत्ति के साथ मिलित हों (यदि दर्शन-ज्ञान-चारित्र पर-समय अर्थात् ये तीनों अन्तरात्मा के आश्रय हों) तो, अग्नि के साथ मिलित घृतकी भाँति, कथंचित् विरुद्ध कार्य के कारणपने की व्याप्ति के कारण, बन्ध के कारण भी है। जब वे दर्शन-ज्ञान-चारित्र समस्त परसमय (अन्तरात्मा) की प्रवृत्ति से निवृत्त होकर स्वसमय (परमात्मा) की प्रवृत्ति के साथ संयुक्त होते हैं तब, अग्नि के मिलाप से निवृत्त घी के समान, विरुद्ध कार्य-कारण भाव का अभाव होने से, साक्षात् मोक्ष का कारण होते हैं।

इस प्रकार अन्तरात्मा के आश्रित जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, वे बंध के भी कारण हैं और संवर-निर्जरा के भी कारण हैं तथा परस्परया मोक्ष के भी कारण हैं।

शंकाकार का यह कहना कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्ष के ही कारण हैं, बंध के कारण नहीं हैं, ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा एकान्त नहीं है।

(७) शुभ परिणामों से अतिशय पुण्यबंध

शंका—शुभ परिणामों से पुण्यबन्ध होता है। पुण्य से भोगोपभोग की साक्षी मिलती है। भोगोपभोग में आसक्त होकर जीव संसार में भ्रमण करता है, अतः पुण्य हेय है ?

समाधान—मिथ्यादर्ष्टि के तो अशुभ परिणाम होता है। कहा भी है—

‘मिथ्यात्वसासादनमिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येनाशुभोपयोगः ।’ (प्रवचनसार गा० ९ टीका)

अर्थ—मिथ्यात्व गुणस्थान, सासादन गुणस्थान और सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान इन तीनों गुणस्थानों में तरतमता से अशुभोपयोग है।

इससे सिद्ध है कि शुभोपयोग सम्यग्दर्ष्टि के ही होता है। सम्यग्दर्ष्टि के शुभोपयोग से जो अतिशय पुण्यबंध होता है वह मोक्ष का कारण है, संसार का कारण नहीं है। कहा भी है—

सम्मादिद्विपुष्णं ण होइ संसारकारणं णियमा ।
मोक्खस्स होइ हेउं जइ वि णियाणं ण सो कुणई ॥४०४॥
अकयणियाणसम्भो प्पुष्णं काऊण णणचरणट्ठी ।
उप्पज्जइ विवलोए सुहपरिणामो सुत्तेसो वि ॥४०५॥ (भावसंग्रह)

अर्थ—सम्यग्दर्ष्टि के द्वारा किया हुआ पुण्य संसार का कारण कभी नहीं होता, यह नियम है। यदि निदान न किया जाय तो वह पुण्य नियम से मोक्ष का ही कारण होता है। जिस सम्यग्दर्ष्टि के शुभ परिणाम हैं और शुभ लेश्याएँ हैं तथा जो सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य को धारण करनेवाला है, ऐसा सम्यग्दर्ष्टि यदि निदान नहीं करता है तो वह मरकर स्वर्गलोक में ही जाता है।

किं वाणं मे विष्णो केरिसपत्ताण काय सु भत्तीए ।
जेणाहं कयपुष्णो उप्पण्णो देवलोयम्मि ॥४१७॥
इय चित्ततोपसरइ ओहीणाणं तु भवसहावेण ।
जाणइ सो आइवभव विहियं धम्मप्पहावं च ॥४१८॥
पु णरवि तमेव धम्म मणसा सहइ सम्मदिट्ठी सो ।
वंदेइ जिणवराणं णवीसर पट्ठइ सव्वाइं ॥४१९॥
इय बहुकालं सग्गे भोगं भुंजंतु विविहरमणीयं ।
चइऊण आउसखए उप्पज्जइ मच्चलोयम्मि ॥४२०॥
उत्तमकुले महंतो बहुजणमणीय संपयाउरे ।
होऊण अहियरूवो बलजोव्वण रिद्धिसंपुष्णो ॥४२१॥
तत्थ वि विविहे भोए णरस्सेत्तभवे अणोवमे परमे ।
भुंजित्ता णिविष्णो संजमयं चेव गिण्हेई ॥४२२॥
सद्धं जइ चरमतणु चिरकयपुष्णेण सिज्जाए णियमा ।
पाविय केवलणाणं जहखाइयं संजमं सुद्धं ॥४२३॥
तम्हा सम्मादिट्ठीपुष्णं मोक्खस्स कारणां हवई ।
इय णाऊण गिहत्थो प्पुष्णं चापरउ जत्तेण ॥४२४॥

अर्थ—देव विचारता है कि मैंने पूर्व भव में किस पात्रको और कौसी भक्ति के साथ दान दिया था, जिसके पुण्य-उपार्जन से देवलोक में उत्पन्न हुआ हूँ। इस प्रकार चिन्तवन करके वह देव भवप्रत्यय अवधिज्ञान से पूर्व भव

को और की गई धर्म प्रभावना को जान लेता है। वह सम्यग्दृष्टि देव पुनः अपने मनमें उसी धर्म का श्रद्धान करता है जिस धर्म के प्रभाव से वह देव हुआ था और नन्दीश्वर द्वीप आदि में जिन प्रतिमाओं की वंदना करता है। इस प्रकार वह स्वर्ग में बहुत काल तक अनेक प्रकार के सुन्दर भोगों को भोगता है और आयु पूर्ण होने पर च्युत होकर इस मनुष्य लोक में उत्पन्न होता है। बहु-जन-माननीय, महत्त्वशाली, धनवान् कुल में उत्पन्न होता है और बहुत सुन्दर शरीर तथा बल, ऋद्धि, यौवन आदि से परिपूर्ण होता है। मनुष्यलोक में भी सर्वोत्कृष्ट अनुपम तथा नाना प्रकार के भोगों का भोग करके विरक्त हो संयम धारण कर लेता है। यदि चिरकाल के संचित किये हुए पुण्य-कर्मोदय से चरमशरीरी हुआ तो शुद्ध यथाख्यात चारित्र्य को धारण करके केवलज्ञान को प्राप्त कर नियम से सिद्ध होता है। इस कथन से यह सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टि का पुण्य मोक्ष का कारण होता है, यह जानकर गृहस्थ को यत्नपूर्वक पुण्य उपार्जन करते रहना चाहिए ॥४३४॥

‘निश्चयसम्यक्त्वस्याभावे यवा तु सरागसम्यक्त्वेन परिणमति तदा शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा परम्परया निर्वाणकारणस्य तीर्थंकरप्रकृत्यादि-पुण्यपदार्थस्यापि कर्ता भवति ।’ (समयसार पृ० १८६)

अर्थ—निश्चयसम्यग्दर्शन के अभाव में जब सराग सम्यक्त्व को धारण करता है तब शुद्धात्मा को उपादेय करके परंपरया मोक्ष के कारणभूत तीर्थंकर आदि पुण्यकर्मों को बाँधता है।

अनुप्रेक्षा इमाः सद्भिः, सर्वदा हृदये धृताः ।

कुर्वन्ते तत्परं पुण्यं हेतुर्गर्तस्वर्गमोक्षयोः ॥६।५८॥ (प. पं. वि.)

अर्थ—सज्जनों के द्वारा सदा हृदय में धारण की गई ये बारह भावनाएँ उस उत्कृष्ट पुण्य का उपार्जन करती हैं जो स्वर्ग और मोक्ष का कारण होता है।

द्विट्ठे तुमम्मि जिणवर चम्ममएणच्छिणा वि तं पुण्णं ।

जं जणइ पुरो केवलदंसणणाणाइं णयणाइं ॥१४।१६॥ (प. पं. वि.)

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! चर्ममय नेत्र से भी आपका दर्शन होने पर वह पुण्य प्राप्त होता है, जो भविष्य में केवल दर्शन और केवलज्ञान को उत्पन्न करता है।

‘पुण्य-कम्म-बंधरथीणं देसव्वयाणं मंगलकरणं जुत्तं, ण सुणीणं कम्मवखयकंबलुवाणमिदि ण व तुं जुत्तं, पुण्यबंध-हेउसं पडि विसेसाभावो, मंगलस्सेव सरागसंजमस्स वि परिच्चागप्पसगावो । ण च एवं, तेण संजम-परिच्चागप्पसंग-भावेण णिव्वुइ-गमणाभावप्पसगावो ॥’ (जयधवल पु० १, पृ० ८)

अर्थ—यदि कहा जाय कि पुण्यकर्म बाँधने के इच्छुक देशव्रतियों को मंगल करना युक्त है, किन्तु कर्मों के क्षय के इच्छुक मुनियों को मंगल करना युक्त नहीं है ? सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि पुण्यबंध के कारणों के प्रति देशव्रती और मुनि में कोई विशेषता नहीं है। अर्थात् पुण्य के बन्ध के कारणभूत कार्यों को जैसे देशव्रती करता है वैसे ही मुनि भी करता है। यदि ऐसा न माना जाय तो जिस प्रकार मुनियों को मंगल के परित्याग के लिये कहा जा रहा है, उसी प्रकार उनके सरागसंयम के भी परित्याग का प्रसंग प्राप्त होता है, क्योंकि देशव्रत के समान सरागसंयम भी पुण्यबन्ध का कारण है। यदि कहा जाय कि मुनियों के सरागसंयम के परित्याग का प्रसंग प्राप्त होता है तो होने दो ? सो भी बात नहीं है, क्योंकि मुनियों के सरागसंयम के परित्याग का प्रसंग प्राप्त होने से उनके मुक्तिगमन के अभाव का भी प्रसंग प्राप्त होता है।

यहाँ पर श्री वीरसेन आचार्य ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सरागसंयम के बिना विशिष्ट पुण्यबन्ध नहीं हो सकता है। और विशिष्ट पुण्योदय के अभाव में मोक्ष भी नहीं हो सकती है। इसीलिये यह कहा गया है कि 'सरागसंयम के परित्याग का प्रसंग प्राप्त होने से मुक्तिगमन के अभाव का भी प्रसंग प्राप्त होता है।'

इसी बातको श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' में कहा है—

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः ।

सविपक्षकृतोऽवश्यं भोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥२११॥

अर्थ—सम्पूर्ण रत्नत्रय के भावने वाले (धारण करने वाले) के जो कर्मबन्ध होता है, वह कर्मबन्ध विपक्ष (असम्पूर्णता जघन्यता) कृत है। वह कर्म-बन्धन अवश्य ही मोक्ष का उपाय है, बन्ध का उपाय नहीं है।

असमग्र रत्नत्रयवालों के तीर्थंकर आदि कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है। वे तीर्थंकर आदि कर्म-प्रकृतियाँ मोक्ष का उपाय है, बन्ध का उपाय नहीं है, जैसा कि 'पंचास्तिकाय गाथा' ८५ की टीका में कहा भी है—

'रागादिदोष-रहितः शुद्धात्मानुभूति-सहितो निश्चयधर्मो यद्यपि सिद्धगतेरुपादानकारणं भव्यानां भवति तथापि निदानरहित-परिणामोपाजित-तीर्थंकरप्रकृत्युत्तमसहननादिविशिष्ट-पुण्यरूप-धर्मोपि सहकारिकारणं भवति ।'

अर्थ—यद्यपि भव्य को रागादि दोष रहित शुद्धात्मानुभूति सहित निश्चय धर्म सिद्ध गति के लिये उपादान कारण है तथापि निदानरहित, परिणामों से उपाजित, तीर्थंकर कर्म प्रकृति, उत्तम सहनन आदि विशिष्ट पुण्य रूप धर्म भी सिद्ध गति के लिए सहकारी कारण होता है।

इस आगम प्रमाणसे भी सिद्ध है कि असमग्र रत्नत्रयवालों के जो विशिष्ट पुण्य कर्म, बन्ध होता है—वह मोक्ष का उपाय (कारण) है, बन्ध का उपाय (कारण) नहीं है। इसका विशेष कथन प्रकरण संख्या में है।

(८) 'समयसार' ग्रन्थकी अपेक्षा पुण्य-पाप विचार

शंका—१. श्री 'समयसार' के पुण्य-पाप अधिकार में तथा गाथा १३ की टीका में पुण्य-पाप दोनों को समान कहा है, फिर पुण्य-पाप में भेद क्यों दिखाया जा रहा है ?

समाधान—१. आचार्य प्रत्येक ग्रन्थ के प्रारम्भ में यह बतला देते हैं कि इस ग्रन्थ में किसका कथन किया जायगा। यदि उसे दृष्टि में रखकर ग्रन्थ का अध्ययन किया जाय तो ग्रन्थ का यथार्थ अर्थ समझने में कठिनाई नहीं होती। जैसे 'षट्खंडागम' के प्रारम्भ में यह स्पष्ट कर दिया है कि इस ग्रन्थ में भाव-मार्गणा की अपेक्षा कथन है। यदि इसे भूलकर 'षट्खंडागम' के कथन को द्रव्य मार्गणाओं में लगाने लगे तो वह 'षट्खंडागम' का यथार्थ अर्थ नहीं समझ सकता।

इसी प्रकार 'समयसार' की गाथा ५ में श्री कुन्दकुम्भ आचार्य ने यह प्रतिज्ञा की है कि इस ग्रन्थ में एकत्वविभक्त आत्मा का कथन होगा, क्योंकि काम-भोग और बन्ध का कथन सुलभ है किन्तु एकत्वविभक्त आत्मा की कथा सुलभ नहीं है। एकत्वविभक्त आत्मा के कथन के साथ बन्ध का कथन करना उचित नहीं है ('समयसार' गाथा ३ व ४)। यदि गाथा ३-४-५ को ध्यान में रखकर 'समयसार' का अध्ययन किया जाय तो 'समयसार' का यथार्थ भाव समझ में आ सकता है, अन्यथा नहीं।

‘समयसार’ गाय्या ६ में कहा है कि ‘जीव न प्रमत्त है और न अप्रमत्त है अर्थात् न संसारी और न मुक्त है ।’ यह कथन एकत्वविभक्त आत्मा की अपेक्षा तो सत्य है, भूतार्थ है, किन्तु सर्वथा सत्य नहीं है, क्योंकि संसारी जीव प्रत्यक्ष देखने में आ रहे हैं । श्री उमास्वामी आचार्य ने भी ‘तत्त्वार्थसूत्र’ के दूसरे अध्याय में ‘संसारिणो मुक्ताश्च ।’ सूत्र द्वारा जीव संसारी और मुक्त ऐसे दो प्रकार के बतलाये हैं तथा ‘रम्यसार’ में श्री कुम्भकुन्द आचार्य ने जीव को बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा तीन प्रकार का बतलाया है । यदि ‘समयसार’ गाय्या ६ के कथन को एकत्वविभक्त आत्मा की अपेक्षा न लगाकर सर्वथा सत्य मान लिया जाय तो मोक्षमार्ग का उपदेश व्यर्थ हो जायगा ।

‘समयसार’ गाय्या ७ में कहा है कि ‘जीव के न ज्ञान है, न दर्शन है, न चारित्र्य है । व्यवहारनय से ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य कहे गये हैं ।’ गाय्या ११ में व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा है, यह कथन एकत्वविभक्त-आत्मा की अपेक्षा सत्यार्थ है । यदि इस कथन को सर्वथा सत्यार्थ मान लिया जाय तो श्री उमास्वामी आचार्य का ‘सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गः’ यह सूत्र व्यर्थ हो जायगा ।

‘समयसार’ गाय्या १३ की टीका में जहाँ पर पुण्य-पाप को जीव के विकार कहा है, वहाँ पर मोक्ष को भी जीव का विकार कहा है । वह वाक्य इस प्रकार है—

‘केवलजीवविकाराश्च पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षलक्षणाः ।’

अर्थ—पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष जिसका लक्षण है ऐसा केवल (अकेले) जीव का विकार है ।

यदि कोई इस वाक्य से यह फलितार्थ करे कि पुण्य-पाप सर्वदा समान हैं तो उसको यह भी स्वीकार करना होगा कि आस्रव-बंध-संवर-निर्जरा-मोक्ष ये सब भी सर्वथा समान हैं । किन्तु जिस प्रकार जीव विकार की अपेक्षा आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्ष ये सब समान हैं, उसी प्रकार जीवविकार की अपेक्षा पुण्य-पाप भी समान हैं । जिस प्रकार आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्ष में अन्तर है, सर्वथा समान नहीं हैं, उसी प्रकार पुण्य-पाप में भी अन्तर है, सर्वथा समान नहीं हैं ।

‘समयसार’ पुण्य-पाप अधिकार में दृष्टान्त दिया है कि एक ही माता के उदर से दो पुत्र उत्पन्न हुए । उनमें से एक ब्राह्मण के यहाँ पला और दूसरा शूद्र के यहाँ पला । जो ब्राह्मण के यहाँ पला वह तो मद्य आदि का त्याग कर देता है अर्थात् श्रावक के अष्ट मूलगुण पालन कर धर्म-मार्ग पर लग जाता है और जो शूद्र के यहाँ पला था वह नित्य मदिरा आदि का सेवन करता है अर्थात् जैनधर्म से विमुख रहता है तथा धर्मोपदेश का पात्र भी नहीं होता । एक ही माता के उदर से उत्पन्न होने के कारण समान होते हुए भी, दोनों में बहुत अन्तर है, क्योंकि एक धर्ममार्गी है और एक धर्म से विमुख है । इस प्रकार पुण्य और पाप दोनों का उपादान कारण एक होने पर भी उनमें बहुत अन्तर है, क्योंकि पुण्योदय [उत्तम संहनन, उच्चगोत्र, तीर्थंकर प्रकृति आदि] मोक्षमार्ग में सहकारी है और पापोदय [हीन संहनन, नीच गोत्र आदि] मोक्षमार्ग में बाधक है । श्री अमृतचन्द्राचार्य ने ‘समयसार’ गाय्या १४५ की टीका में कहा भी है—

“शुभाशुभी मोक्षबंधमार्गौ”

अर्थात्—शुभ (पुण्य) मोक्षमार्ग है और अशुभ (पाप) बन्धमार्ग है ।

इस प्रकार 'समयसार' ग्रन्थ में पुण्य व पाप को किन्हीं अपेक्षाओं से समान बतलाते हुए भी उनमें मोक्ष-मार्ग व ससारमार्ग की अपेक्षा अन्तर बतलाया है ।

(६) 'पञ्चास्तिकाय' ग्रन्थ की अपेक्षा पुण्य-पाप विचार

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने 'पञ्चास्तिकाय' गाथा १३२ में शुभ से पुण्य आस्रव का कथन करके गाथा १३५ में शुभ के तीन भेद किये हैं—(१) प्रशस्त राग, (२) अनुकम्पा, (३) अकलुषता । इन तीनों का स्वरूप गाथा १३६, १३७ व १३८ में कहा गया है । वे गाथाएँ इस प्रकार हैं—

रागो जस्स पसत्थो अशुकंपासंसिदो थ परिणामो ।
चित्तमिह्णत्थि कलुसं पुण्णं जीवस्स आसवदि ॥१३५॥
अरहंत-सिद्ध-साधुसु भत्ती धम्ममि जा य खलु चेट्ठा ।
अशुगमणं पि गुरुणं पसत्थरागो त्ति वुच्चंति ॥१३६॥
तिसिबं बुभुक्खिबं वा बुहिवं वट्ठण जो दु बुहिवमणो ।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अशुकपा ॥१३७॥
कोधो व जवा माणो माया लोभो व चित्तमालेज्ज ।
जीवस्स कुणदि खोहं कलुसो त्ति य तं बुघा वेत्ति ॥१३८॥

अर्थ—जिस जीव के प्रशस्त राग, अनुकम्पायुक्त परिणाम और अकलुषता है उस जीव के पुण्य का आस्रव होता है ॥१३५॥ अरहंत-सिद्ध-साधु की भक्ति, सरागचारित्र रूप प्रवृत्ति, गुरुओं के अनुकूल चलना यह प्रशस्तराग है, ऐसा आचार्य कहते हैं ॥१३६॥ जो कोई प्यासे-भूखे तथा दुखी को देखकर दुखी होता हुआ दयाभाव से उसका दुख दूर करता है उसके यह अनुकम्पा होती है ॥१३७॥ जिस समय क्रोध, मान, माया, लोभ चित्तमें उत्पन्न हो करके आत्मा के भीतर आकुलता पैदा कर देते हैं, वह आकुलता कलुषता है, इस कलुषता का अभाव अकलुषता है ॥१३८॥

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने 'पञ्चास्तिकाय' की उपर्युक्त गाथाओं में पुण्य आस्रव के तीन कारण बतलाये हैं—(१) प्रशस्तराग, (२) अनुकम्पा, (३) अकलुषता । तीनों ही सम्यग्दर्शन के गुण हैं । 'प्रशस्त राग' संवेग और भक्ति का नामान्तर है । 'अकलुषता' उपशम या प्रशम का पर्यायवाची है । सम्यग्दर्शन के आठ गुण इसप्रकार हैं—

संवेगो णिव्वेओ णिदा गरहा उमसमो भत्ती ।
वच्छुल्लं अशुकम्पा अट्ट गुणा हुंति सम्भत्ते ॥४९॥ (बसु. धाव.)

अर्थ—सम्यग्दर्शन के होने पर संवेग, निर्वेग, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा ये आठ गुण उत्पन्न होते हैं ॥४९॥

इनका लक्षण इस प्रकार है—

धर्मं धर्मफले च परमा प्रीतिः संवेगः । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्येषु तद्वत्सु च भक्तिः । रागादीनामनुद्वेकः प्रशमः । जीवेषु दयालुताऽनुकम्पा ।

अर्थात्—धर्म और धर्म के फल में उत्कृष्ट प्रीति अर्थात् अनुराग संवेग गुण है । सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्र्यमें और इनके धारण करने वालों में भक्ति का होना सो भक्ति गुण है । रागादि अर्थात् क्रोध-मान-माया-लोभ कषाय

का अनुद्रेक अर्थात् कलुषता का न होना वह प्रशम अथवा उपशम गुण है। जीवों को दुखी देखकर उन-उन के दुःख दूर करने के लिये जो दयारूप परिणाम है, वह अनुकम्पा गुण है।

सम्यग्दर्शन के जो संवेग-भक्ति, प्रशम-उपशम तथा अनुकम्पा गुणों के जो लक्षण ऊपर कहे गये हैं, श्री कुन्दकुन्दआचार्य ने वे ही लक्षण पुण्य आस्रव के कारणभूत प्रशस्त राग, अनुकम्पा और अकलुषता के 'पञ्चास्तिकाय' गाथा १३६, १३७, १३८ में कहे हैं। इससे ज्ञात होता है कि पुण्य-आस्रव के कारणभूत प्रशस्तराग, अनुकम्पा और अकलुषता ये सम्यग्दर्शन के गुण होने से मोक्ष-मार्ग में सहकारी कारण हैं।

अर्थात्—पुण्य मोक्ष-मार्ग में सहकारी कारण है। यही बात 'समयसार' में 'शुभाशुभी मोक्षबंधमार्गी' इन शब्दों द्वारा कही गई है।

(१०) प्रवचनसार की अपेक्षा पुण्य-पाप विचार

'पञ्चास्तिकाय' गाथा १३२ में श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने 'सुहपरिणामो पुष्पां' इन शब्दों द्वारा जीव के शुभ परिणामों को पुण्य कहा है। उस शुभोपयोग का लक्षण 'प्रवचनसार' में इस प्रकार कहा है—

अरहंताविमु मत्ती वच्छलवा पवयणाभिजुत्तेसु ।
विड्जदि जदि सामण्ये सा सुहजुत्ता भवे चरिया ॥२४६॥

अर्थ—अरहंत आदि के प्रति भक्ति तथा प्रवचनरत जीवों के प्रति वात्सल्य यह शुभोपयोगी श्रमण का लक्षण है।

अब श्री कुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं कि शुभोपयोगी श्रमण जीवों को संसार से तार देते हैं।

असुभोवयोगरहिदा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा ।
णित्थारयंति लोणं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो ॥२४७॥ (प्रवचनसार)

अर्थ—अशुभोपयोग से रहित, शुद्धोपयोगी अथवा शुभोपयोगी श्रमण लोगों को [संसार से] तार देते हैं।

इसी बात को 'प्रवचनसार' (रायचन्द्रग्रन्थमाला), पृष्ठ ९० पर निम्नलिखित गाथा में कहा है—

तं देवदेवदेवं जदिवरवसहं गुरुं तिलोयस्स ।
पणमंति जे मच्छुस्सा से सोवखं अब्खयं जंति ॥

अर्थ—जो मनुष्य अरहन्तदेव को नमस्कार करता है वह मनुष्य अक्षय सुख अर्थात् मोक्षसुख को प्राप्त करता है। अरहन्त देव इन्द्रों द्वारा आराध्य हैं, यतिवरवृषभ हैं, और तीन लोक के गुरु हैं। अर्थात् शुभोपयोगी मोक्ष के लिये कारण है।

शंका—'प्रवचनसार' गाथा ७७ में तो यह कहा है कि 'पुण्य-पाप में भेद नहीं है, जो ऐसा नहीं मानता वह मोक्ष से आच्छादित होता हुआ भयानक अपार संसार में भ्रमण करता है।' फिर पुण्य मोक्ष के लिये किस प्रकार कारण हो सकता है? गाथा ७७ इस प्रकार है—

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं ।
हिड्दि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥ ७७ ॥

समाधान—प्रवचनसार गाथा ७७ में कथन शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से है। शुद्ध निश्चयनय का विषय पुण्य-पाप से रहित परमात्म जीव द्रव्य है। किन्तु अशुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा भेद है। इस गाथा की टीका में कहा भी है—

‘द्रव्यपुण्यपापयोर्व्यवहारेण भेदः, भावपुण्यपापयोस्तत्फलभूतसुखदुःखयोरचाशुद्धनिश्चयेन भेदः। शुद्धनिश्चयेन तु शुद्धात्मनो भिन्नत्वाद्भेदो नास्ति।’

अर्थ—व्यवहारनय से द्रव्य पुण्य-पाप में भेद है। अशुद्ध निश्चयनय से भाव पुण्य-पाप में भेद है और उनके फल सुख-दुःख में भी भेद है। पुण्य और पाप दोनों ही शुद्ध-आत्मा से भिन्न हैं इसलिये शुद्ध-निश्चय नय से पुण्य और पाप इन दोनों में भेद नहीं है।

इस कथन से टीकाकार ने स्पष्ट कर दिया है कि पुण्य और पाप में भेद भी है और अभेद भी है, सर्वथा समान नहीं हैं। यद्यपि पुण्य शुद्धात्मा का स्वरूप नहीं है, तथापि शुद्धात्म-प्राप्ति में सहकारी अवश्य है। क्योंकि जिसके द्वारा आत्मा पवित्र होती है वह पुण्य है।

(११) ‘अष्टपाहुड’ की अपेक्षा पुण्य-पाप विचार

शंका—‘भावप्राप्त’ गाथा ८१ व ८२ में बतलाया गया है कि जिससे सांसारिक सुख की प्राप्ति होती है, वह पुण्य है और जिससे कर्मक्षय होकर मोक्ष मिलता है, वह धर्म है। इससे यह स्पष्ट है कि पुण्य या शुभोपयोग मोक्ष का कारण नहीं है। (देखो जैन संदेश २४-११-६६)

समाधान—‘भावप्राप्त’ गाथा ८१ इस प्रकार है—

पूयाविसु वयसहियं पुण्णं हि जिलोहि सासणे भणियं ।
मोहस्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥८१॥

इस गाथा में आत्मा के मोह व क्षोभ से रहित परिणामों को धर्म की संज्ञा दी है। ‘प्रवचनसार’ गाथा ७७ में भी यही कहा है कि चरित्र वास्तव में धर्म है, जो दर्शनमोहनीय कर्म और चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का अत्यन्त निर्विकार परिणाम है। आत्मा के यह मोह-क्षोभ से रहित अत्यन्त निर्विकार परिणाम क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान में होता है, क्योंकि समस्त मोहनीय कर्म का क्षय (नाश) बारहवें गुणस्थान में होता है अर्थात् बारहवें गुणस्थान में क्षायिक चारित्ररूप धर्म होता है। बारहवें गुणस्थान से अधस्तन गुणस्थानों में रत्नत्रय है उसको ‘भावपाहुड’ की गाथा ८ में पुण्य की संज्ञा दी है। क्योंकि सूक्ष्मसाम्पराय दसवें गुणस्थान तक रत्नत्रय से पुण्यबन्ध होता है। यद्यपि दसवें गुणस्थान तक रत्नत्रय से पुण्य बंध होता है तथापि वह रत्नत्रय इस जीव को संसार के दुःखों से निकालकर उत्तम सुख में धरता है, इस अपेक्षा से वह भी धर्म है। इसीलिए भी पद्मनन्दि आचार्य ने धर्म की व्याख्या इस प्रकार की है—

धर्मो जीवदया गृहस्थयमिनोर्भेदाद्धिघा च त्रयं ।
रत्नानि परम तथा दशविधोत्कृष्टक्षमाविस्ततः ॥
मोहोद्भूतविकल्पजालरहिता वागङ्गसंगोज्जिता ।
शुद्धानन्दमयात्मनः परिणतिर्धर्माख्यया गीयते ॥११७॥ (पद्मनन्दि पंचविंशति)

अर्थ—प्राणियों पर दया भाव रखना, यह धर्म का स्वरूप है। वह धर्म गृहस्थ (श्रावक) और मुनि के भेद से दो प्रकार का है। वही धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र रूप उत्कृष्ट रत्नत्रय के भेद से तीन प्रकार का है। वही धर्म उत्तम क्षमादि के भेद से दस प्रकार का है। मोहनीय कर्म के निमित्त से उत्पन्न होने वाले मानसिक विकल्पसमूह (मोह-क्षोभ) से रहित तथा वचन एवं शरीर के संसर्ग से भी रहित जो शुद्ध श्रानन्द रूप आत्मा की परिणति होती है, वह धर्म नाम से कही जाती है।

‘भावपाहुड़’ गाथा ८१ में श्री कुन्वकुन्द आचार्य ने दसवें गुणस्थान तक के रत्नत्रय रूपी धर्म को पुण्य की संज्ञा दी है, क्योंकि इससे सातिशय पुण्य का बन्ध होता है और वह तीर्थंकर प्रकृति आदिरूप पुण्य-बन्ध मोक्ष के लिये सहकारी होता है। गाथा ८१ की टीका में श्री भूतसागर आचार्य ने कहा है—

‘सर्वज्ञवीतराग-पूजासंक्षणं तीर्थंकरनामगोत्र-बंधकारणं विशिष्टं निर्निदान-पुण्यं पारम्पर्येण मोक्ष-कारणं गृहस्थानां धीमद्भिर्भंगितं ।’

अर्थ—आचार्यों ने गृहस्थियों के ऐसा विशिष्ट पुण्य बतलाया है जो तीर्थंकर नामकर्म के बन्ध का कारण है और परम्परा से मोक्ष का कारण है। उस विशिष्ट पुण्य का लक्षण सर्वज्ञ वीतराग की पूजा है।

इस प्रकार ‘भावपाहुड़’ गाथा ८१ से यह सिद्ध होता है कि पुण्य मोक्ष का कारण है। ‘भावपाहुड़’ की गाथा ८२ इस प्रकार है—

सहृद्वि य पसेदि य रोचेदि य तह पुणो वि फातेवि ।
पुण्णं भोयणिमित्तं ण ह सो कम्मखण्यणिमित्तं ॥८२॥

इसकी संस्कृत टीका यों है—

‘श्रद्धाति च तत्र विपरीताभिनिवेशरहितो भवति । प्रत्येति च मोक्षहेतुभूतत्वेन यथावत्प्रतिपद्यते । रोचते च मोक्षकारणतया तत्रैव रक्षि करोति । मोक्षचित्वात्साधनतया स्पृशति अवगाहयति । एतत्पूजादिसंक्षणं पुण्यं भोलाचितया क्रियमाणं साक्षाद् भोगकारणं स्वर्गस्त्रीणामालिगनादिकारणं तृतीयोदिभवे मोक्षकारणं निर्ग्रन्थलिगेन । न भवति स्फुटं निश्चयेन साक्षात्तदभवे गृहस्थलिगेन कर्मक्षयनिमित्तं-तदभवे केवलज्ञानपूर्वकमोक्षनिमित्तं पुण्यं न भवतीति ज्ञातव्यं ।’

अर्थात्—गृहस्थ श्रद्धान करता है, रक्षि करता है, प्रतीति करता है, स्पर्श करता है, कि पुण्य मोक्ष का हेतु है, कारण है, साधन है। मोक्षार्थी द्वारा किया गया पूजा आदि रूप पुण्य साक्षात् स्वर्गादि के भोगका कारण है। तीसरे भव में निर्ग्रन्थ लिग द्वारा मोक्ष का कारण है। यह निश्चित है कि गृहस्थ के उसी भवसे वह पुण्य कर्मक्षयका निमित्त नहीं होता है। अर्थात् उसी गृहस्थ भवसे केवलज्ञानपूर्वक मोक्ष नहीं होता है, ऐसा जानना चाहिये। मोक्ष का साक्षात् कारण मुर्निर्लिग-निर्ग्रन्थ लिग है, गृहस्थलिग साक्षात् कारण नहीं है।

इस गाथा में तो यह बतलाया है कि गृहस्थ का जिनपूजादिरूप पुण्य परम्परासे मोक्ष का कारण है, क्योंकि गृहस्थलिग से मोक्ष नहीं हो सकता, इसलिये वह पुण्य साक्षात् मोक्षका कारण नहीं है। इसी ‘भावपाहुड़’ की गाथा १५१ में श्री कुन्वकुन्द आचार्य ने कहा है कि जिनेन्द्र की भक्ति रूपी पुण्य से संसार के मूल का नाश होता है। वह गाथा इस प्रकार है—

जिणवरचरणंबुद्धं णमंति जे परमभत्तिराएण ।

ते अम्मबेल्लिमूलं खणंति वरभावसत्थेण ॥१५१॥

अर्थ—जो भव्य पुरुष उत्तम भक्ति और अनुराग से जिनभगवान के चरणकमलों को नमस्कार करते हैं, वे उत्तम भावरूप हथियार से संसार रूप बेल को जड़ से उखाड़ देते हैं ।

पूयफलेण तिलोए सुरपुज्जो हवेइ सुद्धमणो ।

दानफलेण तिलोए सारसुहं भुंजवे णियदं ॥१४॥ (रयणसार)

अर्थ—जो शुद्ध मन से पूजा करता है तथा दान देता है वह जिनपूजा रूपी पुण्य के फल से तीनलोक से तथा देवों से पूजा जाता है अर्थात् अरहंत देव होता है और दानरूप पुण्य से तीन लोक का सार सुख अर्थात् मोक्ष-सुख भोगता है ।

ऐसा श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने इस गाथा में कहा है ।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य का इतना स्पष्ट कथन होते हुए भी 'भावपाहुड़' गाथा ८२ की संस्कृत टीका के अनुसार अर्थ न करके जिनपूजा, दान आदि पुण्य (धर्म) कार्यों से श्रावकों को विमुख करना उचित नहीं है ।

(१२) 'परमात्मप्रकाश' की अपेक्षा पुण्य-पाप विचार

शंका—'परमात्मप्रकाश' दूसरा अधिकार गाथा ५३-५५, ५७-५८ और ६० में यह बतलाया गया है कि जो पुण्य-पाप को समान न जानकर पुण्य से मोक्ष मानता है वह मिथ्यादृष्टि है । क्या यह कथन ठीक नहीं है ?

समाधान—'परमात्मप्रकाश' दूसरे अधिकार में गाथा ५३ से गाथा ६३ तक निश्चयनय की अपेक्षा पुण्य-पाप का कथन है और गाथा ६४-६६ में व्यवहार और निश्चय प्रतिक्रमण का कथन है, कहा भी है—

'अथानन्तरं निश्चयनयेन पुण्यपापे द्वे समाने इत्याद्युपलक्षणत्वेन चतुर्वंशसूत्रपर्यन्तं व्याख्यानं क्रियते ।'

अर्थ—आगे निश्चयनय की अपेक्षा से पुण्य-पाप दोनों समान है, इत्यादि कथन करते हैं ।

बंधहं मोषखहं हेउ णिउ जो णवि जाणइ कोइ ।

सो पर मोहिं करइ जिय पुण्यु वि पाउ वि बोइ ॥२१५३॥

अर्थ—निज भाव, बंध व मोक्ष के कारण हैं जो कोई यह नहीं जानता, वह मिथ्यादृष्टि जीव मोह से पुण्य और पाप को करता रहता है ।

इस गाथा में मात्र यह बतलाया गया है कि मिथ्यादृष्टि जीव बंध व मोक्ष के कारणों को न जानता हुआ, पुण्य-पाप से रहित मोक्ष को न प्राप्त करके पुण्य-पाप का बन्ध करता रहता है ।

जो णवि मणइ जीउ समु पुण्यु वि पाउ वि बोइ ।

सो चिह बुख्खु सहंतु जिय मोहिं हिइइ लोइ ॥२१५५॥

अर्थ—जो जीव निश्चयनय से पुण्य और पाप दोनों को समान नहीं मानता वह जीव मोह से मोहित हुआ बहुत काल तक दुःख सहता हुआ संसार में भटकता है ।

‘पुण्य और पाप दोनों समान हैं’ यह कथन वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित मुनि की अपेक्षा से है। इसका विचार श्री ब्रह्मदेव सूरि ने टीका में इस प्रकार किया है—

‘अत्राह प्रभाकरभट्टः—तर्हि ये केचन पुण्यपापद्वयं समानं कृत्वा तिष्ठन्ति तेषां किमिति दूषणं वीयते भवद्-भिरिति । भगवानाह—यदि शुद्धात्मानुभूतिसंज्ञकं त्रिगुणितगुप्तवीतराग-निर्विकल्पसमाधिं लब्ध्वा तिष्ठन्ति तदा संमतमेव । यदि पुनस्तथाविधामवस्थामलभमाना अपि सन्ता गृहस्थावस्थायां दानपूजादिकं त्यजन्ति तपोधनावस्थायां षडावरयकादिकं च त्यक्त्वोभयभ्रष्टा सन्तः तिष्ठन्ति तदा दूषणमेवेति तात्पर्यम् ॥५५॥

अर्थ—‘पुण्य और पाप समान हैं’ यह कथन सुनकर प्रभाकर भट्ट बोला—यदि ऐसा ही है, तो जो कितने लोग पुण्य-पाप को समान मानते हैं, उनको तुम दोष क्यों देते हो ? तब श्री योगीन्द्र देव ने कहा यदि गुप्ति से गुप्त शुद्धात्मानुभूति-स्वरूप वीतराग निर्विकल्पसमाधि में ठहरकर पुण्य पाप को समान जानते हैं तो योग्य है। परन्तु जो इस निर्विकल्पसमाधि को न पाकर भी पुण्य-पाप को समान जानकर गृहस्थ-अवस्था में दान-पूजा आदि शुभ क्रियाओं को छोड़ देते हैं और मुनिपद में छह प्रावश्यक कर्मों को छोड़ देते हैं, वे दोनों बातों से भ्रष्ट हैं। वे निन्दा योग्य हैं। उनको दोष ही है, ऐसा जानना।

गाथा ५७ में बतलाते हैं कि निदान बन्ध से उपाजित पुण्य जीव को राज्यादि विभूति देकर नरकादि दुःख उत्पन्न कराते हैं, इसलिये ऐसे पुण्य अच्छे नहीं हैं।

मं पुण्यं पुण्यं भत्साइं णानिय ताइं जणति ।
जीवहं रज्जइं देवि लहु कुक्खइं जाइं जणति ॥२॥५७॥

संस्कृत टीका—निदानबन्धोपाजितपुण्येन भवान्तरे राज्यादिविभूतौ लब्धायां तु भोगान् त्यक्तुं न शक्नोति तेन पुण्येन नरकादिदुःखं लभते । रावणादिवत् । तेन कारणेन पुण्यानि हेयानीति । ये पुर्नानिदानरहितपुण्यसहिताः पुरुषास्ते भवान्तरे राज्यादिभोगे लब्धेऽपि भोगांस्त्यक्त्वा जिनदीक्षां गृहीत्वा चोर्ध्वगतिगामिनो भवन्ति बलदेवादि-वदिति साचार्यः । ऊर्ध्वगा बलदेवाः स्युर्निदाना भवान्तरे’ इत्यादि वचनात् ॥५७॥

अर्थ—निदान बन्ध से उपाजित किये गये पुण्य जीव को दूसरे भवमें राज्यसम्पदा देते हैं। उस राज्यविभूति को पाकर अज्ञानी जीव विषय-भोगों को छोड़ नहीं सकता, उससे नरकादि के दुःख पाता है, रावण आदि की तरह; इसलिये अज्ञानियों का पुण्य हेय है। जो निदानरहित और पुण्यरहित पुरुष हैं वे दूसरे भव में राज्यादि भोगों को पाते हैं तो भी भोगों को छोड़कर जिन-दीक्षा धारण करके ऊर्ध्व-गति को जाते हैं, बलदेव आदि की तरह। निदान बन्ध नहीं करते हुए महामुनि महान् तप करके भवान्तर में स्वर्गलोक जाते हैं, वहाँ से चलकर बल-भद्र होते हैं। वे देवों से भी अधिक मुख भोग कर राज्यका त्याग करके मुनिव्रत धारण करके या तो मोक्ष जाते हैं या बड़ी ऋद्धिके देव होकर फिर मनुष्य होकर मोक्ष जाते हैं। इस प्रकार ज्ञानियों का पुण्य हेय नहीं है।

गाथा ५८ में कहा है कि निर्मल सम्यक्त्वधारी जीव को मरण भी सुखकारी है और सम्यक्त्व के बिना पुण्य अच्छा नहीं है।

वर नियदंसणअहिमुहुउ मरञ्च वि जीव लहेसि ।
मा नियदंसणविम्मुहुउ पुण्य वि जीव करेसि ॥२॥५८॥

संस्कृत टीका—सम्यक्त्वरहिता जीवाः पुण्यसहिता अपि पापजीवा भण्यन्ते । सम्यक्त्वसहिताः पुनः पूर्वभवान्तरोपाजितपापफलं भुञ्जाना अपि पुण्यजीवा भण्यन्ते येन कारत्वेन, तेन सम्यक्त्वसहितानां मरणमपि भद्रम् । सम्यक्त्व-रहितानां च पुण्यमपि भद्रं न भवति । कस्मात् ? तेन निदानबन्धपुण्येन भवान्तरे भोगान् लब्ध्वा परचात्र-रकादिकं गच्छन्तीति भावार्थः ॥१५॥

अर्थ—सम्यक्त्वरहित मिथ्यादृष्टि जीव पुण्य-सहित हैं तो भी पापी जीव हैं । जो सम्यक्त्वसहित हैं किन्तु पूर्व भव में उपाजित पाप-कर्म को भोग रहे हैं, वे पुण्य जीव हैं । इसलिए जो सम्यक्त्वसहित हैं उनका मरना भी अच्छा है । क्योंकि मरकर ऊर्ध्व गति में जावेंगे । सम्यक्त्व-रहित का पुण्य भी अच्छा नहीं है । क्योंकि वे निदान-बन्ध सहित पुण्य से भवान्तर में भोगों को भोगकर नरकादि में जाते हैं ।

गाथा ६० में मिथ्यादृष्टियों के पुण्य का निषेध करते हैं—

पुण्येण होइ विह्वो विह्वेण मओ मएण मइमोहो ।
मइमोहेण य पावं ता पुण्णं अन्ह मा होउ ॥६०॥

संस्कृत टीका—इदं पूर्वोक्तं पुण्यं भेदाभेद-रत्नत्रयाराधनारहितेन दृष्टश्रुतानुभूतभोगकांक्षारूपनिदानबन्ध-परिणामसहितेन जीवेन यदुपाजितं पूर्वभवे तदेव महमहं कारं जनयति बुद्धिविनाशं च करोति । न च पुनः सम्यक्त्वा-विगुणसहितं भरत-सगरपाण्डवादिपुण्य-बन्धवत् । यदि पुनः सर्वेषां मदं जनयति तर्हि ते कथं पुण्यभाजनाः सन्तो मदाहंकारादि-विकल्पम् त्यक्त्वा मोक्षं गता इति भावार्थः ॥६०॥

अर्थ—भेदाभेद रत्नत्रय की आराधना से रहित मिथ्यादृष्टि जीव ने देखे-सुने-अनुभव किये गये भोगों की वांछारूप निदानबन्ध के परिणामों से पूर्व भव में जो पुण्य उपाजित किया था, उसके वह पुण्य मद-अहंकार उत्पन्न करता है और बुद्धि का विनाश करता है । जो सम्यक्त्व आदि गुणसहित भरत, सगर, राम पांडव आदि हुए हैं उनको पुण्य अभिमान उत्पन्न नहीं कर सका, यदि पुण्य सबको मद उत्पन्न करता होता तो पुण्य के भाजन पुरुष अर्थात् पुण्यवान् पुरुष मद अहंकार को छोड़कर मोक्ष कैसे जाते । अर्थात् पुण्य सबको मद-अहंकार उत्पन्न नहीं करता क्योंकि बहुत से पुण्यवान् जीव मद-अहंकार को त्याग कर मोक्ष जाते हैं ।

इन सब गाथाओं का अभिप्राय इस प्रकार है कि किसी अज्ञानी के हाथ में शत्रुघातक शस्त्र आ गया किन्तु वह उसका ठीक प्रयोग करना नहीं जानता; इसलिए शत्रु का घात न कर अपना घात कर लेता है । यदि वही शस्त्र ज्ञानीके हाथ में आ जाय तो वह उसका उचित प्रयोग कर शत्रु का घात कर सुख से रहता है । इसी प्रकार यदि कर्मक्षय करनेवाला ऐसा उच्चगोत्र, उत्तम संहनन आदि पुण्यरूपी शस्त्र अज्ञानी के पास होता है तो वह अज्ञानी कर्मशत्रु का नाश न कर अपनी आत्मा के गुणों का घात कर लेता है । यदि वही पुण्यरूपी शस्त्र ज्ञानी के पास हो तो वह कर्मों का नाश कर मोक्षसुख को भोगता है ।

गाथा ६२ की टीका में कहा है—‘देवशास्त्रमुनीनां साक्षात् पुण्यबन्ध-हेतुभूतानां परंपरया मुक्तिकारण-भूतानां वा’ अर्थात् देव, शास्त्र, गुरु ये साक्षात् पुण्य-बन्ध के कारण हैं और परम्परा से मोक्ष के कारण हैं ।

शंका—‘योगसार’ गाथा ३२ में कहा है कि ‘जो पुण्य और पाप को छोड़कर आत्मा को जानता है वह मोक्ष को प्राप्त करता है ।’ इससे स्पष्ट है कि पाप के समान पुण्य भी त्याग्य है । इसी बात को गाथा ७१ में भी कहा है कि पुण्य को पाप कहने वाले ज्ञानी विरले हैं । गाथा ७२ में कहा है कि जो शुभ और अशुभ दोनों का त्याग कर देते हैं निश्चय से वे ही ज्ञानी होते हैं ।

समाधान—पाप बहिरात्मा, पुण्य अन्तरात्मा इन दोनों का त्याग करके अरहंत परमात्मा बनता है। वही अर्थात् अरहंत परमात्मा ही प्रत्यक्ष रूप से साक्षात् आत्मा को जानता है। यह गायथा ३२ का अभिप्राय है। बहिरात्मा को परसमय सब कहते हैं किन्तु पुण्य अर्थात् अन्तरात्मा को परसमय कहने वाले विरले हैं, यह गायथा ७१ का अभिप्राय है। जो शुभ और अशुभ भावों को त्यागकर क्षीणमोह हो जाते हैं वे ही निश्चय से ज्ञानी अर्थात् केवलज्ञानी होते हैं। यह गायथा ७२ का अभिप्राय है।

क्या कोई भी व्यक्ति अशुभ भावों (अर्तारौद्रध्यान) का त्याग कर शुभभाव (धर्मध्यान) के द्वारा मोहनीय कर्म का नाश किये बिना अरहंत परमात्मा बन सकता है? धर्मध्यान शुभ भाव है ऐसा श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने 'सावपाहुड' गायथा ७६ में कहा है और इस शुभ भाव रूप धर्मध्यान को श्री उमास्वामी ने 'परे मोक्षहेतू' सूत्र द्वारा मोक्ष का कारण बतलाया है। श्री बीरसेन आचार्य ने 'धवल' पु० १३ पृ० ८१ पर इस शुभभाव रूप धर्मध्यान से मोहनीय कर्म का क्षय होना कहा है। प्रकरण संख्या ३ में इसका विशेष विवेचन है।

कार्य-समयसार का उत्पादन होने पर कारण-समयसार का व्यय होता है अर्थात् शुद्धभावरूप अरहंत पद (कार्यसमयसार) के उत्पाद होने पर शुभ रूप अन्तरात्मा (कारण-समयसार) का व्यय हो जाता है।

यदि पुण्य और पाप सर्वथा समान होते तो श्री उमास्वामी आचार्य ने 'तत्त्वार्थसूत्र' अध्याय ७ के निम्न-लिखित सूत्रों में जिस प्रकार पाप को दुःख रूप तथा जीव का नाश करने वाला कहा है, उसी प्रकार पुण्य को भी दुःख रूप और नाश करने वाला कहते, इससे सिद्ध है कि पुण्य और पाप में महान् अन्तर भी है।

'हिसादिष्विहामुद्रापायावद्यदर्शनम् ॥९॥ दुःखमेव वा ॥१०॥ [तत्त्वार्थसूत्र अ० ७]

अर्थ—हिसादिक पाँच पापों से इस लोक और परलोक में अपाय (स्वर्ग और मोक्ष की प्रयोजक क्रियाओं का विनाश करनेवाली प्रवृत्ति) और अवद्य (गर्हा, निन्दा) देखी जाती है, अथवा हिसा आदि पाँच पाप दुःख रूप ही हैं, ऐसी भावना करनी चाहिए।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि पुण्य स्वर्ग और मोक्ष की प्रयोजक क्रियाओं का विनाश करने वाला नहीं है, अपितु साधन है।

यही बात श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने 'प्रवचनसार' में कही है—

अशुभोद्योगरहिदा मुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा ।

णित्थारयति जोगं तेसु पत्तत्थं लहदि भत्तो ॥२६०॥

अर्थ—जो मुनि अशुभोपयोग (पाप) रहित वर्तते हुए शुद्धोपयुक्त (पुण्य-पाप से रहित) अथवा शुभोपयुक्त (पुण्यरहित) होते हैं, वे भव्यों को संसार से पार कर देते हैं और उनके प्रति भक्तिमान जीव प्रशस्त (पुण्य) को प्राप्त करता है।

(१३) संक्लेश व विशुद्ध परिणाम

मिथ्यादृष्टि जीवों के कभी कषाय का उदय तीव्र होता है और कभी मंद। कषाय के तीव्र उदय में संक्लेश परिणाम होते हैं जिनसे असातादि अप्रशस्त अघाति कर्मों का बन्ध होता है। कषाय के मंद उदय में असंक्लेश अर्थात् विरुद्ध परिणाम होते हैं जिनसे साता आदि प्रशस्त अघातिया कर्मों का बन्ध होता है। कहा भी है—

'क्रोधमानमायालोभानां तीव्रोदये चिसस्य क्षोभः कालुष्यम् । तेषामेव संबोदये तस्य प्रसादोऽकालुष्यम् । तत् कदाचित् विशिष्ट-कषाय-क्षयोपशमे सत्यज्ञानिनो भवति ।' पञ्चास्तिकाय गा० १८० टीका

अर्थ—क्रोध, मान, माया और लोभ के तीव्र उदय से चित्त का क्षोभ सो कलुषता है। उन्हीं क्रोध आदि के संबोदय से चित्त की प्रसन्नता सो अकलुषता (विशुद्धि) है। यह अकलुषता कदाचित् कषाय का विशिष्ट क्षयोपशम होने पर अज्ञानी के होती है।

यह कथन तो श्री अमृतचन्द्राचार्य की टीकानुसार किया गया है। अब श्री जयसेन आचार्य की टीका के अनुसार कथन किया जाता है—

'तस्य कालुष्यस्य विपरीतमकालुष्यं भण्यते । तच्चाकालुष्यं पुण्यान्वयकारणभूतं कदाचिदन्तानुबन्धिकषाय-संबोदये सत्यज्ञानिनो भवति ।' (पञ्चास्तिकाय गा. १८० श्री जयसेन की टीका)

अर्थ—कालुष्यता की प्रतिपक्षी अकालुष्यता है। वह अकालुष्यता पुण्य (सातावेदनीय आदि) कर्म का कारण है। कदाचित् अनन्तानुबन्धी कषाय के संबोदय में यह अकालुष्यता अज्ञानी के भी होती है।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि कालुष्यता असाता आदि पाप कर्म के आसव का कारण है।

इसी बात को श्री वीरसेन आचार्य कहते हैं—

'को संक्लेशो णाम ? असादबंधजोगपरिणामो संक्लेशो णाम । का विसोही ? सादबंधजोगपरिणामो ।'
[धवल पु० ६, पृ० १८०]

अर्थ—संक्लेश नाम किसका है ? असाता के बन्धयोग्य परिणाम को संक्लेश कहते हैं। विशुद्धि नाम किसका है ? साता के बन्धयोग्य परिणामों को विशुद्धि कहते हैं।

'परियत्तमाणियाणं साद-अथिर-सुभ-सुभग-सुस्सर-आदेज्जादीणं सुभपयडीणं बंधकारणभूवकसायट्टाणाणि विसोहिट्टाणाणि, असाद-अथिर-असुह-कुभग-दुस्सर अणादेज्जादीणं परियत्तमाणियाणमसुहपयडीणं बंधकारणकसाय-उदयट्टाणाणि संक्लेशट्टाणाणि ति एमो तेसि भेषो ।' (धवल पु. ११, पृ. २०८)

अर्थ—साता, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर और आदेय आदिक परिवर्तमान शुभ प्रकृतियों के बन्ध के कारणभूत कषायस्थानों को विशुद्धि स्थान कहते हैं। असाता, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर और अनादेय आदि के परिवर्तमान अशुभ प्रकृतियों के बन्ध के कारणभूत कषाय के उदयस्थानों को संक्लेशस्थान कहते हैं। यह संक्लेश और विशुद्धि में अन्तर है।

यद्यपि संक्लेश और विशुद्ध परिणामों को अशुभ और शुभ कहा जा सकता है तथापि ऐसा कथन प्रायः नहीं पाया जाता है। मिथ्यादृष्टि के संक्लेश तथा विशुद्ध परिणामों को अशुभ और सम्यग्दृष्टि के संक्लेश व विशुद्ध परिणामों को शुभ कहा जाता है। बहुधा ऐसा कथन पाया जाता है। (देखो प्रवचनसार गाथा ९ की श्री जयसेन आचार्य कृत टीका)

मिथ्यादृष्टि जीव को भी विशुद्ध परिणाम हितकारी हैं क्योंकि विशुद्ध परिणामों के कारण मिथ्यादृष्टि दुर्गति के दुःखों से बच जाता है और उसे यथार्थ देव गुरु शास्त्र की हचि होती है जिससे सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है।

चद्रुगद्विमिच्छो सण्णी पुण्णो गढभजविसुद्धसागारो ।

पढमुवसमं स गिण्हदि पञ्चमवरलद्धिचरिमग्धि ॥२॥ (लब्धिसार)

अर्थ—चारों गतिवाला मिथ्यादृष्टि, संज्ञी, पर्याप्त, मनुष्य या तिर्यञ्च गर्भज, क्रोधादि मंद कषायरूप विशुद्ध परिणाम का धारक ज्ञानोपयोगी जीव पंचम लब्धि के अन्तिम समय में प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन को प्राप्त होता है ।

इस प्रकार भव्य मिथ्यादृष्टि के लिये भी विशुद्धपरिणाम उपादेय हैं, क्योंकि विशुद्ध परिणामों के बिना सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं हो सकता और संक्लेश परिणाम हेय हैं, क्योंकि संक्लेश परिणाम सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में बाधक हैं ।

यद्यपि अभव्य जीव के सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं हो सकती है तथापि उसके लिये भी मंद कषाय रूप विशुद्ध परिणाम उपादेय हैं, क्योंकि उनसे देव गति आदि के सुख प्राप्त होते हैं । संक्लेश परिणाम हेय हैं, क्योंकि उनसे नरक गति आदि के दुःख प्राप्त होते हैं ।

जीव के परिणाम तीन प्रकार के होते हैं—विशुद्ध, शुद्ध । तीव्र कषाय रूप परिणाम संक्लेश परिणाम हैं, मंद कषायरूप परिणाम विशुद्ध परिणाम हैं और कषाय-रहित परिणाम शुद्ध परिणाम हैं । वीतराग-विज्ञान-रूप जीव-स्वभाव के घातक ज्ञानावरणादि अप्रशस्त कर्मों का तीव्रबन्ध संक्लेश परिणामों से होता है; विशुद्धपरिणामों से मंद बन्ध होता है । यदि विशुद्ध परिणाम प्रबल होते हैं तो पूर्व में जो तीव्र बन्ध हुआ था उसके भी स्थिति, अनुभाग कटकर मन्द हो जाते हैं तथा अनेक कर्मों का बन्ध रुक जाता है । कषायरहित शुद्ध परिणामों से मात्र निर्जरा होती है, बन्ध नहीं होता । श्री अरहंतादि का स्तवनादि रूप परिणाम मन्द कषाय रूप विशुद्ध भाव हैं । ये विशुद्ध परिणाम समस्त कषाय भाव मिटाने के साधन हैं, अतः ये विशुद्ध परिणाम के कारण हैं । सो ऐसे विशुद्ध परिणामों के द्वारा जीवस्वभावघातक-घातिकर्मों का हीनपना होने से सहज ही वीतराग-विज्ञान स्वरूप प्रगट होता है ।

उपर्युक्त कथन का सारांश यह है कि जब तक साधक वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित नहीं होता तब तक विशुद्धपरिणाम-शुभभाव उपादेय हैं । वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित होने पर बुद्धिपूर्वक शुभ भाव स्वयमेव छूट जाते हैं । संक्लेश परिणाम हेय हैं । वर्तमान पंचमकाल भरतक्षेत्र में वीतराग निर्विकल्प समाधि नहीं हो सकती है । मात्र धर्मध्यान आदि शुभ भाव हो सकते हैं । इसलिये वर्तमान अवस्था में हमारे लिये शुभ भाव, विशुद्ध परिणाम ही उपादेय हैं ।

पुण्ण्यात् सुरासुरनरीरगभोगसाराः,

श्रीरापुरप्रमितरूपसमृद्धयो गीः ।

साम्राज्यमैन्द्रमपुनर्भवभावनिष्ठ-

मार्हस्यमन्तरहिताखिलसौख्यमग्रधम् ॥२७२॥ महापुराण सर्ग १६ ॥

अर्थ—सुर, असुर, मनुष्य और नागेन्द्र आदि के उत्तम उत्तम भोग, लक्ष्मी, दीर्घ आयु, अनुपम रूप, समृद्धि, उत्तमवाणी, चक्रवर्ती का साम्राज्य, इंद्रपद, जिसे पाकर फिर संसार में जन्म नहीं लेना पड़ता ऐसा अरहंत पद और अन्तरहित समस्त सुख देने वाला श्रेष्ठ निर्वाणपद इन सबकी प्राप्ति पुण्य से होती है ।

पुण्यार्जने कुस्त, यत्नमतो बुधेरग्राः ॥२७०॥

अर्थ—इसलिये हे पण्डित जनो ! पुण्य उपाजर्जन करने में प्रयत्न करो ।

श्री वीरसेन आचार्य के शिष्य श्री जिनसेन आचार्य ने तो 'महापुराण' में पुण्य-उपाजर्जन का उपदेश दिया है । आज जब कि पाप-प्रवृत्ति की बहुलता है, विद्वानों की सन्तान भी धर्म से विमुक्त है और नवयुवक विषय-कषायों में लिप्त हैं; तब इस उपदेश से 'कि पुण्य विद्या है, त्याज्य है, अज्ञानी इस पुण्यरूपी विद्या को चाटता है' जीवों का अहित ही होगा । जैसा पात्र होता है, वैसा ही उपदेश दिया जाता है । भील को मांसत्याग का, चाण्डाल को हिंसात्याग का उपदेश दिया गया, शुद्ध निश्चयनय का उपदेश नहीं दिया गया । आज अभक्ष्य के भक्षण करने वाले तथा सप्त व्यसन के सेवन करनेवाले को मात्र शुद्ध निश्चयनय का उपदेश दिया जाता है, जिससे वह पाप को पाप नहीं समझता । जिनको अपना हित करना है उनको उपयुक्त आचार्य-वाक्यों पर श्रद्धा करके पुण्योपाजर्जन करना चाहिए किन्तु उस पुण्य से मोक्ष की साधन-भूत सामग्री की इच्छा रखनी चाहिये । इंद्रिय-सुखों के लिये उस पुण्य का उपाजर्जन नहीं करना चाहिए, वह तो उस पुण्य से स्वयमेव ही मिलेगा । बूझ के नीचे बैठने वाले को छाया स्वयमेव मिलती है, उसकी याचना करना वृथा है । निदानसहित पुण्य मोक्षमार्ग में कार्यकारी नहीं, बाधक ही है ।

(१४) सम्यग्दृष्टि को भी पुण्य इष्ट है ।

सम्यग्दृष्टि भी रत्नत्रय की प्राप्ति के लिये बुद्धिपूर्वक पुण्योपाजर्जन करता है । इसको दृष्टांत सहित सिद्ध किया जाता है । दृष्टांत इस प्रकार है—

मनुष्य मुनिदीक्षा के समय सर्व-उपधि के त्याग की प्रतिज्ञा करता है, किन्तु संयम के साधन-भूत शरीर रूपी उपधि का वह त्याग नहीं कर सकता इसलिए संयम के साधनभूत शरीर की स्थिति के लिये मुनि को आहार आदि ग्रहण करने का निषेध नहीं है तथापि शरीर और विषय कषायको पुष्ट करने के लिये आहार आदि ग्रहण करने का निषेध है । इस सम्बन्ध में आर्ष वाक्य इस प्रकार है—

'मोक्षमुखाभिलाषिणां निश्चयेन देहादिसर्वसगपरित्याग एवोचितः ।' प्रवचनसार गा० २२४ टीका

अर्थात्—मोक्ष के इच्छुक मुनियों को शरीर आदि सर्व परिग्रह का त्याग करना उचित है ।

'यो हि नामाप्रतिषिद्धोऽस्मिन्नुपधिरपवादः स खलु निखिलोऽपि धामभ्यपर्यायसहकारिकारणस्वेनोपकारक-स्वाहुपकरणभूत एव न पुनरन्यः । तस्य तु विशेषाः सर्वाहार्यर्वाजितसहजरूपापेक्षितयथाजातरूपत्वेन बहिरंगलिंगभूताः कायपुद्गलाः । (प्रवचनसार गाथा २२५ टीका)

अर्थात्—जो अनिषिद्ध (जिनका निषेध नहीं है ऐसी) उपधि (परिग्रह) है, वह अपवाद है, वास्तव में वह सभी उपधि मुनिअवस्था की सहकारीकारण-भूत उपकार करने वाली होने से उपकरण रूप है, वह उपधि पीद्गलिक शरीर है, क्योंकि वह शरीर यथाजातरूप बहिरंग लिंग का कारण है ।

एतद्व्रत्नत्रयीपात्रं नांगरयंगं विनाऽज्ञानम् ।

पुण्यत्तत्त्वेन सिद्धपर्यं स्वार्थं शो हि मूर्खता ॥५१९६॥ (आचारसार)

अर्थ—यह शरीर रत्नत्रय धारण करने का पात्र है और वह बिना भोजन के ठहर नहीं सकता अतएव रत्नत्रय को सिद्ध करने के लिये इस शरीर का पालन करना भी आवश्यक है । क्योंकि अपने स्वार्थ से अष्ट होना भी तो मूर्खता है । अर्थात् इस शरीर के द्वारा संयम व तपश्चरण कर मोक्ष प्राप्त करना आवश्यक है, इसलिये इस शरीर की रक्षा करना भी आवश्यक है ।

‘मोक्षस्य कारणमभिष्टुतमत्र लोके तद्द्वार्यंते मुनिभिरङ्गबलात्तदन्नात् ।’ (प० न० पं० २१०)

अर्थात्—लोकमें मोक्षके कारणभूत जिस रत्नत्रय की स्तुति की जाती है वह मुनियों के द्वारा शरीर की शक्ति से धारण किया जाता है । वह शरीर की शक्ति भोजन से प्राप्त होती है ।

इस सब का तात्पर्य यह है कि मुनि बुद्धिपूर्वक जो आहार के लिये चर्चा करते हैं, वह चर्चा यदि संयम और तप की वृद्धि की दृष्टि से (शरीर को आहार देने के लिये) की जाती है तो अल्प लेप (अल्पकर्म) बन्ध होते हुए भी निषिद्ध नहीं है; और यदि वह चर्चा शरीर को तथा इन्द्रियों को पोषण के लिए की जाती है तो वह निषिद्ध है । संयम और तप के लिए शरीर-पालन करने का निषेध नहीं है, किन्तु विषयभोगों के लिए शरीर-पालन करने का निषेध है । शरीर पालन का सर्वथा निषेध नहीं है । यदि कोई एकान्तमिथ्यादृष्टि अल्प लेप के भय से अथवा शरीर को काराग्रह जानकर शरीर का पालन छोड़ दे तो वह संयम से भ्रष्ट होकर संसार में भ्रमण करेगा । कहा भी है—

‘वैशकालज्ञस्यापि वासवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहार-विहारयोर्ल्पलेपभयेनाप्रवर्तमानस्यातिकर्कशाचरणो-
भूयाक्रमेण शरीरं पातयित्वा सुरसोकं प्राप्योद्धान्तसमस्तसंयमामृतभारस्य तपसोऽनवकाशतयाशक्यप्रतिकारो महान्
लेपो भवति, तन्न श्रेयानपवादनिरपेक्ष उत्सर्गः । [प्रवचनसार २३१ टीका]

देश व काल का जानने वाला मुनि भी यदि अल्प कर्मबन्ध के भय से आहार-विहार न करे तो कर्कश आचरण के द्वारा अकालमरण करके देवगति में उत्पन्न होगा, जिससे उसका समय असमय में छूट जायगा । देवगति में संयम व तप के अभाव में महान् कर्मबन्ध होगा जिसका प्रतिकार होना अशक्य है ।

जिस प्रकार शरीर का पालन तप, संयम के लिये भी हो सकता है और विषय-भोगों के लिये भी हो सकता है । उसी प्रकार पुण्योपाजन व संचय, तप व संयम के लिए भी हो सकता है और सांसारिक सुख व विषय-भोगों के लिए भी हो सकता है ।

सम्यग्दृष्टि मुनि जिस प्रकार संयम व तप के लिए शरीर का पालन करता है, संयम व तप के लिए पुण्य का उपाजन व संचय करता है, क्योंकि उस पुण्योदय से रत्नत्रय की प्राप्ति होती है । सिद्धान्त चक्रवर्ती श्री वीरवर्दि आचार्य ने कहा भी है—

नेकासंघिकलाक्षपंचकरणासंज्ञजैर्जातु या,
लब्धा बोधिरगण्यपुण्यवशतः संपूर्णपर्याप्तिभिः ।
मभ्यैः संज्ञिभिराप्तलब्धिविधिभिः कश्चित्कदाचित्कचित्
प्राप्या सा रमतां मदीयहृदये स्वर्गापवर्गप्रदा ॥१०॥४३॥ (आचारसार)

रत्नत्रय की प्राप्ति को बोधि कहते हैं । यह बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति एकेन्द्रिय, विकलत्रय व असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के नहीं होती है । जिन जीवों के महापुण्य का उदय होता है, पर्याप्तिर्या पूर्ण हो जाती हैं, जो संज्ञी पंचेन्द्रिय होते हैं, मध्य होते हैं, जिन्हें लब्धियां प्राप्त हो जाती हैं, ऐसे कितने ही जीवों को, किसी काल और किसी क्षेत्र में उस रत्नत्रय की प्राप्ति होती है । वह रत्नत्रय स्वर्ग व मोक्ष को देनेवाला है । अर्थात् महान् पुण्य के बिना रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होती है ।

चूँकि महान् पुण्य से रत्नत्रय की प्राप्ति होती है, इसलिए सम्यग्दृष्टि विचार करता है कि यह पुण्य मेरे किस प्रकार हो सकता है। श्री जिनसेन आचार्य ने कहा भी है—

उपायत्रिचयं तासां पुण्यनामात्मसात्क्रिया ।

उपायः स कथं मे स्यादिति सङ्कल्पसन्ततिः ॥२३॥४१॥ (हरिवंश पुराण)

अर्थ—पुण्यरूप योग-प्रवृत्तियों को अपने अधीन करना उपाय है। वह उपाय अर्थात् पुण्यरूप योग-प्रवृत्तियाँ मेरे किस प्रकार हो सकती हैं, इस प्रकार के संकल्पों की जो सन्तति है, वह उपाय-विचय दूसरा धर्म ध्यान है।

जिस प्रकार मनुष्य-शरीर के बिना संयम व तप नहीं हो सकता उसी प्रकार महान् (सातिशय) पुण्योदय के बिना संयम व तप नहीं हो सकता। सम्यग्दृष्टि मुनि जिस प्रकार रत्नत्रय के लिए शरीर का पालन करता है, उसी प्रकार रत्नत्रय के लिए पुण्य-उपार्जन करता है।

आर्षं ग्रन्थों में विषय-भोगों के लिए शरीर-पालन का निषेध है उसी प्रकार विषय-भोगों की इच्छा से पुण्य-उपार्जन का निषेध है किन्तु रत्नत्रय के लिए शरीर-पालन व पुण्यउपार्जन का निषेध नहीं है अपितु उपर्युक्त आर्षं-ग्रन्थों में उसका विधान है। अल्प-लेप के भय से यदि पुण्योपार्जन नहीं किया जायगा तो पुण्याभाव में रत्नत्रय की प्राप्ति न होने से संसार में भ्रमण करना पड़ेगा।

मनुष्यजाती सगवत्प्रणीत-धर्माभिलाषो मनसश्च शांतिः ।

निर्वाण-भक्तिश्च दया च दानं प्रकृष्टपुण्यस्य भवन्ति पुंसः ॥८॥१६॥ (वरांगचरित)

मनुष्य पर्याय में जन्म धारण करके जिनेन्द्र भगवान के द्वारा निरूपित धर्म की अभिलाषा, मनकी शांति, निर्वाण की इच्छा, दान तथा दया के परिणाम महान् पुण्यशाली पुरुष के होते हैं।

चूँकि पुण्योदय से जैन-धर्म में प्रवृत्ति होती है इसीलिए आचार्योंने पुण्योपार्जन की प्रेरणा की है।

परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्यपापयोः प्राज्ञाः ।

तस्मात् पापापचयः पुण्योपचयश्च सुविधेयः ॥२६॥ (आत्मानुशासन)

श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है—जीव के परिणाम ही पुण्य और पाप के कारण हैं। इसलिए पाप का नाश करते हुए भलेप्रकार पुण्य का संचय करना चाहिए।

सम्यग्दृष्टि को जिनवाणी पर अटूट श्रद्धा होती है, अतः वह उपर्युक्त उपदेशानुसार पुण्य-संचय करता है। सम्यग्दृष्टि पुण्य को सर्वदा हेय नहीं समझता।

(१५) पुण्य-पाप सम्बन्धी विशेष प्रश्नोत्तर

शंका—पुण्य किसे कहते हैं ?

समाधान—‘पुनात्प्रात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम् ।’ अर्थात् जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है, वह ‘पुण्य’ है।

शंका—‘पुण्य’ ‘धर्म’ है या ‘अधर्म’ ?

समाधान—पुण्य धर्म है। 'स्याद्धर्मस्त्रियां पुण्यं श्रेयसी सुकृतं वृषः।' अर्थात् 'धर्म' 'पुण्य' 'श्रेयस्', 'सुकृत' और 'वृष' ये पाँचों एकार्थवाची शब्द हैं। श्री कुन्दकुन्द भगवान ने भी 'पुण्य' को 'धर्म' कहा है। (प्र.सा. गाथा ११) लोक व्यवहार में भी 'पुण्य' को 'धर्म' सब ही कहते हैं। 'पुण्य करो' 'धर्म करो', ऐसा कहा जाता है। 'पुण्य' को 'अधर्म' कहीं पर नहीं कहा गया और न ऐसा कहना उचित है।

शंका—पाप किसे कहते हैं ?

समाधान—'पाति रक्षति आत्मानं शुभाशिति पापम्।' अर्थात् जो आत्मा को हित से बंचित रखता है वह 'पाप' है।

शंका—पाप क्या धर्म है या अधर्म ?

समाधान—पुण्य से विपरीत होने के कारण 'पाप' अधर्म है, धर्म नहीं है।

शंका—वास्तविक पुण्य और पाप क्या है ?

समाधान—सम्यक्त्व अर्थात् सम्यग्दर्शन वास्तविक पुण्य है और मिथ्यात्व अर्थात् मिथ्यादर्शन वास्तविक पाप है।

न सम्यक्त्वं समकिञ्चित्, त्रैकाल्ये त्रिजगत्पि ।

श्रेयोऽश्रेयश्चमिथ्यात्व-समं नान्यत्तनुभूताम् ॥

अर्थात्—तीनलोक तीनकाल में सम्यक्त्व के समान कोई पुण्य (श्रेय) नहीं है। और मिथ्यात्व के समान कोई पाप नहीं है।

शंका—मिथ्यात्व पाप क्यों है ?

समाधान—जिससमय मनुष्य मदिरापान करके नशे में भरपूर हो जाता है उस समय मनुष्य को अपने हिताहित का विवेक न रहने से मनुष्य अपने हितसे बंचित रहता है। उससमय वह अपने आपको भी भूल जाता है। अर्थात् 'मैं कौन हूँ' इस बात का भी उसको ज्ञान नहीं रहता। उसीप्रकार मिथ्यात्वकर्मादय से जब यह आत्मा मोहित हो जाती है तब इसको अपने हिताहित का विवेक नहीं रहता और अपने आपको भूल जाने से उसको यह भी ज्ञान नहीं रहता कि 'मैं कौन हूँ।' जो आपे को भुला दे ऐसा जो मिथ्यात्व अर्थात् मोह उससे अधिक कोई पाप नहीं है। अतः मोह ही वास्तविक पाप है।

शंका—सम्यक्त्व पुण्य क्यों है ?

समाधान—जब नशा कुछ कम होता है तब वह औषधि आदि को ग्रहण करता है जिससे मदिरा का प्रभाव दूर होने पर वह मनुष्य होश में आता है। होश में आने पर अपने व पराये की पहिचान होती है और हिताहित का ज्ञान होता है। होश आने पर ही वह अहित से बचकर हित में प्रवृत्ति कर सकता है। इसी प्रकार जब मोह का मंद उदय होता है तब यह आत्मा तत्त्वोपदेशरूपी औषधि को ग्रहण करता है जिससे मोहोदय दूर होता है अर्थात् अभाव होता और मोहरूपी नशा दूर होता है। तब सम्यक्त्व हो जाने से उस आत्मा को स्व और पर की पहिचान होती है और हिताहित का विवेक जागृत होता है, जिससे रागादि और उनके कारणों से बचकर वीतरागता की ओर बढ़ सकता है। अतः सम्यक्त्व वास्तविक पुण्य है जिससे स्व और पर का यथार्थ निश्चय अर्थात् अज्ञान होता है।

शंका—यदि सम्यक्त्व पुण्य है तो त. सू. अ. न सू. २५ में 'सातावेदनीय', 'शुभआयु' 'शुभनाम' और 'शुभगोत्र' को पुण्य क्यों कहा ?

समाधान—आत्मा की पवित्रता का नाम 'पुण्य' है। 'वीतरागता' आत्मा की पवित्रता है जो मोहनीयकर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से होती है। शुभआयु, शुभनाम और शुभगोत्र भी मोहनीयकर्म के क्षय, उपशम व क्षयोपशम में सहकारी कारण हैं, क्योंकि, मनुष्यायु, मनुष्यमति आदि व उच्चगोत्र के उदय के बिना जीव संयम धारण नहीं कर सकता और जो संयमी होता है उसके शुभआयु, शुभनाम व शुभगोत्र का उदय अवश्य होता है। अतः शुभायु आदिक आत्मा की पवित्रता में निमित्तकारण होने से 'पुण्य' कहे गये हैं।

शंका—इस विषय में क्या कोई आगम प्रमाण भी है ?

समाधान—हाँ, आगमप्रमाण है। जो इसप्रकार है—

'द्रव्याधिकनयापेक्षयामङ्गलपर्यायपरिणतजीवस्य पर्यायाधिकनयापेक्षया केवलज्ञानादिपर्यायाणां च मङ्गल-
स्वाभ्युपगमात् । केन मङ्गलम् ? औदयिकादिभावैः ।'

अर्थात्—द्रव्याधिकनय की अपेक्षा मंगलपर्याय से परिणत जीव को और पर्यायाधिकनय की अपेक्षा केवल-
ज्ञानादि पर्यायों को मंगल माना है। किसकारण मंगल उत्पन्न होता है? औदयिकआदि भावों से मंगल होता है।
यहाँ पर औदयिकभाव से प्रयोजन शुभआयु आदि पुण्य-प्रकृतियों के उदय से होनेवाले औदयिकभावों से है।

—जं. ग. 28 फरवरी 1963, पृ. 7

शंका—'साता वेदनीय' को पुण्य क्यों कहा है ?

समाधान—सयोगकेवली के ईर्यापथआस्रव के द्वारा अधिक सुख का उत्पादक 'अत्यधिक साता' का एक-
समय स्थितिवाला उदयस्वरूप बंध होता है। वह साता ऐसे सुख को उत्पन्न करती है जो सुख देव और मनुष्य से
अधिक है और सबप्रकार की बाधाओं से दूर है। अतः सातावेदनीय पुण्य है।

शंका—इसमें प्रमाण क्या है ?

समाधान—षट्खंडागम पुस्तक १३ पत्र ५१ इसमें प्रमाण है।

शंका—सकषायी जीवों के 'सातावेदनीय' को पुण्य क्यों कहा है ?

समाधान—जीव का स्वभाव सुख है। उस सुख स्वभाववाले जीवको दुःख उत्पन्न करनेवाला कर्म
असातावेदनीय है। अर्थात्—असातावेदनीयकर्म जीव के सुखस्वभाव का घातकर दुःख उत्पन्न करने से पापप्रकृति है।
दुःख के प्रतिकार करने में कारणभूत सामग्री को मिलानेवाला और दुःख के उत्पादक कर्म (असातावेदनीय) की
शक्ति का विनाश करने वाला सातावेदनीय कर्म है। जीव के सुख स्वभाव का घात करने वाले कर्म (असाता-
वेदनीय) की शक्ति का नाश करने वाला (साता वेदनीय) पुण्य के अतिरिक्त क्या हो सकता है ? अथवा जो सुख
का वेदन करती है वह साता वेदनीय है, अतः साता वेदनीय भी पुण्य है।

शंका—इसमें प्रमाण क्या है ?

समाधान—षट्खंडागम पुस्तक १३ पत्र ३५७ व पुस्तक ६ पत्र ३५-३६ इसके प्रमाण हैं।

शंका—समयसार 'पुण्य' 'पाप' अधिकार में 'पुण्य' को कुशील सुवर्ण की बेड़ी आदि कहा है। फिर 'पुण्य' को धर्म कैसे कहते हो ?

समाधान—यह सत्य है कि समयसार में 'पुण्य' को कुशील आदि नामों से पुकारा है, किंतु यह विचार करो कि कौनसे पुण्य को और क्यों कुशील कहा है ?

प्रति शंका—सब ही पुण्य को कुशील कहा, क्योंकि, वह संसार का कारण है।

समाधान—पुण्य संसार का कारण नहीं है। यदि पुण्य संसार का कारण होता तो अकषायी जीवों के एक समय की स्थिति वाला पुण्य क्यों बंधता और क्षणिक श्रेणी वाले सूक्ष्म साम्प्रदाय गुणस्थान के अन्तिम समय में सबसे अधिक अनुभाग वाला पुण्य क्यों बंधता। शुद्धोपयोग से, जैसे पाप के अनुभाग का घात होता है, वैसे ही पुण्य के अनुभाग का घात होना चाहिये था, किन्तु पुण्य के अनुभाग का घात होता नहीं है। अतः पुण्य संसार का कारण नहीं है।

शंका—संसार का क्या कारण है ?

समाधान—संसार का कारण मिथ्यात्व है, जो महान् पाप है।

शंका—फिर पुण्य को कुशील व बेड़ी क्यों कहा है ?

समाधान—जो पुण्य मिथ्यात्व की संगति कर लेता है अर्थात् मिथ्यादृष्टि के पुण्य को कुशील व बेड़ी कहा है। जिसप्रकार भद्र पुरुष भी चोरों की संगति के कारण चोर माना जाता है।

शंका—समयसार में तो सामान्य पुण्य को कुशील कहा है।

समाधान—समयसार, पुण्य-पाप अधिकार गाथा १५२-१५४ व १५६ से स्पष्ट है कि वहाँ पर मिथ्या-दृष्टि के पुण्य से प्रयोजन है। पुण्य उदय से मिलनेवाली सामग्री का भोग सम्यग्दृष्टि के निर्जरा का कारण है (समयसार गाथा १९३) फिर सम्यग्दृष्टि का पुण्य कैसे कुशील व बेड़ी हो सकता है।

शंका—यदा मिथ्यादृष्टि का पुण्य सर्वथा संसार का ही कारण है ?

समाधान—मिथ्यादृष्टि का पुण्य सर्वथा संसार का ही कारण है, किसी अपेक्षा मोक्षमार्ग में लगने में सहायक भी है। जैसे "पुण्य उदय तं सुगति विषं जाय है, वहाँ धर्म के निमित्त पाईए हैं। देवगति में उपजे। नन्दीश्वरद्वीप में अकृत्रिम जिनबिम्ब की पूजा का अवसर पाय है, जिनके अवलोकन से सम्यक्त्व होय जाय है। साक्षात् केवली की दिव्यध्वनि सुने है। पाप तं छूट पुण्य विषं लागे है। कषाय मंत्र होय है कषाय की मंत्रता से कर्म शक्तिहीन हो जाय तो मोक्षमार्ग को भी प्राप्त होय जाय। किन्तु ऐसा नियम नहीं है।" ऐसा पं० टोडर-मलजी का अभिप्राय है।

शंका—यदि सम्यग्दृष्टि का 'पुण्य' 'धर्म' है तो वह पुण्य की बाँछा क्यों नहीं करता ?

समाधान—पुण्य की बात तो दूर रही, सम्यग्दृष्टि मोक्ष की भी इच्छा नहीं करता, क्योंकि 'इच्छा' 'परिग्रह' है अज्ञानमयभाव है। सम्यग्दृष्टि के तो ज्ञानभाव है। इसलिये अज्ञानमय भाव इच्छा का सम्यग्दृष्टि के अभाव है। (समयसार गाथा २१०)

नोट—‘पुण्य-पाप’ पर यह भी एक दृष्टि है, किन्तु एकान्तपक्ष ग्रहण करना उचित नहीं।’ जिस ग्रन्थ में जिस अपेक्षा से कथन हो उस ग्रन्थ में उस अपेक्षा से ‘पुण्य-पाप’ का अर्थ करना; सर्वथा एक ही पक्ष को पकड़कर अर्थ करना उचित नहीं है।

—जं. ग. ७ मार्च १९६३ पृ. ७

(१६) क्या पुण्य विष्ठा है ?

शंका—क्या पुण्य विष्ठा है ? समयसार प्रवचन पुस्तक १ पृ० १२५ पर पुण्य के सम्बन्ध में निम्न-प्रकार कहा है—

‘मनुष्य अनाज खाता है, उसकी विष्ठा भूँड नामक प्राणी खाता है। ज्ञानी ने पुण्य को—जगत की वृत्तको विष्ठा समझकर त्याग दिया है, उधर अज्ञानी जन पुण्य को उसमें से अच्छा मानकर आवर करता है। इसप्रकार ज्ञानियों के द्वारा छोड़ी गई पुण्यरूप विष्ठा जगत के अज्ञानी जीव खाते हैं।’ क्या यह सही है ?

समाधान—यदि वास्तव में पुण्य विष्ठा होता तो आचार्य सम्यग्दृष्टिजीव को पुण्य न कहते। श्री स्वामि-कार्तिकेय आचार्य ने पापजीव और पुण्यजीव का लक्षण निम्नप्रकार कहा है—

जीवो वि हवे पाबं अइ-तिव्वकसाय-परिणदो-णिच्चं ।

जीवो वि हवइ पुण्णं उवसमसावेण संजुसो ॥१९०॥

अर्थ—जब यह जीव अतितीव्र कषायरूप परिणमन करता है तब यह जीव पापरूप होता है और जब उपशमभावरूप परिणमन करता है तब पुण्यरूप होता है।

जीविदरे कम्मचये पुण्णं पावोत्ति होवि पुण्णं तु ।

सुहपयडीणं दव्वं, पाव अमुहाण दव्वं तु ॥६४३॥ गो. जी.

इस गाथा में श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती ने बतलाया है कि मिथ्यादृष्टि और सासादनगुणस्थानवाले जीव पाप हैं, मिश्रगुणस्थानवाले जीव पुण्य और पाप के मिश्ररूप हैं। तथा असंयत से लेकर सभी संसारी जीव पुण्यरूप हैं।

इस गाथा में क्षपकश्रेणीवाले जीवों को भी पुण्य कहा है तो क्या वे विष्ठा हैं। अर्थात् क्षपकश्रेणीवाले जीव पुण्यरूप होते हुए भी विष्ठा नहीं हैं।

श्री कुन्वकुन्वाचार्य ने प्रवचनसार गाथा ४५ में ‘पुण्णफला अरहंता’ अर्थात् पुण्य का फल अरहंतपद है। तो क्या विष्ठा का फल अरहंतपद है। अर्थात् अरहंतपद विष्ठा का फल नहीं है।

अमुहस्स काररोहिं य कम्मच्छवकेहि णिच्च वट्ठंती ।

पुण्णस्स कारणाइं बंधस्स भयेण णिच्छंती ॥३९७॥

ण सुणइ इय जो पुरतो जिणकहियपयत्थणवसरूबं तु ।

अप्पाणं सुयणमज्जे हासस्स य ठाणयं कुणई ॥३९८॥ भावसंग्रह

अर्थात्—गृहस्थ अशुभकर्मों के ग्राने के कारण ऐसे असि, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि छहों कर्मों में लगा रहता है तथापि कर्मबन्ध के भय से पुण्य के कारणों को करने की इच्छा नहीं करता, तो वह पुरुष भगवान् जिनेन्द्र-देव के कहे हुए नौ पदार्थों के स्वरूप को भी नहीं मानता तथा वह पुरुष अपने को सज्जन पुरुषों के मध्य में हँसी का स्थान बनाता है ।

सम्माविट्ठी पुण्णं ण होइ संसार कारणं णियमा ।

मोक्खस्स होइ हेउं जइ वि णियमाणं ण सो कुणई ॥४०४॥ भावसंग्रह

अर्थ—सम्यग्दृष्टि के द्वारा किया हुआ पुण्य संसार का कारण कभी नहीं होता ऐसा नियम है । यदि सम्यग्दृष्टिपुरुष के द्वारा किये हुए पुण्य में निदान न किया जाय तो पुण्य नियम से मोक्ष का कारण होता है ।

अकइयणियणसम्मो पुण्णां काऊण णाणचरणट्ठी ।

उप्पज्जइ दिवल्लोए सुहपरिणामो मुत्तिसो वि ॥४०५॥ भावसंग्रह

अर्थ—जिस सम्यग्दृष्टि के शुभपरिणाम हैं, शुभलेश्या हैं तथा जो सम्यग्ज्ञान और चारित्र को धारण करता है ऐसा सम्यग्दृष्टिपुरुष यदि निदान नहीं करता तो वह पुरुष मरकर स्वर्ग लोक में उत्पन्न होता है ।

स्वर्गलोक में देवों का उत्तम, दिव्य, सुन्दर शरीर मिलता है । वहाँ पर उत्तम भोगोपभोग की सामग्री मिलती है । तब वह देव अपने अवधिज्ञान के द्वारा जान लेता है कि यह सब सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्र का फल है [४०६-४१८] ।

पु णरवि तमेव धम्मं मणसा सहहइ सम्मदिट्ठी सो ।

वंदेइ जिणवरणां णंदिसर पट्ठइ सव्वाइ ॥४१९॥

अर्थ—तदनन्तर वह सम्यग्दृष्टिदेव फिर भी अपने मन में उसी धर्म का श्रद्धान करता है । पंचमेरु नंदीश्वर-द्वीप आदि के अकृत्रिमचैत्यालयों की वंदना करता है और विदेहक्षेत्र में साक्षात् जिनेन्द्रदेव की वंदना करता है ।

इय बहुकालं सम्मे भोगं भुंजंतु विविहरमणीयं ।

चइऊण आउसखए उप्पज्जइ मच्चलोयम्मि ॥४२०॥

अर्थ—इसप्रकार बहुत कालतक स्वर्ग के अनेकप्रकार के सुन्दर भोगों का अनुभव करता है, तदनन्तर आयु पूर्ण होने पर वहाँ से च्युत होकर इस मनुष्यलोक में उत्पन्न होता है ।

मनुष्यलोक में भी वह बहुत महत्वशाली उत्तमकुल में उत्पन्न होता है तथा नानाप्रकार के अनुपमभोगों का अनुभव करता है और संसार, शरीर, भोगों से विरक्त होकर संयम धारण करता है । [४२१-४२२]

लद्धं जइ चरमतण्णु चिरकय पु ण्णेण सिज्जए णियमा ।

पाविय केवल्लणाणं जहखाइयसंजमं सुद्धं ॥ ४२३ ॥

तम्हा सम्माविट्ठि पुण्णं मोक्खस्स कारणं हवई ।

इय णाऊण गिहत्थो पु ण्णं चायरउ जत्तेण ॥ ४२४ ॥ भावसंग्रह

अर्थ—यदि वह जीव अपने चिरकाल के संचित किये हुए पुण्यकर्म के उदय से चरमशरीरी हुआ तो वह जीव यथाख्यातनामा शुद्धचारित्र्य को धारण कर तथा केवलज्ञान को पाकर नियम से सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेता है। ऊपर लिखे इस कथन से यह सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टि का पुण्य मोक्ष का कारण होता है। यही समझकर गृहस्थ को यत्नपूर्वक पुण्य का उपार्जन करते रहना चाहिये।

इसप्रकार आचार्यों ने सम्यग्दृष्टि को पुण्य उपार्जन का उपदेश दिया है, क्योंकि-पुण्य मोक्ष का कारण है।

जो अभव्य हैं उनको भी पुण्य उपार्जन करना चाहिये, क्योंकि उनको नरकमति के दुःख नहीं होंगे। जैसे आतप में खड़ा हुआ मनुष्य दुःख पावे है वैसे ही हिंसा आदि पाप करनेवाला जीव नरक के दुःख पाता है। जैसे छाया में खड़ा हुआ मनुष्य सुख पाता है वैसे ही पुण्य करनेवाला जीव स्वर्गादि के सुख पाता है। इसलिये भी पाप से पुण्य श्रेष्ठ ही है। मोक्षपाहुड़ गाथा २५।

इसप्रकार पुण्य भव्य के लिये मोक्ष का कारण है और अभव्य के लिये संसारसुख का कारण है। किसी भी आचार्य ने पुण्य को विद्या नहीं कहा है।

प्रस्ताव के उत्तर में जो आधार दिये गये हैं उनमें कोई भी आधार ऐसा नहीं है जिसमें पुण्य को विद्या कहा गया हो।

शुभभाव मात्र आस्रव है ऐसा भी किसी आचार्य ने नहीं कहा है। भावपाहुड़ गाथा ७६ में धर्मध्यान को शुभभाव कहा है। श्री उमास्वामी आचार्य ने मो. शा. अ. ९ सूत्र २९ में धर्मध्यान को मोक्ष का कारण कहा है।

श्री वीरसेनाचार्य ने ध. पु. १३ पृ. ८१ पर 'मोहणीयविनासो पुण्य धम्मज्जाणफलं' शब्दों द्वारा 'मोहनीय' का विनाश करना धर्मध्यान का फल है। ज. ध. पु. १ पृ. ६ पर शुभभाव से संवर, निर्जरा कही है। इन आर्षग्रन्थों के विपरीत सोनगढ़वाले शुभभाव को मात्र आस्रव मानते हैं।

उत्तर के आधार नं० ३ में समयसार गा. १ श्री जयसेनाचार्य की टीका, अध्यात्मतरंगिणी चतुर्विंशति-स्तव के आधार पर द्रव्यकर्म, नोकर्म, भावकर्म को मल सिद्ध किया गया है यहाँ पर मल का अर्थ विद्या नहीं है। दूसरे पुण्यभाव न द्रव्यकर्म है, न नोकर्म है और न भावकर्म है। चारित्र्यमोहनीयकर्म के उदय से होनेवाले भावों की भावकर्म संज्ञा है चारित्र्यमोहनीय के उदय से होने वाले भाव सब पापरूप हैं; क्योंकि वे मिथ्यात्व, कषायरूप होते हैं। घातियाकर्म भी सब पापरूप हैं।

समयसार गाथा ७२ में आस्रव से अभिप्राय क्रोधादि कषायों से है, जैसा कि श्री अमृतचन्द्राचार्य की टीका के "क्रोधादिभ्य आस्रवेष्वो" इन शब्दों से स्पष्ट है। क्रोधादिकषाय तो पापरूप हैं उन्हीं को गाथा ७२ में अशुचि कहा है। पुण्य को अशुचि नहीं कहा है। पुण्यास्रव तो तेरहवेंगुणस्थान में भी श्री अरहंत भगवान के होता है।

समयसार गाथा ३०६ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने "प्रतिक्रमणादिः स सर्वापराधविषयोषाकर्षण-समर्थत्वेनामृतकुंभोऽपि।" अर्थात् "प्रतिक्रमणादि सब अपराधरूपपने से विषयोष के क्रम को मेटने में समर्थ होने

से अमृतकुम्भ भी है” इन शब्दों द्वारा प्रतिक्रमण को अमृतकुम्भ भी कहा है, किन्तु निर्विकल्पसमाधि में (श्रेणी में) प्रतिक्रमणादि के विकल्प को विषकुम्भ कहा है। किन्तु श्रेणी में शुभ भाव तो रहते हैं, क्योंकि श्री वीरसेनादि आचार्यों ने धर्मद्वयान दसवैगुणस्थानतक बतलाया है। दसवैगुणस्थानतक वीतराग व रागरूप मिश्रितभाव रहते हैं और इस मिश्रितभाव का नाम शुभोपयोग है। यहाँ पर प्रकरणवश संक्षेप में यह बतलाया गया है कि शुभभाव संवर, निर्जरा तथा मोक्ष का भी कारण है।

श्री कुन्वकुन्दाचार्य ने ‘पुण्यका फल अरहंतपद है’ ऐसा प्रवचनसार गाथा ४५ में कहा है। किन्तु सोनगढ़ के नेता उस पुण्य को विष्ठा बतलाते हैं। विष्ठा महान् अपवित्र मल है।

—जं. ग. ६ मई १९६६ पृ. ५

(१७) (१) क्या पुण्यपाप भाव अकेले नहीं होते ?

(२) हिंसा करते समय कसाई के पुण्यबन्ध कहना अनुचित है।

शंका—क्या पुण्य-पाप भाव अकेले नहीं होते ?

समाधान—श्री कानजी स्वामी की पुण्य-पाप-भाव के विषय में त्रिचित्र मान्यता है। ‘मोक्षमार्गप्रकाशक की किरण’ तीसरा अध्याय पृ. १२२ प्रकरण ७२ का शीर्षक इसप्रकार है—“पुण्य-पाप अकेले नहीं होते, धर्म अकेला होता है।” इसको सिद्ध करने के लिये यह लिखा गया है—“यदि मन्दकषायरूप पुण्य सर्वथा न हो (एकान्त पाप ही हो) तो चैतन्य नहीं कर सकता। और वर्तमान में चैतन्य का जितना विकास है वह बंध का कारण नहीं होता। हिंसा करते समय भी कसाई को अल्प-अल्प पुण्यबन्ध होता है। हिंसाभाव पुण्यबन्ध का कारण नहीं है, किन्तु उसी समय चैतन्य का अस्तित्व है—ज्ञान का अंश उस समय भी रहता है, इससे सर्वथा पाप में युक्तता नहीं होती।”

सोनगढ़वालों के इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि सोनगढ़ की मान्यता के अनुसार हिंसा करते समय भी कसाई सर्वथा पाप से युक्त नहीं होता, किन्तु मन्दकषायरूप पुण्य भी होता। यदि मन्दकषायरूप पुण्य सर्वथा न हो (एकान्त से पाप ही हो) तो चैतन्य नहीं रह सकता। इसीलिये यह कहा गया है कि हिंसा करते समय भी कसाई को अल्प-अल्प पुण्यबन्ध होता है।

सोनगढ़ के नेताओं की उपर्युक्त मान्यता आर्षग्रन्थ विरुद्ध है, क्योंकि हिंसा करते समय कसाई के मंद-कषायरूप पुण्य नहीं हो सकता है। यदि कसाई के मंदकषाय हो तो वह हिंसा नहीं कर सकता।

यज्जन्तु यधसंजात-कर्मपाकाच्छरीरिभिः ।

श्वभ्राद्री सहाते दुःखं तद्वक्तुं केन पार्यते ॥८॥१२॥ ज्ञानार्थं

अर्थ—शरीरधारी अर्थात् जीवों के घात करने से पापकर्म उपाज्जन होता है, उस पापकर्म से जीव नरक में जाता है और वहाँ पर जो दुःख भोगने पड़ते हैं वे वचन अगोचर हैं।

नरकआयु का बन्ध तीव्रकषाय के उदय में होता है, मंदकषाय के उदय में नरकायु का बन्ध नहीं होता, उससमय देव, मनुष्यायु का बन्ध होता है।

आउत्स बंध समए सिलो व्व सिलो व्व वेखू मूले य ।

किमिरायकसायाणं उदयम्मि बंधेवि णिरयाऊ ॥२॥२९३॥ [ति. प.]

अर्थात्—पत्थर की रेखा के समान क्रोध, पत्थर के समान मान, बाँस की जड़ के समान माया और कुमिरंग के समान लोभ अर्थात् अतितीव्र कषायोदय होने पर नरकायु का बंध होता है ।

इन दोनों गथाओं से यह सिद्ध हो जाता है कि 'कसाई के हिसा करते समय तीव्रकषाय होती है जिससे उसके नरकायु का बंध होता है । मंदकषायरूप पुण्य नहीं होता, क्योंकि मंदकषायरूप पुण्यभाव के समय नरकायु का बंध नहीं होता और न जीवघातरूप हिंसा होती है ।

यद्यपि हिंसा के समय कसाई के शरीर अगुल्लघु, निर्माण आदि ध्रुव बंधनेवाले (निरंतर बंधनेवाली) नामकर्म की कुछ पुण्यप्रकृतियों का भी बंध होता है; जैसा कि गोम्मटसार आदि ग्रंथों में कहा गया है, किन्तु यह पुण्यप्रकृतियों का बन्ध मंदकषाय के कारण नहीं होता है । ध्रुवबन्धप्रकृतियों के कारण उनका बन्ध होता है । तीव्रकषाय होने के कारण उन पुण्यप्रकृतियों का उत्कृष्टस्थितिवन्ध होता है और अनुभागबन्ध अल्प होता है ।

सव्वट्टिदीणमुक्कस्सओ तु उक्कस्ससंकिलेसेण ।

विचरीवेण जहण्णो आउगतिथवज्जियाणं तु ॥१३४॥ गो. क.

अर्थ—तिर्यंच मनुष्य और देव इन तीन आयुओं के सिवाय अन्य सब ११७ प्रकृतियों का उत्कृष्टस्थितिवन्ध उत्कृष्टसंक्लेश (कषायसहित) परिणामों से होता है और जघन्यबन्ध विपरीत परिणामों से (उत्कृष्ट-विशुद्ध अर्थात् मंदकषाय से) होता है ।

सोनगढ़ के नेता हिंसा के समय भी मंदकषायरूप शुभभाव मानते हैं इसीलिये उन्होंने शास्त्रपरिषद् के प्रस्ताव का उत्तर देते हुए जनवरी १९६६ के हिन्दी आत्मधर्म के पृ. ५६२ पर प्रश्नोत्तररूप में लिखा है कि हिंसा के समय अल्प-अल्प स्थिति-अनुभागसहित पुण्य अधातिकर्म बँधते हैं । उनकी ऐसी मान्यता गाथा १३४ गोम्मट-सारकर्मकाण्ड के विरुद्ध है ।

जनवरी ६६ के हिन्दी आत्मधर्म पृ. ५६१ उत्तर पृ. २५ पर जो यह लिखा है "यदि कषायरूप पुण्य सर्वथा न हो (एकांत पाप ही हो) तो चैतन्य नहीं रह सकता ।" यह भी गलत है, क्योंकि चैतन्य जीव का लक्षण है, पारिणामिकभाव है उसका कभी भी अभाव नहीं हो सकता । तीव्रकषायरूप पाप होने पर भी चैतन्यगुण का नाश नहीं होता है । ज्ञान और दर्शन में हानि-वृद्धि ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मोदय से होती है । जिसने कषाय का नाश कर दिया है ऐसे जीव के मति और श्रुत दो ज्ञान संभव हैं और कृष्णलेश्यावाले नारकी के मति श्रुत, अवधि ये तीन ज्ञान होते हैं ।

किसी भी दिग्म्बर जैनाचार्य ने यह नहीं लिखा है कि "हिंसा करते समय कसाई के मंदकषायरूप पुण्य भी होता है, अथवा अकेला पुण्य या अकेला पाप (मंदकषाय या तीव्रकषाय) किसी जीव को नहीं हो सकता, पुण्य, पाप दोनों ही होते हैं, यदि मात्र पुण्य ही हो जाय तो संसार ही नहीं हो सकता । और मात्र पाप ही हो जाय तो चैतन्य का ही सर्वथा लोप हो जाय अर्थात् आत्मा का ही विनाश हो जाय ।" इसके लिये जो आधार दिये गये हैं उनमें भी यह नहीं कहा गया कि अकेला पुण्यभाव या अकेला पापभाव नहीं हो सकता, किन्तु इसके

विपरीत ही कहा गया है। इसलिये सोनगढ़ वालों की यह मान्यता, कि हिंसा करते समय कसाई के अल्प पुण्य होता है, ठीक नहीं है।

—जं. ग. २३ मई १९६६ पृ. ७

- (१८) १. पुण्य व पाप में कथंचित् समानता, कथंचित् असमानता
२. पुण्य की कथंचित् उपादेयता
३. पुण्य मोक्ष का सहकारी कारण है
४. निरतिशय पुण्य भी कथंचित् कदाचित् उत्थान का हेतु है

शंका—समयसार गाथा १४५ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पुण्य और पाप में हेतु आदि की अपेक्षा कोई भेद नहीं बतलाया है किन्तु 'पुण्य का विवेचन' नामक पुस्तक में पुण्य और पाप में भेद बतलाया गया है सो कैसे ?

समाधान—समयसार ग्रन्थ में आत्मा की शुद्धअवस्था की अपेक्षा कथन है।

'शुद्धावस्था समयस्यात्मनः प्राप्तं समयप्राप्तं' समयसार पृ. ५

श्री कुन्वकुन्दाचार्य ने भी कहा है कि इस समयसारग्रन्थ में एकत्वविभक्त आत्मा का कथन करूंगा।

'तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविह्वेण ।'

अर्थ—मैं कुन्वकुन्दाचार्य आत्मा के निजविभव के द्वारा एकत्वविभक्तआत्मा को दिखलाता हूँ।

जो आत्मा एक अभेदरत्नत्रय रूप से परिणत होकर तिष्ठता है तथा मिथ्यात्व, रागादि से रहित है और परमात्मस्वरूप है वह एकत्वविभक्त आत्मा है अर्थात् परमात्मस्वरूप का कथन इस समयसार ग्रन्थ में किया गया है। 'एकत्वविभक्त' अभेदरत्नत्रयैकपरिणतं मिथ्यात्वरारागादिरहितं परमात्मस्वरूपमित्यर्थः।' समयसार पृ. १३

शुद्धात्मा या परमात्मा पुण्य-पाप दोनोंप्रकार के कर्मों से रहित है, अतः समयसार में शुद्धात्मा अथवा परमात्मा की अपेक्षा पुण्य-पाप को समान कहा गया है; किन्तु श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने ही तत्त्वार्थसार में पुण्य और पाप में हेतु आदि की अपेक्षा भेद बतलाया है—

हेतुकार्यं विशेषाभ्यां विशेषः पुण्यपापयोः ।

हेतु शुभाशुभौ भावौ कार्ये चैव सुखामुखे ॥

हेतु और कार्य की विशेषता से पुण्य और पाप कर्म में अन्तर है। पुण्य का हेतु शुभभाव है और पाप का हेतु अशुभभाव है। पुण्य का कार्य सुख है और पाप का कार्य दुःख है।

इसप्रकार विवक्षा भेद से एक ही आचार्य ने पुण्य-पाप को समान भी कहा है और असमान भी कहा है। जो जीव शुक्लध्यान अर्थात् क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ नहीं हो सकते उनके लिए तो पुण्य और पाप असमान है।

‘अत्राह प्रभाकरभट्टः तर्हि ये केचन पुण्यपापद्वयं समानं कृत्वा तिष्ठन्ति तेषां किमिति दूषणं वीक्ष्यते भवद्भिरिति । भगवानाह-यदि शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं त्रिगुप्तिगुप्तधीतरागनिर्विकल्पसमाधिं लब्ध्वा तिष्ठन्ति तदा सम्मतमेव । यदि पुनस्तथाविधामवस्थामलभमाना अपि सन्तो गृहस्थवस्थायां दानपूजादिकं त्यजन्ति तपोधनावस्थायां षडावश्यकारिकं च त्यक्त्वोभयभ्रष्टा सन्तः तिष्ठन्ति तदा दूषणमेवेति तात्पर्यम् ॥२॥५५॥ परमात्मप्रकाश

अर्थ—‘पुण्य-पाप समान है’ यह कथन सुनकर प्रभाकरभट्ट बोला—यदि ऐसा ही है तो जो लोग पुण्य-पाप को समान मानते हैं उनको दोष क्यों देते हो ? तब श्री योगीन्द्रदेव ने कहा यदि गुप्ति से गुप्त शुद्धात्मानुभूति-स्वरूप निर्विकल्पसमाधि में ठहरकर जो पुण्य-पाप को समान जानते हैं तो योग्य है, किन्तु इससे विपरीत जो निर्विकल्पसमाधि को न पाकर भी पुण्य-पाप को समान जानकर गृहस्थवस्था में दान-पूजादि शुभकार्यों को और तपोधन अवस्था में छह आवश्यक कर्मों को छोड़ देते हैं, वे दोनों बातों से भ्रष्ट हैं, अर्थात् निर्विकल्पसमाधि को भी प्राप्त नहीं कर सके और पुण्य को पाप के समान जानकर छोड़ दिया वे निन्दा के योग्य हैं । ऐसा जानना चाहिये ।

वर्तमान पंचमकाल में निर्विकल्पसमाधि अर्थात् शुक्लध्यान अथवा श्रीसीमारोहण तो असम्भव है, क्योंकि हीनसंहनन है तथा प्रारणी दुष्ट चित्तवाले हैं । वर्तमान में मनुष्य धर्मकार्यों से विमुख होते जा रहे हैं, पाप-प्रवृत्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है । जिनका नाम सुनने मात्र से भोजन में अन्तराय हो जाती थी, आज उन्हीं मद्य, मांस आदि का सेवन उच्च कुलों में होने लगा है । सात व्यसन का सेवन दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है । परिणामों में से दयाभाव उठता जा रहा है । जैन लोग शिकार खेलने लगे हैं । कुछ अध्यात्म-एकान्ती ऐसे भी जैन विद्वान हैं जो प्रतिदिन देवदर्शन नहीं करते, रात के भोजन का त्याग नहीं है, अभक्ष्य-भक्षण का विचार नहीं, होटल में चाय आदि लेते हैं । जब जैनसमाज इस तेजी से पतन की ओर जा रहा है तब कुछ विद्वानाभास पुण्य और पाप को समान कहकर और उसका प्रचार करके जैनसमाज का और अपना दोनों का अहित कर रहे हैं ।

शंका—पुण्य और पाप दोनों के अभाव में मोक्ष होता है । अतः पुण्य संबंधी उपादेय कैसे हो सकता है ?

समाधान—जीव की सिद्ध पर्याय ही नित्य है ।

‘सादिनित्यपर्यायाधिको यथा सिद्धजीवपर्यायो नित्यः ।’^१

पर्यायाधिकनय का दूसरा भेद सादि-नित्यपर्यायाधिक है जैसे जीव की सिद्धपर्याय नित्य है । इसी सूत्र से यह भी सिद्ध हो जाता है कि जीव की सिद्धपर्याय के अतिरिक्त अन्य पर्यायें अनित्य हैं नाशवान हैं, अतः जीव की सिद्धपर्याय ही उपादेय है और अन्य पर्यायें नाशवान होने के कारण हेय हैं । इसीलिए श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार के आदि में सर्वसिद्धों को नमस्कार किया है ।

‘वदित्तु सखसिद्धे ध्रुवममलमणोवमं गइं पत्ते ।’

यहाँ सिद्धों को ध्रुव अर्थात् अविनश्वर कहा है ।^२ और ‘अमल’ विशेषण के द्वारा यह बतलाया गया है कि सिद्धभगवान भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्ममल से रहित होने के कारण अमल हैं ।^३

१. आलापपद्धति ।

२. ‘ध्रुवामविनश्वरां ।’

३. ‘भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्ममलरहितत्वेन निर्मला....।’

जिस प्रकार सिद्धों में पुण्य का अभाव है उसी प्रकार उनमें ध्यानका तथा भव्यत्व भावका भी अभाव है ।

‘बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥२॥ औपशमिकादिभव्यत्वानां च ॥३॥’^१

पुण्य नाशवान है, इस अपेक्षा से यदि पुण्य को हेय कहा जाता है तो औपशमिकसम्यक्त्व आदि तथा कारणसमयसार को भी हेय कहना पड़ेगा क्योंकि ये भी विनम्वर हैं । यदि मोक्ष के कारण की अपेक्षा से औपशमिक सम्यक्त्व आदि भावों को तथा कारण समयसार को उपादेय माना जाता है तो पुण्य को भी मोक्ष मार्ग में सहकारी कारण की अपेक्षा से उपादेय मानना पड़ेगा ।

मोक्षमार्ग में पाप बाधक है, अतः वह उपादेय नहीं हो सकता है । पाप के समान पुण्य को भी सर्वथा अनुपादेय मानना उचित नहीं है । जिसप्रकार कारणसमयसार किसी अपेक्षा से उपादेय और किसी अपेक्षा से हेय है, उसीप्रकार सातिशयपुण्य भी मोक्षमार्ग में सहकारीकारण की अपेक्षा से उपादेय है । मोक्ष प्राप्त हो जाने पर कारणसमयसार का अभाव हो जाता है उसीप्रकार मोक्ष प्राप्त होने पर पुण्य का भी अभाव हो जाता है । अतः नाशवान की अपेक्षा से जिसप्रकार कारणसमयसार हेय है उसीप्रकार पुण्य भी हेय है ।

अभी पञ्चमकाल में पुण्य-पाप दोनों से रहित मोक्ष अवस्था तो प्राप्त हो नहीं सकती, क्योंकि शुक्ल-ध्यान का अभाव है ।

अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः ।

धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणीध्यां प्राग्ववतिनाम् ॥^२

इससमय पञ्चमकाल में जिनेन्द्रदेव शुक्ल ध्यान का निषेध करते हैं किंतु श्रेणी से पूर्व में होने वाले धर्मध्यान का अस्तित्व बतलाया है ।^३

धर्मध्यान शुभोपयोग है और पुण्यरूप है । इसप्रकार जिनेन्द्रदेव ने पञ्चमकाल में पुण्य-पाप से रहितावस्था का निषेध करके पुण्य का अस्तित्व बतलाया है ।

अशुभकर्म दुःख उत्पन्न करता है और शुभकर्म सुख उत्पन्न करता है । जो इस अशुभ (पाप) को नाश करने के भाव से तप करते हैं संयम धारण करते हैं ऐसे योगी भी दुर्लभ हैं । जो पुण्य और पाप दोनों ही प्रकार के कर्मों का नाशकर मोक्ष को प्राप्त होते हैं ऐसे योगियों की तो बात ही क्या करनी ? अर्थात् वे वर्तमानकाल व क्षेत्र में असम्भव हैं ।^४ किन्तु अशुभ में (पाप में) प्रवृत्ति करने वाले सुलभ हैं ।

प्राचीन दिग्म्बर जैनाचार्यों का इतना स्पष्ट कथन होने पर भी जो सातिशयपुण्य को सर्वथा अनुपादेय बतलाकर जनता को धर्म से विमुख कर रहे हैं उनकी क्या गति होगी, इसको वे ही जानें ?

निरतिशयपुण्य मुख्यता से संसार का कारण होने से यद्यपि हेय है तथापि दुर्गति से बचाता है, शुभगति में उत्पन्न कराता है जहाँ पर जैनधर्म के समागम का अवसर मिलता रहता है जिससे सम्यक्त्वोत्पत्ति सम्भव है, अतः इस अपेक्षा कथंचित् उपादेय भी है ।

शंका—पुण्य लोने की बेड़ी है और पाप लोहे की बेड़ी है, किन्तु पुण्य और पाप दोनों ही बेड़ी होने से संसार के ही कारण हैं । फिर पुण्य मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है ?

१ मोक्षज्ञातञ्च अध्याय १० ।

२. तत्त्वानुभासन गी० ॥ ८२ ॥

३. सुह धम्मं जिणवटिदेहि ॥ (भावपाहुड गी० ७६) ।

४. अनितगति सामायिक-पाठ श्लोक ॥ ६० ॥

समाधान—श्री अमृतचन्द्राचार्य ने तत्त्वार्थसार ग्रन्थ में कहा है कि पुण्य और पाप दोनों ही संसार के कारण हैं,^१ किन्तु उन्हीं श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने प्रवचनसार गाथा ४५ की टीका में यह कहा है कि अरहंत पद पुण्य रूप कल्प वृक्ष का फल है।^२ यद्यपि एक ही आचार्य के इन दोनों कथनों में परस्पर विरोध दिखलाई देता है तथापि विवक्षा भेद से इन दोनों कथनों में भेद हो सकता है, क्योंकि वीतराग आचार्य के कथनों में परस्पर विरोध नहीं होता है।

पुण्य दो प्रकार का है—एक सातिशयपुण्य और दूसरा निरतिशयपुण्य।^३ इनमें से सातिशयपुण्य तो मोक्ष का कारण और निरतिशयपुण्य मुख्यता से संसार का कारण है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने तत्त्वार्थसार में पुण्य को संसार का कारण कहा है, वह निरतिशयपुण्य की अपेक्षा कथन है। और प्रवचनसार में पुण्य का फल अरहंतपद बतलाया है वह सातिशयपुण्य की अपेक्षा कथन है। इसप्रकार निरतिशयपुण्य और सातिशयपुण्य की विवक्षा भेद होने से उनके फल के कथन में भेद हो गया है। जो निरतिशयपुण्य और सातिशयपुण्य की विवक्षा को नहीं जानते वे ही पुण्य को सर्वथा संसार का कारण कहते हैं।

सातिशयपुण्य मोक्ष का कारण है इस सम्बन्ध में निम्नलिखित आर्षग्रन्थों के कुछ प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं—

“पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्, तत्सद्देहादि ।” सर्वाथसिद्धि

अर्थ—जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है वह पुण्य है, जैसे सातावेदनीयादि अर्थात् पुण्यकर्मप्रकृतियाँ आत्मा की पवित्रता में कारण हैं।

“पुण्यप्रकृत्यस्तीर्थपदादिसुखानयः ।” मूलाचार प्रदीप

अर्थ—पुण्यकर्मप्रकृतियाँ तीर्थकर आदि पदों के सुख को देनेवाली हैं। श्री विद्यानन्द आचार्य ने भी अष्टसहस्री में कहा है—

“मोक्षस्यापि परमपुण्यातिशय चारित्रविशेषात्मकपौरुषाभ्यामेव संभवात् ।” [कारिका ८८ की टीका]

अर्थ—परमपुण्य के अतिशय से तथा चारित्ररूप पुरुषार्थ से इन दोनों से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

यहाँ पर महान् तार्किकाचार्य श्री विद्यानन्द ने यह बतलाया है कि मोक्ष मात्र रतनत्रय से ही नहीं प्राप्त होता है, किन्तु रतनत्रयरूपी पुरुषार्थ को परम पुण्यकर्मोदय की सहकारता की भी आवश्यकता है। इसप्रकार पुण्यकर्म भी मोक्ष प्राप्ति में अत्यन्त उपयोगी है।

इसी बात को पंचास्तिकाय गाथा ८५ की टीका में भी कहा गया है—

“रागादिदोषरहितः शुद्धात्मानुभूतिसहितो निश्चयधर्मो यद्यपि सिद्धगतेरुपादानकारणं भव्यानां भवति तथापि निदानरहितपरिणामोपाजित तीर्थकरप्रकृत्युत्तमसंहननादिविशिष्टपुण्यरूपकर्मोपि सहकारीकारणं भवति ।”

अर्थ—रागादिदोषरहित शुद्धात्मानुभूतिरूप निश्चयधर्म भव्यों को सिद्धगति के लिये यद्यपि उपादान कारण है तथापि निदानरहित परिणामों द्वारा उपाजित तीर्थकरप्रकृति उत्तमसंहनन आदि विशिष्ट पुण्य सिद्धगति के लिये सहकारी कारण है।

१. “संसारकारणत्वस्य द्वयोरप्यविवेकतः । न नाम निश्चयेनास्ति विवेकः पुण्यपापयोः ॥१०४॥

२. “अर्हन्तः खलु सकलसम्पत्कपटिपयस्यपुण्यकल्पपादपकला एव भवन्ति ।” (पयवमसार)

३. “पुण्य पुञ्चाद्यटिया दुविह अयच्छति सतउतीए । मिस्र पउत्तेण कयं विवटीय सम्मजुत्तेण ॥३६६॥”
(भावार्थ)

उत्तमसंहनन, उच्चगोत्र आदि विशिष्ट पुण्यकर्मोदय के बिना आज तक कोई भी जीव मोक्ष नहीं गया और न जा सकता है ।

अतः मोक्ष के लिये पुण्यकर्म की सहकारिता की परम आवश्यकता है ।

जयधवल जैसे महान् ग्रन्थ के कर्ता श्री जिनसेनाचार्य ने महापुराण में यह कहा है कि अरहंतपद और निर्वाणपद की प्राप्ति पुण्यकर्म से होती है ।

पुण्यात् सुरासुरनरोरगभोगसाराः श्रीरायुरप्रमितरूपसमृद्धयो धीः ।

साम्राज्यसैन्द्रमपुनर्भवभावनिष्ठम्, आहंत्यमन्त्यरहिताखिलसौख्यमग्रथम् ॥१६/२७२॥

[महापुराण]

पुण्याच्चक्रधरश्रियं विजयिनीमैन्द्रो च दिव्यश्रियं,

पुण्यात्तीर्थकरश्रियं च परमां नैःश्रेयसीञ्चाश्नुते ।

पुण्यादित्यसुभृच्छ्रियां चतसृणामाविर्भवेद् भाजनं ।

तस्मात्पुण्यमुपार्जयन्तु सुधियः पुण्याञ्जिनेन्द्रागमात् ॥३०/१२९॥ महापुराण

इन दोनों श्लोकों में यह बतलाया गया है कि पुण्यकर्म से चक्रवर्ती, इन्द्र आदि की लक्ष्मी तो मिलती ही है, किन्तु अरहंतपद तीर्थकर की लक्ष्मी तथा निर्वाणपद अर्थात् मोक्षसुख भी पुण्य से मिलता है ।

सम्मादिद्वी पुष्णं ण होइ संसारकारणं णियमा ।

मोक्खस्स होई हेउं जइ वि णियाणं ण सो कुणई ॥ ४०४ ॥

लद्धं जइ चरम तय्य चिरकय पुण्णेण सिज्झए णियमा ।

पाविय केवलणाणं जह्खाइय संजमं सुद्धं ॥ ४२३ ॥

तम्हा सम्मादिद्वी पुष्णं मोक्खस्स कारणं हवई ।

इय णाऊण गिह्त्थो पुष्णं, चायरउ जत्तेण ॥ ४२४ ॥ भावसंग्रह

अर्थ—सम्यग्दर्शित के द्वारा किया हुआ पुण्य नियम से संसार का कारण नहीं होता है । यदि निदान न किया जाय तो वह पुण्य मोक्ष का ही कारण होता है । चिरकाल के संनित किये हुए पुण्य से यदि जीव चरम-शरीरी हुआ तो यथाख्यात-शुद्ध-संयम व केवलज्ञान को पाकर नियम से सिद्ध अवस्था को प्राप्त करता है, क्योंकि सम्यग्दर्शित का पुण्य मोक्ष का कारण होता है, अतः गृहस्थ को यत्नपूर्वक पुण्य का उपार्जन करते रहना चाहिए ।

असुहस्स कारलोहिं य कम्मल्लक्केहि णिच्च वट्टेतो ।

पुण्णस्स कारणाइं बंधस्स ञ्णएण लोच्छंतो ॥ ३९७ ॥

ण मुणइ इय जो पुरिसो जिण कहिय-पयत्थ-णवसरह्वं तु ।

अप्पाणं सुयणमज्जे हासस्स य ठाणयं कुणई ॥ ३९८ ॥ भावसंग्रह

अर्थ—यह गृहस्थ अशुभकर्म के कारणभूत अग्नि, मसि आदि षट्कर्मों को नित्य करता है । यदि कर्मबन्ध के भय से पुण्य के कारणों की इच्छा नहीं करता तो वह पुरुष भगवान् जिनेन्द्रदेव के कहे हुए नौ पदार्थों के स्वरूप की श्रद्धा नहीं करता तथा वह पुरुष अपने को सज्जन पुरुष के मध्य में हँसी का स्थान बनाता है ।

यदि यह कहा जाय कि कर्मबन्धन के इच्छुक देशप्रतियों को मंगल (पुण्य) करना युक्त है, किन्तु कर्मों के क्षय के इच्छुक मुनियों को मंगल करना युक्त नहीं है । सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि पुण्यबन्ध के कारणों के प्रति उन दोनों में कोई विशेषता नहीं है । यदि ऐसा न माना जाय तो जिसप्रकार मुनियों को मंगल

(पुण्य) के परित्याग के लिए यहाँ कहा जा रहा है उसीप्रकार उनके सरागसंयम के भी परित्याग का प्रसंग प्राप्त होता है, क्योंकि देशव्रत के समान सरागसंयम भी पुण्यबन्ध का कारण है। यदि कहा जाय कि मुनियों के सरागसंयम के परित्याग का प्रसंग प्राप्त होता है तो होशो, सो भी बात नहीं है, क्योंकि मुनियों के सरागसंयम के परित्याग का प्रसंग प्राप्त होने से उनके मुक्ति गमन के अभाव का भी प्रसंग प्राप्त होता है।

इसप्रकार इन आर्षग्रन्थों से यह सिद्ध हो जाता है कि सम्यग्दृष्टि के द्वारा किया हुआ सातिशयपुण्य मोक्ष का ही कारण है संसार का कारण नहीं है, किन्तु जो अल्प लेप के भय से सरागसंयम को धारण नहीं करते उनको जिनागम की श्रद्धा नहीं है वे मिथ्यादृष्टि हैं और उनको मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

मंदकषाय के द्वारा किया गया मिथ्यादृष्टि का निरतिशयपुण्य देवगति का साक्षात् कारण होते हुए भी मुख्यतया संसारपरिभ्रमण का कारण है। आर्षग्रन्थों में निरतिशयपुण्य को ही सोने की बेड़ी, संसार का कारण तथा हेय बतलाया गया है, किन्तु कभी-कभी यह निरतिशयपुण्य भी सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण बन जाता है।

निरतिशयपुण्य के कारण नीचदेवों में उत्पन्न होकर जब सौधर्म-इंद्रआदि की महाऋद्धियों को देखकर यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि ये ऋद्धियाँ सम्यग्दर्शन से संयुक्त संयम के फल से प्राप्त हुई हैं, किन्तु मैं सम्यक्त्व से रहित द्रव्यसंयम के फल से वाहनादिक नीचदेवों में उत्पन्न हुआ हूँ तब प्रथम सम्यग्दर्शन का ग्रहण देवधिदर्शन निमित्तक होता है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी कहा है—

वर वयतवेहि सगो मा कुस्खं होउ गिरइ इयरेहि ।

छायातवट्टियाणं पडिवालंताणं गुदभेयं ॥ २५ ॥ (मोक्षपाहुड़)

जैसे छाया का कारण तो वृक्षादिक हैं, तिनिकरि छाया कोई बँटे सो सुख पावे। बहुरि आताप का कारण सूर्यप्रादिक हैं तिनिके निमित्त से आताप होय ता विष बँटे सो दुःख पावे। इनमें बड़ा भेद है। तैसे जो व्रत तपादिक द्रव्यसंयम को आचरे सो पुण्यकरि स्वर्ग का सुख पावे। द्रव्यसंयम को न आचरे, विषय-कषायादि को सर्वे सो पापकरि नरक के दुःख पावे; ऐसे इनमें बड़ा भेद है। निरतिशयपुण्य का फल स्वर्ग में देव होने से भगवान के समवसरण आदिक में जाने का तथा नंदीश्वर द्वीप में पूजन का अवसर मिलता है, जिससे सम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर अनन्तसंसार का छेदकर अर्धपुद्गलपरावर्तन मात्र संसार की स्थिति कर देता है। इसप्रकार निरतिशयपुण्य भी कभी-कभी परम्परामोक्ष का कारण बन जाता है, किन्तु सातिशयपुण्य तो संसार का कारण नहीं है मोक्ष का कारण है। ऐसा श्री कुन्दकुन्दाचार्य, श्री अमृतचन्द्राचार्य, श्री अकलंकदेव, श्री विद्यानन्दआचार्य, श्री वीरसेन, श्री जिनसेन, श्री देवसेनादि आचार्यों ने स्पष्टरूप से कथन किया है।

जो अस्याद्वादी जैनाभासी विद्वान हैं, उनको दृष्टि में उपर्युक्त महानाचार्यों का कथन मिथ्या है, वे तो समस्त पुण्य को संसार का ही कारण मानते हैं। यहाँ तक कि तेरहवेंगुणस्थान में अरहंतों के भी जो पुण्यास्त्रव होता है उसको भी वे अस्याद्वादी संसार का कारण मानते हैं। उनको यह विचार नहीं है कि तत्त्वार्थसार में जो पुण्यास्त्रव को संसार का कारण कहा है वह कौन से पुण्यास्त्रव को संसार का कारण कहा है। उनको यह ज्ञान नहीं है कि मनुष्यपर्याय, उत्तमकुल, दीर्घायु, इन्द्रियों की पूर्णता, जिनपाणों का श्रवणतत्त्वरुचि, मुनिदीक्षा आदि उत्तरोत्तर महान् दुर्लभ परमपुण्य से मिलते हैं। आज पञ्चमकाल में पापप्रवृत्तिवासे जीव तो बहुत हैं, किन्तु पुण्यप्रवृत्तिवाले जीव विरले ही हैं।

—खं. ग. 6 फरवरी 1969, पृ. 9-11

सन्दर्भग्रन्थ सूची

अनंगारधर्माभूत
 अमितगति श्रावकाचार
 अर्थप्रकाशिका
 अष्ट पगहुड़
 अष्टशती
 अष्ट सहस्री
 आचार सार
 आत्मानुशासन
 आदिपुराण
 आप्तपरीक्षा
 आप्तमीमांसा
 आलापपद्धति
 इण्डियन फिलोसोफी
 इष्टोपदेश
 उत्तरपुराण
 उपासकाध्ययन
 एकीभाव स्तोत्र
 कर्मप्रकृतिग्रन्थ (श्वे०)
 कल्पसूत्र (श्वे०)
 कसायपाहुडसुत्त
 कातिकेयानुप्रेक्षा
 क्रियाकोश (दीनतराम)
 क्षत्रचूडामणि
 क्षपणासार
 गणितसार संग्रह
 गुणभद्रश्रावकाचार
 गोम्भटसार जीवकाण्ड
 गोम्भटसार कर्मकाण्ड

चर्चाशतक
 चारित्रसार
 छहडाला (दीनतराम)
 जंबूदीवपण्णत्तिमंग्रहो
 जयधवला टीका
 जिनसहस्रनामस्तोत्र
 जीवनधरचम्पू
 ज्ञानार्णव
 तत्त्वानुशासन
 तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागर)
 तत्त्वार्थवृत्तिपदम् (प्रभाचन्द्र)
 तत्त्वार्थसार
 तत्त्वार्थसूत्र
 तत्त्वार्थभाष्य
 तिलोपण्णत्ती
 त्रिलोकसार
 द्रव्यसंग्रह
 धवला टीका
 ध्यानशतक
 नन्दि आम्नाय पट्टावली
 नयचक्र
 न्यायत्रिन्दु
 न्यायविनिश्चय
 नियमसार
 पंचसंग्रह (प्राकृत)
 पंचसंग्रह (संस्कृत)
 पंचाध्यायी
 पंचास्तिकाय

पद्मनन्दपंचविशतिका
 पद्मपुराण
 परमात्मप्रकाश
 परीक्षामुख
 पाण्डवपुराण
 पार्श्वपुराण
 पुरुषार्थसिद्धयुपाय
 प्रद्युम्नचरित्र
 प्रमेयकमलमार्तण्ड
 प्रमेय रत्नमाला
 प्रवचनसार
 प्रश्नोत्तर श्रावकाचार
 भक्तामरस्तोत्र
 भरतेश वैभव
 भावसंग्रह (वामदेव)
 भावसंग्रह (देवसेन)
 महापुराण
 महाबन्ध
 महावीरपुराण
 मूलाचार
 मूलाचार प्रदीप
 मूलाराधना/भगवती आराधना
 मोक्षमार्गप्रकाशक
 मोक्षशास्त्र
 यशस्तिलकचम्पू
 युवत्यनुशासन
 योगसारप्राभृत (योगेन्दुदेव)
 रत्नकरण्ड श्रावकाचार
 रत्नमाला
 रयणसार
 राजवार्तिक
 लघीयस्त्रयटीका
 लब्धिमार

लाटीसंहिता
 लोकविभाग
 वरांगचरित्र
 वसुनन्दिश्रावकाचार
 बृहद् जैन शब्दार्णव
 बृहद् द्रव्यसंग्रह
 बृहद् नयचक्र
 बृहद् विश्वचरितार्णव
 बृहद् स्वयम्भूस्तोत्र
 व्रतविधान संग्रह
 शान्तिनाथ पुराण
 श्लोकवार्तिक
 षट्खण्डागम
 पङ्गुप्राभृतसंग्रह
 सप्तसंगीतरंगिणी
 समयसार
 समयसारकलश
 समयसार : आत्मख्याति
 समयसार : तात्पर्यवृत्ति
 समाधिशतक
 समीचीन धर्मशास्त्र
 सर्वाभिसिद्धि
 सागारधर्मामृत
 सारसमुच्चय
 सिद्धान्तसारसंग्रह
 सुखबोधाल्ख्यवृत्ति (भास्करनन्दि)
 मुद्रशंनचरित
 सुभाषित रत्नसन्दोह
 सुभाषितावली
 स्याद्वादमञ्जरी
 स्तुतिविद्या
 स्वरूपसम्बोधन
 हरिवंशपुराण



परिशिष्ट-२

शंकाकार-सूची

अजितकुमार : १२४०

अ. कु./अनिलकुमार गुप्ता, सोलिड स्टेट फिजिक्स लेबोरेटरी, तिमारपुर दिल्ली : २४३, ३०२-३०६, ५३०,
: ६०८, १४२०

अ. ना. ऋषभदेव : १४१४

अमृतलाल शास्त्री : ५९८, ६३३, ६५८, ८५३, ८५९

आ. कु. जैन बड़गाँव टीकमगढ़ : ११५६

आत्माराम : ९८२

आदिराज अण्णा, गौडर : ६५६, ८१०

(क्षु.) आ. सा./आदिसागर शुक्लक : १६२, २१८, ४०७, ५३५, १३८१

आदिसागर मुनिराज, झेडवाल : २४४, ३४७, ३८८, १२९७

आ. सो. बारां : ६९८

आर. डी. जैन : १०६४

इतरसेन जैन, मुरादाबाद : १२७७

इन्द्रसेन जैन, मुरादाबाद : १२४, ३५१, ४५६, ८७७, ९७४

इ. ला. छाबड़ा, लखर : ६४०, ६७९, ६६४, ७०२, ७७३

इन्दोरीलाल : ७६७, १४३२,

उ. च. देवराज, दोउल : ७०३, ७०४

एन. जे. पाटील : ६६१

एस. के. जैन : २९४, २९५, १०६२

एल. एम. जैन : ८८१, ९०७

ओमप्रकाश : ६४६, ९८९

(त्र०) कौ. ला./कैवललाल ब्रह्मचारी : ८४, १०५, १०७, १५८, २५६, २८३, ५०१, ५८६, ७१८, ७४२, ७५४,
: ८३९

का. च. मा. च./कपूरचन्द मानचन्द : ८१, ५२६, ६९०, ९२४

का. दे. गया/कमलादेवी : १०८, १४८, २०९, २७५, २७६, २९०, २९३, ३४६, ३४८, ३६०, ३६६, ३७१,
: ३९०, ५०४, ७१२, ८४९, १०४९, १११७, ११५७, १२८२, १३८७,

कपू. दे. गया/कपूरीदेवी : १९९, २३०, २६३, २७०, ४०३, ४२७, ४४६, ४५५, ५२५, ५४६, ६४४, ६५६,
: ६५९, ६८९, ६९०, ७२१, ७२४, ७५८, ७९२, ८०६, ८०७, ९५३, १०६७, ११५७, १२०८,
: १२६५, १२९५, १३६९

कस्तूरचन्द जैन : ८७, ८९, १०५, १७५, १९१, २८६, २९४, ३२३, ३७४, ४२१, ५२१, ५४०, ६४८, ६९७,
: ७३३, ११७७, ११८७,

का. ना. कोठारी कान्तिीलाल नानालाल कोठारी : १०२, १९२, २१९, २६०, ३६३, ५५८, ९५४, १०१४,
: १०७४, ११९४

कान्तिीलाल : १०७७

का. ला. अ. देवली : ६६२

की. सा. (क्षु.) कीर्तिसागर : १४१, ७००, ७८३, ११४५

(ब्र.) कु. ला./कुन्दनलाल ब्रह्मचारी : ८२, ९३, ४९९, ५९६, ६०२,

के. ला. जी. रा. शाह/केदारलाल जीवराज शाह : ११३, २१०, ५३६

कै. च. जैन, मुजपफरनगर : ६४६, ६६१, ६६३

कैलाशचन्द्र जैन, राजा टॉयज दिल्ली : ७९४, ८०८, ८५७

कीमलचन्द्र जैन, किशनगढ़ : ६३९, ७०१

ग. म. सोनी गम्भीरमल सोनी, फुलेरा : ८९, ६३९, ६४२, ७१३, ७४८, ९०४, १३६६, १४३६,

गुलाबचन्द्र रेशमचन्द्र : १४३३

गुलाबचन्द्र शाह लश्कर वाले : ९९७, १२०५, १३४४

गु. ला./गुलजारीलाल रफीगंज : १८९, १६०, १९३, ७५७, ११२९, १२६२

गुणरत्नविजय (श्वेताम्बर जैन मुनि) : ४७३

गो. ला. बा. ला./गोविन्दलाल बाबूलाल : ८१

घ. म. कं. च./घमण्डीमल कैलाशचन्द्र, मुजपफरनगर : ९५, ६१२

घा. रा./घासीराम : ११५

घा. ला. जैन अलीगढ़ टोंक : ६९७, ११८२, १२७७

चन्द्रमल गांधी : १२५१

(ब्र.) चन्द्रमल : १७०, २१७, २३०, २८०, ३२२

चम्पतराय जैन, चकरौता : ७८

चांदमल : १७९, १८०

(ब्र.) चुन्नीलाल देसाई : ९७०, १०९२

चे. प्र. पा./चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर : १३३९

(ब्र.) छोटेीलाल : ११०८

छोटालाल घेलाभाई गांधी, अंकलेश्वर : १२१६

जगन्नाथ : १३८९

ज. कु. जैन/जयकुमार जैन १०३, १४१, ५८५, ५८९

ज. प्र. म. कु./जयन्तीप्रसाद महेन्द्रकुमार : ७९, ८७, ८८, ९४, ९६, १०६, ११८, १३४, १८८, २३७, २३०,
: ३९९, ५२४, ५२९, ५९३, ६४१, ७५३, ७८५, १०४३, ११८३,
: १२६६, १४१६,

जयचन्दप्रसाद : ९१४

जयप्रकाश : १६०, ३८२, ९९२, ९९६, १३४२

ज. ला. जैन/पं० जवाहरलाल जैन, श्रीण्डर : ९१, ९८, १०१, १०६, ११७, ११८, ११९, १४०, १६३, १६८,
१६९, १७७, २००, २०५, २०६, २१९, २२०, २२९, २३१, २३३, २३६, २४०, २४१, २४६,
२५६, २७६, २७९, २८०, २८१, २८७, २८९, २९०, २९६, २९७, २९९, ३००, ३११, ३२५,
३२६, ३३५, ३३६, ३६३, ३६५, ३६६, ३७७, ३७८, ४१८, ४२६, ४३८, ४४०, ४५१, ४५२,
४६५, ४६६, ४६८, ४७१, ४८५, ४९५, ५०४, ५०५, ५०६, ५०८, ५१८, ५२०, ५२७, ५३०,
५३१, ५३५, ५३७, ५३९, ५४०, ५४६, ५५६, ५९१, ६००, ६०१, ६०३, ६०४, ६०५, ६१२,
६१५, ६१६, ६१७, ६१९, ६३६, ६६१, ६७५, ७००, ७०८, ७१३, ७१९, ७२२, ७७७, ७९०,
७९४, ८०३, ८०८, ८५३, ८७८, ८८६, ८८७, ९४९, ९५०, १०१०, १०१५, १०१६,
१०१९, १०२०, १०२२, १०२४, १०२५, १०४०, ११०५, ११०६, ११०७, १११०, १११३,
१११७, ११६०, ११६३, ११६४, ११६५, ११७०, ११७६, ११७८, ११८०, ११८१, ११८२,
११९०, ११९१, ११९२, ११९७, ११९८, १२५५, १२७९, १३६७, १३७०, १३७१, १३७७,
१३७८, १३८१, १३८२, १३८४, १३८६, १३८९, १३९०, १३९४, १४१९,

जि. कु. जैन । जितेन्द्रकुमार जैन, पानीपत । ब्र० जितेन्द्र । क्षु० जितेन्द्रवर्णी । मुनि समाधिसागर । जितेन्द्र सिद्धान्त
कोश चार भाग के रचनाकार : १०६, २६४, २८७, २८८, २८९, २९२, ३४२, ३५४, ४००,
४२८, ४९३, ९४९, १३८०,

जितेन्द्रकुमार जैन : ७८२

जि. प्र./जितेन्द्रप्रकाश : १९४, २१२, २१७, २२५, २४०, ५३९

जितेश्वरदास : ४१४, ९३२, १२९३,

जुगमन्दरदास टूण्डला : ५२१, ५५७, ७७३

जे. एल. जैन । ३११, ११८०, १३६७

जैन स्वाध्याय मण्डल, कुचामन ७०६, ९८७, १००२, १०५१, १०९२, ११९५, १३६८, १४१२

जैन चैत्यालय, रोहतक २८६, ४३७, ७१९, ९२९

जै. म. जैन/जैनीमल ३६१, ५९४, ११५६

जैन वीरदल, शिवाड ६०७, १४२४

ज्योतिप्रसाद सुरसिनेवाले ५३३, ६८६

ज्ञा. च. दिल्ली/ज्ञानचन्द्र जैन, दिल्ली १२६, ४६२, ९४५, १२००

टीकमचन्द्र जैन, पचेवर (सम्प्रति दिल्ली) ६०६, ६१७, १४२२

डी. एल. शास्त्री १६६, ११२१, १२२३-२४, १२५९, १२९४

ताराचन्द्र २४९, ७३२

ताराचन्द्र महेन्द्रकुमार ९०५, १४१९

दिगम्बर जैन समाज, एस्मादपुर : १००, ११८, ३२५, ८०४, १००४

दिगम्बर जैन समाज, रेवाड़ी : ४१२

दिगम्बर जैन पंचान, मुहारी : ४२४, ७४१

दिगम्बर जैन पंचायत, फुलेरा २४०

दीपचन्द्र जैन, देहरादून : ४०७

दे. च. : ४५८, ६८५, १३४०

देवकुमार : १४३२

देहरा तिजारा : १०२६, १०७९, ११०९

धर्मरक्षक मण्डल, फुलेरा ८४, ७८९, ७९२

ध. ला. सेठी खुरई/धन्नालाल सेठी : १०८, १०९, १३५, १४९, १५२, १७७, २१३, २३६, २७०, २९२, ३२१, ३२२, ३७५, ३७७, ४३०, ४९३, ४९७, ४९८, ५१५, ५२०, ५३४, ५५०, ५९६, ७०५, ७५१, ७८३, ११७०, १३७०, १३८२;

धर्मविजयधोष : २३९

(पं०) नन्दनलाल : १४२८

नानकचन्द्र : १००४, १००५, १०१७

नारेजी शास्त्री : ५९५

निर्मलकुमार झुमरीतलैया : १४१४

नेमीचन्द्र जैन कोटा : १८९

नं. म. जैन : ४०४

पद्मचन्द्र जैन : ६३६, १०४८, ११७२

पवनकुमार जैन : १३५४

(क.) पन्नालाल : ८३, ९०, ९५, ११७, १४७, १७६, २०९, २१०, २२६, २८३, २८४, ३४७, ४१४, ४३०, ५१६, ५१९, ५५४, ५६१, ६९१, ७२०, ७२३, ७२५, ७२८, ७३२, ७३३, ७४०, ७६०, ७८८, ८७८, ९२४, १०५८, १११८, ११२१, १३७२,

पन्नालाल अम्बालावाले : ६९६, १४१५

(ब्र.) प. जैन, इन्दौर : २९५

पूर्णचन्द्र एडवोकेट : १४३४

प्र. च./प्रकाशचन्द्र २७१, ४९९, ५५१, ६५२, ६५३, ६५४, ७१४, ७१९, ८१०, १२७२

प्रेमचन्द्र : १४२, ३०७, ४५५, ४६०, ७००, ८७३, ९९५, ११६३, १२२६, १२२८, १३१९

प्या. ला. ब./प्यारेलाल बड़जात्या, अजमेर १२४, २६९, २९८, ५१२, ६१०, ६१६, ७५२, १०५९, १०६४

(ब्र.) फूलचन्द्र : ६४७, ७१८, ७८९, १३७८

फूलचन्द्र बामोरा : ५१०, ५११

वंशीधर एम. ए. शास्त्री : १७१, १७५, ६५७, ७९१, ७९२, १२१२, १२८२, १२८४

बलवन्तराय : ७१६, ९२१

(ब्र.) बसन्तीबाई, हजारीबाग : ११६, १९१, १९५, ४०६, ४९१, ५५७, ७४९, १४१९

बसन्तकुमार : ४०५, ६८८, १०९०, ११०२

ब. प्र. स./बद्रीप्रसाद सरावगी, पटना : ९४, १४९, १८९, २००, २१६, २३७, ३१९, ३४१, ३५०, ४२९,

४४०, ४४१, ४७०, ५०३, ५०९, ५१०, ५१८, ५८५, ५९८, ५९९, ६१८, ६४८, ७२१, ७४८,

७७३, ९५९, ९६०, १२०८, १३५९

बी. एल. पद्म, गुजालपुर : ४५७, ५२६, ९५७, ९८८, ९९४, १०२६, १०५१, १०९९

भैरवलाल जैन, कुचामन सिटी : ८६, ४२८, ४५०, ५८३, १०६७

भैरवलाल सेठी : ५२७

भगवानदास : ३५८, ६३८

भागचन्द्र जैन बनारस : ४०२, ६८४, ७१५, १३७८, १३८०, १३८२, १४०९

भूषणलाल : ३९३

मं. ला. द्रोणगिरि : ६२०

(श्रीमती) मगनमाला : १३४, १७२, १७३, १७४, २३७, २५९, २७०, ३२७, ३४८, ३५७, ३७७, ५२५,

५३८, ५४४, ५८१, ५८५, ६१०, ६११, ६५३, ६९२, ६९६, ७१५, १०३२, ११६६, १३७०,

१३८४, १३८६, १३९४, १३९५

मदनलाल : १४७, ३१०, ८७४

म. रा. घोड़के/मनोहर राजाराम घोड़के, परली बीजनस्थ : ११५६, १४१३, १४१४

म. ला./मनोहरलाल बी. ए. : ११५, ४३२, ५२८, ५४८, ७८२

म. ला. फू. च./मगनलाल फूलचन्द्र : १५१, ४०८, ५८९

- म. ला. जैन/प्रोफेसर मनोहरलाल जैन : १६४, १८७, २१६, २३४, २५६, ४१२, ४१४, ४३१, ४६४, ५१७,
५५३, ६११, ७३२, ७८६, १०२५, १०४२, १०६५, ११२२, ११२७, ११८६, १२८५, १३६९,
१४३७
- मा. सु. राविका/मांगीलाल सुखदेव राविका व्यावर : २०८, ३६४, ४००, ४१५, १४२२
- मुकुटलाल, बुलन्दशहर : ११५५, १४४३, १४५७
- मुमुक्षु : १५५, १५६, १५८, १५९, ८७४
- मूलचन्द जैन : १२०३
- मू. च. छ. ला./मूलचन्द छगनलाल : २३७, ३४७, ४३३, ४७३, ४८०, ४८१, ६१९
- (लाला) मूलचन्द, मुजफ्फरनगर : २०६, २३४, ७८८, १३८०
- मूलचन्द शास्त्री : १००६, ११८३
- मोतीलाल संगही, सीकर : ३७१, ७९७
- मोहनलाल : ६५६, ६६३, ७७४, १४३१
- मोहनलाल उरसेवा : १३७, ६५२, १०९०
- मो. ला. सेठी/मोहनलाल सेठी : १५५, १९०, ७१७, ७७८, ७८४, ७९५
- य. पा./यशपाल : २६५, ३०७, ५०५, ५३७, १३७२, १३७४, १३७५
- रतनकुमार जैन : ६७४, ९१९, १२७५, १३६३
- र. च. महाजन, शिरडशाहपुर : ३६७
- र. ला. जैन/रतनलाल जैन एम. कॉम, पंजज टैक्सटाइल्स, मेरठ सिटी : ७७, ७९, ८९, ९०, ९३, ९४, ९६,
१०३, ४, ५, ८, ११, १६, १७, २०, २३, ४३, ५०, ५३, ७२, ८७, ९४, ९८, २०१, २, ३,
४, ७, ८, १०, १३, १४, १५, २२, २४, २५, २७, ३५, ३८, ४६, ५२, ५५, ५७, ६०, ६२,
६३, ६४, ६५, ६६, ६७, ६८, ७२, ७७, ८२, ८५, ८६, ८८, ९०, ९१, ९२, ९४, ९५, ९७,
३०, ३२, ४३, ४४, ४५, ४६, ४९, ५४, ५५, ५६, ६७, ६८, ६९, ७०, ७२, ९४, ९८, ४०२,
१०, १२, १५, १६, २०, २२, २७, ३०, ३२, ३४, ३८, ३९, ४२, ४३, ४८, ४९, ५०, ६५,
६८, ७२, ७९, ८०, ८१, ८३, ८५, ८६, ५१३, १४, १५, १७, २३, २४, ३५, ३८, ३९, ४२,
४४, ४५, ४९, ५५, ८२, ८८, ९३, ९८, ६०२, ४, ९, ११, २६, ४६, ४७, ५१, ५४, ६७, ७३,
८७, ८९, ९६, ७०५, २०, २१, २२, २३, ३५, ४६, ५०, ५६, ६३, ७०, ७२, ७४, ८५, ९१,
९३, ९७, ९९, ८००, ५, ४०, ५०, ५१, ५४, ६४, ६८, ७२, ७६, ८५, ९०, ९१, ९२, ९३, ९४,
३६, ४१, ४४, ४६, ५२, ८३, ९९, १००५, १००६, १००७, १००८, १००९, १२, १७, २१,
२२, २४, ३७, ४०, ४१, ४४, ४९, ६४, ११०२, ३, ११, १३, १६, १८, १९, २२, २३, २५,
६०, ६१, ६२, ६७, ६८, ७३, ७४, ८२, ९१, १२६६, ७५, ८०, ८४, ९६, १३०७, १३३०, ५६,
६६, ६७, ६८, ७२, ७३, ७४, ७७, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८७, ८८, ९०, ९१, ९३, ९५,
१४१८, २३, २८, २९, ३३, ४६

र. ला. क./रतनलाल कटारिया, केकड़ी : ११४, १३६, १९१, २३३, ३३०, ३५५, ३७२, ३९५, ४५०, ५७९,
५८०, ५९२, ७०७, ७१८, ७४५, ८०४, ८०६, ८०७, १२१४, १३८१, १३९२, १४१०, १४३४

(ब्र.) राजमल/ब्रह्मचारी राजमल (वर्तमान पट्टाधीश आचार्य अजितसागरजी महाराज) : १५१, ४००, ५०१,
६१२, ६१३, १३७५

रा. कै. जैन/रामकैलाश जैन, पटना सिटी : २२२, १२२१

रा. दा. कैराना/रामदास कैराना : १०७, १२१, १३६, १९७, २३९, २८४, ४४५, ४४८, ४८२, ४९२, ५२५,
५३७, ५५६, ६७५, ७२७, ७६५, ९५५, १०१७, १०७५, ११०९, ११६९, ११७०, १३९५,
१४१३

राजकिशोर : ६०७, ९२४, ९५१, १०१०

राजमल जैन छाबड़ा, कुचामन मिटी : ६९३, ७२७, ८९०, ८९४, १०६६

रामपतमल : ६५३

रो. ला. जैन/रोशनलाल जैन मित्तल : ९५, १४५, ५८, ६१, ६२, ७९, ८१, ८२, ८६, ९६, २१६, १७, २३,
२४, २९, ५८, ६१, ७३, ७४, ७५, ७९, ३३७, ३८, ३९, ५६, ६६, ७०, ९५, ४०३, ४०७,
८, १३, १८, २२, २४, ४१, ४४, ६९, ७४, ८७, ८९, ९५, ५१३, २१, ३२, ३३, ३८, ४०,
४१, ५४, ५५, ५७, ८४, ६०६, ८, १४, १५, २६, २७, ३१, ५९, ६०, ६३, ६४, ६५, ७०३, १३,
३१, ६०, ९६, ८०३, ६, ४८, ६९, ७५, ८०, ८३, ८४, ८७, ८८, ९०७, १६, २०, २२, २३,
२६, २९, ३५, ३६, ४०, ४१, ४२, ७२, ७६, ७८, ८६, ९७, ९८, १०००, १३, १८, २१,
२५, ३३, ३७, ३८, ३९, ४०, ६५, ६६, ८९, ९७, ११०४, १०, ४४, ५८, ६८, ११९२, ९३,
१२०२, ३४, ३६, ४१, ६२, ६४, ६५, ६८, ७६, ८०, ८४, ९१, ९३, ९५, १३१२, २२, ५५,
७०, ७५, ७७, ७९, ८५, ८६, १४२३, २९, ३५, ३६, ३८

लक्ष्मीचन्द्र, धरमपुरी धार : २२१, ५५१, ६०१, ६१०

(प्रो.) लक्ष्मीचन्द्र जैन, जबलपुर : ३०१, ५०९, १०५७, ११८४, १२८८, १३३३

(ब्र.) लाभानन्द : ४३१, ७०८, ९८३, ११८४

लालचन्द नाहटा, केकड़ी : ९६२, १०७०, ११९६, १२०५, १४१५

विमलकुमार जैन : ७५७

वी. पी. शर्मा : १४१०

शा. कु. ब./शान्तिकुमार बड़जात्या : ८०, ८९, १२३, १४६, २२१, २२६, ४८८, ४९१, ४९२, ५०३, ५९७,
६४१, ७२०, ७७६, ८०१, ११०३, ११२३, ११७४, १४३७

शा. ला./शान्तिनाथ जैन : १४३, १४४, १४५, १४६, १५७, २२८, २९५, ३१३, ३१५, ३१८, ३२७, ४०१,
४३६, ४६९, ५००, ५०१, ६६३, ६६७, ७८८, ८०२, ८८२, ८८५, ८८६, १००७, १०३५,
१०३९, ११११, १२७९

शास्त्र सभा ग्रीनपार्क, देहली : १०००

शास्त्रसभा, जैनपुरी : ९२, ५५९

शास्त्रसभा नजफगढ़ : ७५८

शास्त्रसभा रेवाड़ी : ९७, २३८, ५९०, ५९१, ५९९, ७६८

शिवरचन्द जैन महमूदाबाद : १०१, १३८, ७८४

(लाला) शिवप्रसाद : ६२१, ६३५, ७१२

(क्षु.) शी. सा./शीतलसागर : १८५, १८७, २०६, २२०, ४०६, ४७६, ४९७, ५४१, ५८३, ६५८, १३८३

(मृनि) श्रुतसागर मोरेनावाले : ११५, ३२६, ३४२, ३९६, ४२३

(ब्र.) स. म. सच्चिदानन्द/पं० सरदारमल जैन सच्चिदानन्द : २१२, ३२८, ३३१, ३५०, ३६२, ४४९, ५६१,
६१४, ७१७, ७६७, ७७५, ८४९, ८५२, ८५४, ८५६, ८६४, ९६८, १११९, १४११

स. रा. जैन/पं० सरणाराम जैन : २८२, ३२६, ९८४, १०४४, ११४१

सिरेमल जैन, सिरोंज : ६१८, १२१५, १३२५, १४११

(ब्र.) सुखदेव : ३६२, ७३२, ७३९, ९३६, ११२४, ११२५

सुन्दरलाल जैन, हीरापुर, सागर : ९६

सुभाषचन्द : ९१४

सु. प्र. जैन/सुमतप्रसाद जैन : ८७, ११२, १६९, १७६, १८०, १९४, १९८, ४१७, ४२२, ५४८, ५४९, ५९०,
६००, १०८०

सुरेशचन्द्र : ४४६, ५४८, ७९४, १२९२

सु. च. बगड़ा : ५८७

सु. च. जैन/सुमेरचन्द्र जैन, राजामण्डी, आगरा : २०९

सुरेन्द्रकुमार अनिलकुमार : ६५०

सुल्तानमिह जैन : ३६५, ३९५, ४२५, ४८५, ६२८, ६४६, ६९१, ७०५, ८७१, ९०८, ९२५, ९२८, ९३१,
९३७, ९४४, १०१९, १०७१, १०९९, ११४३, १२०४, १२४५, १३०५, १३५२, १३८९

सो. अ. शाह कलोल गुजरात : १२०६-७, १२१८-१९

सो. च./सोमचन्द भाई : ८२

सो. च. का. डबका/सोभाग्यचन्द कालिदास डबका : २९१, ३४०, ३९९, ४०२, ६१५, ७९४

[१५२३]

स. कु. रोकले/सत्येन्द्रकुमार रोकले : २६८

स. कु. सेठी/सत्यधरकुमार सेठी, उज्जैन : ३२०, ३९९, ५४७, ६०७, १०४६, १३२०

हंसकुमार, भोवरसियर : ६६०, ८६७

हरीचन्द जैन, एटा : १३४८, १४३०

(ब्र.) हीरालाल । ७५५, ७७५, ७९९, ८०२, १२६१

(ब्र.) ही. खु. दोसी/ब्र. हीरालाल खुशालचन्द दोसी, फलटणा : ३६१

हुकमचन्द : ६५८

हुलाशाचन्द : १०३५, ११९७

हेमचन्द्र : ८०, ९७, २१४, २१५, २१६, ५५२, ५८७, ५९५



अर्थसहयोगी

- २१०००) श्री निरञ्जनलाल रतनलाल बैनाड़ा, आगरा
 १५०००) , रतनलाल जैन, पंकज टैक्स., मेरठ
 ४५००) ,, नेमीचन्द चांदवाड़, झालरापाटन
 ३२५०) ,, मदनलाल चांदवाड़, रामगंजमण्डी
 ३१०१) , निर्मलकुमार सेठी, लखनऊ
 ३१००) ,, हीरालाल पाटनी, सुजानगढ़
 ३१००) ,, इन्दरचन्द पाटनी, सुजानगढ़
 ३१००) ,, विजयकुमार जैन अग्रवाल कटक
 ३०००) ,, गुलाबचन्द उमरावमल गोधा मदनगंज
 ३००) ,, श्रीपति जैन केसरगंज, अजमेर
 ३०००) ,, सीताराम कन्हैयालाल पाटनी, कलकत्ता
 ३०००) ,, श्रीनिवास जैन, मद्रास
 ३०००) ,, जोरावरमल बाकलीवाल, मेड़तासिटी
 ३०००) ,, कैलाशचन्द काला, सांभर
 ३०००) ,, प्रेमचन्द जैन कामजी, दरियागंज, दिल्ली
 ३०००) ,, संतोषलाल मेहता, महावीर स्टोन कं.उदयपुर
 ३०००) श्रीमती रत्नादेवी ध. प. श्री राधेश्याम
 जेजानी, नागपुर
 ३०००) श्रीमती सन्तोषदेवी ध. प. सुमतकुमार
 जेजानी, नागपुर
 २५००) श्री दीपचन्द पहाड़िया, जोधपुर
 २१२१) श्रीमती तारादेवी ध. प. श्री पारसमल पाटनी
 मेड़तासिटी
 २१००) ब्र० केशरबाई [णमोकार पैंतीसी व्रतोद्यापन पर]
 २०००) श्री बद्धीप्रसाद सरावगी, पटना सिटी
 १७००) ब्र. वसन्तीदेवी अड्डल (आर्थिका दीक्षा पर)
 १५०१) श्री शंकरलाल केकरलाल जैन, निवाई
 १५०१) , प्रकाशचन्द दोमी, जोधपुर
 १५०१) श्री प्रियदर्शी क्षेमंकर पाटनी, जोधपुर
 १५००) श्रीमती भगतुबाई ध. प. जोरावरमल
 बाकलीवाल, मेड़तासिटी
 १५००) (स्व.) श्रीमती पानाबाई ध. प. सम्पतलाल
 जैन, कटक
 १५००) श्री चौथमल जैन अग्रवाल, लाडभूं
 १५००) श्री श्रीनाथ
 १५००) श्री हजारीमल रतनपाल कारवां, उदयपुर
 १५००)
 १५००) श्री चम्पालाल गुलाबचन्द गांधी
 १५००) ,, बालेशकुमार जैन, मौजपुर, दिल्ली
 १५००) ,, शीतलप्रसाद जैन सर्राफ, मेरठ
 १५००) ,, दुलीचन्द पाटनी, निम्वाहेड़ा
 १५००) ,, रतनलाल बड़जात्या, मदनगंज
 १५००) ,, श्रीमती सुगनीदेवी (धर्मपत्नी स्व० राम-
 पालजी अजमेरा) मदनगंज
 १५००) ,, पांचूलाल बैद, मदनगंज
 ११११) श्री भंवरलाल महावीरप्रसाद श्रीपाल धर्मावत,
 भीण्डर
 ११०१) श्री दिगम्बर जैन समाज, भुमरीतलैया
 ११०१) ,, मानमल महावीरप्रसाद जांभरी, भुमरीतलैया
 ११००) ,, कंबरीलाल नेजकरण बोहरा, आनन्दपुरकालू
 ११००) ,, इन्दरचन्द सुमेरमल पाण्ड्या, शिलांग
 (मेघालय)
 १०२०) ,, श्री लाला इन्द्रसेन जैन जगाधरी वाले, मेरठ
 १००१) ,, सुभाषचन्द्र जैन, इंजीनियर, टिहरी गढ़वाल
 १०००) ,, सूकुमालचन्द्र जैन सर्राफ, महारनपुर
 १०००) ब्र० शान्तिबाई, हैदराबाद

१०००) श्रीमती अशिकला ध. प. जुगनवाव नागपुर	१०१) , अजितकुमार गंगवाल	„
५०१) श्री भागचन्द पाटनी, भुमरीतलैया	१०१) ,, खेमचन्द लुहाड़िया	„
५०१) श्रीमती जमनादेवी ध. प. भंवरीलाल पाण्ड्या	१०१) , मूलचन्द सुशीलकुमार	„
५००) (स्व.) श्रीयुत मोतीलाल मिण्डा, उदयपुर	१०१) श्री फतेहचंद्र विजयकुमार बूड़ीवाले	„
५००) गुप्तदान	१०१) ,, हरखचन्द छाबड़ा	„
५००) ब्र. विमला जैन [भक्तामर व्रतोद्यापन पर]	१०१) ,, जयकुमार गंगवाल	„
२५१) श्री अनिलकुमार गुप्ता, दिल्ली	१०१) ,, हरखचन्द पाटौदी	„
२२५) गुप्तदान, द्वारा अनिलकुमार गुप्ता	१०१) ,, महावीरप्रसाद पाटनी	„
२०१) श्री लाडूलाल धर्मचन्द छाबड़ा, भुमरीतलैया	१०१) ,, गुलाबचन्द ठोल्या	„
२००) ,, हरखचन्द जैन रांची	१०१) ,, रतनलाल राजेशकुमार छाबड़ा	„
१५१) श्री मानमल पाण्ड्या, भुमरीतलैया	१०१) ,, जगन्नाथ सुरेशकुमार पाण्ड्या	„
१५१) श्रीमती रतनबाई भुमरीतलैया	१०१) ,, मोहनलाल धन्यकुमार पाण्ड्या	„
१०१) श्री प्रभुदयाल शान्तिलाल छाबड़ा, भुमरीतलैया	१०१) ,, शान्तिलाल वड़जात्या, अजमेर	„
१०१) श्री जीतमल शान्तिलाल छाबड़ा, भुमरीतलैया	१००)	„
१०१) श्री राजमल प्रदीपकुमार गंगवाल	७१) ,, चिरंजीवाल, कमलकुमार काला	„
१०१) ,, महावीरप्रसाद राजेशकुमार छाबड़ा	५१) ,, हकीम बंगालीदाम मीजीराम जैन ट्रस्ट	„
१०१) ,, चुन्नीलाल छाबड़ा	फिरोजाबाद	„
१०१) ,, सुरेशकुमार लुहाड़िया	५१) ,, चिमनलाल अजमेरा, भुमरीतलैया	„
१०१) ,, नेमीचन्द रमेशकुमार पाटनी	५१) ,, खेमचंद लुहाड़िया की माताजी भुमरीतलैया	„
१०१) ,, रूपचन्द सुनीलकुमार पाण्ड्या	५१) ,, अमृतलाल स्वरूपचन्द पाण्ड्या	„
१०१) ,, रतनलाल सुरेशकुमार पहाड़िया	५१) ,, निर्मलकुमार जांझरी	„



“प्रस्तुत ग्रन्थ में चारों अनुयोगों का सार संकलित है। सामान्य श्रावक को बात जाने दें, अनेक ऐसी शंकाओं का समाधान इस ग्रन्थ में है जिन्हें विद्वान् भी नहीं जानते। यह ग्रन्थ एक आचार्यकल्प विद्वान् द्वारा प्रणीत ग्रन्थ की भाँति स्वाध्याय योग्य है।”

—डॉ. कन्धेवीलाल जैन, रायपुर (म.प्र.)



“स्व. पं. मुख्तारसा. के पूर्व प्रकाशित शंका-समाधानों को अनुयोगों में विभाजित एवं सुसम्पादित करके एक खुशबूदार, शोभादर्शक अनमोल गुलबस्ता बनाया गया है। ...उनके अभिनन्दन/स्मरण/कृतज्ञताज्ञापन के निमित्त तैयार किया गया यह ग्रन्थ ‘शंका-समाधान गणक यन्त्र’ के रूप में प्रत्येक स्वाध्यायी की चौकी पर ‘तत्त्वचर्चा’ सुलभ कराता रहेगा, ऐसा विश्वास है।”

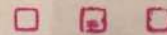
—डॉ. पं. सुमतिबाई शहा

—डॉ. विद्युल्लता शहा



“प्रस्तुत ग्रन्थ जिज्ञासुओं की शंकाओं के समाधान हेतु एक उपयोगी बृहत् कोश बन गया है। ...यह जिमवाणी माँ के सपुत्रों के लिए प्रकाशस्तम्भ का कार्य करेगा। ...”

—डॉ. कमलेशकुमार जैन, वाराणसी



प्राप्ति-स्थान :

पं. जवाहरलाल जैन सिद्धान्तशास्त्री
गिरिवर पोल, साटड़िया बाजार
मीण्डर-३१३ ६०३ (राजस्थान)

पं. रतनचन्द्र जैन मुख्तार : व्यक्तित्व और कृतित्व

卐 मत-सम्मत 卐

- "उनके स्मृतिग्रन्थ के बहाने जिस प्रकार उनके विस्तृत कृतित्व का यह प्रसाद पुञ्ज सम्पादकों ने जिज्ञासुओं में वितरित करने के लिए तैयार किया है, यह सचमुच बहुत उपयोगी बन गया है।में समझता हूँ कि किसी अध्येता विद्वान् को आदरपूर्वक स्मरण करने का इससे अच्छा कोई और माध्यम नहीं हो सकता है।"
—डॉ. पं. जगन्मोहनलाल शास्त्री, कटनी (म.प्र.)
- "इसमें जो ज्ञानराशि भरी हुई है, विद्वज्जन उसका निश्चय ही समादर करेंगे। युगल सम्पादकों का श्रम गजब का एवं अकल्प्य है। इनकी यह अपूर्व देन विद्वानों और स्वाध्यायी बन्धुओं को अपूर्व लाभ पहुँचावेगी।"
—पं. बंशीधर व्याकरणाचार्य, पं. दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्य
- "....यह विविध शंकाओं का समाधान करने वाला 'आकर ग्रन्थ' है।"
—पद्मश्री पं. (डॉ.) पन्नालाल साहित्याचार्य, जबलपुर
- "....जो व्यक्ति इस ग्रन्थ का मनोयोगपूर्वक कम-से-कम तीन बार स्वाध्याय कर ले, वह जैनागम के चारों अनुयोगों का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर सकता है।आज इस महान् ग्रन्थ को पढ़कर मैं अपने को धन्य समझ रहा हूँ। मेरी इच्छा बार-बार इस कृति को पढ़ने की होती है।"
—प्रो. उदयचन्द्र जैन सर्वदर्शनाचार्य, धाराणसी
- "स्व. श्री मुख्तार सा. द्वारा प्रस्तुत समाधानों का यह संग्रह वास्तव में एक सन्दर्भ-ग्रन्थ है जिसमें ध्वन्ना, जयध्वला आदि श्रुत के सागर को भर दिया गया है। जैन विद्या के अध्येताओं के लिए यह संग्रह पठनीय व मननीय है।"
—डॉ. दामोदर शास्त्री सर्वदर्शनाचार्य, किरली
- "यह विशाल ग्रन्थ अपनी विस्तृत और प्रामाणिक सामग्री के कारण सहज ही 'आगम ग्रन्थ' की कोटि में रखा जा सकता है।....."
—नीरज जैन, सतना (म. प्र.)